Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त सम्राट और उनका काल

उदयनारायण राय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

State Museum Library
Lucknow
7130

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त-सम्राट्
और
उनका काल

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त-सम्राट्
और
उनका काल

उदय नारायण राय, एम० ए०, डी० फिल्०
रीडर
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व-विभाग
इलाहाबाद-विश्वविद्यालय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद–१ द्वारा प्रकाशित

•

प्रथम संस्करण
१५ अगस्त, १९७१

•

कॉपीराइट
डॉ० उदय नारायण राय

•

लीडर प्रेस,
इलाहाबाद द्वारा
मुद्रित

मूल्य : पुस्तकालय-संस्करण ३०.००
विद्यार्थी-संस्करण २०.००

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पूज्य-माता जी
के
श्रीचरणों
में

यत्सकाशान् मया लब्धं वात्सल्यं स्नेहसंप्लुतम् ।
व्यासंगः सुरभारत्यां तथा प्राप्तो निरन्तरम् ॥
लोके या विबुधैः ख्याता स्वर्गादपि गरीयसी ।
तस्यै श्रीजननीदेव्यै प्रबन्धोऽयं समर्प्यते ॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेर्पूर्ववद् विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥"

(शिशुपालवध, सर्ग ४, श्लोक १७)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आरम्भिकी

"आयोधमे कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावत्युत्पलपत्रसाराम् ॥
यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणांकुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्थपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥
आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेतुमियत्तयालम् ॥"

—ये यशस्वी नृपति इतने तेजोमय एवं शक्तिसम्पन्न हैं कि परशुराम के फरसे की तेज धार को भी कमल की पंखुडी के तुल्य कोमल समझते हैं। चन्द्र-ज्योत्स्ना के तुल्य नेत्रों को सुख देने वाला इनका प्रकाश तो घर में रहता है और सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओं के उन राजभवनों पर दृष्टिगोचर होता है, जिनके उजड़ जाने पर उनमें घास उग आई है। ये प्रतापी सम्राट् इतने प्रशस्त रूप में राज्य-कार्य चलाते हैं तथा चतुर्दिक् उनका इतना अधिक दबदबा है कि उपवनों में मद पीकर निद्रामग्न रमणियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं हिला सकता था, फिर उनके आहरण की धृष्टता किसमें हो सकती थी। इन भूपतियों का धवल यश कहाँ तक प्रसरित है, इसका कोई ठिकाना थोड़े ही है। पर्वतों पर, समुद्र के पार, पाताल में, नागों के देशों में, दिग्-दिगन्त तक, तथा भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान—तीनों ही कालों में उन्हीं की शुभ्र कीर्त्ति फैली हुई है—

(रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ४२, ४७, ७५ एवं ७७)

कविवर कालिदास-प्रणीत उपर्युक्त पंक्तियों पर विचार करते ही प्रतिभाशाली गुप्त-सम्राटों की अभिनन्दनीय कृतियों का सद्यः स्मरण हो आता है। उनका गौरवान्वित एवं प्रशस्त राज्य-काल अपने ही देश के नहीं, अपितु निखिल विश्व-इतिहास के भी समृद्ध एवं वैभवपूर्ण युग के रूप में समादृत है। अनवरत प्रयासों द्वारा अर्जित उनका सुविशाल साम्राज्य 'सागर-पर्यन्ता', 'हिमवद्विन्ध्यकुण्डला' एवं 'एकातपत्रांका' मही की पुरातन अवधारणा का ज्वलन्त ऐतिहासिक दृष्टान्त था। मथुरा से माहिष्मती, तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भृगुकच्छ से ताम्रलिप्ति तक विस्तीर्ण उनके अधिकार-क्षेत्र में नाना लब्धप्रतिष्ठ सांस्कृतिक केन्द्र, गगन-मण्डल में जगमगाते हुए नक्षत्रों की भाँति, देदीप्यमान थे। विश्व-विख्यात कुषाणों को आत्म-निवेदन-हेतु बाध्य करने वाले तथा भयावह शकों के उन्मूलनकर्त्ता समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त (द्वितीय)-सदृश प्रतिभासम्पन्न गुप्त-नरेश, 'सर्वराजोच्छेत्ता', 'विक्रमांक', 'विक्रमादित्य', 'कृतान्तपरशु' एवं 'अप्रतिरथ' जैसी उच्च उपाधियों को, अपनी चिरस्मरणीय उपलब्धियों द्वारा सर्वथा चरितार्थ करते थे।

अजेय रोम-साम्राज्य के विनाशक तथा समर्थ ससानी सम्राटों के विजेता एवं बलावलेप से मदान्ध जगज्जिगीषु हूणों के शिकंजों से, अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी, भारत-भूमि की सफल सुरक्षा के श्रेय से विभूषित, यशस्वी स्कन्दगुप्त निस्सन्देह एक अद्वितीय राष्ट्रवीर था।। जूनागढ़ प्रशस्ति के अनुसार विदेशों (म्लेच्छ देशों) में भी गुणगान किया जाता था कि उस 'गुप्तवंशैकवीर' ने अपने प्रबल शत्रुओं को निश्चय ही जीत लिया था (निर्वचना म्लेच्छ-देशेषु)। यह वीरोचित उक्ति हूण-विजय के परिणाम-स्वरूप, हिन्दुकुश-पार ईरान आदि पाश्चात्य देशों में प्रसरित उसकी शुभ्र कीर्त्ति की ओर ही अति सम्भवतः संकेत करती है। इन भूपतियों द्वारा संस्थापित दिग्विजय के नवीन आदर्श को ही गुप्त-प्रशस्तियों में 'धरणिबन्ध' तथा 'कृत्स्नपृथ्वीजय' की संज्ञा द्वारा अभिहित किया गया है। इसके आधार पर ही कालान्तर के नरेशों ने 'समग्रपृथ्वीविजय' अथवा 'सम्पत्न्य-शून्या-उर्वी-उपभोग' की योजना बनाई थी, जिसका प्रयोजन हिमवान् एवं दक्षिण जलनिधि के मध्य सुशोभित भारतवर्ष (हिमालयादासमुद्रं पुण्यक्षेत्रञ्च भारतम्) का राजाधिराज बनना था। अमरकोश के अनुसार विश्वराट् सर्वोपरि प्रभु ही सम्राट् कहाने का अधिकारी है, जो अन्य नरेशों पर शासन करता हो तथा जिसने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया हो (येनेष्टम् राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्)। अपनी सफलताओं के कारण इन भूपतियों ने 'वसुधेश्वर' उपाधि को सर्वथा अर्थयुक्त कर दिया था।

सम्भवतः इन महासत्त्वों को ही लक्ष्य में रख कर कालिदास ने लिखा था कि ये शक्तिशाली राजा जिस समय शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं, उस समय सेना के आगे चलने वाले घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल से शत्रुओं के मुकुट की चमक धुँधली पड़ जाती है। युद्ध-काल में इनके आगे चलने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाले मतवाले गज ऐसे लगते हैं, मानों हाथियों का वेष बना कर स्वयं महेन्द्र पर्वत ही चला जा रहा हो। धनुषधारियों में तो इनसे बढ़ कर कोई है ही नहीं। इनकी भुजाओं पर दो काली रेखाएँ धनुष की प्रत्यञ्चा खींचने से बन गई हैं। वे ऐसी जान पड़ती हैं, मानों ये शत्रुओं की उस राज्य-लक्ष्मी के आने की दो पगडंडियाँ हैं जिनको उन्होंने उनसे छीन ली हों :—

"अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं। रजांसि ॥
ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
रिपुश्रियां साञ्जनवाष्पसेके वन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥"

(रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ३३ एवं ५५)

गुप्ताधिपति, शुभ्रचरित, अमलकीर्ति, अगाधसत्त्व एवं प्रजावत्सल थे। इन वसुधेश्वरों के अभिलेखों में 'नृपतिभिः सुतवत्प्रतिमानिताः', 'प्रणयिनामुपकारदक्षाः', 'लोकानुग्रहस्य', 'अनुकम्पावतो', 'लालयामास च पौरवर्गान्' तथा 'संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव' सदृश प्राप्य ऐतिहासिक पदावलियाँ उनकी लोकोपकारिता ('प्रजारञ्जन') के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अभिज्ञानशकुन्तलम् में सम्राट् के पितृवत् व्यवहार एवं जनकल्याण की भावना का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के पञ्चम अंक में कञ्चुकी राजा की परिश्रमशीलता की प्रशंसा करते हुए कहता है—अजी ! इस सम्राट् को प्रजा के शासन-कार्य में विश्राम कहाँ (अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः) ? देखिए न ! सूर्य एक ही बार अपने तुरंगों को जोत कर अब तक चला जा रहा है, पवन भी रात-दिन बहता ही रहता है और शेषनाग भी इस पृथ्वी के भार को अपने ऊपर सदैव धारण किए हुए है। ठीक यही दशा, उपज का षष्ठांश पाने वाले इस राजा की भी है:—

"भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥"

(अंक ५, श्लोक ४)

ये महाराज अपनी सन्तान के ही तुल्य प्रजा का काम करके, थक जाने पर यहाँ एकान्त में उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जिस प्रकार दिन भर की धूप से तपा हुआ गजराज हाथियों के झुण्ड को चरने के लिए छोड़ कर स्वयं ठंढे स्थान में विश्राम करने लगता है:—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा[1]
निषेवते शान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥"
(अंक ५, श्लोक ५)

राजकाज के दुःख पर विचार करता हुआ महाराज स्वगतभाषण करता है :—अपनी मनःकामना के पूर्ण होने पर और जीवों को तो सुख मिलता है, परन्तु राजा बनने की हम लोगों की कामना जब पूर्ण हो जाती है तब कष्ट ही कष्ट हाथ लगता है। सम्राट् बन कर बड़ी प्रतिष्ठा पा लेने से मन की उमंग तो पूरी हो जाती है, पर जब राज्यकार्य का उत्तरदायित्व सँभालना पड़ता है तब क्लेश का कोई पारावार नहीं रह जाता। अतएव राज्य उस छतरी के तुल्य है जिसकी मूठ अपने हाथ में लेने से थकावट ही अधिक होती है पर सुख बहुत ही कम मिल पाता है :—

"औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमपनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥"
(अंक ५, श्लोक ६)

वैतालिक महाराज की व्यस्तता को देख कर कहता है :—अपने सुख की इच्छा को छोड़ कर आप प्रजा की भलाई में लगे रहते हैं; अथवा, यों कहिए कि आपका प्रतिदिन का जीवन ही इसी प्रकार का हो गया है। वृक्ष अपने सिर पर तो कड़ी धूप सहता है, परन्तु अपने नीचे बैठे हुए जीवों को वह निरन्तर छाया ही देता रहता है :—

"स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।

---

१. "सवमुनिसा मे पजा । अथ पजाए इछामि किंति मे सवेणा हितसुखेन युजेयू अथ पजाए इच्छामि किंति मे सवेन हितसुखेन युजेयू ति हिदलोगिक-पाललोकिकेण ।"
अशोक का जौगड़—शिलालेख ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥"
(अंक ५, श्लोक ७)

उसका समर्थन करता हुआ दूसरा वैतालिक निवेदन करता है :—महाराज ! दुष्टों को आप अपने राजदण्ड से ठीक रखते हैं। सबके आपसी झगड़े मिटा कर आप जनता की रक्षा करते हैं। प्रजा में जो धनी लोग हैं उनके तो बहुत से सगे-सम्बन्धी हो सकते हैं, परन्तु निर्धन प्रजा के बन्धु-बान्धव तो एकमात्र आप ही हैं :—

"नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥"
(अंक ५, श्लोक ८)

इन बातों को सुन कर परिश्रान्त सम्राट् सन्तोष प्रकट करता हुआ कहता है—अजी ! मेरा उदास मन आपकी बातों को सुन कर फिर से हरा हो गया (एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः) । सन्तानहीन समुद्र-व्यवहारी सार्थवाह धनमित्र की मृत्यु की दुःखद सूचना पाते ही शोकग्रस्त हो वह घोषणा कराता है—यदि मेरे राज्य का कोई भी व्यक्ति किसी स्निग्ध संबन्धी से विमुक्त हो जाता है, तो केवल पाप-संबन्ध को छोड़ कर अन्य विषयों में वह मेरा ही कुटुम्बी समझा जाय :—

"येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इव घुष्यताम् ॥"
(अंक ६, श्लोक २३)

ढिंढोरा पिट जाने के पश्चात् प्रतीहारी निवेदन करता है :—महाराज! आपकी इस आज्ञा को सुन कर प्रजा वैसे ही मगन हो उठी है, जैसे समय से पानी बरसने पर खेती लहलहा उठती है (काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्) । राजा-प्रजा के उक्त स्निग्ध संबन्ध को ही अभिव्यञ्जित करते हुए कालिदास ने रघुवंश के प्रथम सर्ग में लिखा है :—"जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को बुरे काम से रोकता है, अच्छा काम करने की उसे सीख देता है, सब प्रकार से उसकी रक्षा करता है और पाल-पोस कर उसे बड़ा करता है, उसी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकार यह राजा भी अपनी प्रजा को बुरे मार्ग पर जाने से रोकता है, अच्छा काम करने को उत्साहित करता है, विपत्तियों से उसकी रक्षा करता है तथा अन्न-जल के प्रबन्ध द्वारा उसका पालन-पोषण करता है :—

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतव : ।।"

(सर्ग १, श्लोक २४)

गुप्तेश्वरों के शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में शास्त्र-चिन्ता प्रबुद्ध हो उठी थी । फलतः उनके युग में ज्ञान के विविध क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति देखने को मिलती है । तत्कालीन प्रशस्त महाकाव्य, उत्कृष्ट नाटचग्रन्थ एवं श्लाघनीय गीतिकाव्य, आज दिन भी हमारी प्रेरणा के स्रोत एवं जीवन के संबल हैं । हरिषेण, वीरसेन, वत्सभट्टि एवं वासुल द्वारा रचित प्रशस्तियाँ समसामयिक समाज एवं संस्कृति के दर्पण हैं । उत्कृष्ट लेखों से सुसज्जित शिलाएँ गुप्त-सम्राटों के यशोगान में वस्तुतः अग्रणी हैं । कौन जानता था कि इतनी सुरम्य गाथाएँ तथा साहित्य की रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक निधियाँ किसी दिन पाषाण-खण्डों पर भी सुरक्षित मिलेंगी ।

गुप्त-कालीन मनीषी विलक्षण मनोत्साह से ओतप्रोत थे । कुमारजीव, गौतमसंघदेव, जिनसेन, प्रभाकरमित्र एवं गुणभद्र-सदृश ओजस्वी विचारकों एवं चिन्तकों ने भारतीय ज्ञानराशि को विदेशों में विकीर्ण करते हुए यह प्रमाणित किया था कि 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' का उदात्त आदर्श एक कोरी कल्पना नहीं, अपितु ठोस सत्य था । साहसिक राजकुमारों, कार्यार्थी मनस्वियों एवं दृढ़संकल्प से युक्त सार्थवाहों ने अपने कार्यकलापों द्वारा कूचा, खोतान, जावा एवं सुमात्रा आदि सुदूर स्थलों एवं द्वीपों को 'विशाल भारत' के रूप में ढाल दिया था । इस समय भारतीय संस्कृति की विमल रश्मियाँ एक ओर मध्य एशिया, मिस्र, यूनान एवं रोम, तथा दूसरी ओर चीन, बर्मा, सिंहल एवं द्वीपान्तर (यवद्वीप, सुवर्णद्वीप आदि) में प्रस्फुटित हो रही थीं । साहित्य, संगीत एवं कला की अनूठी निधियों द्वारा, रम्य एवं मधुर गुप्त-काल तीव्र आलोचक को भी बरबस आकृष्ट कर लेता है ।

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' ('क्षण प्रति क्षण नवीनता को प्राप्त होना ही रमणीयता का शुभ लक्षण है') के रचयिता माघ को भला क्या पता था कि इस अमर उक्ति का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण, स्वयं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह पंक्ति ही प्रमाणित होने जा रही थी। गुप्तकालीन कवि, लेखक एवं कलाकार इस तथ्य के प्रति सर्वथा जागरूक थे। देवगढ़ के विष्णुमन्दिर के स्थापत्य एवं उत्कीर्ण-भास्कर तथा अजन्ता की भित्तियों पर 'तूलिकोन्मीलित' चित्रों के द्रष्टा को सद्यः नित्यनूतन रस की निष्पत्ति होती है। रसात्मक रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत एवं शाकुन्तलम् के अध्येता को असकृत अभूतपूर्व मधुर अनुभूति प्रतिभासित होती है। स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका एवं मालिनी आदि ललित छन्दों में निबद्ध प्रयाग-प्रशस्ति एवं मन्दसोर-अभिलेख के सन्दर्भ में भी यह वैशिष्ट्य उतने ही यथार्थ रूप में चरितार्थ होता है।

वात्स्यायन ने 'लावण्य-योजन' को चित्रकला के 'षडङ्गकों' में परिगणित किया है। नदी और सरोवर, वन एवं पर्वत, उपवन एवं वाटिकाएँ, बालुकामय तट तथा प्रकृति के अन्य विविध रम्य विषयों के चित्रण द्वारा सफल कलाकार अपनी कृति में एक तरह से जीवन का ही सञ्चार कर देता था (परिकल्पित-सत्त्वयोग)। उसे 'रूप-भेद' का विलक्षण ज्ञान था। कालिदास ने लिखा है कि स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति से जो युक्त हो, वही है 'चारुता' ('सौभाग्यफला हि चारुता')। शूद्रक के अनुसार उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना के मनोरम प्रासाद का उत्तुंग बहिर्द्वार दूर ही से निरीह पथिक के मन को भी बलपूर्वक आकृष्ट कर लेता था (बलादाकर्षयति)। भारतीय कलाकार द्वारा अपनी कृति को सर्वांग-सुन्दर बनाने की सहज आकांक्षा उक्त सन्दर्भों से बहुशः प्रस्फुटित होती है।

भारतीय प्रज्ञा सतताध्यवसाय एवं कड़ी साधना ('तपस्') में निष्ठा रखती थी, जिसका वास्तविक लक्ष्य 'पराकाष्ठा' (चरमोत्कर्ष) की प्राप्ति थी। पार्वती के तपश्चर्या-वर्णन के प्रसंग में कालिदास ने उक्त अवधारणा की महत्ता को अभिव्यक्त किया है (परा हि काष्ठा तपसः)। कला-मर्मज्ञ अपनी कृति में पूर्णता लाने की अनवरत चेष्टा करता था। अभिज्ञानशकुन्तलम् में दुष्यन्त अपनी प्रेयसी के चित्रांकन-प्रयास में विदूषक से कहते हैं :— भाई ! मैंने अपने भरसक इस चित्र के समस्त दोष तो ठीक कर दिए हैं, तथापि इन रेखाओं द्वारा देवी का 'लावण्य' बहुत थोड़ा ही उभड़ पाया है—

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्याः लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥"

(अंक ६, श्लोक १४)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चित्रफलक को देख कर सानुमती स्तब्ध हो कहती है—जरा, राजा ष की वर्णिका-निपुणता को तो देखो। लगता है, मानों मेरी सखी शकुन्तला साक्षात् खड़ी हो (अहो ! एषा राजर्षेर्निपुणता ! जाने सख्यग्रतो मे वर्तते)। दुष्यन्त के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि पूर्णता के अभिलषितार्थ की प्राप्ति होने पर भी भारतीय कलाकार कितना विनम्र था। रघुवंश में कालिदास ने 'अल्पविषया मतिः' के रूप में स्वयं को निवेदित करते हुए उक्त भारतीय उदार मनोवृत्ति का ही सम्यक् प्रतिपादन किया है। इस गुप्तकालीन अजर-अमर कवि के निम्नलिखित कथन से सुस्पष्ट है कि प्रज्ञावान् अपनी उच्च प्रतिमा का ज्ञान रखते हुए भी आत्म-ज्ञापन अथवा गर्वोक्ति के परित्याग का समर्थक तथा शोभा एवं गरिमा का प्रकाण्ड उन्नायक था :—

"आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥"

(अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १, प्रस्तावना, श्लोक २)

भारतीय मनीषा सदा से नागर रही है। यह वस्तुतः निर्विवाद है कि उच्च सभ्यता एवं संस्कृति के मुख्य समाश्रय नगर ही रहे हैं। गुप्त-युग में तक्षशिला से लेकर काञ्ची तथा उज्जयिनी से लेकर पाटलिपुत्र तक भारतभूमि पर नगर-जाल विस्तृत था। मालविकाग्निमित्रम् में ग्रामनगर-भेद के अन्तर को सफलतापूर्वक निर्दिष्ट करते हुए उल्लिखित किया गया है कि 'रत्नपरीक्षा' पत्तन (पुर) के रहते कहीं ग्राम में होती है (पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा)। इसी तथ्य का पुनरुत्पादन कालान्तर में राजशेखर-प्रणीत कर्पूरमञ्जरी में भी प्राप्य है। इसमें कुरंगक नामक पात्र विस्मय के साथ कहता है कि कस्तूरिका का विक्रय कहीं ग्राम में होता है (कत्थूरिआ कुग्गामे-विक्किणि-अदि)। इन स्फुट सन्दर्भों से स्पष्ट है कि नगर कलानुरागी मर्मज्ञों एवं गुणग्राहियों का केन्द्रविन्दु था। उपर्युक्त उक्तियाँ मध्यकालीन कवि बिहारी की निम्नलिखित सुप्रसिद्ध पंक्तियों का स्मरण दिलाती हैं :—

"वे न इहाँ नागर बड़े जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाब ॥
कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को गँवई गाहक कौन ॥"

अजी, गाँव में गुलाव का फूलना न फूलना एक सा ही है। वे विदग्ध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(नागर), भला यहाँ कहाँ मिलेंगे जो उसके मूल्य को समझें। अरे इत्र-फरोश ! तेरी बुद्धि कहीं मारी गई है, क्या रे ?तू इस बात को समझता क्यों नहीं कि तेरे गुलाब के ग्राहक भला कहीं ग्राम में मिल सकेंगे ?

रत्नावली-नाटिका में विक्रमबाहु का प्रधान मन्त्री वत्सभूमि जब वत्स-राज की राजधानी कौशाम्बी में पहुँचता है, उस समय इस पुर की छटा को देख कर वह भौचक्का हो जाता है। अकस्मात् उसके मुख से निकल पड़ता है :—"अहो। वत्सेश्वर का कैसा ठाट-बाट है। मतवाले हाथियों पर आकृष्ट मेरी दृष्टि को मन्दुरा में बधे अश्व अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेते हैं। कभी मैं संगीत-लहरी में विभोर हो उठता हूँ तो कभी माण्डलिकों से सुशोभित गोष्ठियाँ मेरे मन को हर ले रही हैं। बाहरी कक्ष्या को देखने से ही मुझे सिंहलेश्वर की समृद्धि भी भूली जा रही है। द्वारपाल कितने कुतूहल से मुझ पर दृष्टिपात कर रहा है। मैं तो यहाँ की तड़क-भड़क में अपने को ग्रामीण-तुल्य पा रहा हूँ :—

"आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लभा-
न्संगीतध्वनिनाहृतः क्षितिभृतः गोष्ठीषुतिष्ठन्क्षणम्।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः कक्ष्याप्रदेशेऽप्यहो
द्वाःस्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाऽहं कृतः॥"
(अंक ४, श्लोक १२)

ग्राम के शान्तिमय वातावरण में रहने वाला व्यक्ति जब पुर की समृद्धि एवं कोलाहल को देखता था, उस समय वह घबड़ा उठता था। शाकुन्त-लम् में कण्व-शिष्य शार्ङ्गरव एवं शारद्वत के मुख से दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर के विषय में जो वचन कहलाए गए हैं, उनसे उपर्युक्त तथ्य की सम्पुष्टि होती है। पाणिनि ने बहुत पहले ही 'नगरात् कुत्सन-प्रावीणयोः' नामक सूत्र द्वारा पुर-जीवन के अभिनन्दीय एवं कुत्सित, दोनों ही पक्षों की ओर हमारे ध्यान को आकृष्ट किया है। निन्दनीय पुर-समाज में चोर एवं जुआरी, धूर्त-प्रवञ्चक, वेश्या एवं मद्यप तथा लम्पट-लबाड़ आते थे। गुप्त-कालीन ग्रन्थ मृच्छकटिक में इनके जीवन पर श्लाघनीय प्रकाश डाला गया है। इसमें दर्दुरक नामक पात्र चौर्य को जीविका का स्वाधीन उपाय एवं शौर्य-कर्म निर्दिष्ट करते हुए इसका समर्थन करता है। उसके अनुसार द्यूत सिंहासन-रहित राज्य के तुल्य है। गुप्तकालीन साहित्य एवं अभिलेखों के अनुसार नगर-समाज के प्रशंसित (प्रावीण्य) वर्ग में सुशिक्षित, उपकार-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दक्ष, प्राज्ञ एवं सत्यव्रत, विविध भाषाओं के मर्मज्ञ (सर्वभाषाविदः), लोक-हित-प्रवृत्त, प्रथित शिल्पी, कथाविद्, विचक्षण कलाकार, कवि एवं लेखक, मधुर वार्तालाप में प्रवीण (वाग्मी), समर-प्रगल्भ, दाक्षिण्य-युक्त, तथा निशित एवं विदग्ध मति से सम्पन्न नागरिक आते थे। मृच्छकटिक में गुणान्वित चारुदत्त के स्वभाव-वर्णन के व्याज से आदर्श नागरिक की वाञ्छनीय विशेषताओं एवं अनुरूप प्रकृति का ही काव्यात्मक निरूपण समुपलब्ध होता है।

गुप्तकालीन साहित्य में 'नागरिक-वृत्ति', 'नागरिकत्व' तथा 'नागरक-वृत्त' आदि के उल्लेख प्राप्य हैं, जिनसे तात्पर्य शिष्ट पुरवासियों की निपुणता, विदग्ध व्यवहार एवं वाग्पटुता आदि से है। सम्राट-गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति से युक्त तथा भारतवर्ष के 'अग्रनगर' (ललामभूत) के रूप में परिगणित होती थी। दण्डिन् ने इस पुर को समस्त नगरों की परीक्षा की कसौटी (निकषायमाणा) तथा सर्वोत्तम-पुरी (शेखरीभूता) कहा है। उनके राज्य-काल में (लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों की दीर्घ अवधि के भीतर) विविध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक घटनाओं एवं कार्यकलापों की रूपरेखा इसी नगरी में निर्धारित हुई थी। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं उनके सुयोग्य उत्तराधिकारियों के संरक्षण में उत्तरोत्तर वृद्धिमुखी यह महापुरी कलाकारों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों एवं साहित्यकारों की खान थी। हरिषेण, वीरसेन एवं आर्यभट आदि इस नगरी की ही विभूति थे। इसकी समकक्षता में आने वाली दूसरी जगत्प्रसिद्ध पुरी उज्जयिनी थी, जिसे कालिदास ने पृथ्वी पर स्वर्ग का एक देदीप्यमान खण्ड कहा था (दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्)। इन महानगरों के साहित्यिक शब्द-चित्रण में उनके ठाटबाट एवं ऐश्वर्य की मनोरम झाँकी मिलती है। उनमें घटित गुप्तकालीन सुरुचिपूर्ण गाथाएँ भारतीय इतिहास की अमूल्य निधियाँ हैं। उक्त पुरवरों के अधीश्वर गुप्तान्वयों की अभिनन्दीय कृतियाँ हमारे अभिमान हैं।

गुप्त-वंशीय इतिहास को निबद्ध करने की स्पृहा सर्वप्रथम १९५३ ई० में मेरे मानस में स्फुरित हो उठी, जिस समय से प्रयाग-विश्वविद्यालय में इस विषय के अध्यापन का सुअवसर मुझे अद्यावधि प्राप्त रहा है। इस ग्रन्थ का प्रणयन वस्तुतः १९६३ ई० तक सम्पन्न हो चुका था, परन्तु इस तिथि के पूर्व एवं पश्चात् रचित मेरी कतिपय अन्य प्रबन्धों की पाण्डुलिपियाँ क्रमशः यन्त्रस्थ होने लगीं। उनके मुद्रण-कार्य में संलग्न हो जाने के कारण, अपने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मित्र श्री दिनेश चन्द्र एवं श्री राधे चोपड़ा (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद) के सतत आग्रह के होते हुए भी प्रस्तुत-ग्रन्थ यथासमय प्रकाशित न हो सका। किन्तु इस विलम्ब का लाभ यह हुआ कि हाल ही में प्रकाश में आने वाली नवीन ऐतिहासिक सामग्री के आलोक में इस रचना के यत्किञ्चित् संशोधन एवं परिवर्द्धन का अवकाश मुझे प्राप्त हो गया। मेरे लिये यह हर्ष का विषय है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशन द्वारा मैं अपने अभीष्ट संकल्प एवं शुभेच्छुओं को दिए गए आश्वासन की सम्पूर्ति में सफल हो सका हूँ। विद्वज्जनों का सन्तोष ही मेरी सफलता होगी:—

"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥"
(रघुवंश, प्रथम सर्ग, श्लोक १०)

कभी-कभी गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में भी सोचने लगता हूँ कि अपनी कविता भला किसे अच्छी नहीं लगती, चाहे वह रसीली हो अथवा अत्यन्त फीकी। परन्तु जो दूसरे की रचना को सुन कर हर्षित होते हैं, ऐसे उत्तम पुरुष जगत् में विरले ही हैं। विश्व में अनेक मनुष्य हैं जो अपनी ही उन्नति से प्रसन्न होते हैं। परन्तु समुद्र सा तो कोई एक विरला ही सज्जन होता है, जो चन्द्रमा को पूर्ण देख कर (दूसरों के उत्कर्ष से) उमड़ पड़ता है :—

"निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
जे परभनिति सुनत हरषाहीं। ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं॥
जग बहु नर सुर-सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई॥
सज्जन सुकृत सिन्धु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई॥"

पूज्यमाताजी के जीवन-काल में ही अपनी इस नव्य कृति के प्रणयन एवं उनके श्रीचरणों में इसके समर्पण को मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। संस्कृत भाषा के अध्ययन की प्रेरणा मुझे सर्वप्रथम उन्हीं से प्राप्त हुई थी। प्रातःस्मरणीय पिताजी (स्वर्गीय पण्डित राम बली राय जी) के प्रति मैं किन शब्दों में कृतज्ञता-ज्ञापन करूँ, जिन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के क्षेत्र में मुझे स्फुरण एवं आशीर्वचन प्रदान किया। यशःशेष पितृव्य पण्डित चन्द्र बली राय जी का भी अपने अध्ययन-सरणि में, मैं उतना ही ऋणी हूँ।

वक्तव्य की समाप्ति के पूर्व अपने मित्र श्री दिनेश चन्द्र एवं श्री राधे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चोपड़ा के प्रति आभार-प्रदर्शन करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने इस कृति के प्रकाशन में उत्साह प्रदर्शित किया है। प्रूफ-संशोधन एवं अनुक्रमणिका-निर्माण में मेरे मित्र श्री शिवचन्द्र ओझा ने यथेष्ट सहायता द्वारा मुझे अनुगृहीत किया है। इसी प्रकार मेरे परम सुहृद् श्री आत्माराम नागर ने चित्रों की तैयारी में विलक्षण उत्साह एवं अभिरुचि दिखा कर मुझे उपकृत किया है। विभागीय मित्र श्री हर्ष नाथ कर एवं श्री विजय नारायण राय मेरे साधुवाद के भाजन हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ में प्रयुक्त मानचित्रों का तत्परता के साथ निर्माण किया है। मैं अपने 'पूर्वसूरियों' का भी आभार मानता हूँ, जिन्होंने प्राच्यविद्या के क्षेत्र में गवेषणा के नव आदर्शों को समय-समय पर समुन्मीलित किया है :—

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ॥
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥"
(रघुवंश, सर्ग १, श्लोक ४)

मैं उन सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन लेखकों का ऋणी हूँ, जिनकी रचनाएँ प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में किसी रूप में भी उपयोगी प्रमाणित हुई हैं। खेद है कि अत्यन्त सतर्क एवं प्रयत्नशील होते हुए भी, दुर्लंघनीय परिस्थिति के कारण इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ छूट गई हैं, जिनका-शुद्धि-पत्र में निर्देश कर दिया गया है। आशा है कि सुधी पाठक यथास्थान स्वयमेव उनका मार्जन कर लेंगे। प्रस्तुत-प्रबन्ध अपने पवित्र उद्देश्य की सम्पूर्ति में सर्वथा सफल हो—यही मेरी हार्दिक कामना है और यही है ईश्वर से अभ्यर्थना। अन्त में आर्य क्षेमीश्वर के शब्दों में मेरी यही विज्ञापना है :—

"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम् ।
आवृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधाः ॥

श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
सम्वत् २०२८

उदय नारायण राय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
	समर्पण	
	आरम्भिकी	
१.	ऐतिहासिक स्रोत	१-१६
२.	उदयकालीन शक्तियाँ	१७-२८
३.	प्राचीनता एवं उत्पत्ति	२९-५७
४.	आदि नरेश	५८-६८
५.	चन्द्रगुप्त प्रथम	६९-८१
६.	समुद्रगुप्त 'पराक्रमांक'	८२-१४८
७.	रामगुप्त	१४९-१७८
८.	चन्द्रगुप्त द्वितीय, 'विक्रमादित्य'	१७९-२२४
९.	कुमारगुप्त प्रथम, 'महेन्द्रादित्य'	२२५-२५३
१०.	उत्तराधिकार-समस्या	२५४-२७१
११.	स्कन्दगुप्त, 'क्रमादित्य'	२७२-२९०
१२.	स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी	२९१-३१०
१३.	अधःपतन के मूलभूत कारण	३११-३२७
१४.	समाज एवं संस्कृति	३२८-३७९
१५.	नवीन शक्तियाँ	३८०-४३९
१६.	बाह्य सम्पर्क	४४०-४९४
परिशिष्ट – १	[कौमुदीमहोत्सव की ऐतिहासिकता]	४९५-५१०
परिशिष्ट – २	[कलियुगराज वृत्तान्त—एक ऐतिहासिक परिशीलन]	५११-५१९
परिशिष्ट – ३	[काच-समस्या]	५२०-५२८
परिशिष्ट – ४	[मेहरौली के अभिलेख के चन्द्र]	५२९-५५१
परिशिष्ट – ५	[गुप्त-प्रकाल]	५५२-५६५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट – ६ [वाकाटक-गुप्त-सम्बन्ध] ५६६-५९२
परिशिष्ट – ७ [गुप्त-नृपतियों के अभिलेख] ५९३-६३८
परिशिष्ट – ८ [समसामयिकों के अभिलेख] ६३९-६६१
ग्रन्थ-सूची ६६२-६६९
संकेत-शब्द-सूची ६७१
शुद्धि-पत्र ६७२
अनुक्रमणिका ६७३-६९६
मानचित्र ग्रन्थ के अन्त में
चित्र-सूची फलक १-६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१

ऐतिहासिक स्रोत

"हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥
इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥"

--रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक १९-२०

"उज्ज्वल हंस की उड़ती हुई पंक्तियों, रात्रि में टिमटिमाते हुए तारों एवं सरोवरों में खिली कुमुदिनियों को देख कर जान पड़ता था मानो उन सम्राटों की कीर्त्ति ही इतने रूप बना कर फैली हुई थी। प्रजा को वे नरेश इतने प्यारे थे कि धान के खेतों की रखवाली करने वाली स्त्रियाँ ईख की छाया में विश्राम करती हुई उन रक्षक (गोप्ता) सम्राटों की बाल्यावस्था से लेकर राज्य-काल तक के यश का गान किया करती थीं।"

गुप्त-काल इतिहास के पृष्ठों में सर्वांगीण अभ्युत्थान-हेतु गौरवान्वित स्थान का भागी सदा से ही रहा है। इस राजकुल के नरेशों ने अदम्य उत्साह, संगठन-प्रतिभा, निशित एवं विदग्ध मति तथा अनवरत चेष्टाओं द्वारा एक ऐसे सुविशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जो अपने उत्कर्ष-काल में पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक प्रसरित था। अव्यवस्था की प्रवृत्तियों के उन्मूलन द्वारा गुप्त-युग में एकछत्र (एकराट्) सुदृढ़ अभिनव सत्ता की स्थापना हुई, जिसे उनके अभिलेखों में 'धरणिबन्ध', 'कृत्स्नपृथिवीजय' तथा 'निखिलभुवनविजय' आदि मनोरम पदावलियों द्वारा अभिव्यञ्जित किया गया है। 'पराक्रमांक' एवं 'सर्व-राजोच्छेता' समुद्रगुप्त, विक्रमांक' चन्द्रगुप्त एवं 'क्रमादित्य' स्कदगुप्त-सदृश प्रतिभा-सम्पन्न गुप्त-नरेशों ने अपने दिग्विजय एवं व्यावहारिक जीवन की विशेषताओं द्वारा नूतन आदर्शों को प्रस्तुत किया, जो कालान्तर की पीढ़ियों के लिए अनुकरण के विषय थे। राष्ट्र को विदेशी शिकञ्जों से उन्मुक्त करने के निमित्त उनके द्वारा कुषाणों एवं शकों का उन्मूलन तथा विश्व में आतंक एवं संहार के लिए कुख्यात हूणों को पराङ्मुख करना आदि उस युग में असाधारण सफलता के नूतन दृष्टान्त थे। विदेशी लेखकों द्वारा भी प्रशंसित सुखी एवं समृद्ध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समाज की स्थापना, बृहत्तर भारत की अवधारणा की क्रियान्विति, गुण-ग्राहकता, धर्म-सहिष्णुता, अर्थ-स्रोतों का विकास आदि उनकी प्रशस्त उपलब्धियाँ चिरस्मरणीय रहेंगी। कला, साहित्य एवं राष्ट्रीय जीवन के अन्य विविध क्षेत्रों में गुप्तकालीन विकासों से प्रभावित होने के कारण विश्व-इतिहास के मर्मज्ञों ने इस वैभवपूर्ण काल की तुलना पेरिक्लीज़, आगस्टस एवं तङ्ग-युग सदृश ज्वलन्त कालों से की है।

साहित्यिक साधन—गुप्तों की राजधानी में हरिषेण तथा वीरसेन-सदृश प्रतिभाशील कवि निवास करते थे, परन्तु उनमें से किसी ने भी हर्षचरित तथा विक्रमांकदेवचरित आदि ग्रन्थों के तुल्य अपने आश्रयदाता सम्राट् की जीवनी नहीं लिखी थी। लगता है कि उस समय तक जीवनचरित-सम्बन्धी ग्रन्थ-निर्माण की प्रथा का श्रीगणेश नहीं हो सका था। अन्यथा हमें गुप्तों की उपलब्धियों के विषय में उसी भाँति प्रामाणिक सूचनाएँ उपलब्ध होतीं, जिस प्रकार बाणभट्ट के वर्णन के आधार पर हर्ष के दिग्विजय एवं अन्य सफलताओं के सम्बन्ध में यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। यदि गुप्तकालीन लेखकों ने समुद्रगुप्त-चरित अथवा चन्द्रगुप्त-चरित या गुप्तवंशानुचरित का निर्माण किया होता, तो लगभग तीन शताब्दियों तक राज्य करने वाले इस राजघराने के इतिहास के विषय में हम लोगों का ज्ञान कहीं विशद हुआ होता। स्कन्दगुप्त-कालीन भितरी का प्रशस्तिकार एक अत्यन्त निपुण कवि था। यदि उसने अपनी मनोरम शैली में इस नरेश का जीवनचरित लिखा होता, तो उस ग्रन्थ का विशेष सम्मान हुआ होता, क्योंकि यह सम्राट् एक राष्ट्र-वीर था जिसने हूणों से मातृभूमि की सुरक्षा की थी। सुप्रसिद्ध मन्दसोर के लेख (मालव संवत् ५२९=४७२ ई०) के रचयिता प्रतिभावान् वत्सभट्टि ने कुमारगुप्त के जीवनचरित पर यदि कोई काव्य-ग्रन्थ लिखा होता, तो वह आज एक उच्च ऐतिहासिक रचना के रूप में समादृत हुआ होता। केवल कलियुगराजवृत्तान्त (भविष्योत्तर पुराण का एक खण्ड) ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें गुप्त-नरेशों की कृतियों का किञ्चित उल्लेख प्राप्य है। परन्तु यह एक अर्वाचीन रचना है जिससे इसकी उपादेयता समाप्त हो जाती है। सतर्क एवं आलोचनात्मक सुपरीक्षण द्वारा रमेशचन्द्र मजुमदार ने सिद्ध कर दिया है कि यह एक अप्रामाणिक ग्रन्थ है जो १८९३ से १९०४ ई० के बीच लिखा गया था।

अधिकांश विद्वानों ने कालिदास को गुप्तकालीन कवि माना है। उन्होंने 'मालविकाग्निमित्रम्' जैसा ग्रन्थ तो लिखा जिसमें पुष्यमित्र के यवन-युद्ध एवं अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन प्राप्य है; परन्तु 'कुमारदेवी-चन्द्रगुप्तम्', 'दत्तदेवी-समुद्रगुप्तम्' अथवा 'ध्रुवदेवी-चन्द्रगुप्तम्' नामक किसी नाट्य-ग्रन्थ का निर्माण नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया था । अन्यथा गुप्तों के शक-युद्ध, नागनरेशों के उन्मूलन, दैवपुत्र-षाहि-षाहानु-षाहि एवं मुरुण्डों के मान-मर्दन तथा अश्वमेध-यज्ञ आदि के सम्बन्ध में सम्भवतः समीचीन इतिहास उपलब्ध होता । उन्होंने इक्ष्वाकु-चरित 'रघुवंश' नामक महाकाव्य तो लिखा, परन्तु गुप्त-चरित पर लेखनी नहीं उठाई । यह तथ्य ऐहिक पुरुष के गुणगान के प्रति कवि की उदासीनता का परिचायक हो सकता है । 'कीन्हैं प्राकृत जन गुण-गाना, गिरा लागि सिर धुनि पहिचाना' कहते हुए रामचरित-मानस के निर्माता गोस्वामी तुलसीदास ने भारतीय कवि के उक्त दृष्टिकोण को भली-भाँति अभिव्यञ्जित कर दिया है । गुप्तवंशीय इतिहास का पुनर्निर्माण-कर्त्ता उपर्युक्त शोचनीय कमियों पर जब विमर्श करने लगता है, उस समय उसके नत्रपटल के समक्ष नैराश्यपूर्ण अन्धकार छा जाता है। पर जब वह पुनः इस बात पर विचार करता है कि गुप्तकालीन पुराण, काव्य, नाटक, स्मृतियाँ तथा इनके अतिरिक्त कुछ विदेशी विवरण भी प्राप्य हैं तो उसकी आशा पुनः बँध जाती है । यह सत्य है कि इन ग्रन्थों में गुप्त नरेशों की राजनीतिक उपलब्धियों से सम्बन्धित सामग्री अत्यल्प प्राप्य है पर सांस्कृतिक इतिहास, मुख्यतया जनजीवन के ज्ञान की दृष्टि से उनकी विशिष्टता निर्विवाद है ।

पुराण—साहित्यिक साधनों में सर्वप्रथम पुराण उल्लेखनीय हैं। भविष्यवाणी की शैली में लिखित पुराणों को इतिहासकारों ने पहले कपोलकल्पित घटनाओं का संग्रह मान कर उन्हें अश्रद्धेय घोषित कर दिया था, परन्तु विद्वान् अब क्रमशः उन्हें ऐतिहासिक मान्यता देने लगे हैं। पुराणों के अनुसार उनका पाँचवाँ लक्षण 'वंशानुचरित' (राजवंश-वर्णन) हुआ करता था । गुप्तवंशीय इतिहास के पुनर्निर्माण की दृष्टि से विष्णु पुराण, वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण निश्चित् रूप से उपयोगी प्रमाणित हुए हैं । इनके द्वारा गुप्तों के प्रारंभिक इतिहास एवं उनकी आदि राज्य-सीमा के ज्ञान-लाभ में सहायता उपलब्ध होती है ।

देवीचन्द्रगुप्तम्—गुप्तवंशीय इतिहास के परिचय-निमित्त 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक संस्कृत नाटक भी उपयोगी सिद्ध हुआ है । इसके रचयिता सुप्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त थे, जिन्हें मुद्राराक्षस की भी रचना का श्रेय प्रदान किया जाता है । दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह कोई लोकप्रिय कृति नहीं रही होगी । इसके कतिपय अंश उद्धरण-रूप में गुणचंद्र तथा रामचंद्र द्वारा विरचित 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हुए हैं जिससे इसकी प्रतिष्ठा अभिव्यक्त हो जाती है। इन उद्धरणों ने सर्वप्रथम सिलवाँ लेवी के ध्यान को आकृष्ट किया था । उनका कथन है कि इस ग्रन्थ का नायक प्रतिभा-सम्पन्न गुप्तवंशीय सम्राट्

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चन्द्रगुप्त द्वितीय रहा होगा। देवीचन्द्रगुप्तम् के प्राप्त उद्धरणों में उसके द्वारा अपने बड़े भाई रामगुप्त का वध तथा उसकी भार्या ध्रुवस्वामिनी के साथ उसका विवाह एवं तदनन्तर उसके राज्याभिषिक्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

कालिदास की रचनाएँ—अधिकांश विद्वानों ने कविवर कालिदास को गुप्त काल की ही विभूति माना है। उन्होंने ऋतुसंहार, कुमारसंभव, मेघदूत, रघुवंश, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशकुन्तलम् आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की थी। शैली एवं वर्ण्य-विषयों के आधार पर ऋतुसंहार उनकी प्रथम रचना मानी जाती है। इस ग्रन्थ में विभिन्न ऋतुओं का मार्मिक परिचय, नाना अलंकार-प्रसाधन, सुगन्धित द्रव एवं अनुलेप तथा समकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्य हैं। कतिपय विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि कुमारसंभव की रचना उन्होंने कुमारगुप्त प्रथम के जन्म के अवसर पर की थी। सजीव एवं रोचक शैली में रचित यह ग्रन्थ समकालीन समाज एवं संस्कृति का दर्पण है। मेघदूत संस्कृत-साहित्य का सर्वोत्तम गीति-काव्य है। इसमें गुप्तकालीन नगर उज्जयिनी के ठाटबाट, महाकाल के मन्दिर एवं उसके वातावरण का सजीव चित्र तथा वहाँ के नागरिकों के सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों का मनोरम वर्णन मिलता है। इस पुर में गुप्त-सम्राटों की द्वितीय राजधानी वर्तमान थी। कालिदास के शब्दों में उस नगरी के ऐश्वर्य एवं समृद्धि को देख कर आभास होता था, मानो उसके रूप में स्वर्ग का ही कोई देदीप्यमान खण्ड धरातल पर अवतरित हो गया हो। कतिपय समालोचकों का अनुमान है कि 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक के नाम में वस्तुतः चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर ही संकेत है, जिसकी उपाधि विक्रमादित्य थी।

शैली की परिपक्वता के आधार पर रघुवंश तथा अभिज्ञानशकुन्तलम् उनके जीवन के अन्तिम दिनों की कृतियाँ ज्ञात होती हैं। रघुवंश में प्रजा-रक्षक सम्राट् के प्रशस्त गुणों (गोप्तुर्गुणोदयम्) का उल्लेख मिलता है। लगता है कि 'गोप्तुः' शब्द में गुप्त-नरेशों की ओर संकेत है, जिनके समय में कालिदास ने अपने ग्रन्थों का निर्माण कर संस्कृत-साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया था। 'अभिज्ञान-शकुन्तलम्' में राजत्व के आदर्श, मृगया, मनोविनोद के साधन, लोकप्रिय विश्वास, त्यौहार, वाहन, आभूषण तथा चित्रकला की सामग्री आदि के विषय में विशिष्ट उल्लेख प्राप्य हैं। कालिदास की रचनाओं को यदि हम समकालीन संस्कृति का दर्पण कहें, तो इस कथन में संभवतः कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

गुप्तकाल एक ऐसी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है जो तीन स्पष्ट धाराओं में विभाजित हो गई थी—नगर, ग्राम एवं अरण्य-जीवन। यदि तत्कालीन नगर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एवं ग्राम-जीवन-भेद की जानकारी प्राप्त करनी हो तो कालिदास के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए। अभिज्ञानशकुन्तलम् में जब कण्व के शिष्य शार्ङ्गरव एवं शारद्वत दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर को देखते हैं, उस समय दोनों ही आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। शार्ङ्गरव अपने मनोभाव को प्रकट करता हुआ शारद्वत से कहता है—मित्र ! यह बात तो सही है कि राजा दुष्यन्त बड़े ही आचार-विचार वाले हैं और उनके राज्य का कोई भी व्यक्ति अपने धर्म एवं मर्यादा का परित्याग नहीं करता तथापि ऐकान्तिक जीवन से अभ्यस्त होने के कारण यहाँ का कोलाहल मुझे काटने दौड़ रहा है। मेरी दशा तो वैसी ही हो गई है जिस तरह तेज आग की भयंकर लपटों से खाक होते हुए घर को देखने पर होती है।[1] शारद्वत भी उसकी भावनाओं का समर्थन करता हुआ कहता है कि मेरी भी दशा तुम्हारी ही भाँति हो गई है।[2] पुर में आने पर मनुष्य कुछ इसी भाँति भौचक्का हो जाता है। मैं भी सांसारिक सुख और वासनाओं में लिपटे हुए हस्तिनापुर-नागरिकों को उसी भाँति देखता हूँ जिस तरह स्नान किया हुआ व्यक्ति तेल से सने हुए गन्दे आदमी को, जागता सोते को, स्वाधीन पराधीन को या पवित्र नर पापी को देखता है।[3] इस ग्रन्थ में दुष्यन्त विदूषक को आदेश देते हैं कि हे सखे ! तुम मुझसे रुष्ट हंसपदिका को 'नागरिक-वृत्ति' द्वारा प्रसन्न करो। यहाँ पर इस शब्द से तात्पर्य नगर में रहने वालों के विदग्ध व्यवहार एवं उनकी वाग्पटुता से है।[4]

मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक में ग्राम-नगर-भेद के विषय में बहुत अच्छा उल्लेख प्राप्त होता है। इसके प्रथम अंक में हरदत्त और गणदास नामक दो कला-मर्मज्ञों का उल्लेख मिलता है। परन्तु दोनों ही एक दूसरे से जलते एवं नीचा दिखाने का दाँव-पेंच ढूँढ़ते रहते थे। एक दिन वे दोनों ही एक दूसरे को

---

१. "महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥"
—अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ५, ११

२. "पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः"—वही, अंक ५

३. "अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतजनमिव सुखसंगिनमवैमि ॥"
—वही, अंक ५, १२

४. "सखे ! गच्छ, नागरिक-वृत्या सान्त्वयैनाम"—वही, अंक ५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हराने की प्रतिज्ञा कर राजदरबार में पहुँचे और महाराज से निवेदन किए कि श्रीमन् ! हम दोनों के कला-ज्ञान की परीक्षा लेकर सदा के लिए आप निपटारा कर देने का अनुग्रह करें कि हममें कौन श्रेष्ठ है? उस समय दरबार में देवी धारिणी और उनके साथ परिव्राजिका कौशिकी भी उपस्थित थीं। महाराज परिव्राजिका कौशिकी से निवेदन करते हैं कि यदि इन दोनों के कला-ज्ञान की परीक्षा आप ही कर देतीं तो अच्छा होता। इस पर परिव्राजिका अचम्भित होकर कहती हैं—महाराज ! आप भी अच्छा उपहास करते हैं ! नगर के रहते रत्न की परीक्षा कहीं गाँव में होती है।[1]

मृच्छकटिक—गुप्तकालीन इतिहास के पुनर्निर्माण में शूद्रककृत मृच्छकटिक भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में जन-जीवन की बाँकी झाँकी उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ का नायक चारुदत्त था, जिसके व्यक्तित्व में गुप्तकालीन आदर्श नागरिक के वाञ्छनीय गुणों का निरूपण मिलता है। लेखक के शब्दों में वह दीनों के लिये कल्पतरु, अपने गुण रूपी फलों से नम्र, सज्जनों के लिये स्वजनतुल्य, शिक्षितों का आदर्श, शील रूपी वेला का समुद्र, परोपकारी, किसी का अपमान न करने वाला, सद्गुणों का केन्द्र,कुशल, उदारसत्व, अंधों के लिये दृष्टि की भाँति तथा रोगी के लिये शक्ति की तरह था। इस ग्रन्थ में उज्जयिनी की वेश्या वसन्तसेना के विशाल प्रासाद का मनोरम वर्णन प्राप्त होता है। लेखक के शब्दों में वह अपनी ऊँचाई के कारण दर्शकों के मन को दूर से ही आकृष्ट कर लेता था। इस ग्रंथ में गणिकाओं के व्यभिचारपूर्ण जीवन एवं दुष्ट कट्टनियों के काले कारनामों की ओर संकेत भी मिलता है। इसके अनुसार गणिकाएँ धन के लिये क्षण में हँसती तथा क्षण में रोती भी हैं। पुरुषों को तो वे बाहर से विश्वास दिलाती हैं, पर भीतर उनके प्रति छल रखती हैं। इसलिये कुल और शील से समन्वित मनुष्य को श्मशान के पुष्प की भाँति वेश्याओं का परित्याग कर देना चाहिये।[2] इस ग्रन्थ में विदूषक चारुदत्त से कहता है कि 'मैं ब्राह्मण आपके पैरों पर गिर कर कहता हूँ

---

१. "अलमुपालम्भेन ! पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा"

—मालविकाग्निमित्रम्, अंक १

२. "एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो
विश्वासयंति पुरुषं न तु विश्वसंति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥"

—मृच्छकटिक, अंक ४, १४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कि आप बहुत विघ्नों से युक्त वेश्या-संगति छोड़ दें । गणिका तो जूते में पड़ी हुई कंकड़ी के समान है, जो एक बार घुसने के पश्चात् बड़ी कठिनाई के साथ निकाली जाती है और मित्र ! दूसरी बात यह है कि जहाँ वेश्या रहती है वहाँ तो बुरे आदमी भी नहीं जाते, सज्जनों का तो कहना ही क्या ?[१]

मृच्छकटिक के द्वारा जुआड़ी एवं चोर-बदमाशों के जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है । इस ग्रन्थ में हारा हुआ जुआड़ी पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ कहता है कि जूए का खेल उसी तरह बर्बादी की जड़ है जिस तरह सुमेरु पर्वत की चोटी से फिसल कर चूर-चूर हो जाना तथापि कौड़ियों की आवाज मुझे अपनी ओर बरबस आकृष्ट कर ले रही है। इस जुए रूपी गदर्भी द्वारा बारम्बार प्रहार खाने पर भी मैं इसकी ओर ललच उठता हूँ। महाभारत की लड़ाई में जिस भाँति अंगराज कर्ण की शक्ति से घटोत्कच बुरी तरह घायल हो गया था, उसी तरह इस जुए रूपी शक्ति के प्रहार से मैं पूर्ण रूप से धराशायी हो गया हूँ। जुए के खेल में उज्जयिनी का एक परास्त जुआड़ी, हारी हुई रकम को अदा करने में अपने को असमर्थ पाता है । फिर तो उसके ऊपर चारों ओर से बौछारें पड़ने लगती हैं । जीता हुआ जुआड़ी उससे कहता है कि इस समय तो तू कहीं भी भाग कर जा नहीं सकता। यदि तू स्वर्ग-लोक या पाताल-लोक में भी शरण लेना चाहे तब भी तेरी खैरियत नहीं है। पैसा तो तुझे देना ही पड़ेगा । यदि तेरे पास कुछ भी नहीं है, तो तू अपने शरीर को बेंच कर इसे पूरा कर, नहीं तो तुझे अपनी जिन्दगी से हाथ धोना पड़ेगा ।[२] इसी बीच वसन्तसेना आ जाती है और धिक्कारती हुई उससे कहती है—तू तो बड़ा ही गया बीता है रे, केवल चन्द ठिकरों के लिए पंचेन्द्रियों से बनी हुई ईश्वर की अनुपम रचना को तू मार डालना चाहता है । बड़ी कठिनाई से वह उसे उन्मुक्त कर पाती है ।[३]

उस समय धूर्त-प्रवंचक एवं चोर-बदमाश बड़े ही मजे खिलाड़ी हुआ करते

---

१. "तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि निवर्त्यतामात्मास्माद्बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसंगात् । गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका इव दुःखेन पुनर्निराक्रियन्ते ।"

—वही, अंक ५

२. "आत्मानंविक्रीय प्रयच्छ"—मृच्छकटिक, अंक २

३. "दुर्वर्णोऽसि विनेष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ।।"

—वही, अंक २

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थे। मृच्छकटिक में चौर-विज्ञान (चोर की विद्या) के एक विद्यार्थी का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि चालबाज उस्ताद अपने ही तुल्य धुप्पलबाज चेलों को पैतरेबाजी सिखाते थे। वे लोग सेंध मारने की कला, घर के भीतर घुस कर बड़ी सफाई के साथ सामान गायब कर देना और आवश्यकता पड़ने पर चकमा देकर निकल जाना आदि चोरी से सम्बन्धित तरह-तरह की बारीकियों को माँजते थे। इस ग्रन्थ में एक चोर दूसरे से कहता है कि अजी, चोरी करना कौन बुरी बात है? यह काम तो बड़े-बड़े महापुरुषों ने भी किया है। अश्वत्थामा ने भी तो चोरी के साथ ही अपने शत्रुओं का वध किया था। दूसरी बात यह है कि यह जीविका का एक स्वतंत्र पेशा है। इसमें कोई नौकरी थोड़े ही बजानी है।[1] जब वह सेंध मारने जाता है तो पहले देवताओं की वन्दना करता है:—हे खटपट महाराज! कृपा कर आप शान्त रहिएगा और हे रात्रि में विचरण करने वाले गण! आप लोगों को भी मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे ऊपर कल्याण कीजिएगा ताकि मेरा बाल भी बाँका न हो सके।[2] जब राजमार्ग पर वह पहरेदार को देखता है, तो उसके प्राण सूख जाते हैं। पर, बड़ी ही निपुणता के साथ वह उसकी आँख बचा-कर चम्पत हो जाता है। फिर तो वह छल-प्रतारणा पर अपनी विलक्षण दखल और दूसरों को चकमा देने की चतुराई पर डींग मारता हुआ फूले न समाता है।[3]

इस ग्रन्थ में तत्कालीन नगर-शासन-पद्धति के विषय में भी उल्लेख मिलता है। उज्जयिनी के न्यायालय का इसमें जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह गुप्तकालीन पुर-न्यायालयों की कार्यपद्धति पर प्रकाश डालता है। चारुदत्त उज्जयिनी के अधिकरण (कचहरी) को देख कर घबड़ा उठता है। अकस्मात् उसके मुख से निकल पड़ा—अरे! यह कचहरी तो मुझे काटने को दौड़ रही है। लगता है कि मेरे सामने कोई भयावह सागर वर्तमान हो जिसमें हिंसक जीव भरे रहते हैं। इधर-उधर जो जासूस दौड़ रहे हैं, वे नाक एवं घड़ियाल के तुल्य लगते हैं। हाथी,

---

१. "मार्गोह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना।
स्वाधीना वचनीयतापि तु वरं वद्धो न सेवाञ्जलिः।"

—वही, अंक ३

२. "नमः खरपटाय नमो रात्रिगोचरेभ्यो देवेभ्यः॥"

—चारुदत्त, अंक ३

३. विस्तृत सूचना के लिए द्रष्टव्य : मेरा ग्रन्थ 'हमारे पुराने नगर', पृष्ठ १२३-२४।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

घोड़े, पालकी और शिकरम-गाड़ियाँ मुझे जीव-जन्तुओं के तुल्य लगती हैं। सामने बैठे हुए मुहर्रिर हिंसा की भावना में फन ऊपर निकाले हुए विषधर साँप की तरह लग रहे हैं। न्यायाधीश के परामर्शदाता तथा दूत लोग कुछ कम भयंकर नहीं लगते। ओह! मैं कहाँ फँस गया।[1] उपर्युक्त वर्णन को यदि गुप्तकालीन नगर-न्यायालय का ही सजीव दृश्य कहा जाय, तो संभवतः इस कथन में कोई अत्युक्ति न होगी।

कामसूत्र--वात्स्यायन के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कामसूत्र को भी लोग गुप्तकालीन रचना मानते हैं। इसमें 'नागरक-वृत्त' नामक एक परिच्छेद मिलता है, जिसमें शृंगारप्रेमी नागरिक की जीवनचर्या एवं उसके कला-प्रेम का वर्णन उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में पुरुष एवं स्त्री-समाज में प्रचलित वेशभूषा, आभूषण, सुगन्धित द्रव एवं अनुलेप, वाहन, प्रासाद एवं नागरिक शालाएँ, वाटिका, सरोवर, उद्यानयात्रा (पिक्निक), वाद्य एवं संगीत तथा नागरिकों के मनोविनोद के सम्बन्ध में रोचक सामग्री उपलब्ध होती है। प्राचीन भारतीय पुर एवं पुर-जीवन की प्रामाणिक जानकारी के निमित्त यह रोचक ग्रन्थ अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मञ्जुश्रीमूलकल्प—यह महायान धर्म से सम्बन्धित एक बौद्ध ग्रन्थ है, जिसमें ७००ई० पू० से लेकर ७५० ई० तक भारतीय इतिहास के वर्णन का प्रयास उपलब्ध होता है। विभिन्न भारतीय राजवंशों के निरूपण की चेष्टा करते हुए लेखक ने इसमें गुप्तवंशीय इतिहास का भी परिचय दिया है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ श्रद्धेय नहीं है। कालान्तर में लिखे हुए इस प्रबन्ध में राजाओं के नाम एवं उनकी कृतियों का वर्णन अस्पष्ट एवं भविष्यवाणी के रूप में हुआ है। अतएव इसके उल्लेखों को छानबीन तथा अत्यन्त सतर्कता के साथ ग्रहण करना पड़ता है।

फाहियान का विवरण—फाहियान उन चीनी यात्रियों की परंपरा में आता है, जो बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन तथा इस धर्म से सम्बन्धित तीर्थों का पर्यटन करने के हेतु भारतवर्ष आये थे। वह हमारे देश में गुप्तकाल में ही आया हुआ था,

---

१ "चिन्तासक्तनिमग्नमंत्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलम्
पर्यन्तस्थितचारुनक्रमकरं नागाश्चहिंसाश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदम्
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंसैः समुद्रायते॥"
—मृच्छकटिक, अंक ९, १४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतएव इस वंश के इतिहास के निमित्त उसका विवरण उपयोगी सिद्ध हुआ है। उसने पश्चिममें पुष्कलावती से लेकर पूर्वमें ताम्रलिप्ति तक विभिन्न ऐतिहासिक केन्द्रों में रुक कर स्थानीय प्रथाओं, धार्मिक विश्वास एवं प्रचलन, जलवायु एवं वनस्पतियों तथा जन-स्वभाव का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। उसने भारतीय नागरिकों की दानपरायणता तथा अतिथि-सत्कार की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की है। उसके अनुसार इस देश के निवासी सुखी तथा संपन्न थे एवं उनका चरित्र उच्चकोटि का था। कहीं भी चोरी का भय न था, अतएव लोगों को अपनेघरों में ताला तक लगाने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। दण्ड-विधान साधारण-सा था। लोग मदिरा, मांस, लहसुन एवं प्याज आदि से परहेज रखते थे तथा स्वच्छता को महत्त्व प्रदान करते थे। नगरों में चिकित्सालय तथा दानगृह बने हुए थे; जहाँ पर असहाय व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र एव औषधि निःशुल्क मिलती थी। उसके द्वारा वर्णित पुण्यशालाओं की तुलना हम गुप्तकालीन अभिलेखों में उल्लिखित 'सत्र' से कर सकते हैं जिनमें रहने वाले दीन-दुखी व्यक्तियों को धर्मात्मा एवं धनीमानी नागरिकों के दान से भोजन, वस्त्र एवं आवश्यक सुविधा प्रदान की जाती थी। विशेष रूप से प्रयाग जिले में वर्तमान गढ़वा के शिला-लेखों में इस प्रकार के दान-गृहों के प्रचुर उल्लेख प्राप्य हैं। उसने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजधानी एवं उसके राजप्रासाद का मार्मिक चित्र खींचा है।

हुयेनसांग का वर्णन—भारतवर्ष आने वाले चीनी यात्रियों में हुयेनसांग सबसे प्रधान माना जाता है। वह हर्ष के समय में यहाँ आया हुआ था, अतएव उसका यात्राविवरण प्रधानतः वर्द्धनकालीन इतिहास के लिये ही उपयोगी है। पर इसमें प्रसंगतः गुप्तकाल से सम्बन्धित उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार नालंदा के विश्वविद्यालय का संस्थापक शक्रादित्य नामक गुप्त नरेश था। शक्रादित्य तथा कुमारगुप्त प्रथम (महेन्द्रादित्य) को लोग बहुधा एक ही व्यक्ति मानते हैं। उसने बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य तथा वज्र आदि गुप्त-नरेशों का भी नामोल्लेख किया है। इन शासकों की निष्ठा विषेश रूप से बौद्ध धर्म में थी तथा नालंदा के विश्वविद्यालय को उन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान की थी। हुयेनसांग के अनुसार बालादित्य हूणों का विजेता था। उसने अनेक गुप्तकालीन ऐतिहासिक स्थानों का वर्णन किया है जिनमें से कुछ का पूर्व-कालीन वैभव उसके आगमन के समय नष्ट हो चुका था, परन्तु उनमें से कतिपय अपने प्राचीन ऐश्वर्य को अब भी सँजोए हुए थे।

इत्सिंग का यात्रा-विवरण—यह सुप्रसिद्ध चीनी यात्री हुयेनसांग के पश्चात् सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारतवर्ष आया था। वह जलमार्ग के द्वारा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रीविजय होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। उसने लिखा है कि नालंदा के विश्व-विद्यालय के भवन गगनस्पर्शी थे। उसके उल्लेखों से स्पष्ट है कि गुप्तों के द्वारा स्थापित एवं संवर्द्धित यह विद्यालय उसके आगमन के समय शिक्षा का एक अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र माना जाता था । सांस्कृतिक इतिहास के परिज्ञान की दिशा में उसके विवरण द्वारा यत्र-तत्र महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है ।

अल्बरूनी का भ्रमण-वृत्तान्त—यह विदेशी यात्री अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा कभी-कभी अरस्तू का स्मरण दिलाता है। गणित, ज्योतिष-शास्त्र, खगोल-विद्या एवं नाना भाषाओं का वह प्रकाण्ड ज्ञाता था । यहाँ तक कि संस्कृत का भी उसे विशेष ज्ञान था। उसका वास्तविक नाम 'अबू-रैहान-मुहम्मद-अहमद-अल्बरूनी' था। ख्वारिज़्म में, जिसे आज खीवा कहते हैं, ९७३ ई० में उसका जन्म हुआ था। प्रारम्भ में उसने विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त की थी । उसकी बौद्धिक उपलब्धियों से प्रभावित होने के कारण उसकी जन्म-भूमि के मनूनी नामक राजवंश के तत्कालीन सम्राट् ने उसे अपना राजनीतिक परामर्शदाता नियुक्त किया था । १०१७ ई० में महमूद गज़नी ने ख्वारिज़्म पर आक्रमण कर इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । बन्दी बना कर लाए हुए व्यक्तियों में अल्बरूनी भी एक था। महमूद किञ्चित सम्पर्क में ही इसकी विलक्षण मेधा से प्रभावित हो उठा और इसे अपना राज-ज्योतिषी नियुक्त कर दिया । यूनानी एवं भारतीय दोनों ही पद्धतियों के अनुसार ज्योतिष-शास्त्र में उसकी गति सुविशेष थी। भारत के प्रति उसका दृष्टिकोण महमूद की कुत्सित भावनाओं का विपर्यय था। महमूद के अनुसार हिन्दू विधर्मी और सर्वथा नरक-भोगने योग्य थे। यहाँ के मन्दिरों का संहार एवं अपरिमित धन-सम्पत्ति का अपहरण उसके भारतीय अभियान का प्रेरक था । परन्तु इसके प्रतिकूल उसका समकालीन भारतीय दर्शक अल्बरूनी एक गुणग्राही व्यक्ति था तथा यहाँ के नागरिकों की बौद्धिक सफलताओं का प्रशंसक था । संस्कृत व्याकरण, अलंकार एवं छन्दों पर तो वह लट्टू था । उसके अनुसार हिन्दू अच्छे दार्शनिक, ज्योतिष एवं खगोल-शास्त्र के मर्मज्ञ एवं महान् गणितज्ञ थे। भगवत्-गीता से वह विशेष रूप से प्रभावित था ।[1] इस भारतीय पर्यटक की प्रवृत्ति सर्वदा एक जिज्ञासु की थी। उसने काशी नगरी को 'हिन्दुओं का मक्का' कहा है। इस भाँति की कितनी ही महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से उसका विवरण परिपूर्ण है ।

---

१. साचो, अल्बरूनीज इण्डिया, प्रस्तावना, पृष्ठ २७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभिलेख--गुप्तवंशीय इतिहास के पुनर्निर्माण में सबसे बड़ी सहायता उत्कीर्ण लेखों से उपलब्ध होती है जो उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। यह निर्विवाद है कि इनके अभाव में इस वंश के इतिहास के विषय में हम लोगों का परिचय बहुत कुछ अपूर्ण रह जाता। इनकी भाषा संस्कृत है। ये लेख इतिहास के अतिरिक्त अलंकार, छन्द तथा रस की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। भला कौन जानता था कि किसी दिन गुप्तकालीन गद्य, पद्य एवं चम्पू-काव्य के ललित उदाहरण पाषाण-खंडों पर भी सुरक्षित मिलेंगे। इनका वर्गीकरण तीन भागों में किया जा सकता है--(१) स्तंभ-लेख, (२) शिला-लेख तथा (३) ताम्र-लेख। इन अभिलेखों के प्राप्तिस्थान एवं उनके अन्तः साक्ष्यों के आधार पर विभिन्न नरेशों के राज्य-काल में गुप्त-साम्राज्य की सीमाओं के निर्धारण में सहायता उपलब्ध होती है।

इन्हें उत्कीर्ण कराने का उद्देश्य विविध था। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिनमें वंशावली, ऐतिहासिक घटनाओं एवं नरेशों की उपलब्धियों का काव्यात्मक वर्णन प्राप्त होता है। समुद्रगुप्तकालीन प्रयाग का स्तंभ-लेख इसी कोटि में आता है। इसमें उसके जीवनचरित तथा दिग्विजय का निरूपण मनोरम चम्पू (गद्य-पद्य-मिश्रित) शैली में मिलता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकालीन उदयगिरि के शैव गुहा-लेख में उसकी दिग्विजय-यात्रा (कृत्स्न-पृथ्वी-विजय) वर्णित है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के लेख में गिरिनार (गिरिनगर) के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक तटाक् सुदर्शन के जीर्णोद्धार का वर्णन गेय पदावलियों में प्राप्य है। उसके राज्यकालीन भितरी के स्तम्भ-लेख में भगवान् विष्णु की प्रतिमा की स्थापना का वर्णन काव्यात्मक ढंग से हुआ है। भानुगुप्त के एरण के लेख में किसी तुमुल युद्ध में उसके अभिन्न विश्वास-पात्र मित्र गोपराज की मृत्यु तथा तत्पश्चात् उसकी भार्या के सती हो जाने का उल्लेख प्राप्य है। उपर्युक्त प्रायः सभी लेखों में घटना-विशेष का वर्णन मिलता है। गुप्तकालीन कतिपय अभिलेख दानपत्र के रूप में हैं। ये ताम्रखंड पर उत्कीर्ण हैं और अधिकतर बंगाल में विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं; उदाहरणार्थ दामोदर-पुर, गुणैघर, बैग्राम, पहाड़पुर तथा फरीदपुर आदि। ऐतिहासिक दृष्टि से इन लेखों की उपादेयता भी निर्विवाद है। इनमें गुप्तकालीन दान-संबंधी नियमों का वर्णन मिलता है। ये उस समय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। इनमें महाभारत के श्लोक उत्कीर्ण किये गये हैं, जिनमें दान की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। कुछ अभिलेख तिथियुक्त हैं। इनसे विविध सम्राटों के समय-निर्धारण में सहायता उपलब्ध होती है। गुप्तवंशीय अभिलेखों में प्राप्त होने वाली तिथियाँ 'गुप्त-संवत्' में दी गई हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त-संवत् का नामोल्लेख सर्वप्रथम स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में मिलता है।[1] कतिपय गुप्तवंशीय अभिलेखों में इस समय के कवियों के नाम भी आते हैं, उदाहरणार्थ हरिषेण, वीरसेन तथा वत्सभट्टि। उनकी कृतियाँ तो उपलब्ध नहीं हुई हैं, परन्तु शिला-खण्डों पर उत्कीर्ण लेख उनकी काव्यनिपुणता को साहित्य-जगत् में अक्षुण्ण रखने के हेतु पर्याप्त हैं। हरिषेण तथा वत्सभट्टि-रचित क्रमशः प्रयाग एवं मन्दसोर-प्रशस्तियाँ यत्र-तत्र कालिदास की उच्च काव्य-प्रतिभा का स्मरण दिलाती हैं।

मुद्राएँ—गुप्त-काल से भारतीय मुद्रा के इतिहास में नव-युग का प्रारंभ होता है। इन नरेशों की मुद्राएँ सोने, चाँदी तथा ताँबे की बनी हुई हैं तथा पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक विभिन्न केन्द्रों से उपलब्ध हैं। उनका प्राप्ति-स्थान इस बात का परिचायक है कि यह विशाल भू-भाग उनके अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित था। इन मुद्राओं के द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाओं के विषय में सूचना मिलती है। उदाहरणार्थ एक सुवर्ण मुद्रा के मुख भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम तथा उसकी पत्नी कुमारदेवी का चित्र और पृष्ठ भाग पर 'लिच्छवयः' शब्द उत्कीर्ण हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस सम्राट् के शासनकाल में गुप्तों और लिच्छवियों के बीच वैवाहिक संबन्ध की स्थापना हुई थी।

समुद्रगुप्त की एक मुद्रा के ऊपर अश्वमेध के घोड़े का चित्र अंकित है जो इस बात का प्रमाण है कि उसने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की रजत-मुद्राएँ शक-मुद्राओं के आदर्श पर ढाली गई थीं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उसने शकों को परास्त किया था।

गुप्तवंशीय मुद्राओं के ऊपर सम्राटों के चित्र उत्कीर्ण हैं। इनके द्वारा उनके शारीरिक बनावट तथा व्यक्तित्व के विषय में प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है। अपनी एक सुवर्ण-मुद्रा के ऊपर वह वीणा बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वह संगीत का प्रेमी था। कुछ सिक्कों पर गुप्त-सम्राट् व्याघ्र तथा सिंह का आखेट करते हुए दिखाये गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि वे मृगया में अभिरुचि रखते थे। इन मुद्राओं के द्वारा गुप्त नरेशों की शक्ति, समृद्धि तथा साम्राज्य की महानता एवं आर्थिक दशा के विषय में भी सूचना प्राप्त होती है।

स्मारक—गुप्तकालीन स्मारकों में मन्दिर, स्तम्भ, मूर्तियाँ तथा गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। उस समय के मन्दिरों के कुछ दृष्टान्त प्राप्त हैं; उदाहरणार्थ नागोद

---

१ "संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय।"
—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ३०३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्य में स्थित भुमरा का शिव-मन्दिर, जबलपुर के पास वर्तमान तिगवा का विष्णु-मन्दिर, अजयगढ़ राज्यान्तर्गत नचना कुठार का पार्वती मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, भिटारगाँव का ईंटों से निर्मित मन्दिर तथा लाड़खान मन्दिर। ये उस समय की वास्तुकला, उत्कीर्ण-भास्कर तथा धार्मिक विश्वास एवं प्रचलन के भव्य परिचायक हैं। मन्दिरों में शिखर-निर्माण की परंपरा गुप्त-काल से प्रारंभ होती है। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर प्राचीन शिखरयुक्त मन्दिर का सबसे पहला उदाहरण है। उसके पहले मन्दिरों की छतें प्रायः चिपटी बनायी जाती थीं। अभिलेखीय साक्ष्यों से भी प्रमाणित होता है कि गुप्त-काल में शिखर-युक्त मन्दिरों के निर्माण की परम्परा क्रमशः लोकप्रिय होती जा रही थी। कुमारगुप्त द्वितीय-कालीन मन्दसोर के लेख (मालव संवत् ५२९=४७२–७३ई०) से ज्ञात होता है कि मालवा के सुप्रसिद्ध नगर दशपुर में एक भव्य सूर्य-मन्दिर (दीप्तरश्मि-भवन) निर्मित था, जिसका उत्तुंग एवं विस्तृत शिखर रात्रि में चन्द्रमा की श्वेत किरणों का सम्पर्क पाकर विशेष शोभा को धारण कर लेता था। इस नयनाभिराम मन्दिर के कारण उक्त नगर की छटा द्विगुणित हो उठती थी।[1] इसका अत्युन्नत मनोहर शिखर मानों गगन-स्पर्शी एवं सूर्य तथा चन्द्रमा की अमल किरणों का आयतन (निवास-स्थान) था।[2]

मौर्यकालीन स्तंभों की भाँति गुप्तकालीन स्तंभ भी प्रायः एक ही विशाल प्रस्तर-खंड को तराश कर बनाये गये हैं; उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्तकालीन भितरी का स्तंभ। लौहनिर्मित मेहरौली का स्तंभ अपने ढंग का अद्वितीय उदाहरण है। गुप्तयुगीन कलात्मक विकास का यह एक ज्वलन्त प्रतीक है। इतना दीर्घकालीन होने पर भी इसमें कहीं जंग नहीं लगने पाया है। गुप्तों का समय भास्कर-कला के लिये भी सुप्रसिद्ध है। तत्कालीन विशिष्ट ऐतिहासिक केन्द्रों के अवशेषों में वैष्णव, शैव, जैन तथा बौद्ध प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनका स्थान भारतीय

---

१. "विस्तीर्ण-तुंग-शिखरं-शिखरि-प्रकाश-
म्युद्गतेन्द्वमल-रश्मि-कलाप-गौरं ।
यद्भाति पश्चिम-पुरस्य निविष्ट-कान्त-
चूडामणि-प्रतिसमन्नयनाभिरामम् ॥"
——सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९४.

२ "अत्युन्नतमवदातं नभः स्पृशन्निव मनोहरैश्शिखरैः ।
शशिभानोरभ्युदयेष्वमल-मयूखायतनभूतम् ॥"
——सरकार, वही, पृष्ठ २९६.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तक्षणकला के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ये सूचित करती हैं कि धर्मसहिष्णु गुप्त-नरेशों के काल में प्रायः सभी धर्म अपने स्वाभाविक रूप में पनप रहे थे। कतिपय मूर्तियों के अधोभाग में लेख भी उत्कीर्ण किये गये हैं, जिनकी ऐतिहासिक महत्ता अधिक है। उदाहरणार्थ कुमारगुप्त द्वितीय-कालीन सारनाथ की बौद्ध प्रतिमा के अधोभाग में एक लेख अंकित है, जिसके अनुसार गुप्त संवत् १५४ (४७३ ई०) में अभयमित्र नामक भिक्षु ने माता-पिता तथा गुरुओं के पुण्यार्जन के निमित्त इस मूर्ति की स्थापना की थी। बुधगुप्त के समय की सारनाथ-प्रतिमा के नीचे भी इसी भाँति एक लेख उत्कीर्ण है, जिससे ज्ञात होता है कि अभयमित्र ने ही इस मूर्ति की स्थापना गुप्त संवत् १५७ (४७६ ई०) में धर्मार्जन के हेतु की थी। इस प्रतिमा के ऊपर छत्र का आवरण किया गया था।

गुप्तकालीन गुहा-मन्दिर (चैत्य-गृह) प्रथम वर्गीय हैं। अत्यन्त निपुणता एवं धैर्य के साथ चट्टान-खंड को तरा शंकर निर्मित ये गुफाएँ तत्कालीन तक्षण-कारों के हस्तलाघव की ज्वलन्त परिचारिकाएँ हैं। उनका विभाजन दो वर्गों में किया जा सकता है—(१) ब्राह्मण-गुहा तथा (२) बौद्धगुहा। उदयगिरि की गुफा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की है। इसकी भीतरी दीवाल के ऊपर एक लेख मिलता है, जिसके अनुसार इसका निर्माण उसके सेनापति वीरसेन ने शिव के प्रति भक्ति के कारण किया था।[1] यह गुफा विशाल चट्टान को काट कर गढ़ी गई थी। इसके भीतर एक देवालय है, जो ब्राह्मण गुहा-मन्दिर का प्राचीनतम उदाहरण है। इस देवालय में गुप्तकालीन मन्दिरों की सारी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। प्रतिमा की स्थापना के निमित्त इसमें एक गर्भगृह मिलता है, जिसके द्वार की चौखट पर नक्काशी एवं गढ़ाई का काम किया गया है। गर्भगृह के समक्ष एक स्तंभयुक्त मंडप भी बना हुआ है।

बौद्ध गुफाओं के उदाहरण बाघ और अजन्ता नामक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। बाघ की गुफाएँ चट्टान-खंड को काट कर बनाई गई हैं। ये मठ के रूप में हैं, जिनमें बौद्ध श्रमण निवास करते थे। उनकी पूजा के निमित्त प्रतीका-त्मक स्तूप (चैत्य) भी उनमें बने हुए थे। इसकी भीतरी दीवालों पर चित्रकारी का काम मिलता है, जो गुप्तकालीन चित्रकला का सुन्दर परिचय कराती हैं। अजन्ता की गुफाएँ (संख्या १६, १७ तथा १९) गुप्तकालीन हैं। कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से इनकी महत्ता कहीं

---

१. "भक्त्या भगवतः शंभोः गुहामेतामकारयत् ॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २७२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अधिक है। ये भी विशाल चट्टान-खंड को काटकर बनाई गई हैं। इनके भीतर एक स्तूप मिलता है, जिसके ठीक सामने आयताकार मंडप प्राप्य है। इसमें लोग पूजा के निमित्त एकत्र होते थे। मंडप के दोनों किनारों पर बरामदे एवं छोटी कोठरियाँ बनी हैं, जिनमें भिक्षु रहते थे। ये गुफाएँ महायान धर्म से संबन्धित हैं। यही कारण है कि इनमें गौतम बुद्ध एवं बोधिसत्व-प्रतिमाएँ प्रचुर रूप में प्राप्य हैं। प्रधानतः ये अपनी चित्रकारी के लिये प्रसिद्ध मानी जाती हैं। इन चित्रों के द्वारा गुप्तयुगीन चित्रकला के सिद्धान्तों एवं निर्माण-विधि को समझने में सुयोग मिलता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२

उदय-कालीन शक्तियाँ

"अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति ।
बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥"

—कौटिल्य, अर्थशास्त्र, खण्ड १, अध्याय ४

"राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥"

—महाभारत, शान्ति-पर्व, १२, ६७, १६

"अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति न श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥"

—महाभारत, शान्ति पर्व, १२, ६७, १७

"यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डयेष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥"

—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक २०

तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारतवर्ष में सार्वभौम सत्ता का अभाव था तथा विघटन की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। सम्पूर्ण देश लघु-विशाल कई स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था जो दो प्रकार के थे—गणतन्त्र एवं राजतन्त्र। राधागोविन्द बसाक का मत है कि यह अशान्ति, अव्यवस्था तथा अराजकता का काल था। किसी चक्रवर्ती (दण्डधर) के अभाव में ये राज्य एक दूसरे को हड़पने की चेष्टा करते थे। इस अवस्था की तुलना 'मात्स्य-न्याय' से की जा सकती है जिसमें बलीयान (अधिक बलवान) अबल (दुर्बल) को दबा देता है। गण-राज्यों में मालव, अर्जुनायन, यौधेय, शिवि, लिच्छवि, कुणिन्द, आभीर, मद्रक, औदुम्बर, उत्तमभाद्र, सनकानीक, वृष्णि, प्रार्जून, काक एवं खरपरिक आदि आते थे जिनका परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णित है।

मालव—मालवों का सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में हुआ है। उन्होंने इनकी गणना 'आयुधजीवि-संघ' में की है। कौटिल्य ने 'आयुध-जीवी' को ही 'शस्त्रोपजीवी' कहा है। सिकन्दर के आक्रमण के समय ये लोग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंजाब में राज्य करते थे। यूनानी लेखक कर्टियस के अनुसार उससे मोर्चा लेने के निमित्त इस गण-राज्य के लोगों ने क्षुद्रक गणराज्य के साथ संघ बनाया था। कालान्तर में बैक्ट्रिअन आक्रमण के कारण पंजाब से हट कर ये लोग राजपूताना में राज्य करने लगे। लगता है कि गुप्तों के समय में ये आधुनिक मन्दसोर (मालवा में स्थित प्राचीन दशपुर) में राज्य करते थे। इस स्थान से उपलब्ध गुप्तकालीन लेखों में तिथियों का उल्लेख मालव संवत् में हुआ है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इनके नाम का उल्लेख हुआ है।

अर्जुनायन—इनका भी गणराज्य प्राचीन था। सिकन्दर के आक्रमण के समय वे उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में राज्य करते थे। डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार यूनानी लेखकों ने उन्हीं को 'अगसिनाई' (अग्रश्रेणी) कहा है। इस समीकरण से सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं। डिओडोरस लिखता है कि इनकी सेना में चालीस हजार पैदल तथा तीन हजार घुड़सवार थे। इनके एक नगर में बीस हजार व्यक्ति रहते थे। सिकन्दर से हारने के पश्चात् अपने स्त्री और बच्चों के साथ ये प्रज्वलित अग्नि में जल मरे थे। यह प्रथा कालान्तर के राजपूत 'जौहर' का स्मरण दिलाती है।[1] शकों और कुषाणों से पराजित होने के कारण ये लोग हटकर भरतपुर और अलवर के पास शासन करने लगे। गुप्तों के अभ्युदय के समय इनका राज्य संभवतः यहीं पर था। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में अर्जुनायन गणराज्य का सन्दर्भ प्राप्य है।

यौधेय—इनका सबसे प्रथम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में हुआ है। उनके अनुसार ये लोग जाति के क्षत्रिय तथा आयुधजीवि-संघ के अन्तर्गत आते थे। उनकी प्राचीनतम मुद्राएँ प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व की हैं। इन मुद्राओं के ऊपर 'बहुधान्यक-यौधेयानाम्' लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इन लोगों का संबन्ध बहुधान्यक नगर से था। यह पुर आधुनिक रोहिताक प्रदेश में स्थित था। इनकी चतुर्थ शताब्दी की मुद्राएँ ताँबे की हैं जिन पर 'यौधेयगणस्य जयः' लेख उत्कीर्ण मिलता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में यौधेयों का नाम आता है। गुप्तों के आविर्भाव-काल में ये लोग सतलज के दोनों तटों पर फैले हुए 'जोहिया-बाड़' नामक क्षेत्र पर शासन करते थे। संभव है कि आधुनिक 'जोहिया' लोगों का संबन्ध प्राचीन 'यौधेयों' से रहा हो। बाद में चल कर इस जाति के लोग पृथक् शाखाओं में विभक्त हो गये। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि आधुनिक जोहिया लोग भी कई वर्गों में बटे हुए हैं।

---

१. मेक्रिण्डिल, अलेक्जेंडर, पृष्ठ २५२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शिवि—सिकन्दर के आक्रमण के समय शिवि गणराज्य के लोग झेलम तथा चेनाब के संगम के नीचे वाले प्रदेश में रहते थे। यूनानी लेखकों ने इन्हें 'सिबोई' कहा है। शिवि जनपद का उल्लेख महाभारत तथा जातकों में भी हुआ है। स्ट्रेबो लिखता है कि ये लोग जानवरों की खाल पहनते तथा भाला चलाने में निपुण थे। वे सिकन्दर के द्वारा परास्त किये गये थे। कालान्तर में इस गणराज्य के लोग चित्तौड़ के समीप शासन करने लगे, जहाँ प्राचीन माध्यमिका नगर बसा हुआ था। वहाँ से कुछ मुद्राएँ मिली हैं, जिन पर 'मझमिकाय सिविजनपदस' (माध्यमिकायाः शिविजनपदस्य) लेख प्राप्य है। इसका तात्पर्य मझमिका (माध्यमिका) के शिविजनपद से है। इससे स्पष्ट है कि शिवि गणराज्य के लोगों का संवन्ध माध्यमिका (चित्तौड़) से था। पतंजलि ने माध्यमिका के नगर का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यवन लोगों ने इस नगर के ऊपर घेरा डाला था। इस पुर का उल्लेख महाभाष्य तथा बृहत्संहिता में भी हुआ है। इस नगर की पहचान नागरी से की जाती है, जो चित्तौड़ से ग्यारह मील की दूरी पर उत्तर में स्थित है।

लिच्छवि—लिच्छवि गण-राज्य के लोग गौतम बुद्ध के ही समय से वैशाली में राज्य कर रहे थे, जिसकी पहचान आधुनिक मुजफ्फरपुर के पास स्थित बसाढ़ से की जाती है। चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राओं के पृष्ठ-भाग पर 'लिच्छवयः' शब्द उत्कीर्ण मिलता है। चीनी लेखों के अनुसार तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैशाली में एक बड़ी शक्ति राज्य कर रही थी। स्पष्ट है कि यहाँ पर लिच्छवियों की ओर संकेत है। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवी का पुत्र था।

कुणिन्द—इस गण-राज्य के लोग यमुना तथा सतलज नदियों के बीच राज्य करते थे। उनकी कतिपय मुद्राओं के ऊपर 'कुणिन्द' तथा कुछ पर 'कुणिन्दगण' लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। टालमी के विवरण में 'कुलिन्द्रिने' नामक गणराज्य का उल्लेख मिलता है। इससे तात्पर्य कुलिन्दों से है। लगता है कि इनका राज्य उत्तर में हिमालय की पर्वत-श्रेणी को भी छूता था। विष्णु पुराण में 'कुलिन्दोपत्यका' का उल्लेख मिलता है (अर्थात् ऐसी पर्वत-माला जो कुणिन्दों के निवास से विशेष रूप से सम्बन्धित थी)।

आभीर—यह गण-राज्य भी प्राचीन था। सिकन्दर के आक्रमण के समय ये लोग उत्तरी सिन्ध तथा पंजाब के कुछ भाग पर राज्य करते थे। यूनानी लेखकों ने इन्हें 'सोड्राई' तथा 'सोग्डोई' कहा है। सोड्राई से तात्पर्य शूद्र शब्द से है। इससे संकेत मिलता है कि आभीर जाति के लोग शूद्र थे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि पतंजलि ने भी आभीरों को शूद्र कहा है (शूद्राभीरान्)। इनका उल्लेख प्रयाग की

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

प्रशस्ति में हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि गुप्तों के अभ्युदय के समय इस गण-राज्य के लोग वर्तमान थे।

मद्रक—ये लोग रावी तथा चेनाब नदियों के बीच के प्रदेश पर शासन करते थे। इनकी राजधानी आधुनिक स्यालकोट में स्थित थी, जो प्राचीन नगर शाकल का प्रतिनिधि है। यह पुर उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। मिलिन्द-प्रश्न में इसका रोचक वर्णन मिलता है। मद्रक नाम का संबन्ध प्राचीन मद्र से लगता है।

औदुम्बर—इनके नाम का प्रथम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्राप्य है। विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा बृहत्संहिता में भी इनका नाम आता है। इनकी कुछ मुद्राएँ मिली हैं, जिन पर 'औदुम्बर' नाम उत्कीर्ण है। ये मुद्राएँ उत्तर में रावी से लेकर पश्चिम में काँगड़ा तक के विस्तृत भू-भाग से प्राप्त हुई हैं। वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण में 'औदुम्बर' जाति के लोगों को 'उदुम्बर' कहा गया है। इन दोनों ग्रन्थों के अनुसार वे विश्वामित्र के वंशज थे एवं उनका गोत्र 'कौशिक' था।[1] उल्लेखनीय है कि हरिवंश[2] में भी उन्हें विश्वामित्रकुल का अभिहित किया गया है। इस जाति की दो मुद्राएँ इस स्थान पर विशेष रूप से विचारणीय हैं। इनमें से एक कनिंघम को प्राप्त हुई थी, जो सम्प्रति ब्रिटिश संग्रहालय में रखी हुई है। इसे एलेन ने अपने 'कैटेलॉग' में प्रकाशित किया था। दूसरी मुद्रा लाहौर-संग्रहालय में विद्यमान है। इसे आर० बी० ह्वाइट हेड ने 'कैटेलॉग ऑफ क्वायन्स इन दी पंजाब म्यूज़ियम' में प्रकाशित किया था। उक्त दोनों ही मुद्राओं के पुरो भाग पर दाढ़ीदार पुरुष-चित्र उत्कीर्ण है। इसी ओर 'विश्वामित्र' लेख भी प्राप्य है। इस साक्ष्य से स्पष्ट है कि विश्वामित्र ऋषि औदुम्बरों के लिए अत्यन्त पूजनीय थे। कालिका-पुराण में वर्णन आता है कि सन्तानोत्पत्ति के निमित्त विश्वामित्र की माता ने उदुम्बर (गूलर) वृक्ष का आलिंगन किया था।[3] उपर्युक्त प्रमाण

---

१. "कच्छपः पुराणश्चैव विश्वामित्रसुतस्तु वै।
तेषां गोत्राणि बहुधा कौशिकानां महात्मनाम्॥
पार्थिवा देवराताश्च याज्ञवल्क्याः समर्शनाः।
उदुम्बरा उदुम्लानास्तारका यजमुञ्चताः॥"

—वायु पुराण, ९१, ९७-९८

२. द्रष्टव्य : पुराणम्, जिल्द ७, संख्या १ (जनवरी १९५५), पृष्ठ १८७

३. वही, पृष्ठ १८६-८८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से स्पष्ट है कि विश्वामित्र की वंश-परम्परा में आने वाली जाति का नाम 'उदुम्बर' अथवा 'औदुम्बर' क्यों पड़ गया था ? यही कारण है कि यह वृक्ष इस जाति के लोगों का 'लाञ्छन' था ।

उत्तमभाद्र—इनके नाम का उल्लेख नहपान के नासिक-गुहालेख (११९-२४ ई०) में मिलता है । लगता है कि इस जाति के लोग नहपान की अधीनता स्वीकार करते थे । नासिक के उपर्युक्त लेख के अनुसार किसी समय उत्तमभाद्र मालव गण-राज्य के लोगों के द्वारा घिर गये थे तथा नहपान ने उन्हें बचाने की चेष्टा की थी (मालयेहि रुधं उत्तमभाद्रं मोचयितुं) । वह अपने प्रयास में सफलीभूत हुआ । उसके सैन्य हुंकार से पलायमान मालव बन्दी बना लिये गए । (ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता सर्वे परिग्रहा कृता)[1]

सनकानीक—इनका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है । ये आधुनिक भिलसा के पास शासन करते थे । वे कालान्तर में समुद्रगुप्त के काल में उसे सम्पूर्ण प्रकार के करों को देने (सर्वकरदान) तथा उसकी आज्ञा को मानने (आज्ञाकरण) के निमित्त बाध्य किए गए थे । इनका एक लेख (गुप्त संवत् ८२ = ४०१ ई०) उदयगिरि की एक वैष्णव गुफा की दीवाल पर मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन सनकानीक महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का स्वामिभक्त सामन्त था (महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पादानुध्यात) ।

अन्य गण-राज्य—अन्य गण-राज्यों में वृष्णि, प्रार्जुन, काक एवं खरपरिक उल्लेखनीय हैं । पाणिनि के अनुसार वृष्णि एवं अन्धक-गणों में दो प्रधान (राजन्य) चुनने की परम्परा थी (राजन्यबहुवचन–द्वन्द्वेन्धकवृष्णिषु) ।

वृष्णि का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी हुआ है । हर्षचरित में भी इस जाति की चर्चा आती है । इसकी एक मुद्रा पर 'वृष्णिगणस्य' लेख उत्कीर्ण मिलता है । प्रार्जुन गण-राज्य के लोग मध्य भारत के नरसिंहपुर जिले में शासन करते थे । इनका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है । काकगण-राज्य आधुनिक साँची में राज्य करता था । इस स्थान का प्राचीन नाम 'काक-बाट' अथवा 'काकनादबाट' था । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकालीन साँची के लेख में भी इस नाम का उल्लेख आता है । इससे स्पष्ट है कि काकगण-राज्य का निवास (बाट) इसी स्थान पर था तथा इस जाति के लोग गुप्तों के आविर्भाव-काल में यहीं पर शासन करते होंगे । खरपरिक-गणराज्य के लोग मध्य प्रदेश के दमोह जिले में शासन करते थे ।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १६२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजतन्त्र—गुप्तों के प्रादुर्भाव-कालीन इस कोटि के राज्यों के अन्तर्गत नाग, व र्मन, मघ, मौखरि, वाकाटक एवं कदम्ब राजवंश तथा पूर्वीघाट के बारह नृपति-राज्य (जिनका उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है) आते थे। इनके अतिरिक्त शक, कुषाण एवं मुरुण्ड आदि विदेशी शक्तियाँ भी थीं। इन राजवंशों में अधिकांश के शासकों का नामोल्लेख उक्त अभिलेख में प्राप्य है। यहाँ तक कि उनमें से कतिपय नामों का पुनरुल्लेख भी मिलता है, जिससे उनकी महानता एवं राजनीतिक प्रभाव प्रतिपादित हो जाता है। उनमें से कुछ के उन्मूलन के निमित्त गुप्तों को एक से अधिक युद्ध लड़ने पड़े थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे राजवंश अपने समय की महत्त्वपूर्ण शक्तियों में गिने जाते होंगे।

नाग वंश—पुराणों में नागवंश के छिट-पुट उल्लेख मिलते हैं। इनके अनुसार इस वंश के नरेश पद्मावती, कांतिपुरी तथा मथुरा में शासन करते थे।[1] गुप्तों के अभ्युदय के समय उनकी दो प्रधान शाखाएँ थीं—(१) पद्मावती, (२) मथुरा एवं (३) अहिच्छत्र। पद्मावती की पहचान ग्वालियर के पास स्थित आधुनिक पदम-पवय्या से की जाती है। पुराणों के अनुसार जिस समय (३२० ई०) गुप्तों का अभ्युदय हुआ, पद्मावती में नव तथा मथुरा में सात नागवंशी नरेश राज्य कर चुके थे। डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि इन दोनों केन्द्रों में शासन करने वाले नाग वंश की शाखाओं का राज्यकाल द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हो चुका था। लगता है कि इस समय ये नागवंशी शाखाएँ कुषाणों की अधीनता स्वीकार करती थीं।

इन दोनों में पद्मावती का नाग वंश सबसे प्रसिद्ध था। यहाँ के नाग वंशी नरेश भारशिव कहलाते थे। वाकाटक-लेखों में पद्मावती के नाग वंशी शासक भवनाग को 'भारशिवानां महाराज' कहा गया है। भारशिव अपने कंधे पर शिव-लिंग धारण करते थे (शिवलिंगोद्वहन)। वाकाटक-परंपरा के अनुसार भवनाग 'शिवलिंगोद्वहन' करता था। भारशिव नागों ने गंगा नदी के तट पर दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था (भागीरथ्यामलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधा-वभृथस्नातानाम् भारशिवानां महाराज)। भारशिवों की मुद्राओं के ऊपर शैव धर्म के प्रतीक त्रिशूल तथा नन्दि की आकृतियाँ अंकित मिलती हैं।[2]

---

१. "नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै।"
—एफ० ई० पार्जिटर, दी पुराण टेक्स्ट ऑफ दी डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ५३

२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भवनाग की मुद्राएँ पद्मावती के पूर्ववर्ती नाग सम्राटों की मुद्राओं के साथ उपलब्ध हैं। उन पर प्राप्त लेख की लिपि चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है, अतएव भवनाग का काल यही रहा होगा। पुराणों के अनुसार पद्मावती में नाग वंश के नव नरेशों ने राज्य किया। उनका नाम इनमें नहीं दिया गया है। भवनाग ने लगभग-३०५ ई० से लेकर ३४० ई० तक राज्य किया। इसकी पुत्री का विवाह वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र के साथ हुआ था। उसकी मृत्यु अपने पिता के जीवनकाल में ही हो गई, अतएव प्रवरसेन के पश्चात् उसके पुत्र रुद्रसेन प्रथम का राज्याभिषेक हुआ। वाकाटक-लेखों में रुद्रसेन प्रथम को भारशिव महाराज भवनाग का पौत्र कहा गया है (भारशिवानां महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानां महाराज श्रीरुद्रसेनस्य)। प्राचीन अभिलेखों में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ सम्राट् शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करने वाले अपने संबन्धी राजवंश का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त को प्रयाग-प्रशस्ति में लिच्छवियों का नाती (लिच्छविदौहित्र) कहा गया है। पूना के लेख में प्रभावतीगुप्ता ने अपने पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उल्लेख किया है, जिनकी शक्ति उस समय अधिक बढ़ गई थी। वाकाटक-अभिलेखों में भवनाग के नाम का उल्लेख उसका शक्तिशाली होना प्रमाणित करता है। बहुत संभव है कि रुद्रसेन प्रथम की प्रारंभिक कठिनाइयों को सुलझाने में भवनाग ने उसकी सहायता की हो। भवनाग की मृत्यु ३४० ई० के लगभग हुई। समुद्रगुप्त के समय में पद्मावती में नागसेन राज्य कर रहा था। प्रयाग की प्रशस्ति में उसका नामोल्लेख हुआ है। नाग वंश के काल में पद्मावती का नगर समृद्धिशाली था। भवभूति ने मालतीमाधव में इसका उल्लेख किया है। यह सिन्धु तथा परा नदियों के संगम के समीप स्थित था। इसमें भव्य राजप्रासाद तथा उच्च अट्टालिकाएँ विद्यमान थीं। यह शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र भी माना जाता था।

मुद्राओं द्वारा दस नाग वंशी नरेशों के नाम मिलते हैं, उदाहरणार्थ भीमनाग, विभुनाग, प्रभाकरनाग, स्कन्दनाग, बृहस्पतिनाग, व्याघ्रनाग, वासुनाग, देवनाग, भवनाग तथा गणपति नाग।[1] इसमें से कुछ पद्मावती तथा कुछ मथुरा के शासक थे। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि भवनाग पद्मावती का शासक था। गणपति नाग की मुद्राएँ अधिकतर मथुरा से मिली हैं, अतएव वह यहीं का शासक प्रतीत होता है। दोनों केन्द्रों के नागवंशी नरेश मिलकर एक विस्तृत भू-खंड के अधिपति थे, जिसमें मथुरा, धोलपुर, आगरा, ग्वालियर,

---

१. गुप्त-वाकाटक-एज, पृष्ठ ३७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कानपुर, झाँसी तथा बाँदा सम्मिलित थे । गणपति नाग के नाम का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है । लगता है कि उसके राज्य में विदिशा का नगर भी सम्मिलित था जिसकी पहचान आधुनिक बेसनगर से की जाती है । यह नगर कला एवं संस्कृति का एक सुप्रतिष्ठित केन्द्र था । वहाँ के एक प्राचीन गरुड़-स्तंभलेख से ज्ञात होता है कि इस पुर में वैष्णव धर्म का विशेष रूप से प्रचार था । इस अभिलेख के अनुसार तक्षशिला के यवन-नागरिक हेलि-ओडोरस ने जो भागवत धर्म का अनुयायी था, उक्त गरुड़-स्तम्भ का निर्माण कराया था । यह एकाश्मक स्तम्भ का एक सुन्दर दृष्टान्त है । पुराणों के अनुसार विदिशा में एक नागराजवंश राज्य करता था । इसकी परम्परा में सदाचन्द्र (चन्द्रांश), धनधर्मा, भूतिनन्द, शिशुनन्दि तथा नन्दियशस् आदि नरेश आते थे ।[1] सम्भव है कि गणपतिनाग विदिशा के इसी नागवंश से संबन्धित रहा हो । उसके समय में मथुरा विदिशा से कहीं अधिक सुप्रसिद्ध नगर था । अतएव उसने अपनी राजधानी मथुरा में ही स्थापित रखना समुचित समझा हो । यही कारण है कि उसकी मुद्राएँ विशेष रूप से इसी पुर से प्राप्त हुई हैं ।

गुप्तों के अभ्युदय-काल के समय संभवतः अहिच्छत्र में भी कोई नाग वंशी शाखा राज्य कर रही थी । समुद्र गुप्त के समय में वहाँ पर अच्युत नामक नरेश राज्य कर रहा था । उसकी मुद्राओं की बनावट नाग वंशी मुद्राओं की आकृति से साम्य रखती है । यह उसका नाग-वंशी होना प्रमाणित करता है । प्रयाग की प्रशस्ति में नागदत्त नामक आर्यावर्त-नरेश का उल्लेख मिलता है । नाम से यह नाग वंशी नरेश प्रतीत होता है । डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि वह गंगा और

---

१. "नृपान्वैदिशकांश्चापि भविष्यांस्तु निबोधत ।
शेषस्य नागराजस्य पुत्रः परपुरान्जयः ।।
भोगी भविष्यते राजा नृपो नाग-कुलोद्भवः ।
सदाचन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा ।।
धनधर्मा ततश्चापि चतुर्थोवंगरः स्मृतः ।
भूतिनन्दस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति ।।
शुंगानां तु कुलस्यान्ते शिशुनन्दिर्भविष्यति ।
तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशस् किल ।"
—पार्जिटर, एफ० ई०, दी पुराण टेक्स्ट ऑफ दी डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यमुना के दोआवा के ऊपरी हिस्से में कहीं राज्य करता था।[1] यहाँ पर स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि प्रमाणाभाव के कारण उसके अधिकार-क्षेत्र के विषय में हम निश्चित नहीं हो सकते। गंगा-घाटी से कुषाणों के राज्य के उन्मूलन का श्रेय नाग-वंशी राजाओं को दिया जाता है।

मौखरि—नागों की राजधानी पद्मावती से लगभग १५० मील पश्चिम कोटा राज्य में बड़वा नामक स्थान पर एक मौखरि-शाखा राज्य कर रही थी। मौखरि लोग काफी प्राचीन थे। कय्यट ने पतंजलि की महाभाष्य-टीका में 'मौखर्य्या' शब्द का उल्लेख किया है। इससे लगता है कि पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) मौखरियों से परिचित थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए वामन तथा जयादित्य ने भी 'काशिकावृत्ति' में 'मौखर्य्या' शब्द का उल्लेख किया है। इस साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि पाणिनि (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०) भी मौखरियों से परिचित थे। कनिंघम को गया जिले में मिट्टी की एक मुहर प्राप्त हुई, जिस पर मौर्यकाल की ब्राह्मी लिपि में 'मोखलिनम्' शब्द अंकित मिलता है। यह संस्कृत के मौखरीणाम्' शब्द का पाली रूपान्तर है। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० की पाली लिपि का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि मौखरि लोग इस समय राजनीतिक शक्ति के रूप में वर्तमान् थे।

बाणभट्ट ने हर्षचरित में मौखरि वंश को 'मुखरवंश' कहा है। जौनपुर तथा हरहा के लेखों में मौखरियों को 'मुखराः क्षितीशाः' कहा गया है। इससे लगता है कि 'मुखर' नामक व्यक्ति इस वंश का संस्थापक था। बड़वा के मौखरियों का समय तृतीय शताब्दी ईसवी है। यज्ञ-यूप पर इनके कुछ लेख उत्कीर्ण मिलते हैं, जिनके अनुसार ये लोग महासेनापति की उपाधि धारण करते थे। यह सामंत-उपाधि थी। लगता है कि वे या तो पद्मावती के नागों अथवा उज्जयिनी के पश्चिमी क्षत्रपों के सामंत थे। वे लोग वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उनमें से प्रत्येक ने त्रिरात्र यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

वर्मन् राजवंश—मौखरि-नरेशों के ही सदृश उस समय कुछ अन्य राजकुलों के नरेश भी अपने नाम के अन्त में वर्मन् शब्द जोड़ते थे। इस प्रकार का एक राजवंश उस समय मालवा के एक भाग में राज्य कर रहा था, जिसके नरेशों का नामोल्लेख मन्दसोर-प्रशस्तियों में उपलब्ध होता है; उदाहरणार्थ जयवर्मा, सिंहवर्मा, नरवर्मा, विश्ववर्मा तथा बन्धुवर्मा। जयवर्मा के पूर्वज गुप्तों के अभ्युदय-

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ४०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कालीन रहे होंगे। सुसुनिया पहाड़ी के एक लेख के अनुसार एक अन्य वर्मन् वंश पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा जिले में राज्य करता था। उसकी राजधानी उक्त पहाड़ी के पास स्थित पुष्करण (आधुनिक पोखरन) में वर्तमान थी। इसी राज-कुल में सिंहवर्मा एवं चन्द्रवर्मा नामक नरेश उत्पन्न हुए थे। चन्द्रवर्मा का नामोल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है। इसके और पूर्व असम (प्राचीन कामरूप) में भी एक वर्मन् राजवंश राज्य कर रहा था, जिसमें हर्ष-कालीन सुप्रसिद्ध भास्करवर्मा उत्पन्न हुआ था। कतिपय इतिहासकारों का अनुमान है कि इस नरेश के नवें पूर्वज बलवर्मा की पहचान प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित बलवर्मा के साथ करना समीचीन होगा।

मघ वंश—पद्मावती के नाग-राज्य के दक्षिण-पूर्व, मघ राजवंश के लोग बघेलखंड में राज्य कर रहे थे। १२० ई० से लेकर २२५ ई० तक इस वंश के छह नरेशों ने राज्य किया—वाशिष्ठीपुत्र भीमसेन, कौत्सीपुत्र पोठसिरि, भद्र-मघ, गौतमीपुत्र शिवमघ, वैश्रवण तथा भीमवर्मा। २२५ ई० के अनन्तर मघ राजवंश के विषय में प्रमाणाभाव के कारण इतिहासकारों का परिचय अंधकारमय है। मुद्रा-साक्ष्य के आधार पर डॉ० अल्तेकर का कथन है कि २२५ ई० तथा २६५ ई० के बीच शतमघ तथा विजयमघ नामक इस वंश के दो नरेशों ने राज्य किया। संभव है कि विजयमघ के उपरान्त भी इस राजवंश के एक या दो नरेशों ने शासन किया हो। लगभग ३०० ई० तक इस राजवंश का राज्य समाप्त हो चुका था।[1]

अन्य नृपति-राज्य—प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार गुप्तों के अभ्युदय के समय पाँच अन्य नृपति-राज्य उत्तर एवं उत्तर-पूर्व भारत में वर्तमान थे—समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल तथा कर्त्तृपुर। समतट से तात्पर्य पूर्वी बंगाल से है। डवाक असम के नवगाँव जिले में स्थित था। कामरूप एवं नेपाल से तात्पर्य आधुनिक असम एवं नेपाल से है। कर्त्तृपुर की पहचान कुमायूं के वर्तमान कतुरिया राज से की जाती है।

वाकाटक—तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिणी भारतवर्ष में इस राजवंश का आविर्भाव हुआ। इस वंश के नरेश शक्तिशाली थे तथा दकन, बरार एवं मध्यप्रदेश के कतिपय भागों पर शासन करते थे। गुप्तों के अभ्युदय के समय में इस राजवंश का प्रवरसेन प्रथम नामक नरेश राज्य कर रहा था। उसने लगभग २७५ ई० से लेकर ३३५ ई० तक राज्य किया। पुराणों के अनुसार उसने चार

---

१. वाकाटक-गुप्त-एंज, पृष्ठ ४१-४६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान किया था।[1] उसके साम्राज्य में उत्तरी महाराष्ट्र वरार, मध्य प्रदेश का नर्मदा नदी के दक्षिण वाला भाग तथा हैदराबाद आदि सम्मिलित थे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वाकाटक दक्षिण-भारत के पश्चिमी घाट में अतिशक्तिशाली थे। पूर्वी घाट में उस समय बारह राज्य थे, जिनके नाम प्रयाग की प्रशस्ति में मिलते हैं, यथा कोसल, महाकान्तार, कोराक्ड़त, पिष्ठपुर, कोट्टूर, एराण्डपल्ल, काञ्ची, अवमुक्त, वेंगी, पालक्क, देवराष्ट्र तथा कुस्थलपुर।

विदेशी शक्तियाँ

शक—गुप्तों के अभ्युदय के समय शक जाति के लोग गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी मालवा में शासन करते थे। उनकी राजधानी उज्जयिनी में वर्तमान थी। वे लोग सांस्कृतिक दृष्टि से उस समय भारतीय बन गये थे। प्रयाग की प्रशस्ति में शकों का उल्लेख मिलता है। शक लोग भारतीय राजवंशों में वैवाहिक संबन्ध की स्थापना करते थे। तृतीय शताब्दी के एक इक्ष्वाकु-वंशी आंध्र नरेश ने शक राजकन्या रुद्रधरभटारिका के साथ विवाह किया था। वह उज्जयिनी के शक-क्षत्रप रुद्रसेन प्रथम की पुत्री थी।[2]

कुषाण—गुप्तों के अभ्युदय के समय उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में कुषाणों की एक शाखा राज्य कर रही थी। इसको 'उत्तर कुषाण' अथवा 'किदार कुषाण' कहा जाता है। इसका संस्थापक किदार नामक नरेश था, जिसकी राजधानी (पुरुषपुर) पेशावर में थी। वह ससैनियन सम्राट् शापुर द्वितीय की अधीनता स्वीकार करता था। किदार की प्रारंभिक मुद्राओं के ऊपर उसका मुख दाहिनी ओर मुड़ा हुआ दिखाया गया है। ससैनियन सम्राटों के सभी सामंत-शासकों की मुद्राओं पर यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है। बाद में चलकर किदार ने काश्मीर तथा पंजाब को जीत लिया। इस समय उसने शक्ति बढ़ा ली थी और ससैनियन अधीनता से वह उन्मुक्त होना चाहता था। उसके इस मनोभाव को देख कर शापुर द्वितीय ने ३५७ ई० में इसके ऊपर आक्रमण कर दिया। इसमें पराजित

---

१. "विन्ध्य शक्ति सुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्।
भोक्ष्यते च समाः षष्टिं पुरीं काञ्चनकां च वै।
यक्ष्यते वाजपेयाश्च समाप्त-वर-दक्षिणैः।
तस्य पुत्रस्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः॥"
—पार्जिटर, डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ५०

२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ४७ तथा आगे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होने के कारण किदार को शापुर की अधीनता पुनः स्वीकार करनी पड़ी। यही कारण है कि जब यह ससैनियन सम्राट् ३५९ ई० में मेसोपोटैमियन युद्धों में संलग्न था, उस समय किदार ने उसे सैनिक सहायता पहुँचाई थी।

इस घटना के अनन्तर किदार ने गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त से अपना एक नवीन राजनीतिक संबन्ध स्थापित किया। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार 'दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि' ने समुद्रगुप्त को बहुमूल्य भेंट चढ़ाई थी। यह उत्तर कुषाणों की उपाधि थी, अतएव इससे तात्पर्य किदार से हो सकता है। लगता है कि समुद्रगुप्त की सहायता से इस उत्तर कुषाण ने शापुर द्वितीय से अपना संबन्ध-विच्छेद करने के लिये उसके साथ युद्ध किया। ३६८ ई० के लगभग वह ससैनियन सेना को परजित कर चुका था। इस युद्ध में शापुर द्वितीय स्वयं भाग ले चुका था। इसमें विजय का श्रेय गुप्तों को भी था, क्योंकि उन्होंने ससैनियन सम्राट् के विरुद्ध किदार को सैनिक सहायता पहुँचाई थी। इस जीत के फलस्वरूप उत्तर कुषाणों के राज्य में गन्धार, काश्मीर तथा पश्चिमी एवं केन्द्रीय पंजाब आदि क्षेत्र सम्मिलित हो गये। उसने इन प्रान्तों के शासन के लिये कई क्षत्रपों को नियुक्त किया; उदाहरणार्थ वरो शाहि, पिरोच तथा बुद्धबल आदि।[1]

मुरुण्ड—गुप्तों के अभ्युदय के समय मुरुण्ड नामक कोई विदेशी जाति भी गंगा-घाटी में कहीं पर शासन करती थी। चीनी साधनों में मुरुण्डों को 'मेउ-लुन' कहा गया है। इनके अनुसार इस जाति की राजधानी विशाल नदी (जिससे तात्पर्य गंगा नदी से है) के मुहाने से सात हजार ली (लगभग बारह सौ मील) की दूरी पर इसके किनारे स्थित थी। इससे एलन ने निष्कर्ष निकाला था कि मुरुण्ड जाति के लोग संभवतः गंगा के तट पर स्थित पाटलिपुत्र में शासन करते थे। पर यह नगर गंगा के मुहाने से इतना दूर नहीं पड़ता था, अतएव एलन का यह निष्कर्ष समीचीन नहीं प्रतीत होता। संभव है कि उनकी राजधानी गंगा के तट पर स्थित कान्यकुब्ज में वर्तमान रही हो। चीनी साधनों में जिस दूरी का उल्लेख है, वह कान्यकुब्ज के संबन्ध में अधिक चरितार्थ होता है।

●●

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ २१-२४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३

प्राचीनता एवं उत्पत्ति

प्राचीनता—स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में गुप्तों की उत्पत्ति की समस्या का सुलझाव अभी तक भली-भाँति नहीं हो सका है। अभिलेखीय साक्ष्यों के अनुसार सम्राट्-गुप्तों के अभ्युदय के पूर्व भी कतिपय गुप्तवंश भारतवर्ष में वर्तमान थे। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध भरहुत के बौद्ध स्तम्भ-लेख में किसी गुप्त-कुल का उल्लेख प्राप्य है। इसमें राजन् विश्वदेव उत्पन्न हुए थे जिनका पुत्र गोतीपुत (गौप्ती-पुत्र) था। इससे लगता है कि विश्वदेव की महिषी गुप्त कुल की महिला थीं। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार वह विदिशा के किसी उत्तर शुंगवंशी सम्राट् का अधीनस्थ शासक लगता है।[१] उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार विश्वदेव शुंगों के राज्य-काल में शासन कर रहा था।[२] एक प्राचीन ब्राह्मी-लेख में किसी गुप्तवंशी राजमहिषी (गुप्तवंशोदिता) का उल्लेख हुआ है जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार ने आकृष्ट किया था।[३] सातवाहन-लेखों में कुछ पदाधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं, जिनके नाम के अन्त में गुप्त शब्द आता है। उदाहरणार्थ गौतमीपुत्र के नासिक के गुहालेख में अमात्य शिवगुप्त का नामोल्लेख प्राप्य है।[४] बिहार प्रान्त के दरभंगा जिले में स्थित पंचोभ नामक ग्राम से प्राप्त ताम्रलेख में भी किसी गुप्तवंश (वंशो गुप्तः) का सन्दर्भ आता है जिसके प्रमाण का उपयोग डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने गुप्तों के उत्पत्ति-विषयक प्रश्न क निर्धारण में किया था।[५] लूडर-तालिका के लेख-संख्या ११०५ तथा ११२५ में भी गोतीपुत (गौप्तीपुत्र) का उल्लेख प्राप्य है। लूडर-सूची के लेख-संख्या ६८१ में गोतीपुत (गौप्तीपुत्र) को कौण्डिण्य-गोत्रीय कहा गया है।[६] ये प्रमाण इस

---

१. सरकार, दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ९०, पाद-पिप्पणी १

२. "सुगनं रजे रञो गागी-पुतस विसदेवस"

—सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ८९

३. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १२६

४. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १९३

५. हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ १४०

६. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १२६

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर तृतीय शताब्दी ईसवी तक (अर्थात् पूर्व सम्राट् गुप्त-काल में) भारतवर्ष में कई गुप्त-वंश समय-समय पर विद्यमान थे और उनके हाथों में किसी न किसी रूप में राज्य-सत्ता अवश्य विद्यमान थी। परन्तु प्रमाणाभाव के कारण इस बात को निर्धारित करना दुष्कर है कि ये सभी गुप्त-शाखाएँ किसी मूल गुप्त वंश से ही समुद्भूत हुई थीं अथवा नहीं। इस विषय पर भी प्रकाश डालना दुरूह हो जाता है कि सम्राट्-गुप्त-वंश—जिसका स्थान चतुर्थ शताब्दी ईसवी के प्राथमिक चरण से लेकर छठी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध तक भारतवर्ष के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण था —उपर्युक्त किसी गुप्त-वंश से संबन्धित था अथवा नहीं।

मत-मतान्तर—यहाँ पर उल्लेखनीय हो जाता है कि यद्यपि सम्राट् गुप्त-वंश के नाना अभिलेख प्राप्य हैं तथापि उनके द्वारा उनकी उत्पत्ति की समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उनकी वंशावलियों में उनके 'गोत्र अथवा प्रवर की कोई भी चर्चा नहीं आती। यहाँ तक कि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी—जिसमें इस वंश की आविर्भाव-कालीन विविध जातियों एवं शक्तियों के नाम सतर्कता-पूर्वक उल्लिखित हैं—गुप्तों के अपने 'वर्ण' का कोई भी सन्दर्भ नहीं प्राप्य है। अतएव गुप्तों की जाति के प्रश्न को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। भारतीय इतिहास के मर्मज्ञों ने उन्हें अलग-अलग प्रायः चारों ही वर्णों में रखने का प्रयास किया है जिनमें 'हिन्दू-समाज विभक्त है। काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार इस वंश के नरेश कारस्कर (शूद्र) थे। एलन, अ० स० अल्तेकर तथा आयङ्गर महोदय ने उन्हें वैश्य प्रमाणित करने की चेष्टा की थी। गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा एवं सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार वे क्षत्रिय रहे होंगे। रमेशचन्द्र मजुमदार भी इसी मत के पोषक लगते हैं। हेमचन्द्र रायचौधरी एवं क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय उन्हें ब्राह्मण मानते हैं। बी० जी० गोखले के मतानुसार वे पहले आर्य-वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे तथा कालान्तर में अपने राजनीतिक प्रभाव के फलस्वरूप उन्हें इसमें स्थान प्राप्त हो सका था। 'कलियुगराजवृत्तान्त' के आधार पर बी० भट्टाचार्य ने उन्हें 'आन्ध्रभृत्य' सिद्ध करने का प्रयास किया है।

शूद्र-उत्पत्ति—काशीप्रसाद जायसवाल का अनुमान है कि गुप्त-वंश के लोग निम्न वर्ण के थे। उन्होंने अपने लेखों में इस तथ्य को उद्देश्यपूर्वक छिपा दिया था। अन्यथा यदि वे किसी उच्च जाति के होते तो इस वास्तविकता का उल्लेख वे अपने अभिलेखों में उसी प्रकार करते, जिस प्रकार मौखरियों ने हरहा के लेख में अपनी उत्पत्ति पर स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला है। उन्होंने इस प्रसंग में इतिहासकारों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का ध्यान 'कौमुदीमहोत्सव' नामक संस्कृत-नाटक की ओर आकृष्ट किया है, जिसे कतिपय विद्वानों ने ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में ग्रहण किया है। अनुमान किया जाता है कि इसकी रचयिता संस्कृत की सुप्रसिद्ध कवियित्री 'विज्जिका' रही होगी, जो वैदर्भी शैली में काव्य-रचना के लिए प्रख्यात थी।

उपर्युक्त ग्रन्थ में चण्डसेन नामक दुष्ट पात्र के जीवन का चित्रण मिलता है। उसके काल में मगध में सुन्दरवर्मा नामक एक सदाशय एवं धार्मिक राजा राज्य करता था। परन्तु दुर्भाग्यवश उसके कोई पुत्र नहीं था, अतएव उसने चण्डसेन को अपना कृतक (दत्तक) पुत्र बना लिया। फलतः अब वह 'मगध कुल' (अर्थात् सुन्दरवर्मा के राज-परिवार) का सदस्य बन गया (स्वयं मगध-कुलं व्यपदिशन्नपि)। कालान्तर में वृद्ध सुन्दरवर्मा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम कल्याणवर्मा था। इस घटना के कारण सुन्दरवर्मा के उपरान्त चण्डसेन मगध का राजा नहीं हो सकता था। फलतः अब वह उसका प्रबल शत्रु बन गया। उसने मगध-कुल के परम्परागत बैरी लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया (मगधकुलवैरिभिः लिच्छविभिः सह संबन्धं कृत्वा) और अनुकूल अवसर पाकर उसने सुन्दरवर्मा की राजधानी कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) पर आक्रमण कर दिया (कुसुमपुरमुपरुद्धवान्)। अपनी राजधानी की सुरक्षा-कार्य में सुन्दरवर्मा ने पर्याप्त शौर्य एवं धैर्य का प्रदर्शन किया। परन्तु अपनी वृद्धावस्था एवं क्लान्ति के फलस्वरूप वह अधिक देर तक उनका सामना नहीं कर सका और धीरे-धीरे उसके पैर उखड़ने लगे। युद्ध-भूमि में सुन्दरवर्मा को मार डालने के लिए चण्डसेन को अवसर तो मिला, परन्तु उसने इसका उपयोग नहीं किया क्योंकि वह उसका दत्तकपुत्र होता था। इस बात को ध्यान में रखते हुए स्वयं उसका वध न कर उसने उसे अपने समर्थक लिच्छलियों के समक्ष फेंक दिया (ततः संप्रवृत्ते वधपात्रमप्येनं पुत्रीकृतत्वादपहस्तयित्वा लिच्छविकुलमन्तः क्षपितवान् देवः)। इस प्रकार दुष्ट चण्डसेन के कुचक्रों एवं हथकंडों द्वारा सत्पुरुष सुन्दरवर्मा मार डाला गया।

इस अवसर पर सुन्दरवर्मा के प्रधान मंत्री मन्त्रगुप्त तथा सेनापति कुञ्जरक ने बड़ी ही सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया। पाटलिपुत्र में कल्याणवर्मा के जीवन को असुरक्षित देखकर उन्होंने उसे तत्काल सुरक्षित स्थान (व्याधकिष्किन्धा के समीपस्थ पम्पा-सर) पर स्थानान्तरित कर दिया, जहाँ वह बालक उनके द्वारा नियुक्त निपुणा-धात्रिओं की देख-रेख एवं सेवा-शुश्रूषा द्वारा वयस्क किया गया। इस बीच उपर्युक्त दोनों ही कर्मचारी कल्याणवर्मा को अपने पिता की खोई हुई गद्दी दिलाने के हेतु प्रयत्नशील थे। वे इस बात को जानते थे कि पाटलिपुत्र की नगर-सभा कल्याणवर्मा के पक्ष में है तथा उचित अवसर के आने पर यह उसके

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पक्ष का समर्थन और उसके पुनरुद्धार-हेतु अपेक्षित सहायता अवश्य करेगी। मन्त्रगुप्त एवं कुञ्जरक ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता के साथ चण्डसेन के सीमान्त राज्य-पालों (प्रत्यन्तपाल) को उसके विरुद्ध कर दिया तथा सरहद पर रहने वाले शबर-पुलिन्दों के द्वारा विद्रोह करा दिया। दोनों ही कर्मचारी अपनी इस योजना एवं कूटनीति में सफल सिद्ध हुए। इस विद्रोह के दमन-निमित्त चण्डसेन को अपनी राजधानी पाटलिपुत्र छोड़कर राज्य के सीमाप्रान्त पर जाना पड़ा। राजधानी में उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर मन्त्रगुप्त ने पाटलिपुत्र की नगर-सभा से—जो कल्याणवर्मा के पक्ष का समर्थक थी—सक्रिय सहायता प्राप्त की। कल्याण-वर्मा विश्वस्त सन्देशवाहकों द्वारा पाटलिपुत्र लाया गया तथा उक्त पुर-सभा की चेष्टाओं द्वारा वह पिता की अपहृत राजगद्दी पर अभिषिक्त किया गया। उधर चण्डसेन उपर्युक्त विद्रोह की दमन-क्रिया में अपने बन्धु-बान्धवों सहित मार डाला गया। कल्याणवर्मा का महाभिषेक पाटलिपुत्र के सुगांग नामक राज-प्रासाद में सम्पन्न किया गया। उसकी स्थिति को अधिक सुदृढ़ बनाने के हेतु मन्त्रगुप्त ने उसका विवाह शूरसेन-जनपद की राजधानी मथुरा के नरेश यादव कीर्तिसेन की राजकन्या कीर्त्तिमती के साथ सम्पन्न कराया। जायसवाल एवं कतिपय विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि उक्त घटनाओं ने इस ग्रन्थ की कवियित्री को इसकी रचना के हेतु प्रेरणा प्रदान की थी तथा सम्भवतः कल्याणवर्मा के राज्याभिषेक एवं कीर्त्तिमती के साथ उसके विवाह के उपलक्ष्य में ही इस नाटक का अभिनय पाटलिपुत्र में बड़े ही समारोह के साथ किया गया था।[1]

काशीप्रसाद जायसवाल ने चण्डसेन का समीकरण गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम से किया है। चण्ड शब्द संस्कृत के चन्द्र शब्द का प्राकृत समानार्थी है। राजा होने के उपरान्त चण्डसेन ने अपने नाम के अन्त का सेन शब्द निकल दिया था तथा उसके स्थान पर गुप्त शब्द को धारण कर लिया यह उसके पितामह का नाम था, जिनके प्रति उसकी प्रगाढ़ श्रद्धा रही होगी। इस प्रकार सम्राट् होने के उपरान्त चण्डसेन चन्द्रगुप्त नाम से प्रख्यात हो गया। उसके पूर्व घटोत्कच के नाम के अन्त में गुप्त शब्द अप्राप्य है। चन्द्रगुप्त प्रथम के वंशजों ने उसके अनन्तर इस शब्द को अनिवार्य रूप से अपने नाम के अन्त में धारण करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार यह कुल गुप्त राजवंश के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कौमुदीमहोत्सव के अनुसार चण्डसेन लिच्छिवियों का संबन्धी था। यह तो एक सुविदित तथ्य है

---

१. एनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द १२, पृष्ठ ५३ तथा आगे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कि चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवि-राजकुमारी कुमारदेवी के साथ हुआ था। इसी कुमारदेवी के गर्भ से समुद्रगुप्त उत्पन्न हुआ था। प्रयाग की प्रशस्ति में इस घटना का उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है (महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य)। इस अभिलेख में उसे लिच्छवि-पुत्रिका-पुत्र (लिच्छवि-दौहित्र) कहा गया है। लिच्छवियों के साथ वैवाहिक संबन्ध की स्थापना चण्डसेन और चन्द्रगुप्त प्रथम को एक ही व्यक्ति प्रमाणित करती है।

कौमुदीमहोत्सव में चण्डसेन को 'कारस्कर' कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार ऐसा व्यक्ति राजपद के लिए सर्वथा अयोग्य था (कहिं एरिस वणस्स से राजसिरि)। यहाँ पर चण्डसेन के निम्नवर्ण की ओर संकेत है। बौधायन ने कारस्कर शब्द का अर्थ नीच बताया है। उनके अनुसार उन्हें बस्ती के बाहर रहना पड़ता था।[1] जायसवाल ने विद्वानों का ध्यान चन्द्रगोमिन् के व्याकरण की ओर भी आकृष्ट किया है जिसके अनुसार 'जर्ट' लोगों ने हूणों को परास्त कर दिया था (अजयत् जर्टो हूणान्)। यहाँ पर स्कन्दगुप्त के हूण-विजय की ओर संकेत है। इस साक्ष्य के आधार पर गुप्तवंश के नरेश जर्ट अर्थात् जाट प्रमाणित होते हैं। यदि कौमुदीमहोत्सव एवं चन्द्रगोमिन् के व्याकरण के साक्ष्यों को सम्मिलित कर दिया जाय, तो गुप्तवंश के लोग 'कारस्कर जर्ट' प्रमाणित होते हैं। हो सकता है कि कक्कड़-जाट ही प्राचीन 'कारस्कर-जर्ट' के आधुनिक प्रतिनिधि हों।

इस स्थल पर प्रभावतीगुप्ता का पूना का ताम्रलेख विशेष रूप से विचारणीय हो जाता है। इसमें उसने अपना गोत्र 'धारण' (धारणगोत्रा) निर्दिष्ट किया है। स्पष्ट है कि यह उसके पति वाकाटक रुद्रसेन द्वितीय का गोत्र नहीं हो सकता। वाकाटक-वंश के नरेश विष्णुवृद्धि गोत्र के ब्राह्मण थे। अतएव यह गोत्र उसके पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही रहा होगा। उसके प्रति उसकी असीम श्रद्धा थी। दुर्भाग्यवश उसका पति अल्पावस्था में ही दिवङ्गत हो गया। उसके अनन्तर वाकाटक-वंश के शासन की बागडोर को इस महिला को सँभालना पड़ा था। उसके पुत्र दिवाकरसेन एवं प्रवरसेन अभी अल्पवयस्क थे। अतएव प्रभावतीगुप्ता को वाकाटक-राज्य के संचालन में अपने पिता की सक्रिय सहायता एवं सुयोग्य पर्यवेक्षण की आवश्यकता सदैव पड़ती रही। इस अभिलेख में उसने अपना परिचय अपने पिता के वंश-वृक्ष के आधार पर दिया है। सम्भवतः यही कारण है कि अपने विषय में उसने पति के गोत्र (विष्णुवृद्धि) का उल्लेख न कर

---

१. धर्मसूत्र, अध्याय १

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अपने पिता के ही गोत्र (धारण) का सन्दर्भ दिया है। यहाँ पर विचारणीय है कि अमृतसर के जाट अपने को धरणि जाट कहते हैं। डॉ० जायसवाल धारण-गोत्रीय गुप्तों का समीकरण धरणि-जाट से करते हैं। सम्भवतः गुप्तों के निम्नवर्ण को ही लक्ष्य में रख कर गुप्तकालीन ग्रन्थ मत्स्य पुराण में कहा गया है कि महानन्दि के उपरान्त शूद्र राजवंश राज्य करेंगे (तत्प्रभृत्ति राजानो भविष्यन्ति शूद्रयोनयः)।[1]

परीक्षण—काशीप्रसाद जायसवाल के मत के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह प्रकट की जा सकती है कि चन्द्रगुप्त एवं चण्डसेन एक ही व्यक्ति नहीं सिद्ध किए जा सकते। चण्ड संस्कृत भाषा का शब्द है। राजशेखर-रचित विद्धशालभञ्जिका नामक ग्रन्थ में चण्ड एवं प्रचण्ड शब्दों का प्रयोग उसके आश्रयदाता महीपाल के लिए प्रचुर रूप में हुआ है। दोनों व्यक्तियों के वंश-वृक्षों में असमानता है। कौमुदीमहोत्सव के अनुसार चण्डसेन सुन्दरवर्मा का दत्तक पुत्र था। इसके प्रतिकूल चन्द्रगुप्त प्रथम घटोत्कच का पुत्र था, जो स्वयं महाराज था। अतएव किसी अन्य नरेश के द्वारा चन्द्रगुप्त प्रथम के गोद लिए जाने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता था। उपर्युक्त नाटक के अनुसार चण्डसेन अपने सभी वंशजों के साथ युद्धक्षेत्र में मार डाला गया और उसकी वंश-परम्परा उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गई थी (वत्सानुबन्धनिहितः चण्डसेनहतकः)। चन्द्रगुप्त प्रथम की वंश-परम्परा तो इसके प्रतिकूल कई पीढ़ियों तक अक्षुण्ण थी। प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक के अनुसार उसके कई पुत्र थे जिनमें उसने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। चण्डसेन नीच एवं दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति था, परन्तु चन्द्रगुप्त प्रथम सदाशय एवं प्रशस्त गुणों से सम्पन्न नरेश था। कौमुदीमहोत्सव के अनुसार चण्डसेन ने लिच्छवियों के साथ संबन्ध-मात्र स्थापित किया था (लिच्छविभिः सह संबन्धं कृत्वा)। यह वैवाहिक संबन्ध न होकर राजनीतिक मैत्री या गुटबन्दी के रूप में भी तो हो सकता था। दोनों की प्रकृति एवं उपलब्धियों में उपर्युक्त विषमताएँ इस बात के प्रमाण हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम चण्डसेन से समीकृत नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक कौमुदीमहोत्सव का प्रश्न है, इतिहासकार इस बात को मानन लगे हैं कि यह गुप्तकालीन ग्रन्थ नहीं हो सकता। इसे ऐतिहासिक रचना के स्वरूप में ग्रहण करना वास्तविक तथ्यों से रहित होगा। इस ग्रन्थ पर कालिदासीय

---

१. डॉ० जायसवाल के मत के लिए द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्रन्थों के प्रभाव के स्पष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं । यहाँ तक कि श्रीहर्ष (सातवीं शताब्दी) की रचनाओं (नागानन्द, रत्नावली एवं प्रियदर्शिका) द्वारा भी यह प्रभावित लगता है। अतएव इसकी रचना कहीं सातवीं शताब्दी के उपरान्त ही हुई होगी। क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) के अनुसार यह ग्रन्थ शंकराचार्य के समय (७८८ ई०-८२० ई०) के उपरान्त ही लिखा गया होगा । उक्त विद्वान् के अनुसार इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में ही शंकराचार्य की ओर संकेत किया गया है । इसमें 'कृत्तिवासस्' का उल्लेख हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ तो शिव होता है, परन्तु लाक्षणिक ढंग से इस शब्द के द्वारा शंकराचार्य भी इंगित किए गए हैं। इस श्लोक में कृत्तिवासस् की दो प्रमुख विशेषताएँ बताई गई हैं—

(१) 'ब्रह्मव्याख्याननिष्ठ':—अर्थात् ब्रह्म की व्याख्या में जिसकी विशेष रूप से निष्ठा है (ब्रह्मव्याख्याने निष्ठा = सतताध्यवसायो यस्य सः); (२) 'नानात्व-ग्रन्थिभेत्रीं धियमिव विकरन्'—जो द्वैत की गाँठ (ग्रन्थि) का भेदन करने वाली बुद्धि को विकीर्ण करने वाले हैं । स्पष्ट है कि इस स्थान पर अद्वैतवाद की ओर संकेत है । ये दोनों ही विशेषण शंकराचार्य के विषय में अधिक चरितार्थ होते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन वेदान्त-वाक्य के प्रतिपादन (ब्रह्मव्याख्या) में व्यतीत हुआ था तथा अद्वैत दर्शन के प्रचार के लिए तो विश्व में वे सदैव स्मरणीय रहेंगे। शंकराचार्य के सन्दर्भ से निष्कर्ष यह निकलता है कि कौमुदीमहोत्सव की रचना कहीं, आठवीं शताब्दी के उपरान्त हुई थी तथा इसे गुप्तकालीन ग्रन्थ मानकर इस राजवंश के इतिहास के किसी भी अंग के पुनर्निर्माण की चेष्टा भ्रामक होगी ।[1] ऊपर हम इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि चण्डसेन एवं चन्द्रगुप्त प्रथम एक व्यक्ति नहीं सिद्ध किए जा सकते तथा इस कारण गुप्तों को 'कारस्कर' (निम्नवर्ण का राजवंश) नहीं प्रमाणित किया जा सकता।[2]

सभी विद्वान् इस बात से सहमत नहीं हैं कि चन्द्रगोमिन् के व्याकरण की समस्त पाण्डुलिपियों में 'जर्टो' पाठ मिलता है । उदाहरणार्थ हॉर्नले के अनुसार

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द १४, पृष्ठ ५८४-८५ (पं० क्षेत्रेश-चन्द्र चट्टोपाध्याय का लेख)

२. रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ५२ तथा जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९४८-४९, पृष्ठ २७८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस ग्रन्थ की कतिपय पाण्डुलिपियों में 'जप्तो' पाठ प्राप्य है। लगता है कि लिपिक ने भूल से 'गुप्तो' के स्थान पर 'जप्तो' शब्द लिख दिया था। इस रचना की मूल पाण्डुलिपि में 'अजयत् गुप्तो हूणान्' पाठ रहा होगा, न कि 'अजयत् जर्टो हूणान्'। अतएव उक्त ग्रन्थ को प्रमाण मानकर गुप्तों को जाट (जर्ट) सिद्ध करने की चेष्टा सर्वथा भ्रामक होगी। उपर्युक्त ग्रन्थ की कालान्तर की पाण्डुलिपियों में 'गुप्तो' के स्थान पर 'जर्टो' तथा 'जप्तो' नामक अशुद्ध पाठ लिपि-कर्त्ताओं की भूल के कारण प्रचलित हो गए थे। यदि थोड़ी देर के लिए हम आग्रह करें कि उक्त ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि में 'जर्टो' शब्द ही रहा होगा, तो इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए कि यह मालव-नरेश यशोधर्मन् (छठी शताब्दी) के विषय में कहीं अधिक चरितार्थ हो सकता है। वह भी हूणों का सुप्रसिद्ध विजेता एवं पराक्रमी नरेश था। गुप्त-वंश के द्वारा हूण-नरेश मिहिरकुल का उन्मूलन पूर्ण रूप से नहीं हो सका था। हुएनसांग के वर्णन से लगता है कि वह बड़ा ही उपद्रवी सिद्ध हो रहा था तथा उसके आतंक से लोग ऊबने लगे थे। मन्दसोर की प्रशस्ति के अनुसार यशोधर्मन् ने इस आततायी का मानमर्दन बड़ी ही सफलता के साथ किया था।

धारण-गोत्रीय गुप्तों की समता धरणि जाटों के साथ करना कल्पनामात्र है। दोनों शब्दों (धारण एवं धरणि) के एकमात्र उच्चारण-साम्य को पकड़ कर जाटों को गुप्तों का आधुनिक प्रतिनिधि मान लेना न्यायोचित नहीं होगा। पुराणों का यह कथन कि नन्दवंश के उपरान्त के भारतीय राजवंश शूद्रप्राय एवं विधर्मी थे, सर्वथा अश्रद्धेय है। नन्दोत्तर काल में कई भारतीय राजवंश तो ब्राह्मण जाति के थे, उदाहरणार्थ शुंग, कण्व, वाकाटक एवं कदम्ब वंश आदि।

वैश्य—उपर्युक्त मत पर विमर्श कर लेने के उपरान्त इस स्थान पर उन विद्वानों के तर्कों का भी परीक्षण अनिवार्य हो जाता है, जो गुप्तों को वैश्य मानते हैं। हम पहले कह आए हैं कि इस मत के प्रमुख समर्थकों में एलन, आयङ्गर तथा अनन्त सदासिव अल्तेकर आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ० अल्तेकर इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि गुप्त-काल में व्यवसाय का चयन एकमात्र जाति-धर्म के ही अनुसार नहीं होता था। इस सम्बन्ध में पुरातन सिद्धान्त क्रमशः ढीले पड़ने लगे थे। ब्राह्मणों ने क्षत्रिय एवं वैश्य का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। कदम्ब एवं वाकाटक राजवंशों के लोग जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु उन्होंने राज्य-कार्य को वृत्ति बनाया, जो शास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय-धर्म था। यह निर्विवाद है कि उक्त दोनों राजवंशों के संस्थापक (अर्थात् मयूरशर्मा एवं विन्ध्यशक्ति) जाति के ब्राह्मण थे। गुप्तों का सामन्त नरेश मातृविष्णु ब्राह्मण जाति का था। गुप्त-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America-HHFA(USA)

कालीन रचना मृच्छकटिक के अनुसार उज्जयिनी के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण नागरिक चारुदत्त ने जीविकोपार्जन के निमित्त वणिक-वृत्ति (सार्थवाह-वृत्ति) अपना ली थी तथा वह उक्त नगर में सेठ-साहूकारों के चौरस्ते (श्रेष्ठिचत्वर) पर निवास करने लगा था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय राजकीय सेवाओं में भी लग गए थे। प्राचीन सामाजिक प्रतिबन्धों के क्रमशः शिथिल हो जाने के फलस्वरूप गुप्त-युग में वैश्य सैनिक-कार्य कर सकते थे। गुप्तकालीन ग्रन्थ विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण अपने नाम के अन्त में शर्मा शब्द तथा क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र क्रमशः वर्मा, गुप्त एवं दास शब्दों को जोड़ें।[1] इस राजवंश के नरेशों के नाम के अन्त में आने वाला गुप्त शब्द उन्हें वैश्य प्रमाणित करता है।

समीक्षा—इस मत के समर्थक विद्वान् भूल जाते हैं कि इस राजवंश के नरेशों के नाम के अन्त में आने वाला गुप्त शब्द उनकी जाति का नाम नहीं है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस कुल के द्वितीय शासक घटोत्कच के उदाहरण से हो जाता है जिसके नाम के अन्त में गुप्त शब्द नहीं संयुक्त मिलता। यहाँ तक कि वाकाटक-लेखों में भी उसे घटोत्कचगुप्त न कहकर केवल घटोत्कच कहा गया है। वस्तुतः 'गुप्त' इस राजवंश के संस्थापक का नाम था। पुराणों में इस राजघराने के नरेशों को 'गुप्तवंशजाः' कह कर उपर्युक्त तथ्य की ओर संकेत किया गया है। सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने कुल-संस्थापक के प्रति श्रद्धा के कारण अपने नाम के अन्त में इस शब्द को धारण किया था। तदुपरान्त कुल-परिपाटी के रूप में उसके सभी वंशजों ने अपने नाम के अन्त में गुप्त शब्द को जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। फलतः यह इस राजवंश के कुल-नाम के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में विविध प्रमाण प्राप्य हैं जिनके अनुसार प्रायः सभी वर्णों के लोग अपने नाम के अन्त में गुप्त शब्द जोड़ते थे। अप्रतिग्राही ब्राह्मण-कुल समुद्भूत कौटिल्य का नाम विष्णुगुप्त था। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि काश्मीर के एक नरेश का नाम मातृगुप्त था जिसने अपने पुत्र का राज्याभिषेक सम्पन्न कर प्रवज्या धारण कर ली थी।[2] अफसढ़ एवं देवबर्णार्क के

---

१. "शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥"
—विष्णु पुराण, ३, १०, ९

२. "पुण्यां वाराणसी गत्वा कृतकाषायसंग्रहः।
सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोऽभवद्यतिः॥"
—राजतरंगिणी, सर्ग ३, श्लोक ३२०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लेखों में वर्णित राजवंश के नरेशों (कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त आदि) के नामों के अन्त में भी गुप्त शब्द मिलता है। परन्तु इससे उन्हें वैश्य प्रमाणित करना तर्क-संगत नहीं होगा। अफसढ़ के लेख में उन्हें उच्च कुल का (सद्वंशः) कहा गया है। हर्षचरित में राज्यवर्द्धन के प्रतिस्पर्धी देवगुप्त को 'गुप्तनामा' अर्थात् गुप्त नामक कहा गया है। इसके बहुत पहले पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' नामक ग्रन्थ में 'गुप्ताराम' (गुप्त द्वारा निर्मित गृह) का उल्लेख किया है (अष्टाध्यायी, ६,२, ९०)। एक जातक (६ ४८१) में वाराणसी की गुप्ता नामक एक राजकुमारी का वर्णन आता है। साँची के एक लेख में 'सपुरिस गोतीपुत' (सत्पुरुष गौप्तीपुत्र) का उल्लेख हुआ है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वह भद्र नागरिक गौप्ती (अर्थात् गुप्ता नामक महिला) का पुत्र था। उपर्युक्त सन्दर्भों से प्रमाणित हो जाता है कि नाम के अन्त में गुप्त शब्द जोड़ने की प्रथा हमारे देश में प्रायः सभी जातियों में प्रचलित थी। अतएव गुप्त शब्दों को आधार मानकर सहसा इस नतीजे पर आ जाना कि इस राजवंश के लोग वैश्य थे, वास्तविक तथ्यों से सर्वथा रहित होगा।

क्षत्रिय—कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि गुप्तवंश क्षत्रिय राजवंश था। हाल ही में इस सम्भावना का समर्थन करते हुए सुधाकर चट्टोपाध्याय ने पंचोभ के अभिलेख की ओर विद्वानों के ध्यान को आकृष्ट किया है। इस लेख का प्राप्ति-स्थान पंचोभ नामक एक ग्राम है, जो बिहार प्रान्त के दरभंगा जिले के मुख्य नगर लहेरियासराय से पाँच मील दूर पश्चिम की दिशा में स्थित है। इसमें किसी गुप्तवंश (वंशो गुप्तः) का वर्णन मिलता है जिसके नरेश शैव मतावलम्बी थे तथा अपने को पाण्डव अर्जुन का वंशज मानते थे। संभव है कि इस गुप्तवंश का सम्बन्ध सम्राट् गुप्त-वंश से ही रहा हो।[1] इससे संकेत मिलता है कि समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि नरेश क्षत्रिय कुल के थे। इस सम्भावना की परिपुष्टि जावा से प्राप्त 'तन्त्रीकामन्दक' नामक ग्रन्थ से होती है जिसको विशेष प्रसिद्धि में लाने का श्रेय डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार को है। इसके अनुसार इक्ष्वाकु-वंशी महाराज ऐश्वर्यपाल अपने को समुद्रगुप्त का वंशज मानता था।[2] यदि हम किञ्चित काल के लिए तन्त्रीकामन्दक को एक प्रामाणिक रचना मानें, तो गुप्त-वंश सूर्यवंशी क्षत्रिय राजवंश आभासित होता है।

एक मध्यकालीन परम्परा के अनुसार कनाड़ी जिले के कतिपय राजकुल प्राचीन विक्रमादित्य (सोमवंशी क्षत्रिय) के वंशज थे। उक्त परम्परा इस विक्रमा-

---

१. हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ १४०

२. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९३३, पृष्ठ ९३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHFA)(USA)

दित्य को उज्जयिनी एवं पाटलिपुत्र का अधिपति बताती है (उज्जयिनी-पुरवर-अधीश्वर; पाटलिपुत्र-पुरवर-अधीश्वर)। इस विक्रमादित्य से तात्पर्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से लगता है। यह निर्विवाद है कि उनकी राजधानी पाटलिपुत्र में ही थी। दशकुमारचरित में दण्डी ने इस नगर की प्रशंसा करते हुए लिखा कि यह पुर समस्त नगरों की परख की कसौटी (समस्त-नगरी-निकषायमाणा) एवं मगध का सर्वश्रेष्ठ नगर (मगधदेश-शेखरीभूता) माना जाता था। गुप्तकाल में उज्जयिनी की भी ख्याति सुविशेष थी। संभव है कि चन्दगुप्त विक्रमादित्य के काल में इस नगर में गुप्त-साम्राज्य की द्वितीय राजधानी स्थापित की गई और मौर्य-प्रथा के तुल्य वहाँ पर भी कोई गुप्त-वंशीय राजकुमार सम्राट् के प्रतिनिधि-रूप में निवास करता हो। कालिदास ने उज्जयिनी नगरी की सबसे अधिक प्रशंसा की है। उनके अनुसार यह नगरी भू-मण्डल पर स्वर्ग के चमकते हुए खण्ड की भाँति सुशोभित थी (दिवः कांतिमत्खण्डमेकम्)। यह समीकरण हमें विश्वास दिलाता है कि मध्यकालीन कनाड़ी राजकुल के सदस्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सन्तति रहे होंगे। आधुनिक कनाड़ी जिले प्राचीन कुन्तल-प्रदेश का प्रतनिधित्व करते हैं। आगे चल कर इस बात का उल्लेख किया गया है कि कुन्तल-प्रदेश के अधीश्वर (कुन्तलनामधीशः) कदम्ब राजवंश के लोग गुप्त-कुल के सगे-सम्बन्धी थे। अतएव उक्त कनाड़ी परम्परा सारगर्भित लगती है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारतवर्ष के गुत्तल के गुत्त अपने को 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' चन्द्रवंशी विक्रमादित्य के प्रतिनिधि मानते हैं। संभव है कि इस विक्रमादित्य से भी तात्पर्य सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) से ही रहा हो। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार 'गुत्त' लोग उज्जयिनी के राज्यपाल, किसी गुप्तवंशीय राजकुमार के वंशज हो सकते थे।[1]

कतिपय अन्य विद्वानों ने, जिनमें श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा प्रमुख हैं, सिरपुर-प्रशस्ति के आधार पर गुप्त-वंश को क्षत्रिय राजवंश माना है। इस अभिलेख में चन्द्रगुप्त नामक सम्राट् को नाना प्रशस्त गुणों से सम्पन्न (पृथगुणः), राजशब्द को यथार्थ रूप में चरितार्थ करने वाला (राजाख्यया प्रथितः पृथिव्याम्) तथा चन्द्रवंशी राजमंडल का सिरमौर (चन्द्रान्वयैकतिलकः) कहा गया है। इस चन्द्रगुप्त का समीकरण सर्वप्रसिद्ध चन्द्रगुप्त (चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य) से करना तर्कसंगत होगा। कौमुदीमहोत्सव में मगध-नरेश सुन्दर-वर्मा को क्षत्रिय कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार चण्डसेन (जिसका समीकरण

---

१. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २५६, पाद-टिप्पणी २

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

डॉ० जायसवाल ने चन्द्रगुप्त प्रथम से किया है) उसका दत्तक पुत्र था। शास्त्रीय विधान के अनुसार सवर्ण व्यक्ति ही गोद लिया जा सकता है।[1]

गुप्तों के सबल संबन्धी लिच्छवियों के विषय में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके अनुसार वे क्षत्रिय थे। सिगाल-जातक में एक लिच्छवि-कन्या को कुलीना (जाति-सम्पन्ना) तथा क्षत्रियवंश-समुद्भूता (खत्तियफीता) कहा गया है। दीर्घ-निकाय में लिच्छवियों को स्पष्ट शब्दों में क्षत्रिय (खत्तिय) कहा गया है। गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के समय लिच्छवियों ने यह कहते हुए उनकी अस्थियों पर अपना अधिकार रखा कि भगवान् बुद्ध भी क्षत्रिय (भगवापि खत्तियो) थे तथा हम लिच्छवि भी उसी जाति के हैं (मयमपि खत्तियो)। अतएव उनके अवशेष का वैधानिक दावेदार हम लोगों को ही माना जाना चाहिये (मयं पि अरहा)। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार इक्ष्वाकु नामक एक पराक्रमी एवं धार्मिक नरेश को अलम्बुषा नामक अप्सरा के गर्भ से विशाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। इसी प्रतिभा-सम्पन्न सम्राट् ने विशाला (वैशाली) की नींव डाली थी।[2] विष्णु पुराण[3] एवं वायु-पुराण[4] में भी विशाल को ही इस नगर का

---

१. "माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः॥"

—मनुस्मृति, अध्याय ९, श्लोक १६८

"उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः॥"

—वही, अध्याय ९, श्लोक १४१

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥"

—वही, अध्याय ९, श्लोक १४२

२. "इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति श्रुतः॥
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता॥"

—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४७, पंक्ति २२–२४

३. "ततश्चालम्बुषा नाम वराप्सरास्तृणविन्दुं भेजे।
तस्यामप्यस्य विशालो जज्ञे यः पुरीं विशालां निर्ममे॥"

—विष्णु पुराण, ४, १, ४९

४. "विशालस्य समुत्पन्ना विशाला नयनिर्मिता।"

—वायु पुराण, ८६, १७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जन्मदाता स्वीकार किया गया है। इस प्राचीन पुर की पहचान बिहार प्रान्त के आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़ से की जाती है। डॉ० ब्लाख ने बसाढ़ के एक प्राचीन टीले की खुदाई की थी जिसे स्थानीय जनता 'राजा विशाल का गढ़' कहती है।[१] इस प्रमाण से स्पष्ट है कि रामायण एवं पुराणों में वर्णित परम्परा श्रद्धेय है। लिच्छवि वैशाली के सुप्रसिद्ध शासक थे। वैशाली-नरेश प्राचीन ग्रन्थों में 'वैशालिका: नृपा:[२]' तथा 'वैशालिका: भूभृत:[३]' आदि अभिधाओं से युक्त किए गए हैं। अतएव हो सकता है कि रामायण में लिच्छवियों को ही इक्ष्वाकु-वंशी (सूर्यवंशी क्षत्रिय) कहा गया हो। नेपाल के अभिलेखों में लिच्छवि सूर्यवंशी क्षत्रिय के रूप में उल्लिखित किए गए हैं। तिब्बतीय ग्रन्थ 'दुल्व' तथा ह्वुएनसांग के यात्राविवरण में लिच्छवियों को क्षत्रिय कहा गया है।[४] कल्पसूत्र में जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी के मातुल-वंश (जो कि लिच्छवि-वंश था) को क्षत्रियकुल के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। सूत्रकृतांग के अनुसार लिच्छवियों को उनके आभिजात्य के कारण बौद्ध संघ में प्राथमिकता या व्यवहार-विशेष प्रदान करना समुचित नहीं था।

मत-परीक्षण—उपर्युक्त मत से संबन्धित तर्कों की गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। यदि पंचोभ का गुप्त-वंश सम्राट् गुप्त-वंश से किसी रूप में भी संबन्धित होता, तो इस तथ्य का उल्लेख वहाँ से प्राप्त लेख में अवश्यमेव होना चाहिए था। इस वंश के शासक अपने को समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं स्कन्दगुप्त सदृश यशस्वी नरेशों की सन्तति मानने में गर्व का अनुभव करते तथा उक्त अभिलेख में इसका वर्णन बड़े ही रोचक एवं सजीव ढंग से हुआ होता। पंचोभ राजवंश किसी अन्य गुप्त-शाखा में आता था। जावा-ग्रन्थ 'तन्त्री-कामन्दक' एक मध्यकालीन ग्रन्थ है। गुप्त-युग एवं इसके रचना-काल में दीर्घान्तर उनके ऐतिहासिक प्रसंग में इसकी प्रामाणिकता को न्यून कर देती है। विचारवान पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि उपर्युक्त गुत्तल एवं कनाड़ी-परम्पराएँ अनिश्चित एवं संदिग्ध होने के कारण अविश्वसनीय हैं। सिरपुर-प्रशस्ति के चन्द्रगुप्त का वंश-वृक्ष गुप्त-वंशावली से

---

१. देखिए, मेरा ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' पृष्ठ १४८–४९

२. विष्णु पुराण, १, ५९

३. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४५

3.—"The Kings of Nepal, were Kshatriya Licchavis and they were eminent scholars and believing Buddhists" Watters, Travels of Yuan-Chwang, Vol. II, page 84.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विभिन्न था, अतएव उसका समीकरण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अथवा इस राजघराने के किसी अन्य नरेश के साथ करना न्यायोचित नहीं होगा। हम इस तथ्य पर पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं कि कौमुदीमहोत्सव को ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में ग्रहण करना अथवा इस ग्रन्थ के काल्पनिक पात्र चण्डसेन का चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ समीकरण-प्रयास प्रमाणसङ्गत नहीं माना जा सकता। लिच्छवियों के संबन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित 'खत्तिय' शब्द क्षत्रिय जाति का बोधक नहीं है। उनमें इसका प्रयोग वस्तुतः राज्यसत्ताधारी के अर्थ में हुआ है। मनुस्मृति के ही प्रमाण से स्पष्ट है कि लिच्छवि किसी श्रेष्ठ जाति के नहीं थे। इस ग्रन्थ में लिच्छवियों को 'व्रात्य' अर्थात् उपनयन-हीन एवं सावित्री-परिभ्रष्ट कहा गया है।[1] उन्होंने अपने को स्वयमेव क्षत्रिय घोषित कर लिया था और उनकी राजनीतिक सम्प्रभुता के फलस्वरूप प्राचीन समाज उन्हें इसी रूप में स्वीकार करने लगा था। अपने लेखों में भी उन्होंने अपने को क्षत्रिय लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसी आधार पर हुएनसांग के विवरण एवं तिब्बती भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दुल्व' में भी उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। रामायण में वैशाली-स्थापना के संबन्ध में लिच्छवियों का कोई भी उल्लेख नहीं आता। हम पहले कह आए हैं कि इसकी नींव विशाल नामक राजा ने डाली थी जिसके पुत्र हेमचन्द्र थे। उसके उपरान्त क्रमशः सुचन्द्र, धूम्राश्व, सृञ्जय, कुशाश्व एवं सोमदत्त ने राज्य किया। इसी सोमदत्त से सुप्रसिद्ध काकुत्स्थ उत्पन्न हुआ था। रामायण के अनुसार जिस समय विश्वामित्र के साथ राम मिथिला जा रहे थे उस समय इस पुर में काकुत्स्थ के पुत्र सुमति राज्य कर रहे थे जो शत्रुओं के लिए अजेय एवं महातेजस्वी थे।[2]

---

१. "द्विजातयः सवर्णासु जनयंत्यव्रतांस्तु यान्।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥
झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्याल्लिच्छविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड़ एव च॥"
—मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक २०–२२

२. "विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः॥
सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत॥
सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान्सहदेवः प्रतापवान्।
कुशाश्व सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America - HHFA(USA)

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि राजा-विशाल की यही वंशतालिका विष्णु पुराण[1] में भी प्राप्य है। स्पष्ट है कि ये सभी नरेश इक्ष्वाकु वंश की परम्परा में आते थे। उक्त ग्रन्थ में इन्हें कहीं भी लिच्छवि नहीं कहा गया है। वस्तुतः इस समस्त वर्णन में लिच्छवियों का नामोल्लेख कहीं पर भी नहीं है। अतएव रामायण के आधार पर लिच्छवि-वंश को क्षत्रिय प्रमाणित करना असमीचीन होगा। लिच्छवि-कुल को कसौटी बना कर गुप्तों के वर्ण-निर्णय की चेष्टा वास्तविक तथ्यों के आलोक में इस प्रकार असङ्गत प्रमाणित हो जाती है।

आन्ध्र-भृत्य—'कलियुगराजवृत्तान्त के आधार पर बी० भट्टाचार्य ने गुप्तों को 'आन्ध्र-भृत्य' माना है।[2] यह भविष्योत्तरपुराण का एक भाग है, जिसकी सबसे पहले चर्चा डॉ० यम० कृष्णमाचारियर ने 'हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर' में की थी। तदुपरान्त डॉ० बी० भट्टाचार्य ने अपने एक अनुसन्धान-लेख में उक्त ग्रन्थ में प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री की विवेचना की थी। इस रचना के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम आन्ध्र-नरेश चण्डश्री का सेनापति था और उसने अपनी प्रतिभा द्वारा उसके दरबार में बड़ा प्रभाव जमा रखा था। उसने एक लिच्छवि-कन्या से विवाह किया जो चण्डश्री की भार्या की सगी छोटी बहिन थी। उसने उक्त आन्ध्र-नरेश की इस दुश्चरित्रा भार्या के साथ षड्यन्त्र रचकर उसे मार डाला और वह स्वयं सम्राट् बन गया। इसी नरेश की उत्तराधिकार-परम्परा में काच, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त आते थे। इस वंश-वृक्ष से स्पष्ट है कि 'कलियुगराजवृत्तान्त' में जिस चन्द्रगुप्त प्रथम का उल्लेख है वह गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम ही है। वह आन्ध्रों का पहले कर्मचारी था, अतएव उक्त ग्रन्थ में उसे 'आन्ध्र-भृत्य' कहा गया है। आन्ध्र-वंश की पहचान सातवाहन-वंश से की जा सकती है। सातवाहन-नरेशों के अभिलेखों में ऐसे कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम के अन्त में गुप्त शब्द आता है। उदाहरणार्थ नासिक के लेख में शिवगुप्त तथा कार्ले के लेख में पुरुगुप्त एवं स्कन्दगुप्त

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः॥
तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येषः पुरीमिमाम्।
आवसत्परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः॥"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४७, १३–१७

१. विष्णु पुराण, ४, १, ४९
२. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाम प्राप्य है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि सम्राट्-गुप्त-वंश में भी स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त नामक नरेश हुए थे। अतएव सम्भव है कि इस कुल का संबन्ध सातवाहन-लेखों के गुप्त-नामधारी पदाधिकारियों के साथ रहा हो। सातवाहनों ने भारतवर्ष से शकों को खदेड़ने का प्रयास किया था, परन्तु वे इस क्रिया में सफलीभूत न हो सके थे। उनके उन्मूलन का पूर्ण गौरव सम्राट् गुप्त-वंश को था।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि कलियुगराजवृत्तान्त एक अप्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें नरसिंहगुप्त के पिता का नाम पुरुगुप्त के स्थान पर स्थिरगुप्त उल्लिखित किया गया है तथा उसकी उपाधि 'प्रकाशादित्य' बताई गई है। रमेशचन्द्र मजुमदार ने अपने एक अत्यन्त विचारपूर्ण लेख में इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि उपर्युक्त उल्लेख से ही इस ग्रन्थ का जाली होना प्रमाणित हो जाता है। जिस समय कुमारगुप्त तृतीय की भितरी की राजमुद्रा प्राप्त हुई, उस समय विद्वानों में मतभेद था कि नरसिंहगुप्त के पिता का नाम स्थिरगुप्त था अथवा पुरुगुप्त। १८९३ ई० में भारतीय पुरालिपि के मर्मज्ञ बूलर महोदय ने निर्णय दिया कि नाम का शुद्ध पाठ स्थिरगुप्त ही है। कनिंघम ने इस मत का समर्थन किया था। विन्सेण्ट स्मिथ ने भी अपने दो लेखों में इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि करते हुए कहा कि नरसिंहगुप्त के पिता का वास्तविक नाम स्थिरगुप्त ही था न कि पुरुगुप्त।[1] फलतः १८९३ ई० से लेकर १९०४ ई० तक पुरुगुप्त स्थिरगुप्त नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु १९०४ ई० के उपरान्त विद्वानों को इस भूल का पता लगा। परिणामस्वरूप हॉर्नले तथा तत्पश्चात् विन्सेण्ट स्मिथ एवं बूलर आदि पुराविदों ने भी यह स्वीकार कर लिया कि नाम का पुरुगुप्त पाठ ही समीचीन है। इसकी सम्पुष्टि हाल ही में उपलब्ध नालन्दा-अभिलेख से हो जाती है। परन्तु सभी इतिहासकारों में इस बात पर मतैक्य था कि उसकी उपाधि 'प्रकाशादित्य' ही थी। हॉर्नले ने १८८९ ई० में ही इस तथ्य का प्रकाशन अपने एक लेख द्वारा किया था।[2] कलियुग राज वृत्तान्त में स्थिरगुप्त 'प्रकाशादित्य' का उल्लेख इस बात का परिचायक है कि इसकी रचना १८९३ ई० से लेकर १९०४ ई० तक की ग्यारह वर्षीय अवधि के भीतर हुई थी जिस समय पुरुगुप्त के नाम का अशुद्ध पाठ स्थिरगुप्त प्रचलित था। रमेशचन्द्र मजुमदार ने उचित ही कहा है कि जिस व्यक्ति ने इसकी रचना की थी; वह बूलर, कनिंघम एवं विन्सेण्ट स्मिथ के लेखों से परिचित था। उसने इन विद्वानों के द्वारा भितरी की राजमुद्रा के लेख के अशुद्ध पाठ

---

१. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९३, पृष्ठ ८३
२. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १८८९, जिल्द १, पृष्ठ ९३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के कारण ही पुरुगुप्त का नाम स्थिरगुप्त लिख दिया था।[1] अतएव गुप्तों की जाति के विषय में किसी जाली ग्रन्थ के आधार पर ऐतिहासिक तथ्य का दोहन न्यायोचित नहीं होगा। सातवाहन-लेखों के गुप्त-नामधारी कर्मचारी किसी दूसरे गुप्त-वंश के रहे होंगे। हम पहले देख आये हैं कि गुप्त-काल के पूर्व एवं उपरान्त भी भारतवर्ष में समय-समय पर कई गुप्त वंशों का उद्गम हुआ। स्कन्दगुप्त नाम का प्रचलन पर्याप्त रूप में था। हर्ष-चरित के अनुसार हर्ष के काल में इस नाम का एक स्वामिभक्त एवं अनुभवी पदाधिकारी था जो गज-सेना का अध्यक्ष था। अतएव आकस्मिक रूप में मिलने वाले कुछ नामों की समता को आधार बना कर गुप्तों को आन्ध्र-भृत्य सिद्ध करने का प्रयास समीचीन न होगा।

आर्येतर—श्री बी० जी० गोखले ने गुप्तों के उत्पत्ति-विषयक प्रश्न पर विचार करते हुए विद्वानों के समक्ष एक नवीन सुझाव यह रखा कि गुप्त प्रारम्भ में आर्य-वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे। लिच्छवियों के साथ उनका विवाह-संबन्ध उन्हें समान जाति का निर्दिष्ट करता है। मनु ने उन्हें 'व्रात्य' कहते हुए आर्यों के सामाजिक ढाँचे से बाहर रखा है। सम्राट्-गुप्तों के द्वारा क्रमादित्य, विक्रमादित्य एवं महेन्द्रादित्य-सदृश उच्च उपाधियों का धारण करना, अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान, ब्राह्मण-कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा तथा स्मृति एवं पुराण ग्रन्थों का समुन्नयन और विकास आदि उच्च वर्ण में स्थान पाने के निमित्त उनकी चेष्टाओं के परिचायक हैं। अभिलेखों में उनके वर्ण एवं गोत्र आदि की चर्चा के अभाव का सम्भावित कारण यही हो सकता है।[2] स्पष्ट है कि श्री गोखले ने अपने मत-निर्धारण में खींचतान एवं कल्पना का अधिक आश्रय लिया है। प्राचीन राजकुलों में प्रायः अन्तर्जातीय विवाह (अनुलोम विवाह) हुआ करते थे। अतएव यह कोई आवश्यक नहीं था कि गुप्तवंश के नरेश भी उसी जाति के होते जिस जाति के लिच्छवि लोग थे। प्रभावतीगुप्ता का पूना का ताम्र-लेख इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि गुप्त धारण गोत्री ही थे। यदि गुप्त-अभिलेखों के द्वारा उनके गोत्र पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, तो इस बात को लेकर उनकी निम्न उत्पत्ति प्रमाणित करना ऐतिहासिक भूल होगी। पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मणधर्म के समुन्नयन के निमित्त महान् प्रयास किया था। वह अपने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जीवन में कट्टर

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २०, १९४४, पृष्ठ ३४९–५०

२. जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९४८–४९, पृष्ठ ७७–७८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ब्राह्मण-धर्मानुयायी था। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि वह इसके द्वारा तत्कालीन श्रेष्ठ सामाजिक वर्ग में स्थान पाना चाहता था, उल्टी गंगा बहानी होगी। यह निर्विवाद है कि वह जाति का ब्राह्मण था तथा उसका गोत्र भारद्वाज अथवा काश्यप था।

धारण एवं धारिणी—हेमचन्द्र रायचौधरी ने गुप्तों के धारण गोत्र को कालिदासीय नाट्य-ग्रन्थ 'मालविकाग्निमित्रम्' में उल्लिखित देवी धारिणी से समीकृत किया है।[1] वह शुङ्ग-राजकुमार अग्निमित्र की प्रधान महिषी होती थी। पुष्यमित्र ने अपने इस उत्तराधिकारी पुत्र को विदिशा में राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया था। उसकी 'वीर-प्रसवा' भार्या (धारिणी) की तुलना इस ग्रन्थ में महातेजस्वियों को उत्पन्न करने वाली धरणी (पृथिवी) से की गई है।[2] परिव्राजिका कौशिकी पति से कुपित धारिणी को 'कुटुम्बिनी' (उच्च कुल वाली) कहती हुई निवेदन करती हैं कि आप अकारण ही महाराज से क्यों मुख फेरे बैठी हैं? श्रेष्ठ कुल की महिलाओं को यद्यपि अपने पतियों पर सभी अधिकार प्राप्त होते हैं तथापि जब उन्हें क्रुद्ध होना होता है तो कोई न कोई कारण निकाल कर ही अपने पति से वे रूठती हैं।[3] लगता है कि देवी धारिणी नागकुल की राजकुमारी थीं, क्योंकि उनकी अँगूठी नागलांछन से अंकित थी। यह प्रथा नाग-वंशी परम्परा में आती थी। जब इस नाटक में विदूषक को साँप काट लेता है तब ध्रुवसिद्ध नामक राजवैद्य सुझाव देता है कि इसका विष उतारने के निमित्त कोई ऐसी वस्तु ढूँढी जाय जिस पर नाग-मुद्रा जड़ी हो।[4] इस पर देवी धारिणी नाग-मुद्रा से जड़ी हुई अपनी अँगूठी तत्काल निकाल कर सुझाव रखती हैं कि इससे उसके विष का निवारण किया जाय।[5] इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेन्ट इंडिया, पृष्ठ ५२८, पाद-टिप्पणी।

२. "महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्त्ता शरच्छतम्॥"
—मालविकाग्निमित्रम्, अंक १, श्लोक १५

३. "अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥"
—मालविकाग्निमित्रम्, अंक १, श्लोक १८

४. "सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। तदन्विष्यतामिति।"
—वही, अंक ४

५. "इदं सर्पमुद्रितमंगुलीयकम्। पश्चान्मम हस्ते देह्येतत्।" —वही, अंक ४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHF(USA)

धारण गोत्र का देवी धारिणी के साथ समीकरण अत्यन्त विवादग्रस्त है। केवल धारण एवं धारिणी के उच्चारण-साम्य के आधार पर सहसा इस नतीजे पर आ जाना कि गुप्त-वंश उपर्युक्त शुङ्ग-देवी की कुल-परम्परा में किसी रूप में आता था, तर्कसंगत नहीं लगता। देवीधारिणी का नाम कवि कालिदास की कल्पना भी हो सकती थी। हमारे देश के प्राचीन लेखकों एवं कवियों को ऐतिहासिक पात्रों के साथ काल्पनिक पात्रों को भी सम्मिलित करने की स्वतन्त्रता थी। विशेष रूप से संस्कृत नाटकों में इस कोटि के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। धारिणी (धृ+णिनि+ङीप) का शाब्दिक अर्थ पृथिवी होता है। मालविकाग्निमित्रम् में वसुन्धरा को 'महासारप्रसवा' (तेजस्वियों को उत्पन्न करने वाली) कहा गया है। इस ग्रन्थ में अग्निमित्र की भार्या को 'वीरपत्नी' तथा 'वीरसू' (वीर-माता) कहा गया है। उसके पुत्र वसुमित्र ने यवनों को परास्त किया था। इस नाटक में परिव्राजिका कौशिकी उसे बधाई देती हुई कहती हैं कि अब तक तो आप संसार की सब प्रशंसनीय वीर पत्नियों की सिरमौर थीं, पर आपके पुत्र ने आपके नाम के साथ वीर-माता की उपाधि जोड़ दी है।[1] अग्निमित्र भी अपने पुत्र के गुणों से प्रसन्न होकर मौद्गल्य से कहता है कि अरे! इस हाथी के बच्चे न तो हाथियों के नायक का काम कर डाला (ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम्)।[2] संभव है कि वीर-प्रसवा होने के कारण ही कालिदास ने उसका नाम धारिणी रख दिया हो। यदि मान भी लें कि धारिणी नाम ऐतिहासिक है, तो इससे कोई कार्य नहीं बनता। मालविकाग्निमित्रम् के उल्लेखों के अनुसार वह नाग-वंशी राजकन्या रही होगी। यह तो सुविदित ही है कि समुद्रगुप्त नागों का उन्मूलन-कर्त्ता था। उसके समय से गुप्तों ने गरुड़-मुद्रा को राजमुद्रा बनाई थी जब कि नाग-वंशी नरेश नाग-लांछन राजमुद्रा का प्रयोग करते थे। परम्परा के अनुसार गरुड़ नागों (सर्पों) के विनाशक थे। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि गुप्त-वंश के संस्थापक देवी 'धारिणी' से संबन्धित नहीं हो सकते थे।

वर्ण-निर्णय—हम पहले इस बात पर विचार कर चुके हैं कि प्रभावतीगुप्ता का धारण गोत्र उसके पिता के ही गोत्र का प्रतिनिधित्व करता है। पूना एवं ऋद्धपुरके ताम्रलेखों में वह अपने को वाकाटक-महाराज श्री रुद्रसेन की अग्रमहिषी,

---

१. "भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः॥"
—वही, अंक ५, श्लोक ६

२. वही, अंक ५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

युवराज श्री दिवाकरसेन की जननी तथा दोनों कुलों (वाकाटक-गुप्त) का अलंकार (उभय-कुलालंकार-भूता) बताती है। द्रष्टव्य है कि उक्त दोनों अभिलेखों में वह अपनी कुल-परम्परा का उल्लेख करते समय पति के वंश-वृक्ष का वर्णन न कर पिता के वंश-वृक्ष का निरूपण करती है (आसीद् गुप्तादिराजो महाराजश्रीघटोत्कचस्तस्य सत्पुत्रो महाराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी लिच्छिवि-दौहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तत्पादपरिगृहीतः पृथिव्यामप्रतिरथस्सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधि-सलिलास्वादितयशानेक-गो-हिरण्यकोटि-सहस्रप्रद ≍ परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्यदुहिता धारण-सगोत्रा श्रीप्रभावतीगुप्ता)।[1] उसने अपना शाखोच्चार पति-कुल के स्थान पर पिता के कुल से किया है, अतएव धारण गुप्तों के गोत्र का द्योतक है। उसका पति तो विष्णुवृद्धिगोत्र का ब्राह्मण होता था। विचारणीय है कि प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की उपलब्धियों के प्रसंग में 'धरणि-बन्ध' शब्द का उल्लेख आता है।

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारतीय परम्परा के अनुसार विवाहोपरान्त स्त्री का गोत्र उसके पति के गोत्र द्वारा निर्धारित होता था। उदाहरणार्थ महानिर्वाणतन्त्र (१२,७५) में कहा गया है कि विवाह के पश्चात् स्त्री का गोत्र पति का गोत्र हो जाता है (विवाहानन्तरं नारी पतिगोत्रेण गोत्रिणी)।[2] परन्तु

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१२–१६

२. "स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे।
पति-गोत्रेण कर्त्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रियाः॥"
—रघुनन्दन, उद्वाह-तत्त्व; सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१३, पाद-टिप्पणी २

"पाणिग्रहणिका मन्त्राः पितृगोत्रापहारकाः।
भर्त्तुर्गोत्रेण नारीणां देयं पिण्डोदकं ततः॥"
—शूलपाणि, श्राद्धविवेक; सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१३, पाद-टिप्पणी २

"ब्राह्म्यादिषु विवाहेषु या वधूरिह संस्कृता।
भर्त्तुर्गोत्रेण कर्त्तव्या तस्या पिण्डोदकक्रियाः॥"
—गरुड़ पुराण सरकार, सेलेक्ट इस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१३, पाद-टिप्पणी २

"विवाहे चैवनिवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु।
एकत्वं सा गता भर्त्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHFA USA)

कभी-कभी विवाहिता स्त्री का गोत्र उसके पिता के गोत्र द्वारा भी निर्धारित होता था। इस विषय में डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने प्राचीन साहित्य से कुछ प्रमाणों को उद्धृत किया है, जो निम्नलिखित हैं:—

१. "संस्थितायान्तु भार्यायां सपिण्डीकरणान्तकम् ।
पैतृकं भजते गोत्रमूर्द्ध्वन्तु पतिपैतृकम् ॥"
—कात्यायन; द्रष्टव्यः—दिनेशचन्द्र सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१३, पाद-टिप्पणी २

२. "आसुरादिविवाहेषु या व्यूढा कन्यका भवेत् ।
तस्यास्तु पितृगोत्रेण कुर्यात् पिण्डोदकक्रियाम् ॥"
—गरुड़ पुराण, उत्तर, २२; देखिए —सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१३, पाद-टिप्पणी २

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अपने अभिलेखों में कुल-परिचय की भाँति यदि गोत्र-परिचय भी प्रभावतीगुप्ता ने पितृ-कुल से ही दिया है तो इस पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। धारण-गोत्र ब्राह्मण-गोत्र है। अतएव गुप्त-कुल को ब्राह्मण राजवंश के रूप में ही हमें ग्रहण करना चाहिए। स्कन्दपुराणान्तर्गत ब्रह्मखण्ड के धर्मारण्य खंड में ब्राह्मणों के चौबीस गोत्र बताए गए हैं जिनमें बारहवाँ गोत्र 'धारण' गोत्र है—(१) भारद्वाज, (२) कौत्स, (३) कौशिक, (४) कुश, (५) शांडिल्य, (६) काश्यप, (७) गौतम, (८) छान्दन, (९) जातुकर्ण्य, (१०) वत्स, (११) वसिष्ठ, (१२) धारण, (१३) आत्रेय, (१४) भांडिल, (१५) लौकिक, (१६) कृष्णायन, (१७) उपमन्यु, (१८) गार्ग्य, (१९) मुद्गल, (२०) मौषक, (२१) पुण्यासन, (२२) पराशर, (२३) कौण्डिन्य तथा (२४) गान्यासन।[1] धर्मारण्य के अनुसार 'धारण' गोत्रीय ब्राह्मण धर्म्मकर्म-

---

चतुर्थी होममन्त्रेण तङ्मांसहृदयैन्द्रियैः ।
भर्त्ता संयुज्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत् ॥"
भवदत्त भट्ट; सरकार :—सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१३, पाद-टिप्पणी २

१. "चतुर्विंशतिमुख्यानां नामानि प्रवदामि ते ।
द्विजानामृषयः प्रोक्ताः प्रवराणि तथा शृणु ॥
भारद्वाजास्तथा वत्सः कौशिकः कुश एव च ।
शांडिल्यः काश्यपश्चैव गौतमश्छांधनस्तथा ॥
जातुकर्ण्यस्था तथा वत्सोवसिष्ठो धारणस्तथा ।
आत्रेयो भांडिलश्चैव लौकिकाश्च इतः परम् ॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समाश्रित, कर्त्तव्यपरायण, लंबकर्ण, धनसम्पन्न, महासत्त्व एवं दुष्टों के लिए भयंकर हुआ करते थे।[१] वे अपने व्यक्तिगत जीवन में बड़े ही शान्त, संयम-नियम से युक्त एवं सुशील थे। पुत्र-पौत्रादि से युक्त धारण ब्राह्मण सुरूप, सदाचारी, सम्पूर्ण धर्मों को आदर की दृष्टि से देखने वाले (सर्वधर्मेषुनिष्ठिताः) एवं दानी (दानधर्म्मरताः) थे।[२] इन ब्राह्मणों के तीन प्रवर थे—अगस्त्य, दाढ्र्यच्युत एवं रथ्यवाहन।[३] उनकी देवी 'छत्रजा' एवं 'थलजा' थीं।[४] इस ग्रन्थ में तृतीय प्रवर का नाम रथ्यवाहन के स्थान पर कहीं-कहीं इध्मवाहन भी दिया गया है।[५] धर्मारण्य खण्ड के एक अन्य अध्याय में भी धारण-गोत्री ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुए उन्हें पुरुषार्थयुक्त (सत्त्ववन्तो), विविध गुणों से सम्पन्न (गुणन्विताः), समृद्ध (धनिनो), ज्ञानपरायण (ज्ञाननिष्ठ) तथा तप एवं यज्ञ में निविष्ठचित्त

कृष्णापयोपमनुश्च गार्ग्यमुद्गलमौषकाः।
पुष्यासनः पराशरः कौंडिन्यश्च ततः परम्॥
तथा गान्यासनश्चैव प्रवराणि चतुर्विंशतिः॥"

—स्कन्द पुराण, ब्रह्मखंड (धर्मारण्य,खंड २) अध्याय ९, श्लोक २७–३१ (वेंकटेश्वर यन्त्रालय-मुद्रित)

१. "अस्मिन्गोत्रे च ये जाता धर्मकर्मसमाश्रिताः।
कर्मक्रूराश्च ते सर्वे तथैवोदरिणस्तु ते॥
लंबकर्णा महादंष्ट्रा द्विजा धनपरायणाः।
क्रोधिनो द्वेषिणश्चैव सर्वसत्त्वभयंकराः॥"

—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय ९, श्लोक ५०–५१

२. "शांताः दांताः सुशीलाश्च धनपुत्रैश्च संयुताः।
वेदाध्ययनरताश्चैव कुशलाः सर्वकर्मसु॥
सुरूपाश्च सदाचाराः सर्वधर्मेषुनिष्ठिताः।
दानधर्म्मरताः सर्वे अत्रजा जलदा द्विजाः॥"

—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय ३९, श्लोक ७०–७१

३. "अगस्त्यो दाढ्र्यच्युतश्च रथ्यवाहनमेव च"

—वही, धर्मारण्य खंड, २, अध्याय ३९, श्लोक ४६

४. "अगस्तिश्च दार्ढच्युत इध्मवाहनसंज्ञकः॥"

—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय ३९, श्लोक ७२

५. "देवी च छत्रजा प्रोक्ता द्वितीया थलजा तथा"

—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय ३९, श्लोकार्द्ध ४७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

(तपोयज्ञक्रियादिषु) कहा गया है।[1] यज्ञोपवीतधारी (सोपवीता) एवं संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले (सर्वशास्त्रविशारदाः) वे ब्राह्मण पुराणज्ञ एवं सदाचारी (सदाचाराः) थे।[2] वे स्थिरचित्त (अलौल्याः), यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले (महायज्ञाः) तथा वेदों के ज्ञाता एवं रक्षक थे (वेदाज्ञाप्रतिपालका):[3] धारण-गोत्री ब्राह्मणों की उपर्युक्त विशेषताएँ गुप्त-सम्राटों के स्वभाव एवं उपलब्धियों के विषय में अधिक चरितार्थ होती हैं।

शान्तिवर्मा की तालगुण्ड-प्रशस्ति के आधार पर ज्ञात होता है कि कदम्ब-नरेश काकुत्स्थवर्मा की पुत्री गुप्त-कुल में व्याही गई थी। (गुप्तादि-पार्थिव-कुलानि)। इस राजवंश के लोग ब्राह्मण जाति के थे। इसके संस्थापक मयूर शर्म्मा को उक्त अभिलेख में 'द्विजोत्तम' कहा गया है (एवमागते कदम्बकुले श्रीमान्बभूव द्विजोत्तमः)।[4] इस लेख में इस राजघराने के नरेशों को श्रेष्ठ ब्राह्मण (द्विज-प्रवराः) तथा भूसुर (पृथिवी पर देवता) कहा गया है। वे सामवेद एवं यजुर्वेद का पाठ करते थे (सामर्ग्यजुर्व्वेद-वादिनः) तथा प्रशस्त गुणों से युक्त थे (गुणेन्द्वंशु-मण्डलम्)।[5]

यदि गुप्तवंश ब्राह्मणेत्तर राजवंश होता तो उक्त वैवाहिक संबन्ध प्रतिलोम विवाह के अन्तर्गत आता, जिसमें वधू वर से श्रेष्ठ वर्ण की होती है। स्मृतियों में प्रतिलोम-विवाह की कटु आलोचना की गई है। उदाहरणार्थ मनु ने लिखा है कि ब्राह्मणी से उत्पन्न क्षत्रिय-पुत्र सूत, क्षत्रिया से उत्पन्न वैश्य-पुत्र

---

१. "धारणसगोत्रे ये जाता ब्रह्मण्या ब्रह्मवित्तमाः।
त्रिप्रवराश्चैव विख्याता सत्त्ववंतो गुणान्विताः॥
तदन्वये च ये जाता धर्मकर्मसमाश्रिताः।
धनिनो ज्ञाननिष्ठाश्च तपोयज्ञक्रियादिषु॥"
—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय ३९, श्लोक ४८–४९

२. "सोपवीता महादक्षाः सर्वशास्त्रविशारदाः।
पुराणज्ञाः सदाचारा धार्मिका ब्रह्मभोजका :॥"
—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय १०, श्लोक ६

३. "अस्मिन्वंशे च ये जाता ब्राह्मणाः सत्यवादिनः।
अलौल्याश्च महायज्ञा वेदाज्ञाप्रतिपालकाः॥"
—वही, धर्मारण्य, खंड २, अध्याय ३९, श्लोक ७५

४. सरकार, वही, पृष्ठ ४५१

५. सरकार, वही, पृष्ठ ४५१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मागध तथा ब्राह्मणी से उत्पन्न वैश्य-पुत्र वैदेह कहलाता है।[1] इस कोटि के पुत्रों को मनु ने अत्यन्त घृणित (अधिकदूषितान्) तथा अछूत (विगर्हितान्) कहा है।[2] गुप्त वंश के लोग अपने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जीवन में ब्राह्मण धर्म के पोषक एवं शास्त्रीय विधानों के समर्थक थे। अतएव उक्त प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा वे ब्राह्मण धर्म के किसी नियम की अवहेलना नहीं कर सकते थे। पुष्यमित्र शुङ्ग के समान उन्होंने भी वैदिक कर्मकाण्डों के समुन्नयन हेतु प्रयास किया। इस विशेषता को ही दृष्टि में रखते हुए अभिलेखों में समुद्र-गुप्त को अश्वमेध-यज्ञ का उद्धार करने वाला कहा गया है (चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः)। धारण (धृ+णिच+ल्युट) का शाब्दिक अर्थ सँभालने वाला या रक्षा करने वाला होता है। धरणि एवं धरा शब्द गुप्त वंशीय अभिलेखों में आते हैं। स्कन्दगुप्त ने प्रलयंकारी हूणों से धरा की सुरक्षा की थी। समुद्रगुप्त धरणि-बन्ध द्वारा भू-मण्डल को व्यवस्था के अन्तर्गत लाना चाहता था। गुप्त-नरेशों की यह विशेषता उनके गोत्र नाम (धारण) को चरितार्थ करती है। यदि अपने सम्बन्धी राजवंशों (कदम्ब एवं वाकाटक) के तुल्य गुप्त राजवंश भी ब्राह्मण जाति का रहा हो, तो यह आश्चर्य की बात नहीं मानी जा सकती। वे सभी धर्मों के प्रति आस्था रखते थे तथा पुष्यमित्र के समान प्रतिक्रियावादी अथवा कट्टर-पन्थी नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने लेखों में गोत्र अथवा प्रवर आदि की कोई चर्चा नहीं की है।

आदि राज्य—स्पष्ट प्रमाणों के प्रभाव में गुप्तों के मूल राज्य के प्रश्न का निर्धारण भी प्राचीन भारतीय इतिहास की एक जटिल समस्या है। डॉ० डी० सी० गांगुली का कथन है कि इस राजवंश के आदि नरेश बंगाल में आधुनिक मुर्शिदाबाद के पास कहीं शासन करते थे। उनका यह निष्कर्ष चीनी

---

१. "क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ॥"
—मनु-स्मृति, अध्याय १०, श्लोक ११

२. "ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान॥"
—वही, अध्याय १०, श्लोक २९

"यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते॥"
—वही, अध्याय १०, श्लोक ३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

यात्री इत्सिंग के यात्रा-विवरण पर आधारित है, जिसके अनुसार उसके आगमन (६७१ ई० से ६९५ ई०) के पाँच सौ वर्ष पूर्व हुइ-लुन नामक यात्री चीन से भारतवर्ष आया था। उस समय 'चि-लि-कि-तो' नामक एक सदाशय एवं धार्मिक सम्राट् यहाँ राज्य कर रहा था जिसने चीनी यात्रियों की सुविधा के निमित्त एक बौद्ध मन्दिर का निर्माण किया था। यह चीन-मन्दिर के नाम से सुविख्यात था तथा 'मि-लि-किआ-सि-किआ-पो-नो' (मृगशिखावन) नामक बौद्ध विहार के समीप स्थित था। इसकी दूरी नालन्दा से पूर्व की दिशा में गंगा के तट-मार्ग से होते हुए ४० योजन (२४० मील) के लगभग थी। इस सम्राट् ने उपर्युक्त मन्दिर की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त उसे चौबीस ग्रामों का स्थायी दान दिया था। एलन ने चि-लि-कि-तो की पहचान गुप्त-वंश के संस्थापक महाराज 'श्रीगुप्त' से की है। इस मत का समर्थन रमेशचन्द्र मजुमदार एवं डी० सी० गांगुली आदि विद्वानों ने किया है। डॉ० गांगुली का कथन है कि इत्सिंग ने जिस दिशा एवं दूरी का उल्लेख किया है, उसके अनुसार उपर्युक्त मन्दिर आधुनिक मुर्शिदाबाद जिले में कहीं वर्तमान रहा होगा तथा गुप्त वंश का संस्थापक इसी क्षेत्र के समीप राज्य करता होगा।[1] डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार ने इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि करते हुए सुझाव रखा कि जब तक कोई अन्य निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिल जाता, तब तक बंगाल के इस भू-भाग (मुर्शिदाबाद) को गुप्तों का सम्भावित आदि-क्षेत्र स्वीकार कर लेना समुचित होगा।[2]

सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत है कि गुप्त वंश के प्रारम्भिक नरेश बंगाल के आधुनिक माल्दह जिले के आस-पास शासन कर रहे होंगे। फूशे के अनुसार 'मि-लि-किआ-सि-किआ-पो-नो' का भारतीय नाम 'मृगस्थापन' रहा होगा न कि 'मृगशिखावन'। रमेशचन्द्र मजुमदार ने निर्देश किया है कि नेपाल से प्राप्त ग्यारहवीं शताब्दी की एक कैम्ब्रिज पाण्डुलिपि में किसी स्तूप का चित्र मिलता है जिसके नीचे 'वरेन्द्रि का मृगस्थापन-स्तूप' शीर्षक इसका परिचय-लेख प्राप्य है। सन्ध्याकरनन्दिन् के अनुसार वरेन्द्रि का भू-भाग गंगा एवं करतोया के बीच स्थित था। इन दोनों धाराओं के मध्यवर्ती भाग में आधुनिक दीनाजपुर, माल्दह, राजशाही, बोगरा एवं रंगपुर के जिले स्थित हैं। इस क्षेत्र को आज 'वरिन्द' कहते हैं, जिसका समीकरण प्राचीन वरेन्द्रि से किया

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द १४, पृष्ठ ५३२–३५

२. वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ ११९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जा सकता है। इत्सिंग-लिखित मन्दिर (मृगस्थापन) की पहचान वरेन्द्रि में स्थित मृग-स्थापन से करना सर्वथा समीचीन होगा। चीनी यात्री ने जिस मार्ग का निर्देश किया है उसके अनुसार 'मृगस्थापन' जाने के लिए पर्यटक को नालन्दा से पहले गंगा नदी के तट की ओर बढ़ना पड़ा होगा। उसके द्वारा उल्लिखित ४० योजन (२४० मील) वाले पथ में यह दूरी भी सम्मिलित रही होगी। यदि 'इंडिया सर्वे मैप' के आधार पर आधुनिक नालन्दा से पूर्व की दिशा में इस अन्तर को नापा जाय, तो यह आधुनिक माल्दह जिले के विषय में अधिक चरितार्थ होता है। इत्सिंग-उल्लिखित मन्दिर तथा गुप्त-वंश के संस्थापक का आदि राज्य इसी भू-भाग में स्थित रहे होंगे। आधुनिक माल्दह-मण्डल प्राचीन वरेन्द्रि (जिसका वर्तमान प्रतिनिधि आधुनिक वरिन्द है) में आता था।[1]

उपर्युक्त मत के समर्थक विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि गुप्त वंश के संस्थापक के साथ इत्सिंग-उल्लिखित चि-लि-कि-तो नामक नरेश का समीकरण समुचित नहीं होगा। उसके अनुसार यह भूपति उसके आगमन (६७१ ई०) के पाँच सौ वर्ष पूर्व राज्य करता था। इससे प्रतिपादित होता है कि उसका सम्भावित राज्यकाल (६७१ ई०–५००) १७१ ई० के लगभग रहा होगा। गुप्त वंश के संस्थापक (गुप्त नामक नरेश) का शासन-काल तृतीय शताब्दी का अन्तिम चरण था। इस प्रकार इन दोनों नरेशों के समय में लगभग एक शताब्दी का अन्तर था। गुप्त वंश का आदि नरेश इतना महान् सम्राट् नहीं था कि वह किसी एक ही संस्था को चौबीस ग्रामों की आमदनी दान-स्वरूप देता। यह भी संभव हो सकता है कि चीनी यात्री दिशा का अशुद्ध उल्लेख कर गया हो। 'मि-लि-किआ-सि-किआ-पो-नो' से तात्पर्य सारनाथ से हो सकता है, जो कि नालन्दा के पश्चिम, गंगा-तटिनी पुरी वाराणसी के उपकण्ठ पर बसा हुआ है। इसे इसिपत्तन (ऋषिपत्तन) कहा जाता था तथा बौद्ध धर्म का यह एक प्रख्यात केन्द्र था। गौतम बुद्ध ने यहीं पर 'मृगवन' (DeerPark) में अपना प्रथम भाषण दिया था। शैवेनीज़ तथा कई अन्य विद्वानों के अनुसार इत्सिंग-कथित 'मि-लि-किआ-सि-किआ-पो-नो' का भारतीय नाम 'मृगशिखावन' हो रहा होगा। उर्युपक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'चि-लि-कि-तो' एवं गुप्त वंश के संस्थापक को एक व्यक्ति मान कर बंगाल के किसी भाग को गुप्तों का मूल अधिकार-क्षेत्र प्रमाणित करना असमीचीन होगा। ध्यान-पूर्वक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि बंगाल में गुप्त-सत्ता

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ ११७–१८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of North America (HHFA) (USA)

का प्रथम प्रवेश समुद्रगुप्त के समय में संभव हुआ था। सुसुनियाँ की पहाड़ी के लेख से ज्ञात होता है कि उसने पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मा नामक नरेश को आर्यावर्त्त-अभियान में परास्त कर पश्चिमी बंगाल के आधुनिक बाँकुड़ा जिले वाले भाग को जीत लिया होगा। उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति) से गुप्तों के लेख सबसे पहले कुमारगुप्त प्रथम के समय से मिलने लगते हैं। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समतट (बंगाल का पूर्वी समुद्र-तट) समुद्रगुप्त के समय में गुप्तों का प्रत्यन्त (सीमान्त) राज्य था। मेहरौली के अभिलेख के अनुसार चन्द्र (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) ने वङ्ग में अपने शत्रुओं के सशक्त गुट को परास्त किया था। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के समय तक बंगाल के किसी भी भाग पर गुप्त-वंश का अधिकार नहीं था।

गुप्तों के उत्पत्ति-विषयक प्रश्न के निर्धारण में पौराणिक साक्ष्यों पर विचार करना समीचीन होगा। विष्णु, वायु एवं भागवत पुराण में गुप्त-साम्राज्य की सीमाओं का वर्णन मिलता है। इनमें भागवत पुराण की तिथि तो बाद की है (दसवीं शताब्दी); परन्तु विष्णु एवं वायु पुराण तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन हैं। विंटरनिट्ज़ का विचार है कि विष्णु पुराण गुप्त कालीन रचना है। यह ग्रन्थ बहुत कुछ अपने मौलिक रूप में ही प्राप्य है। अतएव गुप्त वंश के इतिहास के पुनर्निर्माण के निमित्त इस रचना की प्रामाणिकता श्रद्धेय हो जाती है। उक्त विद्वान् के अनुसार वायु पुराण का मौलिक संस्करण गुप्त-युग में प्रस्तुत हो चुका था। कालान्तर में इसमें कुछ नवीन अंशों का भी समावेश हुआ। इस ग्रन्थ में भी गुप्तों की जिस राज्य-सीमा का वर्णन हुआ है वह विष्णु पुराण में उल्लिखित साम्राज्य-विस्तार से साम्य रखती है।

विष्णु पुराण की कतिपय पाण्डुलिपियों में 'अनुगङ्गा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति' (गुप्तवंश के नरेश) गंगा नदी के किनारे प्रयाग एवं मगध का उपभोग करेंगे) का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ की ढाका की पाण्डुलिपियों में, जिसका उल्लेख डी० सी० गांगुली ने किया है, 'अनुगङ्गं प्रयागञ्च मागधाः गुप्ताश्च मागधान् भोक्ष्यन्ति' पाठान्तर मिलता है। इन दोनों पाठों में दो दृष्टियों से विभेद है —(१) प्रथम पाठ में जहाँ 'अनुगङ्गा प्रयागं' कहा गया है वहाँ द्वितीय पाठ में 'अनुगङ्गं प्रयागं' उल्लिखित है, (२) प्रथम पाठ में जहाँ 'गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति' कहा गया है, वहाँ द्वितीय पाठ में 'गुप्ताश्च मागधान् भोक्ष्यन्ति' उल्लिखित है। अब हमारे समक्ष समस्या यह खड़ी होती है कि दोनों पाठों में हम किसे शुद्ध माने? यहाँ पर विचारणीय है कि द्वितीय पाठ में 'गुप्ताश्च' एवं 'भोक्ष्यन्ति' के बीच 'मागधान्' शब्द निर्थरक है तथा प्रयागञ्च

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में लघ्वांश 'च' व्यर्थ ही जुटा हुआ है। व्याकरण की यह भूल प्रतिपादित करती है कि प्रथम पाठ को ही शुद्ध मानना सर्वथा समीचीन होगा। परन्तु दोनों ही पाठों में गुप्त वंश को मगध-राजवंश (मागधाः) कहा गया है। हम आगे चल कर इसका निर्देश करेंगे कि उपर्युक्त राज्य-विस्तार समुद्रगुप्त के पूर्वजों (संभवतः चन्द्रगुप्त प्रथम) के राज्य-विस्तार के विषय में लागू होता है। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गुप्तवंश के नरेश मगध में आदि काल से ही राज्य कर रहे थे।

वायु पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण में क्रमानुसार नागवंश एवं गुप्त वंश तथा मणिधान्य वंश और देवरक्षित के साम्राज्यों के विस्तार का वर्णन प्राप्य है। एफ० ए० पार्जिटर ने 'पुराण टेक्स्ट ऑन दी डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज' नामक ग्रन्थ में इनसे सम्बन्धित पंक्तियों को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार हैं—

"नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै॥
अनुगंगा प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥
नैषधान्यदुकांश्चैव शैशितान्कालतोयकान्।
एतान् जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते मणिधान्यजाः॥
कोशलां चान्ध्रपौण्ड्रांश्च ताम्रलिप्तान्ससागरान्।
चपां चैव पुरीं रम्यां भोक्ष्यन्ते देवरक्षिताः॥[1]"

उपर्युक्त रेखांकित पंक्तियों के अनुसार गुप्त वंश के लोग गंगा नदी के किनारे स्थित कोसल (साकेत), प्रयाग एवं मगध आदि जनपदों का उपभोग करेंगे। इस उल्लेख से संकेत मिलता है कि गुप्त वंश की साम्राज्य-सीमा पश्चिम में कोसल एवं प्रयाग से लेकर पूर्व में मगध तक विस्तृत थी। यह वर्णन दो दृष्टियों से सदोष है। प्रथम तो यह कि इसमें कहीं भी सुप्रसिद्ध वैशाली जनपद का उल्लेख नहीं है, जो कि गंगा के उत्तरी तट पर स्थित था। परन्तु इस अभाव से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि यह गुप्त-राज्य के बाहर वर्तमान था। यह जनपद प्रयाग एवं मगध-जनपदों के बीच स्थित था। इस वर्णन में दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें कोसल जनपद को भी गंगा-तट पर स्थित बताया गया है। वाल्मीकि के रामायण के अनुसार सरयू के तट पर सुशोभित सुप्रसिद्ध

१. पार्जिटर, वही, पृष्ठ ५३–५४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation and Education HFA(USA)

कोसल जनपद अत्यन्त समृद्ध एवं धनधान्य से सम्पन्न था ।[1] यह उल्लेखनीय हो जाता है कि ये भूलें आकस्मिक हैं । इनको आधार मानकर उपर्युक्त रेखांकित पंक्तियों को अश्रद्धेय घोषित करना न्यायोचित न होगा । वायु पुराण का प्रथम संस्करण गुप्तकाल में प्रस्तुत हो चुका था । गुप्त वंश की साम्राज्य-सीमा का वर्णन करने वाली उक्त पुराण-पंक्तियाँ इस संस्करण में अवश्य वर्तमान रही होंगी । हर्ष-काल में वायु पुराण पर्याप्त रूप में जनप्रिय हो गया था । हर्ष-चरित में 'पवनप्रोक्त' पुराण का उल्लेख मिलता है ।[2] इससे तात्पर्य वायु-पुराण से है । कादम्बरी में एक स्थान पर इस पुराण का श्लेषात्मक सन्दर्भ प्राप्य है । इस ग्रन्थ में जाबालि के आश्रम-वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि केवल पुराण ही वायु-सम्बन्धी सम्भाषण करता था, किन्तु वायु-विकार-जनित रोगियों का उन्मत्त प्रलाप (डकारों का आना) नहीं सुनाई पड़ता था ।[3] इस गुप्तकालीन ग्रन्थ के साक्ष्य को गुप्त-राज्य-सीमा के सम्बन्ध में प्रामाणिक मान लेना चाहिए । परिच्छेदान्तर में आलोचित है कि वायु पुराण में वर्णित गुप्त वंश की साम्राज्य-सीमा (कोसल एवं प्रयाग से लेकर मगध तक प्रसरित) चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य-विस्तार को चरितार्थ करती है । इस नरेश ने कोसल एवं प्रयाग जनपद को अपने बाहुबल द्वारा जीत लिया था । उत्तरी बिहार (अर्थात् वैशाली जनपद) उसे कुमारदेवी के साथ विवाह के उपलक्ष में लिच्छवियों से प्राप्त हुआ था । अतएव अवशिष्ट भाग (अर्थात् मगध) उसका पैतृक राज्य रहा होगा । इस राजघराने के प्रारम्भिक दो नरेश (गुप्त एवं घटोत्कच) इसी भू-भाग में शासन करते रहे होंगे । अतएव गुप्त वंश के आदि राज्य का प्रतिनिधित्व मगध-क्षेत्र ही करता होगा । यही कारण है कि यह कुल मगध-राजवंश ('मागध') के नाम से सुप्रसिद्ध हो गया था ।

●●

---

१. "कोसलो नाम मुदितो स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, श्लोक ५

२. हर्षचरित, पृष्ठ १३२

३. 'पुराणे वायु-प्रलपितम्'—कादम्बरी, पृष्ठ ७३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

४

आदि नरेश

●

गुप्त—गुप्त-नरेश अपनी वंशावली महाराज श्रीगुप्त से प्रारम्भ करते थे। अतएव यह सोचना नितान्त स्वाभाविक ही है कि इस राजकुल का प्रथम नरेश वही था। यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि उसका वास्तविक नाम श्रीगुप्त था अथवा गुप्त। एलन एवं डॉ० जायसवाल का कथन है कि उसका नाम केवल गुप्त ही रहा होगा। 'श्री' तो एक सम्मानसूचक शब्द है, जो कि अभिलेखों में गुप्त वंश के सभी नरेशों के नाम के साथ संयुक्त मिलता है। पुराणों में इस कुल के शासकों को 'गुप्तवंशजाः' (गुप्त की सन्ततियाँ) कह कर इस तथ्य का समर्थन किया गया है कि इसके संस्थापक का नाम गुप्त ही रहा होगा। परन्तु दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि उसका वास्तविक नाम श्रीगुप्त रहा हो। गुप्त नाम तो अपूर्ण सा प्रतीत होता है। लगता है कि पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिए सम्मानसूचक श्री शब्द नहीं जोड़ा गया। ऐसी दशा में उसका नाम श्री-श्रीगुप्त हो जाता। इस नरेश का कोई स्वतन्त्र लेख नहीं प्राप्त हो सका है। उसके उत्तराधिकारियों के लेख भी उसकी उपलब्धियों पर प्रकाश नहीं डालते। अतएव इसके जीवन-चरित के विषय में हमारी सूचना अत्यल्प रह जाती है। अनुमानतः उसने २७५ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया होगा। इसके नाम की दो मुद्राएँ (मुहरें) प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक के ऊपर मिश्रित संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुतस्य' लेख प्राप्य है, जो 'गुप्तस्य' का समानार्थी है। दूसरी मुद्रा में संस्कृत में 'श्रीगुप्तस्य' लेख उपलब्ध होता है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि ये दोनों मुद्राएँ इसी नरेश की रही होंगी। परन्तु इस निष्कर्ष से सहमत होना क्लिष्ट है। पहली मुद्रा किसी साधारण नागरिक की भी हो सकती है, क्योंकि नाम के साथ कोई राजकीय उपाधि अथवा आदर-सूचक शब्द संयुक्त नहीं है। दूसरी बात है कि लेख की भाषा प्राकृत-प्रभावित है। गुप्त वंश के नरेश अपने लेखों में एकमात्र संस्कृत का ही प्रयोग करते थे। उनकी अभिलेख-परम्परा के अनुसार प्राकृत के शब्दों का बहिष्कार किया जाता था। इस नरेश के साथ दूसरी मुद्रा के श्रीगुप्त का समीकरण भी संदिग्ध लगता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America HHFA(USA)

महाराज की उपाधि—गुप्त वंश के राजकीय अभिलेखों में इस नरेश के लिए 'महाराज' उपाधि प्रयुक्त है। भारतवर्ष में यह उपाधि तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी में प्रायः चक्रवर्ती सम्राटों द्वारा भी धारण की जाती थी। वाकाटक वंश के नरेश प्रवरसेन प्रथम ने जिसे अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, बृहस्पतिसव एवं साद्यस्क्रका आदि महायज्ञों के प्रवर्तन का श्रेय था—केवल 'महाराज' की ही उपाधि धारण की थी। प्रवरसेन द्वितीय की चमक-प्रशस्ति में उसे 'वाकाटकानां महाराजश्रीप्रवरसेन' कहा गया है। इस अभिलेख में रुद्रसेन प्रथम, पृथिवीषेण तथा रुद्रसेन द्वितीय को केवल 'महाराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है, जब कि वे स्वतन्त्र एवं चक्रवर्ती शासक थे। यही परम्परा भारशिव-राजवंश में भी प्रचलित थी, जिसने दस अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान किया था (दशाश्वमेधावभृथ-स्नातानाम्)। इस कुल के सुप्रसिद्ध नरेश भवनाग ने—जिसका वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम दौहित्र होता था—'महाराज' की उपाधि धारण की थी। परन्तु इसी समय गुप्त-कुल में एक दूसरी परम्परा प्रचलित हो गई थी। इस वंश के अभिलेखों में महाराज एवं महाराजाधिराज की उपाधियों में विभेद स्थापित किया गया है। गुप्त-कुल की लेख-परम्परा के अनुसार महाराज उपाधि अधीनस्थ एवं महाराजाधिराज की उपाधि चक्रवर्त्ती नरेश का द्योतन करती थी। लगता है कि गुप्तों ने इस प्रथा को शकों से अपनाया था, जिनमें 'क्षत्रप' एवं 'महाक्षत्रप' की उपाधियों का प्रचलन था। उत्तरी भारतवर्ष में गुप्त वंश के उपरान्त के राजवंशों ने भी उपर्युक्त दोनों उपाधियों (अर्थात् 'महाराज' एवं 'महाराजाधिराज') में विभेद स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था; यथा मौखरि एवं वर्द्धन वंश।

गुप्त वंश के संस्थापक के लिए महाराज की उपाधि का प्रयोग उसे सामन्त प्रमाणित करता है। यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न उपस्थित होता है कि वह किस शक्ति की अधीनता स्वीकार करता था। प्रमाणाभाव के कारण इस विषय में मतभेद है। कतिपय विद्वानों (सिलवाँ लेवी एवं सुधाकर चट्टोपाध्याय) का अनुमान है कि वह मुरुण्डों का अधीनस्थ रहा होगा। फ्लीट एवं राखालदास बनर्जी ने उसे शकों का सामन्त माना है। काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार वह लिच्छवियों की अधीनता स्वीकार करता था।

सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इस बात की ओर इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है कि विश्वस्फणि नामक एक नरेश ने गुप्तों के आविर्भाव-काल में उत्तरी भारतवर्ष में शासन किया था। उसकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में **पुराणों** (वायु एवं विष्णु) में निम्नलिखित पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"मागधनां महावीर्य्यो विश्वस्फणिर्भविष्यति ।
उत्साद्य पार्थिवान्सर्वान्सोऽन्यान्वर्णान्करिष्यति ॥
कैवर्त्तान्पञ्चकांश्चैव पुलिन्दान्ब्राह्मणांस्तथा ।
स्थापयिष्यति राजानो नाना-देशेषु ते जना ॥
विश्वस्फणिर्महासत्त्वो युद्धयते विष्णुसमो बली ।
विश्वस्फणिर्नरपतिः क्लीवासन्ततिरुच्यते ॥
उत्सादयित्वा क्षत्रं तु क्षत्रमन्यत्करिष्यति ।
देवान्पितॄंश्च विप्रांश्च तर्पयित्वा सकृत्पुनः ॥
जाह्नवीतीरमासाद्य शरीरं यंस्यते बली ।
संन्यस्य स्वशरीरं तु शक्रलोकं गमिष्यति ॥"[1]

"मगध के नरेशों में विश्वस्फणि अत्यन्त शूर-वीर शासक होगा, जो समस्त राजाओं का उन्मूलन करके अन्य जातियों को राज्याभिषिक्त करेगा । उदाहरणार्थ कैवर्त्त, पञ्चक, पुलिन्द तथा ब्राह्मण आदि को वह नाना क्षेत्रों का शासक नियुक्त करेगा । महापुरुषार्थी वह विश्वस्फणि विष्णु-तुल्य बलवान एवं योद्धा होगा । परन्तु उस राजा की सन्तति क्लीव थी । विश्वस्फणि प्राचीन क्षत्रिय-राजकुलों का विनाश कर नवीन क्षत्रिय राजवंशों की स्थापना करेगा । पितर, देव एवं विप्रों का तर्पण कर वह महापुरुषार्थी गंगा-नदी में कूद कर अपना प्राण त्याग देगा तथा स्वर्ग-लोक पहुँच जाएगा ।" सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार विश्वस्फणि नाम विदेशी लगता है । सम्भव है कि इससे तात्पर्य किसी मुरुण्ड-नरेश से हो । प्रयाग की प्रशस्ति के साक्ष्य से विदित होता है कि गुप्तों के आविर्भाव-काल में मुरुण्ड भारतवर्ष में राज्य कर रहे थे । पुराणों में विश्वस्फणि का नामोल्लेख गुप्त वंश के वर्णन के पूर्व हुआ है और इनमें उसे मगध का शासक कहा गया है । अतएव सम्भव है कि गुप्तों के अभ्युदय-काल में इस क्षेत्र में यही प्रतापी मुरुण्ड-राजा राज्य कर रहा हो और गुप्त वंश का संस्थापक वहाँ पर उसकी अधीनता स्वीकार करता हो ।

सिलवाँ लेवी ने जैन ग्रन्थों एवं चीनी साक्ष्य के आधार पर गुप्त वंश के प्रारम्भिक नरेशों को मुरुण्डों का सामन्त निर्दिष्ट किया था । प्रभावकचरित के पादलिप्त-प्रबन्ध में कथा आती है कि पाटलिपुत्र का मुरुण्ड-राजा महती शिरोवेदना से पीड़ित था । पादलिप्त नामक राजवैद्य ने बड़ी ही सफलता के

---

१. पार्जिटर, एफ० ई०, दी पुराण टेक्स्ट ऑफ दी डाइनेस्टीज ऑफ दी कलिएज, पृष्ठ ५२-५३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

साथ उसके इस रोग का निदान किया था। आवश्यक-वृहद्वृत्ति नामक एक अन्य जैन ग्रन्थ में पाटलिपुत्र के मुरुण्ड-नरेश का उल्लेख मिलता है। उसने अपना एक राजदूत पुरुषपुर (पेशावर) भेजा था। वहाँ पर उसके विश्राम की व्यवस्था सम्राट् के मन्त्री के निवास-स्थान पर की गई थी। उक्त ग्रन्थ के अनुसार यह नगर उस समय बौद्ध श्रमणों से परिपूर्ण था। उक्त राजदूत जैन मत का कट्टर अनुयायी था अतएव बौद्ध भिक्षुओं को वह घृणा की दृष्टि से देखता था। जब भी वह राजदूत राजप्रासाद को जाने के निमित्त अपने विश्राम-गृह से बाहर निकला, उसे कोई बौद्ध श्रमण दृष्टिगोचर हो जाता था। इसे अशुभ दर्शन मानने के कारण उसे अपनी यात्रा स्थगित कर देनी पड़ती थी।[1] उपर्युक्त दोनों जैन ग्रन्थों के द्वारा मगध-क्षेत्र पर (जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र-नगरी थी) मुरुण्डों का आधिपत्य प्रमाणित हो जाता है।

गुप्तों के आविर्भाव-काल में मगध पर मुरुण्डाधिपत्य सिद्ध करने के निमित्त सिलवाँ लेवी ने एक चीनी विवरण को आधार बनाया है। इसके अनुसार वू वंश के राज्य-काल (२२०–२७७ ई०) में कम्बुज (फूनन) के फान-चेन नामक नरेश ने सु-वू नामक अपना एक राजदूत भारतवर्ष भेजा था। वह लगभग एक वर्ष की यात्रा की समाप्ति के उपरान्त तिएन-चू (भारतवर्ष) पहुँचा था। सबसे पहले यह राजदूत अपने साथियों सहित बड़ी नदी ('ग्रेट रीवर') के मुहाने पर पहुँचा। लगता है कि यह राजदूत-मण्डल बंगाल के पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) के बन्दरगाह पर पहुँचा होगा। दक्षिणी-पूर्वी एशिया के साथ सारा यातायात एवं जहाजरानी का काम इसी बन्दरगाह के माध्यम से सम्पन्न होता था। 'ग्रेट रीवर' का समीकरण गंगा नदी के साथ किया जा सकता है, जिसका स्थान हिन्दुओं के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण था। वहाँ से नदी की धारा के विरुद्ध ७००० 'ली' (लगभग १२०० मील) की दूरी तय करने पर वह भारत-नरेश की राजधानी में पहुँचा। वहाँ पर उसका भव्य स्वागत हुआ और उसके विश्राम की यथोचित व्यवस्था की गयी।

इसके उपरान्त भारत-सम्राट् ने इसके बदले में अपना राजदूत-मण्डल बहुमूल्य उपहारों के साथ कम्बुज (कम्बोडिया) भेजा था। इसका नायक चेन-सांग नामक व्यक्ति था। इस मण्डल के साथ यू-ची जाति के चार सुन्दर घोड़े भी भेजे गये थे। उसी समय वू-वंश के नरेश ने कांगताई नामक अपना राजदूत कम्बोडिया (फूनन) भेजा था। फलतः चेन-सांग एवं उसके साथियों से

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ ११७-१८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसकी भेंट हो गयी। उनसे पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि तत्कालीन भारतीय नरेश मुरुण्ड (मेउलुन) जाति का था। उसकी भव्य राजधानी दो सुरक्षा-भित्तियों (प्राकार) द्वारा परिवेष्ठित थी। उसका राज्य उर्वर एवं सम्पन्न था। उसके निवासी अत्यन्त ईमानदार एवं अतिथि-परायण थे। उन लोगों की आस्था बौद्ध धर्म में विशेष रूप से थी। सिंचाई की सुविधा के निमित्त उसके राज्य में नहरों का जाल बिछा हुआ था। उसमें वर्तमान ग्राम, नगर, सड़कें, मन्दिर तथा धर्मशालाएँ आदि आकर्षक एवं रमणीय थीं। राजमहल की छटा विशेष रूप से अश्चर्यजनक थी। इसकी भीतरी दीवालों पर सोने एवं चाँदी की भाँति चमकता लेप चढ़ाया गया था और नक्काशी एवं पच्चीकारी का काम सुन्दर ढंग से किया गया था। कनिंघम एवं सिलवाँ लेवी ने मुरुण्ड-राजधानी की पहचान गंगा-तट पर स्थित पाटलिपुत्र से की है, जो तृतीय शताब्दी में (अर्थात् उक्त राजदूत-मण्डल के आगमन के समय) भारतवर्ष का 'अग्रनगर' (सबसे श्रेष्ठ पुर) था। उपर्युक्त चीनी विवरण के अनुसार मुरुण्ड-राजधानी दो प्राकारों के द्वारा परिवेष्ठित थी। पतंजलि के अनुसार पाटलिपुत्र-नगर एक से अधिक सुरक्षा-भित्तियों द्वारा परिवेष्ठित था (पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः)। चीनी साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय शताब्दी के अन्तिम चरण (अर्थात् गुप्त वंश के अभ्युदयकाल) में मुरुण्ड मगध-क्षेत्र के चक्रवर्त्ती शासक थे। हम पहले विचार कर चुके हैं कि गुप्तों के मूल-राज्य का प्रतिनिधित्व मगध-प्रदेश ही करता था। अतएव स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि गुप्त-वंश का संस्थापक (महाराज श्रीगुप्त) मुरुण्डों का ही अधीनस्थ शासक रहा होगा।[1]

सिलवाँ लेवी एवं सुधाकर चट्टोपाध्याय के तर्कों के सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता है। यदि 'ग्रेट रीवर' (विशाला नदी) से तात्पर्य हम गंगा नदी से मान लें, तो भी यह भूलना नहीं चाहिए कि इसके मुहाने से धारा के विरुद्ध बारह सौ मील (सात हजार ली) की दूरी पाटलिपुत्र के विषय में चरितार्थ न होकर कान्यकुब्ज के विषय में कहीं अधिक लागू होती है। यह नगर गंगा के ही तट पर स्थित था और भारतवर्ष का 'महोदय-नगर' (समृद्धपुर) कहा जाता था। गुप्तकालीन चीनी यात्री फाहियान ने इसे वैभवशाली नगरी के रूप में उल्लिखित किया है।[2] इस नगर में मुरुण्ड किसी समय शासन अवश्य

---

१. सिलवाँ लेवी के मत के लिए द्रष्टव्य, सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ ११७-१८

२. लेग्गे, ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान, पृष्ठ ५४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करते होंगे। जैन सिंहासनद्वात्रिंशिका के अनुसार वहाँ पर मुरुण्ड-नरेश राज्य करता था। इसके द्वारा शासित भू-भाग में तीन लाख साठ हजार नागरिक रहते थे। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि चीनी विवरण में उल्लिखित मुरुण्ड-राजधानी से तात्पर्य मथुरा से हो, जो जमुना के तट पर स्थित है। प्रयाग के उपरान्त गंगा एवं जमुना की धाराएँ एक हो जाती हैं। अतएव विदेशी लेख में 'ग्रेट रीवर' (महती नदी) से अर्थ जमुना से भी हो सकता है। हरिवंश के अनुसार अर्द्धचन्द्राकार यह पुरी यमुना के तट पर सुशोभित थी।[1] इस नगर पर कई बार विदेशी आक्रमण हुए थे और उनमें से कतिपय ने उस पर राज्य भी किया था।

विश्वस्फणि नाम उसे विदेशी नहीं प्रमाणित करता। यह एक भारतीय शब्द है, जिसका अर्थ 'विश्व-विजेता' होता है। विश्वस्फणि के विषय में पुराणों में वर्णित उपलब्धियाँ समुद्रगुप्त की कृतियों से समानता रखती हैं। इनमें विश्वस्फणि की क्लीव-सन्तति का उल्लेख मिलता है, जो समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त का स्मरण दिलाती है जिसका व्यवहार देवीचन्द्रगुप्तम के अनुसार 'क्लीव-जनोचित' था। विश्वस्फणि को सम्पूर्ण राजाओं का उन्मूलन करने वाला कहा गया है (उत्साद्य पार्थिवान्सर्वान्)। ये शब्द समुद्रगुप्त की 'सर्वराजोच्छेता' का स्मरण दिलाते हैं। पुराणों के अनुसार विश्वस्फणि राजवंशों का स्थापन-कर्त्ता था (**स्थापयिष्यति राजानो**)। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को बहुत से राज्य-च्युत वंशों को पुनः अपने अधिकार-क्षेत्रों में वापस करने वाला कहा गया है (अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्न-राजवंश-प्रतिष्ठापनोद्भूत-निखिल-भुवन-विचरण-शान्त-यशसः)। सर्वाधिक विचारणीय तथ्य यह है कि गुप्तों के आविर्भाव काल में गंगा-घाटी के किसी भी भाग पर मुरुण्डों का आधिपत्य नहीं था। प्रयाग की प्रशस्ति के अन्तः साक्ष्य से स्पष्ट है कि उस समय वे पश्चिमोत्तर भारतवर्ष में कहीं शासन करते थे।

फ्लीट का मत है कि वह शकों का सामन्त रहा होगा। उनके अनुसार महाराज गुप्त एवं घटोत्कच तथा कुछ समय तक स्वयं चन्द्रगुप्त प्रथम भी गुप्तों की अधीनस्थता में राज्य करता था।[2] राखालदास बनर्जी का अनुमान है कि

---

१. "अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुना-तीर-शोभिता"—हरिवंशपर्व, अध्याय ५४

2. "There can be but little doubt that the real paramount lords of the Maharaja Gupta and Ghatotkacha and at first of Chandragupta I himself, were some of the later Indo-Scythian kings of Northern India, whose duration is certain at any rate up to the time of Samudragupta". —का पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, जिल्द ३, पृष्ठ १३३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ईसा की आदिम तीन शताब्दियों में मगध पर शकों का आधिपत्य था। प्रतिभाशाली चन्द्रगुप्त प्रथम ने पहली बार उसे उनके शिकंजों से उन्मुक्त किया था।[1] वे विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि मुद्रा-साक्ष्य के अनुसार तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी के मध्य तक शक गुजरात, काठियावाड़ एवं पश्चिमी मालवा में शासन कर रहे थे। उसके पूर्व में पद्मावती, विदिशा एवं अहिच्छत्र के नाग-राज्य तथा वैशाली के लिच्छवियों का राज्य क्रमानुसार स्थित थे। इस स्पष्ट राजनीतिक स्वरूप के सामने रहते हुए भी यह अवधारणा बना लेना कि पूर्वी पाकिस्तान के तुल्य उपर्युक्त युग में भी बिना किसी मध्यवर्ती संयोजक पथ के कोई पूर्वी शक-राज्य (मगध-क्षेत्र में स्थित) भी था, एक ऐतिहासिक भूल होगी। अतएव फ्लीट एवं बनर्जी महोदयों के मत से सहमत होना दुष्कर हो जाता है।

विन्सेन्ट स्मिथ एवं काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार महाराज गुप्त लिच्छवियों का सामन्त रहा होगा। जयदेव द्वितीय के नेपाल-लेख (संवत्सर १५३) के अनुसार उसके पूर्वज जयदेव प्रथम के तेईस पीढ़ी पहले सुपुष्प लिच्छवि पाटलिपुत्र में रहता था (पुष्पपुरे कृती)। फ्लीट महोदय का कथन है कि नेपाल के लेखों में तिथियाँ गुप्त-संवत में दी गई हैं। उनके मत का समर्थन करते हुए डॉ० जायसवाल इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सुपुष्प लिच्छवि मगध (पाटलिपुत्र) में ईसा की प्रथम शताब्दी में राज्य करता था तथा तब से गुप्तों के आविर्भाव-काल तक लिच्छवि मगध के सार्वभौम शासक थे। पाटलिपुत्र का ही अन्य सुप्रसिद्ध नाम पुष्पपुरी भी था। दण्डिन् के दशकुमारचरित में इस नाम का उल्लेख हुआ है (पुष्पपुरी नाम नगरी)।

स्मिथ ने विद्वानों का ध्यान 'राजा-रानी' वर्ग की सुवर्ण-मुद्राओं की ओर आकृष्ट किया है, जिसके मुख भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम एवं उसकी महिषी (लिच्छवि-राजकन्या) कुमारदेवी के चित्र उनके नामों-सहित प्राप्य हैं। विचारणीय है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के नाम के पूर्व कोई सम्मानसूचक शब्द नहीं है। इसके प्रतिकूल कुमारदेवी के नाम के पूर्व श्री शब्द संयुक्त है। इस कोटि की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर 'लिच्छवयः' लेख प्राप्य है। विचारणीय यह है कि इस ओर गुप्तों का कोई भी उल्लेख नहीं है। इससे प्रतिपादित होता है कि

---

1. "Chandragupta simply drove out the Scythians and gave independence to the province of Magadha after three centuries of subjection and foreign oppression".
--एज ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़, पृष्ठ ३-५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य-काल के प्रारम्भ में लिच्छवियों का स्थान प्रधान तथा तुलनात्मक दृष्टि से गुप्तों का स्थान गौण था। ये मुद्राएँ इस बात की द्योतक हैं कि प्रारम्भ में गुप्त वंश के लोग लिच्छवियों की अधीनता स्वीकार करते थे।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रथम तर्क ऐतिहासिक दृष्टि से श्रद्धेय नहीं है। उक्त नेपाल-लेख का 'पुष्पपुरे कृती' पाठ समीचीन नहीं है। नॉली (Gnoli) महोदय ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि इसका शुद्ध पाठ 'पुष्पशराकृती' होना चाहिए। इससे अभिप्राप्य यह है कि सुपुष्प लिच्छवि कामदेव-तुल्य सुन्दर था। इस प्रकार का उल्लेख गुप्त-अभिलेखों में भी आता है। उदाहरणार्थ मालव संवत् ५२९ के मन्दसोर-अभिलेख में बन्धुवर्मा को शृङ्गार-रहित होने पर भी कामदेव-तुल्य सुन्दर कहा गया है।[1] 'पुष्पशराकृती' पाठ गुप्त-अभिलेखों में प्रचुर रूप से प्राप्य है। अतएव अशुद्ध पाठ 'पुष्पपुरे कृती' के आधार पर मगध (पुष्पपुर=पाटलिपुत्र) के ऊपर लिच्छवियों का आधिपत्य प्रमाणित करना समुचित नहीं होगा। परन्तु उक्त मत से सम्बन्धित द्वितीय प्रमाण महत्त्वपूर्ण है। परिच्छेदान्तर में आलोचित है कि गुप्तवंश के लोग लिच्छवियों के अत्यन्त ऋणी थे। वस्तुतः लिच्छवि-राज्य की प्राप्ति ने ही गुप्तों की महानता के लिए मार्ग प्रस्तुत किया था। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त अपने को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहने में गर्व का अनुभव करता है। यह उल्लेख लिच्छवियों की प्रधानता एवं उनके राजनीतिक प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता है। इस वैवाहिक सम्बन्ध को गुप्तवंशीय नरेशों ने कई पीढ़ियों तक स्मरण रखा। यहाँ तक कि कुमारगुप्त तृतीय के भितरी के राजमुद्रा-लेख में भी इस सम्बन्ध का उल्लेख आता है। इन प्रमाणों से निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक नहीं होगा कि चन्द्रगुप्त प्रथम के पहले गुप्त-वंश के शासक, लिच्छवियों के ही अधीनस्थ थे। कुमारदेवी के साथ विवाहोपरान्त समस्त लिच्छवि-राज्य चन्द्रगुप्त प्रथम को प्राप्त हो गया तथा परिणामस्वरूप गुप्तों का अधिकार-क्षेत्र अकस्मात् पर्याप्त रूप में विस्तृत हो गया। इस काल से उनकी अधीनस्थ स्थिति समाप्त हो गई तथा अपने नवीन राजनीतिक प्रभावाधिक्य के कारण उन्होंने महाराजाधिराज की उपाधि को धारण करना प्रारम्भ कर दिया।

घटोत्कच—महाराज गुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच

---

१. "कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च
राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः।
शृंगारमूर्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि
रूपेण यः कुसुमचाप इव द्वितीयः॥"—श्लोक संख्या २७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सिंहासनारूढ़ हुआ, जो इस राजवंश का द्वितीय नरेश माना जाता है। प्रभावती-गुप्ता के पूना वाले ताम्रलेख में घटोत्कच को 'गुप्तादिराज (गुप्त वंश का प्रथम शासक) उल्लिखित किया गया है। इसी प्रकार प्रवरसेन द्वितीय के रिठपुर के लेख में भी उसे गुप्तानामादिराजो' कहा गया है। इससे सहसा यह निष्कर्ष निकाल लेना कि घटोत्कच ही गुप्त वंश का प्रथम शासक था, समुचित नहीं होगा। उक्त दोनों अभिलेख वाकाटक-वंश द्वारा उत्कीर्ण कराए गए थे। उनके राजकीय प्रशस्तिकारों को गुप्तवंशावली का उतना वास्तविक ज्ञान नहीं था। गुप्त-वंशावलियों में समुद्रगुप्त को स्पष्ट शब्दों में सर्वदा महाराज गुप्त का प्रपौत्र तथा घटोत्कच का पौत्र कहा गया है। इससे प्रकट है कि घटोत्कच महाराज गुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र एवं अपने वंश का द्वितीय सम्राट् था।

विद्वानों (विशेष रूप से एलन) का अनुमान है कि उसने सम्भवतः ३०० ई० से लेकर ३१९–२० ई० तक शासन किया था। अपने पिता के तुल्य उसने भी केवल 'महाराज' की ही उपाधि धारण की थी। अतएव उसकी राजनीतिक स्थिति महाराज घटोत्कच के तुल्य रही होगी। लगता है कि वह भी लिच्छवियों की अधीनता में राज्य करता था। इसका भी कोई स्वतंत्र अभिलेख प्राप्त नहीं हो सका है। उसके उत्तराधिकारियों के लेख भी उसकी उपलब्धियों पर प्रकाश नहीं डालते। अतएव उसकी कृतियों के विषय में इतिहासकारों का परिचय दुर्भाग्यवश अपूर्ण रह जाता है। ब्लाख महोदय ने इस नरेश की पहचान भ्रम-वश वैशाली की मुद्रा के घटोत्कचगुप्त से कर दिया था। यह तादात्म्य सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका नाम केवल घटोत्कच था न कि घटोत्कच-गुप्त। वैशाली की मुद्रा का घटोत्कचगुप्त कोई गुप्त-वंशीय राजकुमार था, जो कि तीरभुक्ति (जिसकी राजधानी उपर्युक्त नगरी थी) का राज्यपाल था। पाँचवीं शताब्दी (गु० सं० ११६ = ४३५–३६ ई०) के तुमैन (तुम्बवन = पूर्वी मालवा) के लेख में घटोत्कचगुप्त नामक एक गुप्त-वंशीय राजकुमार का उल्लेख प्राप्य है। उसके नाम के पूर्व चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम का भी नामोल्लेख इस अभिलेख में आता है। इससे लगता है कि वह कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था। इस अभिलेख में इस नरेश की तुलना शरद-कालीन सूर्य से की गई है।[1] इसके अनुसार तुमैन (तुम्बवन) के कुछ नागरिकों ने वहाँ एक भव्य

---

१. "गुप्तान्वयानां वसुधेश्वराणां
समा-शते-षोडशवर्षयुक्ते ।
कुमारगुप्ते नृपतौ पृथिव्यां
विराजमाने शरदीव सूर्य्ये ॥" [सरकार, —वही, पृष्ठ २९९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मन्दिर का निर्माण किया था। लगता है कि वह कुमारगुप्त प्रथम के राज्य-काल में पूर्वी मालवा में राज्यपाल के रूप में राज्य कर रहा था। दिनेशचन्द्र सरकार ने उसकी एकता वैशाली की मुद्रा के घटोत्कचगुप्त के साथ स्थापित की है।[1] वैशाली की उपर्युक्त मुद्रा पाँचवीं शताब्दी की ज्ञात होती है। इस मुद्रा के साथ वहाँ से अन्य मुहरें भी मिली हैं जिनका समय यही है। तुमैन-अभिलेख के घटोत्कचगुप्त का काल भी यही था। सम्भव है कि उसने कुछ समय तक पूर्वी मालवा और किञ्चित् काल तक वैशाली में भी राज्यपाल के रूप में शासन किया था।

रमेशचन्द्र मजुमदार का अनुमान है कि घटोत्कच अपने पिता से अधिक प्रभावशाली रहा होगा। रींवा जिला में स्थित सुपिया से प्राप्त लेख (गुप्त संवत् १५१ = ४७१ ई०) में गुप्त-वंश को 'घटोत्कच-वंश' कहा गया है। इससे संकेत मिलता है कि वह अपने कुल का प्रथम नरेश था जिसे उसको विशेष प्रसिद्धि में लाने में सफलता प्राप्त हो सकी थी।[2] कतिपय विद्वानों (प्रिंसेप तथा टामस) के अनुसार 'काच' मुद्राएँ घटोत्कच की ही हैं। 'काच' घटोत्कच के नाम का द्वितीयार्द्ध-सा लगता है। पर यह समीकरण यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन मुद्राओं के पृष्ठ-भाग पर सम्राट् की विरुद 'सर्वराजोच्छेता' (सम्पूर्ण नरेशों का उन्मूलन-कर्त्ता) उत्कीर्ण की गई है। यह अपने समय के सर्वशक्तिशाली सम्राट् की उपाधि रही होगी। घटोत्कच की उपाधि (महाराज) सूचित करती है कि वह एक साधारण शासक (सम्भवतः सामन्त) था। किसी सामन्त द्वारा मुद्रा-प्रचलन की प्रथा का प्रारम्भ अचिन्तनीय सा लगता है। घटोत्कच नाम संक्षिप्त करने पर 'कच' बन सकता है, न कि काच।[3] सेण्ट पीटर्सबर्ग (लेनिन-ग्रैड) संग्रहालय में एक सुवर्ण-मुद्रा प्राप्य है, जिस पर राजा का नाम 'घटो' उत्कीर्ण है। बनावट एवं लिपि के आधार पर यह किसी गुप्त-नरेश की मुद्रा लगती है। मुद्रा के मुख-भाग पर प्रभा-मण्डल-युक्त राजा का चित्र बाईं ओर प्राप्य है। वह अपने बाएँ हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण धारण किए हुए प्रदर्शित किया गया है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे उसका नाम 'घटो' अंकित मिलता है। उसके दाएँ हाथ के नीचे गरुड़ध्वज का अंकन किया गया है। मुद्रा के इसी ओर एक वर्तुलाकार लेख भी खुदा हुआ था, जिसके अक्षर

---

१. सरकार, वही, पृष्ठ २९९, पाद-टिप्पणी १
२. क्लैसिकल एज, पृष्ठ २, पाद टिप्पणी ५
३. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता इम्पायर, पृष्ठ ७९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिट गए हैं। पृष्ठ-भाग की ओर पद्मासीन एवं प्रभामण्डलयुक्त लक्ष्मी की आकृति तथा राजा की उपाधि 'क्रमादित्य' भी अंकित हैं। उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही यह मुद्रा गुप्त-वंश के द्वितीय नरेश घटोत्कच की मुद्रा नहीं मानी जा सकती। लगता है कि यह तुमैन के लेख (गु० सं० ११६ = ४३५-३६ ई०) के घटोत्कचगुप्त की ही मुद्रा है।[1] जब तक कोई और स्पष्ट प्रमाण नहीं मिल जाता, तब तक इसी मत को हम एक सम्भावित तथ्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

●●

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता इम्पायर, पृष्ठ २ तथा २६४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

५

चन्द्रगुप्त प्रथम

●

गुप्त-वंशावलियों में महाराज घटोत्कच के उपरान्त चन्द्रगुप्त प्रथम का नामोल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वह उसका उत्तराधिकारी पुत्र एवं इस राजवंश का तृतीय नरेश था। गुप्त वंश में सर्वप्रथम इसी नरेश ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी, जिससे उसकी महानता एवं स्वतन्त्रता अभिव्यक्त होती है। वस्तुतः इसी सम्राट् के समय में गुप्त-वंश ने उत्तरी भारतवर्ष में सबसे पहले सार्वभौम सत्ता एवं तत्कालीन राजमण्डल में विशेष ख्याति अर्जित की थी। दुर्भाग्यवश उसका कोई निजी लेख या प्रशस्ति अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सकी है। परिणामतः उसकी उपलब्धियों एवं तत्कालीन घटनाओं के विषय में हमारी जानकारी अत्यल्प रह जाती है। उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में उसका नाम केवल वंशावली वाले भाग में ही प्राप्य है। उसकी विजयों एवं सफलताओं के विषय में इन लेखों के आधार पर विशद सूचनाएँ नहीं प्राप्त हो सकतीं। तथापि यत्किञ्चित उपलब्ध पुरातत्त्वीय सामग्री द्वारा उसके जीवनचरित का पुनर्निर्माण हम कुछ निम्नलिखित ढंग से कर सकते हैं।

वैवाहिक-सम्बन्ध—लिच्छवियों के साथ गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्ध को उसके राज्य-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि जिस प्रकार हर्यंक-वंशी नरेश बिम्बिसार ने लिच्छवि-कन्या छलना के साथ विवाह कर 'प्रथम मगध-साम्राज्य' की नींव डाली थी, उसी भाँति चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि राजकन्या कुमारदेवी के साथ अपने विवाह द्वारा 'द्वितीय मगध-साम्राज्य' की स्थापना की थी। इस सम्बन्ध के विषय में सूचना एक विशेष प्रकार की सुवर्ण-मुद्राओं द्वारा प्राप्त होती है, जिसे 'विवाह-प्रकार', 'लिच्छवि-प्रकार' अथवा 'राजा-रानी-प्रकार' की संज्ञा प्रदान की जाती है। ये मुद्राएँ गाजीपुर, टाँडा, मथुरा, बनारस, अयोध्या, सीतापुर, लखनऊ तथा भरतपुर रियासत के बयाना नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं। इस कोटि की अब तक पच्चीस मुद्राएँ प्राप्त हैं, जिनमें नव ब्रिटिश संग्रहालय एवं छह लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत हैं। हाल ही में इस वर्ग की दस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मुद्राएँ बयाना-निधि से भी प्राप्त हुई हैं। इनमें मुख-भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम एवं उसकी महिषी कुमारदेवी के चित्र उनके नामों के सहित अंकित हैं। वह उसे विवाह की अँगूठी, सिन्दूरदानी अथवा कंकण के समर्पण करने के भाव में प्रदर्शित किया गया है। इनके पृष्ठ-भाग पर धराशायी सिंह अथवा सिंहासन की पीठ पर शुभासीन देवी की आकृति निरूपित है। इसी ओर 'लिच्छवयः' लेख भी प्राप्य है। इस वैवाहिक सम्बन्ध की सम्पुष्टि प्रयाग-प्रशस्ति द्वारा होती है, जिसमें उसे महादेवी कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न (महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य) तथा लिच्छवियों का नाती (लिच्छवि-दौहित्र) कहा गया है। इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि कुमारदेवी लिच्छवि-राजकन्या थी।

हम इस बात का निर्देश पहले ही कर चुके हैं कि यह विवाह राजनीतिक महत्त्व से परिपूर्ण था। इसके द्वारा उसे समस्त लिच्छवि-राज्य प्राप्त हो गया तथा उत्तर-पूर्व भारतवर्ष का वह चक्रवर्त्ती नरेश बन बैठा।[1] लिच्छवियों की राजनीतिक प्रतिष्ठा एवं प्रभाव तथा उपर्युक्त भौतिक लाभ के कारण ही समुद्रगुप्त प्रयाग-प्रशस्ति में अपने आप को लिच्छवि-दौहित्र' कहने में गर्व का अनुभव करता है। चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में गुप्तों की शक्ति एवं मर्यादा का जो अभूतपूर्व विकास हुआ, उसमें इस वैवाहिक सम्बन्ध का विशिष्ट योगदान था। इसके प्रतिकूल एलन महोदय का कथन है कि इस घटना का वास्तविक महत्त्व वस्तुतः सामाजिक दृष्टि से ही था। यह कथन समीचीन नहीं होगा कि उक्त घटना के फलस्वरूप गुप्त-वंश को प्रादेशिक उपलब्धि एवं भौतिक लाभों की प्राप्ति हुई थी। लिच्छवि-रक्त पर समुद्रगुप्त के दर्प का यथार्थ कारण लिच्छवियों की कुलीनता थी।[2] एलन के इस निष्कर्ष से सहमत होना क्लिष्ट है। इसके पहले हम देख चुके हैं कि लिच्छवि किसी उत्तम जाति के नहीं थे। यह सही है कि पालि-साहित्य में उनके लिए 'खत्तिय' शब्द आता है, परन्तु इससे उनका क्षत्रिय होना प्रमाणित नहीं होता। यह शब्द वस्तुतः राजसत्ता का बोधक है। यह स्थिति कुछ उसी प्रकार रही होगी जिस तरह उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में जमीदारों के लिए 'ठाकुर' शब्द का प्रयोग प्रचुर रूप में होने लगा था। इसके पहले गोस्वामी तुलसीदास ने 'ठाकुर' शब्द जमीदार के अर्थ में प्रयुक्त किया था (चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप)। बारहवीं शताब्दी के कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्र के मनेर के ताम्र-

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ २७९

२. कैटेलॉग ऑफ दी क्वायन्स ऑफ दि गुप्ता डाइनेस्टी, पृष्ठ १९ (प्रस्तावना)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लेख में मगध के ब्राह्मण जमीदार गणेश्वर शर्मा को ठक्कुर (ठाकुर) कहा गया है। वह काश्यप गोत्री था तथा उसके प्रवर काश्यप, अवत्सर एवं नैध्रुव थे। इस लेख के अनुसार मगध-विजय के उपलक्ष में गोविन्दचन्द्र ने मगध के मनियर परगने में स्थित 'पड़ली' नामक ग्राम को गणेश्वर शर्मा को दान में दिया था।[1] मनु ने लिच्छवियों को 'व्रात्य' कहा है। उनके अनुसार व्रात्य 'सावित्री' के अधिकार से वञ्चित एवं उपनयन-विहीन हुआ करते थे।[2] उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन भारतीय समाज में लिच्छवि अच्छे कुल के नहीं समझे जाते थे। थोड़ी देर के लिए यदि हम उन्हें क्षत्रिय मान भी लें, तो यथार्थतः इस जाति के न होकर वे स्वघोषित क्षत्रिय ही रहे होंगे। उनके राजनीतिक सम्प्रभुता के परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज ने उन्हें क्षत्रिय के रूप में स्वीकार कर लिया होगा, परन्तु अन्तर्मन से समसामयिक उन्हें इस जाति का मानने के निमित्त प्रस्तुत नहीं थे। तत्कालीन जगत् में लिच्छवि-ख्याति एक-मात्र उनके राजनीतिक महत्त्व पर ही अवलम्बित थी। जिस प्रकार मौखरि-राज्य एवं साधनों ने हर्षवर्द्धन के विकास के निमित्त मार्ग प्रस्तुत किया था, उसी भाँति लिच्छवियों ने चन्द्रगुप्त प्रथम की महानता एवं उत्थान के निमित्त सुन्दर पृष्ठभूमि प्रस्तुत की थी।

राजनीतिक शक्ति के रूप में लिच्छवियों की महत्ता गौतम बुद्ध के ही काल से चली आ रही थी। वे उनके बहुत बड़े प्रशंसक थे। उनकी राजधानी वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले में स्थित आधुनिक बसाढ़) की गणना बौद्ध ग्रन्थों में भारत-वर्ष के छह प्रसिद्ध नगरों में की जाती थी। इस नगर का उल्लेख वाल्मीकि के रामायण में भी आता है। मिथिला जाते समय राम ने गंगा के उत्तरी तट पर खड़े होकर वैशाली को देखा था।[3] इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर स्वर्ग के समान

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द २, १९१६, पृष्ठ ४४६

२. "द्विजातयः सवर्णासु जनयंत्यव्रतांस्तु यान्।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥
झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्याल्लिच्छविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च॥"
—मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक २० एवं २२

३. "उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम्॥"
—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४५,५९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दिव्य तथा अत्यन्त रमणीय था ।[१] इस पुर के सम्बन्ध में रिज़ डेविड्स महोदय लिखते हैं कि गण-राज्यों के समस्त क्षेत्र में वैशाली ही ऐसा नगर था, जिसकी छठी शताब्दी ईसा पूर्व के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के विकास में बहुत बड़ी देन थी।[२] रामायण के अनुसार वैशाली-नरेश महात्मा, दीर्घायु, वीर्यवान् एवं धार्मिक थे।[३] जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी की यह जन्म-भूमि थी। यही कारण है कि इसे जैन-सूत्र में 'महावीरजननी' एवं महावीर को 'वैशालिक' अर्थात् वैशाली का निवासी बताया गया है ।[४]

बुद्ध-काल के उपरान्त भी लिच्छवियों की राजनीतिक ख्याति वर्तमान थी। यह सत्य है कि महत्त्वाकांक्षी अजातशत्रु ने उनके उन्मूलन की चेष्टा की, तथापि वह अपनी योजना में सफलीभूत नहीं हो सका। उनका उल्लेख कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र एवं मनुस्मृति में प्राप्य है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध-काल के उपरान्त भी लिच्छिवि सुप्रसिद्ध थे। प्रथम शताब्दी के लगभग उन्होंने नेपाल में भी लिच्छवि-राज्य की स्थापना की थी। लगता है कि गुप्त-काल में दो लिच्छवि-राज्य थे—एक तो उत्तरी बिहार जिसकी राजधानी वैशाली में स्थित थी तथा दूसरा नेपाल में वर्तमान राज्य जिसका उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है। सिलवाँ लेवी ने एक चीनी लेख की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिसके अनुसार वु वंश के राज्यकाल (२२०-२७७ ई०) में फूनन (कम्बोडिया) के सम्राट् फान-चेन ने सु-वु नामक अपना राजदूत भारत भेजा था। फान-चेन का राज्य-काल गुप्तों का आविर्भाव-काल (तृतीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध) लगता है। उक्त चीनी साक्ष्य के अनुसार वैशाली में उस समय कोई सबल शक्ति राज्य कर रही थी। स्पष्ट है कि यहाँ पर लिच्छवियों की ओर संकेत है, जो कि वहाँ के सुप्रसिद्ध शासक थे। इस समय भी वैशाली एक भव्य नगर था। चौथी शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान वहाँ आया था। उसने अपने विवरण में इस नगर की भी प्रचुर प्रशंसा की है।[५] वैवाहिक संबन्ध के द्वारा चन्द्रगुप्त प्रथम को लिच्छवियों का पहला राज्य (उत्तरी

---

१. "विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा"

—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४५, ११

२. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ ४१

३. "दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः"

—रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४५, १८

४. लेखक का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृष्ठ १४२

५. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ७२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

बिहार जिसकी राजधानी वैशाली थी) प्राप्त हुआ था। दूसरा राज्य (अर्थात् नेपाल में स्थित अधिकार-क्षेत्र) गुप्त-राज्य-सीमा के बाहर था। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इसे गुप्त-साम्राज्य का 'प्रत्यन्त' (सीमावर्ती) राज्य कहा गया है।

डॉ० अल्तेकर का कथन है कि लिच्छवि-राज्य के गुप्त-साम्राज्य में मिल जाने पर भी लिच्छवियों का प्रभाव गुप्त-शासन में कुछ समय तक बना रहा। संभव है कि लिच्छवियों के आग्रह पर उपर्युक्त वर्ग की मुद्राओं के मुख-भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम के अतिरिक्त कुमारदेवी की भी आकृति उत्कीर्ण की गई थी तथा पृष्ठ-भाग पर लिच्छवियों का (लिच्छवयः) नामांकन किया गया। कुछ लोगों को तो यहाँ तक सन्देह था कि किञ्चित् काल तक चन्द्रगुप्त प्रथम एवं कुमारदेवी ने साथ मिल कर राज्य किया था। अल्तेकर एवं आयङ्गर भी इस बात से सहमत हैं कि राजा-रानी (विवाह) वर्ग की मुद्राओं तथा प्रयाग की प्रशस्ति में लिच्छवियों का उल्लेख उनके राजनीतिक महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। लिच्छवि-वंश में विवाह होने के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम का सम्राट्-पद पाना सम्भव हुआ तथा इसी समय उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर ली होगी।[1] लगता है कि कुमारदेवी के समय में लिच्छवियों के राज्य का गण-तन्त्रात्मक संघटन बहुत कुछ विघटित हो चला था और उसके स्थान पर उसने राजतन्त्रात्मक स्वरूप ग्रहण कर लिया था। यही कारण है कि राजकन्या कुमारदेवी पैतृक आधार पर लिच्छवि-राज्य की स्वामिनी बन गई और उसका चरमोत्कर्ष यहाँ तक पहुँचा कि लिच्छवियों का सम्पूर्ण अधिकार-क्षेत्र (उत्तरी बिहार) उसके पति चन्द्रगुप्त प्रथम को उपलब्ध हो गया।

गुप्त-मुद्रा के प्रवर्तक—राजा-रानी वर्ग (लिच्छवि-प्रकार) की मुद्राएँ गुप्त कुल की प्रथम मुद्राएँ मानी जाती हैं। विन्सेण्ट स्मिथ तथा अल्तेकर ने इनके प्रवर्तन का श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को दिया है और इस आधार पर गुप्त-मुद्रा का जन्मदाता इसी सम्राट् को माना है। परन्तु इसके विपरीत एलन का कथन है कि राजा-रानी वर्ग की मुद्राओं को समुद्रगुप्त ने प्रचलित किया होगा। उनके तर्कों का सार इस प्रकार है—

(१) समुद्रगुप्त की मुद्राएँ कुषाण-मुद्राओं के अनुकरण पर तैयार की गई थीं। पर राजा-रानी वर्ग की मुद्राओं में अधिक मौलिकता एवं नवीनता द्रष्टव्य है। यदि ये मुद्राएँ वास्तव में चन्द्रगुप्त प्रथम की ही हैं तो समुद्रगुप्त ने इस अभिनवता का परित्याग कर कुषाणों का अन्धानुकरण क्यों किया था ?

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ २२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(२) कुषाण-मुद्राओं के साथ गुप्तों का प्रथम परिचय समुद्रगुप्त के ही समय में संभव हुआ होगा। समुद्रगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य की सीमा को दिल्ली एवं पूर्वी पंजाब के कुछ हिस्सों तक प्रसरित कर दिया था। उस समय कुषाण उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में रहते थे। प्रयाग की प्रशस्ति में उन्हीं को 'दैवपुत्र-षाहि-षाहानु-षाहि' कहा गया है। इस लेख के अनुसार उन लोगों ने समुद्रगुप्त से अधीनस्थ मैत्री स्थापित की थी तथा उसकी गरुड़ध्वजांकित (गरुत्मदंक) राजाज्ञा को स्वीकार भी किया था। इस प्रकार इस नरेश के समय में गुप्त-वंश कुषाणों के निकट संपर्क में आ सका था, जिसके फलस्वरूप गुप्त-मुद्राएँ कुषाण-मुद्राओं की विशेषताओं से प्रभावित हुई होंगी।

(३) समुद्रगुप्त ने राजा-रानी वर्ग की मुद्राओं को अपने पिता के विवाह एवं अपने लिच्छवि-वंशज (लिच्छवि-दौहित्र) होने की स्मृति में प्रचलित किया होगा।[1]

अल्तेकर ने एलन के उपर्युक्त तर्कों के विरुद्ध जो प्रमाण दिये हैं, वे तर्कसंगत एवं प्रमाणदृष्ट हैं :—

(१) जो मुद्राएँ माता-पिता की स्मृति में किसी सम्राट् के द्वारा निर्मित की जाती हैं, उनके पृष्ठ-भाग के ऊपर वह अपना नाम अवश्य उत्कीर्ण करता है। इसके कतिपय ऐतिहासिक उदाहरण प्राप्त हैं। यथा ऐंटीमेकस तथा यूक्रेतिद की स्मारक-मुद्राओं के पृष्ठ-भाग पर उनका नाम उत्कीर्ण किया गया है। यदि राजा-रानी प्रकार की मुद्राएँ समुद्रगुप्त के द्वारा प्रचलित की गई थीं, तो वह भी अपना एक छोटा सा मुद्रा-लेख 'मातृपितृभक्तः समुद्रगुप्तः' अथवा 'पितर-पादानुध्यात-समुद्रगुप्तः' या 'पितर-पाद-परिगृहीत्-समुद्रगुप्तः' पृष्ठ-भाग पर दे सकता था।[2] उसके नाम का यह अभाव सूचित करता है कि उपयुक्त वर्ग के सिक्के समुद्रगुप्त के द्वारा नहीं चलाये जा सकते थे।

(२) कुषाण-मुद्राओं के साथ गुप्तों का परिचय चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में भी संभव था। व्यापार के संबन्ध में मुद्राएँ प्रायः एक राज्य से दूसरे राज्य में चली जाती थीं। मेनेण्डर (मिलिन्द) के सिक्के भड़ौंच (मृगुकच्छ) में पाये गये हैं, जो उसके राज्य के बाहर था। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित यह एक सुप्रसिद्ध बन्दरगाह था। जातकों में इसे 'भरुकच्छ' कहा गया है। टालमी एवं पेरिप्लस ने इसे 'वैरीगज़ा' एवं 'वैरुगाज़ा' कहा है। चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य

---

१. ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलॉग, पृष्ठ ११४-११८
२. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ २१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

में वैशाली एवं पाटलिपुत्र वाणिज्य-केन्द्र थे तथा अयोध्या, प्रयाग और गया तीर्थ-स्थान थे। अतएव कुषाण मुद्राएँ वहाँ जा सकती थीं। एक कुषाण-मुद्रा पाटलिपुत्र के कुमराहर नामक स्थान के उत्खनन में प्राप्त हुई थी।[1] कनिष्क की मुद्रा ताम्रलिप्ति में मिली है, जो पूर्वी समुद्र-तट का सबसे बड़ा भारतीय बन्दरगाह था। यहाँ तक कि रोम की मुद्राएँ भारत में मिली हैं। इसका एकमात्र कारण व्यापारिक सम्पर्क था।

(३) एलन महोदय स्वयं स्वीकार करते हैं कि राजा-रानी वर्ग की मुद्रा पूर्ण रूप से मौलिक नहीं है। इसके पृष्ठ-भाग पर सिंहवाहिनी देवी की आकृति मिलती है, जो कुषाण-मुद्राओं पर भी उत्कीर्ण है। इस मुद्रा में जो मौलिकता एवं अभिनवता मिलती है, उसका एक विशेष ऐतिहासिक कारण था। संभव है कि गुप्तों एवं लिच्छवियों के बीच कोई अनुबन्ध हुआ हो, जिसके अनुसार कुमारदेवी भी राज्य-संचालन में सम्मिलित होती। इस समझौते के कारण राजा-रानी प्रकार की मुद्रा के ऊपर कुमारदेवी का चित्र तथा नाम देना अनिवार्य हो गया। इंगलैंड के इतिहास में इसका एक उदाहरण मिलता है। १६८९ ई० में राज्य की वैधानिक उत्तराधिकारिणी मेरी थी। परन्तु वहाँ के संसद ने उसके पति विलियम तृतीय को राज्य करने के निमित्त आमन्त्रित किया। अनुबन्ध के अनुसार विलियम को केवल रानी का सहचर न माना गया, अपितु उसे राज्याधिकार-सहित सम्राट् की उपाधि भी प्रदान की गई। परिणामतः मेरी और विलियम के जीवन-काल की जितनी भी मुद्राएँ हैं, उन पर दोनों के नाम एवं आकृतियाँ उत्कीर्ण मिलती हैं।[2] डॉ० अल्तेकर के शब्दों में "लिच्छवि वंश के साथ राजनीतिक संबन्ध के कारण 'राजा-रानी प्रकार' के सिक्कों का प्रचलन अवश्यम्भावी था, क्योंकि उससे लोगों को साम्राज्य-स्थापन में लिच्छवियों के साहाय्य की भी कल्पना मिल सकती थी।[3]" इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि राजा-रानी वर्ग की मुद्राएँ वस्तुतः चन्द्रगुप्त प्रथम के द्वारा ही प्रचलित की गई थीं और गुप्त-मुद्रा-कला का वास्तविक जन्मदाता उसी को स्वीकार करना सर्वथा समीचीन होगा।

राज्य-विस्तार—गुप्त-सम्राटों में सबसे पहले चन्द्रगुप्त प्रथम ने विशेष रूप से राज्य-विस्तार किया था। लगता है कि उसका साम्राज्य पश्चिम में प्रयाग से

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ २१

२. वही, पृष्ठ २२

३. वही, पृष्ठ २३, इस विषय पर विशद सूचनाओं के निमित्त द्रष्टव्य—
अल्तेकर, दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्त एम्पायर, पृष्ठ २६-३८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लेकर पूर्व में मगध तक प्रसरित था। इस सम्बन्ध में निम्न तर्क दिय जा सकते हैं :—

(१) प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के समकालीन जिन राज्यों एवं उसके द्वारा पराजित जिन शक्तियों के नाम उल्लिखित हैं, वे प्रयाग के पश्चिम तथा मगध के पूर्व में पड़ते थे। इससे स्पष्ट है कि उसके पिता (चन्द्रगुप्त प्रथम) के राज्य का विस्तार पश्चिम में प्रयाग से लेकर पूर्व में मगध तक रहा होगा।

(२) इसकी पुष्टि पुराणों के साक्ष्य से भी हो जाती है। पार्जिटर ने विद्वानों का ध्यान इनमें प्राप्त एक श्लोक की ओर आकृष्ट किया है, जिस पर इसके पहले भी हम विमर्श कर चुके हैं—

"अनुगंगा प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान्जनपादन् सर्वान्भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।"

पार्जिटर ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—"गुप्त-वंश के नरेश इन सभी जनपदों का उपभोग करेंगे; उदाहरणार्थ गंगा के तट पर प्रयाग, साकेत तथा मगध।" यहाँ पर गुप्त-साम्राज्य की सीमाएँ पश्चिम में प्रयाग से लेकर पूर्व में मगध तक बताई गई हैं। प्रश्न यह उठता है कि यह साम्राज्य-सीमा किस गुप्त नरेश के काल की है। स्पष्ट है कि यह सीमा समुद्रगुप्त के समय की नहीं हो सकती। उसके साम्राज्य में पूर्वी मालवा, संपूर्ण उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के कुछ भाग भी सम्मिलित थे। हम पहले विचार कर चुके हैं कि पुराणों में उल्लिखित राज्य-सीमा घटोत्कच के काल की भी नहीं हो सकती थी। वह एक सामंत शासक था तथा कोई भी अधीनस्थ नरेश इतने विशाल साम्राज्य का अधीश्वर नहीं हो सकता था।

प्रायः सभी विद्वानों ने उपर्युक्त पौराणिक श्लोक से यही निष्कर्ष निकाला है। परन्तु डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार के अनुसार यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से अश्रद्धेय है। कतिपय पुराणों में 'गुप्तवंशजाः' के स्थान पर 'गुप्त', 'गुह्य', 'सप्त' तथा 'मणिधान्यजाः' पाठान्तर भी मिलता है। विष्णु पुराण में 'अनुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति' (अर्थात् गंगा नदी के किनार प्रयाग तक के क्षेत्र का मगध के लोग तथा गुप्त वंशज उपभोग करेंगे) पाठान्तर उपलब्ध है। जब इस श्लोक के विभिन्न पाठ मिलते हैं, तो इसके आधार पर कोई एक निश्चित निष्कर्ष निकालना असंभव हो जाता है। दूसरी बात है कि 'गुप्तवंशजाः' (गुप्त वंश के लोग) बहुवचन शब्द है। इससे तात्पर्य किसी एक निश्चित नरेश से नहीं है।[1] गुप्तों का

---

१. गुप्त वाकाटक एज, पृष्ठ १३४-१३५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लेख तीन पुराणों में मिलता है--विष्णु पुराण, वायु पुराण तथा भागवत पुराण। भागवत पुराण की तिथि गुप्त-काल के बहुत बाद की है, अतएव उसका साक्ष्य इस समय के इतिहास के हेतु बहुत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। विंटरनिट्ज़ का कथन है कि विष्णु पुराण पाँचवीं शताब्दी की रचना है। वायु पुराण की भी तिथि लगभग यही है। अतएव जिस राज्य-सीमा का वर्णन पुराणों में हुआ है, वह समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद की होगी।

पर यदि ध्यानपूर्वक रमेशचन्द्र मजुमदार के तर्कों की समीक्षा की जाय, तो उनके मत से सहमत होना कठिन हो जाता है। विष्णु पुराण तथा वायु पुराण में प्रायः सामान्य नरेशों के नाम आते हैं। यदि वे समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद लिखे गये होते, तो उनमें इन शक्तिशाली राजाओं का नामोल्लेख अवश्य होता। इन दोनों पुराणों में इन नरेशों के नाम का अभाव इस बात को सूचित करता है कि ये समुद्रगुप्त के काल के पहले लिखे गये थे। यद्यपि पुराणों में उपर्युक्त पाठान्तर मिलता है, तथापि जिस श्लोक की ओर पार्जिटर ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है वही पाठ पुराण-साहित्य में बहुधा प्राप्य है। इससे प्रतिपादित होता है कि यही पाठ अधिक शुद्ध एवं प्रामाणिक है, अतएव उससे कोई ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालना वास्तविक तथ्यों से रहित नहीं सिद्ध किया जा सकता। ऊपर इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि पुराणों के उपर्युक्त श्लोक से जिस साम्राज्य-सीमा का बोध होता है, उसकी समता में चन्द्रगुप्त प्रथम के पूर्वजों का राज्य-विस्तार छोटा था तथा उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमा निश्चयात्मक रूप से उससे कहीं अधिक बड़ी थी। अतएव इससे तात्पर्य चन्द्रगुप्त प्रथम की ही राज्य-सीमा से हो सकता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० मजुमदार की उपर्युक्त आशंका को अधिक महत्त्व देना न्यायोचित नहीं होगा।

विजय--हम पहले विचार कर चुके हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में गुप्त-साम्राज्य के विस्तार का सबसे बड़ा रहस्य लिच्छवियों के साथ गुप्तों का वैवाहिक संबन्ध था। रायचौधरी का अनुमान है कि इस नरेश ने ही प्रयाग को जीता होगा। उस समय वहाँ पर शासन करने वाले नरेशों के विषय में थोड़ा परिचय भीटा से प्राप्त कुछ लेखों के द्वारा होता है। इनमें से दो का नाम महाराज गौतमीपुत्र श्रीशिवमघ तथा राजन् वाशिष्ठीपुत्र भीमसेन था। मार्शल के अनुसार ये दूसरी वा तीसरी शताब्दी के शासक थे। शिवमघ का नाम मघों का स्मरण दिलाता है, जो कि कोसल में तृतीय शताब्दी में शासन करते थे। इस राजवंश के अन्तिम ज्ञात शासक का नाम महाराज गौतमीपुत्र वृषध्वज था। रायचौधरी का कथन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है कि संभवतः यह चतुर्थ शताब्दी के प्रारंभिक भाग का शासक था।[1] अतएव संभव है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में वही प्रयाग में शासन कर रहा हो।

राखालदास बनर्जी का कथन है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने मगध को शकों से जीता था। उसके पहले तीन शताब्दियों तक यह क्षेत्र शकों के आधिपत्य में था।[2] परन्तु यह मत भ्रान्तिमूलक है। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि मगध में गुप्तों का आदि राज्य था। अर्थात् इस वंश के लोग चन्द्रगुप्त प्रथम के पहले से ही वहाँ शासन कर रहे थे। दूसरी बात यह है कि गुप्तों के आविर्भाव के समय शक पश्चिमी मालवा तथा गुजरात में शासन करते थे। प्रयाग-प्रशस्ति के अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि गंगा-घाटी में उस समय उनकी सत्ता किसी रूप में भी नहीं थी। अतएव उसके द्वारा शकों से मगध को छीनने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय का कथन है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने मुरुण्डों को भी परास्त किया था। परन्तु इस मत से भी सहमत होना क्लिष्ट है। प्रयाग के स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि मुरुण्डों के मान-मर्दन का श्रेय उसके प्रतिभाशाली पुत्र समुद्रगुप्त को था। उसके समय की अन्तिम उल्लेखनीय घटना उसके द्वारा समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करना था।

गुप्त-संवत् का जन्मदाता—अधिकांश विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ही गुप्त संवत् का प्रवर्त्तक था। इस संवत् की प्रारंभ-तिथि के निर्धारण के विषय में गुप्त-अभिलेखों द्वारा सहायता प्राप्त होती है। इनमें आनेवाली कुछ प्रमुख तिथियाँ इस प्रकार हैं —

सम्राट्	लेख	तिथि
चन्द्रगुप्त द्वितीय	मथुरा	६१
स्कन्दगुप्त	जूनागढ़	१३६
कुमारगुप्त द्वितीय	सारनाथ	१५४
बुधगुप्त	,,	१५७*

इस तालिका से स्पष्ट है कि ये तिथियाँ सम्राट् के शासन काल के वर्षों में नहीं उत्कीर्ण हैं। किसी भी नरेश का इतने अधिक वर्षों (१३६, १५४, १५७)

---

१. पो. हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५३२

२. एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज, पृष्ठ ३-५

*"गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति॥"
—बुधगुप्त का सारनाथ का लेख, सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३२३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तक राज्य करना असंभव है। इससे स्पष्ट हुआ कि ये तिथियाँ किसी संवत् में ही उल्लिखित हैं। इस संवत् की पहचान गुप्त-संवत् से ही की जा सकती है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के लेख में साफ कहा गया है कि इसमें तिथि गुप्त संवत् में दी गई है (गुप्तप्रकाले गणनां विधाय)। गुप्त-संवत् का उल्लेख कुमार-गुप्त द्वितीय के सारनाथ के लेख में भी मिलता है।[1] अन्य राजवंश के लोग भी गुप्त-संवत् का प्रयोग करते थे। शशांक के गंजाम के लेख में तिथि की गणना गुप्त-संवत् में की गई है।[2] मोर्वी के ताम्र-पत्र (दसवीं शताब्दी) में तिथि गुप्त संवत् (गौप्ते) में उल्लिखित है।[3] गुप्तों के सामंत परिव्राजक-महाराज भी तिथि की गणना गुप्त-संवत् में ही करते थे (गुप्तनृपराज्यभुक्तौ)।

अब प्रश्न यह उठता है कि गुप्त-संवत् की प्रारंभ-तिथि क्या है? इस विषय में अल्बरूनी का यात्रा-विवरण सहायक सिद्ध होता है। वह लिखता है कि वलभी-संवत् के समान गुप्त-संवत् भी शक-काल के २४१ वर्ष उपरान्त प्रारंभ होता है।[4] जहाँ तक वलभी-संवत् का प्रश्न है, अल्बरूनी का यह कथन समीचीन नहीं है। वस्तुतः इस संवत् (अर्थात् वलभी-संवत्) जैसा कोई स्वतंत्र संवत् कभी भी प्रचलित नहीं था। गुप्तों की ह्रासोन्मुखी शक्ति का लाभ उठाकर सेनापति भटार्क ने वलभी में मैत्रक वंश की नींव डाली थी। उसके पुत्र ध्रुवसेन प्रथम के लेख में २०६ तिथि का उल्लेख मिलता है। वलभी-संवत् का प्रवर्त्तन वलभी-राज्य (मैत्रक राज्य) की स्थापना के साथ ही संभव हो सकता था। यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि सचमुच इसी समय वलभी-संवत् का प्रवर्त्तन हुआ था, तो कहना पड़ेगा कि पिता (सेनापति भटार्क) के २०६ वर्ष उपरान्त उसका पुत्र (ध्रुवसेन प्रथम) राज्य कर रहा था, जो कि सर्वथा असंभव है। वास्तविकता यह है कि वलभी-नरेशों (मैत्रक वंश) के लेखों में तिथियाँ गुप्त-संवत् में ही दी

---

१. "वर्षे शते गुप्तानां सचतुर्पंचाशदुत्तरे भूमिं।
शासति कुमार गुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३२१

२. "गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये"
—ए० इं०, भाग ६, पृष्ठ १४३

३. "पञ्चाशीत्या युतेतीते समानां शतपञ्चके।
गौप्ते ददावदो नृपः सोपरागेर्कमण्डले॥"
—गुप्त-लेख, भूमिका ९७

४. साचो, अल्बरूनीज इंडिया, भाग २ पृष्ठ ७

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गई हैं। मैत्रक वंश पहले गुप्तों की अधीनता स्वीकार करता था और बाद में स्वतंत्र हो गया था। इससे स्पष्ट है कि अल्बरूनी ने गुप्त-संवत् को ही (जो वलभी-राज्य में प्रचलित था) भ्रमवश वलभी-संवत् कहा है। यह भी संभव हो सकता है कि स्वतंत्र होने के बाद वलभी में प्रचलित गुप्त-संवत् को मैत्रक नरेशों ने वलभी-संवत् नाम से घोषित कर दिया हो।

जहाँ तक अल्बरूनी के द्वितीय कथन का संबन्ध है (अर्थात् शक-काल के २४१ वर्ष उपरान्त गुप्त-काल प्रारंभ हुआ), यह सही लगता है, क्योंकि प्राचीन जैन लेखकों (जिनसेन, गुणचन्द्र तथा नेमिचन्द्र) के आधार पर भी शक-संवत् और गुप्त-संवत् में २४१ वर्षों का अन्तर मिलता है। महाराज हस्तिन् के खोह के लेख में गुप्त-संवत् १५६ को महावैशाख-संवत्सर कहा गया है (महावैशाख-संवत्सरे)। वराहमिहिर के अनुसार शक संवत्सर ३९७ महावैशाख संवत्सर था। इससे यह प्रतिपादित हुआ कि शक-संवत्सर ३९७, गुप्त-संवत् १५६ के बराबर है। अर्थात् शक-संवत्सर तथा गुप्त-संवत् में (३९७-१५६) २४१ वर्षों का अन्तर था। खैरा के ताम्रलेख के अनुसार वलभी-संवत् ३३० में अधिक मार्गशीर्ष पड़ा था। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि गुप्त-संवत् को ही कहीं-कहीं पर वलभी-संवत् कहा गया है। अतएव खैरा के ताम्रलेख की तिथि गुप्त संवत् ३३० है। भारतीय ज्योतिष-गणना के अनुसार शक संवत् ५७१ में अधिक मार्गशीर्ष पड़ा था। इससे सिद्ध हुआ कि शक-संवत् ५७१ गुप्त-संवत् ३३० के बराबर है। अर्थात् इन दोनों संवतों में २४१ वर्षों का अन्तर है। शक-संवत् ७८ ई० में प्रारंभ हुआ था। इसलिए गुप्त-संवत् की आरंभिक तिथि (२४१ + ७८) ३१९-२० ई० हुई।

चालुक्य-नरेश अर्जुनदेव के वेरावल के लेख में चार संवतों का उल्लेख हुआ है— बोधक रसूल मोहम्मद संवत् (हिजरी) ६६२, श्रीनृप-विक्रम संवत् १३२०, श्रीमंत वलभी (गुप्त) संवत् ९४५ तथा श्री सिंह संवत् १५१। विक्रम-संवत् ५७ ई० से प्रारंभ हुआ था, अतएव विक्रम संवत् १३२० बराबर होता है (१३२०-५७) १२६३ ई०। उक्त लेख से स्पष्ट है कि १२६३ ई० गुप्त-संवत् ९४५ से समीकृत की जा सकती है। इससे स्पष्ट हुआ कि गुप्त संवत् (१२६३ई० ९४५) लगभग ३१९-२० ई० में प्रवर्तित किया गया होगा।

मोर्वी के ताम्रलेख में गुप्त-संवत् ५८५ का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार इस वर्ष के फाल्गुन सुदी पंचमी में सूर्यग्रहण लगा था। ज्योतिष-गणना के अनुसार यह ग्रहण ९०५ ई० में लगा था। अतएव गुप्त-संवत् की प्रारंभ-तिथि (९०५-५८५) ३१९-२० ई० के समीप निश्चित होती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस निष्कर्ष की पुष्टि निम्न प्रमाणों से हो जाती है। कुमारगुप्त प्रथम ने गुप्त-संवत् ९६ से लेकर गुप्त-संवत् १३६ तक राज्य किया था। यदि हम मान लें कि गुप्त-संवत् ३१९ ई० से प्रारंभ हुआ, तो कुमारगुप्त प्रथम का राज्यकाल ४१५ ई० से लेकर ४५५ ई० तक रहा होगा। कुमारगुप्त प्रथम के समय के मंदसोर के लेख में मालव संवत् ४९३ का उल्लेख हुआ है, जो (४९३-५७) ४३६ ई० के बराबर है। यह तिथि (४३६ ई०) कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल (४१५ ई०–४५५ ई०) के बीच पड़ती है।

शशांक के गंजाम के लेख की तिथि गुप्त संवत् ३०० है। यदि हम गुप्त संवत् की प्रारंभ-तिथि ३१९ ई० माने, तो गंजाम के लेख के तिथि (३००+३१९) ६१९ ई० हुई। शशांक हर्ष का समकालीन था, जिन्होंने ६०६ ई० से ६४७ ई० तक राज्य किया था। अतएव ६१९ ई० में शशांक अवश्य राज्य कर रहा था। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त निष्कर्ष ठीक है।

लगता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस संवत् का प्रवर्तन अपने राज्यारोहण के समय से किया था। इस सम्भावना की पुष्टि उसके उत्तराधिकारियों के लेखों द्वारा हो जाती है। उसके पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के साँची के लेख में गुप्त संवत् ९३ का उल्लेख मिलता है। इससे अभिव्यञ्जित होता है कि तीन पीढ़ियों के शासकों (चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने कुल मिला कर ९३ वर्षों तक राज्य किया था। यह असंभाव्य नहीं था। स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही राज्यकाल चालीस वर्षीय था। चन्द्रगुप्त प्रथम ही इस वंश का प्रथम विक्रमशाली सम्राट् था, अतएव उसी ने अपने राज्याभिषेक के समय (३१९–२० ई० में) गुप्त संवत् को प्रचलित किया होगा। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि कुमारदेवी के साथ विवाह के परिणामस्वरूप लिच्छवि-राज्य की प्राप्ति के उपरान्त चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस संवत् का प्रवर्तन किया होगा, क्योंकि गुप्त-वंश ने सार्वभौम सत्ता की प्राप्ति सर्वप्रथम इसी समय की थी।

●●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समुद्रगुप्त 'पराक्रमाङ्क'

"प्रदान-भुजविक्रम-प्रशम-शास्त्रवाक्योदयै-
रुपर्य्युपरि-सञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः ।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा-
निरोध-परिमोक्ष-शीघ्रमिव पाण्डुगाङ्गंपयः ॥"

"जिस प्रकार शिव (पशुपति) की जटा-जूट रूपी अर्न्तगुहा के बन्धन से उन्मुक्त होने के पश्चात् गङ्गा का पवित्र जल तीनों ही लोकों को पवित्र करता है; उसी भाँति उस सम्राट् का सञ्चित विमल-यश दान-परायणता, बाहुबल एवं शास्त्रज्ञान के उत्कर्ष द्वारा अनेक मार्गों से शान्तिपूर्वक ऊपर उठता हुआ तीनों ही भुवनों को पवित्र करता है।" (प्रयाग का स्तम्भ-लेख; श्लोक ९)।

'पराक्रमांक' समुद्रगुप्त का राज्यकाल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मधुमय निदर्शन है। उसकी विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा प्रशस्त गुणों से सम्पन्न एक ऐसे सम्राट् का प्रतिनिधित्व करती थी; जो कुशल योद्धा, प्रवीण सेनापति, सफल संगठन-कर्ता, काव्य-प्रेमी तथा कला एवं संस्कृति का प्रकाण्ड उन्नायक था। यह सही है कि गुप्त-साम्राज्य की स्थापना का श्रेय उसके सुयोग्य पिता चन्द्रगुप्त प्रथम को था, पर उसके संवर्द्धन एवं विस्तार का वास्तविक कार्य एक तरह से अधूरा रह गया था। 'मात्स्य न्याय' के समकालीन वातावरण की समाप्ति, प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों का उन्मूलन एवं अतीव गर्वित शक्तियों का मानमर्दन कर अपने पिता के द्वारा समर्पित 'वसुधा के रक्षण' (पाह्येवमुर्वीम्) के कठिन उत्तरदायित्व को निभाते हुए उसने तेजस्वी सम्राट् का नव आदर्श प्रस्तुत किया था। यदि एक ओर वह 'सर्वराजोच्छेता' (सम्पूर्ण नरेशों का उन्मूलन-कर्त्ता) था, तो दूसरी ओर 'शास्त्रतत्त्वार्थ-भर्त्ता' (ज्ञान-मर्मज्ञ) भी था। ऐसे प्रतिभाशील नरेश के उदाहरण इतिहास के पृष्ठों में विरल हैं।

अभिलेखीय साधन

प्रयाग-प्रशस्ति—समुद्रगुप्त के काल से गुप्त-वंश के इतिहास के विषय में हमारा परिचय अधिक विशद होने लगता है। उसके समय का सबसे प्रधान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America HHFA(USA)

अभिलेख प्रयाग का स्तम्भ-लेख है, जिसमें तत्कालीन प्रमुख घटनाओं और उसके व्यक्तित्व की विभिन्न विशेषताओं पर श्लाघनीय प्रकाश डाला गया है। यह स्वीकार करना होगा कि इस अभिलेख के अभाव में समुद्रगुप्त की उपलब्धियों के विषय में हम अन्धकार के गर्त में पड़े रह जाते। इस लेख को क्रमशः प्रकाश में लाने का श्रेय ए० ट्रायर, डॉ० डब्लू० यच० मिल, जेम्स प्रिंसेप, डॉ० भाऊदाजी तथा फ्लीट आदि को है। पैंतीस फीट ऊँचे इस बालूदार स्तम्भ का निर्माण अशोक के काल में हुआ था और उस समय यह कौशाम्बी में वर्तमान था। इस पर उसने अपना एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख उत्कीर्ण कराया। यह लेख इस सम्राट् की राजाज्ञा के स्वरूप में है, जो कौशाम्बी के भिक्षु-संघ में बढ़ते हुए विभेद पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाने के हेतु इस पुर के महामात्रों को घोषित किया गया था। इससे स्पष्ट है कि यह स्तम्भ मूल-काल में कौशाम्बी में ही प्राप्य था, जहाँ अशोक-निर्मित एक अन्य स्तम्भ अब भी विद्यमान है। सातवीं शताब्दी के यात्री हुएनसांग तथा ग्यारहवीं सदी के भारतीय पर्यटक अल्बरूनी ने प्रयाग-वर्णन के प्रसंग में किसी अशोक-स्तम्भ के वहाँ वर्तमान होने का कोई भी उल्लेख नहीं किया है। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके आगमन-काल तक यह स्तम्भ प्रयाग में स्थानान्तरित नहीं किया गया था। सम्भव है कि अकबर अथवा जहाँगीर के राज्यकाल में यह जल-मार्ग (जमुना नदी) द्वारा कौशाम्बी से हटाकर इलाहाबाद, वहाँ के किले की शोभा की अभिवृद्धि के हेतु लाया गया था। इस स्तम्भ पर जहाँगीर के काल का भी एक लेख उत्कीर्ण मिलता है। अशोक एवं जहाँगीर के अभिलेखों के बीच समुद्रगुप्तकालीन लेख प्राप्य है।

इस मुगल-नरेश ने समुद्रगुप्त-प्रशस्ति की प्रारम्भिक पंक्तियों को पर्याप्त रूप में नष्ट करा दिया था। यह लेख संस्कृत-भाषा की चम्पू शैली (गद्य-पद्य-मिश्रित शैली) में लिखा गया था। प्रशस्ति का पूर्व भाग पद्य तथा उत्तर भाग गद्य में निबद्ध है। पूर्वार्द्ध (पद्य वाले भाग) में आठ श्लोक प्राप्य हैं, जिनमें केवल तीसरे और चौथे श्लोक ही अपने पूर्ण रूप में मिलते हैं। अन्य श्लोकों की कतिपय या अधिकांश पंक्तियाँ, जिनसे महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती थी, दुर्भाग्य-वश मिट गई हैं। तृतीय श्लोक में उसके विद्याव्यसन तथा चतुर्थ श्लोक में मार्मिक भाषा में उसके युवराज चुने जाने की ओर संकेत किया गया है। प्रशस्ति का उत्तरार्द्ध (गद्यांश) अपने पूर्ण रूप में प्राप्य है। इसमें उसके आर्यावर्त्त, आटविक एवं दक्षिणापथ-अभियान तथा सीमान्त राज्यों एवं विदेशी शक्तियों के द्वारा उसकी अधीनता को स्वीकार कर लेने आदि का वर्णन ललित भाषा में किया गया है। इस लेख का रचयिता महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र हरिषेण नामक कवि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था, जो समुद्रगुप्त का कुमारामात्य एवं सान्धिविग्रहिक था। इसे अनुष्ठित करने का श्रेय महादण्डनायक तिलभट्ट को था।

इस अभिलेख में दुर्भाग्यवश तिथि का उल्लेख नहीं है। शैली के आधार पर फ्लीट महोदय को भ्रम हो गया था कि इस लेख को समुद्रगुप्त के किसी उत्तराधिकारी ने उत्कीर्ण कराया होगा। उनके इस मत को यथार्थ मानना वास्तविक तथ्यों से रहित होगा। विचारणीय है कि इस लेख में समुद्रगुप्त के अश्वमेध-यज्ञ का उल्लेख कहीं भी प्राप्य नहीं है। अतएव लगता है कि इसके सम्पादन के पूर्व उसके राज्यकाल में ही यह अभिलेख उत्कीर्ण किया जा चुका था। इस प्रशस्ति के अन्त में काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि स्वामिभक्त कर्मचारी हरिषेण की मेधा भट्टारक-महाराज के चरण-कमलों के समीप विचरण के कारण उन्मीलित हो गई थी और उन्हीं के द्वारा प्राप्त प्रेरणा से इस प्रशस्ति का निर्माण किया गया था (काव्यमेषामेव भट्टारकपादानां दासस्य समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमतेः)। इस उल्लेख से आभास मिलता है कि समुद्रगुप्त के इस आश्रित कवि ने उसके जीवन-काल में ही इस प्रशस्ति की रचना की थी। इस स्थान पर यह भी विचारणीय है कि समुद्रगुप्त की वे विशेष उपाधियाँ जो एकमात्र उसके उत्तराधिकारियों के लेखों में ही उसके लिये आती हैं इस अभिलेख में प्रयुक्त नहीं हैं; उदाहरणार्थ 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः' (चिरकाल से परित्यक्त अश्वमेध-यज्ञ का उद्धार करने वाला), 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो' (जिसके यश का आस्वादन चारों समुद्रों के द्वारा किया जाता था) तथा 'न्यायागतानेकगोकोटिहिरण्यप्रदस्य' (नैतिक साधनों द्वारा अर्जित करोड़ गौओं एवं सुवर्ण आदि का दान करने वाला)। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि प्रयाग-प्रशस्ति उसके किसी उत्तराधिकारी का अभिलेख नहीं है। इतिहास के अतिरिक्त उत्कृष्ट संस्कृत-साहित्य का भी यह लेख एक अनूठा उदाहरण है। मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा एवं शार्दूलविक्रीडित छन्दों में रचित इसके श्लोक कालिदास की वैदर्भी शैली का स्मरण दिलाते हैं। गद्य वाले भाग में कवि की शैली अकस्मात् बदल जाती है। इसमें लम्बे समस्त पद एवं वाक्य मिलते हैं, जो बाणभट्ट की गौडी शैली के अन्तर्गत आते हैं। भला, कौन जानता था कि काव्य-रचना का इतना उच्च आदर्श पाषाण-खण्ड पर भी किसी दिन उत्कीर्ण मिलेगा।

एरण का शिलालेख—मध्यप्रदेश के सागर जिले में एरण नामक एक ग्राम है, जिसका प्राचीन नाम 'ऐरिकिण' था। इसी स्थान से समुद्रगुप्त के काल का एक उत्कीर्ण-लेख लाल बालूदार प्रस्तर-खण्ड पर प्राप्य है। अनुमान किया जाता है कि अपने समय में यह सम्भवतः किसी मन्दिर का भाग था। इस अभिलेख का पता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कनिंघम महोदय ने १८७५ ई० में लगाया था। उन्होंने १८८० ई० में इसे 'आर्क्या-लॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्टस' में प्रकाशित किया था। लेख आद्योपान्त संस्कृत श्लोक में रचित है। सम्प्रति यह राजकीय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित है। समुद्रगुप्त का नाम इसकी दसवीं पंक्ति में प्राप्य है। प्रथम सात पंक्तियाँ खण्डित अवस्था में हैं। तदुपरान्त आठवीं से लेकर चौबीसवीं तक पंक्तियाँ इसमें सुरक्षित रूप में उपलब्ध होती हैं। पचीसवीं, छब्बीसवीं एवं सत्ताइसवीं पंक्तियों के अधिकांश भाग विनष्ट हो चुके हैं। अठाइसवीं एवं उसके उपरान्त की पंक्तियाँ भी लेख से पूर्णतः नष्ट हैं। इस अभिलेख में सुवर्ण-दान के क्षेत्र में समुद्रगुप्त को पृथु एवं राघव आदि नृपतियों से भी श्रेष्ठ कहा गया है (सुवर्ण्ण-दाने संवारिता नृपतयः पृथु-राघवाद्याः)। प्रसन्न होने पर वह कुवेर तथा रुष्ट होने पर यमराज के तुल्य था (धनदान्तक-तुष्टि-कोपः)। उसकी पत्नी दत्तादेवी पतिपरायणा (निविष्टा) एवं सन्मार्ग का अवलम्बन करने वाली (व्रतिनी) थी। धनधान्य एवं समृद्धि से युक्त इस नरेश का राजप्रासाद बहुत से पुत्र एवं पौत्रों के द्वारा सुशोभित था (मुदिता-बहु-पुत्र-पौत्राः)। रण में अर्जित उसके यश का स्मरण कर उसके शत्रु अपने-अपने राज्यों में संत्रस्त हो उठते थे।[1] इसमें एरण (ऐरिकिण) प्रदेश को उसका अधिकार-क्षेत्र (स्वभोगनगर) कहा गया है।

गया का ताम्रलेख—इस लेख को भी पता लगाने का श्रेय कनिंघम महोदय को ही है। उन्होंने 'बुक ऑन इंडियन एराज़' नामक अपने ग्रन्थ द्वारा १८८३ ई० में इसे प्रकाश में लाया था। तदुपरान्त फ्लीट महोदय ने आलोचनात्मक टिप्पणी-सहित इसे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्' जिल्द ३, में प्रकाशित किया था। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् ९ के वशाख की दसमी थी। यह ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है। इसके साथ समुद्रगुप्त की एक मुद्रा (मुहर) भी संयुक्त है। इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने गया-विषय (जिले) में 'रेवतिक' नामक ग्राम को भारद्वाज गोत्रीय विद्वान् ब्राह्मण को दान-स्वरूप दिया था। मुद्रा के ऊपर पाँच पंक्तियों में एक लेख उत्कीर्ण था। पाँचवीं पंक्ति में समुद्रगुप्त नाम बहुत ध्यान देने पर पढ़ा जा सकता है। परन्तु प्रारम्भिक पंक्तियों के अक्षर इतने मिट गए हैं कि उनसे कुछ निष्कर्ष निकालना दुष्कर है। फ्लीट का अनुमान है कि सम्भवतः शर्ववर्मा के असीरगढ़-मुद्रालेख के तुल्य इस मुद्रालेख में भी प्रारम्भिक

---

१. "वीर्याणि यस्य रिपवश्च रणोर्जितानि।
स्वप्रान्तेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६१-६२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंक्तियों में समुद्रगुप्त की वंशावली उल्लिखित थी। ताम्रलेख संस्कृत गद्य में लिखा हुआ मिलता है।

फ्लीट[1] एवं दिनेशचन्द्र सरकार[2] ने कतिपय आपत्तियों एवं अशुद्धियों के आधार पर इस ताम्रपत्र को जाली अभिलेख सिद्ध किया है :—

१—इसमें प्राकृत शब्दों का प्रयोग मिलता है, उदाहरणार्थ 'उच्छन्न'। मोनियर विलियम के अनुसार यह संस्कृत के 'उत्सन्न' शब्द का प्राकृत समानार्थी है। गुप्त-नरेश अपने अभिलेखों में एकमात्र संस्कृत-शब्दों का ही प्रयोग करते थे। गया के ताम्र-लेख में प्राकृत शब्दों का व्यवहार प्रमाणित करता है कि इसे मौलिक गुप्त-लेख नहीं स्वीकार किया जा सकता।

२—इस अभिलेख में भाषा-संबन्धी अक्षम्य त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। 'त्र' लिखते समय संयुक्त 'त' में अर्द्ध 'र' मिला दिया गया है। उदाहरणार्थ चौथी पंक्ति में 'प्रपौत्रस्य' के स्थान पर अशुद्ध पाठ 'प्रपौत्त्रस्य' प्राप्य है। 'ध' के स्थान पर 'द' और आधे 'ध' को संयुक्त कर दिया गया है; यथा 'अयोद्ध्या' न कि 'अयोध्या'। 'व' एवं 'ब' अक्षरों के अशुद्ध प्रयोग के भी दृष्टान्त इस अभिलेख में प्राप्य हैं; जैसे नवीं एवं दसवीं पंक्तियों में 'ब्राह्मण' के स्थान पर 'व्राह्मण' तथा 'ब्रह्मचारी' के स्थान पर 'ब्रह्मचारी'।

३—इसी भाँति व्याकरण-संबन्धी अशुद्धियों के भी उदाहरण इसमें द्रष्टव्य हैं। इसमें पहली पंक्ति से नवीं पंक्ति तक उल्लिखित समुद्रगुप्त की सभी उपाधियाँ षष्ठी के एकवचन में दी गई हैं; उदाहरणार्थ 'उच्छेतुः' एवं 'दौहित्रस्य' आदि। परन्तु समुद्रगुप्त का नाम प्रथमा के एकवचन में दिया गया है (उत्पन्नः परमभागवतः महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तः)। इससे संकेत मिलता है कि इस अभिलेख का रचयिता समुद्रगुप्त के किसी उत्तराधिकारी के लेख के आधार पर इसे प्रस्तुत कर रहा था, जिसमें उसकी उपाधियाँ एवं नाम दोनों ही षष्ठी के एकवचन में थे। उपाधियों की नकल कर लेने के उपरान्त सम्राट् का नाम लिखते समय उसे अपनी भूल ज्ञात हुई। फलतः राजा का नाम उसने प्रथमा के एकवचन में लिख दिया। परन्तु उपाधियों को षष्ठी से प्रथमा में परिवर्तित करना वह भूल गया। समुद्रगुप्त की उपाधियों के षष्ठयन्त प्रयोग तथा उसके नाम के प्रथमान्त प्रयोग का सम्भावित कारण एकमात्र यही हो सकता था।

४—ताम्रपत्र एवं मुद्रा के लेखों की लिपि विभिन्न कालों की है। इसी

---

१. फ्लीट, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, पृष्ठ २५६, पाद-टिप्पणी ५ एवं ६
२. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६४-६५, पाद-टिप्पणी ८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकार इन दोनों के ताम्र-तत्त्व में भी विभेद है। इससे भी स्पष्ट है कि ये दोनों एक ही समय के नहीं हो सकते थे।

५—इस अभिलेख के प्रारम्भ में 'महा-नौ-हस्त्यश्वजयस्कन्धावार अयोध्या' का उल्लेख मिलता है। इस समस्तपद के अनुसार अयोध्या में सम्राट् का सैनिक शिविर वर्तमान था, जो गज, अश्व एवं नौ सेनाओं के द्वारा सुरक्षित था। यहाँ पर विचारणीय है कि इस प्रकार का उल्लेख गुप्तों के मौलिक अभिलेखों में प्राप्य नहीं है। उनके कई दानपत्र बंगाल से उपलब्ध हैं। इस प्रकार का समस्तपद उनमें अप्राप्य है। इसका सर्वप्रथम सन्दर्भ हर्ष के लेखों (मधुबन एवं बंसखेड़ा के दानपत्रों) में आता है। इनकी तिथि सातवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध है। तदुपरान्त जीवितगुप्त द्वितीय (आठवीं शताब्दी) के देव-वर्णार्क के लेख में उक्त समस्तपद उत्कीर्ण है। इन अभिलेखों के दृष्टान्त से स्पष्ट है कि इस प्रकार का उल्लेख सातवीं एवं आठवीं शताब्दी से भारतीय दानपत्रों में प्रचलित हो गया। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि गया-ताम्रलेख के कुछ अक्षरों—जैसे क, प, म, र एवं श—की बनावट आठवीं सदी की लिपि से साम्य रखती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि यह लेख (दानपत्र) आठवीं शताब्दी में समुद्रगुप्त के नाम पर दानग्राही द्वारा प्रस्तुत कराया गया होगा। उसे कहीं से इस सम्राट् की मौलिक मुद्रा मिल गई। दानपत्र की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए उसने इसे उसके साथ संयुक्त कर दिया था।

६—इस अभिलेख में उसके द्वारा अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान का उल्लेख मिलता है (चिरोच्छन्नाश्वमेधाहर्त्तुः)। विचारणीय है कि उसकी उपाधि 'सर्व-राजोच्छेता' (सम्पूर्ण राजाओं का उन्मूलक) भी इसमें प्राप्य है। हम पहले निर्देश कर चुके हैं कि इस अभिलेख की तिथि गुप्त संवत् ९ है। यदि हम इसे प्रामाणिक मान लें, तो ऐसी दशा में हमें विश्वास करना पड़ता है कि समुद्रगुप्त ही इस संवत् का वास्तविक प्रवर्तक था तथा उसने अपने राज्य-काल के नवें वर्ष में ही अपने समस्त शत्रुओं को हरा दिया था एवं अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान भी कर लिया था। उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयों एवं तत्कालीन क्षुब्ध राजनीतिक वातावरण को दृष्टि में रखते हुए यह सम्भाव्य नहीं था। प्रयाग-प्रशस्ति से संकेत मिलता है कि उसने अपने राज्य-काल के अन्तिम भाग में अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया होगा। इन परिस्थितियों के आलोक में गया के ताम्रलेख को प्रामाणिक मानना समुचित नहीं होगा। जिस व्यक्ति ने इस जाली दानपत्र को प्रस्तुत कराया, उसका विश्वास था कि समुद्रगुप्त गुप्त संवत् ९ में राज्य कर रहा था।

नालन्दा का ताम्रलेख—यह लेख भी दानपत्र के रूप में है, जिसका पता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१९२७–२८ ई० में नालन्दा-उत्खनन में लगा था। इसमें गुप्त-संवत् ५ के माघ-मास के द्वितीय दिवस का उल्लेख मिलता है। इसके अनसार समुद्रगुप्त ने अपने एवं माता-पिता की पुण्याभिवृद्धि के निमित्त जयभट्टस्वामी नामक ब्राह्मण को दो ग्राम दानस्वरूप दिया था —(१) भद्रपुष्कर ग्राम जो ताविर्गुण्य विषय में स्थित था तथा (२) पूर्णनाग ग्राम जो क्रिमिल विषय में वर्तमान था। यह लेख अक्षपटलाधिकृत गोपस्वामी नामक कर्मचारी के आदेश से लिखा गया था, जो महाबलाधिकृत (उच्च सैनिक पदाधिकारी) एवं महापीलुपति (गजसेना का अध्यक्ष) भी था। लेख के अन्त में 'कुमार श्रीचन्द्रगुप्त' का भी उल्लेख मिलता है। इसमें प्राप्य राजा की वंशावली एवं उसकी उपाधियाँ तथा प्रारम्भिक पंक्तियाँ गया के ताम्रलेख में उल्लिखित तद्विषयक सामग्री के ही तुल्य हैं। यच० शास्त्री, ए० घोष तथा दिनेशचन्द्र सरकार ने निम्नलिखित तर्कों के आलोक में इस ताम्रपत्र को भी जाली अभिलेख सिद्ध किया है :—

१—समुद्रगुप्त के नाम का उल्लेख तो प्रथमा विभक्ति में हुआ है, परन्तु उसकी उपाधियाँ षष्ठी में प्राप्य हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि यह कालान्तर में किसी उत्तराधिकारी के लेख के आधार पर प्रस्तुत किया गया था।

२—गया के ताम्रलेख की भाँति इस अभिलेख में भी 'व' एवं 'ब' अक्षरों के प्रयोग की अशुद्धियाँ स्पष्ट रूप में देखी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ पंक्ति-

---

१. "सर्वरोजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनद-वरुणेन्द्राक-समस्य कृतान्तपरशोर्न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य चिरोच्छन्नाश्वमेधाहर्त्तुः महाराज-श्रीगुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्रीघटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमार-देव्यामुत्पन्नः परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तः"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २०५

इसका शुद्ध पाठ इस रूप में होना चाहिए था—

"सर्वराजोच्छेता पृथिव्यामप्रतिरथश्चतुरुदधिसलिलास्वादितयशा धनद-वरुणेन्द्रान्तकसमः कृतान्तपरशुर्न्यायागतानेकगो-हिरण्य-कोटिप्रदश्चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्ता महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्र महाराजाश्रीघटोत्कचपौत्रो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रो लिच्छविदौहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नः परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तः"

—सरकार, वही, पृष्ठ २६५, पाद-टिप्पणी ४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America; HHFA(USA)

संख्या ५ में व्ल के स्थान पर व्ल एवं पंक्ति-संख्या १० में सम्व्त् के स्थान पर सम्व्त् उल्लिखित है।

३—इस लेख में भी प्राकृत-शब्दों का उल्लेख प्राप्य है, यथा 'उच्छन्न' शब्द जो संस्कृत के 'उत्सन्न' का प्राकृत समानार्थी है। हम पहले कह आए हैं कि गुप्त-वंश के नरेश संस्कृत-भाषा के प्रकाण्ड उन्नायक थे तथा अपने अभिलेखों में वे प्राकृत-शब्दों के प्रयोग का वहिष्कार करते थे।

४—गया के दानपत्र के ही तुल्य इस दानपत्र में भी समुद्रगुप्त को उस अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धारक कहा गया है, जिसका अनुष्ठान चिर-काल से नहीं हुआ था (चिरोच्छन्नाश्वमेधाहर्त्तुः)। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् ५ है। इसमें भी उसे 'सर्वराजोच्छेता' की विशेष उपाधि प्रदान की गई है। इसे प्रामाणिक मानने पर विश्वास करना पड़ता है कि गुप्त-संवत् के प्रवर्तन का वास्तविक श्रेय इसी नरेश को प्रदान करना समुचित होगा तथा उसने अपने राज्य-काल के पाँचवें वर्ष में ही सम्पूर्ण प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर अपने दिग्विजय की सुमहत् योजना को कार्यान्वित कर लिया होगा। इसी अवधि के भीतर उसने अश्वमेध-यज्ञ का सम्पादन भी कर लिया होगा। सभी विचारवान पाठक स्वीकार करेंगे कि तत्कालीन विषम-राजनीतिक परिस्थितियों के आलोक में ये सारी सम्भावनाएँ अचिन्त्य हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह नरेश गुप्त-संवत् का प्रवर्त्तक नहीं हो सकता था। उसके पौत्र कुमारगुप्त प्रथम ने गुप्त संवत् १३६ तक राज्य किया था। यदि हम समुद्रगुप्त को इस संवत् का जन्मदाता माने, तो स्वीकार करना पड़ता है कि इस राजकुल की तीन पीढ़ियों के शासकों (अर्थात् समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम) ने कुल मिला कर १३६ वर्षों तक राज्य किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम में से प्रत्येक ने ४० वर्षों तक शासन किया था। इन दोनों के राज्य-काल की सम्मिलित अवधि गु० सं० ५६ से लेकर गु० सं० १३६ (अर्थात् ८० वर्षों) तक प्रसरित थी। इस ऐतिहासिक तथ्य को दृष्टिकोण में रख कर स्वाभाविक निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने (१३६–८०) ५६ वर्षों तक राज्य किया होगा। एक ही नरेश का इतना दीर्घकालीन शासन अचिन्त्य हो जाता है।

५—इस अभिलेख में उसकी उपाधि 'परमभागवत' आती है। यहाँ पर विचारणीय है कि गुप्त-वंश में सबसे पहले इस उपाधि को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने धारण किया था। समुद्रगुप्त के दोनों मौलिक लेखों (प्रयाग की प्रशस्ति एवं एरण के शिलालेख) में उसके लिए इस उपाधि का प्रयोग नहीं मिलता।

६— इस ताम्रलेख की पंक्ति-संख्या ६ में 'त्र' लिखते समय संयुक्त 'त'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के साथ 'र' अक्षर जोड़ा गया है; जैसे 'पौ_त्रस्य' तथा 'पि_त्रोः'। इस प्रकार के अशुद्ध उल्लेख प्रामाणिक गुप्त-लेखों में अप्राप्य हैं।

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट हो जाता है कि गया के ताम्रलेख के सदृश नालन्दा का दानपत्र भी जाली है। दानग्राही जयभट्टस्वामी ने अपने लिए सनद के रूप में समुद्रगुप्त के नाम पर उसे प्रस्तुत करा लिया होगा। वह सिद्ध करना चाहता था कि इस लेख में उल्लिखित दोनों ग्रामों (भद्रपुष्कर एवं पूर्णनाग) को समुद्रगुप्त ने उसे दान में दिया था। उसका विश्वास था कि यह नरेश गुप्त संवत् ५ में राज्य करता था। दिनेशचन्द्र सरकार ने इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है कि जालिये जयभट्टस्वामी ने प्रारंभिक गुप्त-काल (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) की लिपि का अनुकरण कर लिया होगा। नकली लेख प्रस्तुत कराने वाले व्यक्ति के लिए अपने समय से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व की लिपि का अनुकरण कर लेना कोई दुष्कर कार्य नहीं है।[1]

डॉ० मजुमदार का मत—रमेशचन्द्र मजुमदार के अनुसार नालन्दा एवं गया के ताम्रलेखों को जाली प्रमाणित करने के निमित्त दिए गये उपर्युक्त तर्क निर्णायक अथवा अन्तिम वाक्य के रूप में नहीं ग्रहण किए जा सकते। यह ठीक है कि दोनों ही दान-पत्रों में भाषा-सम्बन्धी समानताएँ तथा एक सी भूलें या त्रुटियाँ प्राप्य हैं; तथापि दोनों में विभिन्नताओं के भी उदाहरण प्राप्य हैं। दोनों दानपत्र दो विभिन्न स्थानों (आनन्दपुर एवं अयोध्या) में प्रचलित किए गए थे। नालन्दा के अभिलेख का दानग्राही जयभट्टस्वामी नामक ब्राह्मण इसी स्थान का नागरिक था, परन्तु इसके प्रतिकूल गया के ताम्रलेख का दानग्राही गोपस्वामी नामक भारद्वाज-गोत्री ब्राह्मण गया जिले का निवासी था। दोनों का समय भी अलग था। नालन्दा के ताम्रलेख में प्रारम्भिक गुप्त-लिपि का प्रयोग मिलता है, परन्तु गया के लेख में आठवीं शताब्दी की लिपि के उपयोग-सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध हैं। इससे अभिव्यञ्जित होता है कि जयभट्टस्वामी प्रारम्भिक गुप्त-काल (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) का था, परन्तु गोपस्वामी इस समय के लगभग चार शताब्दियों पश्चात् का नागरिक था। दोनों लेख दो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा पृथक् काल एवं स्थान पर यदि प्रस्तुत किए गए, तो साथ बैठ कर या मिलान कर उनके लिखे जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। ऐसी दशा में समान भाषा तथा एक जैसी अशुद्धियों के लिए कोई गुंजायश नहीं हो सकती थी।

---

१. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६२-६३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

गया के ताम्रलेख के साथ संयुक्त मुहर समुद्रगुप्त की मौलिक मुद्रा लगती है। इस पर उत्कीर्ण-लेख में प्रारम्भिक गुप्त-लिपि का ही प्रयोग मिलता है। आभास होता है कि मूल काल में उक्त नरेश का कोई प्रामाणिक दानपत्र दान-ग्राही (गोपस्वामी) के पास अवश्य था। किसी आकस्मिक परिस्थिति के कारण कालान्तर में दानपत्र तो नष्ट हो गया, परन्तु मुद्रा अवशिष्ट रह गई थी। यह भी सम्भावना हो सकती थी कि दानपत्र वाला भाग पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हुआ था। फलतः उसके कुछ अक्षर बचे रह गए तथा कुछ लुप्त हो गए। गोप-स्वामी के वंशजों के समक्ष उसी आशय का एक द्वितीय दानपत्र प्रस्तुत कराने का प्रश्न उपस्थित हो गया होगा। परिणामस्वरूप एक नवीन ताम्रलेख उत्कीर्ण कराया गया। मूल लेख में जो अक्षर नहीं विनष्ट हुए थे, लिपिकार ने उनका सफलतापूर्वक अनुकरण कर लिया। यही कारण है कि उनकी बनावट गुप्त-कालीन लिपि से साम्य रखती है। परन्तु जो अक्षर मिट गए थे उनकी लिखा-वट गोपस्वामी के वंशधर (जिसने नवीन ताम्रलेख को प्रस्तुत कराया था) के काल (आठवीं सदी) की लिपि के अन्तर्गत आती है। इस अभिलेख में पूर्व एवं उत्तरकालीन लिपियों के प्रयोग का सम्भावित कारण यही हो सकता है। इस प्रकार का एक ऐतिहासिक दृष्टान्त हमारे समक्ष वर्तमान है। कामरूप-नरेश भास्कर-वर्मा का निधानपुर का दानपत्र जल गया था। अतएव दानग्राही के वंशजों ने इसकी एक दूसरी प्रतिलिपि प्रस्तुत कराई थी। इसमें स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि कालान्तर की लिपि-प्रयोग के कारण किसी व्यक्ति के मन में कृपया यह संशय न उठे कि यह एक जाली दानपत्र है। सम्भव है कि गया का दानपत्र भी समान परिस्थितियों में प्रस्तुत किया गया हो।

समुद्रगुप्त की 'परमभागवत' उपाधि को लेकर उक्त दोनों दानपत्रों की प्रामाणिकता में संशय प्रकट करना समुचित नहीं होगा। वैष्णव मतावलम्बन की परम्परा गुप्त-कुल में सर्वप्रथम उसी ने प्रारम्भ किया था। उसकी मुद्राओं के ऊपर इस धर्म के प्रतीकों का अंकन प्राप्य है। उसकी राजाज्ञा गरुड़ध्वजांकित (गरुत्मदंक) हुआ करती थी। प्रयाग की प्रशस्ति में उसे एक लक्ष गौओं का प्रदाता (अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः) कहा गया है। इस स्थान पर उसके द्वारा अश्वमेघ-यज्ञ के अनुष्ठान का संकेत प्राप्य है। इतनी अधिक संख्या में गोदान इसी यज्ञ के अवसर पर किया जाता था।[1]

डॉ० मजुमदार के उपर्युक्त तर्कों से सहमत होना दुष्कर है। नालन्दा एवं

---

१. इंडियन कल्चर, जिल्द ११, १९४४, पृष्ठ २५५-३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया के ताम्रपत्रों में समान भाषा के प्रयोग एवं एक जैसी अशुद्धियों का सम्भावित कारण यह हो सकता है कि दोनों समुद्रगुप्त के किसी वंशधर के दानपत्र की सहायता लेकर प्रस्तुत किये गये थे जिसमें उसकी उपाधियाँ षष्ठी में दी गई थीं। विचारणीय है कि नालन्दा के ताम्रलेख में कुमार चन्द्रगुप्त (युवराज चन्द्रगुप्त द्वितीय) का नामोल्लेख प्राप्य है। यदि इस लेख को हम प्रामाणिक मान लें, तो यह स्वीकार करना होगा कि गुप्त संवत् ५ में (जो कि इस दान-पत्र की तिथि है) युवराज चन्द्रगुप्त (द्वितीय) कम से कम बीस वर्ष की अवस्था का अवश्य रहा होगा। उसका राज्याभिषेक गुप्त संवत् ५६ में हुआ था। अतएव विश्वास करना पड़ता है कि इस समय उसकी अवस्था ७० वर्षों से ऊपर हो चुकी थी। उसने ४० वर्षों तक राज्य किया था। उपर्युक्त तथ्य के अनुसार वह कहीं ११० वर्ष की आयु में दिवंगत हुआ होगा। यह सोचना कि अत्यन्त वृद्धावस्था में वह शक-उन्मूलन, वाह्लीक एवं वंग-विजय तथा अन्य विकट युद्धों में सतत् संलग्न था, अस्वाभाविक सा लगता है। यह दीर्घाय धार्मिक विस्फोट अथवा संन्यास का प्रेरक हो सकती है, पर युद्ध-प्रेरक नहीं। हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि व्यस्ततापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले नृपति का अपरिमित चिरायुष्मन होना अचिन्तनीय था। हम पहले विचार कर आए हैं कि इन दोनों ताम्रपत्रों को प्रामाणिक गुप्त-लेख मानने के कारण अविश्वसनीय निष्कर्ष निकलते हैं तथा हम कठिन उलझनों में पड़ जाते हैं। यह सोच लेना कि समुद्रगुप्त ने अपने राज्यकाल के प्रथम पाँच वर्षों की अवधि के भीतर ही अपनी महत् राजनीतिक योजनाओं को पूर्ण कर 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशस्' (जिसकी प्रतिष्ठा का आस्वादन चारो समुद्रों के जल करते थे) तथा 'सर्वराजोच्छेता' (सम्पूर्ण नरेशों का उन्मूलन-कर्त्ता) सदृश दुस्साध्य उपाधियों को अर्जित कर चुका था, सर्वथा भ्रान्तिमूलक होगा। गुप्त-नरेश अपनी प्रशस्तियों एवं दानपत्रों को मजे हुए कवियों एवं लेखकों द्वारा निबद्ध कराते थे। हरिषेण, वीरसेन एवं वत्स-भट्टि आदि मर्मज्ञ रचयिताओं के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। गया एवं नालन्दा के दानपत्रों को प्रस्तुत करने वाले अनाड़ी को इतना भी ज्ञान नहीं था कि व्याकरण-नियमों के अनुसार विशेष्य एवं विशेषण एक ही विभक्ति में लिखा होना चाहिए। ऐसी दशा में इन दोनों अभिलेखों को अप्रामाणिक मानना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

मुद्रा-साक्ष्य—चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राएँ एक ही वर्ग तक सीमित रह गई थीं। प्रतिभा-सम्पन्न समुद्रगुप्त ने अपने पिता के द्वारा प्रवर्तित गुप्त-मुद्रा-कला को संवर्द्धित करते हुए छह प्रकार की सुवर्ण-मुद्राओं (गरुड़ध्वजांकित, धनुर्धारी, परशु, अश्वमेध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

व्याघ्र-निहन्ता एवं वीणावादन वर्ग के सिक्कों) को प्रचलित किया था। ये उसके जीवनचरित, व्यक्तिगत अभिरुचि एवं राज्य कालीन घटनाओं पर श्लाघनीय प्रकाश डालती हैं। इनमें प्रथम तीन कोटि की मुद्राएँ (गरुड़, धुनर्धारी एवं परशु) सम्राट् के सैनिक एवं वीर-जीवन से सम्बन्धित हैं। डॉक्टर अल्तेकर के अनुसार गरुड़ध्वजांकित मुद्राएँ सर्वप्रथम इसी सम्राट् के द्वारा प्रचलित की गई होंगी।[1] इस वर्ग के सिक्के सबसे अधिक लोकप्रिय थे। बयाना-निधि में समुद्रगुप्त की १८३ मुद्राएँ प्राप्त हुईं, जिनमें १३६ गरुड़-प्रकार की हैं। इसके अतिरिक्त ये ब्रिटिश संग्रहालय में १७, भारतीय संग्रहालय में १९, राजकीय संग्रहालय लखनऊ में २९ तथा ब्रिटिश संग्रहालय में १० की संख्या में प्राप्य हैं। इस कोटि की मुद्राओं के पुरोभाग पर राजा लम्बा कोट, टोपी एवं पाजामा पहने नाना आभूषणों से युक्त प्रदर्शित किया गया है। वह वाम हस्त में दण्ड धारण किये है तथा दक्षिण हस्त द्वारा आहुति देता हुआ दिखाया गया है। उसके समक्ष गरुड़ध्वज भी अंकित है। बायें हाथ के नीचे उसका नाम तथा उसकी आकृति के चतुर्दिक् वर्तुलाकार विरुद 'समरशतविततविजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति' (सैकड़ों युद्धों का विजेता एवं शत्रुओं का दमन करने वाला अजेय सम्राट् स्वर्ग को जीतता है) प्राप्य है। पृष्ठतल पर सिंहासनारूढ़ लक्ष्मी का चित्र तथा साम्राट् की उपाधि 'पराक्रमः' उत्कीर्ण है। इसकी तुलना प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित 'पराक्रमांक' से की जा सकती है। उपर्युक्त विरुद उक्त अभिलेख की पंक्ति-संख्या २९ का स्मरण दिलाती है, जिसके अनुसार उसकी कीर्त्ति इन्द्र-लोक तक पहुँच चुकी थी (कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति-भवन-गमनावाप्त)। इस कोटि की मुद्राओं पर प्राप्य लेख 'समरशतविततविजयो' (सैकड़ों युद्धों का विजेता) प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित 'समरशतावतरणदक्षस्य' (सैकड़ों युद्धों में भाग लेने में निपुण) से तुलनीय है।

धनुर्धारी-प्रकार की मुद्राएँ गरुड़-मुद्राओं के उपरान्त की लगती हैं। कालान्तर में समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों में ये पर्याप्त लोकप्रिय थीं। इनका आकार .८" से लेकर .९" तक है तथा तौल ११० ग्रेन से लेकर १२० ग्रेन तक है। वे बनारस, जौनपुर, बोधगया एवं बयाना से प्राप्त हुई हैं। इनमें से ३ हाल ही में बयाना-निधि से प्राप्त हुई थीं। इनके अतिरिक्त इस कोटि की ४ मुद्राएँ भारतीय संग्रहालय, १ आक्सफोर्ड संग्रहालय, १ लखनऊ-संग्रहालय एवं ४ ब्रिटिश संग्रहालय में उपलब्ध हैं। इन मुद्राओं में भारतीयता की छाप अधिक दृष्टिगोचर-

---

१- क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ ३९

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होती है। इनके पुरोभाग में सम्राट् बाएँ हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण धारण किए हुए प्रदर्शित किया गया है। वाम हस्त के नीचे सम्राट् का नाम तथा उसकी आकृति के चतुर्दिक् वर्तुलाकार विरुद 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं जयति' (अजेय राजा पृथ्वी को जीत कर अपने पुण्य कर्मों के द्वारा स्वर्ग को जीतता है) प्राप्य है। पृष्ठ-तल पर बाएँ हाथ में कार्नकोपिया धारण किए हुए सिंहासनारूढ़ लक्ष्मी का चित्र अंकित है। इसी ओर सम्राट् की उपाधि 'अप्रतिरथः' भी प्राप्य है। यह लेख प्रयाग की प्रशस्ति की चौबीसवीं पंक्ति का स्मरण दिलाती है, जिसके अनुसार समुद्रगुप्त 'पृथिव्यामप्रतिरथस्य' (भूमण्डल पर अतुलनीय) था।

तीसरी कोटि (परशु-वर्ग) की मुद्राओं में सम्राट् वाम-हस्त में फरसा धारण किए हुए है। प्रयाग-प्रशस्ति में 'परशु' नामक शस्त्र का उल्लेख प्राप्य है। उसकी तुलना इसमें अन्तक (यमराज) से की गई है। भारतीय परम्परा के अनुसार उसका शस्त्र फरसा (परशु) है। इस कोटि की मुद्राओं का व्यास .७५" से लेकर .८५" तक है तथा औसत तौल ११८ ग्रेन है। ये सिक्के बनारस, कन्नौज एवं बयाना से प्राप्त हुए हैं। इनमें ९ मुद्राएँ ब्रिटिश संग्रहालय, १ भारतीय संग्रहालय, ४ लखनऊ संग्रहालय तथा ९ बयाना-निधि में प्राप्य हैं। इनके पुरोभाग पर सम्राट् के चित्र के ऊपर वर्तुलाकार लेख 'कृतान्तपरशुर्जयत्यजित राजजेताजितः' प्राप्य है (कृतान्तपरशु सम्राट् राजाओं के विजेता एवं अजित हैं)। पृष्ठ-भाग पर देवी अपने वाम-हस्त में कार्नकोपिया धारण किये हैं। इसी ओर उसकी उपाधि 'कृतान्त-परशु' प्राप्य है। उल्लेखनीय है कि उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में भी उसकी उपाधि 'कृतान्त-परशु' उल्लिखित मिलती है। लगता है कि उक्त तीनों कोटि की मुद्राओं (गरुड़, धनुर्धारी एवं परशु) को उसने अपने राज्य-काल की उस अवधि में प्रचलित किया था, जिस समय वह अपने विभिन्न युद्धों में संलग्न था।

दिग्विजय (धरणि-बन्ध) के उपलक्ष में उसने अवश्मेध-वर्ग की मुद्राओं को प्रचलित किया होगा। उनका सुगठन एवं सौन्दर्य-विशेष आभास प्रदान करता है कि इनके निर्माण-हेतु सम्राट् ने सर्वश्रेष्ठ कलाकारों को नियुक्त किया होगा। ये मुद्राएँ समुद्रगुप्त के साम्राज्य के चरमोत्कर्ष को अभिव्यक्त करती हैं। इस वर्ग के सिक्के ब्रिटिश-संग्रहालय में ७, ऐश्मोलियन संग्रहालय में ३, भारतीय संग्रहालय में २, लखनऊ संग्रहालय में ५ तथा बयाना-निधि में २० की संख्या में उपलब्ध हैं। उनका परिमाण .७५" से लेकर .९" तक है तथा तौल ११२.५ ग्रेन से ११९ ग्रेन तक है। पटना से सहारनपुर के बीच वे कई स्थानों से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

प्राप्त हुई हैं। इनके पुरोभाग की ओर अलंकृत यज्ञ-यूप में बँधे हुए अश्वमेध-यज्ञ के घोड़े का चित्र प्राप्य है। यूप के शीर्ष-विन्दु पर सुन्दर पताका फहराई गई है। यहाँ पर उल्लेखनीय हो जाता है कि इस प्रथा का वर्णन रामायण में भी प्राप्य है। इसके अनुसार दशरथ के अश्वमेघ-यज्ञ के अवसर पर इक्कीस यूप गाड़े गए थे, जिनके ऊपर पताकों के फहराने के कारण एक भव्य दृश्य दृष्टिगोचर होता था (वासोभिरेक विंशद्भिरेकैकं समलंकृताः)।[1] यज्ञ-यूप वेदी के भीतर एवं बाहर दोनों ही ओर द्रष्टव्य है। तैत्तिरीय संहिता (६,६·४) में वर्णन मिलता है कि यज्ञ-यूप यदि एकमात्र वेदिका के भीतर ही हो, तो सम्राट् को केवल स्वर्ग की ही प्राप्ति होती है। परन्तु यदि यह वेदी के बाहर स्थित हो, तो वह भू-मण्डल मात्र को ही जीतने में समर्थ होता है। वेदिका के भीतर एवं बाहर दोनों ही ओर यज्ञ-यूप के स्थित होने पर वह नृलोक एवं देव-लोक दोनों पर ही विजय प्राप्त कर लेता है। सम्भवतः इसी भावना को लेकर इस वर्ग की मुद्राओं के निर्माता-कलाकारों ने यज्ञ-यूप को अंशतः वेदिका की परिधि के भीतर एवं अंशतः बाह्यभाग में प्रदर्शित करने की चेष्टा की है।[2] इसी ओर वर्तुलाकार लेख 'राजाधिराजो पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यागृहीतवाजिमेधः' (अप्रतिम पराक्रम से युक्त सम्राट् पृथ्वी को जीत एवं अश्वमेध-यज्ञ का सम्पादन कर स्वर्ग-लोक पर भी विजय प्राप्त कर लेता है) प्राप्य है। पृष्ठ-तल पर चँवर-धारिणी अग्रमहिषी का चित्र अंकित किया गया है। इसी ओर सम्राट् की उपाधि 'अश्वमेध-पराक्रमः' भी प्राप्य है। इस कोटि की मुद्राएँ महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण हैं। इन पर उत्कीर्ण लेख––'आगृहीतवाजिमेधः' एवं 'अश्वमेध-पराक्रमः'––समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में प्राप्य उसकी सुविख्यात उपाधि 'अश्वमेधाहर्त्ता' का स्मरण दिलाता है।

'व्याघ्र-निहन्ता' वर्ग की मुद्राएँ उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि का परिचय प्रदान करती हैं। इनके पुरोभाग पर सम्राट् पगड़ी, कुर्ता, धोती, सीकड़, कर्णाभूषण एवं बाजूबन्द पहने प्रदर्शित किया गया है। वह धनुष-बाण से व्याघ्र का आखेट करता हुआ इसमें निरूपित है। इसी ओर उसकी उपाधि 'व्याघ्र-पराक्रम' भी प्राप्य है। पृष्ठ-तल पर मकर पर खडी गंगा का चित्र अंकित है। वह साड़ी, तंग चोली, कर्णपूर, कण्ठहार, बाजूबन्द एवं पायल पहने प्रदर्शित की गई हैं। उसके बाएँ हाथ में कमल है। इसी ओर समुद्रगुप्त का नाम (राजा

---

१. रामायण, १, १४, १२

२. क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता इम्पायर, पृष्ठ ६३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समुद्रगुप्तः) अंकित है। सम्राट् के जीवन में आखेट-प्रेम का स्थान महत्त्वपूर्ण हुआ करता था। युद्ध से थके-मादे सम्राट् के दिलबहलाव का यह एक उत्तम साधन था। अभिज्ञानशकुन्तलम् में तो राजकीय मनोविनोद का इसे सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया गया है (ईदृग्विनोदः कुतः)। अभी तक इस वर्ग की केवल छह मुद्राएँ उपलब्ध हो सकी हैं जिनमें से दो बयाना-निधि में प्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त दो ब्रिटिश संग्रहालय एवं एक लखनऊ-संग्रहालय में उपलब्ध हैं। इसका औसत परिमाण ·८५" एवं तौल ११७ ग्रेन है। इनमें भारतीयता की छाप विशेष रूप से परिलक्षित है। इस प्रसंग में सम्राट् की वेशभूषा विचारणीय है। वह कोट एवं पायजामा के स्थान पर कुर्ता, धोती एवं पगड़ी धारण किए है। इससे स्पष्ट है कि वे समुद्रगुप्त के राज्यकाल के उत्तरार्द्ध में प्रचलित की गई होंगी। उसके उत्तराधिकारियों में इस कोटि की मुद्राएँ पर्याप्त लोकप्रिय सिद्ध हुई थीं।

वीणा-वादन वर्ग की मुद्राएँ समुद्रगुप्त के कला-प्रेम पर प्रकाश डालती हैं। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार वह संगीत-शास्त्र का मर्मज्ञ था। इस वर्ग के सिक्के अल्प संख्या में मिले हैं। भारतीय संग्रहालय में २, लखनऊ संग्रहालय में २ तथा ब्रिटिश संग्रहालय में ५ की संख्या में ये प्राप्य हैं। इनका परिमाण '७५" से लेकर '८५" तक है तथा तौल १११ ग्रेन से लेकर ११५ ग्रेन तक है। इन मुद्राओं के पुरोभाग पर सम्राट् गद्देदार पर्यंक पर आसीन है। वह अपनी गोद में वीणा धारण किए उसे बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इसी ओर 'महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तः' लेख भी प्राप्य है। पृष्ठ-भाग पर प्रभामण्डल-युक्त लक्ष्मी की आकृति उत्कीर्ण है। वह अपने एक हाथ में 'कार्नकोपिया' धारण किए हुए है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वीणा-वादन-प्रेम एक पुरातन भारतीय परम्परा थी। भास के चारुदत्त नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न कहा गया है।[1] कालिदास के अनुसार विलासी अग्निवर्ण की गोद को दो ही वस्तुएँ सुशोभित करती थीं—एक तो मनोहर शब्द वाली वीणा तथा दूसरी मधुर-भाषिणी कामिनी।[2]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से समुद्रगुप्त की मुद्राओं

---

१. "वीणा नाम समुद्रोत्थितं रत्नम"—चारुदत्त, अंक ३।

२. "अंकमंकपरिवर्तनोचिते यस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोकना॥"
—रघुवंश, सर्ग १९, श्लोक १३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की उपादेयता निर्विवाद है। अभिलेखीय प्रमाणों की सम्पुष्टि करने के अतिरिक्त वे स्वतंत्र सूचनाएँ भी प्रदान करती हैं। उन पर उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर सम्राट् के व्यक्तित्व के विषय में शुद्ध ज्ञान उपलब्ध होता है। सम्राट् की व्यक्तिगत अभिरुचि एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों, साम्राज्य-सीमा, धार्मिक एवं आर्थिक दशाओं के परिज्ञान की दिशा में उपर्युक्त मुद्राओं ने श्लाघनीय प्रकाश डाला है। उसके अश्वमेध-यज्ञ के विषय में विशद सूचनाएँ, अभिलेखों की तुलना में मुद्राओं द्वारा कहीं अधिक प्राप्त होती हैं।

मनोनीत उत्तराधिकारी—प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त प्रतिभासंपन्न एवं होनहार युवक था। उसकी विलक्षण योग्यताओं से प्रभावित होने के कारण उसके पिता ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। इस श्लोक से संकेत मिलता है कि राजपद के प्रत्याशी अनेक राजकुमार रहे होंगे। किसी समय सम्राट् के मन्त्री, उच्च कर्मचारी एवं राजपुत्र आदि राजसभा में एकत्र थे। इस अवसर का रोचक एवं सजीव वर्णन करते हुए प्रशस्तिकार लिखता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने प्रतिभाशाली समुद्रगुप्त को गले से लगाते हुए उससे कहा कि हे पुत्र! तुम सब प्रकार से योग्य हो। तुम पृथिवी का उसी प्रकार पालन करो, जिस भाँति मैंने अभी तक किया है। इस समय भावावेश के कारण पिता को रोमांच हो आया तथा उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। इस राजकीय घोषणा के कारण सभासद उल्लसित हो उठे, पर अन्य राजकुमार, जो सिंहासन पाने की अभिलाषा रखते थे, म्लानमुख हो उठे।[1]

उपर्युक्त घटना प्रमाणित करती है कि समुद्रगुप्त उत्तराधिकारी के रूप में निर्वाचित कर लिया गया। प्रशस्ति के अनुसार चन्द्रगुप्त में प्रतिभा की परख की अद्भुद शक्ति थी (तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा)। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि गुप्त-कुल में कोई आवश्यक नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही सम्राट् का उत्तराधिकारी हो। कोई भी राजकुमार अपने गुण एवं अर्हताओं के कारण पिता द्वारा उत्तराधिकारी के रूप में उसके राज्य-काल में ही मनोनीत किया जा सकता था। राजदरबारियों (सभ्य) की प्रसन्नता का सम्भावित कारण यह था कि एक गुणसंपन्न एवं सुयोग्य

---

१. "आर्य्यो हीत्युपगुह्य भाव-पिशुनैरुत्कर्णितैः रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्याकुलितेन वाष्प-गुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥"
—प्रयाग का स्तंभ-लेख, चतुर्थ श्लोक

Digitized by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

व्यक्ति राज्याधिकार के लिये उपयुक्त समझा गया। वाकाटक-लेखों (ऋद्धपुर एवं पूना के ताम्रलेखों) में भी समुद्रगुप्त के लिये 'तत्पादपरिगृहीत' (चन्द्रगुप्त प्रथम के द्वारा चुना हुआ) शब्द उल्लिखित मिलता है। इससे भी स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने अनेक राजकुमारों के बीच समुद्रगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था।

संन्यास-ग्रहण—डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार का मत है कि प्रयाग-प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक के शाब्दिक अर्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक सम्पन्न कर संन्यास-ग्रहण कर लिया था। उक्त श्लोक में प्राप्य सजीव एवं रोमाञ्चकारी वर्णन उत्तराधिकार-निर्णय के अर्थ में उतना ठीक नहीं बैठ पाता जितना राज्य-कार्य-तिलाञ्जलि के रूप में यह अभिव्यञ्जित होता है।[1] लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के उपरान्त वृद्धावस्था में संन्यास-ग्रहण कर लेना एक सुविदित भारतीय आदर्श था। रघुवंश के अनुसार रघु-वंशी नरेश शैशवावस्था में विद्याभ्यास, यौवन में लौकिक विषयों का उपयोग एवं वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति तथा सबसे अन्त में वे योग-विद्या द्वारा स्वयं अपने शरीर का ही परित्याग कर देते थे।[2] इस भारतीय आदर्श का निरूपण उत्तररामचरित में भी प्राप्य है।[3] रघुवंश में उल्लेख मिलता है कि समस्त सांसारिक विषयों का परित्याग कर राजा दिलीप ने अपने नवयुवक पुत्र रघु को शास्त्रों के अनुसार छत्र, चँवर आदि राजचिन्ह सौंप दिए और स्वयं देवी सुदक्षिणा के साथ तप करने के निमित्त उन्होंने जंगल की राह ली, क्योंकि इक्ष्वाकु-वंशी नरेशों में परम्परा चली आ रही थी कि वृद्ध होने पर वे अरण्य-व्रत (जंगल में जाकर तपस्या करना) प्रारम्भ कर देते थे।[4] राजतरंगिणी

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १३७.

२. "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुस्त्यजाम्॥"

—रघुवंश, सर्ग १, श्लोक ८

३. "पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धैरिक्ष्वाकुभिर्धृतम्।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम्॥"

—उत्तररामचरित, अंक १, श्लोक २२

४. "अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपदिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation 'Arunachal' HHFA(USA)

के अनुसार काश्मीर-नरेश मातृगुप्त ने समस्त लौकिक उपलब्धियों का परित्याग कर संन्यास धारण कर लिया था।[1] इस ग्रन्थ में हम उसे अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर वाराणसी-वास करते हुए पाते हैं।[2] इसी ग्रन्थ में कलश नामक एक अन्य नरेश पुत्र का राज्याभिषेक-सम्पन्न कर वाराणसी अथवा नन्दिक्षेत्र में निवास द्वारा धर्मार्जन की अभिलाषा प्रकट करता है।[3] चन्द्रगुप्त प्रथम का संन्यास-ग्रहण भी इसी भारतीय परम्परा में आता होगा। वह समुद्रगुप्त को सम्बोधित करते हुए कहता है कि तुम अब मेरे राज्य की रक्षा वैसे ही करो जैसा कि मैंने किया है (पह्येवमुर्वीमिति)। इस वक्तव्य का स्वाभाविक निष्कर्ष यही हो सकता है कि उसने राजकार्य को तिलाञ्जलि दे दी थी। इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि एरण के शिलालेख के चतुर्थ श्लोक (पंक्ति-संख्या १३ से १६) द्वारा भी हो जाती है। इसके अनुसार समुद्रगुप्त अपने पिता (तात) द्वारा (जो कि उसकी भक्ति, विनम्रता एव पुरुषार्थ से प्रभावित था) अभिषेक (राज्यारोहण) एवं राजा की उपाधि (राजशब्द-विभव) आदि विशेष सम्मान के द्वारा पुरस्कृत किया गया था।[4]

मुनिवरतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिए
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥"

—रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ७०

१. "पुण्यां वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसंग्रहः।
सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोऽभवद्यतिः ॥"

—राजतरंगिणी, सर्ग ३, श्लोक ३२०

२. "पुण्यां वाराणसीं गत्वा तस्माच्छमसुखोन्मुखः।
इच्छामि सर्वसंन्यासं कर्तुं द्विजजनोचितम् ॥"

—वही, सर्ग ३, श्लोक २९७

३. "पुरं प्रतिष्ठां निष्पाद्य क्षिप्त्वा राजधुरं त्वयि।
वाराणस्यां गच्छामि नन्दिक्षेत्रेऽथवा पुनः ॥"

—वही, सर्ग ७, श्लोक ६४६

४. "तातेन भक्ति-नय-विक्रम-तोषितेन
यो राज - शब्द - विभवैरभिषेचनाद्यैः।
सम्मानितः परम - तुष्टि - पुरस्कृतेन
सोऽयं ध्रुवो नृपतिरप्रतिवार्य्य - वीर्य्यः ॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६१.

विशेष रूप से द्रष्टव्यः—लेखक का ग्रन्थ 'स्टडीज इन ऐंशेण्ट इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, अध्याय १.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

7130

लौकिक कामनाओं की पूर्ति एवं राज्यभार-जनित व्यस्त जीवन से ऊब जाने के कारण अत्यधिक वृद्धावस्था में पुण्यार्जन-निमित्त शान्तिमय अरण्यजीवन बिताने की स्वाभाविक अभिलाषा चन्द्रगुप्त के हृदय में जागृत हुई होगी।

डॉ० जायसवाल का मत—यहाँ पर डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल द्वारा प्रयाग-प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक पर दी गई व्याख्या पर भी विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। उनके अनुसार इसमें एक ऐसे नरेश की भावनाओं का निरूपण किया गया है, जो सम्पूर्ण राज्य के हार जाने के कारण शोक से अत्यन्त विह्वल मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। उसकी अश्रुधारा उसके मार्मिक दुख की परिचायिका थी। अपने सुयोग्य पुत्र समुद्रगुप्त को अपने लुप्त साम्राज्य के पुनरुद्धार का दायित्व-सौंप कर उसने अपनी आँखें मूँद ली होंगी। डॉ० जायसवाल का यह मत उस भ्रान्तिमूलक अवधारणा पर आश्रित है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम एवं कौमुदीमहोत्सव के चण्डसेन एक ही व्यक्ति थे। चण्डसेन का सम्पूर्ण राज्य उसके विपक्षियों द्वारा अपहृत कर लिया गया था। हम परिच्छेदान्तर में देख आए हैं कि चण्डसेन एवं चन्द्रगुप्त प्रथम को एक व्यक्ति प्रमाणित करना गुप्त-वंशीय इतिहास के साथ सर्वथा अन्याय करना होगा। प्रयाग-प्रशस्ति का उक्त श्लोक ठाटबाट से सम्पन्न राजदरबार के एक ऐसे दृश्य को हमारे नेत्र-पटल के समक्ष प्रस्तुत करता है, जिसमें सम्राट् के दरबारी, विश्वस्त कर्मचारी एवं राजकुमार उपस्थित थे। इस श्लोक से वस्तुतः एक ऐसे विशिष्ट अवसर का भाव प्रकट होता है, जिस समय राजा ने अपने मनोनीत उत्तराधिकारी की घोषणा की थी। यदि उस समय चन्द्रगुप्त प्रथम राज्यच्युत होता तो उसके द्वारा अपने उत्तराधिकारी के चुनाव अथवा मन्त्रियों एवं कर्मचारियों की उपस्थिति की कोई आवश्यकता ही न थी। ऐसी परिस्थिति में उत्तराधिकार-घोषणा के कारण समुद्रगुप्त के भाइयों के मन में दुख अथवा द्वेष की भावना के उठने का कोई कारण भी नहीं था।

गृह-युद्ध—रैप्सन[1] तथा हेरास[2] महोदयों का कथन है कि राज्याभिषेक के अनन्तर समुद्रगुप्त को अपने भाइयों के साथ एक गृह-युद्ध लड़ना पड़ा, जिसके विषय में संकेत प्रयाग-प्रशस्ति की श्लोक-संख्या ५ एवं ६ से प्राप्त होता है। इन दोनों श्लोकों के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश नष्ट हो चुके हैं पर अवशिष्ट भागों से ज्ञात होता है कि सिंहासनारोहण के पश्चात् उसे अपने शत्रुओं का दमन करना पड़ा

---

१. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९३, पृष्ठ ८१
२. ऐनाल्स ऑफ भंडारकर ओरियेंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द ४, पृष्ठ ८३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। ये शत्रु उसके भाई लगते हैं जिनका उल्लेख इस अभिलेख के चतुर्थ श्लोक में हुआ है। इसके अनुसार समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी मनोनीत किए जाने पर वे अत्यन्त क्लेशयुक्त हो उठे थे (म्लानाननोद्वीक्षितः)। वे समुद्रगुप्त के उत्तराधिकार के विरोधी रहे होंगे। उन्होंने सम्मिलित रूप से उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया होगा और फलतः एक संकटपूर्ण स्थिति सामने आ गई होगी। उन्होंने अपना नायक काच को बनाया होगा, जिसके विषय में सूचना एक विशेष प्रकार की सुवर्ण-मुद्राओं के आधार पर प्राप्त होती है। काच समुद्रगुप्त का बड़ा भाई रहा होगा, अतएव उसके अन्य भ्राताओं ने उसी के पक्ष का समर्थन किया। इस उत्तराधिकार-संबंधी गृह-युद्ध में वह मार डाला गया होगा। समुद्रगुप्त इसमें अन्ततोगत्वा विजयी हुआ। उसने अपने कतिपय भाइयों को पराक्रम से जीता (संग्रामेषु स्वभुजबल-विजिताः नित्यमुच्चापकाराः) तथा कुछ को स्नेह के बल पर (तोषोत्तुङ्गैः स्फुटबहु-रस-स्नेह-फुल्लैर्म्मनोभिः)। उसके बाहुबल से आक्रान्त उन आन्तरिक शत्रुओं ने उसके शरण में आकर अभिवादन किया (वीर्योतप्ताश्च केचिच्छरण-मुपगता यस्य वृत्ते प्रणामे)। उन्होंने अपनी दुष्कृति पर खेद (पश्चात्ताप) प्रकट करते हुए क्षमायाचना की होगी।[1]

---

१. इस मत से कुछ विद्वान् सहमत नहीं हैं। सम्भव है कि 'काच' वर्ग की मुद्राएँ समुद्रगुप्त की ही रही हों। इन मुद्राओं के पृष्ठ-तल की विशेषताएँ समुद्रगुप्त की व्याघ्र-हनन् तथा अश्वमेध-मुद्राओं के पृष्ठ भाग की विशेषताओं से साम्य रखती हैं। काच-मुद्राओं के मुख-भाग पर प्राप्त लेख (काचो गामवजित्य कर्म-भिरुत्तमैर्दिवं जयति) समुद्रगुप्त की मुद्राओं के पुरो भाग पर उत्कीर्ण लेख (अप्रतिरथा विजित्य क्षिति सुचरितैर्दिवं जयति) में पर्याप्त समानता है। काच-मुद्राओं की औसत तौल ११६ ग्रेन समुद्रगुप्त की मुद्राओं की तौल के बराबर है। काच-मुद्राओं पर सम्राट् की उपाधि 'सर्वराजोच्छेता' मिलती है। यह उसके दिग्विजय (धरणि-बन्ध) की ओर संकेत करती है। गुप्तों के राजकीय लेखों में एकमात्र समुद्रगुप्त को ही 'सर्वराजोच्छेता' की उपाधि प्रदान की गई है। इन सब बातों को दृष्टिकोण में रखने पर 'काच' मुद्राएँ समुद्रगुप्त के द्वारा ही प्रचलित की गई लगती हैं। सम्भव है कि यह उसका मौलिक नाम रहा हो। कालान्तर में विजयोपरान्त जब उसका यश समुद्र-छोर तक प्रसरित हो गया, उसने अपना नवीन नाम समुद्रगुप्त धारण किया होगा। उसके उत्तराधिकारियों के लेखों के अनुसार उसका यश चारो समुद्रों तक प्रसरित था (चतुरुधिसलिलास्वादितयशसो)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दिग्विजय—भाइयों के विद्रोह को कुचल देने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ कर ली। उसने इस समय दिग्विजय की एक महती योजना बनाई जिसका अन्तिम लक्ष्य, प्रयाग की प्रशस्ति के शब्दों में 'धरणि-बन्ध' (भू-मण्डल को बाँधना) था। इस अभिलेख के वर्णन का गहराई के साथ विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उक्त शब्द (धरणि-बन्ध) से तात्पर्य उसके द्वारा भारत का एकराट् सम्राट् बनने से था। समुद्रगुप्त अपनी कोटि का एक अद्वितीय विजेता था। उपर्युक्त लेख में वर्णन मिलता है कि वह विविध कोटि की युद्ध-कलाओं का मर्मज्ञ था एवं सैकड़ों लड़ाइयों में उसने भाग लिया था (विविधसमरशतावतरणदक्षस्य)। उसकी मुद्राओं पर प्राप्य विरुद के अनुसार भी वह सैकड़ों युद्धों में विजय-हेतु प्रख्यात था (समरशतवितत विजयो)। प्रयाग की प्रशस्ति में इस नरेश को 'पराक्रमांक' (पराक्रम के हेतु सुप्रसिद्ध) कहा गया है। वह फरसा (परशु), बाण (शर), शंकु, शक्ति, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच एवं वैतस्तिक आदि अनेक शस्त्रों के प्रयोग में अत्यन्त कुशल था। इन हथियारों की चोटों के चिन्ह उसके शरीर पर विद्यमान थे और परिणामस्वरूप उसकी कान्ति द्विगुणित हो गई थी (प्रहरण-विरूढाकुल-व्रण-शतांक-शोभा-समुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः)। उस पुरुषार्थी को एकमात्र अपने बाहुबल का ही सर्वदा भरोसा रहता था (स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः)। अपने युद्धों के द्वारा वह भारतवर्ष का चक्रवर्ती नरेश बनने की अभिलाषा से प्रेरित था। इसकी पूर्ति के लिए उसने अपने समकालीन भूपतियों एवं प्रतिद्वन्द्वियों का उन्मूलन किया था। यही कारण है कि गुप्तवंशीय अभिलेखों में उसे 'सर्वराजोच्छेता' (सम्पूर्ण राजाओं का उन्मूलन करने वाला) कहा गया है। उसकी यह उपाधि महापद्म का स्मरण दिलाती है जिसने 'सर्वक्षत्रान्तक' (संपूर्ण राजकुलों का विनाशकर्ता) की उपाधि धारण की थी। अभिलेखों में उसे शत्रुओं का मानमर्दन करने वाला (जितरिपुः), अजेय (अजितः), अद्वितीय योद्धा (अप्रतिरथः), अतुलनीय पराक्रमी (अप्रतिवार्य्यवीर्य्यः), पृथ्वी को जीतने वाला (विजित्य क्षिति), प्रतिद्वन्द्वी राजपुत्रों का विजेता (राजजेता), पराक्रम द्वारा नाना नरेशों को परास्त कर देने वाला (स्वभुजबलविजितानेकनरपतिः) तथा स्वर्ग लोक को भी जीतने की महात्वाकांक्षा से युक्त (दिवं जयति) कहा गया है। यह उसके दिग्विजयी स्वभाव का परिचायक है।

प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध—सर्वप्रथम उसने उत्तरी भारतवर्ष में एक युद्ध किया जिसका उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति की तेरहवीं एवं चौदहवीं पंक्तियों में किया गया है। इसमें उसने तीन नरेशों को परास्त किया —

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(१) **अच्युत**—प्रथम पराजित नरेश अच्युत नामक था। इस नरेश के विषय में इतिहासकारों की जानकारी अधिक नहीं है। कतिपय विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि वह अहिच्छत्र का शासक था, जिसकी पहचान बरेली जिले में स्थित आधुनिक रामनगर से की जाती है। उसकी मुद्राओं की बनावट नागवंशी मुद्राओं के आकार-प्रकार से साम्य रखती है। अतएव बहुधा उसे लोग नाग-नरेश मानते हैं। उसके सिक्कों पर प्राप्य लिपि के अनुसार कुछ विद्वानों ने उसका समय चतुर्थ शताब्दी ईसवी का मध्य भाग माना है, जो कि समुद्रगुप्त का काल था। लगता है कि अहिच्छत्र में भी कोई महत्त्वपूर्ण नाग-शाखा उस समय राज्य कर रही थी। इस स्थान से अच्युत की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिससे आभास मिलता है कि वह इसी नाग-वंश से सम्बन्धित था।

(२) **नागसेन**—वह एक नाग-वंशी नरेश था, जिसकी पहचान हर्षचरित में उल्लिखित नागसेन से की जाती है। उसकी राजधानी पद्मावती में विद्यमान थी। 'हर्षचरित' के अनुसार जिस अवसर पर हर्ष ने अपने दिग्विजय-हेतु प्रस्थान किया था, उस समय उनके वयोवृद्ध एवं स्वामिभक्त अनुभवी सेनापति सिंहनाद ने उन्हें असावधानी के खतरों से सचेत करते हुए ऐसे नरेशों का दृष्टान्त दिया था, जो अपनी असतर्कता के कारण शत्रुओं के हाथ अपनी जान धो बैठे थे। नाग-वंशी नागसेन ऐसे ही राजाओं की कोटि में आता था। सारिका (मैना) के द्वारा गुप्त मंत्रणा का भेद खुल जाने के कारण पद्मावती में उसका विनाश हो गया था (नाग-कुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्य आसीद नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्)। पद्मावती की पहचान आधुनिक पद्म-पवय्या से की जाती है, जो ग्वालियर-रियासत में स्थित नारवाड़ से उत्तर-पूर्व २५ मील की दूरी पर स्थित है। इस स्थान से नाग-मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिससे अनुमान होता है कि नाग-वंशी की कोई शाखा यहाँ भी राज्य कर रही थी। पुराणों में भी नागसेन का नामोल्लेख प्राप्य है। इनके अनुसार वह पद्मावती का शासक था।

(३) **कोतुकुलज**—इस नरेश का नाम प्रशस्ति से मिट गया है। उसे 'कोत-कुलज' कहा गया है, जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि उसका जन्म कोत-वंश में हुआ था। प्रयाग की प्रशस्ति की चौदहवीं पंक्ति में काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि जब समुद्रगुप्त पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) में क्रीड़ा कर रहा था, उस समय उसकी सेनाओं ने उक्त नरेश को बन्दी बना लिया (दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडिता)। अभिलेख में उसके नाम का प्रथम अक्षर 'ग' अवशिष्ट है। इससे डॉ० दिनशचन्द्र आदि कतिपय विद्वानों का मत है कि वह गणपतिनाग हो सकता है, जिसका नामोल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति की इक्कीसवीं पंक्ति में पुनः हुआ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। डॉ० सरकार के अनुसार अनुमानतः नष्ट भाग में 'गणपत्यादीन्नृपान् संगरे' लिखा होगा (अर्थात् गणपति आदि नरेशों को उसने जीत लिया था)[१] परन्तु इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन है। यह तो सुविदित ही है कि गणपतिनाग का जन्म नाग-कुल में हुआ था। परन्तु उक्त नरेश कोतकुल से संबन्धित था। ऐसी परिस्थिति में दोनों का तादात्म्य कैसे स्थापित किया जा सकता है? डॉ० जायसवाल ने कोतकुल की पहचान भ्रमवश कौमुदीमहोत्सव में वर्णित मगध-कुल से की थी, जिसमें सुन्दरवर्मा एवं कल्याणवर्मा आते थे। उनके अनुसार कोतकुल के नरेश उस समय पाटलिपुत्र में शासन करते थे।[२] समुद्रगुप्त द्वारा पराजित कोत-कुल-समुद्भूत नरेश का तादात्म्य उन्होंने कल्याणवर्मा से किया था। इसी कल्याण-वर्मा को परास्त कर समुद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र को छीना होगा। यही कारण है कि प्रयाग की प्रशस्ति में कोतकुलज शासक पर विजय के प्रसंग में पुष्पपुर (पाटलि-पुत्र) का उल्लेख हुआ है।

विचारवान पाठक स्वीकार करेंगे कि डॉ० जायसवाल का उपर्युक्त मत कल्पना पर आश्रित है। हम अन्यत्र इस बात पर विचार करेंगे कि सुन्दरवर्मा एवं कल्याणवर्मा ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकते। ये दोनों पात्र वस्तुतः कौमुदी-महोत्सव नाटक की लेखिका के मस्तिष्क की कल्पना हैं। मुद्रा-साक्ष्य के आधार पर कोत-कुल की सत्ता प्रतिपादित हो जाती है। पूर्वी पंजाब एवं दिल्ली से कुछ मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर 'कोत' लेख मिलता है। स्पष्ट है कि ये कोतवंशीय मुद्राएँ हैं और यह राजकुल इन्हीं क्षेत्रों में (अर्थात् दिल्ली एवं पूर्वी पंजाब के आस-पास) शासन कर रहा होगा। डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार का अनुमान ठीक ही है कि समुद्रगुप्त द्वारा पराजित कोतकुल-समुद्भूत शासक उक्त राजवंश से ही संबन्धित था एवं उसका अधिकार-क्षेत्र उपर्युक्त के ही अनुसार रहा होगा।[३] डॉ० विन्सेण्ट स्मिथ का कथन है कि नीलगिरि में कोत नामक एक जाति अब भी रहती है। संभव है कि यही जाति प्राचीन कोतकुल का प्रतिनिधित्व इस समय कर रही है।[४]

गुटबन्दी—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन तीनों नरेशों के अधिकार-क्षेत्र बरेली एवं दिल्ली से लेकर ग्वालियर तक के विस्तृत भू-भाग में वर्तमान थे।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २५६, पाद-टिप्पणी १
२. हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ ११३
३. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १३९-४०
४. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९७, पृष्ठ ८६३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

उनके राज्यों के बीच कुछ अन्य राज्य भी स्थित थे। प्रश्न यह उठता है कि जब तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ इस प्रकार थीं, तो हम यह कैसे मान लें कि इन तीनों को समुद्रगुप्त ने किसी एक ही युद्ध में परास्त कर दिया था? सम्मिलित मोर्चा बनाने में उनके समक्ष व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं। यहाँ पर स्मरणीय है कि लेख की तेरहवीं एवं चौदहवीं पंक्तियों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने उन्हें एकमात्र अपने ही बाहु-बल द्वारा परास्त किया था। (उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य्यरभसादेकेन येन क्षणादुन्मूल्य)। इस उल्लेख से निष्कर्ष निकलता ह कि वह महासत्व उनसे अकेले ही लड़ा था और एक ही लड़ाई में उसने उन्हें हरा दिया था (एकेन··· उन्मूल्य)। उक्त भूपतियों के बीच दलबन्दी आश्चर्यजनक घटना नहीं हो सकती थी। इनमें से दो नरेश (अर्थात् अच्युत एवं नागसेन) नागवंशी थे और तत्कालीन राजमंडल में उनका स्थान विशिष्ट था। उदीयमान समुद्रगुप्त की शक्तियों को कुचलने के निमित्त उसके विरुद्ध उन्होंने सम्मिलित मोर्चा स्थापित करना अपने लिए श्रेयस्कर समझा होगा।

युद्ध-स्थल——काशीप्रसाद जायसवाल का अनुमान है कि यह युद्ध कौशाम्बी में हुआ था। यह एक ऐसा केन्द्रीय स्थान था, जहाँ पर उक्त तीनों नरेश सरलतापूर्वक एकत्र हो सकते थे। इस निष्कर्ष से सहमत होना उचित नहीं होगा। हम आगे निर्दिष्ट करेंगे कि इस नगर में रुद्रदेव नामक नरेश राज्य करता था, जिसका नामोल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में पराजित आर्यावर्त्त-नरेशों की द्वितीय तालिका में उपलब्ध है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि उपर्युक्त तीनों नरेश समुद्रगुप्त के राज्याभिषेक के विरुद्ध थे। अतएव उन्होंने संगठित रूप में उसकी राजधानी पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) पर आक्रमण कर दिया और इस प्रकार प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध वहीं पर हुआ होगा। यह एक सुरक्षात्मक युद्ध था, जिसमें विजय के फलस्वरूप उसने अपने राज्य को उनके हाथों में पड़ने से बचा लिया था। यह मत भी अतिरञ्जित है। प्रयाग-प्रशस्ति में इस विजय के प्रसंग में 'पुष्पाह्वये क्रीडिता' (जिस समय वह नरेश अपनी राजधानी पुष्पपुर में समारोह मना रहा था) का उल्लेख मिलता है। इस समस्त पद में पाटलिपुत्र के युद्धस्थल होने का कोई भी संकेत नहीं है। इससे स्वाभाविक अर्थ यह निकलता है कि सम्राट् ने अपने उक्त विजय के उपलक्ष में अपनी राजधानी में उत्सव का आयोजन किया था। उसका यह युद्ध पाटलिपुत्र के बाहर हुआ होगा। समुद्रगुप्त ने स्वयं इन पर चढ़ाई कर इनके सम्मिलित मोर्चे को हराया था। लगता है कि इस युद्ध में पराजित नरेशों के राज्य छीने नहीं जा सके थे, क्योंकि उनके नाम का उल्लेख हम पुनः आर्यावर्त्त-नरेशों की द्वितीय तालिका में भी पाते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कालक्रम—प्रयाग की प्रशस्ति में प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध के अनन्तर समुद्रगुप्त के दक्षिणी अभियान का उल्लेख मिलता है। इससे कुछ विद्वानों (उदाहरणार्थ जुवो डुबरेयिल एवं काशीप्रसाद जायसवाल) का ऐसा अनुमान है कि प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध के अनन्तर उसने दक्षिणापथ पर आक्रमण किया होगा। इसको सही मान लेने में कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ एवं उलझने सामने आती हैं। प्रथम आर्यावर्त-युद्ध के उपरान्त समुद्रगुप्त की राजनीतिक स्थिति उत्तरी भारत में सुरक्षित नहीं हो पाई थी। विन्ध्य-पर्वतमालाओं के उत्तर में स्थित उसका राज्य कई प्रबल शक्तियों द्वारा घिरा हुआ था। उनको बिना उन्मूलित किए ही यदि वह दक्षिण भारत की ओर विजय के उद्देश्य से बढ़ता, तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल होती। उसके सबल महत्त्वाकांक्षी प्रतिद्वन्द्वी पाटलिपुत्र में उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए इस नगर पर आक्रमण कर भयावह स्थिति उत्पन्न कर सकते थे। लोकज्ञ समुद्रगुप्त से इस प्रकार की राजनीतिक भूल संभव नहीं थी। मौर्य एवं वर्द्धन-नरेशों ने उत्तरी भारतवर्ष में सार्वभौम सत्ता की स्थापना के उपरान्त ही दक्षिण भारत पर आक्रमण किया था। मध्यकालीन नरेश अलाउद्दीन खिल्जी को उसके परामर्शदाताओं ने उत्तरी भारत में अपनी सत्ता को बिना सुदृढ़ किये ही दक्षिण की ओर बढ़ने-से रोका था। उत्तरी भारतवर्ष में समुद्रगुप्त की राजनीतिक स्थिति आर्यावर्त्त में उसके द्वितीय सैन्य अभियान के अनन्तर सुसंघटित हो सकी थी। इसके उपरान्त ही वह दक्षिणी भारत पर आक्रमण करने की परिस्थिति में हो सकता था। अतएव यह मानना कहीं अधिक समीचीन होगा कि प्रयाग-प्रशस्ति की द्वितीय तालिका में उल्लिखित नव नरेशों का उन्मूलन कर लेने के अनन्तर ही उसने दक्षिणापथ के उन नरेशों को परास्त किया होगा जिनका नामोल्लेख इस अभिलेख में प्राप्य है। इसमें समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन वस्तुतः कालक्रम की दृष्टि से नहीं हुआ है। प्रशस्तिकार हरिषेण ने पराजित शक्तियों का वर्गीकरण केवल क्षेत्रीय आधार पर ही किया है।

युद्ध-संख्या—कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त में केवल एक ही युद्ध किया था। उत्तरी भारतवर्ष में पराजित नरेशों के नाम प्रयाग-प्रशस्ति की दोनों ही सूचियों में एक ही हैं; उदाहरणार्थ अच्युत एवं नागसेन। इससे अनुमान होता है कि इस अभिलेख में आर्यावर्त्त के उसी युद्ध का पुनरुल्लेख है। इस मत के विरुद्ध विचारणीय है कि प्रथम सूची में केवल तीन ही नरेशों के नाम उत्कीर्ण मिलते हैं जहाँ द्वितीय सूची में नव-नरेशों के नाम आते हैं। प्रथम सूची के कोतकुलज शासक का नाम द्वितीय सूची में अनुपलब्ध है। अतएव एक ही आर्यावर्त्त-युद्ध की अवधारणा समीचीन नहीं हो सकती। कुछ इति-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

हासकारों का मत है कि द्वितीय तालिका में उल्लिखित सभी नव-नरेशों को उसने एक ही युद्ध में हराया था, जो उसका द्वितीय आर्यावर्त्त-युद्ध रहा होगा। परन्तु इस निष्कर्ष से भी सहमत होना दुष्कर है। इनके राज्य पश्चिम में ग्वालियर से लेकर पूर्व में पश्चिमी बंगाल तक फैले हुए थे। नागसेन पद्मावती (पद्मपवय्या जो कि ग्वालियर के समीप स्थित है) में राज्य कर रहा था तथा चन्द्रवर्मा पुष्करण (आधुनिक पोखरन जो कि पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा जिले में वर्तमान है) में। इनके द्वारा सम्मिलित मोर्चा बनाने में प्राकृतिक एवं राजनीतिक अवरोध थे। सहसा अनुमान कर लेना कि दूरस्थ भागों के इन विभिन्न नरेशों ने कोई पारस्परिक गुट बना लिया था और समुद्रगुप्त ने किसी एक ही युद्ध में इन सबको परास्त कर दिया होगा, असम्भव सा लगता है। उसने छोटी-बड़ी विभिन्न लड़ाइयों में उन्हें हराया होगा। इसी तथ्य के कारण वह सैकड़ों युद्धों के विजेता (समरशतावतरणदक्ष) के रूप में सुप्रसिद्ध हो गया था। द्वतीय सूची में उल्लिखित आर्यावर्त्त-नरेशों का परिचय कुछ निम्नलिखित ढंग से दिया जा सकता है--

(१) **रुद्रदेव**--के० यन० दीक्षित एवं काशीप्रसाद जायसवाल ने उसका समीकरण वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम से किया है। दक्षिणापथ का यह नरेश समुद्रगुप्त का समकालीन था। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार उसने दक्षिण भारत के सम्पूर्ण राजाओं को परास्त किया था (सर्वदक्षिणापथराजग्रहण)। वाकाटक-राज्य के उत्तर में उसने पद्मावती के नागसेन एवं विदिशा के गणपतिनाग को जीत लिया था। विन्ध्यपर्वतमाला के उत्तरी दिशा में रींवा तथा सागर जिलों में राज्य करने वाले वाकाटक-सामन्तों के अधिकार-क्षेत्रों को भी उसने छीन लिया था। दक्षिणी भारत के ऊपर अभियान करते समय वाकाटक-राज्य-सीमा के समीप ही पूर्वी घाट के नरेशों को वह परास्त कर रहा था। इन सब परिस्थितियों पर विचार करने पर स्वाभाविक सा लगता है कि वाकाटक रुद्रसेन के साथ समुद्रगुप्त का युद्ध हुआ होगा। महत्त्वाकांक्षी एवं विजिगीषु समुद्रगुप्त की दिग्विजय-योजनाओं को वे उदासीनता की दृष्टि से नहीं देख सकते थे, क्योंकि यह दृष्टिकोण उनके लिए घातक सिद्ध हो सकता था। हाल ही में वासुदेव विष्णु मिराशी ने भी प्रयाग-प्रशस्ति के रुद्रदेव को वाकाटक रुद्रसेन प्रथम के साथ समीकृत करते हुए प्रतिपादित किया कि नर्मदा नदी के उत्तर एवं दक्षिण की राज्यव्यवस्थाओं में उथल-पुथल एवं भयंकर क्रान्ति मचा देने वाले समुद्रगुप्त की बढ़ती शक्ति ने वाकाटक-गुप्त-संघर्ष को अवश्यम्भावी बना दिया होगा। इस संघर्ष में समुद्रगुप्त विजयी हुआ होगा तथा वाकाटक-शक्ति को इससे बहुत बड़ा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धक्का पहुँचा होगा[1]। इस समीकरण के संबन्ध में दो तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हो जाते हैं। पहला तो यह कि प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार रुद्रदेव एक आर्यावर्त्त-नरेश था। इसके प्रतिकूल वाकाटक रुद्रसेन प्रथम दक्षिणापथ का शासक था। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि रुद्रदेव के राज्य को समुद्रगुप्त ने अपहृत (उन्मूलित) कर दिया था। रुद्रसेन प्रथम की वंश-परम्परा पीढ़ियों तक चलती रही। कालान्तर में दोनों राजवंशों में वैवाहिक संबन्ध की भी स्थापना हुई। इन विशिष्ट तथ्यों को दृष्टिकोण में रखते हुए वाकाटक रुद्रसेन प्रथम के साथ रुद्रदेव का तादात्म्य न्यायोचित नहीं प्रतीत होता। हेमचन्द्र रायचौधरी ने यथार्थ ही कहा है कि वाकाटक इतने सशक्त थे कि समुद्रगुप्त द्वारा उनका उन्मूलन असम्भव था। दूरदर्शी समुद्रगुप्त ने इस बात का अनुभव किया होगा कि इतने प्रभावशाली राजवंश के साथ संघर्ष करने में उसका कोई लाभ नहीं था। गुप्त-वंश ने वैवाहिक संबन्ध की स्थापना द्वारा उनके सौहार्द को जीत लेना श्रेयस्कर समझा था।

दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार शक-क्षत्रप रुद्रदामन द्वितीय या उसके पुत्र रुद्रसेन तृतीय के साथ रुद्रदेव का समीकरण समुचित होगा। शक अपने नाम के अन्त में स्वामी शब्द जोड़ते थे, जो देव शब्द का पर्याय है। इस राजवंश के नरेश अपने वर्ग में अधिपति (राजनीतिक प्रधान) होने के अतिरिक्त आचार्य (धार्मिक गुरु) भी समझे जाते थे। इस समीकरण के विषय में विचारणीय है कि प्रयाग-प्रशस्ति में शकों का उल्लेख पृथक् रूप में कुषाण एवं मुरुण्ड आदि शक्तियों के साथ हुआ है। उन्होंने समुद्रगुप्त के साथ अधीनस्थ मैत्री स्थापित की थी। रुद्रदेव का नामोल्लेख उन्मूलित नरेशों की तालिका में हुआ है। यदि उससे तात्पर्य शक-जाति के किसी नरेश से होता, तो उसी अभिलेख में शकों के पुनरुल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं थी। 'रुद्र' नामांकित मुद्राएँ कौशाम्बी (कोसम) से उपलब्ध हुई हैं। लिपि-साक्ष्य के आधार पर वह चतुर्थ शताब्दी का शासक प्रतीत होता है। प्रयाग-प्रशस्ति के रुद्रदेव को इस कौशाम्बी-नरेश से समीकृत करना समीचीन होगा। यही कारण है कि आर्यावर्त्त-नरेशों की सूची में उसका नामोल्लेख सर्वप्रथम हुआ है।

(२) **मतिल**—इस नरेश के विषय में हम अत्यन्त अन्धकार में हैं। बुलन्द शहर से एक मुद्रा मिली है जिस पर 'मत्तिल' नाम उत्कीर्ण है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि यह मुद्रा मतिल की है। इस आधार पर वह आधुनिक बुलन्द-

---

१. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ २६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

शहर के आस-पास का शासक प्रतीत होता है। इस समीकरण के विषय में हम बहुत निश्चित नहीं हो सकते। उक्त मुद्रा-लेख में मत्तिल के नाम के पूर्व किसी सम्मानसूचक शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। अतएव यह कोई राजकीय मुद्रा नहीं ज्ञात होती। सम्भव है कि यह किसी साधारण नागरिक की मुद्रा रही हो।[1]

(३) **नागदत्त**--प्रमाणाभाव के कारण इस नरेश के विषय में भी हमारा परिचय अत्यल्प है। नाम से यह कोई नाग-वंशी नरेश प्रतीत होता है। कनिंघम को लाहौर से नाग-लाञ्छनयुक्त एक मुद्रा प्राप्त हुई, जिस पर चतुर्थ शताब्दी की लिपि में एक एक छोटा सा लेख उत्कीर्ण है। इसमें महाराज नागभट के पुत्र महेश्वरनाग का उल्लेख आता है।[2] (महाराज-नागभटपुत्र-महेश्वरनाग)। काशीप्रसाद जायसवाल ने नागदत्त की पहचान इस लेख के नागभट से किया है। लिपि के आधार पर उसका समय चतुर्थ शताब्दी के लगभग निर्धारित होता है, जो कि नागदत्त का भी काल था। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार वह उत्तरी बंगाल का शासक प्रतीत होता है। वहाँ से प्राप्त लेखों के अनुसार इस भाग में (जो कि उस समय पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति कहलाता था) दत्त-वंश के सदस्य परम्परागत आधार पर राज्यपाल के रूप में शासन करते थे। प्रयाग-प्रशस्ति का नागदत्त इन्हीं पदाधिकारियों का कोई पूर्वज ज्ञात होता है। इस मत से सहमत होना दुष्कर है, क्योंकि दत्त-वंश को नाग-कुल नहीं प्रमाणित किया जा सकता। उचित प्रमाणों के अभाव में नागदत्त के अधिकार-क्षेत्र को निर्दिष्ट करना असम्भव है।

(४) **चन्द्रवर्मा**--वह पश्चिमी बंगाल में आधुनिक बाँकुड़ा जिले के आस-पास शासन करता था। इस स्थान (बाँकुड़ा) से उत्तर-पश्चिम बारह मील की दूरी पर स्थित सुसुनिया की पहाड़ी पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में चन्द्रवर्मा नामक नरेश का नामोल्लेख हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार वह सिंहवर्मा का पुत्र एवं पुष्करण नामक स्थान का स्वामी था (पुष्करणाधिपतेर्म्महाराज-श्रीसिंहवर्म्मणः पुत्रस्य महाराज-श्रीचन्द्रवर्म्मणः कृतिः[3])। पुष्करण की पहचान बाँकुड़ा जिले में स्थित आधुनिक पोखरन से की जाती है। दामोदर नदी के तट पर वर्तमान यह स्थान सुसुनिया की पहाड़ी से २५ मील उत्तर-पूर्व की ओर पड़ता है। लगता है कि चन्द्रवर्मा की राजधानी वहीं पर विद्यमान थी।

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १, पृष्ठ २५४
२. कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, ३, पृष्ठ २८३
४. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३४२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्री हरप्रसाद शास्त्री एवं आर० यन० दण्डेकर के अनुसार वह मालवा के वर्मन राजवंश से संबन्धित था, जिसका नामोल्लेख मन्दसोर की प्रशस्तियों में हुआ है। महाराज नरवर्मा के मन्दसोर-शिलालेख (मालव संवत् ४६१=४०४ ई०) में सिंहवर्मा नामक नरेश का वर्णन मिलता है, जो जयवर्मा का पुत्र था। शास्त्री महोदय ने सुसुनिया के लेख के सिंहवर्मा को इस नाम के उक्त नरेश से समीकृत किया है। उनके अनुसार पुष्करण की पहचान मारवाड़ में स्थित वर्तमान पोकुर्न अथवा पोकरन से की जा सकती है। इस मत का अनुमोदन करते हुए आर० एन० दण्डेकर लिखते हैं कि सुसुनिया के शिलालेख का चन्द्रवर्मा इसी सिंहवर्मा का पुत्र था। वह बड़ा ही महत्वाकांक्षी सिद्ध हुआ। जिस भाँति कालान्तर में मालव-नरेश यशोधर्मा पूर्व दिशा में विजय-यात्रा करता हुआ लौहित्य नदी तक बढ़ आया था, उसी तरह इस स्थान का शासक चन्द्रवर्मा अपने सैनिक अभियान के प्रसंग में बंगाल तक बढ़ आया था। इस भू-भाग में किसी महत्त्वपूर्ण विजय के उपलक्ष में सुसुनिया की पहाड़ी पर उसने अपना लेख उत्कीर्ण करा दिया था। हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि इसी नरेश की प्रशंसा मेहरौली के स्तम्भ-लेख में 'चन्द्र' नाम से की गई है। इस लेख के अनुसार चन्द्र ने वंग-भूमि में अपने शत्रुओं के किसी सशक्त गुट को परास्त कर दिया था।

उपर्युक्त मत की गहराई के साथ छानबीन की आवश्यकता है। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार चन्द्रवर्मा समुद्रगुप्त का समकालीन था। उसने आर्यावर्त्त-अभियान में इसके राज्य को अपहृत कर लिया था। उस समय किसी भी मालव-नरेश के लिए बंगाल तक विजय-यात्रा के प्रसंग में पहुँच जाना असम्भव था। दोनों ही क्षेत्रों के बीच समुद्रगुप्त का साम्राज्य स्थित था। इस प्रतिभाशाली सम्राट् ने पूर्वी मालवा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस कारण उक्त परिस्थिति की सम्भावना और भी समाप्त हो जाती थी। दूसरी बात विचारणीय यह हो जाती है कि मन्दसोर-प्रशस्तियों में चन्द्रवर्मा का नामोल्लेख अप्राप्य है। अतएव उसे हम मालवा के वर्मन् वंश से समीकृत नहीं कर सकते। मन्दसोर के उपर्युक्त शिला-लेख (मा० सं० ४६१–४०४ ई०) के सिंहवर्मा के पुत्र का नाम जयवर्मा था जिसे इसमें 'सिंहविक्रान्त' का अनुयायी कहा गया है। इससे आभास मिलता है कि वह सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सामन्त था। सुसुनिया के शिला-लेख के सिंह वर्मा का पुत्र चन्द्रवर्मा नामक था। अतएव उसे मन्दसोर के लेख के सिंहवर्मा से समीकृत करना न्यायोचित नहीं होगा।

(५) **गणपतिनाग**—पुराणों के अनुसार विदिशा में एक विख्यात नाग वंश राज्य कर रहा था (नागकुलोद्भवाः)। इसी वंश में प्रतापी सदाचन्द्र एवं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चन्द्रांश ('द्वितीय नखवन्त') नामक नरेश उत्पन्न हुए थे। इसी राजकुल-परम्परा में धनधर्मा एवं भूतिनन्द आदि शासक भी आते थे। पुराणों में इन्हें 'वैदेशिक नृप' (नृपान् वैदेशिकान्) कहा गया है। डॉ० भण्डारकर का अनुमान है कि गणपतिनाग इसी राजवंश से संबन्धित था। डॉ० मजुमदार का कथन है कि इस नरेश की मुद्राएँ विदिशा की अपेक्षा मथुरा से अधिक संख्या में प्राप्य हैं। सम्भव है कि उसने अपनी कुल-राजधानी विदिशा से मथुरा में स्थानान्तरित कर दी हो।[1] भावशतक नामक ग्रन्थ में उसे 'धाराधीश' कहा गया है। इससे संकेत मिलता है कि उसका राज्य इतना विस्तृत था कि उसमें धारा नगरी भी स्थित थी। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि भावशतक की प्रमाणिकता विवादास्पद है।[2] अतएव वह यथार्थ रूप में धाराधीश्वर था या नहीं, इस विषय में हम निश्चित नहीं हो सकते। परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि वह अपने समय का एक विक्रमशाली नरेश था तथा उसका राज्य इतना सुविस्तृत था कि उसमें मथुरा एवं विदिशा—दोनों ही सुप्रसिद्ध नगर—सम्मिलित थे। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि नाग-वंशी नरेशों में वह सबसे सशक्त था और सम्भवतः वह उसका अधिनायक भी था। सम्भव है कि उस समय के नाग-वंशी नरेशों—अच्युत, नागसेन, नागदत्त एवं गणपतिनाग—ने महत्त्वाकांक्षी समुद्रगुप्त की योजनाओं को कुचलने के लिए एक सम्मिलित मोर्चा बना लिया हो। उनके राज्य एक दूसरे के समीप भी थे। अतएव वे राजनीतिक गुट बनाने की परिस्थिति में भली-भाँति थे। हो सकता है कि इन चारों नरेशों के दल को समुद्रगुप्त ने किसी महत्त्वपूर्ण युद्ध में हरा दिया हो। इसी विजय के उपलक्ष में उसकी मुद्राएँ 'गरुत्मदंक' (गरुडध्वजांकित) की जाने लगीं। भारतीय धार्मिक अवधारणा के अनुसार गरुड़ सर्पों के विनाशक थे। गुप्तवंशीय अभिलेखों में कृष्ण को आदर की दृष्टि से देखा गया है। पुराणों के अनुसार उन्होंने कालिय-नाग को नत-मस्तक किया था। इस सम्मान का सन्दर्भ समुद्रगुप्त द्वारा नाग-विजय के साथ हो सकता है।

(६) **नागसेन**—हम पहले कह आए हैं कि वह ग्वालियर के समीप स्थित पद्मपवय्या (प्राचीन पद्मावती) का नाग-वंशी शासक था एवं समुद्रगुप्त के विरुद्ध प्रथम आर्यावर्त्त युद्ध में भाग ले चुका था। उसके राज्य को अपहृत (उन्मूलित) करने के लिए उक्त गुप्त सम्राट् को उससे पुनः लड़ना पड़ा था। यही कारण है कि प्रयाग-प्रशस्ति में आर्यावर्त्त में पराजित नरेशों की द्वितीय सूची में भी उसका नाम अंकित किया गया है।

---

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ १५६
२. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टली, १२, पृष्ठ १३५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(७) **अच्युत**--प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध में समुद्रगुप्त के विरुद्ध वह भाग ले चुका था। इस लड़ाई में उसका पराजय अवश्य हुआ था, परन्तु राज्य नहीं छीना जा सका था। इस गुप्त-नरेश के द्वितीय सैन्य अभियान में उसके अधिकार-क्षेत्र का उन्मूलन हुआ था। यही कारण है कि आर्यावर्त्त-युद्ध की दूसरी सूची में उसका नाम पुनः उपलब्ध होता है। हम इस बात का निर्देश पहले कर चुके हैं कि वह अहिच्छत्र का नाग-वंशी नरेश था।

(८) **नन्दि**--इस नरेश का भी कोई निश्चित् परिचय नहीं प्राप्त हो सका है। लगता है कि यह नरेश भी कोई नाग-वंशी शासक था। पुराणों में उसके नाम से सादृश्य रखने वाले नाग-राजाओं के नाम मिलते हैं; उदाहरणार्थ भूतिनन्द, शिशुनन्दि एवं नन्दियशस्[1]। डुबरेयिल का मत है कि नन्दि की पहचान इन्हीं नाग-नरेशों में किसी के साथ करना समुचित होगा। परन्तु इससे सहमत होना दुष्कर है। पुराणों के अनुसार इन नरेशों का आविर्भाव शुंग-काल के पश्चात् (शुगानांतु कुलस्यान्ते) एवं गुप्तों के अभ्युदय के पूर्व हुआ था। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि उसका पूरा नाम अच्युत-नन्दि रहा होगा। अतएव आर्यावर्त्त की द्वितीय सूची में उल्लिखित नरेशों की वास्तविक संख्या आठ ही मानी जानी चाहिए न कि नव। अधिक सम्भावना यह है कि ये दोनों (अर्थात् अच्युत-नन्दि) दो पृथक् नरेशों के नाम हैं। प्रयाग की प्रशस्ति में इनका नामोल्लेख अलग-अलग हुआ है।

(९) **बलवर्मा**--इस नरेश के विषय में भी कुछ निश्चित ज्ञात नहीं हो सका है। कतिपय विद्वानों ने उसका समीकरण 'कोतकुलज' शासक से किया था, जो प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित किया गया था। परन्तु ऐसा मानने के हेतु कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। आर० यन० दण्डेकर के अनुसार वह असम का नरेश था। हर्ष के समकालीन कामरूप-नरेश भास्करवर्मा के नवें पूर्वज का नाम बलवर्मा था। संभव है कि प्रयाग की प्रशस्ति के बलवर्मा से तात्पर्य इसी नरेश से हो। परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। उक्त लेख के अनुसार इसमें उल्लिखित बलवर्मा आर्यावर्त्त-नरेश था। कामरूप आर्यावर्त्त-सीमा के बाहर था। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार कामरूप समुद्रगुप्त का प्रत्यन्त (सीमान्त) राज्य था, जिसके शासक ने उसके साथ अधीनस्थ मैत्री

---

१. "शुगानां तु कुलस्यान्ते शिशुनन्दिर्भविष्यति।
तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशस किल ॥"
--पार्जिटर, डाइनेस्टीज आफ़ कलि एज, पृष्ठ ४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की स्थापना की थी। पाँचवीं शताब्दी में गया में मौखरि वंश के लोग गुप्तों की अधीनस्थता में राज्य कर रहे थे। इनके अस्तित्व के विषय में नागार्जुनी एवं बराबर पहाड़ियों के गुहा-लेखों द्वारा सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें तीन मौखरि-नाम मिलते हैं—यज्ञवर्मा, अनन्तवर्मा एवं शार्दूलवर्मा। संभव है कि प्रयाग-प्रशस्ति का बलवर्मा इन्हीं मौखरियों का कोई पूर्वज रहा हो।

रैप्सन ने समुद्रगुप्त द्वारा पराजित आर्यावर्त्त के नव नरेशों की पहचान विष्णु पुराण तथा वायु पुराण में वर्णित नव नागों से की है। इन ग्रन्थों के अनुसार उन्होंने पद्मावती, कान्तिपुरी एवं मथुरा में शासन किया था।[1] उनका मत है कि इन सभी नाग-नरेशों ने समुद्रगुप्त के विरुद्ध एक सुदृढ़ दल बनाया तथा एक तुमुल युद्ध में उसने इन्हें पराजित कर दिया। यह भारतवर्ष का एक बहुत बड़ा युद्ध रहा होगा। इस मत के विरुद्ध विचारणीय हो जाता है कि इनमें से कुछ ही (नागसेन, अच्युत, गणपतिनाग, नागदत्त तथा सम्भवतः नन्दि भी) नाग-वंशी नरेश थे। शेष का संबंध अन्य राजवंशों से था। इस बात का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है कि उन सबके द्वारा गुटबन्दी करने में राजनीतिक एवं भौगोलिक बाधाएँ थीं। वे छोटे-बड़े कई युद्धों में परास्त किए गए होंगे।

प्रसभोद्धरण—प्रयाग की प्रशस्ति की पंक्ति-संख्या २१ में उल्लेख मिलता है कि इन आर्यावर्त्त-नरेशों को बलपूर्वक जीत लेने के कारण उसकी महानता और भी बढ़ गई थी (अनेकार्य्यावर्त्तराज-प्रसभोद्धरणोद्वृत्त-प्रभाव-महतः)। लेख की भाषा से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। हेमचन्द्र रायचौधरी ने उसकी इस नीति की तुलना अर्थशास्त्र में वर्णित 'असुर-विजय' से की है। इसी नीति का अवलम्बन पूर्व-काल में अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों एवं कोसल-नरेश विडुडभ के उन्मूलन के निमित्त किया था। विद्वानों का अनुमान है कि भारतवर्ष के लोगों ने असुर-विजय को असीरिया के लोगों से सीखा था। असीरियन अपनी नृशंसता एवं युद्धों में भयंकर रक्तपात के लिए कुख्यात थे। पराजित के साथ वे कठोर से कठोर दुर्व्यवहार करते थे और उसके राज्य को अनिवार्य रूप से छीन लेते थे। असीरिया-नरेश असुरबनिपाल उपर्युक्त युद्ध-नीति का ज्वलन्त उदाहरण था। साखामनीष-साम्राज्य की स्थापना के कारण भारतवर्ष का असीरिया के साथ सम्पर्क हो चुका

---

१. "नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै॥"
—पार्जिटर, डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ५३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। डॉ० रायचौधरी का अनुमान है कि 'असुर' शब्द का सम्बन्ध सम्भवतः असीरिया के 'अस्सुर' शब्द से है।

परिणाम--प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त उक्त विजयों के फलस्वरूप आर्यावर्त्त का सबसे प्रभावशाली नरेश बन गया। यहाँ पर हमारे समक्ष प्रश्न उठता है कि आर्यावर्त्त की सीमाएँ क्या थीं ? बौधायन-धर्मसूत्र, वशिष्ठ-धर्मसूत्र एवं पतंजलि के महाभाष्य कि अनुसार आर्यावर्त्त-मण्डल पश्चिम में अदर्शन (वर्तमान हिस्सार जहाँ पर परम्परानुसार सरस्वती की धारा विनष्ट हो गई थी) से पूर्व में कालकवन (प्रयाग के समीप स्थित) तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में पारियात्र तक प्रसरित था। मनु के द्वारा निर्दिष्ट आर्यावर्त्त-सीमाएँ इससे निश्चयात्मक रूप से बड़ी थीं। उनके अनुसार यह मण्डल पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र एवं हिमालय से लेकर विन्ध्य-श्रेणियों तक विस्तृत था।[1] मेधातिथि ने इसकी व्याख्या देते हुए कहा है कि आर्यावर्त्त-प्रदेश पश्चिम जलनिधि (अरब सागर) से पूर्व पयोधि (बंगाल की खाड़ी) तक एवं हिमालय से विन्ध्यपर्वत तक फैला हुआ था (प्राच्यां पूर्वसमुद्रः, प्रतीच्यां पश्चिमः, उदा-दक्षिणयोर्हिमवद्विन्ध्यौ। एतौ ह्यवधित्वेनोपात्तौ)।[2] प्रशस्तिकार हरिषेण ने आर्यावर्त्त शब्द का प्रयोग मनु के अर्थ में किया है। पश्चिम में समुद्रगुप्त ने पद्मावती-नरेश नागसेन को परास्त कर गुप्त-साम्राज्य को पूर्वी मालवा तक विस्तृत कर दिया था। पूर्व में चन्द्रवर्मा को जीत लेने के कारण पश्चिमी बंगाल का बाँकुड़ा जिला उसके साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था। उसका यह राज्य-विस्तार बौधायन, वशिष्ठ एवं पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट आर्यावर्त्त-सीमाओं से निश्चय ही बड़ा था। उसके साम्राज्य की पूर्वी सरहद पर समतट (पूर्वी बंगाल का समुद्र-तट), डवाक (असम का नवगाँव जिला) एवं कामरूप (केन्द्रीय असम) आदि राज्य स्थित थे। उसका उत्तरी सीमान्त (प्रत्यन्त) राज्य नेपाल था। उसके साम्राज्य के पश्चिमी मोर्चे पर राजस्थान एवं पंजाब के गण-राज्य वर्तमान थे। सरहदी राज्यों का उपर्युक्त निर्देश प्रमाणित करता है कि आर्यावर्त्त-युद्धों में विजय-स्वरूप उसका साम्राज्य पूर्वी मालवा से पश्चिमी बंगाल (वर्द्धमान-भुक्ति) तथा हिमालय से लेकर विन्ध्य तक प्रसरित हो गया था।

---

१. "आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥"
--मनु, अध्याय २, श्लोक २२

२. मेधातिथि-रचित मनुभाष्य (गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आटविक विजय--आर्यावर्त्त-विजय के पश्चात् उसने जंगली प्रदेशों के शासकों को परास्त कर दिया, जिन्हें प्रयाग-प्रशस्ति की इक्कीसवीं पंक्ति में 'आटविकराज' कहा गया है। फ्लीट का मत है कि ये राज्य उत्तर में गाजीपुर (आलवक) से लेकर जबलपुर (डभाल) तक फैले हुए थे।[1] संक्षोभ के खोह-ताम्रलेख (गुप्त संवत् २०९=५२९ ई०) से ज्ञात होता है कि उसके पूर्वज डभाल (जबलपुर) के परिव्राजक महाराज हस्तिन् के अधिकार-क्षेत्र में अठारह जंगली राज्य सम्मिलित थे (साष्टादशाटवी-राज्यभ्यन्तरं डभाला-राजमन्वयागतम्)। लगता है कि प्रयाग-प्रशस्ति में इन्हीं जंगली राज्यों की ओर संकेत किया गया है। सन्ध्याकरनन्दिन् की रामचरित-टीका में इन्हीं राज्यों में एक को 'कोटाटवी' कहा गया है। कतिपय प्राचीन अभिलेखों में 'सहलाटवी' एवं 'वटाटवी' नामक जंगली राज्यों का उल्लेख मिलता है। सम्भव है कि समुद्रगुप्तकालीन आटविक राज्यों में उपर्युक्त वन-राज्य भी सम्मिलित रहे हों।[2] लगता है कि समुद्रगुप्त-कालीन आटविक राज्य 'विन्ध्याटवी' (विन्ध्य-वन) में स्थित थे। यहाँ से होकर एक महापथ दक्षिण की ओर जाता था। इसी मार्ग को पाणिनि एवं कात्यायन ने "कान्तार-पथ' कहा है।[3] प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने आटविक राज्यों के शासकों को अपना दास बना लिया था (परिचारिकीकृतसर्वाटविकराजस्य)। इससे आभास मिलता है कि उसने इनके राज्यों को छीन कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया होगा और फलस्वरूप उत्तर में गाजीपुर (आलवक) से लेकर दक्षिण में जबलपुर (डभाल) तक के विस्तृत भू-भाग का स्वामित्व उसे प्राप्त हो गया। इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि एरण के लेख से हो जाती है, जिसके अनुसार ऐरिकिण-प्रदेश (आधुनिक सागर जिला) उसके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था (स्वभोगनगर)। लगता है कि समुद्रगुप्त ने यहाँ पर अपनी द्वितीय राजधानी भी स्थापित कर दी। वहाँ पर संभवतः कोई प्रासाद भी वर्तमान था, जहाँ पर राजपरिवार के सदस्य रहते थे (नित्यं गृहेषु मुदिताः बहुपुत्रपौत्राः)। हो सकता है कि उस समय इस नगर में कोई राजकुमार राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया हो। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि पूर्वी मालवा में

---

१. कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, जिल्द ३, पृष्ठ ११४
२. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, पृष्ठ १९०
३. इंडिया ऐज़ नोन टू पाणिनि, पृष्ठ २४२ तथा लेखक का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृष्ठ १७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मुद्राओं को प्रचलित करने के निमित्त समुद्रगुप्त ने वहाँ टकसाल-गृह भी स्थापित कर दिया था ।

इस प्रकार एरण का राजनीतिक महत्त्व अब बढ़ गया। इसको आधार बना कर दक्षिणी सैन्य-अभियान की तैयारियाँ की गई होंगी । संभव है कि सम्राट् अपने सान्धिविग्रहिक अमात्य, सेनापति एवं दलबल के साथ इस कालावधि में वहाँ रहने भी लगा हो। समुद्रगुप्त के आटविक-विजय का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि उसके साम्राज्य में आधुनिक एरण एवं जबलपुर के आसपास के प्रदेश सम्मिलित हो गए। गुप्त-राज्य की दक्षिणी सीमा का प्रतिनिधित्व अब नर्मदा नदी करने लगी थी । समुद्रगुप्त की कुछ मुद्राओं पर सिंह के पृष्ठ पर आरूढ़ देवी का चित्र प्राप्य है । इसका समीकरण सिंहवाहिनी दुर्गा अथवा पार्वती के साथ किया जा सकता है । दुर्गा 'विन्ध्यवासिनी' तथा पार्वती 'हैमवती' मानी जाती हैं । इससे संकेत मिलता है कि उसका साम्राज्य हिमालय एवं विन्ध्य पर्वत के बीच स्थित था (हिमवद्विन्ध्योर्मध्ये) । उसकी कतिपय मुद्राओं पर मकर-वाहिनी गंगा का भी चित्र प्राप्य है । इसका संबन्ध उसके द्वारा गंगा-घाटी के विजय से हो सकता है । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि गुप्तकालीन मन्दिरों के चौखट पर मकर-वाहिनी गंगा की आकृति अंकित मिलती है । संभव है कि समुद्रगुप्त की व्याघ्र-निहन्ता वर्ग की मुद्राओं का संबन्ध उसके आटविकराज-विजय से हो। इस पराक्रमी नरेश ने 'हिमवद्विन्ध्यकुण्डला' (ऐसा राज्य जो हिमालय एवं विन्ध्य पर्वत के द्वारा सुरक्षित हो) के प्राचीन आदर्श को आर्यावर्त्त एवं आटविक-विजयों के माध्यम से पूर्ण किया था ।[1] उसने अपने नव-विजित भू-भाग को भुक्तियों (प्रान्तों) एवं विषयों (जिलों) में विभक्त कर दिया । प्रयाग की प्रशस्ति में 'भुक्ति' एवं 'विषय' शब्दों का उल्लेख मिलता है । गुप्त-अभिलेखों के आधार पर इस समय के दो विषयों के नाम का पता लगता है:—(१) अन्तर्वेदी (गंगा एवं यमुना का दोआबा) तथा (२) ऐरिकिण-प्रदेश (सागर जिला) । कालान्तर में विषय-पति शर्वनाग अन्तर्वेदी में गुप्त सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में राज्य कर रहा था।

दक्षिणापथ-अभियान—उक्त विजयों के फलस्वरूप समुद्रगुप्त उत्तरी भारत-वर्ष का चक्रवर्ती नरेश बन चुका था और अपनी विजय-पिपासा की परिशान्ति के निमित्त वह दक्षिणी भारतवर्ष पर सैन्य अभियान करना चाहता था । वह

---

१. "इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्रांकां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥"

—स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ६, श्लोक १९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'आसमुद्रक्षितीश' (समुद्र-पर्यन्त वसुन्धरा के उपभोग) के आदर्श को पूर्ण कर अपने नाम (समुद्र) को सार्थक करना चाहता था। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार उसने सम्पूर्ण दक्षिणापथ के नरेशों को नतमस्तक किया था (सर्वदक्षिणापथ-राज-ग्रहण)। उसने वहाँ बारह नरेशों को परास्त किया, जिनके नामोल्लेख उक्त अभिलेख की उन्नीसवीं एवं बीसवीं पंक्तियों में निम्नलिखित क्रम से मिलते हैं :—

(१) कोसल का महेन्द्र;
(२) महाकान्तार का व्याघ्रराज;
(३) कोराल का मण्टराज;
(४) पिष्ठपुर का महेन्द्रगिरि;
(५) कोट्टूर का स्वामिदत्त;
(६) एरण्डपल्ल का दमन;
(७) काञ्ची का विष्णुगोप;
(८) अवमुक्त का नीलराज;
(९) वेङ्गी का हस्तिवर्मा;
(१०) पालक्क का उग्रसेन;
(११) देवराष्ट्र का कुवेर;
(१२) कुस्थलपुर का धनञ्जय।

(१) **कोसल का महेन्द्र**—कोसल से तात्पर्य सम्भवतः दक्षिण कोसल से है। इसमें आधुनिक विलासपुर, रायपुर तथा संभलपुर जिले सम्मिलित थे। संभवतः गंजाम का एक भाग भी इसमें आता था। इसकी राजधानी श्रीपुर में स्थित थी, जिसकी पहचान रायपुर के उत्तर-पूर्व ४० मील की दूरी पर स्थित आधुनिक सिरपुर से की जाती है। तीवरदेव के आठवीं शताब्दी के राजिम (रायपुर जिले में स्थित ग्राम) के ताम्रलेख से भी ज्ञात होता है कि दक्षिण कोसल की राजधानी श्रीपुर में ही प्रतिष्ठित थी। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह नगर उस समय विशेष प्रसिद्धि में आ चुका था। इस लेख में तीवरदेव को तीनों लोकों में अग्रगण्य (जगत्-त्रय-तिलकः) एवं 'क्षितिकुल-मंगलसूत्र' कहा गया है। उसने अपने दान की घोषणा इसी पुर में की थी (स्वस्ति-श्रीपुरात्)।[1]

(२) **महाकान्तार का व्याघ्रराज**—जे० यफ० फ्लीट तथा दिनेशचन्द्र सरकार ने व्याघ्रराज की पहचान व्याघ्रदेव से की है, जो वाकाटक महाराज पृथिवीषेण का सामन्त था। उसके दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उसका प्रथम लेख 'नचने

---

१. फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ २९४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की तलाई' से प्राप्त है, जो बुन्देलखण्ड में स्थित एक छोटा सा ग्राम है। इस लेख का पता कनिंघम ने १८८४ ई० में लगाया था। इससे ज्ञात होता है कि व्याघ्र-देव महाराज पृथिवीषेण का परम भक्त था। अपने माता-पिता के पुण्यार्थ संभवतः उसने एक तालाब अथवा मन्दिर का निर्माण किया था (वाकाटकानां महाराज-श्रीपृथिवीषेणपादानुध्यातो व्याघ्रदेवो मातापित्रोः पुण्यार्थे कृतमिति)।[1] उसका दूसरा लेख भूतपूर्व अजयगढ़ राज्य में स्थित गंज नामक ग्राम के समीप एक स्वतंत्र शिला पर उत्कीर्ण है। इस लेख की सामग्री उपर्युक्त लेख के आशय से मेल खाती है। डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी का मत है कि इस लेख का व्याघ्रदेव वाकाटक महाराज पृथिवीषेण का माण्डलिक था। इस अभिलेख के अनुसार उसने माता-पिता के पुण्यार्जन-निमित्त कोई धार्मिक कार्य किया था।[2] डॉ० रायचौधरी एवं डॉ० अल्तेकर ने उपर्युक्त दोनों लेखों के पृथिवीषेण का समीकरण वाकाटक पृथिवीषेण प्रथम से किया है, जो कि समुद्रगुप्त का समकालीन था। अतएव संभव है कि इसी व्याघ्रदेव को प्रयाग-प्रशस्ति में व्याघ्र राज कहा गया हो। समुद्रगुप्त 'व्याघ्रनिहन्ता' वर्ग की मुद्राओं पर व्याघ्र को मारता हुआ प्रदर्शित है। कतिपय विद्वान् इस मुद्रा-निरूपण को उसके व्याघ्रदेव (व्याघ्रराज)-विजय से संबन्धित करते हैं। डॉ० भण्डारकर ने व्याघ्रदेव का समीकरण उच्चकल्प-वंशी (बुन्देल-खंड के जासो एवं अजयगढ़ का राजवंश) व्याघ्र से किया है, जो जयनाथ का पिता था। इसका नामोल्लेख सर्वनाथ के खोह-ताम्रलेख (गु० सं० १९३ = ५१३ ई०) में हुआ है (महाराजव्याघ्रस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यांमञ्जितदेव्या-मुत्पन्नो महाराज जयनाथः)।[3] परन्तु इस समीकरण से सहमत होना दुष्कर है। जयनाथ की ज्ञात तिथियाँ गुप्त संवत् १७४ एवं १७७ (४९३ एवं ४९६ ई०) हैं। इससे प्रमाणित होता है कि उच्चकल्प-वंशी व्याघ्र समुद्रगुप्त के समय से लगभग ११८ वर्षों बाद राज्य करता था।[4]

महाकान्तार के तादात्म्य के विषय में कतिपय अन्य मत भी उल्लेखनीय हैं। श्री जी० रामदास ने इसका समीकरण गंजाम एवं विजगापटम में स्थित 'झाड़-खण्ड' से किया है। इस पहचान को शुद्ध नहीं माना जा सकता। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार व्याघ्रराज का महाकान्तार महेन्द्र के दक्षिण कोसल से लगा हुआ था। झाड़-खण्ड प्रदेश प्राचीन दक्षिण कोसल (आधुनिक बिलासपुर, रायपुर

---

१. फ्लीट, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द ३, पृष्ठ २३४
२. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ २४०
३. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३७१
४. सरकार, वही, पृष्ठ ३७१ (पाद-टिप्पणी १)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

एवं संभलपुर) से दूर स्थित है। डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार ने महाकान्तार को उड़ीसा में स्थित जयपुर नामक वनमय प्रदेश से समीकृत किया है। इसको एक प्राचीन अभिलेख में 'महावन' कहा गया है।[1] महाभारत में भी 'महावन' शब्द का उल्लेख हुआ है।[2] हेमचन्द्र रायचौधरी ने महाकान्तार की पहचान 'कान्तार' से किया है, जो वेणवा-तट (वैनगंगा) एवं प्राक्-कोसल (पूर्वी कोसल) के बीच स्थित था।[3]

(३) **कोराल का मण्टराज**—कतिपय विद्वानों ने इसे केरल, कौराल, कुराल एवं कौराड़ भी पढ़ा है। इसकी पहचान के विषय में गहरा मतभेद है। कुछ इतिहासकारों ने इसका समीकरण कोलेयर अथवा कोलेरु कासार के साथ किया है। कुछ लोगों ने इसे धोयी के पवनदूत में उल्लिखित ययातिनगरी के साथ समीकृत किया है। इस ग्रन्थ में इस पुरी को केरल-प्रदेश की स्त्रियों की (केरलीनां) की सुरति-क्रीड़ाओं (रतेः) से संबन्धित किया है। पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोड़े के लेख में केरल का उल्लेख चोल एवं पाण्ड्यों के साथ हुआ है (चोलकेरलपाण्ड्यानाम्)। डॉ० बर्नेट एवं डॉ० रायचौधरी का मत है कि कोराल से तात्पर्य दक्षिणी भारतवर्ष के कोराड़ नामक किसी आधुनिक ग्राम से हो सकता है।[4] कतिपय विद्वानों ने इस स्थान को गंजाम में स्थित कोलाड़ से समीकृत किया है।

(४) **पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि**—इस स्थान की पहचान आधुनिक गोदावरी जिले में स्थित पीठापुरम् से की जाती है। इसका नामोल्लेख पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोक्ले के अभिलेख में भी हुआ है (पिष्टं पिष्टपुरं येन जातं दुर्गम-दुर्गमम्)।

(५) **कोट्टूर का स्वामिदत्त**—जुवो डुब्रूइल महोदय ने कोट्टूर की पहचान गंजाम जिले में वर्त्तमान, आधुनिक कोठूर के साथ की है। सेलेतोर ने इसे बेलारी जिले (पश्चिमी घाट) में वर्तमान आधुनिक कोठूर से समीकृत किया है। परन्तु इस तादात्म्य को सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभी तक पश्चिमी घाट की ओर समुद्रगुप्त के बढ़ने के संबन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है। जब तक कोई अन्य निश्चित् प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक

---

१. क्लैसिकल एज, पृष्ठ ९

२. "या नापश्यच्चन्द्रमा नैव सूर्यो रामाः काश्चितास्तस्मिन्नरेन्द्रे।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः॥"
—महाभारत, १५, १६, १३

३. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ५३९

४. वही, पृष्ठ ५४०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस स्थान का तादात्म्य गंजाम स्थित कोठूर के साथ करना अधिक समीचीन होगा। जी०रामदास का कथन है कि महेन्द्रगिरि स्थान का नाम है। इससे तात्पर्य पूर्वी घाट की पहाड़ियों से है। अतएव इससे किसी शासक का भाव निकालना असमीचीन होगा। उन्होंने लेख में प्राप्य समस्त-पद "पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त' की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। इसमें एक ही नरेश (स्वामिदत्त) के नाम का उल्लेख है। वह दो राज्यों का स्वामी रहा होगा। एक की राजधानी पिष्टपुर तथा दूसरे की राजधानी पूर्वी घाट के समीप स्थित कोट्टूर में वर्तमान थी। इस प्रकार दक्षिणी भारतवर्ष में पराजित नरेशों की वास्तविक संख्या १२ के स्थान पर ११ ही मानना चाहिए। परन्तु इस निष्कर्ष से सहमत होना दुष्कर है। विचारणीय है कि दक्षिणापथ-सूची में स्थानों के नाम के अन्त में 'क' प्रत्यय जुड़ा हुआ है, परन्तु नरेशों के नामान्त में नहीं; यथा 'कौसलक-महेन्द्र' तथा 'महाकान्तारक व्याघ्रराज' आदि। पिष्टपुर एवं कोट्टूर नामों के अन्त में तो 'क' प्रत्यय संयुक्त है, परन्तु महेन्द्रगिरि एवं स्वामिदत्त के नामों के साथ नहीं। इस प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि दोनों नाम दो पृथक् नरेशों के हैं।

(६) **एरण्डपल्ल का दमन**—एरण्डपल्ल के समीकरण के विषय में भी मतभेद है। फ्लीट ने इसकी पहचान खानदेश में स्थित एरण्डोल के साथ की है। इसे सही मानने पर विश्वास करना पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने पश्चिमी घाट पर भी अभियान किया था। परन्तु यह असम्भाव्य था क्योंकि यह प्रदेश वाकाटकों के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था। जुवो डुब्रुइल ने इसका समीकरण उड़ीसा के समुद्र-तट पर स्थित एरण्डपल्ली के साथ किया है। इसका उल्लेख देवेन्द्रवर्मा के 'सिद्धान्तम्' के ताम्रलेखों में हुआ है। यह उस समय का एक ऐतिहासिक स्थान लगता है। जी० रामदास का कथन है कि एरण्डपल्ल की पहचान विज़गापटम में स्थित एंडिपल्ली अथवा एलोर में विद्यमान एंडपिल्ली के साथ की जानी चाहिए।

(७) **कांची का विष्णुगोप**—दक्षिणी भारतवर्ष का यह अति प्रसिद्ध नगर था। वहाँ पल्लवों की राजधानी विद्यमान थी। चीनी यात्री हुएनसांग इसकी प्रशंसा करते हुए लिखता है कि इस नगर की परिधि ५ मील थी। इसके नागरिक उत्साहयुक्त एवं विद्यानुरागी थे। उनकी भाषा एवं लिपि मध्यदेश की भाषा एवं लिपि से विभिन्न थी।[1] इस नगर की प्रशंसा करते हुए पवनदूत का रचयिता धोयी लिखता है कि यह अमरावती के गर्व का हरण करने वाला एवं दक्षिणापथ

---

१. देखिए, मेरा ग्रन्थ : 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृष्ठ २१८-१९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America: HHFA(USA)

का भूषण था।[1] कांची की पहचान आधुनिक काञ्जीवरम् से की जाती है। विष्णुगोप पल्लव-सम्राट् प्रतीत होता है।

(८) **अवमुक्त का नीलराज**--प्रमाणाभाव के कारण इस स्थान का यथार्थ समीकरण अभी तक नहीं हो पाया है। नीलराज के वंश आदि के विषय में भी किसी साधन द्वारा कोई प्रकाश नहीं पड़ता। डॉ० रायचौधरी के अनुसार नीलराज 'नीलपल्ली' का स्मरण दिलाता है, जो गोदावरी जिले के समुद्रतट पर स्थित एक प्राचीन बन्दरगाह था।[2] ब्रह्मपुराण में गोदावरी-तट पर स्थित अविमुक्त-क्षेत्र का उल्लेख मिलता है। प्रयाग की प्रशस्ति का अवमुक्त कभी-कभी इसी स्थान का स्मरण दिलाता है।[3]

(९) **वेंगी का हस्तिवर्मा**--वेंगी की पहचान वेगी अथवा पेड्ड-वेगी से की जा सकती है। यह स्थान एल्लोर से ७ मील उत्तर कृष्णा एवं गोदावरी नदियों के बीच स्थित है। हेमचन्द्र रायचौधरी, रमेशचन्द्र मजुमदार एवं दिनेश चन्द्र सरकार[4] के अनुसार हस्तिवर्मा सालंकायन-वंशी नरेश प्रतीत होता है। इस राजवंश के अभिलेख पेड्ड-वेगी से प्राप्त हुए हैं। हुल्श ने उसे अत्तिवर्मा से समीकृत किया है, जो सुप्रसिद्ध सन्त आनन्द की परम्परा में आता था।[5] इन दोनों मतों में प्रथम मत समीचीन लगता है। सालंकायन-वंशावली में हस्तिवर्मा का नाम उल्लिखित मिलता है। अतएव उसे इसी राजवंश का नरेश मानना न्यायोचित होगा।

(१०) **पालक्क का उग्रसेन**--एलन, जी० रामदास एवं रमेशचन्द्र मजुमदार के अनुसार यह स्थान नेलोर जिले में स्थित था। वहाँ का पलक्कड़ नामक स्थान पल्लव-राज्य का एक विशिष्ट केन्द्र था। इस वंश का राजकुमार यहाँ सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में निवास करता था। पल्लव-अभिलेखों में इस स्थान का नामोल्लेख प्राप्य है। इस आधार पर जुव्हो डुब्रुइल, दिनेशचन्द्र सरकार एवं हेमचन्द्र रायचौधरी आदि विद्वानों ने प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित पालक्क को पलक्कड से समीकृत किया है।

---

१. "लीलागारैरमरनगरस्यापि गर्व्वं हरन्ति।
गच्छेः काञ्चीपुरमथ दिशो भूषणं दक्षिणस्याः॥"--पवनदूत, १२

२. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ५४०

३. रायचौधरी, वही, पृष्ठ ५४०

४. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २५७, पाद-टिप्पणी १

५. रायचौधरी, वही, पृष्ठ ५४०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(११) **देवराष्ट्र का कुबेर**—विन्सेण्ट स्मिथ तथा कुछ अन्य विद्वानों ने देवराष्ट्र की पहचान महाराष्ट्र से की थी। परन्तु यह समीकरण ठीक नहीं माना जाता। विज़गापटम से प्राप्त एक ताम्रलेख में येल्लामांचिली प्रदेश का उल्लेख प्राप्य है। जुव्हो डुब्रुइल, हेमचन्द्र रायचौधरी, रमेशचन्द्र मजुमदार एवं दिनेशचन्द्र सरकार ने देवराष्ट्र का समीकरण इसी क्षेत्र से किया है।[1]

(१२) **कुस्थलपुर का धनञ्जय**—विन्सेण्ट स्मिथ ने कुस्थलपुर का समीकरण भ्रमवश कुशस्थलपुर से कर दिया था, जो द्वारकापुरी का एक अन्य नाम था। आयंगर का कथन है कि कुस्थलपुर से तात्पर्य कुशस्थली नदी के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों से है। बर्नेट ने इसकी पहचान उत्तरी आर्काट में स्थित कुट्टलूर से की है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त सफलतापूर्वक विजय-यात्रा करता हुआ सुदूर दक्षिण में काञ्ची (कांजीवरम्) तक पहुँच गया। उसकी यह सफलता 'रघुवंश' महाकाव्य में वर्णित रघु के दक्षिण अभियान का स्मरण दिलाती है। इसके अनुसार दक्षिण दिशा में पहुँचने पर महातेजस्वी सूर्य का तेज भी मन्द पड़ जाता है, परन्तु रघु का प्रताप इतना प्रबल था कि वहाँ केज पाण्ड्य-राजा भी इसके आगे नहीं ठहर सके थे। दक्षिण के उन पाण्ड्य-नरेशों ने ताम्रपर्णी और समुद्र के संगम से जितने मोती एकत्र किए थे वे सब उन्होंने रघु को वैसे ही सौंप दिए मानो अपना सञ्चित यश ही उन्हें दे डाला हो :—

> "दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
> तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥
> ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
> ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वयमिव सञ्चितम्॥"
>
> —रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ४९-५०

ग्रहण-मोक्ष—प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार इन नरेशों को जीत लेने के अनन्तर समुद्रगुप्त ने उन्हें कृपापूर्वक छोड़ दिया था (सर्वदक्षिणापथराजग्रहण-मोक्षानुग्रह)। वह इस बात का भली-भाँति अनुभव करता था कि अपनी सुदूर राजधानी पाटलिपुत्र से काञ्ची तक प्रसरित दक्षिणी राज्यों पर कठोर नियंत्रण स्थापित करने में व्यावहारिक बाधाएँ आ सकती थीं। अतएव विजित प्रदेशों को इनके शासकों को लौटा कर उसने उनकी सहानुभूति को जीत लिया। उसकी

---

१. सरकार, वही, पृष्ठ २५७, पाद-टिप्पणी १

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

इस नीति को इस अभिलेख की बीसवीं पंक्ति में 'मोक्षानुग्रह' (दया दिखाते हुए उन्मुक्त कर देना) कहा गया है। इसकी तेईसवीं पंक्ति में उन्मूलित राजवंशों को पुनः स्थापित (उत्सन्न-राजवंश-प्रतिष्ठापन) करने का उल्लेख मिलता है। इसका संबंध उसकी दक्षिणी नीति से लगता है।

हेमचन्द्र रायचौधरी का कथन है कि समुद्रगुप्त यहाँ पर हमारे समक्ष 'धर्मविजयी' के रूप में अवतरित होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं महाभारत में 'धर्मविजय' का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में इसी नीति का अवलम्बन हर्ष ने सिन्ध-विजय के समय किया था। उसने इस प्रदेश के शासक को हराकर उसके राज्य को वापस लौटा दिया था (अत्रपुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मी-रात्मीया कृता)। रायचौधरी ने रघुवंश से 'धर्मविजय' का एक सुन्दर अंश उद्धृत किया है, जो समुद्रगुप्त की दक्षिणी-नीति का स्मरण दिलाता है।

"ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥
ग्रहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥"
—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ४२-४३

"युद्ध समाप्त हो चुकने पर रघु के वीर सैनिकों ने महेन्द्र पर्वत पर पान के पत्ते बिछा कर मदिरालय बनाया और वहाँ नारियल के आसव के साथ ही उन्होंने मानो शत्रुओं का यश भी पी लिया। राजा रघु तो धर्म-युद्ध करते थे। इसीलिए उन्होंने महेन्द्र पर्वत के राजा को बन्दी तो बना लिया पर दया कर उसे उन्मुक्त भी कर दिया। उन्होंने इस राजा की लक्ष्मी (राज्यश्री) मात्र को छीना था। उसके अपहृत राज्य को उसे लौटा दिया था।" प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित 'राजग्रहणमोक्षानुग्रह' को रघुवंश के 'ग्रहीतप्रतिमुक्त' से समीकृत किया जा सकता है। समुद्रगुप्त की 'प्रत्यर्पणा' (लौटा देना) नीति रघु की 'प्रतिमुक्त'-नीति में पर्याप्त साम्य है। इन समानताओं से आभास मिलता है कि कालिदास ने हरिषेण द्वारा वर्णित समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ-अभियान के आधार पर रघु के दक्षिण-दिग्विजय का निरूपण किया है। इससे कालिदास गुप्त-कालीन प्रतीत होते हैं।

विजय-सीमा—जुव्हो डुब्रुइल का अनुमान है कि समुद्रगुप्त ने पहले उड़ीसा में स्थित राज्यों के शासकों को परास्त किया था। तदुपरान्त पूर्वी दक्कन में विजय यात्रा करता हुआ वह कृष्णा नदी तक बढ़ आया था। यहाँ पर पूर्वी घाट के नरेशों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के सम्मिलित दल ने उसे परास्त कर दिया । फलतः पुल्केशिन् द्वितीय द्वारा पराजित हर्ष के तुल्य उसे दक्षिणी भारत के अभियान का परित्याग कर अपनी राजधानी में लौट आना पड़ा था । उल्लेखनीय है कि यह मत उपर्युक्त विद्वान् की कोरी कल्पना है । प्रयाग-प्रशस्ति के स्पष्ट प्रमाण द्वारा इसका भली-भाँति खण्डन हो जाता है । समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ-अभियान में सर्वप्रथम मध्य प्रदेश के दक्षिणी एवं पूर्वी भागों के शासकों को नतमस्तक किया होगा। तदुपरान्त उड़ीसा में राज्य करने वाले नरेशों को परास्त करता हुआ पल्लव-राजधानी काञ्ची तक वह बढ़ गया होगा । इस दूरदर्शी गुप्त-नरेश ने पश्चिमी घाट एवं केन्द्रीय दक्कन पर आक्रमण नहीं किया था । वहाँ पर प्रभावशाली वाकाटक राज्य कर रहे थे, जिनसे संघर्ष को बचाने में उसने अपनी बुद्धिमत्ता एवं कूटनीति का सुन्दर परिचय दिया था । शताब्दियों पश्चात् राज्य करने वाले मुगल-नरेशों में इस सूक्ष्म-दर्शिता का अभाव मिलता है । बीजापुर एवं गोलकुण्डा रियासतों के जीतने के असफल प्रयास के कारण मुगल-राजकोष एवं साधनों को पर्याप्त धक्का पहुँचा था । कुछ इतिहासकारों ने इस घटना को मुगल-साम्राज्य के अधः-पतन का एक प्रधान कारण माना है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसकी दक्षिण विजय-यात्रा केवल पूर्वी घाट तक ही सीमित थी।

दलबन्दी की सम्भावनाएँ--काशी प्रसाद जायसवाल का अनुमान है कि दक्षिणापथ के ये बारह राज्य दो दलों में संगठित थे । प्रथम दल में कोट्टूर का स्वामिदत्त एवं एरण्डपल्ल का दमन आता था । इसका अधिनायक कोराल का मण्टराज था । द्वितीय दल में अवशिष्ट नव राज्यों के शासक सम्मिलित थे । इस गुट का प्रधान नेता काञ्ची का पल्लव-सम्राट् विष्णुगोप था । आर० यन० दण्डेकर का कथन है कि दक्षिण भारत के सभी बारह नरेश समुद्रगुप्त के विरुद्ध एक ही दल में संगठित थे। वेंगी एवं काञ्ची के शासक पल्लव-राजवंश से संबन्धित थे । अपने समय के वे शक्तिशाली नरेश रहे होंगे । अतएव उनके नेतृत्व में दक्षिणापथ के अन्य नरेशों का संगठन-बद्ध हो जाना आश्चर्यजनक बात नहीं मानी जा सकती । समुद्रगुप्त ने उनके सम्मिलित मोर्चे को कोलेयर-कासार के तट पर हरा दिया होगा । इसी स्थान को प्रयाग-प्रशस्ति में कोराल कहा गया है। गुटबन्दी के उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के विरुद्ध विचारणीय हो जाता है कि दक्षिणा-पथ-नरेशों के राज्य आधुनिक रायपुर से लेकर काञ्ची तक प्रसरित थे । दूरस्थ प्रदेशों के शासकों का एक या दो दलों में एकत्र हो जाना असम्भाव्य था । मलिक काफूर की भाँति समुद्रगुप्त ने भी दक्षिण के नरेशों को पृथक्-युद्धों में परास्त किया होगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

वाकाटक-संबंध--समुद्रगुप्त के समय में वाकाटक-वंश एक शक्तिशाली राजवंश था। इसके तत्कालीन अधिकार-क्षेत्र को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे भाग आते थे जिनमें उनका प्रत्यक्ष शासन था। इनमें वे अपने निजी कर्मचारियों के माध्यम से राज्य करते थे। केन्द्रीय एवं पश्चिमी बक्कन इसी कोटि में आता था। दूसरे वर्ग में उनके प्रभावक्षेत्र सम्मिलित थे, जिनमें वे अपने सामन्तों के माध्यम से राज्य करते थे। मध्यप्रदेश के कुछ हिस्से (जासो, अजयगढ़, रींवा तथा सागर) इसी कोटि के अन्तर्गत आते थे। हम वाकाटक-माण्डलिक व्याघ्रदेव का उल्लेख कर चुके हैं, जो नचना एवं गंज के लेखों के अनुसार विन्ध्य पर्वत के उत्तर में पृथिवीषेण प्रथम की अधीनता में राज्य कर रहा था। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्तकालीन विविध स्वदेशी नरेशों के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि यह वाकाटकों के विषय में सर्वथा मौन है। सम्पूर्ण दक्षिणापथ नरेशों (सर्वदक्षिणापथराज) की सूची में वहाँ बारह शासकों का उल्लेख है। द्रष्टव्य है कि इसमें उनकी कोई भी चर्चा नहीं है।

धरणि-बन्ध की क्रिया में समुद्रगुप्त वाकाटक-राज्य की उत्तरी एवं पूर्वी सीमाओं पर स्थित नरेशों का उन्मूलन कर रहा था। इस कारण उनके साथ इस गुप्त नरेश के प्रत्यक्ष-संघर्ष की पूरी सम्भावना थी। इस बात को दृष्टिकोण में रख कर डॉ० जायसवाल ने प्रयाग-प्रशस्ति के रुद्रदेव को वाकाटक रुद्रसेन प्रथम के साथ समीकृत किया था। हम पहले विचार कर चुके हैं कि यह समीकरण यथार्थ नहीं है। रुद्रदेव कौशाम्बी का शासक था। यदि समुद्रगुप्त ने सचमुच ही अपने समसामयिक वाकाटक-नरेश को परास्त किया होता, तो प्रशस्तिकार हरिषेण इस तथ्य का रोचक एवं सजीव वर्णन करता। प्रयाग-प्रशस्ति की कुछ पंक्तियाँ इस विजय-वर्णन से संबन्धित हुई होतीं। इस गुप्तनरेश द्वारा पराजित दक्षिणा-पथ-नरेशों के राज्य पूर्वी घाट पर स्थित थे। इससे संकेत मिलता है कि उसने पश्चिमी घाट की ओर दिग्विजय-हेतु आना श्रेयस्कर नहीं समझा होगा। इसका कारण यह है कि वहाँ सशक्त वाकाटक राज्य कर रहे थे। वह उनसे युद्ध मोल लेकर अपने को अनावश्यक उलझनों में नहीं डालना चाहता था। अभी उसे शकों का उन्मूलन करना था। यह कार्य गुप्त-साम्राज्य के हित में अत्यावश्यक था। कालान्तर में उसके इस अधूरे काम को उसके सुयोग्य पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वाकाटकों की सहायता से पूरा किया था। अतएव प्रयाग-प्रशस्ति के 'सर्वदक्षिणा-पथराजग्रहण' को लेकर निष्कर्ष निकालना कि समुद्रगुप्त ने वाकाटकों को परास्त कर दिया था, समुचित नहीं होगा। इस अभिलेख में 'सर्वद्वीपवासी' का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इससे यह भाव नहीं निकाला जा सकता कि संसार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के समस्त द्वीपों के शासकों ने समुद्रगुप्त से अधीनस्थ मैत्री स्थापित कर ली थी।

यद्यपि दक्षिणी भारतवर्ष में वाकाटकों के साथ उसका प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ, तथापि उसने विन्ध्य-पर्वतमाला के उत्तर में वर्तमान प्रभाव-क्षेत्रों से उन्हें वञ्चित कर दिया था। हम पीछे इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि मध्य-प्रदेश के दक्षिण-पूर्व भाग (बुन्देलखण्ड एवं सागर जिले) में वाकाटकों के सामन्त राज्य करते थे। उदाहरणार्थ उनका व्याघ्रदेव नामक माण्डलिक भूतपूर्व जासो एवं अजयगढ़ राज्यों में शासन करता था। उसकी ऐतिहासिकता नचने की तलाई तथा गंज के शिला-लेखों द्वारा प्रतिपादित हो जाती है। समुद्रगुप्त 'व्याघ्र-निहन्ता' प्रकार की मुद्राओं पर व्याघ्र का आखेट करता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इन पर उसकी उपाधि 'व्याघ्र-पराक्रमः' भी उत्कीर्ण मिलती है। इस वर्ग की मुद्राओं के प्रचलन का संबन्ध वाकाटक-माण्डलिक व्याघ्रदेव पर उसकी विजय से लगता है। सागर-मण्डल (ऐरिकिण प्रदेश) समुद्रगुप्त के आधिपत्य में आ गया था। इस समय से वहाँ परिव्राजक-महाराज गुप्तों के सामन्त के रूप में राज्य करने लगे। लगता है कि उत्तरी भारतवर्ष में वाकाटक-माण्डलिकों को जब समुद्रगुप्त ने जीत लिया, उस समय इस राजवंश के साथ उसका कोई अनुबन्ध हुआ। इसकी शर्तों के अनुसार दक्षिणापथ-अभियान के समय वह वाकाटक-राज्य पर आक्रमण नहीं करता। इसके उपरान्त यह राजकुल एकमात्र दक्षिण-राजवंश के रूप में ही सीमित रह गया।[1]

परिणाम—दक्षिणी भारतवर्ष में समुद्रगुप्त की सफलता विलक्षण कोटि की थी। इसको देख कर उसके सीमान्त-राज्यों (प्रत्यन्त-शक्तियों) ने उसका लोहा स्वीकार कर लिया था। इनका नामोल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति की तेईसवीं एवं चौबीसवीं पंक्तियों में मिलता है। इनमें इन्हें दो कोटियों में विभक्त किया गया है। प्रथम कोटि में 'प्रत्यन्त नृपति' आते थे, जो संख्या में पाँच थे। ये राज्य उत्तर एवं उत्तर-पूर्व भारतवर्ष में विद्यमान थे। द्वितीय कोटि में नव गण-राज्य आते थे, जो पंजाब, मालव, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश के कुछ भागों में वर्तमान थे। प्रथम वर्ग के राज्यों का परिचय इस प्रकार है:—

(१) **समतट**—हेमचन्द्र रायचौधरी एवं यन० के० भट्टसाली का कथन है कि समतट से तात्पर्य बंगाल के पूर्वी समुद्र-तट से है।[2] इसकी राजधानी कोमिल्ला के समीप कर्म्मान्त में स्थित थी जिसका समीकरण आधुनिक बड़कान्ता से किया

---

१. रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ५४३
२. वही, पृष्ठ ५४३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जा सकता है। सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार समतट से तात्पर्य गंगा एवं ब्रह्मपुत्र नदियों के मध्य की भूमि से है। इसके केन्द्रीय भाग का प्रतिनिधित्व आधुनिक जेस्सोर जिले के द्वारा किया जाता है।[1] डॉक्टर बी० सी० सेन ने हुयेनसांग के विवरण के आधार पर समतट के स्थान-निर्धारण की चेष्टा की है। उनके अनुसार यह प्रदेश कामरूप (असम) के दक्षिण, कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद जिला) के दक्षिण पूर्व तथा ताम्रलिप्ति (मिदनापुर जिले) के पूर्व में स्थित था।[2]

(२) **डवाक**--डवाक की भी पहचान अभी तक नहीं हो सकी है। फ्लीट का अनुमान है कि आधुनिक ढाका का यह प्राचीन नाम था। स्मिथ के अनुसार इसका तात्पर्य उत्तरी बंगाल के किसी भाग से है। यन० के० भट्टसाली एवं के० यल० बरुआ ने इसकी समता असम के नवगाँव जिले में स्थित डबोक के साथ की है।[3]

(३) **कामरूप**--इससे तात्पर्य आधुनिक असम से है। इसके केन्द्रीय भाग को आज भी कामरूप कहा जाता है। समुद्रगुप्त का समकालीन कामरूप-नरेश पुष्यवर्मा अथवा समुद्रवर्मा रहा होगा। वह हर्षकालीन भास्करवर्मा का कोई आदि पूर्वज था।

(४) **नेपाल**--प्राचीन नेपाल आधुनिक गण्डक एवं कोसी के बीच स्थित था। कोसी को अब भी 'नेपाल की घाटी' कहा जाता है। नेपाल का प्रथम उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है।[4] इस ग्रंथ में यहाँ के बने हुए उत्तम कोटि के ऊनी कम्बल ('नेपालकम्') का वर्णन आता है। विशेष जाति की भेड़ों के बालों से बुना हुआ नैपाली कम्बल प्राचीन भारत में पर्याप्त रूप में जनप्रिय था। समुद्रगुप्त के समय में नेपाल में लिच्छवि वंश के लोग शासन करते थे। यह राज्य वैशाली के लिच्छवि-राज्य से पृथक् था।

(५) **कर्त्तृपुर**--फ्लीट ने इसकी समता जलंधर जिले के कर्तारपुर के साथ की थी। कतिपय इतिहासकारों (ओल्डम, विन्सेन्ट स्मिथ तथा हेमचन्द्र रायचौधरी ने इसकी पहचान कमायूँ, गढ़वाल तथा रोहिलखंड के भूतपूर्व 'कतुरिया राज' के साथ की है। दशरथ शर्मा के अनुसार मुल्तान तथा लोहनी (लूनी) के

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, पृष्ठ १५८
२. वही, पृष्ठ १५७
३. बरुआ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप, पृष्ठ ४२
४. अर्थशास्त्र (गणपति शास्त्री-अनूदित), जिल्द २, पृष्ठ १९५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बीच में स्थित कहरोर (करूर), प्राचीन कर्त्तृपुर का आधुनिक प्रतिनिधि है। अल्बरूनी के अनुसार इसी स्थान पर विक्रमादित्य ने शकों को परास्त किया था।[1] कर्त्तृ का अर्थ ब्रह्मा होता है। अतएव सम्भव है कि हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में कर्त्तृपुर को ही ब्रह्मपुर कहा है। डॉ० डी० आर० भण्डारकर ने कर्त्तृ-पुर को राजशेखर की काव्यमीमांसा में उल्लिखित कार्त्तिकेयनगर के साथ समीकृत किया है।[2]

गणराज्य—द्वितीय कोटि के सीमान्त-राज्यों में नौ गण-राज्य आते थे। इनमें से कुछ अति प्राचीन थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय वे पंजाब तथा पश्चिमोत्तर भारतवर्ष के अन्य भागों में शासन करते थे। यूनानी लेखकों ने उनकी युद्ध-कला एवं व्यूह-रचना आदि की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। बाह्य आक्रमणों के कारण मूल-अधिकारक्षेत्रों का परित्याग करते हुए ये गण क्रमशः मालवा, राज-स्थान, पूर्वी पंजाब तथा मध्य प्रदेश के विभिन्न भागों में बस गए थे। समुद्रगुप्त-कालीन गण-राज्यों का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में आलोचित है।

(१) **मालव**—मालव गण-राज्य प्राचीन था। इसका प्रथम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में हुआ है। काशिका में मालव-गण (मालव्य) का उल्लेख वाहीक (पंजाब) के 'आयुध-जीवि' संघ के अन्तर्गत हुआ है। यूनानी लेखकों ने मालवों को 'मल्लोई' कहा है। सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव लोग कहीं पंजाब में शासन करते थे। उन्होंने रावी नदी के तट पर सिकन्दर का दृढ़ता के साथ सामना किया था। इस गण-राज्य की कुछ मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिन पर 'मालवानां जयः' तथा 'मालवगणस्य जयः' शब्द उत्कीर्ण मिलते हैं। नासिक के गुहा-लेख के अनुसार नहपान के दामाद उषवदात ने मालवों को परास्त किया था। स्मिथ, एलन तथा रायचौधरी का कथन है कि उस समय वे पूर्वी राज-पूताना में राज्य करते थे। उक्त लेख के अनुसार उत्तमभाद्रों के अधिपति को मालव लोगों ने किसी समय घेर लिया था। भट्टारक नहपान की आज्ञा पाने पर उषवदात ने उन पर आक्रमण कर दिया। उसके सैन्य-हुंकार से मालव पलायमान हो गए। उसने वीरतापूर्वक उन्हें घेर कर बन्दी बना लिया था। इस विजय के उपलक्ष में उसने पुष्करतीर्थ में स्नान कर ब्राह्मणों को तीन हजार गाएँ एवं एक ग्राम दान-स्वरूप दिया था ('त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च')। डॉक्टर मजुमदार के

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १३१

२. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ १९५-९६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

अनुसार समुद्रगुप्त के समय में वे मेवाड़, टोंक तथा राजस्थान के दक्षिण-पूर्व के कुछ भागों पर शासन करते थे।[1] समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के काल में उन लोगों का विशेष संबन्ध मन्दसोर के साथ था। कुमारगुप्त-कालीन मन्दसोर के लेख में मालव-संवत् का प्रयोग मिलता है। इस स्थान से प्राप्त अन्य अभिलेखों में भी मालव-संवत् में ही तिथियाँ उल्लिखित हैं। नरवर्मन् के मन्दसोर-शिलालेख (४०४ ई०) में इसे कलियुग का प्रशस्त संवत् कहा गया है (श्रीम्मालव-गणाम्नाते प्रशस्ते कृत-संज्ञिते)। मन्दसोर-अभिलेखों में इस संवत का प्रचुर प्रयोग इस स्थान के साथ मालव-गण का विशेष संबन्ध प्रमाणित करता है।

(२) **अर्जुनायन**—हेमचन्द्र रायचौधरी का कथन है कि इस गण-राज्य के नाम की व्युत्पत्ति का संबन्ध पाण्डव अर्जुन के साथ लगता है। टालमीने पंजाब में राज्य करने वाली 'पांडुओई' नामक जाति का उल्लेख किया है, जिसे हम अर्जुनायन से समीकृत कर सकते हैं। संभव है कि यहाँ पर संकेत अर्जुनायनों की ओर हो। इनका उल्लेख वराहमिहिर की बृहत्संहिता में भी हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुसार वे उत्तराखण्ड में निवास करते थे। इनकी कुछ मुद्राएँ भी मिली हैं, जिन पर 'अर्जुनायन' लेख उत्कीर्ण है। डॉक्टर मजुमदार के अनुसार समुद्रगुप्त के समय में इस गण-राज्य के लोग भरतपुर एवं पूर्वी राजपूताना के बीच कहीं जयपुर के समीप शासन करते थे। स्मिथ ने इस बात का निर्देश किया है कि उनकी मुद्राएँ मथुरा से भी प्राप्य हैं। अभिधान-चिन्तामणि में 'आर्जुनी' नामक नदी को 'बाहुदा' कहा गया है जिसे आधुनिक रामगंगा से समीकृत किया जाता है। सम्भव है कि इस नदी का विशेष सम्बन्ध किसी समय अर्जुनायनों के निवास से रहा हो।

(३) **यौधेय**—हेमचन्द्र रायचौधरी का कथन है कि यौधेयों की व्युत्पत्ति यौधेय से लगती है, जो महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर-पुत्र था।[2] हरिवंश में यौधेयों का संबन्ध उशीनर के साथ दिखाया गया है। पाणिनि ने यौधेयों का उल्लेख 'आयुधजीवि संघ' (जो शस्त्र के द्वारा जीविका का उपार्जन करते थे) के अन्तर्गत किया है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने यथार्थ ही कहा है कि यौधेयों के विषय में पाणिनि-कृत यह उल्लेख सबसे प्राचीन है। महाभारत से आभास मिलता है कि बहुधान्यक-प्रदेश में रोहीतक उनकी राजधानी थी। यौधेयों की मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं। कनिंघम, रैप्सन तथा स्मिथ का कथन है कि उनकी मुद्राएँ सहारनपुर से मुल्तान तक के भू-खण्ड में प्राप्त हुई हैं। इन पर 'यौधेयगण' तथा 'यौधेयगणस्य जयः' लेख उत्कीर्ण हैं। विजयगढ़-लेख से निष्कर्ष निकलता है कि

---

१. वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ १३१
२. महाभारत, आदिपर्व, ९५, ७६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनका राज्य किसी समय आधुनिक भरतपुर तक प्रसरित था। रुद्रदामन के गिरिनार के लेख में यौधेयों का उल्लेख हुआ है। उनकी शक्ति और साधनसंपन्नता पर प्रकाश डालते हुए इस अभिलेख में कहा गया है कि यौधेय संपूर्ण क्षत्रिय मंडल में अपने आप को वीर सिद्ध करने के निमित्त अतीव गर्वित हो उठे थे (सर्व्व-क्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां)। रुद्रदामन इन यौधेयों को परास्त कर चुका था। स्मिथ एवं कनिंघम ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि सतलज नदी का वह तटवर्ती प्रदेश जिसका प्रतिनिधित्व भवालपुर-राज्य करता है, जोहियाबाड़ कहलाताहै। इस नामकी व्युत्पत्ति यौधेयोंके निवास (यौधेय-ब्राट)के कारण हुई होगी। लगता है कि समुद्रगुप्त के समय में वे यहीं पर राज्य करते थे। वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि पंजाब के आधुनिक जोहिए राजपूत प्राचीन यौधेयों के वंशधर हैं।[1]

(४) **मद्रक**——इस गण-राज्य के लोग रावी और चेनाब नदियों की मध्यवर्ती भूमि में राज्य करते थे। महाभारत के अनुसार मद्रों की राजधानी शाकल में विद्यमान थी, जिसका प्रतिनिधि आधुनिक स्यालकोट है। एरियन, कर्टियस एवं डिओडोरस ने इस नगर की प्रचुर प्रशंसा की है। कर्टियस लिखता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय वहाँ कठ जाति के लोग राज्य करते थे। इस नगर के चतुर्दिक् एक ऊँची दीवाल तथा गहरी खाईं थी। यूनानी सैनिकों से जान बचाने के निमित्त कुछ नागरिकों ने इसे तैर कर पार किया था। एरियन ने इस नगर की परिखा को झील कहा है। कालान्तर में वहाँ पर यवन-राज मिलिन्द (मेनेन्डर) की राजधानी स्थापित हुई। मिलिन्दपञ्हो में इस नगर को 'योनकानं नगरम्' (यवन-नगर) कहा गया है।[2]

(५) **आभीर**——यह गण-राज्य भी प्राचीन था। पतंजलि के महाभाष्य में आभीरों को शूद्र कहा गया है (शूद्राभीरान्)।[3] उस समय वे सम्भवतः हिसार के पास राज्य कर रहे थे जहाँ परम्परा के अनुसार सरस्वती नदी नष्ट हुई थी (यत्र नष्टा सरस्वती)। इस गण-राज्य के साथ सिकन्दर का युद्ध हुआ था। यूनानी लेखकों ने आभीरों को 'सोड्राई' कहा है। यह उनकी निम्न उत्पत्ति की ओर संकेत करता है। किसी समय वे महाराष्ट्र में भी शासन करते थे। २४८ ई० के लगभग आभीर-नरेश ईश्वरसेन वहाँ राज्य कर रहा था। कालान्तर में आभीर-गण पश्चिमी राजपूताना में राज्य करने लगा। टालमी एवं पेरिप्लस ने उनके

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४५९
२. देखिए, मेरा ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ६९
३. महाभाष्य, ९, ३७,१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्य को ही 'अबीरिया' कहा है । कुछ समय उपरान्त एक आभीर-शाखा वहाँ से हटकर मध्यभारत चली आई और झाँसी एवं भिलसा के बीच वाले प्रदेश पर शासन करने लगी थी । यहाँ उनकी राजधानी संभवतः आधुनिक अहिरवाड़ा में विद्यमान थी । यह स्थान प्राचीन आभीरवाट (आभीरों का निवासस्थान) का प्रतिनिधित्व करता है । लगता है कि समुद्रगुप्त के समय में आभीर-गणराज्य की दोनों ही शाखाएँ विद्यमान थीं तथा उन्होंने उससे प्रभावान्वित होने के कारण माण्डलिक होना स्वीकार कर लिया था ।

(६) **प्रार्जुन**—इनका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है । विन्सेण्ट स्मिथ एवं डी. आर० भण्डारकर का कथन है कि इस गण-राज्य के लोग मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर जिले में शासन कर रहे थे ।

(७) **सनकानीक**—इस गण-राज्य के लोग आधुनिक भिलसा में शासन करते थे । चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्यकालीन उदयगिरि के वैष्णव गुहा-लेख (गु० सं० ८२=४०१ ई०) से ज्ञात होता है कि सनकानीक भिलसा में गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे । उनका अधिनायक महाराज छगलग का पौत्र, महाराज विष्णुदास का पुत्र एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्वामिभक्त सामन्त था (परम-भट्टारकमहाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तपादानुद्ध्यातस्य महाराज-छगलग-पौत्रस्य महाराज-विष्णुदासपुत्रस्य सनकानीकस्य महाराज) ।

(८) **काक**—काक गण-राज्य का उल्लेख महाभारत में हुआ है (ऋषिका विदर्भाः काकास्तंगणाः परतंगणाः)।[1] बाम्बे गज़ेटियर में भिलसा के २० मील उत्तर में स्थित काकपुर नामक ग्राम का उल्लेख मिलता है । रमेशचन्द्र मजुमदार एवं डी० आर० भण्डारकर का अनुमान है कि काक गण-राज्य के लोग सम्भवत यहीं पर शासन करते थे । विन्सेण्ट स्मिथ, हेमचन्द्र रायचौधरी एवं दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि वे सम्भवतः आधुनिक साँची में राज्य करते थे । इस स्थान के कुछ प्राचीन लेखों के अनुसार इसका प्राचीन नाम 'काकबाट' अथवा 'काकनाद-बाट' था । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकालीन साँची-लेख (गु० सं० ९३)में यहाँ पर वर्तमान एक बौद्ध विहार का उल्लेख मिलता है (काकनादबाट-श्रीमहाविहार)। इस लेख के अनुसार आम्रकार्द्दव नामक एक सैनिक पदाधिकारी ने इस विहार को ईश्वर-वासक नामक ग्राम एवं पचीस दीनार दानस्वरूप दिया था । काकों के निवास से संबंधित होने के कारण ही साँची का प्राचीन नाम 'काक-बाट' (काकों का स्थान) पड़ गया होगा ।

---

१. महाभारत, ६, ९, ६४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(६) **खरपरिक**—बतिहगढ़ के लेख में 'खरपर' जाति का उल्लेख मिलता है। भंडारकर महोदय ने प्रयाग-प्रशस्ति के 'खरपरिकों' की पहचान इसी 'खरपर' जाति से की है। उपर्युक्त लेख के प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है कि 'खरपरिक' लोग मध्यप्रदेश के दमोह जिले में राज्य करते थे।

प्रत्यन्त-नीति—प्रयाग की प्रशस्ति की बाईसवीं एवं तेईसवीं पंक्तियों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने सीमान्त (प्रत्यन्त) राज्यों को अपनी आज्ञा को मानने (आज्ञाकरण) तथा विशिष्ट अवसरों पर राजधानी में उपस्थित होकर गुप्त-सम्राट् को प्रणाम करने (प्रणामागमन) के लिये बाध्य किया। संधि की शर्तों के अनुसार उन्हें गुप्त-सम्राट् को सभी प्रकार के करों को देना (सर्वकरदान) तथा उसके प्रचण्डशासन को स्वीकार करना पड़ा था (परितोषितप्रचण्डशासनस्य)। लेख की भाषा से स्पष्ट है कि इन राज्यों ने समुद्रगुप्त की अधीनस्थता में रहना स्वीकार कर लिया। प्रयाग-प्रशस्ति का यह कथन अतिरञ्जित नहीं माना जा सकता। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्य है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकालीन (गुप्त संवत् ८२ वाले) उदयगिरि-लेख से ज्ञात होता है कि सनकानीक भिलसा में गुप्तों की प्रभुता स्वीकार करते थे।

डॉ० अल्तेकर का कथन है कि महत्त्वाकांक्षी समुद्रगुप्त के सैन्य-अभियान के कारण इन गण-राज्यों को बहुत बड़ा धक्का लगा था। संभवतः उनमें से कुछ का अस्तित्व भी समाप्त हो गया। परन्तु इससे सहमत होना दुष्कर है। उदयगिरि के उपर्युक्त लेख से प्रमाणित होता है कि अधीनस्थ राज्यों के रूप में उनकी सत्ता समुद्रगुप्त के उपरान्त भी वर्तमान थी। लगता है कि कालान्तर में हूण-आक्रमण के कारण इन राज्यों का विलय हुआ था। सीमान्त-राज्यों के प्रति अपनाई हुई नीति में हम समुद्रगुप्त की सूक्ष्म-दर्शिता का परिचय पाते हैं। उन्होंने गुप्त-सम्राट् को स्वामिभक्ति का प्रदर्शन किया था। अनुमान किया जाता है कि सनकानीकों ने शक-सत्ता के उन्मूलन में गुप्तों की सहायता पहुँचाई थी। शक, कुषाण एवं मुरुण्ड-सदृश विदेशी राज्यों एवं गुप्त-साम्राज्य के बीच स्थित ये गण-राज्य निरोधक शक्तियों (बफर स्टेट) के रूप में वर्तमान थे। पश्चिम एवं उत्तर-पश्चिम दिशा से सम्भावित आक्रमणों को रोकने में गुप्त-साम्राज्य के लिए वे लाभदायक सिद्ध हो सकते थे। उत्तर एवं उत्तर-पूर्व के प्रत्यन्त राज्यों को अपहृत नहीं करते हुए समुद्रगुप्त ने अपने राजनय एवं सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया था। नेपाल एवं असम आदि को जीतने में मुगलों एवं कालान्तर में अंग्रेजों को भी व्यावहारिक कष्टों का अनुभव करना पड़ा था।

विदेशी शक्तियाँ—प्रयाग-प्रशस्ति की तेईसवीं पंक्ति में कुछ विदेशी शक्तियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के उल्लेख मिलते हैं ; उदाहरणार्थ (१) दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि, (२) शक, (३) मुरुण्ड, (४) सिंहल-द्वीप तथा (५) सर्वद्वीपवासी । उन्होंने समुद्रगुप्त को आत्मसमर्पण करना (आत्मनिवेदन), कन्याओं का उपहार चढ़ाना (कन्योपायनदान) तथा गरुड़-मुद्रा से अंकित उसके आदेश को अपने-अपने शासन-क्षेत्रों में प्रचलित करना स्वीकार कर लिया था (गरुत्मदंक-स्वविषयभुक्ति-शासनयाचना)। इन शब्दों से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त विदेशी राज्यों ने उसके साथ अधीनस्थ मैत्री स्थापित की होगी । सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत है कि प्रयाग-प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण का उपर्युक्त कथन विश्वसनीय नहीं है । इसे हम काव्योक्ति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं न कि ऐतिहासिक सत्य के अर्थ में ।[1] यह आलोचना अतिरञ्जित एवं वास्तविक तथ्यों से रहित है । क्रमशः ऐसे प्रमाण प्रकाश में आए हैं, जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि हरिषेण का उक्त कथन यथार्थ पर आधारित है । ये साक्ष्य (जिनका विवेचन हम निम्नलिखित पंक्तियों में करेंगे) विश्वास दिलाते हैं कि उपर्युक्त विदेशी शक्तियाँ समुद्रगुप्त की सदेच्छा एवं सहायता उपलब्ध करना चाहती थीं तथा इसकी प्राप्ति के निमित्त उन्होंने राजदूतों के माध्यम से उसके पास बहुमूल्य उपहार भेजा था ।

(१) **दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि**—इससे तात्पर्य उत्तर कुषाणों से लगता है । वे समुद्रगुप्त के समय में उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में विद्यमान थे । दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि को हम 'देवपुत्र महाराज राजातिराज' से समीकृत कर सकते हैं, जो कुषाणों की सुप्रसिद्ध उपाधि थी । प्रारम्भिक शब्द दैवपुत्र अभिव्यञ्जित करता है कि यह शक्ति देवपुत्र कनिष्क की वंशज थी ।[2] कतिपय विद्वानों का सुझाव है कि यह उल्लेख तत्कालीन तीन पृथक् कुषाण-सत्ताओं का बोधक है । उस समय उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में कुषाणों के तीन राज्य रहे होंगे, जिनके शासक दैवपुत्र, षाहि एवं षाहानुषाहि उपाधियाँ अलग-अलग धारण करते होंगे। यह मत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता । डी० आर० भण्डारकर ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि 'दैवपुत्र' तद्धित होने के कारण स्वतन्त्र शब्द नहीं है । इसका सीधा संबन्ध 'षाहि-षाहानुषाहि' से है, जो उत्तर कुषाणों की प्रिय उपाधि 'महाराजराजातिराज' की ओर स्पष्ट संकेत करती है । ऐसी परिस्थिति में 'दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि' को एक समस्त-पद मानना चाहिए । इससे केवल एक ही

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ १६१
२. मजुमदार, वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १३५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुषाण-शक्ति का बोध होता है। यह साम्राज्यवादी कुषाणों की प्रिय उपाधि थी, जिसे उसके वंशधर धारण करते आ रहे थे।[1]

स्मिथ एवं एलन ने उसे भ्रमवश ग्रम्बेट्स से समीकृत किया था। इस महासत्व ने रोम के विरुद्ध ससैनियन नरेश शापुर द्वितीय की सहायता की थी। उक्त नरेश के साथ समुद्रगुप्त का सम्पर्क दिखाने के निमित्त कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। अतएव इन दोनों विद्वानों से सहमत होना न्यायोचित नहीं होगा। डॉ० अ० स० अल्तेकर का कथन है कि समुद्रगुप्त का समकालीन उत्तर-कुषाण-नरेश 'किदार' नामक था, जो पुरुषपुर (पेशावर) में राज्य करता था। वह पहले ससैनियन नरेश शापुर द्वितीय की अधीनस्थता स्वीकार करता था। परन्तु उसने क्रमशः काश्मीर एवं पश्चिमी पंजाब के कुछ भागों पर आधिपत्य स्थापित कर अपनी शक्ति विस्तृत कर ली थी।[2] इसके पश्चात् उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी। पुराणों में किसी गुप्तकालीन म्लेच्छवंशी नरेश का वर्णन मिलता है (म्लेच्छप्रायश्च भूभृतः)। वह सिन्धु एवं चन्द्रभागा नदियों की पार्श्ववर्ती भूमि एवं 'काश्मीर-मण्डल' का उपभोग करता था।[3] अल्तेकर ने किदार-कुषाण को पुराणों में वर्णित इस म्लेच्छ नरेश के साथ समीकृत किया है। आर्यावर्त-युद्धों के अनन्तर समुद्रगुप्त की धाक पश्चिम में पूर्वी पंजाब तक भली-भाँति जम चुकी थी। किदार-कुषाण ससैनियन नरेश शापुर द्वितीय की अधीनस्थता से उन्मुक्त होना चाहता था। इसके निमित्त वह उसकी सहायता का अभिलाषी था। उदीयमान समुद्रगुप्त के साथ (जो कि अब उसका पड़ोसी भी था) सद् संबन्ध स्थापित करना किदार ने अपने लिए श्रेयस्कर समझा होगा। इस उद्देश्य से उसने उपहारों के साथ अपना राजदूत पाटलिपुत्र भेजा होगा। अल्तेकर का अनुमान है कि ३६७-६८ ई० के लगभग समुद्रगुप्त की सक्रिय सहायता द्वारा उसने शापुर द्वितीय को गहरा आघात पहुँचाया होगा। उसने इस सफलता के फलस्वरूप उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में अपनी शक्ति को अधिक सुदृढ़ कर लिया होगा। मुद्रा-साक्ष्य से निष्कर्ष निकलता है कि उसने अपने शासित भू-भाग में सुयोग्य पदाधिकारियों को नियुक्त किया; उदाहरणार्थ वरो शाहि, पिरोच एवं बुद्धबल।[4]

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १३५ तथा पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ५४७

२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १९-२०.

३. "सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां
कौन्तीम् काश्मीर-मण्डलम्"
—पार्जिटर, डाइनेस्टीज़ ऑफ कलि एज, पृष्ठ ५५

४. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ २०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation-USA

रमेशचन्द्र मजुमदार का मत है कि किदार-कुषाण के अतिरिक्त गड़हड़-नरेश भी उत्तर-पश्चिम भारत में समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करता था। कनिंघम को उसकी एक मुद्रा प्राप्त हुई थी, जिस पर 'समुद्र' नाम उत्कीर्ण है। यह मुद्रा बनावट में समुद्रगुप्त की मुद्राओं से पर्याप्त साम्य रखती है। इससे स्पष्ट है कि गडहड़-नरेश समुद्रगुप्त का माण्डलिक था। इससे प्रमाणित होता है कि यदि किदार भी उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में समुद्रगुप्त की अधीनस्थता स्वीकार करता था, तो यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं हो सकती। शापुर द्वितीय के विरुद्ध सहायता-प्राप्ति के निमित्त उसने भेंट की सामग्री के साथ अपना दूत-मण्डल समुद्रगुप्त के दरबार में भेजा होगा।[1] प्रशस्तिकार हरिषेण ने इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर उल्लिखित किया है कि 'दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि' ने भी समुद्र-गुप्त को 'आत्मनिवेदन' एवं 'शासनयाचना' आदि आदरसूचक भावनाओं को अभिव्यञ्जित किया था।

(२) शक—शक उस समय पश्चिमी भारत में राज्य कर रहे थे। उज्जयिनी का समृद्धिशाली नगर एवं रमणीय सौराष्ट्र प्रान्त उन्हीं के राज्य के अन्तर्गत आते थे। अ० स० अल्तेकर के अनुसार उसका समकालीन शक-सम्राट् रुद्रसेन तृतीय था, जिसने ३४८ ई० से लेकर ३७८ ई० तक राज्य किया था। उसकी मुद्राएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) प्रथम वर्ग के सिक्के ३४८ ई० से लेकर ३५१ ई० के भीतर आते हैं तथा (२) दूसरे वर्ग की मुद्राएँ ३६४ ई० से लेकर ३७८ ई० के बीच आती हैं। ३५१ ई० और ३६४ ई० के बीच के तेरह वर्षों वाले काल में उसकी कोई मुद्राएँ नहीं प्राप्त होतीं। ३६४ ई० में उसने मुद्रा-प्रवर्तन पुनः प्रारंभ कर दिया। इससे लगता है कि रुद्रसेन तृतीय के लिये यह काल (३५१ ई०-३६४ ई०) कोई संकट का काल था और फलस्वरूप इस समय समुद्रगुप्त से सहायता की याचना के निमित्त वह बाध्य हो गया होगा। अल्तेकर का अनुमान है कि संभवतः महत्त्वाकांक्षी शापुर द्वितीय ने उसके लिए खतरे की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी होंगी।[2]

(३) मुरुण्ड—टालमी के अनुसार मुरुण्ड जाति के लोग गुप्तों के अभ्युदय के पूर्व गंगा की ऊपरी घाटी में राज्य करते थे। चीनी साधनों में उन्हें 'मेउलुन' कहा गया है। जैन प्रभावक-चरित तथा आवश्यक-बृहद्-वृत्ति के अनुसार मुरुण्ड किसी समय पाटलिपुत्र में शासन कर रहे थे। शर्व्वनाथ

---

१. क्लैसिकल एज, पृष्ठ ५७

२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ६१-६२.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के खोह के ताम्रलेख (गु० सं० १९३=५१३ ई०) में महादेवी मुरुण्डदेवी का उल्लेख हुआ है। वह उच्चकल्प-वंशी महाराज जयनाथ की पत्नी तथा महाराज शर्व्वनाथ की माता थी। हेमचन्द्र के अभिधानचिंतामणि नामक ग्रंथ के अनुसार मुरुण्ड लम्पाक (आधुनिक लघमन) में वर्तमान थे। संभव है कि लघमन के मुरुण्डों के साथ समुद्रगुप्त का कोई वास्तविक राजनीतिक संबन्ध रहा हो।[1] स्टेन कोनो का कथन है कि मुरुण्ड कोई पृथक् विदेशी जाति नहीं थी। यह चीनी शब्द वंग (अर्थात् सम्राट् या स्वामी) का समानार्थी है। सुराष्ट्र और उज्जयिनी के क्षत्रप 'स्वामिन्' की उपाधि धारण करते थे। मुरुण्ड शब्द संभवतः इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। यहाँ पर विचारणीय है कि प्रयाग-प्रशस्ति में शकों एवं मुरुण्डों का उल्लेख अलग-अलग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों पृथक् शक्तियाँ हैं। इसके आलोक में उपर्युक्त विद्वान् का मत अग्राह्य हो जाता है।

(४) **सिंहल**—सिंहल-द्वीप से तात्पर्य लंका से है। चीनी लेखों द्वारा समुद्रगुप्त एवं लंका के तत्कालीन शासक मेघवर्ण (चि-मि-किआ-मो-पो) के पारस्परिक संबंध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वांग-हुएन-त्से नामक चीनी लेखक के अनुसार मेघवर्ण ने बोधिगया के पवित्र स्थानों के दर्शनार्थ दो भिक्षुओं को वहाँ भेजा था। विश्राम-गृह के अभाव के कारण उनको वहाँ अत्यधिक असुविधा एवं कष्टों का सामना करना पड़ा था। कालान्तर के लंका-यात्रियों की कठिनाई को हटाने के निमित्त उसने बोधिगया में एक विहार-निर्माण का निश्चय किया। उसने यथाशीघ्र समुद्रगुप्त के पास बहुमूल्य उपहारों-सहित अपना दूत-मण्डल भेज कर वहाँ बौद्ध-विहार तथा लंका-यात्रियों की सुविधा के हेतु विश्राम-गृह निर्मित करने के लिए उसकी आज्ञा प्राप्त कर ली। सिंहल-नरेश ने बोधि-वृक्ष के उत्तर कीदिशा में एक सुन्दर मठ बनवाया। हुयेनसांग के आगमन के समय यह विहार वहाँ वर्तमान था। उस समय उक्त विहार में एक सहस्र भिक्षु रहते थे। इस मठ की स्थापना का उल्लेख करते हुए चीनी यात्री लिखता है कि सिंहल-नरेश ने इस विशेष अनुग्रह के निमित्त अपने देश का समस्त रत्न एवं बहुमूल्य धन-राशि भारत-नरेश को उपहार-स्वरूप प्रस्तुत कर दिया था। इससे प्रमाणित होता है कि सिंहल-नरेश के संबन्ध में प्रयाग-प्रशस्ति का कथन असत्य नहीं है। लंका-नरेश के द्वारा गुप्त-सम्राट् को प्रार्थना-पत्र भेजने (शासनयाचना) तथा उपहार चढ़ाने (दान) आदि का उल्लेख करते समय हरिषेण की दृष्टि में उपर्युक्त तथ्य (अर्थात् विहार-निर्माण-हेतु उसकी अभ्यर्थना तथा बहुमूल्य भेंट का अर्पण आदि) वर्तमान रहा होगा।

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, पृष्ठ १९४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

(५) **सर्वद्वीप-वासी**—प्रयाग की प्रशस्ति में कहा गया है कि सिंहल के अतिरिक्त अन्य द्वीपवासियों ने भी (सर्वद्वीपवासिभिः) समुद्रगुप्त को बहुमूल्य उपहार प्रस्तुत किया था। यहाँ पर दक्षिण-पूर्व एशिया के हिन्दू उपनिवेशों की ओर संकेत है। इनके शासकों ने अपना निकट संबन्ध मातृभूमि के सबसे सशक्त राज्य (अर्थात् गुप्त-साम्राज्य) के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर समझा होगा। जावा के 'तन्त्री-कामन्दक' नामक ग्रंथ के अनुसार वहाँ का इक्ष्वाकुवंशी नरेश ऐश्वर्यपाल अपने को समुद्रगुप्त का वंशज मानता था। इससे गुप्त-साम्राज्य एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के हिन्दू राज्यों का सास्कृतिक सम्पर्क प्रमाणित होता है। वहाँ के नरेशों ने समुद्रगुप्त की सहानुभूति-प्राप्ति के उद्देश्य से भेंट की सामग्री-सहित अपने राजदूतों को उसके पास भेजा था। अतएव सर्वद्वीपवासियों के संबन्ध-में प्रयाग-प्रशस्ति का उल्लेख अत्युक्ति या कवि की कल्पना के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता। सान्धिविग्रहिक हरिषेण का उपर्युक्त कथन समुद्रगुप्त के साथ उनकी वास्तविक अधीनस्थ मैत्री एवं अनुबन्धों पर आश्रित लगता है।

अश्वमेध-यज्ञ—दिग्विजय (धरणिबन्ध) की योजना की सफल कार्यान्विति के पश्चात् समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसके पहले पुष्यमित्र शुंग, वाकाटक, प्रवरसेन प्रथम तथा भारशिव नागों ने अश्वमेध-यज्ञ का संपादन किया था। प्रयाग की प्रशस्ति में उसे 'गोशतसहस्रप्रदायिनः' अर्थात् 'एक लक्ष गौओं का दान देने वाला' कहा गया है। इतनी अधिक संख्या में गाएँ अश्वमेध-यज्ञ के अवसर पर दान दी जाती थीं। गुप्तवंशीय अभिलेखों में उसे 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः' अर्थात् 'चिरकाल से परित्यक्त अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला' कहा गया है। परन्तु उसका यह दावा यथार्थ नहीं माना जा सकता। यह एक सुविदित तथ्य है कि गुप्त-काल के पूर्व उत्तरी एवं दक्षिणी भारतवर्ष के कई राजवंशों ने इस कोटि के यज्ञ का सम्पादन किया था। यवनविजेता पुष्यमित्र शुङ्ग के अश्वमेध-यज्ञ की स्मृति सदियों तक जनता में बनी रही। गुप्तकालीन कालिदास ने इस घटना का सजीव वर्णन अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक ग्रन्थ में किया है। पुराणों के अनुसार वैदिक धर्म के प्रकाण्ड उन्नायक प्रवरसेन ने चार वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान किया था।[1] समुद्रगुप्त की अश्वमेध वर्ग की मुद्राओं पर उसकी उपाधि 'अश्वमेधपराक्रमः' मिलती है। उनके पुरोभाग पर यज्ञ-यूप में बँधे हुए अश्व का चित्र अंकित मिलता है और पृष्ठतल पर प्रधानमहिषी सुंदर वस्त्र एवं आभूषणों से अलंकृत प्रदर्शित की गई है। स्पष्ट है कि यह समुद्रगुप्त की महादेवी

---

१. पार्जिटर, डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दत्तदेवी का चित्र है, जिससे चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) उत्पन्न हुआ था।

उसके अश्वमेध वर्ग के सिक्कों पर दो प्रकार के लेख प्राप्य हैं:— (१) "राजाधिराजः पृथिवीं विजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः" तथा (२) "पृथिवीं विजित्य दिवं जयत्याहृत-वाजिमेधः"। इससे लगता है कि ये मुद्राएँ दो विभिन्न अवसरों पर ढाली गई अर्थात् समुद्रगुप्त ने कम से कम दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया होगा। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं हो सकती। अयोध्या के लेख के अनुसार पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञों का आदर्श प्रस्तुत किया था (द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य)। प्रभावतीगुप्ता के पूना के ताम्रलेख में उसे 'अनेकाश्वमेधयाजिन्' अर्थात् कई अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान करने वाला कहा गया है। इससे निर्विवाद है कि समुद्रगुप्त ने एक से अधिक वाजिमेध अवश्य किया होगा। रैप्सन का अनुमान है कि समुद्रगुप्त ने सम्भवतः कुछ राजकीय मुहरों पर भी अश्वमेध-यज्ञ से संबंधित दृश्यों को अंकित कराया होगा। ब्रिटिश संग्रहालय में मिट्टी की एक मुद्रा (मुहर) पर अश्वमेध का अश्व यज्ञ-यूप से बँधा हुआ अंकित है। इसके ऊपर 'पराक्रमः' लेख प्राप्य है। यह समुद्रगुप्त की 'अश्वमेध-पराक्रम' उपाधि का स्मरण दिलाता है, जो उसकी अश्वमेध-मुद्राओं पर उत्कीर्ण है। रैप्सन के अनुसार उक्त मुहर समुद्रगुप्त की रही होगी। उसकी अश्वमेध मुद्राएँ प्रचुर संख्या में प्राप्य हैं। बयाना-निधि में ही इस वर्ग के बीस सिक्के मिले हैं। इसके अतिरिक्त सात ब्रिटिश संग्रहालय, दो ऐशमोलियन संग्रहालय एवं पाँच लखनऊ संग्रहालय में भी इस कोटि की मुद्राएँ उपलब्ध हैं।

साम्राज्य-विस्तार—इन विजयों के फलस्वरूप समुद्रगुप्त एक विशाल साम्राज्य का अधिपति बन गया। इसमें पूर्वी मालवा, आधुनिक उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश एवं पश्चिमी बंगाल के कुछ भाग सम्मिलित थे। पहले हम विचार कर चुके हैं कि उसकी कुछ मुद्राओं पर सिंहवाहिनी देवी की आकृति अंकित मिलती है। हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि यह आकृति 'विन्ध्यवासिनी दुर्गा' तथा 'हैमवती पार्वती' की ओर संकेत करती है। इसका भाव यह हो सकता है कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्य-पर्वत के द्वारा आवेष्ठित था (हिमवद्विन्ध्यकुंडला)। उसकी एक अन्य मुद्रा के ऊपर मकरवाहिनी गंगा की आकृति अंकित है। यह निदर्शन गंगा-घाटी पर उसके अधिकार को अभिव्यञ्जित करता है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि गुप्तकालीन मन्दिरों के चौखट के ऊपर मकरवाहिनी गंगा तथा कूर्म-वाहिनी यमुना की आकृतियों का निरूपण प्राप्य है। गुप्त-वास्तुकला में इन नदियों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। गुप्तकालीन साहित्य में भी उपर्युक्त भावना का वर्णन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHF(USA)

प्राप्य है। उदाहरणार्थ कुमारसम्भव में कहा गया है कि गंगा एवं यमुना नदियाँ भी अपना नदी रूप छोड़कर देव (महादेव जी) पर चँवर डुलाने लगीं। वे चँवर ऐसे लगते थे मानो हंस उड़ रहे हों।[1] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि इन नदियों के दोआबा (जिसे अन्तर्वेदी कहा जाता था) पर उसका आधिपत्य सुदृढ़ हो गया था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह गुप्त-साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रान्त था। कालान्तर में इसी भाग में शर्व्वनाग गुप्तों के प्रतिनिधि के रूप में राज्य कर रहा था। उपर्युक्त भू-भाग उसके प्रत्यक्ष-शासनक्षेत्र के अन्तर्गत वर्तमान् थे। इनमें वह अपने द्वारा नियुक्त कर्मचरियों के माध्यम से शासन करता था। पर उसका प्रभाव-क्षेत्र निश्चयात्मक रूप से इससे बड़ा था। तत्कालीन सीमांत पाँच नृपति-राज्य, नव गणराज्य तथा दक्षिणा-पथ के बारह नरेशों के राज्य उसके प्रभाव-क्षेत्र में आते थे। उन्हें प्रतिवर्ष समुद्रगुप्त को कर देना तथा विशेष अवसरों पर पाटलि-पुत्र में उपस्थित होना पड़ता था। इन शब्दों से उनकी माण्डलिक-स्थिति अभि-व्यञ्जित होती है। उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में वर्तमान् विदेशी शक्तियाँ (उत्तर कुषाण, शक एवं मुरुण्ड) उसकी प्रभुता को स्वीकार करती थीं।

उपाधियाँ—प्रयाग की प्रशस्ति तथा मुद्राओं के ऊपर उसकी उपाधियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। इन उपाधियों में गुप्तकालीन आदर्शों तथा धार्मिक विश्वास एवं प्रचलन का प्रतिबिम्ब मिलता है। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार इस सम्राट् को सर्वदा अपने बाहुबल एवं पराक्रम का ही सहारा रहता था(स्वभुजबल- पराक्रमैकबन्धो :)। इस कारण उसने 'पराक्रमांक' की उपाधि धारण की थी। उसकी गरुड़-मुद्रा के ऊपर 'श्री विक्रमः' उपाधि प्राप्य है। इससे लगता है कि गुप्त-नरेशों में सबसे पहले उसी ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। उसकी मुद्राओं के ऊपर 'कृतान्त-परशु', 'सर्वराजोच्छेता', 'व्याघ्र-पराक्रमः' तथा 'अश्व-मेध-पराक्रमः' आदि उपाधियाँ अंकित हैं। प्रयाग की प्रशस्ति में उसे 'देव' (लोक-धाम्नो देवस्य) कहा गया है। इस अभिलेख के अनुसार वह मनुष्य उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह लौकिक क्रियाओं का अनुसरण करता था (लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुषस्य)। इस अभिलेख के अनुसार वह अचिन्त्य पुरुष (पुरुषस्याचिन्त्यस्य) था। इसमें उसकी तुलना कुवेर, वरुण, इन्द्र और

---

१. "मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे ॥"
—कुमारसम्भव, सर्ग ७, श्लोक २२.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यमराज (अन्तक) से की गई है (धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य) । उसकी मुद्राओं के ऊपर उसे कृतान्त (अन्तक) कहा गया है । ये शब्द सम्राट् की दैवी उत्पत्ति में लोक विश्वास की ओर संकेत करते हैं । कुबेर तथा यमराज के साथ समुद्रगुप्त की उपमा मनुस्मृति के उस कथन की ओर संकेत करती है, जिसके अनुसार तेजोमय नरेश की प्रसन्नता में लक्ष्मी (यस्य प्रसादे पद्मांस्ते) तथा क्रोध में मृत्यु (मत्युश्च वसति क्रोधे) का निवास होता है । मनुस्मृति में भी सम्राट् की तुलना वरुण एवं कुवेर से की गई है तथा मनुष्य-रूप में उसे देवता के भाव में देखा गया है ।[1]

नीतिनिपुणता—समुद्रगुप्त ने सुदृढ़ शासन द्वारा अपने साम्राज्य को संगठित करते हुए अपने राजनय का सुन्दर परिचय दिया था। भारतवर्ष में एकछत्र राज्य की स्थापना की भावना से प्रेरित होते हुए भी उसका लक्ष्य संपूर्ण राज्यों को जीत कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाना नहीं था । वह कल्पना-जगत् में न रह कर यथार्थताओं को महत्त्व प्रदान करता था । वह जानता था कि दक्षिणी भारत, असम, नेपाल, सीमांत गण-राज्य तथा विदेशी राज्यों को एक ही बार छीन कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना तथा उन पर कठोर नियंत्रण स्थापित करना असंभव था । इस प्रकार की चेष्टा कालान्तर में मुगलों के लिए घातक सिद्ध हुई थी । बीजापुर एवं गोलकुंडा को जीतने एवं साम्राज्य में मिलाने में उनकी अपरिमित धनराशि एवं शक्ति का अपव्यय हुआ था । समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के नरेशों के राज्यों को न छीन कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था । वह इस बात का भली-भाँति अनुभव करता था कि पाटलिपुत्र में रह कर इतने सुदूर

---

१. "सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुवेरः स वरुणः स चन्द्रः स्वप्रभावतः ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥"

—मनु, अध्याय ७, श्लोक ७-८

तुलनार्हः—

"इन्द्रानिलयमकाराणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥"

—मनु, अध्याय ७, श्लोक -५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America: HHF(USA)

भागों पर सुचारु रूप से शासन करना असंभव है। अनेक भ्रष्ट राजवंशों को उसने पुनः स्थापित किया था (भ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठा)। इस रूप में उसने उनकी सहानुभूति को सर्वदा के लिये जीत लिया था। प्रयाग की प्रशस्ति में उसकी विभिन्न नीतियों के वर्णन मिलते हैं; उदाहरणार्थ--प्रसभोद्धरण (बलपूर्वक छीन लेना), परिचारिकीकृत (सेवक बनाना), प्रत्यर्पणा (विजित राज्यों को लौटा देना) तथा संपूर्ण करों को वसूल करना (सर्वकरदान)। इन विभिन्न नीतियों में उसकी सूक्ष्मदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता का प्रतिबिम्ब मिलता है।

शासन-प्रबन्ध--समुद्रगुप्त के अभिलेखों द्वारा उसकी शासन-व्यवस्था के ऊपर समुचित प्रकाश नहीं पड़ता तथापि इनके आधार पर यत्किञ्चित् महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हमें इस विषय में समुपलब्ध होती हैं। प्रयाग की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुप्तकुल में सर्वप्रथम इसी नरेश ने सामन्तवाद की प्रथा को जन्म दिया था। इस अभिलेख में उसके द्वारा नियुक्त महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं:—

(१) **खाद्यटपाकिक**--इस पद पर ध्रुवभूति नामक कर्मचारी नियुक्त किया गया था। दिनेशचन्द्र सरकार का अनुमान है कि वह संभवतः राजकीय महानस (भोजनशाला) से संबन्धित विभाग का सर्वाध्यक्ष था।

(२) **सान्धिविग्रहिक**--वह राजा का परराष्ट्र सचिव एवं मन्त्रि-मण्डल का महत्त्वपूर्ण सदस्य था। सन्धि एवं युद्ध (विग्रह) के मामलों में सम्राट् को परामर्श देने का कार्य वही करता था। वह राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र एवं व्यस्त कर्मचारी था। समुद्रगुप्त के समय में हरिषेण इस पद पर नियुक्त किया गया था।

(३) **कुमारामात्य**--पहले लोगों का विश्वास था कि कुमारामात्य कुमार (युवराज) का मन्त्री हुआ करता था। अनन्तसदाशिव अल्तेकर ने इस मत का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि इससे तात्पर्य शासन-संबन्धी पदाधिकारियों की उच्च श्रेणी से है। जिस प्रकार आधुनिक 'इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस' का कर्मचारी उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता है उसी भाँति गुप्तकाल में कुमारामात्य वर्ग का पदाधिकारी विषयपति (जिलाधीश), उपरिक महाराज (राज्यपाल) तथा सचिव आदि श्रेष्ठ स्थानों को सुशोभित करता था।

(४) **महादण्डनायक**--डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि वह एक उच्च सैनिक पदाधिकारी था।[1] दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि वह पुलिस-विभाग का

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ २७७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महत्त्वपूर्ण कर्मचारी था एवं फौजदारी से संबन्धित मुकदमों में भी वह निर्णय प्रदान करता था ।[1]

सतत् युद्धों में संलग्न होने के कारण संभव है कि समुद्रगुप्त को अपेक्षित शासन व्यवस्था की रूपरेक्षा को निर्धारित करने के हेतु यथेष्ट समय नहीं मिल सका हो । उसके इस अधूरे कार्य को उसके सुयोग्य पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पूर्ण किया था । गुप्त-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसमें शासन-संगठन की विलक्षण प्रतिभा विद्यमान थी ।

विद्यानुराग—रमेशचन्द्र मजुमदार के शब्दों में प्रखर सेनापति एवं नीतिज्ञ होने के अतिरिक्त समुद्रगुप्त में ऐसे अनेक प्रशस्त गुण विद्यमान थे, जो शांतिमय उपलब्धियों से संबन्धित जीवन के लिए अधिक उपयोगी हैं ।[2] प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के विद्यानुराग के विषय में प्रचुर उल्लेख प्राप्य हैं । इसके अनुसार उसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था (यस्य प्रज्ञानुषंगोचित-सुख-मनसः) । वह शास्त्र के गूढ़ अर्थ का सुविज्ञ था । (शास्त्र-तत्वार्थ-भर्त्तुः) । उसकी अगाध विद्वत्ता मर्मस्पर्शिनी थी (वैदुष्यं तत्त्व-भेदि) । प्रखर (निशित) एवं प्रवीण (विदग्ध) प्रज्ञा द्वारा विशेषज्ञों को भी वह प्रभावित कर देता था । उसने काव्य-ज्ञान द्वारा लक्ष्मी एवं सरस्वती के शाश्वत विरोध का विनाश कर दिया था (सत्काव्य-श्री-विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा) । वह अपनी स्फुट एवं विविध कविताओं द्वारा कीर्त्ति रूपी राज्य का उपभोग कर रहा था (बहु-कविता-कीर्त्ति-राज्यं भुनक्ति) । विद्वन्मंडली में वह अनश्वर सुयश का भागी था। समुद्रगुप्त के कवि एवं विद्वान् होने में संदेह प्रकट करना समुचित न होगा । भारतीय नरेश काव्य-निर्माता हुआ करते थे । गिरिनार के शिलालेख के अनुसार शकक्षत्रप रुद्रदामन ,अलंकृत गद्य एवं पद्य दोनों ही भली-भाँति लिख सकता था (अलंकृत गद्य-पद्य-काव्य-विधान-प्रवीणेन) । हाथीगुम्फ-अभिलेख के अनुसार कलिंग-नरेश खारवेल सुलेख, रूप, गणना तथा व्यवहार में निपुण था (लेखरूप-गणना-व्यवहार-विधि-विसारदेन) । मृच्छकटिक का रचयिता शूद्रक साहित्यिक परम्परा के अनुसार नरेश था । बाणभट्ट ने लिखा है कि हर्ष अपनी काव्य-रचना द्वारा अमृत-रस की वर्षा करते थे (काव्यकथास्वपीतममृतमुद्व-मंतम्) । उनकी शैली का वर्णन अवर्णनीय था (अपि चास्य कवित्त्वस्य वाचः न पर्याप्तो विषयः) ।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६०, पाद-टिप्पणी १
२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १४२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of North America: HHFA (USA)

प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने विविध कोटि की कविताएँ की थीं (अनेक -काव्य-क्रियाभिः) । उसके काव्य-ग्रन्थ कवियों और लेखकों की जीविका के प्रशस्त साधन थे (विद्वज्जनोपजीव्य) । उसकी उत्कृष्ट रचनाओं के कारण उसे 'कविराज' की उपाधि मिली थी (प्रतिष्ठित-कविराज-शब्दस्य) । कविराज अत्यन्त महान् कवि को कहा जाता था । राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि जो विविध भाषाओं, प्रबन्ध-रचनाओं एवं रसों में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्बाध रचना करने में समर्थ है वह कविराज कहलाता है । ऐसे कवि भूमण्डल में इने-गिने ही होते हैं। राजशेखर के अनुसार कविराज महाकवि से भी प्रवीण हुआ करता है ।[1] कृष्णचरित नामक काव्य के अनुसार इसका रचयिता 'महाराजाधिराज-परमभागवत-श्रीसमुद्रगुप्त' था । सम्भव है कि इससे तात्पर्य गुप्तवंशीय समुद्र-गुप्त से ही हो । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि कतिपय विद्वान् इस समीकरण से सह-मत नहीं हैं । समुद्रगुप्त ने हरिषेण का संरक्षण किया था, जो प्रयाग-प्रशस्ति का रचयिता था । वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में लिखा है कि चन्द्रगुप्त का पुत्र चन्द्रप्रकाश विद्वानों का आश्रयदाता था तथा सम्राट् होने पर उसने बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु को अपना मंत्री नियुक्त किया था—

सोऽयं संप्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा ।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥"

यम० पेरी के अनुसार वसुबन्धु का समय चतुर्थ शताब्दी का मध्य भाग था । यही समय समुद्रगुप्त का भी माना जाता है । अतएव वामन के चन्द्रगुप्त की पहचान चन्द्रगुप्त प्रथम और चन्द्रप्रकाश का समीकरण समुद्रगुप्त से की जानी चाहिए । इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ही वसुबन्धु का आश्रयदाता था और चन्द्रप्रकाश उसका दूसरा नाम था ।[2]

संगीतज्ञ—समुद्रगुप्त कला-प्रेमी भी था। इसका ज्वलंत प्रमाण उसका संगीत-प्रेम है । प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार उसने संगीत-ज्ञान के द्वारा (गांधर्वललितैः) देवताओं के संगीताचार्य नारद और तुम्बुरु को भी लज्जित कर दिया था (व्रीडित-त्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः) । 'प्रयाग-प्रशस्ति' का यह कथन अश्रद्धेय अथवा

---

१. "यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतंत्रः स कविराजः । ते यदि जगत्यपि कतिपये ॥"
—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ४८-४९ (बिहार-राष्ट्रभाषा-प्रकाशन)

२. रमेशचन्द्र मजुमदार, वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १५५, पाद-टिप्पणी २

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काव्योक्ति नहीं है। भारतीय नरेश संगीतानुरागी हुआ करते थे। हाथीगुम्फ-अभिलेख के अनुसार खारवेल गान्धर्व विद्या का मर्मज्ञ था (गंधर्व-वेद-बुधो)। भारतीय परंपरा नारद को सितार-वादन से संबन्धित करती है। नारद के साथ उसकी तुलना उसे वीणा-वादन का मर्मज्ञ-प्रमाणित करती है। इसकी पुष्टि मुद्रा-साक्ष्य से भी हो जाती है। वह अपने एक सिक्के पर वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है। उसकी आकृति के चतुर्दिक् उपाधिसहित उसका नाम उत्कीर्ण किया गया है (महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तः)। भास ने चारुदत्त नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न कहा है (वीणा नाम समुद्रोत्थितं रत्नम्)। कालिदास ने हृदयंगम ध्वनि करने वाली वीणा को विलासी अग्निवर्ण की गोद को अशून्य करने वाली कहा है (वल्लकी च हृदयंगमस्वना)।

दयालुता—प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की सहृदयता की भी प्रचुर प्रशंसा की गई है। वह दानी एवं कोमल प्रकृति का था (मृदुहृदयस्य)। उसमें अनुकम्पा कूट-कूट कर भरी थी (अनुकम्पावतो)। उस गुणग्राही ने विद्वान् व्यक्तियों को पुरस्कृत किया था। प्रतिभा को पहचानने की उसमें विलक्षण क्षमता थी। गुप्तवंशीय अभिलेखों में उसे कोटि गौओं एवं सुवर्ण मुद्राओं का प्रदाता कहा गया है (अनेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य)। वह सज्जनों का उद्धारक तथा दुष्टों का संहारक था (साद्धव-साधूदय-प्रलय-हेतु-पुरुषस्य)। असहाय, दीन, अनाथ तथा रोगी व्यक्तियों का वह अवलम्ब था (कृपण-दीनानाथातुर-जनोद्धरण)। फाहियान ने लिखा है कि गुप्त-सम्राटों के समय में भारतीय नगरों में राजकीय औषधालय तथा दान-गृह बने हुए थे, जिनमें दीन, हीन, अपंग, लूले, लँगड़े, अकिञ्चन् एवं विधवाओं की निःशुल्क चिकित्सा की जाती थी तथा उन्हें भोजन एवं वस्त्र आदि सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाता था। समुद्रगुप्त प्रजा-वत्सल सम्राट् था। प्रशंसनीय गुणों से युक्त इस तेजोमय नरेश का विमल एवं अक्षुब्ध यश सर्वत्र प्रसरित हो रहा था (निखिल भुवन-विचरण-शान्तयशसः)। प्रयाग-प्रशस्ति के शब्दों में उसका उदार एवं अद्भुत चरित चिरकाल तक स्तोतव्य था। (सुचिर-स्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य)।

धर्मपरायणता—समुद्रगुप्त धर्मपरायण सम्राट् था। प्रयाग की प्रशस्ति में उसे धर्म की चहारदीवारी कहा गया है (धर्म-प्राचीर-बन्ध:)। इस कारण उसकी कीर्ति चन्द्रमा की शुभ्र किरणों की भाँति धवल थी (शशि-कर-शुचयः कीर्त्तयः)। वह विविध सुन्दर आचरणों से युक्त था। (सुचरित-शतालंकृत)। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह वैष्णव मतावलम्बी था। उसकी राजाज्ञाएँ गरुड़-मुद्रा से अंकित (गरुत्मदंक) हुआ करती थीं। उसके सिक्कों पर गरुड़ध्वज एवं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैष्णव धर्म के प्रतीक अंकित हैं। हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि वह अपनी दयालुता एवं सहृदयता के द्वारा कभी-कभी अशोक का स्मरण दिलाता है।

आखेट-प्रेम—समुद्रगुप्त आखेट का प्रेमी था। वह अपनी एक मुद्रा के ऊपर धनुष-बाण द्वारा व्याघ्र को मारता हुआ प्रदर्शित किया गया है। उसके बाएँ हाथ के नीचे उसकी उपाधि "व्याघ्रपराक्रमः" अंकित है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर मकरवाहिनी गंगा का चित्र उत्कीर्ण है तथा सम्राट् का नाम 'समुद्रगुप्तः' भी अंकित है। शाकुन्तलम् में सिंह के आखेट को राजकीय मनोविनोद का सर्वोत्तम साधन माना गया है। इस ग्रन्थ के लेखक ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि मृगया के कारण चर्बी कट जाती है। शिकार के अवसर पर भय तथा क्रोध की अवस्थाओं के कारण जीवों का विकार-युक्त चित्त दिखाई देता है। चलायमान लक्ष्य पर बाण का लग जाना धनुर्धारियों का महान् गुण है। व्यर्थ ही लोग मृगया की निन्दा करते हैं। ऐसा मनोरंजन अन्यत्र कहाँ संभव हो सकता है।[1] दशकुमार-चरित में भी मृगया की प्रशंसा करते हुए इसे सम्राट् के व्यायाम का सर्वश्रेष्ठ साधन कहा गया है।[2] अभिज्ञानशकुन्तलम् में आखेट के दृश्यों का मनोरम विवरण प्राप्य है। कहाँ ठाट-बाट की सामग्री से संपन्न राजमहल का विलासितापूर्ण वातावरण और कहाँ निर्जन अरण्य में वन्य पशुओं का निनाद एवं गर्जन ! राजा के दलबल के साथ वन में आया हुआ विदूषक सहसा घबड़ा उठता है। थोड़ा विश्राम पाने के हेतु समुत्सुक लुंज-पुंज सा खड़ा लम्बी साँस भरते हुए वह बड़बड़ाने लगता है—अजी ! इस अहेरी राजा की मित्रता से तो मेरा जी घबड़ा उठा है। भरी दोपहरी में एक वन से दूसरे वन में भटकते हुए जंगली प्रदेशों से होकर चलना पड़ता है जहाँ प्रचण्ड आतप के कारण पेड़ों में छाँह तक नहीं रह गई है और रात-दिन यह कोलाहल कान फोड़े डालता है—वह मृग आया, यह सिंह भाग निकला और वह निकला सूअर। सड़े पत्तों से सिक्त नदियों का कसैला और कड़वा पानी पीना पड़ता है। लोहे की सीखों पर भुना मांस खाने को मिलता है। घोड़े के पीछे दौड़ते-दौड़ते शरीर के जोड़-जोड़ ऐसे ढीले पड़ गए हैं कि रात में आँख भी ठीक

---

१. "मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः।
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः॥
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले।
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥"

—शाकुन्तलम्, अंक २

२. दशकुमारचरित, पृष्ठ २०९ (काले)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं लग पाती। तिस पर ये दासी-पुत्र चिड़ीमार तड़के ही चलो वन को, चलो वन को--चिल्ला-चिल्ला कर ऐसा हल्ला मचाते हैं कि आई-अवाई नींद भी उचट जाती है। मैं तो ऊब आया ऐसे जीवन से।[1] इस नाटक के प्रथम अंक में मृग का शिकार करता हुआ राजा सारथी से कहता है--यह हरिण तो मुझे बहुत दूर तक दौड़ा लाया है। अब भी बार-बार पीछे मुड़कर इस रथ को एकटक देखते हुए सुन्दर लगने वाला यह मृग बाण लगने के डर से अपने शरीर के पिछले आधे को सिकोड़ कर आगे के भाग से मिलाता हुआ कैसा दौड़ा चला जा रहा है। थकावट के कारण इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में गिरती चली जा रही है। यह इतनी लम्बी छलाँगे भर रहा है कि इसके पाँव भी पृथ्वी पर नहीं पड़ रहे हैं। ऐसा लगता है, मानो यह आकाश में उड़ता चला जा रहा हो।[2]

राज्यावधि--उसके शासन-काल के वर्षों के यथातथ्य निर्धारण में व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। उसके दोनों ही प्रमुख लेख (प्रयाग-प्रशस्ति एवं एरण का शिलालेख) दुर्भाग्यवश तिथि-युक्त नहीं हैं। कतिपय विद्वानों ने नालन्दा के ताम्र-लेख (गुप्त संवत् ५) को ऐतिहासिक मान कर समुद्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि ३२० ई० निर्धारित की है। परन्तु हम पीछे विचार कर चुके हैं कि यह अभिलेख प्रामाणिक नहीं है, अतएव इसे आधार बना कर उसके सिंहासनारोहण के तिथि-निर्धारण का प्रयास संगत नहीं होगा। जिस समय समुद्रगुप्त उत्तराधिकारी मनोनीत किया गया, उस समय उसकी आयु २५ वर्षों से कम न रही होगी। अपनी योग्यता एवं गुणों का साकार परिचय प्रदान करते समय तक वह कम से कम इतना वयस्क अवश्य ही रहा होगा। अभी तक लोग सामान्यतया इस विचार के हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने ३२० ई० में गुप्त संवत् का प्रवर्तन किया था और इसी वर्ष में उसका विवाह लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवी के साथ सम्पन्न हुआ था। यदि हम अनुमान कर लें कि समुद्रगुप्त का जन्म इस विवाह के लगभग ५ वर्षों उपरान्त (३२५ ई० में) हुआ होगा तो उसके राज्याभिषेक की सम्भावित तिथि (३२५ ई० + २५ वर्ष) ३५० ई० निर्धारित होती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा-लेख (गु० सं० ६१ = ३८० ई०) उसके शासन-काल के पाँचवें वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था (विजयराजसंवत्सरे पंचमे)। यही अभिलेख उसके समय का प्रथम लेख है। इससे प्रतिपादित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य-काल ३७५ ई०

---

१. शाकुन्तलम्, अंक २
२. वही, अंक १

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

से प्रारम्भ हुआ था और यह समुद्रगुप्त के शासन का अन्तिम वर्ष था। जब तक कोई ठोस प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक यह मानना समुचित होगा कि उसने लगभग ३५० ई० से ३७५ ई० तक राज्य किया होगा।[1]

ऐश्वर्य—गुप्त-वंशीय अभिलेखों में उसे धन-जन से सम्पन्न कहा गया है। एरण के लेख के अनुसार पुत्र एवं पौत्रादि के कारण उसके राजप्रासाद में नित्य ही प्रसन्नता एवं आनन्द का वातावरण छाया रहता था। लगता है कि कुमारगुप्त प्रथम का जन्म उस समय तक हो चुका था। उसकी महादेवी दत्तदेवी पति-परायणा (व्रतिनी) एवं शीलसम्पन्ना थी। इस लेख के साक्ष्य से स्पष्ट है कि समुद्र-गुप्त के कई पुत्र थे। इससे रामगुप्त की ऐतिहासिकता का समर्थन होता है। हो सकता है कि उसके राजकुमारों में सबसे ज्येष्ठ वही रहा हो। उसने नव-संगठित प्रान्तों में अपने राजपुत्रों को राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया होगा। ऐरिकिण-प्रदेश (एरण) की सुरक्षा की दृष्टि से वहाँ के प्रान्तपति कुमार के साथ उसने एक स्थायी सेना भी नियुक्त की होगी। इसका कारण यह था कि इस सीमान्त प्रान्त पर बाह्य आक्रमण का भय था। उसके कोष में अमूल्य रत्न भरे थे तथा वह पूर्ण-तया समृद्ध एवं सम्पन्न था। उसकी गजशाला एवं मन्दुरा (तुरंगशाला) में हाथी एवं घोड़ों की संख्या अपरिमित थी।[2]

मूल्यांकन—वह निर्विवाद है कि समुद्रगुप्त न केवल गुप्त-कुल का ही एक प्रतिभाशाली सम्राट् था, अपितु भारतवर्ष के महान् सम्राटों में उसकी गणना की जा सकती है। एरण के शिला-लेख में उसकी तुलना पृथु एवं रघु आदि आदर्श नरेशों के साथ की गई है। वह पराक्रम, भक्ति एवं विनम्रता आदि सद्गुणों का भण्डार था। प्रसन्न होने पर वह कुबेर तथा क्रुद्ध होने पर यम (अन्तक) के तुल्य था।[3] प्रयाग-प्रशस्ति में काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि उसका यश तीनों

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १५९

२. "दत्तास्य-पौरुष-पराक्रम-दत्त-शुल्का
हस्त्यश्व - रत्न - धन - धान्य - समृद्धियुक्ता।
नित्यं गृहेषु मुदिता बहु-पुत्र-पौत्र-
संक्रामिणी कुलबधुः व्रतिनी निविष्टा ॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६१

३. "संवारिताः नृपतयः [पृथुराघवाद्याः।
पुत्रो बभूव धनदान्तक - तुष्टि - कोप-
तुल्यपराक्रम - नयेन—समुद्रगुप्तः ॥" —सरकार, वही, पृष्ठ २६१

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लोकों को पवित्र करता है (पुनाति भुवनत्रयं) एवं पवित्र गंगा-जल की भाँति वह वेगपूर्वक प्रवाहित हो रहा था (पांडुगांगं पयः)। रमेशचन्द्र मजुमदार के शब्दों में लगभग पाँच सदियों के राजनीतिक विघटन तथा विदेशी प्रभुता के अनन्तर आर्यावर्त में समुद्रगुप्त ने अपनी सैनिक एवं बौद्धिक प्रतिभा तथा शारीरिक बल द्वारा राजनीतिक चेतना एवं राष्ट्रीय अभ्युत्थान की अभूतपूर्व परिस्थितियों का सृजन किया था। इस महाभाग नृपति के समय में हमारा देश नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। उसकी महती सफलताओं ने गुप्त-काल को भारतीय इतिहास का स्वर्णिम युग कहलाने में सुयोग प्रदान किया तथा भविष्य में सदियों तक नरेश उसके आदर्शों एवं परम्पराओं से प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त किए थे।[1] उसने अनवरत प्रयास एवं श्लाघनीय उपलब्धियों द्वारा कालान्तर में अपने प्रतिभाशाली वंशज विक्रमादित्य के समय में अग्रतर विकास के निमित्त पूर्वपीठिका प्रस्तुत की थी। शास्त्र-विहित 'सर्वतेजोमय नृपति' का उसे हम दृष्टान्त मान सकते हैं—'जिसकी कृपा में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय तथा क्रोध में मृत्यु का वास था।[2]' प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार वह एक ओर यदि 'मृदुहृदय' एवं 'अनुकम्पावान' था, तो दूसरी ओर 'कृतान्त-परशु' भी। उसके पराक्रम एवं शौर्य का स्मरण कर उसके शत्रु अपने-अपने राज्यों में संत्रस्त हो उठते थे।[3] यह वर्चस्वी नृपति सूर्य की भाँति प्रखर था।[4]

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १४५-४६

२. "यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥"
—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक ११

३. "यस्योर्ज्जितं समर - कर्म्म पराक्रमेद्धं
पृथिव्यां यशः सुविपुलम्परिबम्भ्रमीति।
वीर्य्याणि यस्य रिपवश्च रणोर्ज्जितानि
स्वप्रान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६१-६२

४. तुलनार्हः—
"तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥"
—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक ६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

७

रामगुप्त

"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्
यस्मात्खाण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणित्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्त्तिकेय ! नगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः ॥"

—काव्यमीमांसा

"जिस हिमालय पर साहस के भग्न तथा गति के अवरुद्ध होने के फल-स्वरूप शर्मगुप्त (रामगुप्त) नामक नरेश ने अपनी भार्या ध्रुवस्वामिनी को खसाधिपति (शक-पति) को देने का वचन दिया था, उसी हिमालय की गहरी गुफाओं के कोण, हे कार्त्तिकेय ! आज किन्नरों के शब्द से गूँज उठते हैं और जहाँ नगर-बधुएँ मिल कर तुम्हारा यशोगान करती हैं ।"

गुप्त-अभिलेखों में उल्लिखित वंशतालिका में समुद्रगुप्त के नाम के उपरान्त चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का नामोल्लेख उपलब्ध होता है, अतएव पहले प्रायः सभी विद्वानों का मत था कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के अनन्तर यही नरेश सिंहासनारूढ़ हुआ । परन्तु कतिपय नवीन साहित्यिक एवं पुरातत्त्वीय प्रमाणों के प्रकाश में आने पर अब इतिहासकार इस बात को मानने लगे हैं कि उपर्युक्त दोनों नरेशों के बीच रामगुप्त नामक राजा ने किञ्चित् काल तक राज्य किया था । सबसे पहले सुप्रसिद्ध विद्वान् सिलवाँ लेवी ने अपने एक लेख (जर्नल ऐंटिक, अक्टूबर-दिसम्बर, १९२३) में इस बात की संभावना की ओर इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित किया था । तदुपरान्त डॉ० राखाल दास बनर्जी ने १९२४ ई० में अपने विचारपूर्ण व्याख्यान (मनीन्द्रचन्द्र नान्दी लेक्चर्स, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में इस तथ्य पर कुछ प्रकाश डाला । इसके अनन्तर डॉ० अ० स० अल्तेकर ने रामगुप्त की ऐतिहासिकता पर अपने दो अनु-सन्धान-लेखों में गहराई के साथ इस प्रश्न पर छानबीन की ।[1] इस समस्या पर जिन अन्य विद्वानों ने विमर्श किया, उनमें डॉ० डी० आर० भण्डारकर,[2] डॉ०

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २२८-५३; तथा जिल्द १५, पृष्ठ १३५-१४१

२. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ १८९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काशी प्रसाद जायसवाल[1], विंटरनिट्ज़[2] तथा डॉ० वी० वी० मिरोशी[3] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रामगुप्त-सम्बन्धी विभिन्न उल्लेखों को एकत्र करने पर निम्न सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

पुनर्निर्माण—समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी रामगुप्त नामक एक सम्राट् हुआ, जो नितान्त अयोग्य एवं भीरु प्रकृति का था। उसके प्रबल शत्रु शक-सम्राट् ने उसे पूर्ण रूप से पराजित कर उसकी परम सुरूपा भार्या ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) के लिये माँग प्रस्तुत की। कापुरुष एवं क्लीव रामगुप्त इस अपमानजनक प्रस्ताव को पूर्ण करने के लिये सहमत हो गया, पर उसके अनुज चन्द्रगुप्त को सन्धि की यह शर्त अपनी कुलमर्यादा के विरुद्ध लगी। वह निर्भीक एवं साहसिक था। उसने रामगुप्त को ऐसा करने से रोका और स्वयं ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शक-सम्राट् के शिविर में उसके वध के अभिप्राय से जाने का निश्चय किया। उसके साथ कतिपय मजे हुए वीरवर सैनिक भी हो लिये, जो रानी की परिचारिकाओं का छद्मरूप धारण किये हुए थे। शकराज ने, जो इस समय ध्रुवदेवी पर आसक्त होने के कारण उससे शीघ्र मिलन के लिये उतावला था, पूरे दल-बल को बिना किसी जाँच-पड़ताल और खतरे की आशंका किये ही शिविर-प्रवेश की आज्ञा दे दी। ध्रुवदेवी के धोखे में जब उस उन्मत्त ने चन्द्रगुप्त के आलिंगन की चेष्टा की, ठीक उसी समय उसने अपने छिपाये हुए शस्त्र को भोंक कर उसे मार डाला। इस प्रकार उसकी योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो सकी तथा उसकी वंश-प्रतिष्ठा का निर्वाह संभव हुआ। कुछ ही समय बाद उसने रामगुप्त की भी हत्या कर डाली और ध्रुवदेवी के साथ विवाह कर वह स्वयं सिंहासनारूढ़ हुआ। एक विद्याव्यसनी तथा कुशल शासक के रूप में उसकी ख्याति शीघ्र ही चतुर्दिक् फैल गई।

साहित्यिक साधन

(१) **देवीचन्द्रगुप्तम्**—साहित्यिक साधनों में सर्वप्रथम देवीचन्द्रगुप्तम् उल्लेखनीय है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अपने वास्तविक रूप में अनुपलब्ध है, पर इसके कतिपय अंश रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र-कृत नाट्यदर्पण में उद्धृत मिलते हैं। ये दोनों लेखक सुप्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र के शिष्य थे, जो चालुक्यवंशी नरेश

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १७
२. आयंगर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ३५९
३. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द १०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुमारपाल (११४३ ई०-११७३ ई०) का समसामयिक था। इन उद्धरणों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय सिलवाँ लेवी महोदय को है। उनके अनुसार इस लुप्त नाटक का नायक गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) रहा होगा। इसके रचयिता विशाखदत्त थे, जिन्होंने मुद्राराक्षस की भी रचना की थी। इस ग्रन्थ की कतिपय पाण्डुलिपियों में चन्द्रगुप्त (पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः) का उल्लेख मिलता है, जिससे हिल्लेब्रान्त, टानी, स्मिथ, विंटरनिट्ज़ तथा जायसवाल का मत है कि यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही समय में लिखा गया होगा और विशाखदत्त इनके समकालीन रहे होंगे। अतएव प्रारंभिक गुप्तकालीन इतिहास के पुनर्निर्माण के लिये देवीचन्द्रगुप्तम् के वे उद्धरण जो नाट्यदर्पण में प्राप्य हैं प्रामाणिक माने जा सकते हैं।

मुद्राराक्षस की कतिपय पाण्डुलिपियों में मौखरि-नरेश अवन्तिवर्मा (पार्थिवोऽवन्तिवर्मा) का उल्लेख मिलता है, जिसका समय छठी शताब्दी का अन्तिम तथा सातवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग था। यदि इस आधार पर मान लिया जाय कि विशाखदत्त अवन्तिवर्मा के समय के थे तो भी उनका समय गुप्तकाल के समीप ही पड़ता है। अतएव गुप्तवंशीय इतिहास के विषय में उनकी यथार्थ जानकारी रही होगी। विशाखदत्त सामन्त-परिवार के थे। वे महाराज पृथु के पुत्र[1] तथा सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र थे।[2] वे साहित्यकार होने के अतरिक्त लोकनीति के भी मर्मज्ञ थे।[3] राजदरबारी वातावरण में रहने के कारण राजनीतिक घटनाओं के विषय में उनका परिचय पूर्ण रहा होगा। इस कारण उनके ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक सामग्री श्रद्धेय है।

देवीचन्द्रगुप्तम् के अनुसार रामगुप्त बुज़दिल एवं अपने कुल के लिये कलंक-तुल्य था।[4] उसके प्रतिद्वन्द्वी शक-सम्राट् ने उसके ऊपर आक्रमण कर उसे अपनी भार्या ध्रुवदेवी को भेंट देने के हेतु बाध्य किया।[5] उसके कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त

---

१. "सामन्तवटेश्वरदत्त पौत्रस्य"—मुद्राराक्षस, अंक १

२. "महाराजपदभुक्तपृथुसूनोः"—वही, अंक १

३. "कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा"
—वही, अंक ४

४. "पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः"
—देवीचन्द्रगुप्तम्, नाट्यदर्पण में उद्धृत

५. "प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीं संप्रदानेऽभ्युपगते"
—देवीचन्द्रगुप्तम् का उद्धरण (नाट्यदर्पण)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने ध्रुवदेवी का कृत्रिम वेष धारण कर शत्रु-वध के अभिप्राय से (अरिवध-नार्थं यियासुः) उसके शिविर में प्रवेश कर उसकी हत्या कर डाली। इसके उपरान्त वह उन्मत्त जीवन व्यतीत करने लगा और इसी रूप में एक बार राजमहल में प्रवेश कर उसने रामगुप्त का ही वध कर डाला ।[1] ध्रुवदेवी से विवाह कर वह स्वयं सिंहासनारूढ़ हुआ ।

देवीचन्द्रगुप्तम् के एक उद्धरण से ज्ञात होता है कि रामगुप्त और चन्द्रगुप्त में प्रेमपूर्ण संबन्ध था ।[2] इस बात को लेकर कहा जा सकता है कि यदि दोनों भ्राताओं में ऐसा प्रेम था, तो चन्द्रगुप्त को रामगुप्त की हत्या की क्या आवश्यकता थी ? ये दोनों परस्पर विरोधी बातें सन्देह उत्पन्न कर सकती हैं कि देवीचन्द्रगुप्तम् का वर्णन काल्पनिक रहा होगा और इस कारण इसे किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष के लिये आधार नहीं बनाया जा सकता । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का संशय प्रकट करना समीचीन नहीं होगा । इस साहसिक कार्य के कारण चन्द्र-गुप्त की प्रतिष्ठा और धाक बढ़ गई होगी तथा सभासद क्लीव रामगुप्त के स्थान पर चन्द्रगुप्त को चाहने लगे होंगे । रामगुप्त भी अपने छोटे भाई की ख्याति से जलता होगा । अतएव दोनों भाई एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो गये होंगे । अपने जीवन को खतरे में पाकर चन्द्रगुप्त ने पागलपन का एक झूठा स्वांग रच लिया होगा (इयं स्वपायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य) । बड़े भाई के व्यवहारों से ऊब जाने के कारण ही उसने उसकी हत्या उचित समझी होगी । समुद्रगुप्त के बाहुबल द्वारा अर्जित साम्राज्य की सुरक्षा के हेतु सम्भवतः यह समय की माँग भी रही होगी । चन्द्रगुप्त के द्वारा शकराज की अकेले हत्या कोई अनहोनी घटना नहीं समझी जानी चाहिये । बघनख छिपाये शिवाजी का शायस्ताखाँ के प्रति व्यवहार कुछ ऐसा ही तो था ।

(२) **हर्षचरित**—देवीचन्द्रगुप्तम् के बाद के साधनों में कालक्रम की दृष्टि से बाणभट्ट का हर्षचरित आता है । बाण हर्ष का समकालीन अर्थात् सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का लेखक था। वह लिखता है कि अरिपुर में ही दूसरे की भार्या के लिये कामुक शकराज को कामिनीवेषधारी चन्द्रगुप्त ने मार डाला—'अरिपुरे

---

१. "इयमुन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक्शत्रुभीतस्य निष्क्रमसूचिकेति" । —देवीचन्द्रगुप्म् का उद्धरण (नाट्यदर्पण)

२. "त्यजामि देवीं तृणवत्त्वदन्तरे त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।
ऊटेति देवीं प्रति मे दयालुता त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः ॥"—वही

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत् ।' डॉ० विन्सेन्ट स्मिथ का कथन है कि बाण का यह वर्णन ऐतिहासिक तथ्यों से रहित है। पर सहसा ऐसा निष्कर्ष निकाल लेना ठीक नहीं लगता। डॉ० अ० स० अल्तेकर एवं डॉ० डी० आर० भण्डारकर महोदयों ने उचित ही कहा है कि हर्षचरित के इस उल्लेख पर बहुत विचार करने की आवश्यकता है। बाण का ऐतिहासिक ज्ञान उच्च कोटि का था। उसका समय भी गुप्त-काल के सन्निकट ही था। हर्ष के दरबार में रहने के कारण उसने गुप्त-नरेशों की उपलब्धियों के विषय में अधिक सुन रखा होगा तथा राजकीय लेखों से उसकी अच्छी जानकारी रही होगी। उसने उपर्युक्त उल्लेख किसी साहित्यक परंपरा के आधार पर किया होगा।[1] अतएव इसे एक लेखक की काल्पनिक उक्ति कहकर ठुकराना न्यायोचित नहीं प्रतीत होता। हर्षचरित में ऐसे राजाओं के उदाहरण दिये गये हैं, जिनको अपनी असावधानी और झूठे विश्वास में आने के कारण जीवन से ही हाथ धोना पड़ गया था। उदाहरणार्थ मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ अपने ही सेनानायक पुष्यमित्र शुंग के द्वारा अपनी ही सेना के समक्ष मार डाला गया। इस स्थान पर राज्यवर्द्धन का भी उदाहरण दिया गया है, जो शशांक के दिखावटी शिष्टाचार में पड़ कर मार डाला गया था। इस कोटि के नरेशों की तालिका में नागसेन का भी नामोल्लेख वहाँ मिलता है, जिसकी गुप्त मंत्रणा का भेद शत्रुओं ने जान लिया तथा फलस्वरूप जो अपनी ही राजधानी पद्मावती (ग्वालियर के समीप स्थित आधुनिक पद्मपवय्या) में मार डाला गया था। इन्हीं उदाहरणों के साथ चन्द्रगुप्त के द्वारा शकराज के वध का भी दृष्टान्त दिया गया है। यदि बृहद्रथ, नागसेन तथा शशांक से संबन्धित कथन सही हैं तो अकेले चन्द्रगुप्त और शकराज-संबन्धी घटना ही झूठी नहीं मानी जा सकती। ऐसी परिस्थिति में बाणभट्ट के इस स्पष्ट गूढ़ कथन को ऐतिहासिक मान लेना ही अधिक तर्कसंगत होगा।

(३) **काव्यमीमांसा**—इस ग्रन्थ में, जिसकी रचना राजशेखर ने दसवीं शताब्दी में की थी, निम्न श्लोक 'मुक्तक' के उदाहरण के के स्वरूप में मिलता है—

"दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्
यस्मात्खाण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्म (सेन) गुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणित्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेय ! नगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः॥"

---

१. जर्नल ऑफ बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"जिस हिमालय पर साहस के भग्न तथा गति के अवरुद्ध होने के फलस्वरूप शर्मगुप्त नामक नरेश ने अपनी भार्या ध्रुवस्वामिनी को खसाधिपति को देने का वचन दिया था, उसी हिमालय की गहरी गुफाओं के कोण, हे कार्तिकेय ! आज किन्नरों के शब्द गूँज उठते हैं और जहाँ नगर-वधुएँ सामूहिक रूप से तुम्हारी कीर्ति का गान करती हैं।"

इस श्लोक के विषय में निश्चित् नहीं है कि इसकी रचना राजशेखर ने ही की थी, अथवा किसी अन्य कवि की रचना को उसने उद्धृत किया है। इस श्लोक की ओर सबसे पहले विद्वानों का ध्यान डॉ० अ० स० अल्तेकर ने आकर्षित किया था। इसके अनुसार शर्मगुप्त नामक एक राजा थे, जिन्होंने हिमालय पर्वत पर हारने के कारण अपनी भार्या ध्रुवस्वामिनी को खसाधिपति को देने के निमित्त अपनी अनुमति दी थी। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि यहाँ 'दातुम्' शब्द का अर्थ 'दातुम् अनुमत्य' (अर्थात् समर्पित करने के हेतु वचन देना) होगा। विचारणीय है कि इस श्लोक में शकाधिपति के स्थान पर खसाधिपति तथा रामगुप्त के स्थान पर शर्मगुप्त पाठान्तर मिलता है।

डॉ० अल्तेकर के अनुसार कार्तिकेय नाम से यहाँ गुप्तवंशी नरेश कुमारगुप्त प्रथम (महेन्द्रादित्य) को सम्बोधित किया गया है। कुमार एवं कार्तिकेय शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। कुमारगुप्त की कुछ मुद्राओं पर मयूर का चित्र उत्कीर्ण मिलता है, जो कि कार्तिकेय का वाहन है। इससे कुमारगुप्त और कार्तिकेय का तादात्म्य स्पष्ट रूप से स्थापित हो जाता है। लगता है कि उपर्युक्त मुक्तक (वह श्लोक जो अपने में स्वतंत्र है) में गुप्तों के किसी आश्रित कवि ने कुमारगुप्तकालीन गुप्तवंशीय उत्कर्ष की तुलना शर्मगुप्त (रामगुप्त) के समय में पहुँची हुई इस कुल की अधोमुखी दशा से की है। यहाँ पर देवीचन्द्रगुप्तम् के कथानक की ओर स्पष्ट संकेत है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का अन्य नाम देवगुप्त अथवा देवराज भी था। अतएव संभव है कि रामगुप्त का अन्य नाम शर्मगुप्त अथवा सेनगुप्त भी रहा हो। काव्यमीमांसा की कुछ पाण्डुलिपियों में शर्मगुप्त के स्थान पर सेनगुप्त पाठ मिलता है। शर्मगुप्त तथा रामगुप्त दोनों की ही पत्नी का नाम ध्रुवस्वामिनी था, अतएव दोनों एक ही व्यक्ति हैं। लगता है कि इस श्लोक के रचयिता के समय में नेपाल में खस लोग रहते थे। अतएव उसने जहाँ हिमालय की गुफाओं एवं किन्नरों की चर्चा अपने वर्णन को काव्यात्मक रूप देने के लिये की, वहाँ उसने खसों का भी उल्लेख कर दिया। कवि को ऐतिहासिक वर्णन में थोड़ा बहुत परिवर्तन का अधिकार तो हमेशा से ही रहा है। यही कारण है कि जहाँ देवीचन्द्रगुप्तम् और हर्षचरित आदि में रामगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी को शकाधिपति कहा गया है, वहाँ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस श्लोक में उसे खसाधिपति संज्ञा से अभिहित किया गया है।[1]

प्रोफेसर मिराशी ने अपने एक पाण्डित्यपूर्ण लेख (इंडियन ऐंटिक्वैरी, जिल्द ६२,१९३३) में डॉ० अल्तेकर के उपर्युक्त मत के प्रति अपनी आपत्ति प्रकट की। उनके अनुसार कार्तिकेय की पहचान कुमारगुप्त प्रथम से करना निम्न कारणों से समीचीन नहीं होगा--(१) यदि उपर्युक्त श्लोक सचमुच ही कुमारगुप्त के किसी दरबारी कवि के द्वारा लिखा गया होता, तो वह रामगुप्त का नाम शर्मगुप्त अथवा शकाधिपति को खसाधिपति नहीं लिखता। कोई भी गुप्तकालीन कवि तत्युगीन व्यक्तियों एवं जातियों के सही नामों का उल्लेख करता। (२) किसी भी गुप्तकालीन कवि ने रामगुप्त वाली घटना को महत्त्व देकर इस पर लोगों का ध्यान केन्द्रित न किया होता। शत्रु को गुप्त-साम्राज्ञी के समर्पण को स्वीकार कर लेना इस कुल के इतिहास में एक गहरे कलंक के तुल्य था। (३) यह समझ में नहीं आता कि कोई भी दरबारी कवि अपने ही आश्रयदाता की तुलना उसी के पूर्वज से क्यों करता? भारतीय परंपरा के अनुसार प्रशस्तिकार अपने आश्रय-दाता के पूर्वज नरेशों की केवल प्रशंसनीय कृतियों का ही बखान करते थे। (४) संजन, खम्भात और संगली के लेखों में भी इस प्रकार की तुलना मिलती है। ये लेख गुप्तेतर वंशों के हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कार्तिकेय की पहचान किसी गुप्त वंशी नरेश से नहीं हो सकती। यह राजा किसी अन्य राजवंश का रहा होगा।

मिराशी महोदय के अनुसार कार्तिकेय से तात्पर्य गुर्जरप्रतीहार-नरेश महीपाल से है। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं--(१) राजशेखर का समकालीन कवि क्षेमीश्वर था, जिसने चण्डकौशिक नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसके भरतवाक्य में महीपाल को कार्तिकेय नाम से सम्बोधित किया गया है। राजशेखर और क्षेमीश्वर दोनों ही महीपाल के आश्रित कवि थे। (२) महीपाल का एक अन्य नाम सम्भवतः चण्डपाल भी था। राजशेखर के प्राकृत-नाटक कर्पूर-मञ्जरी का नायक चण्डपाल सम्भवतः वही है। चण्ड कार्तिकेय का एक अन्य नाम है। अतएव चण्डकौशिक के भरतवाक्य में महीपाल को ही कार्तिकेय कहा गया है। (३) चण्ड शब्द क्षेमीश्वर के चण्डकौशिक में बारंबार प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार प्रचण्ड शब्द का प्रयोग राजशेखर के प्रचण्डपाण्डव में कई बार हुआ है।[2] इससे स्पष्ट है कि राजशेखर की काव्यमीमांसा में उल्लिखित कार्तिकेय

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २४२
२. इंडियन ऐंटिक्वैरी, जिल्द ६२, १९३३, पृष्ठ २०१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुर्जरप्रतीहार-नरेश महीपाल ही है, जो इस कवि का आश्रयदाता भी था। इस कवि ने अपने संरक्षक (महीपाल) की तुलना रामगुप्त से इस अर्थ में की होगी कि यह गुप्तवंशी नरेश हिमालय पर्वत पर परास्त होकर बुरी भाँति अपमानित किया गया, पर इसके प्रतिकूल इस प्रतीहार-वंशी नरेश ने इसी गिरि पर शानदार विजय प्राप्त की जिस कारण उसकी कीर्ति की प्रशंसा वहाँ होती थी। राजशेखर ने प्रचण्डपाण्डव में महीपाल के कई विजयों की चर्चा की है, जिसमें कुलूत-विजय का भी उल्लेख आता है (अजनि जितकुलूतः)। कुलूत-राज्य काश्मीर के दक्षिण-पूर्व सतलज के तट पर स्थित था। महीपाल ने यहाँ पर कोई विजय की थी और हिमालय पर कार्तिकेय की जीत से तात्पर्य महीपाल की इसी विजय से हो सकता है।[२]

(४) शृंगारप्रकाश—देवीचन्द्रगुप्तम् के कुछ अंश ग्यारहवीं शताब्दी के लेखक भोज के शृंगारप्रकाश में भी उद्धृत मिलते हैं जो इस प्रकार हैं :—

(अ) "स्त्रीवेषनिह्नुतश्चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारमलिपुरं शकपतिवधायागमत्"।

(ब) "देवीचन्द्रगुप्ते विदूषकं प्रति चन्द्रगुप्तः—
सद्वंशान्पृथुवंशविक्रमबलान्दृष्ट्वाद्भुतान्दन्तितः ।
हासस्येव गुहामुखादभिमुखं निष्क्रानतः पर्वतात् ॥
एकस्यापि विधूतकेसरजटाभारस्य भीताः मृगाः ।
गंधादेव हरेर्द्रवन्ति वहवो वीरस्य किं संख्यया ॥"

(स) "देवीचन्द्रगुप्ते वसन्तसेनामुद्दिश्य माधवस्योक्तिः—
आनन्दाश्रुजलं सितोत्पलरुचोरावध्नता नेत्रयोः ।
प्रत्यंगेषु वरानने पुलकिषु स्वेदं समातन्वता ॥
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं सम्पूर्णयोरप्यसौ ।
केनाऽप्यसस्पृशताप्ययो निवसनग्रन्थिस्तवोच्छ्वासितः ॥"

सन् १९२३ ई० में श्री ए० आर० सरस्वती को शृंगारप्रकाश की एक पाण्डुलिपि गवर्नमेंट ओरियेंटल लाइब्रेरी, मद्रास में उपलब्ध हुई और सबसे पहले उन्होंने अपने एक लेख (इंडियन ऐंटिक्वैरी, १९२३, पृष्ठ १८१) में विद्वानों का ध्यान इन उद्धरणों की ओर आकर्षित किया। प्रथम उद्धरण के अनुसार स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त शकपति के वध के उद्देश्य से शत्रुस्कन्धावार अलिपुर की ओर गया था।

१. इंडियन ऐंटिक्वैरी, जिल्द ६२, १९३३, पृष्ठ २०२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रृंगारप्रकाश में देवीचन्द्रगुप्तम् के जो उद्धरण मिलते हैं, उनके द्वारा नाट्यदर्पण के उद्धरणों की पुष्टि होती है। इससे स्पष्ट है कि श्रृंगारप्रकाश और नाट्यदर्पण के रचयिताओं ने देवीचन्द्रगुप्तम् को सही उद्धृत किया है।

(५) **हर्षचरित-टीका**—हर्षचरित के टीकाकार शंकरार्य ने इस ग्रन्थ के उल्लेख को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शकों का आचार्य शकाधिपति जो कि चन्द्रगुप्त के भाई की पत्नी ध्रुवदेवी पर अनुरक्त था स्त्रीवेषधारी नवयुवकों को साथ लिये तथा सुन्दरी का रूप धारण किये हुए चन्द्रगुप्त के द्वारा मार डाला गया—

"शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः"

शंकरार्य की तिथि के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं है। डॉ० अल्तेकर ने उसकी पहचान कामन्दकीय नीतिसार के टीकाकार शंकरार्य से की है। प्रोफेसर आर० एन० दण्डेकर आदि उसका समय १७१३ ई० मानते हैं। नीतिसार-टीका के उल्लेखों द्वारा शंकरार्य का ऐतिहासिक अनुराग स्पष्ट है। उपर्युक्त उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय इतिहास की घटनाओं का उसे ठीक ज्ञान था। शंकरार्य ने रामगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी शकराज को शकों का आचार्य एवं शकों का अधिपति दोनों ही कहा है। इससे लगता है कि वह शकों का राजनीतिक नेता होने के अतिरिक्त धार्मिक नेता भी था। श्री के० राघवन् ने अपने एक लेख में महाभारत एवं रामायण से कुछ ऐसे उद्धरण दिये हैं, जिनके अनुसार कुछ जातियों में उनका राजनीतिक प्रधान उनका धार्मिक प्रधान भी हुआ करता था; उदाहरणार्थ म्लेच्छों का सम्राट् उनका आचार्य (धार्मिक गुरु) भी था।*

(६) **मुजमल-उत-तवारीख**—डॉ० अ० स० अल्तेकर ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में विद्वानों का ध्यान अबुलहसनअली (१०२६ ई०) के द्वारा रचित इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि की ओर आकर्षित किया।[1] यह किसी मूल संस्कृत-रचना

---

*(१) वन एवं पर्वत के पास रहने वाले म्लेच्छाचार्य (म्लेच्छाचार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः; रामायण, अयोध्याकांड, ३, २३)।

(२) प्राच्य एवं उदीच्य म्लेच्छाचार्य नरेश (म्लेच्छाचार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च; महाभारत, राजधर्मखण्ड)। द्रष्टव्य—श्री राघवन् का लेख (इंडियन कल्चर, अप्रैल १९३९)। शंकरार्य के "शकानामाचार्यः" की पहचान "म्लेच्छाचार्य" से की जा सकती है।

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ १३८

Digitization by Sarayu Trust. Funding by Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का अरबी भाषा में अनूदित ग्रन्थ का फारसी अनुवाद है। इसके कथानक में, जिसका अंग्रेजी पाठ इलियट के हिस्ट्री ऑफ इंडिया के जिल्द १ में उपलब्ध है, देवीचन्द्र-गुप्तम् की कथा का प्रतिबिम्ब मिलता है। इसके अनुसार रव्वाल तथा बर्कमारीस दो सहोदर भ्राता थे। जब रव्वाल शासन कर रहा था, उस समय एक राजकन्या ने बर्कमारीस को स्वयंबर में अपना पति चुन लिया। जब वह इसके साथ अपने घर लौटा तो रव्वाल उस पर आसक्त हो गया और सम्राट् होने का लाभ उठा कर उसने उसके साथ विवाह कर लिया। बड़े भाई के इस अमानुषिक व्यवहार के कारण बर्कमारीस के हृदय पर गहरी चोट पहुँची। तदुपरान्त वह विद्याभ्यास में संलग्न हो उठा और अपनी विद्वत्ता के लिये सुप्रसिद्ध हो गया। इसी बीच रव्वाल के वंश के एक परंपरागत शत्रु ने उसके ऊपर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना परास्त हो गई और परिणामतः उसने अपने भाई, भार्या एवं कर्मचारियों के सहित हिमशिखर पर एक सुदृढ़ दुर्ग में शरण ले ली। यह किला भी शीघ्र ही शत्रु-सेना द्वारा चतुर्दिक् घेर लिया गया। जिस समय आक्रमणकारी इसे लगभग जीत चुका था, रव्वाल ने उससे सन्धि के लिये प्रार्थना की। शत्रु की ओर से सन्धि की शर्तें बड़ी कड़ी थीं। उसने पराजित रव्वाल से उसकी भार्या तथा अपने सैनिक पदाधिकारियों के लिये सरदारों की कन्याओं का उपहार माँगा। परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण उसके वजीर ने परामर्श दिया कि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाय। रव्वाल इसके लिये सहमत हो गया।[1]

पर बर्कमारीस ने इस अपमानजनक स्थिति से उसे बचा दिया। उसने सुन्दरी का वेष बना कर शत्रु के पास जाने का निश्चय किया और रव्वाल ने इसके लिये उसे आज्ञा दे दी। सरदारों ने भी उसके सुझावों के अनुसार सुन्दरियों का नकली वेष बना लिया। उन्होंने अपने वस्त्र के नीचे हथियार और बिगुल छिपा लिया और इस प्रकार वे बर्कमारीस के साथ शत्रु-शिविर की ओर हो लिये। पहले ही यह निश्चित कर लिया गया था कि जब शत्रु उसके आलिंगन का प्रयास करेगा, ठीक उसी समय वह अपने छिपाये हुए छुरे को उसे भोंक देगा और उसके बाद बिगुल के बजते ही सरदारपुत्र समझ लेते कि शत्रु का काम तमाम कर दिया गया। वे इस संकेत को पाते ही शत्रु-कर्मचारियों पर टूट पड़ते। रव्वाल की सेना भी जो दूर छिपी रहती बिगुल की आवाज को सुनते ही शत्रु-सेना पर टूट पड़ती। इस प्रकार इस खतरे से छुटकारा मिल जाता। योजना को बड़ी सफलता के साथ

---

१. जर्नल ऑफ बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ १३९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (USA)

कार्यान्वित किया गया और इस प्रकार रव्वाल जो पहले हार चुका था वह अब विजयी हो गया ।[1]

इस बहादुरी के कारण बर्कमारीस का यश बढ़ गया और चारों ओर उसके शौर्य की प्रशंसा होने लगी । इससे रव्वाल का वज़ीर जलने लगा। उसने बर्कमारीस की झूठी शिकायतों द्वारा उसे उसके विरुद्ध बना दिया। बर्कमारीस अपने बड़े भाई के अनुचित व्यवहारों से ऊब गया और अपने हित में उसने उसे खतम कर देने के लिये चतुराई के मार्ग का अवलम्बन किया । उन्मत्त का नकली चेहरा बना कर वह राजमार्गों पर घूमने लगा ताकि रव्वाल उससे असावधान हो जाय। उसे पक्का विश्वास हो गया कि बर्कमारीस सचमुच ही पागल हो गया और अब वह उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता था । उन्मत्त के इस वेष में उसने एक बार महल में प्रवेश किया और देखा कि रव्वाल और उसकी पत्नी गन्ना चूस रहे थे। वह उनके समीप आकर नीचे बैठ गया और एक गन्ना उठा कर इसके छिलके को छीलने का असफल प्रयास करने लगा। रव्वाल ने यह देख कर अपनी पत्नी से उसे एक चाकू गन्ने को छीलने के निमित्त देने को कहा । उसने इसे लेकर गन्ना छीलने का स्वाँग बनाया। मौका पाते ही रव्वाल पर वह झपट बैठा और चाकू को तेज़ी के साथ उसके नाभिमंडल में भोंक दिया । इस प्रकार उसने अपने बड़े भाई को मार डाला । तत्पश्चात् उसकी स्त्री के साथ स्वयं विवाह कर वह गद्दी पर बैठा । एक राजा के रूप में वह बड़ा ही यशस्वी सिद्ध हुआ ।[2]

उसके बड़े भाई का वज़ीर जिसका नाम सफर था उसकी चिता में जलकर खतम हो जाना चाहता था । बर्कमारीस के बहुत रोकने पर उसने किञ्चित् काल के लिये आत्महत्या का व्रत रोक दिया । उसने उसके अनुरोध पर राजनीति-शास्त्र पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा, जिसमें सम्राट् के कर्त्तव्य, न्याय तथा शासन-संबन्धी गुणों की समुचित व्याख्या दी गई थी। इस ग्रन्थ का नाम उसने 'अदबुल मुलूक' (अर्थात् राजोपदेश) रखा । इसकी रचना के अनन्तर सफर ने जल कर अपना जीवन खतम कर लेने वाले अपने पूर्व निश्चय को पूर्ण किया ।[3]

इस कथानक और देवीचन्द्रगुप्तम् के कथानक में बहुत बड़ी समानता है । डॉ० अल्तेकर का कथन है कि मुजमल-उत-तवारीख के लेखक ने इस कथा में देवीचन्द्रगुप्तम् के कथानक के प्रमुख अंगों का निरूपण किया है ।[4] दोनों

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ १३९
२. वही, पृष्ठ १३९
३. वही, पृष्ठ १३९
४. वही, पृष्ठ १३९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कथानकों में निम्न समानताओं का निर्देश किया जा सकता है–(१) दोनों ही वर्णनों में चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य = बर्कमारीस) एवं उसके अनुयायियों के द्वारा स्त्री-वेषधारण करने का उल्लेख हुआ है। (२) दोनों के अनुसार शत्रु-वध एक सी परिस्थितियों में हुआ। (३) देवीचन्द्रगुप्तम् के अनुसार चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई को उसके प्रति असावधान हो जाने के हेतु उन्मत्त का रूप धारण किया था। मुजमल-उत-तवारीख के रचयिता के अनुसार भी उसने अपने अग्रज को असतर्क बना देने के लिये पागलपन का स्वांग रच लिया था। (४) दोनों के ही अनुसार छोटे भाई ने बड़े भाई की हत्या कर उसकी विधवा के साथ विवाह किया।[1]

बर्कमारीस से तात्पर्य चन्द्रगुप्त से ही है, इसमें सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता। विभिन्न साधनों के अनुसार उसकी प्रिय उपाधि विक्रमादित्य थी। मुजमल-उत-तवारीख के अनुसार बर्कमारीस एक बड़ा राजा हुआ और सभी शासकों ने उसका लोहा मान लिया। वह विद्या का बहुत बड़ा प्रेमी था। यह वर्णन चन्द्रगुप्त द्वितीय पर ही अधिक ठीक बैठता है। हुयेनसांग किसी साहित्यिक परंपरा के आधार पर लिखता है कि विक्रमादित्य बहुत प्रभावशाली थे। वे यशस्विता, दानशीलता एवं विद्याव्यसन के लिये सुप्रसिद्ध थे।[2]

करमदाण्डा (फैजाबाद) के लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के एक मन्त्री का नाम शिखरस्वामी था। डॉ० जायसवाल ने इसका तादात्म्य सफर से किया है, जो पहले रव्वाल तथा कालान्तर में बर्कमारीस का भी वजीर था। मुजमल-उत-तवारीख के अनुसार उसने नीतिशास्त्र के ऊपर एक ग्रन्थ लिखा था। सफर शिखर नाम का फारसी रूपान्तर लगता है। कामन्दक के नीतिसार में शिखर नाम का उल्लेख मिलता है। यह शिखरस्वामी नाम से तुलनार्ह है। नीतिसार में देव नामक सम्राट् का उल्लेख मिलता है। डॉ० जायसवाल का कथन है कि यहाँ पर चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर संकेत है, जिसका (साँची के लेख के अनुसार) प्रिय नाम देवराज था। उनके अनुसार इस आधार पर नीतिसार गुप्तकालीन ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसका रचयिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री शिखरस्वामी ही रहा होगा।

मुजमल-उत-तवारीख के द्वारा कुछ नवीन तथ्यों की जानकारी होती है, जो संस्कृत-ग्रन्थों से नहीं ज्ञात हो पाती। इससे लगता है कि रामगुप्त किसी पर्वत की चोटी पर स्थित किले अथवा शहर में शत्रु द्वारा घेर लिया गया। वहाँ के लोग

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ १४०
२. वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २११

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America HHFA(USA)

आक्रमणकारी के उपद्रवों से ऊब गये होंगे। यह कोई अनहोनी बात नहीं थी। गार्गी संहिता के अनुसार यवन-आक्रमणकारियों के उत्पात के कारण पाटलिपुत्र के नागरिकों में कोलाहल मच गया था। यह संभव है कि स्थानीय लोगों ने शत्रु-आक्रमणकारी के निर्दयतापूर्ण व्यवहारों से ऊब जाने के कारण और भविष्य में उनकी नृशंसता से बचने के उद्देश्य से रामगुप्त को उसके प्रस्ताव (अर्थात् ध्रुव-देवी के समर्पण) को स्वीकार कर लेने के लिये बाध्य किया हो। नाट्यदर्पण के देवीचन्द्रगुप्तम्-संबन्धी उद्धरण में भी आता है कि लोगों को आश्वासन प्रदान करने के लिये ध्रुवदेवी के समर्पण का प्रश्न उपस्थित हुआ था (प्रकृतीनामाश्वासनाय ध्रुवदेवीसंप्रदानेऽभ्युपगते)।[1]

(७) **राजावली**—रामगुप्त-कथानक का संभावित अन्तिम उल्लेख 'राजावली' में मिलता है, जिसकी रचना मृत्युञ्जय पण्डित ने (१८०८ ई० में) की थी। इसमें इन्द्रप्रस्थ के मयूर-राजवंश के शासकों का नाम मिलता है। इस वंश में राजपाल (रक्षपाल) नामक एक शासक हुआ, जो कुमायूँ के शकराज (शकादित्य अथवा शकदत्त) के द्वारा पराजित किया गया था। राजपाल स्त्रैण एवं भीरु था। बाद में विक्रमादित्य शक-सम्राट् को परास्त कर स्वयं राज्याभिषिक्त हुआ। इसके उत्तराधिकारी समुद्रपाल तथा चन्द्रपाल थे। राजपाल नाम की तुलना मजमल-उत-तवारीख के रब्वाल (रामगुप्त) से की जा सकती है। विक्रमादित्य से तात्पर्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से लगता है। समुद्रपाल तथा चन्द्रपाल नाम समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त के नाम की ओर संकेत करते हैं। राजशेखर की काव्य-मीमांसा से लगता है कि रामगुप्त को शकराज ने कार्तिकेयनगर में परास्त किया था। डॉ० भण्डारकर ने कार्तिकेयनगर की पहचान कुमायूँ कमिश्नरी के अन्तर्गत् अल्मोड़ा जिले में स्थित बैजनाथ नामक स्थान से की है। राजावली के अनुसार भी शक-राज कुमायूँ का शासक था। इस ग्रन्थ की ओर इतिहासकारों का ध्यान सबसे पहले एटकिंसन तथा कनिंघम ने आकर्षित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्णन में शक-सम्राट् के द्वारा रामगुप्त के पराजित होने एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा शक-राज को हरा देने आदि घटनाओं की धुँधली एवं अस्तव्यस्त स्मृति उपलब्ध होती है।[2]

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १५, पृष्ठ १४०

२. एडविन टी० ऐटकिंसन, दी हिमालयन ड्रिस्ट्रिक्ट्स ऑफ नार्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज ऑफ इंडिया, पृष्ठ ४११-४१२; कनिंघम, आर्क्यालॉजिकल रिपोर्ट १, १३९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभिलेख

(१) **संजन का लेख**—यह ताम्रलेख राष्ट्रकूट-वंश के नरेश अमोघवर्ष प्रथम का है। इसकी तिथि ८७१ ई० है और यह एपिग्राफिआ इंडिका के अठारहवें जिल्द में प्रकाशित हुआ है:—

"हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा ।
लक्षं कोटिमलेखयन्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः ॥
येनात्याजि तनुःस्वराज्यमसकृद्वाह्यार्थकैः का कथा ।
ह्रीस्तस्योन्नतिराष्ट्रकूटतिलको दातेति कीर्त्यामपि ॥"

इस उद्धरण को प्रकाश में लाने का प्रथम श्रेय डॉ० अल्तेकर को है।[1] इसके अनुसार कलियुग के एक दानी गुप्त वंशी नरेश ने अपने भाई की हत्या कर उसके राज्य एवं भार्या का अपहरण किया था तथा एक लाख की संख्या के स्थान पर उसने एक करोड़ की संख्या का उल्लेख किया था। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का कथन है कि यहाँ पर स्कन्दगुप्त की ओर संकेत है, जिसने अपने राज्याभिषेक के पूर्व अपने भाई के साथ उत्तराधिकार-संबन्धी युद्ध किया था।[2] पर ऐसा मानना ठीक न होगा। किसी भी साक्ष्य से यह प्रमाणित नहीं होता कि स्कन्दगुप्त ने अपने भाई की स्त्री के साथ विवाह किया था। स्पष्ट है कि इस लेख में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर संकेत है, जिसने देवीचन्द्रगुप्तम् के अनुसार अपने अग्रज की हत्या कर उसकी भार्या और उसके राज्य को छीन लिया था। परंपरा के अनुसार विक्रमादित्य दानी नरेश थे। हुयेनसांग ने विक्रमादित्य नामक एक दानी गुप्तवंशी सम्राट् का उल्लेख किया है।

प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने एक लाख गौओं को दान में दिया था (गोशतसहस्रप्रदायिनः), परन्तु नालन्दा के ताम्रलेख में उन्हें एक करोड़ गौओं का दाता कहा गया है (गोकोटिप्रदस्य)। समुद्रगुप्त के विषय में नालन्दा के ताम्रलेख की यह उक्ति झूठी लगती है। वह वास्तव में एक ही लाख गौओं का दाता था, जैसा कि प्रयाग की प्रशस्ति में कहा गया है। नालन्दा का लेख जाली माना जाता है। संभव है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही अपने पिता के नाम पर यह लेख निकाल दिया हो। अतएव उपर्युक्त झूठी उक्ति का उत्तरदायी वही है। संजन के लेख में एक लाख की संख्या के स्थान पर एक करोड़ संख्या का उल्लेख इस असत्य उक्ति की ओर संकेत करता है।

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २३०
२. एपिग्राफिआ इंडिका, १७, पृष्ठ २४८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लाख को करोड़ कर देने (लक्षं कोटिमलेखयन्) की सबसे अच्छी व्याख्या पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने (डी० आर० भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम के लेख में)दी है। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त केवल एक लक्ष गौओं का ही दाता था। यह उसके समय का एक प्रामाणिक लेख है, अतएव इसमें दी गई हुई इस संख्या को सत्य मानना चाहिये। परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के शिलालेख में समुद्रगुप्त को एक करोड़ गौओं का दाता (न्यायागतानेकगोकोटिहिरण्यप्रदस्य) कहा गया है, जो असत्य कथन लगता है। यदि समुद्रगुप्त ने सचमुच ही एक करोड़ गौओं को दान में दिया होता तो उसने अपने लेखों में इसी संख्या का निर्देश किया होता। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय एक झूठी उक्ति का दोषी लगता है। यह झूठा उल्लेख उसने मथुरा (शिलालेख) में किया, जो कि एक विशिष्ट धार्मिक केन्द्र था। उपर्युक्त राष्ट्रकूट-लेख का तात्पर्य इसी घटना से हो सकता है।

(२) **खंभात का लेख**—प्रोफेसर मिराशी ने अपने एक लेख (इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द १०, १९३४) में विद्वानों का ध्यान खंभात (कैम्बे) के ताम्रलेख (९३० ई०) के एक श्लोक की ओर आकर्षित किया है, जो कि राष्ट्रकूटवंशी नरेश गोविन्द चतुर्थ के किसी दरबारी कवि के द्वारा रचा गया था—

"सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता
वन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरार्वाज्जितं नायशः ।
शौचाशौचपरांगमुख न च भिया पैशाच्यमंगीकृतम्
त्यागेनासमसाहसैश्च भुवने यः साहसांकोऽभवत् ॥"

"वह (गोविन्द चतुर्थ) संसार में साहसांक केवल त्याग एवं अतुलनीय साहस के द्वारा ही हुआ था। उसने सामर्थ्य के होते हुए भी अपने बड़े भाई के प्रति क्रूरता का व्यवहार नहीं किया था। बन्धु की भार्या के साथ गमन आदि बुरी कृतियों के द्वारा उसने अयश भी नहीं कमाया था। भय के कारण पवित्रता और अपवित्रता से परांगमुख होकर उसने पैशाच्य व्रत स्वीकार नहीं किया था।" इस श्लोक की ऐतिहासिक व्याख्या देने में विद्वान् लोग पहले अपने आपको असमर्थ पाते थे। यहाँ तक कि डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने भी इस पर विचार प्रकट करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ दी दक्कन' में उल्लिखित किया है कि प्रमाणाभाव के कारण इस कथन की शुद्ध व्याख्या देना असम्भव है।[1]

इसका ऐतिहासिक अर्थ सर्वप्रथम प्रोफेसर मिराशी के द्वारा स्पष्ट किया

---

१. एपिग्राफिआ इंडिका, ३, १२५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया था। इस श्लोक में राष्ट्रकूटवंशी दरबार के किसी कवि ने गोविन्द चतुर्थ की, जिसने साहसांक की उपाधि धारण की थी, तुलना किसी अन्य साहसांक नामक प्रसिद्ध नरेश से की है, जो कि उसके पहले राज्य कर चुका था। इस श्लोक के अनुसार यह राष्ट्रकूट-नरेश साहसांक की समता में केवल त्याग और असम साहस में ही आता था। पर अन्य बातों में वह उससे विभिन्न होने के कारण श्रेष्ठ था। उसने अधिकार होते हुए भी अपने बड़े भाई को निर्दयता का व्यवहार नहीं दिखाया, न तो बन्धु स्त्री-गमन आदि दोषों से उसका चरित्र कलंकित कहा जा सकता था और न तो उसने पैशाच्यव्रत (वेतालसाधना) का अनुष्ठान किया था, जिसमें शुचि एवं अशुचि का कोई ध्यान ही नहीं रहता। राष्ट्रकूट-कवि के अनुसार साहसांक नामक पूर्ववर्ती नरेश में ये तीनों ही दोष वर्तमान थे।

स्पष्ट है कि यहाँ पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर संकेत है। उसकी मुद्राओं के ऊपर 'विक्रमांक' उपाधि उत्कीर्ण मिलती है। यह 'साहसांक' का पर्याय है। राजशेखर की काव्यमीमांसा में विक्रमादित्य को साहसांक कहा गया है। इस आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय की एकता साहसांक के साथ स्थापित होती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि खंभात (कैम्बे) के ताम्रलेख में उसी के ऊपर ये तीनों आरोप लगाये गये हैं। इनमें प्रथम दो आरोप उसके द्वारा बड़े भाई की हत्या तथा उसकी भार्या के साथ विवाह की ओर संकेत करते हैं। तीसरा आरोप भी उसी पर लागू होता है। कथासरित्सागर एवं वेतालपंचविंशति के अनुसार विक्रमादित्य ने वेतालसाधना की थी। देवीचन्द्रगुप्तम् में एक स्थान पर चन्द्रगुप्त वेतालसाधना के लिये अपना निश्चय बनाता है (निशिवेतालसाधनमध्यवसन् कुमारचन्द्रगुप्तः आत्रेयेण विदूषकेणोक्तः)। भवभूति के मालतीमाधव नामक नाटक में इसका नायक माधव मालती की प्राप्ति के निमित्त वेतालसाधना के लिये उद्यत दिखाया गया है (श्मशानसिद्धयोगिनीमतम्)। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि लोग अभीष्ट की सिद्धि के लिये पैशाच्यव्रत धारण करते थे। देवीचन्द्रगुप्तम् के अनुसार जब रामगुप्त चारों ओर से शत्रु-सेना द्वारा घिर गया और रक्षा का कोई भी मार्ग नहीं दृष्टिगोचर होता था, उस समय चन्द्रगुप्त श्मशानभूमि में जाकर वेताल की सिद्धि करना चाहता था। इस प्रकार वह शत्रुसंहार के लिये आधिभौतिक शक्ति प्राप्त करना चाहता था। गोविन्द चतुर्थ भी एक बहादुर एवं दानी नरेश था। राष्ट्रकूट-लेखों के अनुसार उसकी विरुद सुवर्णवर्ष थी। उसने अपने आपको सोने से तुलवा कर उसे दान कर दिया था। चन्द्रगुप्त (विक्रमांक = साहसांक) भी अपनी दानपरायणता एवं शौर्य के लिये सुप्रसिद्ध था। अतएव त्याग और साहस की दृष्टि से दोनों में समता ठीक बैठती थी। इन सब प्रमाणों से सन्देह नहीं रह जाता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

कि खंभात (कैम्बे) के लेख का साहसांक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही है।[1]

(३) **संगली का लेख**—इस अभिलेख (६३३ ई०) में भी राष्ट्रकूट-नरेश गोविन्द चतुर्थ को साहसांक कहा गया है। इसमें खंभात (कैम्बे) के लेख का श्लोक उद्धृत मिलता है, जिसके अनुसार वह एकमात्र अतुलनीय साहस एवं त्याग के कारण साहसांक कहलाता था। इसमें भी मौलिक साहसांक नामक नरेश पर ठीक वे ही आरोप लगाये गये हैं; अर्थात् (१) सामर्थ्य के होते हुए भी अग्रज के साथ निन्दित क्रूरता का व्यवहार, (२) बन्धुस्त्रीगमनादि कुचरित्र तथा (३) शौचाशौच से परांगमुख होकर पैशाच्यव्रत का अंगीकरण। स्पष्ट है कि उपर्युक्त राष्ट्रकूट-नरेश के प्रतिद्वन्द्वी साहसांक से तात्पर्य चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमांक) से ही है।[2]

(४) **बिलसड़ का स्तम्भ-लेख**—इससे ज्ञात होता है कि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की प्रमुख नारीपात्रा ध्रुवदेवी ऐतिहासिक थीं। इसमें कुमारगुप्त प्रथम को चन्द्रगुप्त द्वितीय का ध्रुवदेवी से उत्पन्न पुत्र कहा गया है (महाराजाधिराजश्री-चन्द्रगुप्तपुत्रस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य)।

(५) **वैशाली का लेख**—वैशाली के एक लेख में ध्रुवदेवी को ध्रुवस्वामिनी कहा गया है। इसके अनुसार वे चन्द्रगुप्त की पत्नी और गोविन्दगुप्त की माता थीं (महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी)। इस लेख से उनकी ऐतिहासिकता प्रतिपादित हो जाती है। इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी ध्रुवदेवी को ध्रुव-स्वामिनी कहा गया है।

युद्ध का स्थान—यह युद्ध किस स्थान पर हुआ, इसको निश्चयपूर्वक बताना कठिन है। (१) डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि यह युद्ध जलन्धर के दोआबे में हिमालय की सवत्थु श्रेणी पर अथवा उसके समीप कहीं पर हुआ होगा। हर्षचरित के अनुसार शकराज चन्द्रगुप्त के द्वारा 'अरिपुर' में मार डाला गया था। इससे लगता है कि रामगुप्त और उसके शकशत्रु के बीच युद्ध इसी स्थान के सन्निकट कहीं पर हुआ था। डॉ० जायसवाल ने इसकी पहचान जलन्धर जिले में स्थित अलीवाल नामक प्राचीन ग्राम से की है। यह गाँव हिमालय के सवत्थु श्रेणी के पास स्थित है। (२) हर्षचरित की कुछ पाण्डुलिपियों में 'अरिपुर' के स्थान पर 'नलिनपुर' पाठ मिलता है। यह जलालाबाद के समीप स्थित था।

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द १०, पृष्ठ ५०-५१

२. इंडियन ऐंटिक्वैरी, १२, पृष्ठ २४७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतएव संभव है कि यह युद्ध कहीं यहीं पर हुआ हो। (३) प्रोफेसर के० एच० ध्रुव का कथन है कि 'अरिपुर' के स्थान पर 'गिरिपुर' पाठ अधिक शुद्ध होगा। इससे तात्पर्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान 'गिरिनगर' से है, जो सौराष्ट्र प्रान्त का सबसे प्रधान नगर था। इसका आधुनिक प्रतिनिधि गुजरात में स्थित गिरिनार है जहाँ से अशोक, रुद्रदामन तथा स्कन्दगुप्त के लेख मिले हैं। लगता है कि यह युद्ध इसी स्थान पर हुआ तथा रामगुप्त का शत्रु पश्चिमी क्षत्रप वंश का कोई नरेश था।

श्री ए० रंगस्वामी सरस्वती का कथन है कि भोज के शृंगार-प्रकाश (देवी-चन्द्रगुप्तम्-संबन्धी उद्धरण) के अनुसार चन्द्रगुप्त शकराज के वध के निमित्त 'अलिपुर' नामक स्थान की ओर गया था। इसका शुद्ध नाम यही था और इसे गलती से हर्षचरित की अधिकांश पाण्डुलिपियों में 'अरिपुर' कर दिया गया। इस निष्कर्ष की पुष्टि यों भी हो जाती है कि डॉ० डी० आर० भण्डारकर के अनुसार हर्षचरित की कतिपय पाण्डुलिपियों में 'अलिपुर' पाठ मिलता है। इससे कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के मौलिक संस्करणों में 'अलिपुर' पाठ दिया गया था और कालान्तर के संस्करणों में असावधानी के कारण 'अरिपुर' नाम आ गया तथा यही पाठ बाद में प्रसिद्ध हो गया। पंजाब के काँगड़ा जिले में 'अलिपुर' नामक एक पहाड़ी किला अब भी वर्तमान है। संभव है कि रामगुप्त का शकों के साथ युद्ध इसी स्थान के पास कहीं पर हुआ हो।[1]

डॉ० डी० आर० भण्डारकर का कथन है कि राजशेखर की काव्यमीमांसा वाले श्लोक में कार्तिकेय और नगर को एक दूसरे से अलग करना ठीक न होगा जैसा कि डॉ० अल्तेकर तथा प्रोफेसर मिराशी आदि विद्वानों ने किया है। 'कार्तिकेयनगर' एक समस्त-पद प्रतीत होता है। इस श्लोक की चतुर्थ पंक्ति यह हमें बताती है कि कार्तिकेयनगर की स्त्रियाँ उस राजा का यशोगान करती थीं जिसे इसमें 'तव' शब्द से सम्बोधित किया गया है (गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः)। इससे लगता है कि कार्तिकेयनगर से अभिप्राय किसी पुर से है। डॉ० भण्डारकर का कथन है कि उत्तर प्रदेश के अल्मोड़े जिले की गोमती घाटी में स्थित आधुनिक बैजनाथ ग्राम को अब भी कार्तिकेयपुर कहते हैं। यह हिमालय पर्वत की श्रेणी पर स्थित है। कार्तिकेयपुर का उल्लेख साहित्य और लेख दोनों में ही हुआ है; उदारणार्थ देवी पुराण (अध्याय ९), ललितशुरदेव (नवीं शताब्दी) का पांडुकेश्वर का ताम्रलेख तथा द्युतिवर्मा के तालेश्वर के दोनों दानपत्र (छठी शताब्दी) आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी बैजनाथ (कार्त्तिकेयपुर) के समीप रामगुप्त का शक-युद्ध हुआ।

---

१. इंडियन ऐंटिक्वैरी, १९२३, पृष्ठ १८३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America HHFA(USA)

मजमल-उत-तवारीख के अनुसार रव्वाल ने अपने भाई और सरदारों के सहित पर्वत की चोटी पर शरण ली, जहाँ पर एक सुदृढ़ किला बना हुआ था। शत्रु ने दक्षता के साथ व्यूह-निर्माण कर इसे परिवेष्ठित कर लिया। इससे स्पष्ट है कि रामगुप्त अपनी राजधानी पाटलिपुत्र अथवा अन्यत्र मैदान की लड़ाई में नहीं पराजित हुआ था। वह कार्तिकेयनगर के समीप कहीं पर्वतश्रेणी पर घिर गया था। अतएव आधुनिक बैजनाथ (कार्तिकेयपुर) ही कार्तिकेयनगर प्रतीत होता है। यह ग्राम गिरि-शिखर पर स्थित है। संभव है कि यहाँ पर प्राचीन काल में कोई दुर्ग बना हुआ था। लगता है कि रामगुप्त किसी विजय के प्रसंग में अल्मोड़ा में स्थित इस स्थान के पास आया हुआ था और इसी के समीप उसका शक-युद्ध हुआ जिसका फल उसके प्रतिकूल हो गया। संभव है कि यह कार्तिकेयनगर (कार्तिकेयपुर) कर्त्तृपुर में स्थित रहा हो, जो प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त के समय में गुप्तों का प्रत्यन्तराज्य पड़ता था।[1]

शकपति की पहचान—डॉ० राखालदास बनर्जी, डॉ० आर० यन० दण्डेकर तथा डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार रामगुप्त का शत्रु (शकपति) कोई कुषाणवंशी नरेश रहा होगा। डॉ० बनर्जी का मत है कि शक शब्द शकेतर बाहरी जातियों के लिये भी प्रयुक्त होता था। शकपति की पहचान दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि (कुषाणों) से करना उचित होगा। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त के समय में वे पश्चिमोत्तर भारतवर्ष में वर्तमान थे और उन्होंने उसका लोहा मान लिया था। उसके मरते ही वे सम्भवतः शक्तिशाली होने लगे और उसके उत्तराधिकारी रामगुप्त पर उन्होंने पंजाब की ओर से आक्रमण कर दिया। इसको रोकने में उसने अपने को असमर्थ पाया होगा। फलतः उसे अपमानजनक स्थिति का सामना करना पड़ गया। यह कोई असम्भव बात नहीं हो सकती थी। कुषाणों ने अपने शौर्य के बल पर विश्व की बड़ी शक्तियों को नतमस्तक कर दिया था।

प्रोफेसर दशरथ शर्मा का अनुमान है कि हर्षचरित की प्रारम्भिक टीकाओं में 'शकपति' शब्द की व्याख्या 'शकस्वामिन्' दी गई होगी। टीकाकार शंकरार्य ने जिसका समय बाद का (१८ वीं शताब्दी) है स्वामिन् शब्द के अर्थ को ऐतिहासिक सन्दर्भ में न समझा होगा और इसके स्थान पर आचार्य शब्द लिख दिया होगा। शकभाषा में मुरुण्ड शब्द का अर्थ स्वामिन् होता है। अतएव देवीचन्द्रगुप्तम् और हर्षचरित के शकपति (शकस्वामिन्) से तात्पर्य शकमुरुण्ड से रहा होगा। कनिष्क

---

१. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ १९३-९६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और उसके उत्तराधिकारी मुरुण्ड कहलाते थे। इससे स्पष्ट है कि देवीचन्द्रगुप्तम् का शकपति जो रामगुप्त का शत्रु था कुषाणवंशी रहा होगा।[1]

डॉ० दण्डेकर का कथन है कि रामगुप्त का प्रतिस्पर्द्धी कनिष्क का वंशज दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि रहा होगा। लगता है कि रामगुप्त की दुर्बलताओं का लाभ उठा कर उसने अपनी शक्ति के विस्तार के लिये उद्योग करना प्रारंभ किया। शंकरार्य ने शकपति की व्याख्या 'शकानामाचार्यः' दी है। इससे व्यक्त है कि वह अपनी जाति का धार्मिक नेता भी था। इसकी तुलना कुषाणों की उपाधि दैवपुत्र से की जा सकती है।[2]

डॉ० अल्तेकर ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि प्रारम्भिक गुप्त-काल में शक और कुषाण दोनों ही वर्तमान थे। देवीचन्द्रगुप्तम्, हर्षचरित, श्रृंगारप्रकाश और शंकरार्य की टीका में गुप्तवंश के प्रतिस्पर्द्धी को शकपति अथवा शकाधिपति कहा गया है। चन्द्रगुप्तकालीन उदयगिरि के गुहालेख तथा उसके चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसने शकों का उन्मूलन किया था। अतएव शकपति की पहचान किसी शक-सम्राट से करना अधिक तर्कसंगत लगता है। भारतीय इतिहास में दो शक-राजवंश ज्ञात हैं—(१) मथुरा का शक वंश तथा (२) उज्जयिनी का शक वंश। गुप्तों के अभ्युदय के समय मथुरा में शकों का राज्य नहीं रह गया था। वहाँ पर अब नागवंश राज्य करने लगा था—

"नवनागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चंपावतीं नृपाः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्तवै॥"

इसी नागवंश में गणपति नाग आता था, जिसको समुद्रगुप्त ने परास्त कर उसके राज्य को छीन लिया था। इससे लगता है कि रामगुप्त का शक-शत्रु उज्जयिनी के शक-वंश से सम्बन्धित रहा होगा।

यदि यह शत्रु कुषाणवंशी रहा होता तो चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने चालीस वर्षीय शासनकाल में उनसे अपमान का बदला लेने की चेष्टा अवश्य की होती। उसके लेखों से पंजाब-आक्रमण के विषय में कोई भी सूचना नहीं मिलती, जहाँ कुषाण शासन कर रहे थे। इसके प्रतिकूल उसके शकविजय के विषय में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। उदयगिरि के गुहालेख से आभास मिलता है कि पश्चिम

---

१. इंडियन कल्चर, १९३९ (जनवरी) का अंक
२. ए हिस्ट्री ऑफ दी गुप्ताज़, पृष्ठ ७८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

की दिशा में वह कोई बहुत बड़ी विजय-यात्रा कर रहा था। इस सैनिक अभियान से तात्पर्य शकों के ऊपर आक्रमण से हो सकता है, जो पश्चिमी भारतवर्ष में शासन कर रहे थे। इस अवसर पर उसका सान्धिविग्रहिक सचिव वीरसेन भी उसके साथ था। संभवतः इस अभियान में तत्कालीन उच्च सैनिक पदाधिकारी आम्रकार्द्दव ने भी भाग लिया, जिसका लेख उदयगिरि के पास ही साँची से प्राप्त है। इस अभिलेख के अनुसार उसने कई युद्धों में विजय प्राप्त कर यश का उपार्जन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवदेवी की माँग से सम्बन्धित अपमान का बदला लेने के हेतु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकराज्य के उन्मूलन का व्रत बना लिया और इस उद्देश्य से उन्होंने अपनी पश्चिमी दिग्विजय-यात्रा की जिसका उल्लेख उदयगिरि के गुहालेख में हुआ है।[1]

चतुर्थ शताब्दी के मध्य भाग में पश्चिमी भारत में शक-सत्ता का पुनरुत्थान हो रहा था। इसके पहले शकों ने दीर्घकाल तक महाक्षत्रप की उपाधि का धारण करना बन्द कर दिया था। ३४८ ई० में स्वामी रुद्रसेन तृतीय ने इसे पुनः धारण किया। उसकी मुद्राओं के ऊपर यह उपाधि उत्कीर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके समय में शकों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसकी ज्ञात तिथियाँ ३४८ ई० से लेकर ३७८ ई० है। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि उसका राज्यकाल यही था और रामगुप्त का शकशत्रु यही रहा होगा। इसकी मृत्यु के अनन्तर सिंहसेन सिंहासनारूढ़ हुआ, जो इसकी बहिन का पुत्र था। इससे लगता है कि चन्द्रगुप्त जब शकपति (रुद्रसेन तृतीय) के वध के लिए गया था, उस समय उसने एवं उसके अनुचरों ने पुत्रादि सहित उसका वध कर डाला था। यही कारण है कि पुत्र के अभाव में इसका भाञ्जा उत्तराधिकारी हुआ था।[2]

ऐतिहासिकता सन्देहास्पद--कतिपय इतिहासकारों के अनुसार रामगुप्त ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। रामगुप्त-कथानक देवीचन्द्रगुप्तम् के रचयिता विशाखदत्त के मस्तिष्क की कल्पना सी लगती है। कालान्तर के ग्रन्थों में इस कथा से सम्बन्धित जो छिटपुट उल्लेख मिलते हैं वे इसी ग्रन्थ पर आधारित हैं। मुद्राराक्षस की भाँति यह ग्रन्थ भी काफी लोकप्रिय रहा होगा। इसके माध्यम से इस कथा के प्रसार में सुयोग मिला होगा। यही कारण है कि कतिपय दक्षिणी अभिलेखों में भी इससे सम्बन्धित कथन प्राप्त होते हैं। सिलवाँ लेवी के

---

१. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २५२-५३
२. वही, पृष्ठ २४९- २५४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुसार रामगुप्त-उपाख्यान ऐतिहासिक यथार्थता से कोसों दूर है।[1] विन्सेण्ट स्मिथ का कथन है कि देवीचन्द्रगुप्तम् का वर्णन कलंकपूर्ण रोचक कथामात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह किञ्चिदपि श्रद्धेय नहीं हो सकती।[2] डॉ. रायचौधरी के अनुसार देवीचन्द्रगुप्तम् जैसे नाटक को किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष का आधार बनाना समीचीन नहीं होगा।[3] डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार ने भी सन्देह प्रकट करते हुए कहा है कि जब तक कोई निश्चित् प्रमाण उपलब्ध न हो जाय, रामगुप्त-विषयक कथानक के ऊपर कोई अन्तिम निर्णय देना संगत न होगा।[4] उसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध निम्न तर्क दिये जा सकते हैं :—

(१) गुप्तवंशीय नरेशों की तालिका में रामगुप्त का नाम नहीं उपलब्ध होता। उसका न तो कोई स्वतन्त्र लेख मिला है और न मुद्रा ही।

(२) देवीचन्द्रगुप्तम् की कथा के द्वारा एक सामाजिक महत्त्व का प्रश्न समुपस्थित होता है। भारतीय परम्परा एवं अभिलेख-साक्ष्य के आधार पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का चरित्र-संगठन उच्च कोटि का था। वे इतने भ्रष्ट नहीं थे कि वे अपने बड़े भाई की विधवा के साथ अपना विवाह करते। राष्ट्रकूट-लेख इस बात के प्रमाण हैं कि नैतिक आदर्शों की दृष्टि से यह कृति 'बन्धुस्त्री-गमन' तथा 'कुचरित' के अन्तर्गत् आता था।

(३) अपने ग्रन्थ देवीचन्द्रगुप्तम् को सुरुचिपूर्ण बनाने के हेतु सर्वप्रथम विशाखदत्त ने इस कथानक को गढ़ लिया होगा। बाद में हर्षचरित, काव्यमीमांसा, खंभात (कैम्बे) एवं संगली के अभिलेखों के रचयिताओं ने इसे अपना लिया होगा। अतएव इनमें मिलने वाले उल्लेखों को कोई ऐतिहासिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है। शंकरार्य अठारहवीं शताब्दी का लेखक था। गुप्त-काल से उसके समय की यह दूरी इस बात का परिचय देती है कि शंकरार्य का कथन अश्रद्धेय एवं अविश्वसनीय है। इसी प्रकार मृत्युञ्जय पंडित की राजावली (उन्नीसवीं शताब्दी की रचना) का साक्ष्य विवादास्पद है।

(४) गुप्तवंशीय अभिलेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय को समुद्रगुप्त का 'तत्पाद-परिगृहीत्' (उसके द्वारा स्वीकार किया हुआ) कहा गया है। इससे लगता है कि वह अपने पिता के द्वारा अनेक राजकुमारों के बीच योग्यतम चुना तथा

---

१. जर्नल एशियाटिक, दिसम्बर १९२३, पृष्ठ संख्या २०१
२. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २३६
३. रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेंट इंडिया, पृष्ठ ४६५
४. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १६५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

उत्तराधिकारी घोषित किया गया था। एरण के लेख से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के ठीक पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ही सिंहासनारूढ़ हुआ होगा।

(५) जिन परम्पराओं में रामगुप्तविषयक कथा का छिटपुट उल्लेख मिलता है, उनमें निम्न वर्णन-विभेद स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है :—

(अ) चन्द्रगुप्त के अग्रज का नाम कहीं (देवीचन्द्रगुप्तम् में) रामगुप्त बताया गया है और कहीं (काव्यमीमांसा में) शर्मगुप्त अथवा सेनगुप्त।

(ब) उनमें युद्ध-स्थल के नाम भी विभिन्न हैं; उदाहरणार्थ अरिपुर अथवा अलिपुर (पंजाब), कार्तिकेयनगर (जलन्धर का दोआबा) तथा नलिनपुर (जलालाबाद)।

(स) रामगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी का नाम कहीं (देवीचन्द्रगुप्तम् में) शकपति बताया गया है तथा कहीं (काव्यमीमांसा में) खसाधिपति। काव्यमीमांसा के खसाधिपति से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से हो सकता है, जो कि हिमालय की खस-जाति का नायक रहा हो।

(द) काव्यमीमांसा के अनुसार शर्मगुप्त (अथवा रामगुप्त) ने अपनी भार्या को अपने प्रतिद्वन्द्वी को समर्पित कर दिया था (दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्)। अन्य साधनों के अनुसार उसके अनुज चन्द्रगुप्त ने उसे ऐसा करने से रोक दिया था। इन विभिन्नताओं के कारण रामगुप्त-कथानक अश्रद्धेय हो जाता है।

निराकरण—इन तर्कों का उत्तर कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है :—

(१) एरण के लेख के अनुसार समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। अतएव चन्द्रगुप्त के एक बड़ा भाई भी हो सकता था, इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

(२) गुप्तवंशीय तालिका में रामगुप्त का नाम एक विशेष कारण से नहीं मिलता। भारतीय अभिलेख-परम्परा के अनुसार शासक लेखों में अपने पूर्वजों की श्रेणी में केवल मूल वंशवृक्ष का ही उल्लेख करता था। सपिण्डों का नाम छोड़ दिया जाता था। राजा अपने पिता एवं पितामह आदि के नाम तो उत्कीर्ण कराता था, पर अग्रज शासक भाई अथवा पितृव्य आदि के नामों को वह छोड़ देता था। उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त का नाम पुरुगुप्त अथवा उसके वंशजों के लेखों में नहीं प्राप्त होता। गुप्तवंशीय लेखों में रामगुप्त के नाम के अभाव का एक यह भी कारण हो सकता है कि वह अपने कुल में कलंकतुल्य था। यह कहना ऐतिहासिक तथ्यों से रहित होगा कि उत्कीर्ण लेखों में उसके नाम की अप्राप्ति कोई आकस्मिक नहीं, अपितु सोद्देश्य एवं संकल्पपूर्वक घटना थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(३) रामगुप्त अल्पकाल तक ही शासन कर सका होगा, अतएव उसे लेख उत्कीर्ण कराने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ।

(४) यदि साहित्यिक परम्पराओं तथा गुप्तकालीन धर्मशास्त्रों के आलोक में निरीक्षण किया जाय, तो चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी का विवाह कोई अधार्मिक घटना नहीं सिद्ध की जा सकती। नाट्यदर्पण के देवीचन्द्रगुप्तम्-सम्बन्धी एक उद्धरण से ज्ञात होता है कि वह रामगुप्त के व्यवहारों से ऊब चुकी थी। वह अपने पति के क्लीवजन-तुल्य आचरणों के कारण लज्जा, विषाद एवं कोप से गली जा रही थी।[1] उसकी इस शोचनीय दशा को देखकर चन्द्रगुप्त ने उसकी प्राप्ति का निश्चय बनाया।[2] मजमल-उत-तवारीख की कथा से लगता है कि ध्रुवस्वामिनी का विवाह सबसे पहले संभवतः चन्द्रगुप्त (वर्कमारीस = विक्रमादित्य) के साथ हुआ था। रामगुप्त (रव्वाल) ने उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लिया था। यही कारण है कि रामगुप्त के मरने के अनन्तर उसने चन्द्रगुप्त से विवाह की अनुमति दे दी होगी। वह उसके उत्साह, शौर्य एवं अन्य श्लाघनीय गुणों से प्रभावित रही होगी। उसने अपने प्राणों की बाजी लगा कर शकपति के हाथों में उसे पड़ने से बचाया था। अतएव उसके प्रति ध्रुवस्वामिनी का झुकाव नितान्त स्वाभाविक ही था।

डॉ० अल्तेकर[3] एवं डॉ० भण्डारकर[4] ने चन्द्रगुप्त एवं ध्रुवदेवी के विवाह के समर्थन में कई शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं। नारद-स्मृति के निम्नलिखित श्लोक के अनुसार पाँच प्रकार की आपत्तियों में स्त्री अपना पुनर्विवाह कर सकती थी; उदाहरणार्थ पति का पता न चलना, उसका मर जाना, प्रवासी अथवा क्लीव हो जाना, समाज से बहिष्कृत कर दिया जाना आदि :—

---

१. "रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीतां दशाम्।
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला॥
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः।
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृत ताम्यते॥"

—देवीचन्द्रगुप्तम् (नाट्यदर्पण में उद्धृत)

२. "अत्रध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः"

—वही

३. जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २४७-४९

४. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ २०१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

"नष्टे मृते प्रवजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥"

—अध्याय १२, श्लोक ९७

डॉ० अल्तेकर[1] के अनुसार इस सम्बन्ध में नारद-स्मृति के निम्न श्लोक भी विचारणीय हो जाते हैं । इनके अनुसार स्त्री प्रोषित पती की आठ वर्षों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर नवीन पति चुन सकती थी । विवाहोपरान्त भी यदि कन्या संप्राप्तमैथुना न हो, तो उसका पुनः विवाह हो सकता था :—

"अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम् ।
अप्रसूता तु चत्वारि ततोऽन्यं तु समाश्रयेत् ॥
उद्वाहिता च या कन्या न संप्राप्ता च मैथुनम् ।
भर्तारं पुनरभ्येति यथा कन्या तथैव सा ॥"

—अध्याय ११, श्लोक ७-८

प्रोफेसर यौली का कथन है कि नारद-स्मृति गुप्तकालीन रचना है, अतएव इसमें उस समय की सामाजिक दशा का प्रतिबिम्ब मिलता है । उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुप्तकालीन प्रथाओं के अनुसार ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह संभव था ।

डॉ० भण्डारकर[2] ने इस सम्बन्ध में नारद-स्मृति के निम्न दो श्लोकों को भी प्रचुर महत्त्व प्रदान किया है :—

(क) "अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रम् बीजिनो नराः ।
क्षेत्रम् बीजवते देयम् नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥"

—अध्याय १२, श्लोक १९

'स्त्रियों की उत्पत्ति अपत्यार्थ हुई है । स्त्री क्षेत्र के तुल्य है और पुरुष बीज के तुल्य । स्त्री रूपी क्षेत्र पुरुष रूपी बीज को ही दिया जा सकता है । बीज-रहित पुरुष स्त्री रूपी क्षेत्र का अधिकारी नहीं हो सकता ।'

(ख) "मृते भर्तरि संप्राप्तान्देवरादीनपास्य या ।
उपगच्छेत्परं कामात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥"

—अध्याय १२, श्लोक २०

इस श्लोक के अनुसार स्त्री अपने पति की मृत्यु के अनन्तर अपने देवर के साथ विवाह कर सकती है । गुप्तकालीन नारद-स्मृति के उपर्युक्त निर्देशों

---

१. जर्नल ऑफ बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४, पृष्ठ २४८
२. भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ २०१-२०३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुसार चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी के साथ विवाह का पूर्ण अधिकार था। इस स्थल पर विचारणीय हो जाता है कि देवीचन्द्रगुप्तम् के जो उद्धरण नाट्य-दर्पण में दिये गये हैं, उनमें रामगुप्त के लिए 'क्लीव' तथा ध्रुवस्वामिनी के लिये 'क्षेत्रीकृता' शब्दों का प्रयोग किया गया है। नारद-स्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि क्लीव पुरुष स्त्री रूपी क्षेत्र का अधिकारी नहीं हो सकता। यदि यह विवाह शास्त्रसम्मत नहीं होता, तो ध्रुवदेवी से उत्पन्न कुमारगुप्त चन्द्रगुप्त का वैधानिक उत्तराधिकारी नहीं हो पाता।

(५) साहसांक का तादात्म्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उसकी मुद्राओं के ऊपर 'विक्रमांक' उपाधि आती है। साहसांक एवं विक्रमांक एक दूसरे के पर्याय हैं। शकराज के शिविर में प्रवेश करने तथा उसको अकेले मार डालने में उसने जो विलक्षण साहस दिखाया, उसके कारण वह साहसांक उपाधि को चरितार्थ करता था। उसका पिता समुद्रगुप्त पराक्रमांक की उपाधि पहले ही धारण कर चुका था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उज्जयिनी के साहसांक नामक नरेश का उल्लेख किया है, जो विद्वानों एवं कवियों का संरक्षक था।[1] यह नगर चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य का एक समृद्धिशाली राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र था। राजशेखर के अनुसार साहसांक ने अपने अन्तःपुर में एकमात्र संस्कृत के ही प्रयोग की आज्ञा दे रखी थी।[2] चन्द्रगुप्त द्वितीय भाषा एवं साहित्य के उत्थान का भक्त था। उसके लेखों की भाषा संस्कृत ही है। अतएव स्पष्ट है कि संजन, खंभात (कैम्बे) तथा संगली के लेखों के साहसांक से तात्पर्य इसी नरेश से है।

(६) प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त शकों से कन्याओं का उपहार (कन्योपायनदान) स्वीकार कर चुका था। संभव है कि इसका बदला लेने के लिए ही शकराज ने पराजित रामगुप्त से ध्रुवदेवी का उपहार माँगा हो।

(७) चन्द्रगुप्त ने अकेले ही शकराज की जो हत्या की, वह भी कोई असंगत

---

१. "वासुदेवसातवाहनसाहसांकादीन्सकलान्सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात्"
—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५

२. "स्वभवने हि भाषानियमनं यथा प्रभुर्विदधाति तथा भवति।" श्रूयते हि उज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा तेन संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एव प्रवर्तितो नियमः।"

—वही, पृष्ठ ५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बात नहीं थी। इसकी ओर संकेत करते हुए देवीचन्द्रगुप्तम् (शृंगारप्रकाश के उद्धृत अंश) में कहा गया है कि वीर पुरुष संख्या की परवाह नहीं करता।[1]

(८) रामगुप्त की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालने वाली कुछ मुद्राएँ हाल ही में प्रकाश में लाई गई हैं। १९४८ ई० में श्री परमेश्वरी लाल गुप्त को कुछ सिक्के प्राप्त हुए, जिनमें छह रामगुप्त के सिक्के लगते हैं। ये मुद्राएँ भिलसा के समीप उपलब्ध हुई थीं। इतिहास की दृष्टि से ये विचारणीय हैं। इनके मुख भाग पर विन्दु-परिधि के भीतर एक सिंह की आकृति उत्कीर्ण है। पृष्ठ भाग की ओर वृत्त के अन्दर ऊपरी हिस्से में अर्द्धचन्द्र तथा निचले हिस्से में राजा का नाम अंकित है। जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया के जिल्द १० (१९५० ई०) में इन मुद्राओं के चित्र प्रकाशित किये गये। संख्या १ वाली मुद्रा के ऊपर राजा का नाम रामगुप्त पढ़ा जा सकता है। संख्या २ वाली मुद्रा पर राम पाठ स्पष्ट है। वाकी चार मुद्राओं पर राजा के नाम के प्रारंभ और बाद वाले अक्षर तो मिट गये हैं, पर बीच वाले अक्षर क्रमशः मगु, मग, मगुत तथा मग पढ़े जा सकते हैं। श्री परमेश्वरी लाल गुप्त निम्न तर्कों के आलोक में इन्हें रामगुप्त की मुद्राएँ मानते हैं :—

(अ) इन मुद्राओं के राजा का नाम निस्सन्देह रामगुप्त ही रहा होगा। अभी तक इस नाम का केवल एक ही राजा ज्ञात है, जिसका उल्लेख देवीचन्द्र-गुप्तम् में हुआ है।

(ब) ये सभी ताँबे की मुद्राएँ हैं और इनकी तौल चन्द्रगुप्त द्वितीय की ताम्रमुद्राओं की तौल की तुलना में आती है।

(स) इनमें उत्कीर्ण लिपि गुप्तकालीन (चतुर्थ शताब्दी) है।

(द) ध्रुवस्वामिनी की वैशाली-मुद्रा पर भी सिंह की आकृति अंकित है। रामगुप्त की मुद्राओं पर सिंह उसी मुद्रा में बैठा हुआ प्रदर्शित किया गया है। ध्रुवस्वामिनी किसी समय रामगुप्त की पत्नी थीं। संभव है कि दोनों ने ही सिंह-प्रतीक का चुनाव किया हो। लगता है कि चन्द्रगुप्त के साथ विवाह के बाद भी ध्रुवस्वामिनी ने सिंह-प्रतीक को उत्कीर्ण कराना जारी रखा।

(य) रामगुप्त की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर वृत्त के भीतर अर्द्धचन्द्र तथा सम्राट् का नाम उत्कीर्ण हैं। यह विशेषता चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों में भी

---

१. "एकस्यापि विधूतकेसरजटाभारस्य भीताः मृगाः।
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति वहवो वीरस्य किं संख्यया॥"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दृष्टिगोचर होती है। इससे स्पष्ट है कि यह रामगुप्त गुप्तवंश का ही था।[1]

इन मुद्राओं का परीक्षण डॉ० अल्तेकर ने भी किया था। उनके अनुसार पहली और दूसरी संख्या वाली मुद्राएँ निश्चयात्मक रूप से रामगुप्त की ही हैं। प्रोफसर मिराशी, डॉ० एन०पी० चक्रवर्ती तथा श्री एच० कृष्णदेव आदि भी इससे सहमत हैं। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि जब समुद्रगुप्त ने पूर्वी मालवा को जीता, उस समय वहाँ ताम्रमुद्राओं के प्रचलन की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। इसके पश्चिम में शकों की ताम्रमुद्राएँ चालू थीं। उसके समय में एरण एक विशिष्ट केन्द्र था। संभव है कि यहाँ गुप्तों का कोई टकसाल-घर भी रहा हो। समुद्रगुप्त के ताँबे के सिक्के यहीं पर बनाये गये होंगे और कालान्तर में रामगुप्त ने इनका अनुकरण किया होगा। एरण से भिलसा (पूर्वी मालवा में स्थित) की दूरी केवल ४० मील ही है। अतएव व्यवहार के प्रसंग में रामगुप्त की मुद्राएँ यदि एरण से भिलसा पहुँच गई हों, तो यह कोई असंभव बात नहीं है। इन मुद्राओं पर उत्कीर्ण लेख की लिपि चतुर्थ शताब्दी की है। यही समय गुप्तवंशीय रामगुप्त का भी था।[2]

कृष्णदत्त वाजपेयी ने अपने लेख (जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, १९६१) में विद्वानों का ध्यान एरण से प्राप्त कुछ ताम्र-मुद्राओं की ओर आकर्षित किया है। ये मुद्राएँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) सिंह प्रकार तथा (२) गरुड़ प्रकार। इन मुद्राओं के एक ओर राम, रामगु, गुप्त, मगुप्त लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। इससे लगता है कि राजा का पूरा नाम रामगुप्त रहा होगा। द्वितीय वर्ग की मुद्राओं के दूसरी ओर गरुड़ का चित्र अंकित है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि यह राजा गुप्तवंशी रहा होगा। गुप्त-नरेशों की मुद्राओं पर गरुड़ का चित्र उत्कीर्ण मिलता है। उनकी आज्ञाएँ गरुड़ मुद्रा से अंकित की जाती थीं। भितरी की गुप्त-राजमुद्रा गरुड़ मुद्रा है। इन मुद्राओं की बनावट गुप्तकालीन मुद्राओं से समानता रखती है। इस वंश की मुद्राओं पर सिंह के भी चित्र अंकित हैं। डॉ० वाजपेयी ने जिन उपर्युक्त सिक्कों को प्रकाश में लाया, उन्होंने रामगुप्त की ऐतिहासिकता में एक नई जान डाल दी है। ये प्रमाणित करती हैं कि अब इस व्यक्ति को काल्पनिक मान कर इतिहास के पन्नों से उसका नाम मिटा देने की चेष्टा संगत न होगी। ये मुद्राएँ विश्वास उत्पन्न करती हैं कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच रामगुप्त ने किञ्चित् काल के लिये अवश्य राज्य किया था।

---

१. जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, जिल्द १२, पृष्ठ १०६
२. वही, पृष्ठ १०७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस स्थान पर विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाता है कि आधुनिक बेसनगर (प्राचीन विदिशा) से दो मील दूर दुर्जनपुर नामक ग्राम से तीन जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो सम्प्रति विदिशा-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन प्रतिमाओं की चरण-चौकी पर गुप्त-लिपि में लेख उत्कीर्ण हैं, जिनमें रामगुप्त नामक नरेश का उल्लेख आता है। यह नरेश जैन मतावलम्बी प्रतीत होता है। ये तीनों प्रतिमाएँ इसी राजा के द्वारा उत्कीर्ण कराई गई थीं। उत्कीर्ण-अभिलेख के अनुसार प्रथम मूर्ति जैन अर्हत् चन्द्रप्रभ की थी (अर्हतो चन्द्रप्रभस्य प्रतिमा)। उसके नाम के पूर्व 'भगवान्' शब्द भी जुड़ा हुआ है। इसका निर्माण उक्त सम्राट ने चेलुक्षमण नामक आचार्य के उपदेशानुसार कराया था। द्वितीय प्रतिमा पुष्पदन्त नामक जैनाचार्य की है। उसके भी नाम के पूर्व आदरसूचक 'अर्हत्' एवं 'भगवान्' शब्द संयुक्त हैं। तीसरी मूर्ति भी सम्भवतः आचार्य चन्द्रप्रभ की रही होगी। इस पर प्राप्य लेख खण्डित अवस्था में है।

दुर्भाग्यवश इनमें वंशावली एवं तिथियाँ नहीं दी गई हैं। तथापि यह राम-गुप्त इस नाम के गुप्तवंशी नरेश से समीकृत किया जा सकता है। उपर्युक्त लेखों के अनुसार उसकी उपाधि 'महाराजाधिराज' थी। उत्कीर्ण अक्षरों की बनावट समुद्रगुप्त के एरण-अभिलेख तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साँची-लेख के अक्षरों के स्वरूप से साम्य रखती है। ये दोनों स्थान पूर्वी मालवा में आते थे तथा गुप्त-काल में महत्त्वपूर्ण केन्द्र माने जाते थे। विदिशा (बेसनगर) भी पूर्वी मालवा का सुप्रसिद्ध नगर था और उक्त तीनों लेख इसी क्षेत्र के समीप (दुर्जनपुर से) प्राप्त हैं। इस भू-भाग (पूर्वी मालवा) का महत्त्व समुद्रगुप्त के काल में बढ़ गया था। एरण के लेख के अनुसार वहाँ पर वर्तमान 'ऐरिकिण प्रदेश' (आधुनिक सागर जिला) उक्त नरेश का स्वभोग-नगर था। संभव है कि वहाँ उस समय गुप्तों का कोई टकसाल-गृह भी रहा हो। उपर्युक्त लेख में 'गृहेषु' शब्द का उल्लेख मिलता है। इससे लगता है कि वहाँ गुप्तों का राजप्रासाद भी उस समय वर्तमान था। सम्भव है कि समुद्रगुप्त के काल में इस नगर में गुप्त-राजवंश की कोई द्वितीय-राजधानी भी वर्तमान रही हो। कालान्तर में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में उज्जयिनी-विजय के पश्चात् एरण से इस नगर में गुप्त-साम्राज्य की द्वितीय राजधानी स्थानान्तरित कर दी गई होगी।

उपर्युक्त मूर्तियों की निर्माण-शैली गुप्त-प्रतिमाओं की विशेषताओं से साम्य रखती है। यहाँ पर सन्देह उठाया जा सकता है कि यह रामगुप्त तो जैन मताव-लम्बी था। इसके प्रतिकूल गुप्त-नरेश सुप्रसिद्ध 'परमभागवत' (वैष्णव धर्म के अनुयायी) थे। अतएव इस नरश को गुप्तवंशीय हम क्यों माने? परन्तु हमें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह नहीं भूलना चाहिए कि जैन मतावलम्बी राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष 'नृपतुंग' ने अपने सुप्रसिद्ध संजन-लेख में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के प्रति घृणा तथा उसके अग्रज के प्रति सहानुभूति दिखाई है। वह जिनसेन नामक आचार्य का शिष्य था। उसने गुणभद्र नामक जैनाचार्य को अपने युवराज कृष्ण द्वितीय का गुरु नियुक्त किया था। उसने बनवासी में जैन मठों की स्थापना की थी। उसने जैन धर्म-विहित 'अकिञ्चनता' के अनुसरण-हेतु संन्यास भी ग्रहण किया था। महावीराचार्य के 'गणित-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ में उसके द्वारा जैन-दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख भी मिलता है।[1] अमोघवर्ष के द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय के 'अग्रज' (अर्थात् रामगुप्त) के प्रति सहानुभूति-प्रदर्शन का कारण उसका जैन-धर्मावलम्बन हो सकता था। सम्भव है कि जिस प्रकार उत्तर-काल में बुधगुप्त, बालादित्य एवं वज्र आदि गुप्त-नरेशों ने बौद्ध-धर्म का अनुसरण किया था, उसी भाँति पूर्वकाल में समुद्र-गुप्त के इस उत्तराधिकारी (रामगुप्त) ने जैन धर्म का अवलम्बन कर लिया हो। पूर्वी मालवा से शक-राज्य (पश्चिमी मालवा एवं सुराष्ट्र) लगा हुआ था। अतएव शकों के साथ उसका संघर्ष सम्भाव्य था।

●●

१. दी एज ऑफ इम्पीरियल कनौज, पृष्ठ २९०–९१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

८

चन्द्रगुप्त द्वितीय, 'विक्रमादित्य'

"असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥"
—रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक २१–२२

"मगध-देश का यह राजा बड़ा ही पराक्रमी है और अपनी शरण में आने वाले की रक्षा करता है। अपनी प्रजा को सुख देकर इसने बड़ा नाम अर्जित किया है। इसका नाम परंतप है और यह सचमुच परंतप (अपने शत्रुओं को ताप देने वाला) है। भले ही हजारों नरेश आविर्भूत हुए हैं, पर यह वसुन्धरा इस नरेश के द्वारा ही राजा से युक्त हुई है। नाना नक्षत्र, तारा एवं ग्रह आदि से सुसज्जित रहने पर भी रात्रि एकमात्र चन्द्रमा के द्वारा ही ज्योत्सनायुक्त होती है।"

कालिदास की यह सुप्रसिद्ध सदुक्ति उनके समकालीन नरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के विषय में सबसे अधिक चरितार्थ होती है। महादेवी दत्तदेवी के गर्भ से उत्पन्न समुद्रगुप्त का यह पुत्र (महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रेण महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नेन) असाधारण प्रतिभा, अदम्य उत्साह एवं विलक्षण पौरुष से युक्त था। उसका राज्यकाल गुप्तवंशीय इतिहास के स्वर्णिम् परिच्छेद का प्रतिनिधित्व करता है तथा अपनी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण पुराविदों के द्वारा सम्यक् समादृत है।

साधन—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल के कई उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं। उनमें से कुछ तिथियुक्त भी हैं। कालक्रम की दृष्टि से मथुरा का स्तम्भ-लेख सर्वप्रथम अभिलेख है। संस्कृत गद्य में लिखा हुआ यह पहला प्रामाणिक गुप्त-लेख है, जिसमें तिथि का उल्लेख हुआ है। यह गुप्त–संवत् ६१ अर्थात् ३८० ई० में उत्कीर्ण किया गया था। इस अभिलेख में उसके राज्यकाल के किसी वर्ष (विजय-राज्य-संवत्सर) का उल्लेख किया गया था, परन्तु दुर्भाग्यवश इसके बाद वाले अक्षर मिट गये हैं और इस कारण हम इसका पता निश्चयात्मक रूप से लगाने में असमर्थ हैं। कतिपय विद्वानों ने इसे 'प्रथमे' (पहला वर्ष) और कुछ ने इसे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'पंचमे' (पाँचवाँ वर्ष) पढ़ा है। अन्तिम पाठ अधिक प्रामाणिक माना जाता है और इस कारण अनुमान किया जाता है कि यह लेख चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल के पाँचवें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था। इसमें उसके लिये 'परम-भट्टारक' एवं 'महाराज' की उपाधियाँ प्रयुक्त मिलती हैं। इस अभिलेख से व्यक्त होता है कि पाशुपत धर्म का लकुलीश-सम्प्रदाय इस नरेश के राज्य-काल में विशेष रूप से मथुरा में अत्यन्त लोकप्रिय था। परम्परा के अनुसार लकुलीश भगवान् शिव का अन्तिम अवतार था। इस आचार्य के चार मुख्य शिष्य थे, जिनमें कुशिक भी आता था। उसने अपने मत के प्रचार का केन्द्रविन्दु मथुरा को चुना, जो कि गुप्त-काल का एक वैभवशाली सांस्कृतिक केन्द्र था। उसने एवं उसकी शिष्य-परम्परा में आनेवाले आचार्यों ने कई पीढ़ी तक मथुरा में रह कर पाशुपत धर्म के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ चेष्टाएँ की थीं। इसके शिक्षक आचार्य कहलाते थे और मरणोपरान्त उन्हें 'भगवान्' की उपाधि से विभूषित किया जाता था। इस मत के अनुयायी प्रत्येक आचार्य की मृत्यु के पश्चात् उसके सम्मान में गुरु-मन्दिर (गुर्व्वायतन) में उसकी प्रतिमा की स्थापना कराते थे। इस अभिलेख में मथुरा के उदिताचार्य का उल्लेख आता है, जो कि 'भगवान्' कुशिक की दसवीं पीढ़ी में (भगवत्कुशिकाद्दशमेन) एवं पराशर की चौथी पीढ़ी में आता था (भगवत्पराशराच्चतुर्थेन)। पराशर एवं उदिताचार्य के बीच कपिलविमल एवं उपमित-विमल नामक आचार्य आते थे। उदिताचार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सम-कालीन एवं उपमितविमल का शिष्य था। उसने अपने पुण्य के विस्तार एवं गुरुओं की ख्याति की अभिवृद्धि के हेतु गुरु-मन्दिर में कपिलविमल एवं उपमितविमल की मूर्तियों की स्थापना की थी (स्वपुण्याप्यायननिमित्तं गुरूणां च कीत्यर्थमुप-मितेश्वर-कपिलेश्वरौ गुर्व्वायतने गुरू प्रतिष्ठापितौ)।

मथुरा से ही इस नरेश के शासन-काल का एक शिला-लेख भी मिला है, पर यह तिथियुक्त नहीं है। इस लेख का पता १८५३ ई० में कनिंघम ने लगाया था। यह अभिलेख लाल बालूदार प्रस्तरखण्ड पर उत्कीर्ण है। इस लेख को उसने १८६३ ई० में जर्नल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ३२ में प्रकाशित किया था। इस लेख की प्रथम बारह पंक्तियाँ खण्डित अवस्था में बची हुई हैं, परन्तु शेष पूर्णतः नष्ट हो गई हैं। इस लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय तक की गुप्त-वंशावली प्राप्य है।

इसके अतिरिक्त उसके दो अन्य महत्त्वपूर्ण लेख उदयगिरि (पूर्वी मालवा) से प्राप्त हुए हैं। इनमें एक तिथियुक्त तथा दूसरे में किसी तिथि का उल्लेख नहीं है। इन दोनों अभिलेखों के सम्मिलित साक्ष्य से प्रतीत होता है कि पूर्वी मालवा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

गुप्त-साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। तिथियुक्त लेख का पता कनिंघम महोदय ने १८५४ ई० में लगाया था। उसने इसे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भिलसा टोप्स' (भिलसा-स्तूप) द्वारा प्रकाश में लाया था। इस अभिलेख को दूरतर प्रसिद्धि में लाने का श्रेय श्री टामस एवं प्रोफेसर यच० यच० विल्सन को है। उदय-गिरि की पहाड़ी पर इस नाम के एक ग्राम के समीप वर्तमान गुफा की भीतरी दीवाल पर यह लेख उत्कीर्ण मिलता है। यह ग्राम आधुनिक भिलसा के समीप स्थित है। यह गुफा तथा इसके भीतर प्राप्य अभिलेख दोनों ही वैष्णव धर्म से संबन्धित हैं। लेख की भाषा संस्कृत गद्य है। गुप्त-संवत् ८२ (४०१ ई०) के आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को यह लेख उत्कीर्ण किया गया था। इस गुफा की दीवाल पर भगवान् विष्णु की प्रतिमा भी अंकित मिलती है। इस लेख को सनकानीक महाराज ने उल्लिखित कराया था, जो कि महाराज छगलग का पौत्र एवं महाराज विष्णुदास का पुत्र था।

उदयगिरि के दूसरे लेख का भी पता लगाने का वास्तविक श्रेय कनिंघम महोदय को ही है। उसने इसे १८८० ई० में आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया जिल्द १०, में प्रकाशित किया था। मूल लेख के साथ राजा शिव प्रसाद-कृत अंग्रेजी अनुवाद भी छपा था। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि कनिंघम के पाठ में कुछ अशुद्धियाँ थीं। इन दोषों का शुद्धीकरण डॉ० ई० हुल्श के द्वारा १८८२ ई० में इंडियन ऐंटिक्वैरी, जिल्द ११ में किया गया। यह लेख भी एक गुफा की भीतरी दीवाल पर उत्कीर्ण है। गुफा एवं लेख दोनों ही शैव धर्म से संबन्धित हैं। इस लेख को चन्द्रगुप्त द्वितीय के सान्धिविग्रहिक, सचिव शाब (उपनाम वीरसेन) ने उत्कीर्ण कराया था। वह एक मर्मज्ञ विद्वान् भी था तथा उक्त सम्राट् के साथ किसी दिग्विजय के प्रसंग में पूर्वी मालवा (उदयगिरि) आया था।

प्रयाग जिले में वर्तमान गढ़वा नामक ग्राम से भी इस नरेश का एक अन्य अभिलेख (गुप्त संवत् ८८ = ४०७ ई०) प्राप्त हुआ है। यह ग्राम करछना तहसील में अरैल के पास स्थित है। यह लेख एक प्रस्तर-खण्ड पर उत्कीर्ण है, जो कि गढ़वा के एक आधुनिक घर की दीवाल के निर्माण में प्रयुक्त हुआ था। इसका पता १८७२ ई० में राजा शिव प्रसाद ने लगाया था। लेख में कुल सोलह पंक्तियाँ हैं और यह दो भागों में विभक्त है। इन पंक्तियों के अधिकांश भाग नष्ट हो गये हैं। इस लेख से ज्ञात होता है कि गढ़वा में एक सत्र (दानगृह) वर्तमान था। लेख के प्रथम भाग के अनुसार मातृदास नामक व्यक्ति ने इस दानगृह में रहने वाले ब्राह्मणों की आर्थिक सहायता के निमित्त दस दीनार दान-स्वरूप दिया था। लेख के दूसरे भाग में पाटलिपुत्र का उल्लेख मिलता है जहाँ पर चन्द्रगुप्त द्वितीय

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

की राजधानी वर्तमान थी। इसके अनुसार किसी गृहस्थ की भार्या ने दस दीनार गढ़वा के उसी दानगृह में रहने वाले ब्राह्मणों की आर्थिक सहायता के निमित्त प्रदान किया था। लगता है कि जिस प्रस्तर-खण्ड पर यह लेख उत्कीर्ण है पहले उसी दान-गृह की किसी दीवाल का भाग रहा होगा तथा उक्त दोनों दानों के संबन्ध में प्रमाण के रूप में यह लोगों के सूचनार्थ उसी भित्ति में जड़ दिया गया होगा।

तिथि-क्रम की दृष्टि से साँची का लेख (गुप्त संवत् ९३=४१२ ई०) इस नरेश के शासन-काल का अन्तिम अभिलेख है। इस लेख को प्रकाश में लाने का वास्तविक श्रेय श्री जेम्स प्रिन्सेप को है। साँची एक ग्राम का नाम है, जो कि भूपाल में स्थित दीवानगंज तहसील के इसी नाम के मुख्य नगर से बारह मील की दूरी पर उत्तर-पूर्व दिशा में वर्तमान है। इस गाँव को कभी-कभी साँची-कनकखेड़ा भी कहा जाता है। साँची के महाचैत्य (ग्रेट स्तूप) की वेदिका के पूर्वी तोरण पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसकी भाषा संस्कृत है और आद्योपान्त यह गद्य में लिखा गया है। यह लेख जो कि भाद्रपद की चतुर्थी को उत्कीर्ण किया गया था बौद्ध धर्म से संबन्धित है। इस अभिलेख के अनुसार साँची का प्राचीन नाम 'काकनादबाट' अथवा 'काकबाट' (काकों का निवास-स्थान) था। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित काक जाति के लोग वहाँ निवास करते थे। इस अभिलेख में साँची में स्थित महाविहार (काकनादबाट-श्रीमहाविहार) का उल्लेख मिलता है जिसमें शील, समाधि एवं प्रज्ञा आदि सद्गुणों से युक्त चतु-र्दिशाओं से आए हुए श्रमण रहते थे। इस अभिलेख में आम्रकार्द्दव नामक एक उच्च सैनिक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है जिसे अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने का श्रेय था (अनेक-समरावाप्त-विजय-यशस्पताकः)। वह सुकुलि देश में वर्तमान नष्टि नामक स्थान का नागरिक एवं उदान नामक व्यक्ति का पुत्र था। इस अभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रिय नाम 'देवराज' बताया गया है। इसमें आम्रकार्द्दव के द्वारा ईश्वरवासक ग्राम एवं पचीस दीनारों के दान का वर्णन मिलता है। यह दान उसने पञ्चायत (पञ्चमण्डली) के समक्ष बड़े ही विनीत भाव से (प्रणिपत्य) किया था। इस दान के आधे के सूद से पाँच भिक्षुओं के प्रति दिन के भोजन एवं रत्नगृह में दीपक जलाने का खर्च चलाया जाता था। दान के द्वितीयार्द्ध का भी उद्देश्य उक्त महाविहार में निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था एवं रत्नगृह में दीपक जलाने का प्रबन्ध था। रत्नगृह से तात्पर्य मठ के किसी विशेष कमरे से लगता है जहाँ पर त्रिरत्न (धर्म, संघ एवं बुद्ध) के प्रतीकों की स्थापना की गई थी। साँची का यह अभिलेख महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

सूचनाओं से परिपूर्ण है। इसमें गुप्त-युगीन संस्कृति की कितनी ही कड़ियाँ स्थूल एवं सूक्ष्म—दोनों ही रूपों में प्राप्य हैं।

केवल मथुरा के शिला-लेख को छोड़ कर, अन्य सभी उपर्युक्त लेख कर्मचारियों एवं धर्मपरायण व्यक्तियों द्वारा उत्कीर्ण कराए गए थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति अथवा स्कन्दगुप्तकालीन भितरी-प्रशस्ति जैसा राजकीय लेख इस नरेश के काल का नहीं प्राप्त हो सका है। अतएव उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं के विषय में उतनी प्रामाणिक एवं यथातथ्य जानकारी उपलब्ध होने से रह जाती है जितनी कि अपेक्षित है। तथापि उसके समय के उपलब्ध लेखों की ऐतिहासिक उपादेयता निर्विवाद है। इन अभिलेखों के आधार पर उसके शासन-काल के वर्षों, दिग्विजय तथा तत्कालीन कला एवं संस्कृति के बहुल पक्षों के विषय में प्रामाणिक परिचय प्राप्त होता है।

इस नरेश के शासन-काल में गुप्त मुद्रा-कला पूर्व काल की समता में अधिक विकसित हुई। उसने समुद्रगुप्त के समय की मुद्राओं के आदर्श पर सिक्कों को प्रचलित किया तथा साथ ही मौलिक प्रकार की मुद्राओं को भी जन्म दिया। उसकी सुवर्ण मुद्राएँ (धनुर्धरांकित, छत्र, पर्यंक, सिंह-हनन, अश्वारूढ़, राजा-रानी, ध्वजधारी एवं चक्रविक्रम कोटि की मुद्राएँ) उसके व्यक्तित्व, कृतियों एवं साम्राज्य-विस्तार आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। उसकी मुद्राओं की बहुलता एवं प्रसार आदि उसके साम्राज्य के वैभव एवं उत्कर्ष के ज्वलन्त परिचायक हैं। गुप्त-नरेशों में सबसे पहले उसी ने चाँदी के सिक्के प्रचलित किये और उन्हीं के आदर्श पर उसके उत्तराधिकारियों ने भी अपनी रजत् मुद्राओं का प्रवर्तन किया था। उसकी रजत् मुद्राएँ विशेष रूप से उसकी पश्चिमी विजय-यात्रा एवं राज्य-सीमा को समझने में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन ताम्र-मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व उच्च कोटि का है। उसके समय के प्राप्त सिक्के अभिलेखीय प्रमाणों का यत्र-तत्र समर्थन तो करते ही हैं, पर साथ ही वे बहुमूल्य स्वतंत्र सूचनाएँ भी प्रदान करते हैं।

साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी उसका राज्यकाल चिरस्मरणीय माना जाता है। यद्यपि कालिदास की तिथि की समस्या अभी तक सुलझाई नहीं जा सकी है तथापि अधिकांशतः विद्वान् इस विचार से सहमत हैं कि उनका प्रादुर्भाव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही काल में हुआ था।

साहित्यिक साधनों में सर्वप्रथम कालिदास-प्रणीत रचनाएँ उल्लेखनीय हैं, उदाहरणार्थ रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, ऋतुसंहार, विक्रमोर्वशीयम्, माल-

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

विकाग्निमित्रम् एवं अभिज्ञानशकुन्तलम्। ये उत्कृष्ट ग्रंथ तत्कालीन राजत्वसम्बन्धी आदर्श, वेशभूषा, अलंकार-प्रसाधन तथा सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन के नाना महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य-काल पर आंशिक रूप में प्रकाश डालने वाले ग्रंथों में भोजकृत शृंगार-प्रकाश एवं क्षेमेन्द्रकृत औचित्यविचारचर्चा उल्लेखनीय हैं। फाहियान का यात्रा-विवरण भी इस समय के इतिहास के पुनर्निर्माण में उपयोगी सिद्ध हुआ है। वह लिखता है कि इस सम्राट् के शासनकाल में लोग सुखी थे तथा उन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक प्राप्त थी।

राज्याभिषेक-तिथि—उसके राज्य-काल का सबसे प्रथम लेख मथुरा का स्तंभ-लेख है, जिसकी तिथि गुप्त-संवत् ६१ (अर्थात् ३८० ई०) है। हम इस तथ्य की ओर पहले ही ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं कि यह प्रथम प्रामाणिक तिथियुक्त लेख है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह अभिलेख उसके शासन-काल के पाँचवें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था (राज्यसंवत्सरे पंचमे)। इससे स्पष्ट है कि उसका राज्याभिषेक गुप्त-संवत् ५६ (३७५ ई०) में सम्पन्न हुआ होगा। मथुरा के इस अभिलेख की प्राप्ति के पूर्व उदयगिरि का गुहा लेख (गुप्त संवत् ८१ = ४०१ ई०) इसका प्रथम अभिलेख माना जाता था। इससे डॉ० विन्सेन्ट स्मिथ आदि विद्वान् इसके राज्यकाल का प्रारंभ गुप्त-संवत् ८२ अर्थात् ४०१ ई० से मानते थे। पर मथुरा के उपर्युक्त लेख की प्राप्ति के अनन्तर अब यह निश्चित हो चुका है कि इस तिथि के २६ वर्ष पूर्व अर्थात् ३७५ ई० में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्यारोहण हो चुका था।

नाम एवं उपाधियाँ—इस नरेश के कतिपय अन्य नाम भी थे। साँची के लेख में उसका प्रिय नाम देवराज बताया गया है (महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य देवराज इति प्रियनाम्नः)। प्रवरसेन द्वितीय की चमक की प्रशस्ति में प्रभावती-गुप्ता को महाराजाधिराज श्रीदेवगुप्त की पुत्री कहा गया है (महाराजाधिराज-श्रीदेवगुप्तसुतायां प्रभावतीगुप्तायाम्)। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक अन्य नाम देवगुप्त भी था। कुछ मुद्राओं पर उसे 'देवश्री' कहा गया है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को देव कहा गया है। देव शब्द से चन्द्रगुप्त द्वितीय के नाम का प्रारंभ गुप्त-सम्राट् की दैवी उत्पत्ति में लोगों के विश्वास को व्यक्त करता है। अभिलेखों और मुद्राओं के द्वारा ज्ञात होता है कि उसकी कई उपाधियाँ थीं; उदाहरणार्थ नरेन्द्र-चन्द्र, सिंह-चन्द्र, नरेन्द्र-सिंह, सिंहविक्रम, विक्रम, विक्रमांक, विक्रमादित्य तथा रूपाकृति आदि। ये उपाधियाँ उसकी महानता एवं राजनीतिक प्रभाव पर प्रकाश डालती हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैवाहिक सम्बन्ध—हेमचन्द्र रायचौधरी के शब्दों में गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्ध उनकी बाह्य नीति में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।[1] इनके द्वारा उनकी शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार में निश्चयात्मक रूप से योगदान प्राप्त हुआ। लिच्छवियों के साथ उनके विवाह-सम्बन्ध ने उत्तर-पूर्व भारतवर्ष में उनकी स्थिति को सुदृढ़ किया था। हर्यंकवंशी नरेश बिम्बिसार की भाँति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी अपने समकालीन-राजवंशों के साथ विवाह-सम्बन्ध द्वारा अपनी शक्ति का प्रसार किया था। प्रयाग-प्रशस्ति में शक एवं कुषाण आदि के साथ उसके पिता समुद्रगुप्त के विवाह-सम्बन्ध (कन्योपायन) का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय भी समुद्रगुप्त की भाँति नीतिनिपुण एवं सूक्ष्मदर्शी था। उसके विवाह-सम्बन्धों का राजनीतिक महत्त्व था और इनमें हम उसके राजनय एवं विलक्षण सूझ-बूझ का सुन्दर परिचय पाते हैं। निम्न राजवंशों के साथ उसके विवाह-सम्बन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) **नागवंश**—नागवंश का राजनीतिक इतिहास गुप्तों से भी प्राचीन है। उनके आविर्भाव के समय इस वंश के लोग शक्तिशाली माने जाते थे और उनकी विभिन्न शाखाएँ पद्मावती, विदिशा, मथुरा तथा अहिच्छत्र में शासन करती थीं, जो कि तत्कालीन प्रमुख ऐतिहासिक केन्द्र थे। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त को नागदत्त, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत तथा नन्दि आदि के साथ युद्ध करना पड़ा था। ये सभी नागवंशी थे। यद्यपि ये नरेश उसके द्वारा पराजित किये गये तथापि नागवंश का समूल विनाश नहीं हुआ था। इस वंश के लोगों के साथ अपने सम्बन्ध को सुदृढ़ करने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना विवाह नागवंश की राजकुमारी कुवेरनागा से किया था। इससे प्रभावतीगुप्ता नामक राजकन्या उत्पन्न हुई थी। पूना के ताम्रलेख में महादेवी कुवेरनागा को नागकुल में उत्पन्न (नागकुलसंभूता) कहा गया है। डॉक्टर मजुमदार का कथन है कि इस सम्बन्ध के कारण इस गुप्त नरेश को अपनी नवस्थापित सार्वभौम सत्ता को सुदृढ़ करने में सहायता उपलब्ध हुई।[2]

(२) **वाकाटक वंश**—इस वंश के लोग दक्षिणापथ के शासक थे और भारतवर्ष की महती शक्तियों में उनकी गणना होती थी। दक्षिणी सैनिक अभियान में समुद्रगुप्त ने वाकाटकों के साथ कोई संघर्ष नहीं किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर

---

१. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५५४

२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १५६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाकाटकों की सहानुभूति को प्राप्त कर लिया। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि वाकाटकों ने शकों के विरुद्ध गुप्तों की ठोस सहायता की थी। विन्सेन्ट स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि वाकाटक-नरेश के राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि वह उज्जयिनी के शक-क्षत्रपों के विरुद्ध किसी भी उत्तरी भारत की शक्ति के लिए उपयोगी तथा अनुपयोगी दोनों ही सिद्ध हो सकता था।[1] रुद्रसेन द्वितीय की अल्पावस्था में ही मृत्यु हो गई थी। उस समय उसका ज्येष्ठ पुत्र दिवाकर-सेन केवल पाँच वर्ष तथा कनिष्ठ पुत्र दामोदरसेन केवल दो ही वर्ष का था। अतएव प्रभावतीगुप्ता को वाकाटक वंश के शासन की बागडोर संरक्षिका के रूप में लगभग २० वर्षों तक सँभालनी पड़ी थी। इस अवधि में उसने अपने पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सुयोग्य पर्यवेक्षण में शासन किया होगा। उसके पूना के ताम्रलेख में वाकाटक-वंशवृक्ष के स्थान पर गुप्त-वंशवृक्ष का उल्लेख मिलता है। इसमें उसने अपने पिता का नामोल्लेख बड़ी ही श्रद्धा के साथ किया है। पूना का ताम्रलेख पूर्वी गुप्तलिपि में उत्कीर्ण है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र से आये हुए किसी गुप्त कर्मचारी के द्वारा यह लेख उत्कीर्ण किया गया था। तेरह वर्ष की अल्पावस्था में दिवाकरसेन की मृत्यु हो गई। अतएव दामोदरसेन अपने पिता की गद्दी का एकमात्र उत्तराधिकारी रह गया था। दामोदरसेन ने राज्याभिषिक्त होने के अनन्तर अपना नवीन नाम प्रवरसेन (द्वितीय) रखा। एक साहित्यिक परम्परा के अनुसार सेतुबन्धु की रचना इसी प्रवरसेन ने की थी और कालिदास ने इसका संशोधन किया था। संभव है कि नवयुवक दामोदरसेन (प्रवरसेन) की शिक्षा के निमित्त उसके मातामह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कालिदास को उसका आचार्य नियुक्त किया हो। प्रवर-सेन रामगिरिस्वामी की बड़ी श्रद्धा करता था। प्रभावतीगुप्ता ने अपना अन्तिम दान उसकी उपस्थिति में दिया था (रामगिरिस्वामिन्-पादमूलात्)। संभव है कि प्रभावतीगुप्ता और प्रवरसेन के साथ कालिदास भी रामटेक (राम-गिरि) आये हों तथा इस स्थान से वे इसी कारण अत्यधिक प्रभावित रहे हों। मेघदूत में रामटेक (रामगिरि) का उल्लेख विरही यक्ष के निष्कासन-स्थान के रूप में हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के अनुसार शाप के दिन काटने के निमित्त उसने रामगिरि (रामटेक) के उन आश्रमों में डेरा डाला जहाँ के कुण्डों, तालाबों और बावड़ियों का जल श्रीजानकी जी के स्नान से पवित्र हो गया था एवं जहाँ

---

१. ज० रॉ० ए० सो०, १९१४, पृष्ठ ३२४

२. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ११२, पा० टि० २

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

घनी छाया वाले बहुत से वृक्ष लहलहा रहे थे ।[1] प्रवरसेन द्वितीय के पट्टन ताम्रपत्र में इस लेख के रचयिता का नाम कालिदास बताया गया है (लिखितं कालिदासेन) ।[2] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि यह कालिदास कवि-सम्राट् कालिदास से विभिन्न था । इस सम्बन्ध में अपना विचार अभिव्यक्त करते हुए वासुदेव विष्णु मिराशी ने कहा है कि पट्टन के ताम्रलेख का रचयिता कालिदास कोई साधारण कोटि का लेखक था । इस अभिलेख में निबन्ध एवं व्याकरण की नाना त्रुटियाँ उपलब्ध होती हैं । सन्धि एवं अलंकार से सम्बन्धित जैसी अशुद्धियाँ उक्त लेख में प्राप्य हैं वे कविकुल-कुमुद-कलाधर कालिदास सदृश उच्च कोटि के लेखक से सम्भव नहीं हो सकती थीं । वाकाटक-ताम्रलेखों में उच्च एवं साधारण ऐसे अनेक कर्मचारियों के नाम उपलब्ध होते हैं, जिनके नाम के अन्त में 'दास' शब्द संयुक्त मिलता है; उदाहरणार्थ गोलदास, मारदास, चक्रदास, चमिदास एवं नमिदास । पट्टन-ताम्रपट का लेखक कालिदास वाकाटकों के राज्य का कोई साधारण कोटि का कर्मचारी प्रतीत होता है । लगता है कि वह सेनापति के कार्यालय-का संभवतः लिपिक था (सेनापतिकात्यायनसन्तकेन) ।[3] वाकाटक-अभिलेखों में चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का नामोल्लेख बड़े ही आदरपूर्वक हुआ है (सर्वराजोच्छेता पृथिव्यामप्रतिरथः श्रीचन्द्रगुप्तः) । इनमें प्रभावतीगुप्ता को दोनों कुलों का अलंकार कहा गया है (उभयकुलालंकारभूता) । इन प्रमाणों से चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में गुप्तों एवं वाकाटकों के प्रेमपूर्ण सम्बन्ध के विषय में सुन्दर परिचय उपलब्ध होता है ।

कदम्ब वंश—इसकी गणना दक्षिणी भारतवर्ष के सुप्रतिष्ठित राजवंशों में होती थी । यह एक ब्राह्मण वंश था, जिसके नरेश कुन्तल-प्रदेश के शासक थे । अतएव प्राचीन साहित्य में इन्हें 'कुन्तलेश्वर' भी कहा गया है । इतिहास के पृष्ठों में वे वैजयन्ती अथवा बनवासी के कदम्बों के नाम से भी सुविख्यात हैं । प्राचीन कुन्तल का प्रतिनिधित्व आज के कनाड़ी जिले करते हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने दक्षिण भारत के इस शक्तिशाली राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना सामयिक परिस्थितियों के आलोक में व्यावहारिक एवं औचित्य-

---

१. "यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु"

—पूर्वमेघदूत, श्लोक १

२. मिराशी, वासुदेव विष्णु, वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ २०२

३. वही, पृष्ठ २०३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पूर्ण समझा होगा। इस सम्बन्ध की ओर संकेत शान्तिवर्मा के तालगुण्ड के स्तम्भ-लेख में उपलब्ध होता है। इस अभिलेख के अनुसार काकुत्स्थवर्मा नामक कदम्ब-वंशी नरेश की राजकन्या गुप्त-कुल में व्याही हुई थी :—

"गुप्तादि-पार्थिव-कुलाम्बुरुहस्थलानि
स्नेहादर-प्रणय-सम्भ्रम-केसराणि ।
श्रीमन्त्यनेक-नृपषट्पद-सेवितानि
योऽबोधयद्ध्हितृ-दीधितिभिर्नृपार्कः ॥"

यह नरेश (काकुत्स्थवर्मा द्वितीय) चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का समकालीन रहा होगा। लगता है कि इसने अपनी किसी पुत्री का विवाह उपर्युक्त गुप्त-वंशी सम्राट् के युवराज कुमारगुप्त प्रथम के साथ किया। भोज के श्रृंगार-प्रकाश एवं क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचारचर्चा से लगता है कि इन दोनों विशिष्ट भारतीय राजवंशों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेमपूर्ण रहा होगा। श्रृंगार-प्रकाश में कालिदास के द्वारा उल्लिखित एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार विक्रमादित्य ने उन्हें अपना राजदूत बनाकर कुन्तल-नरेश (कुन्तलानां अधीशः) के पास भेजा था। कुन्तल से लौटने के पश्चात् उन्होंने विक्रमादित्य को सूचित किया कि हे राजन् ! इस समय कुन्तल-नरेश ने अपने राज्य का भार आपके ऊपर सौंप दिया है और स्वयं स्मित हास्य के कारण मधुर कान्ति से युक्त दीर्घ कटाक्षों वाली प्रियाओं के साथ आनन्द एवं भोग में रत है :—

"असकलहसतित्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि ।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥"

क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचारचर्चा से ज्ञात होता है कि कालिदास ने 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अप्राप्य है अन्यथा कालिदास की तिथि आज इतनी विवादास्पद नहीं होती। इस ग्रन्थ से क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचारचर्चा में एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि विक्रमादित्य ने कालिदास को सचमुच ही अपने राजदूत के रूप में कुन्तल-नरेश के दरबार में भेजा था।[1] इस विक्रमादित्य की पहचान चन्द्रगुप्त

---

१. "यथा कुन्तलेश्वर दौत्ये कालिदासस्य—
इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणाम्,
इह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विक्रमादित्य से की जा सकती है। उनके समय में कुन्तल के शासक कदम्ब वंशी नरेश अत्यन्त प्रसिद्धि में आ चुके थे। उन्होंने इस राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसके सौहार्द को जीतना अनुकूल पाया होगा। इसी प्रेमपूर्ण सम्बन्ध के कारण दोनों राजवंशों के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान हुआ होगा। यह भी संभव है कि राजदूतों के अतिरिक्त कवि, लेखक एव सुयोग्य कर्मचारी भी गुप्तों के दरबार से कदम्बों की राजधानी में भेजे गये हों। उल्लेखनीय है कि तालगुण्ड-प्रशस्ति में कुछ ऐसी पदावलियाँ प्राप्य हैं, जो कि स्कन्दगुप्त के भितरी के स्तम्भ-लेख में भी आती हैं; उदाहरणार्थ 'प्रथितयशा', 'पृथुश्रीः', 'पृथुरिव' इत्यादि। तालगुण्ड-अभिलेख भितरी के उक्त लेख के उपरान्त उत्कीर्ण किया गया था। अतएव सम्भावना हो सकती है कि गुप्तों के किसी दरबारी कवि के द्वारा ही तालगुण्ड-प्रशस्ति लिखी गई हो।

डॉ० रायचौधरी ने 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इण्डिया' नामक ग्रन्थ में विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि कनाड़ी जिलों के कतिपय मध्यकालीन सामन्त अपने आप को विक्रमादित्य की सन्तति मानते थे, जो कि पाटलिपुत्र नामक श्रेष्ठ पुर (पाटलिपुत्र-पुरवर-अधीश्वर) एवं उज्जयिनी नामक उत्कृष्ट नगर के सुप्रसिद्ध चक्रवर्ती नरेश थे (उज्जयिनी-पुरवर-अधीश्वर)। स्पष्ट है कि यहाँ पर तात्पर्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही है, जिसके सुविस्तृत साम्राज्य में भारतवर्ष के ये दोनों ही सुविख्यात भव्य नगर सम्मिलित थे। आधुनिक कनाड़ी जिले प्राचीन कुन्तल प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। सम्भावना हो सकती है कि उक्त मध्यकालीन सामन्त, 'कुन्तलेश्वर कदम्ब वंश' के आधुनिक प्रतिनिधि हों। यह मध्यकालीन परम्परा गुप्त एवं कदम्ब वंशों के प्राचीन सम्बन्धों को निर्दिष्ट करती है। दक्षिणी राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति सुदूर दक्षिण में प्रसरित रही होगी। इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर सम्भवतः मेहरौली के अभिलेख

इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राज्यमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥"
(जैसा कि कालिदास के कुन्तलेश्वरदौत्य नामक ग्रंथ में कहा गया है—पर्वत-शिरोमणि सुमेरु जिस पृथ्वी पर निवास करता है, जहाँ सातों समुद्र अपना समस्त भार दिये हुए स्थित हैं, जो शेषनाग रूपी स्तम्भ के सहारे स्वयं सुशोभित है—वह धरणितल ही मेरे जैसे लोगों के लिये समुचित स्थान है।)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में कहा गया है कि सम्राट चन्द्र के प्रताप के सौरभ से दक्षिण समुद्र भी सुवासित हो उठता है (यस्याद्यापिऽधिवास्यते जलनिधिः वीर्य्यानिलैः दक्षिणः)।

दिग्विजय—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की गणना भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध विजेताओं में की जाती है। उसने अपने पिता समुद्रगुप्त के महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियान (धरणिबन्ध) के उत्कृष्ट उदाहरण का अनुसरण विलक्षण शौर्य एवं उत्साह के साथ करते हुए दिग्विजय का एक नवीन आदर्श भी प्रस्तुत किया था। इसी तथ्य को उदयगिरि के गुहा-लेख में 'कृत्स्नपृथ्वीजय' (सम्पूर्ण संसार को जीतना) कहा गया है। यह घटना समुद्रगुप्त के 'धरणिबन्ध' (पृथ्वी को बाँध देना) अथवा 'निखिल-भुवन-विजय' (सकल भूमण्डल को जीत लेना) का स्मरण दिलाता है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि 'कृत्स्नपृथ्वीजय' से तात्पर्य अखण्ड भारतवर्ष का एकराट् सम्राट बनने से है। इस पदावली के शाब्दिक अर्थ को लेकर इस निष्कर्ष पर नहीं आना चाहिए कि उसका लक्ष्य सम्पूर्ण भू-मण्डल का ही एकछत्र नरेश बनने से था। खेद है कि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के तुल्य दिग्विजय का खुला वर्णन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के अभिलेखों में नहीं प्राप्त होता। अन्यथा इस विषय के सम्बन्ध में हमारा परिचय अधिक पूर्ण एवं यथातथ्य होता। इस दोष के फलस्वरूप बहुत सी ज्ञातव्य बातों के विषय में जिज्ञासुओं की जानकारी अपेक्षित रूप में नहीं हो पाती। तथापि जो कुछ भी अभिलेखीय सामग्री उपलब्ध है वह कतिपय मूलभूत घटनाओं के इतिहास के पुनर्निर्माण में उपयोगी सिद्ध हुई है। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि नाग एवं वाकाटक राजवंशों की सहानुभूति एवं सहायता को वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से उसने प्राप्त कर लिया था। परन्तु शक-कुषाण जैसी विदेशी शक्तियों के उन्मूलन की कठिन समस्या उसके सामने थी। यह ठीक है कि इन शक्तियों ने समुद्रगुप्त का लोहा मान लिया था, पर उसके मरते ही वे उपद्रवी सिद्ध होने लगे। विशेष रूप से शकों के द्वारा बड़ी ही खतरनाक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी गईं।

शक-विजय—पहले हम देख चुके हैं कि देवीचन्द्रगुप्तम्, हर्षचरित, शृंगार-प्रकाश एवं काव्यमीमांसा आदि ग्रन्थों के अनुसार समुद्रगुप्त के निर्बल उत्तराधिकारी रामगुप्त के काल में शकों ने पूर्वकालीन 'कन्योपायनदान' (कन्याओं का उपहार चढ़ाने) का बदला लेने के निमित्त उसे असहाय अवस्था में पाकर ध्रुवदेवी की माँग-सम्बन्धी अपमानजनक प्रस्ताव को सामने रखा। क्लीव-जनतुल्य व्यवहार दिखाता हुआ रामगुप्त इसके निमित्त अपनी अनुमति देने को प्रस्तुत हो गया, पर वीरवर चन्द्रगुप्त ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर शक-राज को मार डाला एवं इस प्रकार उसने आपत्ति के समय में गुप्त-साम्राज्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अस्तित्व को बचा लिया। यह वास्तव में उसकी वीरता एवं अद्वितीय पुरुषार्थ का एक विलक्षण उदाहरण है। राज्याभिषेक के अनन्तर शकों से बदला लेने के निमित्त उसने एक बहुत बड़ी सैनिक तैयारी की, जिसके विषय में संकेत पूर्वी मालवा के तत्कालीन लेखों (अर्थात् उदयगिरि एवं साँची से प्राप्त अभिलेखों) द्वारा उपलब्ध होता है। शक-विजय के निमित्त सैनिक आधार उसने पूर्वी मालवा को ही बनाया था, जो कि उसके पिता के ही काल में गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था।

शक उस समय गुजरात, काठियावाड़ एवं पश्चिमी मालवा में राज्य करते थे। उदयगिरि के शैव गुहा-लेख से ज्ञात होता है कि यह सम्राट् सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने की इच्छा से अपने सान्धिविग्रहिक सचिव वीरसेन (शाब) के साथ पूर्वी मालवा में सैनिक शिविर डाले हुए पड़ा था। यह अमात्य सम्भवतः उसका महाबलाधिकृत (सेनानायक) भी था।[1] पूर्वी मालवा के पश्चिम से शकों का राज्य प्रारम्भ हो जाता था। इससे लगता है कि उसके सैनिक अभियान का लक्ष्य शक-राज्य को जीत लेना था। गुप्त-संवत् ८२ (४०१ ई०) वाले उदयगिरि के वैष्णव लेख के अनुसार भिलसा (पूर्वी मालवा) में सनकानीक महाराज, चन्द्रगुप्त द्वितीय की अधीनता में शासन करता था (चन्द्रगुप्तपादानुध्यात्)। गुप्त-संवत् ९३ (४१२ ई०) के साँची के लेख से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में आम्रकार्द्दव नामक पदाधिकारी ने 'काकनादबाटमहाविहार' को ईश्वरवासक नामक ग्राम एवं पचीस दीनार दानस्वरूप दिया था। इस कर्मचारी ने अनेक युद्धों में विजय के कारण यश की प्राप्ति की थी (अनेकसमरावाप्तविजययशस्पताकः)। उक्त तीनों लेखों (अर्थात् उदयगिरि के दोनों लेख एवं साँची के लेख) के अन्तः साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि पूर्वी मालवा में किसी महत्त्वपूर्ण विजय के प्रसंग में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आया हुआ था। उस अवसर पर उसके अमात्य, सामन्त एवं महत्त्वपूर्ण सैनिक कर्मचारी उपस्थित रहे होंगे। ये प्रमाण शक-विजय के निमित्त उसके सैनिक प्रस्थान की ओर संकेत करते हैं।

---

१. "अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः।
कौत्स शाब इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया॥
शब्दार्थ-न्याय-लोकज्ञः कविः पाटलीपुत्रकः।
कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः॥
भक्त्या भगवतः शम्भोः गुहामेतामकारयत॥"
—उदयगिरि का शैव लेख; सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २७२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शक-विजय के संबन्ध में सबसे सबल प्रमाण इस नरेश की रजत-मुद्राएँ हैं। उज्जयिनी के शकों की मुद्राओं की विशेषता यह थी कि उनके मुखभाग पर सम्राट् का ऊपरी शरीरार्द्ध तथा शक संवत् में तिथि का उल्लेख किया जाता था। इनके पृष्ठ भाग पर विन्दुसमूह तथा चैत्य उत्कीर्ण होता था। इन मुद्राओं की तौल लगभग ३३ ग्रेन हुआ करती थी। उल्लेखनीय है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की भी रजत-मुद्राओं की औसत तौल समान (३२ से लेकर ३३ ग्रेन) थी तथा इनके मुखभाग पर राजा के शरीरार्द्ध के चित्र का अंकन एवं गुप्त-संवत् में तिथि का उल्लेख किया गया था। इनके पृष्ठ भाग पर चैत्य के स्थान पर गरुड़ का चित्र अंकित है। इस नरेश के द्वारा शक-मुद्राओं का यह अनुकरण उसके शक-विजय की सूचना प्रदान करता है। प्राचीय भारतीय परम्परा के अनुसार सम्राट् अपने नव-विजित प्रदेश में पूर्व प्रचलित मुद्राओं के आधार पर अपनी मुद्राओं का प्रवर्तन करता था। शकों से छीने गये प्रदेश में अपने सिक्कों को प्रचलित करने के निमित्त उसे शक-मुद्राओं के अनुकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। रमेशचन्द्र मजुमदार ने विद्वानों का ध्यान सिंह-हनन् मुद्राओं की ओर आकृष्ट किया है। इन पर वह सिंह के आखेट में संलग्न अंकित किया गया है। ये मुद्राएँ समुद्रगुप्त की व्याघ्रहन्ता मुद्राओं से साम्य रखती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इन पर व्याघ्र के स्थान पर सिंह की आकृति प्राप्य है। डॉक्टर मजुमदार का कथन है कि यह परिवर्तन चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा गुजरात-विजय की ओर संकेत करता है, जहाँ के जंगलों में सिंह बहुसंख्या में प्राप्य थे। गुजरात में पहले शकों का राज्य था।

तिथि—इस नरेश के द्वारा शक कब हराये गये इसे प्रमाणाभाव के कारण सुनिश्चित बताना कठिन है। शक-मुद्राओं के ऊपर अन्तिम तिथि शक-संवत् '३१ क' उत्कीर्ण मिलती है। इस तिथि के बाद की शक-मुद्राएँ नहीं प्राप्त हो सकी हैं। ३ सैकड़े वाली संख्या, १ दहाई की संख्या एवं 'क' इकाई की संख्या का प्रतिनिधित्व करती है। इकाई वाली संख्या लेख से लुप्त है और उसके लिये 'क' काल्पनिक अंक रखा गया है। यह 'क' संख्या शून्य (०) से लेकर नव (९) तक कोई भी रही होगी। इससे निष्कर्ष यह निकला कि भारतवर्ष में शक-शासन की अन्तिम ज्ञात तिथि शक-संवत् ३१० से लेकर शक-संवत् ३१९ के बीच कोई भी हो सकती है। यह तो सुविदित है ही कि शक-संवत् का प्रवर्तन ७८ ई० में हुआ था। अतएव प्रतिपादित होता है कि भारतवर्ष में शक-राज्य का उन्मूलन ३८८ ई० (३१० + ७८) एवं ३९७ ई० (३१९ + ७८) के बीच किसी समय हुआ होगा। हमारे देश में शक-सत्ता के उन्मूलन का श्रेय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को था। अतएव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसके सुप्रसिद्ध शक-विजय की संभावित तिथि उपर्युक्त अवधि (३८८ ई०–३९७ ई०) के भीतर ही मानना समीचीन लगता है। ३९७ ई० के उपरान्त पश्चिमी भारत में शक-राज्य गुप्त-सत्ता द्वारा निश्चित रूप से अधिगत कर लिया गया था, इस सम्बन्ध में कम से कम दो विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हैं। पहला तो उदयगिरि का वैष्णव गुहा-लेख (गु० सं० ८२=४०१ ई०), जो कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त सनकानीक महाराज का है। पहले हम कह आए हैं कि शक-युद्ध में सनकानीक सामन्त ने उक्त गुप्त-नरेश को सैनिक सहायता प्रदान की थी। संभव है कि एक स्वामिभक्त के रूप में उसने अपनी सेना का नेतृत्व इस युद्ध में किया हो। उक्त अभिलेख से प्रमाणित होता है कि सम्पूर्ण मालवा में (अर्थात् पश्चिमी मालवा भी जिसमें कि उज्जयिनी का नगर वर्तमान था) ४०१ ई० के पहले ही गुप्त-सत्ता स्थापित हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय की कुछ रजत् मुद्राएँ (जो कि शक-मुद्राओं के आदर्श पर प्रचलित की गई थीं) गुप्त संवत् ९० अर्थात् ४०९ ई० की हैं। ये सिक्के पश्चिमी भारत से उपलब्ध हुए हैं। इनका प्राप्ति-स्थान इस बात का परिचायक है कि ४०९ ई० के पूर्व ही पश्चिमी भारत (जिसमें गुजरात एवं काठियावाड़ भी सम्मिलित थे और जो पहले शक-राज्य में वर्तमान थे) में गुप्त-सत्ता पूर्ण रूप से सुदृढ़ हो चुकी थी।

विक्रमादित्य—मुद्रा-साक्ष्य से स्पष्ट है कि उसने विक्रमांक (विक्रमादित्य) उपाधि धारण की थी। अनुमान किया जाता है कि शक-विजय के अनन्तर ही उसने यह उपाधि धारण की होगी। यह निर्विवाद है कि उसकी सबसे महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि यही थी। सदियों से भारत में जड़ पकड़ लेने वाली भयंकर शक-सत्ता को निर्मूल कर देना उसकी प्रशंसनीय कृतियों में चार चाँद लगाती है। उसने उज्जयिनी के मूल विक्रमादित्य का अनुकरण करते हुए इस उपाधि को धारण कर लिया होगा, जो भारतीय परम्परा के अनुसार 'शकारि' था और इस सम्राट् से लगभग चार सौ वर्ष पहले राज्य कर चुका था।

परिणाम—शक-विजय के फलस्वरूप इस नरेश का राज्य गुजरात, काठिया-वाड़ और पश्चिमी मालवा के ऊपर स्थापित हो गया। उसके साम्राज्य की सीमा अब पश्चिम में अरब सागर से लेकर पूर्व में बंगाल तक प्रसरित हो गई। शक-विजय का यह राजनीतिक लाभ था। इसके अतिरिक्त आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह घटना अधिक महत्त्वपूर्ण थी। शक-विजय के कारण इस नरेश को भृगुकच्छ का बंदरगाह प्राप्त हो गया, जिसकी पहचान आधुनिक भड़ौंच से की जाती है। यह पश्चिमी समुद्र-तट का सबसे बड़ा बंदरगाह था। इसको पेरिप्लस में बैरीगाज़ा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लिखित किया गया है। विदेशी लेखों में इसे बैरुगाज़ा तथा बैर्गोसा भी कहा गया है। यहाँ से बाहर जाने वाली वस्तुओं में हाथीदाँत, रेशमी तथा सूती वस्त्र, मिर्च, बहुमूल्य पत्थर, मलमल, जटामांसी, कुष्ट, गुगुल, अकीक, लोहितांक तथा लिसियम उल्लेखनीय हैं। पेरिप्लस के अनुसार बाहरी देशों से इस नगर में मदिरा, कस्तीर, सीसक, सूक्ष्म वस्त्र, कटिसूत्र, सुवर्ण एवं रजत मुद्रायें, बहुमूल्य बर्तन, संगीतनिपुण बालक, सुंदर युवतियाँ तथा अनुलेप, ताँबा, राँगा, मूँगा, पोखराज, संखिया, सुरमा तथा अच्छे रोगन आते थे।[1] बाहरी देशों में भेजने के निमित्त यहाँ तत्कालीन भारतीय नगरों से माल आता था। उदाहरणार्थ उज्जयिनी से यहाँ मलमल एवं मलय वस्त्र आता था।[2] जातकों में इस बंदरगाह से भारतीय व्यापारियों के विदेश जाने का उल्लेख मिलता है। सुस्सोंदि जातक के अनुसार भृगुकच्छ के वणिक व्यापार के लिये सुदूर पश्चिमी देशों में जाते थे। सुप्पारक जातक से विदित होता है कि बोधिसत्व ने अपने मित्रों के साथ सात मणियों वाले समुद्र के लिये इस नगर से प्रस्थान किया था।

इस बंदरगाह से भेजी हुई भारतीय विलास की सामग्री की रोम में काफी माँग थी। वहाँ की बाज़ारों में भारतीय मलमल, जवाहरात, मोती, जटामांसी तथा सिल्क भरे रहते थे। प्लिनी ने हार्दिक क्लेश प्रकट किया है कि उसके देश-वासी अपनी विलासिता के कारण अपने देश की अतुल धनराशि भारतवर्ष भेज देते थे। उसके अनुसार रोम की लगभग ५ करोड़ मुद्रायें हमारे देश में प्रतिवर्ष आती थीं। इस बंदरगाह के प्राप्त हो जाने के कारण गुप्त-साम्राज्य का आर्थिक लाभ इस रूप में विशेष प्रकार से हुआ। पाश्चात्य विश्व के साथ भारतीय व्यापार के बढ़ जाने के कारण पश्चिमी सभ्यता एवं हमारे देश की संस्कृति का निकट संपर्क स्थापित हुआ।[3] गुप्तकालीन लेखक वराहमिहिर ने बृहत्संहिता एवं पंचसिद्धान्तिका में रोमक सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इस सिद्धान्त के संबन्ध में वराहमिहिर ने जिन नक्षत्रों का नामोल्लेख किया है वे यूनानी नाम लगते हैं। अतएव रोमक सिद्धान्त यूनान की देन है, यों नाम से तो इसका संबंध रोम से प्रतीत होता है। वराहमिहिर के होराज्ञान के ऊपर यूनानी प्रभाव परिलक्षित होता है। गार्गी-संहिता में कहा गया है कि 'यवन लोग बर्बर हैं। पर ज्योतिष-शास्त्र का जन्म उनसे हुआ है, अतएव वे पूजनीय हैं।' इस कारण यही मानना समीचीन

---

१. पेरिप्लस, पृष्ठ ४२
२. सार्थवाह, पृष्ठ ११७
३. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १५४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होगा कि हमारे देश के निवासियों ने 'रोमक सिद्धान्त' को यूनान से ही सीखा होगा । उक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि भृगुकच्छ के बन्दरगाह के माध्यम से पश्चिमी जगत् के साथ भारतवर्ष का सांस्कृतिक सम्पर्क अधिक सुविकसित हो गया था ।

यह नगर व्यापारिक केन्द्र होने के अतिरिक्त एक सुप्रसिद्ध तीर्थ भी था । भारतीय परम्परा के अनुसार भृगु ने यहाँ तपश्चर्या की थी । इस कारण लोग इसे पुण्य तीर्थ (भृगुतीर्थ) मानने लगे ।[1] जनमत में प्रतिष्ठित था कि बलि ने अपने प्रसिद्ध यज्ञ का अनुष्ठान यहीं पर किया था। इसी स्थान पर उन्होंने अपना समस्त राज्य वामन-वेषधारी विष्णु को प्रदान किया था । राजा से लेकर रंक तक समय-समय पर लोगों ने इस तीर्थ में पुण्यार्जन के निमित्त दान दिया था । नासिक के सुप्रसिद्ध गुहा-लेख के अनुसार शक-क्षत्रप नहपान के दामाद उषवदात ने भृगु-कच्छ में यात्रियों के विश्राम एवं सुविधा के निमित्त सार्वजनिक गृह, कुएँ और सरोवर आदि का निर्माण किया था । प्राचीन काल में कूप एवं तड़ाग के निर्माण का बहुत बड़ा माहात्म्य माना जाता था ।[2]

वाह्लीक-विजय—अन्यत्र इस तथ्य का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है कि मेहरौली के स्तम्भ-लेख में सम्राट् चन्द्र के द्वारा जिस वाह्लीक-विजय का उल्लेख प्राप्य है वह वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही वाह्लीक-विजय की ओर संकेत करता है । वाह्लीक-विजय से अभिप्राय बैक्ट्रिआ (बल्ख)-विजय से नहीं लिया जा सकता । इससे वास्तविक तात्पर्य वाह्लीक जाति से है, जो कि उस समय भारतवर्ष में महत्त्वपूर्ण सत्ता के रूप में शासन कर रही थी । इस बात का भी स्पष्टीकरण आगे चल कर किया गया है कि मेहरौली-प्रशस्ति में उत्तर-कुषाणों

---

१. "ततो गच्छेत् राजेन्द्र भृगुतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र देवो भृगुः पूर्वं देवमाराधयत्पुरा ।"

—कूर्म पुराण, २ अध्याय ४१

२. "तड़ागकृन्नित्यतृप्तो वारुणं लोकमश्नुते ।
जलप्रदः सदा तृप्तो भवति ॥

—विष्णुसंहिता, १९

"अनाथं दुर्गतं विप्रं नाथवन्तमथापि वा ।
उद्वाहयति यस्तीर्थे तस्य पुण्यफलं शृणु ॥"

—कूर्म पुराण, २,३९,७९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को ही 'वाह्लीक' संज्ञा प्रदान की गई है। इन्हीं उत्तर-कुषाणों को समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में 'दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि' कहा गया है। कुषाण किसी समय बैक्ट्रिआ (वाह्लीक = बल्ख) के सुप्रसिद्ध शासक रह चुके थे। कालान्तर में इन्हीं कुषाणों के वंशजों (उत्तर कुषाणों) को 'वाह्लीक' कहा जाने लगा (अर्थात् वह जाति जो कि मूलतः वाह्लीक देश में शासन करती थी)। महाभारत एवं रामायण से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए डॉ० भण्डारकर, डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार एवं डॉ० दशरथ शर्मा ने सिद्ध किया है कि पंजाब का वह भाग, जो व्यास (विपाशा) नदी के दोनों तटों का निकटवर्ती था, वाह्लीक नाम से प्रसिद्ध हो गया था। इस क्षेत्र का यह नाम पड़ जाने का कारण इसके साथ कुषाणों का शासन-संबन्ध था। इसी भाग में विष्णुपद तीर्थ भी स्थित था जहाँ से काश्मीर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सिन्धु नदी की निचली घाटी से होकर पंजाब की ओर दिग्विजय-हेतु गया था। शक-क्षत्रप रुद्रदामन् ने सिन्धु-घाटी के मुहाने के पार्श्ववर्ती प्रदेश को जीत लिया था और तब से यह बराबर शकों के ही राज्य में सम्मिलित था। शक-विजय के उपरान्त यह क्षेत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को उपलब्ध हो गया। यहाँ से होकर वह पंजाब की ओर विजय-हेतु जा सकता था। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि वह आधुनिक दिल्ली से होता हुआ व्यास-नदी की ओर वाह्लीक-विजय के हेतु गया होगा। पहले इस बात का स्पष्टीकरण किया जा चुका है कि दिल्ली के आसपास कोत राजवंश गुप्तों के आविर्भाव-काल में राज्य कर रहा था। इस वंश के समकालीन शासक को समुद्रगुप्त ने परास्त कर उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इस क्षेत्र को ही आधार बना कर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वाह्लीक-विजय की तैयारी की होगी। उसकी यह विजय ऐतिहासिक विशिष्टताओं से परिपूर्ण थी। इस सैनिक अभियान में भी उसके सामन्त, सान्धिविग्रहिक, अमात्य एवं मजे हुए सैनिक कर्मचारियों ने सक्रिय भाग लिया होगा। इस विजय के स्मरण में विष्णुपद (पंजाब में व्यास नदी के समीप स्थित) पर उसने विष्णुध्वज (अर्थात् लौह स्तम्भ जो अब मेहरौली में स्थित है) की स्थापना अपनी धार्मिक कृति के रूप में की होगी। बाद में चलकर यह लौह स्तम्भ (विष्णु-ध्वज) फिरोजशाह तुगलक द्वारा अपने मूल-स्थान से स्थानान्तरित कर दिल्ली में कुतुबमीनार के समीप स्थापित कर दिया गया।

वंग-विजय—पश्चिमी बंगाल का वह भाग जिसका प्रतिनिधित्व आधुनिक बाँकुड़ा जिला करता है समुद्रगुप्त के द्वारा पहले ही जीता जा चुका था। उत्तरी एवं पूर्वी बंगाल अब भी जीतने को बाकी रह गया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के लेख बंगाल से नहीं प्राप्त हुये हैं, परन्तु उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख वहाँ उपलब्ध हुए हैं। उनके अन्तः साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि यह भाग (जो कि पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति के नाम से प्रसिद्ध था) कुमारगुप्त प्रथम के साम्राज्य में सुव्यवस्थित रूप में सम्मिलित था। उसके प्रधान एवं सहायक कर्मचारी अपना कार्यालय बना कर वहाँ शासन का काम सँभालने लगे थे। इससे संकेत मिलता है कि उत्तरी बंगाल वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही काल में जीता गया था। उसके वंग-विजय के संबंध में भी मेहरौली-प्रशस्ति द्वारा ही सूचना प्राप्त होती है। प्रयाग के स्तम्भ-लेख के अनुसार समुद्रगुप्त के साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर समतट, डवाक आदि 'प्रत्यन्त' (सीमान्त) राज्य स्थित थे। वे इस प्रतिभाशाली गुप्त-नरेश की अधीनता को स्वीकार करते थे। परन्तु उसके मरते ही अयोग्य रामगुप्त के काल में गुप्त-साम्राज्य की बिगड़ी परिस्थितियों का लाभ उठा कर इन सरहदी राज्यों ने विद्रोह कर दिया होगा। इन राज्यों के शासकों ने अपना संगठन बना कर गुप्त-राज्य को क्षति पहुँचाने की ठोस योजना बनाई होगी। कालान्तर में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों एवं कुषाणों को जीतने के पश्चात् इस शत्रु-दल का भी उन्मूलन किया होगा। उसकी यह विजय भी महत्त्वपूर्ण रही होगी। संभवतः इसी घटना को लक्ष्य में रखते हुये मेहरौली के प्रशस्तिकार ने उल्लिखित किया है कि सम्राट् चन्द्र ने वंग-युद्ध (वंगेष्वाहव) में एकत्र होकर आए हुए अपने शत्रुओं को परांगमुख कर दिया था (यस्योद्वर्तयतः प्रतीमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्)। लगता है कि इस शत्रु-दल के साथ तुमुल-युद्ध हुआ, क्योंकि इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि उस सम्राट् की भुजाओं पर तलवार के द्वारा कीर्ति लिखी गई थी (खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे)। राजनीतिक दृष्टि से लाभ यह हुआ कि सम्पूर्ण वंग-भूमि पर गुप्त-सत्ता स्थापित हो गई। इस विजय का आर्थिक महत्त्व इस दृष्टि से था कि इसके फलस्वरूप गुप्तों को ताम्रलिप्ति का समृद्धिशाली बंदरगाह उपलब्ध हो गया। भारतवर्ष के पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित यह सबसे बड़ा पोताश्रय था। विष्णुपुराण में इसे समुद्र-तटपुरी कहा गया है। पालि-ग्रन्थों में इसे तामलित्त कहा गया है। सम्पूर्ण पूर्वी सामुद्रिक व्यापार इसी बंदरगाह के द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होता था। चीन तथा सुमात्रा, जावा एवं बोर्नियो आदि के साथ जहाजरानी का सारा काम इसके ही माध्यम से सम्पन्न होता था। फाहियान स्वदेश लौटते समय इसी बंदरगाह पर जहाज में बैठा था।

अन्य विजयें—मेहरौली के लेख के अनुसार चन्द्र के प्रताप से दक्षिणी सागर सुगन्धित हो उठता था। इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि चन्द्रगुप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वितीय ने दक्षिणी भारत में अपना कोई सैनिक अभियान किया था, जब तक कि इस संबंध में कोई निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध न हो। उसका साम्राज्य अरब सागर और बंगाल की खाड़ी को छूता था और संभव है कि मेहरौली के लेख का संकेत इसी तथ्य की ओर हो। मथुरा के स्तंभ-लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधि 'महाराज राजाधिराज' मिलती है। यह कुषाणों की 'महाराज रजति-राज' उपाधि का अनुकरण है। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसने कुषाणों को यहीं परास्त किया था। कुषाणों के साम्राज्य में मथुरा एक विशिष्ट केन्द्र के रूप में विद्यमान था। यहाँ से उनके कई लेख प्राप्त हुए हैं। इससे कुछ विद्वानों का अनुमानहै कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मथुरा को कुषाणों से छीन कर पहली बार गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित किया था।[1]परन्तु ऐसा मानना ठीक न होगा। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है कि गणपतिनाग मथुरा का शासक था और समुद्रगुप्त ने उसे परास्त कर इस नगर को छीन लिया था। ज्ञात प्रमाणों के आलोक में वास्तविक यह लगता है कि नागों ने कुषाणों से मथुरा को छीना था और इस कारण उन्होंने कुषाण-उपाधि 'महाराज रजतिराज' के आधार पर 'महाराज राजाधिराज' की उपाधि धारण कर ली होगी। गणपतिनाग से मथुरा को जीतने के पश्चात् गुप्त-सम्राटों ने यह उपाधि धारण की होगी और यही कारण है कि उस स्थान से प्राप्त हुए अभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'महाराज राजा-धिराज' कहा गया है।

प्रमाति—मत्स्यपुराण में प्रमाति नामक तेजस्वी सम्राट् का उल्लेख मिलता है, जिसने धर्म-स्थापना के निमित्त सैन्य अभियान किया था। उसने उत्तराखण्ड (उदीच्य), पूर्वी (प्राच्य), पश्चिमी (प्रतीच्य), विन्ध्य-देशीय (विन्ध्य-पृष्ठ), कोंकणस्थ (अपरान्तक), पार्वत्य (पर्वतीय), मध्यदेशीय एवं दक्षिणी (दाक्षिणात्य) नरेशों को परास्त कर दिया था। भारतवर्ष उपर्युक्त सात खण्डों में विभाजित था जिन पर प्रमाति ने अपना नियंत्रण स्थापित किया था। उसने पारद, पह्लव, यवन, शक, तुषार, बर्बर, खस एवं श्वेत-हलिक (संभवतः श्वेत हूण = एफ्थलाइट) आदि शक्तियों का मानमर्दन किया था। वह विष्णु का साक्षात् अवतार था (पूर्वजन्मनि विष्णुश्च)। उसे लोग मनुष्य-रूप-धारी देवता समझते थे (नृदेव)।[2] वासुदेवशरण अग्रवाल ने निम्नलिखित तर्कों के आलोक में उसका समीकरण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ किया है :—

---

१. एपिग्राफिआ इंडिका, २१, पृष्ठ ३
२. मत्स्यपुराण, १४४, ५९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

(१) साँची के लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रिय नाम देवराज था (देवराज इति प्रियं नाम)। वाकाटक-लेखों के अनुसार उसका अन्य नाम देवगुप्त भी था। उसके नाम का 'देव' भाग मत्स्यपुराण के 'नृदेव' का स्मरण दिलाता है।

(२) मत्स्य पुराण के अनुसार प्रमाति ने बत्तीस वर्षों तक राज्य किया था (द्वात्रिंशेभ्युदिते वर्षे)। कतिपय विद्वानों के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य-काल बत्तीस-वर्षीय था (३८० ई०—४१२ ई०)।

(३) प्रमाति ने बीस वर्षों तक सतत् युद्ध किया था (प्रक्रान्तो विंशतिः समा)। कतिपय इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय का दिग्विजय ४०० ई० तक समाप्त हो चुका था।

(४) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य प्रकाण्ड वैष्णव (परमभागवत) था। मत्स्य-पुराण के अनुसार प्रमाति विष्णु का अवतार था।

(५) प्रमाति ने शक एवं अन्य बर्बर-जातियों को परास्त किया था। यह तो एक सुविदित तथ्य है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों एवं वाह्लीकों को परास्त किया था।[1]

अश्वमेध-यज्ञ—अब हमारे समक्ष यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अपने महत्वपूर्ण दिग्विजय के उपलक्ष में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान क्या किया था अथवा नहीं? इस संबन्ध में विचारणीय है कि यद्यपि उसके राज्य-काल के छह प्रामाणिक लेख प्राप्त हुए हैं तथापि उनमें से किसी में भी उसके अश्वमेध-यज्ञ की चर्चा नहीं आती। उसने समुद्रगुप्त की भाँति अश्वमेध मुद्राओं का प्रचलन नहीं किया था। उत्तराधिकारियों के लेखों में समुद्रगुप्त को अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान का श्रेय प्रदान किया गया है (चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः), परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा वाजपेय-क्रतु के सम्पादन की इनमें कोई चर्चा नहीं आती। बनारस के दक्षिण-पूर्व कोने पर स्थित नगवा नामक ग्राम में घोड़े की एक प्रस्तर-मूर्ति मिली है जिस पर 'चन्द्रगु' लेख उत्कीर्ण है। श्री जे० रत्नाकर का कथन है कि यह अश्वमेध की अश्व-प्रतिमा ही हो सकती है तथा यह पाठ चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) का नामांश है।[2] स्पष्ट है कि यह प्रमाण सन्देहास्पद एवं विवादग्रस्त सा है। परन्तु उक्त तर्कों को आधार मानकर इस नतीजे पर

---

१. अग्रवाल, मत्स्यपुराण ए स्टडी, पृष्ठ २२८—२३०

२. इंडियन हिस्टारिकल, क्वार्टर्ली, ३, ७१९

Digitization sponsored by Indian Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

आ जाना कि इस नरेश ने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान नहीं किया, संगत नहीं होगा। प्रमाणाभाव के होने पर भी अधिक सम्भावना यही लगती है कि उसने अश्वमेध-यज्ञ का संपादन शास्त्रोक्त ढंग से सम्पन्न किया होगा। इस बात का निर्देश हम पहले कर चुके हैं कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा शकों एवं कुषाणों का उन्मूलन एक विलक्षण एवं अद्वितीय सफलता थी। वस्तुतः यह कार्य समुद्रगुप्त ने भी अधूरा छोड़ दिया था। पुष्यमित्र शुंग ने यवन-विजय के उपलक्ष में दो अश्वमेध-यज्ञ किये थे (द्विरश्वमेधयाजी)। अतएव शक एवं कुषाणविजेता चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक भी अश्वमेध-यज्ञ न किया हो, विश्वसनीय नहीं लगता। यदि समुद्रगुप्त अनेक अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान-कर्त्ता था (अनेकाश्वमेधयाजी), तो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी कुल-परम्परा का अवलम्बन करते हुए इस कोटि का कम से कम एक यज्ञ तो अवश्य ही किया होगा। अन्यथा उसका दिग्विजय (कृत्स्नपृथ्वीविजय) पूर्णतः चरितार्थ होने से रह जाता था।

7130

साम्राज्य-विस्तार—वंग-विजय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त द्वितीय का साम्राज्य पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक फैल गया। उसके लेख और सिक्के इस विस्तृत भू-भाग में कई स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के अनन्तर यह भारतवर्ष का सबसे विशाल साम्राज्य था। इसकी सीमा हर्ष, भोज और महेन्द्रपालदेव के साम्राज्य की सीमा से भी बड़ी थी।[1] भास के नाटकों के भरत-वाक्य में 'राजसिंह' नामक नरेश का उल्लेख मिलता है, जिसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विंध्य पर्वत के द्वारा परिवेष्ठित था। चन्द्रगुप्त की उपाधि नरेन्द्रसिंह (राजसिंह का पर्याय) थी। अतएव कुछ विद्वानों ने इसकी एकता भास के नाटकों के राजसिंह से की है।

सांस्कृतिक केन्द्र—चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य के नगरों में पाटलिपुत्र और उज्जयिनी सर्वश्रेष्ठ थे। फाहियान लिखता है कि पाटलिपुत्र के राजप्रासाद को देखने से ऐसा आभास होता था, मानो इसका निर्माण साक्षात् देवताओं ने ही किया था। मुद्राराक्षस में इस नगर के प्राकार तथा नगर-द्वारों का उल्लेख हुआ है। जिस समय शत्रु-सेना नगर पर आक्रमण करती थी, उस समय इसकी रक्षा के लिये धनुषधारी योद्धा चतुर्दिक् खड़े हो जाते थे। नगर-द्वार के सामने भयंकर हाथियों का झुंड खड़ा किया जाता था, जो भीतर प्रवेश चाहने वाली शत्रु-सेना को रौंद डालता था। इस ग्रंथ में राक्षस पाटलिपुत्र की रक्षा के निमित्त

---

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, पृ० १७०

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

इस प्रकार की व्यवस्था के लिये अपने सहयोगियों को आज्ञा देता उल्लिखित किया गया है।[1] इसके लेखक विशाखदत्त ने इस नगर के राजभवन के सुसज्जित द्वार का भी उल्लेख किया है।[2]

उज्जयिनी में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की द्वितीय राजधानी वर्तमान थी। कालिदास के अनुसार यह नगर स्वर्ग का एक कांतियुक्त खंड था, जिसका उपभोग करने के निमित्त उत्कृष्ट आचरण वाले देवता अपने अवशिष्ट पुण्यों के प्रताप के कारण स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर उतर आये थे।[3] इस नगर में प्रतापी उदयन की कथा को जानने वाले पंडित (कोविद) निवास करते थे। इनकी विद्वत्ता के कारण यह नगरी संपूर्ण जगत् की शोभा के तुल्य प्रतीत होती थी।[4] मृच्छकटिक के अनुसार इस पुर में विविध विहार, आराम, देवालय, सरोवर, कूप तथा यज्ञयूप वर्तमान थे, जिनके कारण इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी।[5] कथासरित्सागर के अनुसार उज्जयिनी का नगर पृथ्वी का भूषण था। वह अमृत के फेन के तुल्य धवल प्रासादों के विलक्षण सौन्दर्य द्वारा अमरावती को भी लज्जित कर देता था।[6]

शासन-व्यवस्था—चीनी यात्री फाहियान ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-प्रबंध की प्रशंसा उच्च शब्दों में की है। अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि उसकी शासन-व्यवस्था पर्याप्त रूप में सुसंगठित थी। वह नाना उपाधियों को धारण करता था; उदाहरणार्थ महाराजाधिराज, महाराज राजाधिराज, परमभट्टारक, परमदैवत तथा परमभागवत। वह साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी था। उसकी

---

१. मुद्राराक्षस, अंक २, १

२. वही, अंक २

३. "स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्।
शेषैः पुण्यैः हृतमिव दिवः कांतिमत्खंडमेकम्॥
—पूर्वमेघदूत, ३०

४. पूर्वमेघदूत, ३१

५. "विहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलंकृता नगर्युज्जयिनी"
—मृच्छकटिक, अंक ९

६. "अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणम् भुवः।
हसन्तीव सुधाधौतैः प्रासादैरमरावतीम्॥"
—कथासरित्सागर ११,३१

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

सहायता के निमित्त एक मंत्रिमंडल था। इसके एक सदस्य वीरसेन का नाम उदयगिरि के गुहा-लेख में मिलता है। वह उसका सान्धिविग्रहिक अमात्य (परराष्ट्र मंत्री) था। सांन्धिविग्रहिक अमात्य की नियुक्ति-परंपरा समुद्रगुप्त के समय से प्रारम्भ की गई थी।

साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था, जिन्हें 'भुक्ति' कहा जाता था। बसाढ़ के मुद्रा-लेख में तत्कालीन 'तीरभुक्ति' नामक प्रान्त का उल्लेख मिलता है, जिसकी राजधानी वैशाली थी। प्रान्त का सर्वोच्च पदाधिकारी राजकुमार हुआ करता था। बसाढ़ के लेख के अनुसार गोविन्दगुप्त नामक राजकुमार तीरभुक्ति का राज्यपाल नियुक्त किया गया था। अभिलेखों के आधार पर डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने निम्न पदाधिकारियों का नाम एकत्र किया है—

(१) **उपरिक**—इससे तात्पर्य राज्यपाल से था। बसाढ़ के एक लेख में तीरभुक्ति के राज्यपाल के कार्यालय का उल्लेख हुआ है (तीरभुक्तिउपरिक-अधिकरण)।

(२) **कुमारामात्य**—यदि एकमात्र इसके शाब्दिक अर्थ पर विचार किया जाय तो इसका अर्थ राजकुमार का मन्त्री होता है। एक अभिलेख में इसके कार्यालय का उल्लेख मिलता है (कुमारामात्याधिकरण)। यहाँ पर इस बात का स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि कुमारामात्य से वास्तविक तात्पर्य पदाधिकारी-वर्ग से था और यह किसी पद का नाम नहीं था। जिस प्रकार आधुनिक आई० ए० यस० कर्मचारी अपनी योग्यता एवं अनुभव के आधार पर उच्च से उच्च प्रशासकीय पद पर नियुक्त हो सकता है, उसी प्रकार गुप्तकालीन 'कुमारामात्य' कर्मचारी जिलाधीश, राज्यपाल अथवा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के अमात्य के रूप में भी बहाल किया जा सकता था।

(३) **बलाधिकृत**—यह सेनानायक का पद-नाम था। इसके कार्यालय को 'बलाधिकरण' कहा जाता था।

(४) **रणभाण्डाधिकृत**—यह कर्मचारी सेना में कार्य आने वाली सामग्री की व्यवस्था एवं पूर्ति से सम्बन्धित था।

(५) **दण्डपाशाधिकृत**—यह पुलिस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी था। इसके कार्यालय को 'दण्डपाशाधिकरण' कहा जाता था।

(६) **महादण्डनायक**—यह प्रधान न्यायाधीश था।

(७) **विनयस्थिति-स्थापक**—इस पदाधिकारी का उत्तरदायित्व शांति एवं व्यवस्था की स्थापना करना था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(८) **भटाश्वपति**—यह अश्व-सेना का नायक था ।

(९) **महाप्रतीहार**—यह प्रधान दौवारिक था ।[1]

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रान्तीय शासन-व्यवस्था मौर्य-शक शासन-पद्धति से अंशतः प्रभावित थी । मौय-काल में प्रान्तों में राजकुमार सम्राट् के प्रतिनिधि हुआ करते थे । यह प्रथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में भी विद्यमान थी । उस समय सम्राट् महाराजाधिराज और राजकुमार-राज्यपाल महाराज की उपाधि धारण करता था । यह शक-प्रथा का स्मरण दिलाती है । शक-शासक महाक्षत्रप तथा उसका पुत्र क्षत्रप कहलाता था । इस बात का स्पष्टीकरण यहाँ पर अनिवार्य है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की शासन-व्यवस्था पर्याप्त रूप में मौलिक भी थी । साम्राज्य का नव पद्धति पर संगठन, अमात्य-मण्डल का स्वरूप, नवीन कर्मचारियों की नियुक्ति एवं सुरक्षा तथा शान्ति की व्यवस्था के उपाय आदि उसकी मौलिक प्रतिभा के परिचायक थे । इसी शासन-व्यवस्था का अनुकरण कालान्तर में वर्द्धन एवं अन्य उत्तरी राजवंशों ने किया था । फाहियान के द्वारा उसके शासन-प्रबन्ध की उच्च प्रशंसा उसके राजनय एवं विलक्षण मेधा का परिचायक है ।

प्रान्तों का वर्गीकरण जिले में किया गया था, जिसे विषय कहते थे । बसाढ़ की एक मुहर में 'वैशाली-अधिष्ठान अधिकरण' का उल्लेख मिलता है । इससे तात्पर्य वैशाली के विषयपति के कार्यालय से है । उस समय के लेखों से स्थानीय शासन के भी संकेत मिलते हैं । उदाहरणार्थ एक लेख में उदानकूप की नगर-सभा का उल्लेख मिलता है । नगर-सभा को परिषद् कहा जाता था । साँची के लेख के अनुसार काकनादबाट के विहार का प्रबन्ध दो स्थानीय समितियाँ करती थीं—(१) आर्य संघ तथा (२) पंच-मंडली ।

धार्मिक नीति—यह सम्राट् वैष्णव मतावलम्बी था । अश्वारूढ़ मुद्राओं के ऊपर उसकी उपाधि 'परमभागवत' आती है । शकों से जीते हुए भू-भाग में प्रचलित की गई हुई रजत-मुद्राओं के ऊपर तथा गढ़वा के लेख में भी उसकी 'परमभागवत' उपाधि अंकित मिलती है । मेहरौली के लेख के अनुसार विष्णु में उसकी प्रगाढ़ भक्ति थी (भावेन विष्णौ मतिम्) । उसने विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज की स्थापना की थी (प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भवगतः विष्णोर्ध्वजः स्थापितः) । उसकी मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर विष्णु के वाहन गरुड का चित्र अंकित मिलता है । गुप्त संवत् ८२ वाली उदयगिरि की गुफा वैष्णव धर्म से संबन्धित प्रतीत

---

१. राधा कुमुद मुकर्जी, गुप्त एम्पायर, पृ० ४८-४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होती है। इसकी दीवालों पर वैष्णव मूर्तियों का अंकन मिलता है; उदाहरणार्थ—(१) विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति तथा (२) अनेक बाहों से युक्त लक्ष्मी की प्रतिमा। गढ़वा के प्रस्तर-लेख में वहाँ की एक ब्राह्मण-संस्था (सत्र) को दस दीनारों के दो पृथक् दान का उल्लेख मिलता है।

यह नरेश एक धर्मसहिष्णु सम्राट् था। यही कारण है कि इसके काल में प्रायः सभी धर्मों का नैसर्गिक विकास हुआ। चीनी यात्री फाहियान ने भी इसकी धर्मसहिष्णुता की उच्च प्रशंसा की है। मथुरा के स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि इस नगर में शैव धर्म का विकास हो रहा था। इस लेख के अनुसार यहाँ पर पाशुपत धर्म का लकुलीश संप्रदाय वर्तमान था, जिसका तत्कालीन आचार्य इस नगर का उदिताचार्य नामक यशस्वी नागरिक था। वह भगवत् कुशिक की दशम पीढ़ी में आता था (भगवत्कुशिकादृशमेन)। इससे स्पष्ट है कि भगवत् कुशिक इस संप्रदाय का एक प्रधान आचार्य था। वायुपुराण और लिंगपुराण के अनुसार कुशिक शिव (महेश्वर) के अंतिम अवतार लकुलीश का प्रथम शिष्य था। इस अभिलेख में कुशिक और उदिताचार्य के बीच इस संप्रदाय के तीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है; उदाहरणार्थ पराशर, कपिलविमल तथा उपमितविमल। पराशर से गणना करने पर उदिताचार्य चतुर्थ था (पराशराच्चतुर्थेन)। पराशर का शिष्य कपिलविमल, कपिलविमल का शिष्य उपमितविमल तथा उपमितविमल का शिष्य उदिताचार्य था। उसने अपने आध्यात्मिक लाभ तथा गुरुओं के यश के लिये गुरु-मन्दिर (गुर्व्वायतन) में उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर की स्थापना की थी।[1] ईश्वर शब्द का तात्पर्य यहाँ पर शिवलिंग से है। लगता है कि उसने माहेश्वर संप्रदाय के पूर्वाचार्य कपिलविमल तथा उपमितविमल की स्मृति में शिवलिंगों की स्थापना उनकी मूर्तियों के सहित की थी। गुरु-मन्दिर (गुर्व्वायतन) आचार्यों का प्रतिमा-गृह रहा होगा और उसमें शिवलिंग के साथ अपने आचार्यों की प्रतिमाओं की स्थापना उनके शिष्य कर सकते थे। इस लेख में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि उदिताचार्य ने आचार्यों की मूर्ति-स्थापना कोई अपनी ख्याति के लिये नहीं की थी।[2] इसमें वह माहेश्वरों को संबोधित करते हुए कहता है कि ये

---

१. आर्योदिताचार्येण स्वपुण्याप्यायननिमित्तं गुरुणां च कीत्यर्थमुपमितेश्वर-कपिलेश्वरौ गुर्व्वायतने गुरू प्रतिष्ठापितौ"

—उदयगिरि का गुहालेख, सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २७०

२. "नैतत्ख्यात्यर्थमभिलिख्यते" सरकार, वही, पृ० २७०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रतिमायें उसकी कोई अपनी संपत्ति नहीं, अपितु आचार्य-संपत्ति समझी जायँ (आचार्याणां परिग्रहमिति मत्वा) तथा पाशुपत (माहेश्वर) संप्रदाय के अनुयायी उस पर पूजा-पुरस्कार चढ़ायँ एवं भेंट आदि के द्वारा उनकी रक्षा करें (परिग्रहपरिपाल्यम्) ।

शैव मत के प्रचार के विषय में और भी प्रमाण मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति वीरसेन शैव मतावलम्बी था। उसने भगवान् शिव के प्रति भक्ति के कारण उदयगिरि की गुफा का निर्माण किया था (भक्त्या भगवतश्शम्भोर्गुहा-मेतामकारयत्)। एक वैष्णव सम्राट् के द्वारा एक शैव को इतने उच्च पद पर नियुक्त करना उसकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देता है। उसके दरबारी कवि कालिदास शैव थे। उन्होंने रघुवंश के आदि में 'पार्वती-परमेश्वर' तथा अभिज्ञानशकुन्तलम् के भरदवाक्य में 'नीललोहित' की पूजा की है। कालिदास के वर्णन से लगता है कि उस समय उज्जयिनी में शैव मतावलम्बी बहुसंख्या में रहते थे। उन्होंने इस नगर में विद्यमान् महादेव के पवित्र धाम चंडीश्वर का उल्लेख किया है (पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धामचण्डीश्वरस्य)।[1] उस समय इस नगर में महाकाल का एक मन्दिर था, जहाँ पर संध्या के समय आरती उतारी जाती थी। इस मन्दिर में वेश्याएँ नाचती थीं, जिनके पैरों की किंकिणी के शब्द से मन्दिर गूँज उठता था। वे मन्दिर में महाकाल की प्रतिमा के सामने रत्नजटित डाँड़ीदार चँवर डुलाती थीं।[2] उसका आम्रकार्द्दव नामक पदाधिकारी बौद्ध मतावलम्बी था। उसने काकनादबाट (साँची) के महाविहार को २५ सुवर्ण मुद्राएँ (दीनार) दान में दिया था। इस द्रव्य से विहार के रत्नगृह में दीपक जलाने का व्यय (रत्नगृहे च दीपको जलतु) तथा पाँच भिक्षुओं के भोजन का खर्च (पञ्चैव भिक्षवो भुंजतां रत्नगृहे च) चलाया जाता था। आम्रकार्द्दव को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उच्च सैनिक पद पर नियुक्त किया था। फाहियान के अनुसार उसके समय में बौद्ध विहार एवं जैन मन्दिर विविध सांस्कृतिक केन्द्रों में बहुसंख्या में प्राप्य थे।

---

१. पूर्वमेघदूत, ३४

३. "पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः।
रत्नच्छायाखचितबलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः॥
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून्।
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥"

—पूर्वमेघदूत, ३७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विद्यानुराग—अपने पिता की भाँति यह नरेश भी विद्याव्यसनी था। कालिदास ने संभवतः इसी को लक्ष्य करते हुए कहा था कि स्वभाव से परस्पर विरोधी स्थानों में रहने वाली लक्ष्मी एवं सरस्वती ने इस नरेश में अपना निवासस्थान बना लिया था (निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थं तस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च)। ग्यारहवीं शताब्दी के लेखक सोड्ढल ने 'उदयसुंदरीकथा' में विक्रमादित्य नामक सम्राट् की गणना सम्राट्-कवियों की कोटि में की है (कवीन्द्रैश्च विक्रमादित्य—श्रीहर्ष-मुंज-भोजदेवादिभूपालैः)[1] यहाँ पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर संकेत लगता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि साहसांक नामक सम्राट् ने अंतःपुर में एकमात्र संस्कृत भाषा के ही प्रयोग की आज्ञा दे रखी थी।[2] पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि साहसांक की पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमांक) से की जाती है। राष्ट्रकूट-अभिलेखों (संगली तथा खंभात = कैम्बे के लेखों) में इसे साहसांक कहा गया है।

यह नरेश विद्वानों का संरक्षक था। एक भारतीय परंपरा के अनुसार विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) के दरबार में नव विद्वान् (नवरत्न) रहते थे—धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर, वररुचि।[3] उदयगिरि के गुहालेख से ज्ञात होता है कि उसका सान्धिविग्रहिक अमात्य वीरसेन व्याकरण, न्याय, राजनीति का मर्मज्ञ तथा एक निपुण कवि था (शब्दार्थ न्याय-लोकज्ञो-कविः पाटलीपुत्रकः)। राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार उज्जयिनी में एक विद्वन्मंडली रहती थी, जिसका कार्य काव्यकारों की परीक्षा लेना था। इस विद्वन्मंडली को हम विशेषज्ञ-परिषद् कह सकते हैं। जब यह किसी कृति पर अपनी स्वीकृति दे देती थी, उस समय वह रचना प्रामाणिक मान ली जाती थी। इस परिषद् के द्वारा कालिदास, भर्तृमेण्ठ, भारवि, अमरु, हरिश्चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त आदि की कृतियों की परीक्षा ली गई थी।[4] इन लेखकों

---

१. उदयसुंदरी कथा, पृष्ठ १५०

२. "श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा, तेन च संस्कृत-भाषात्मकमन्तःपुरं समानं पूर्वेण"—काव्यमीमांसा, अध्याय १०

३. "धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-वेतालभट्टघटकर्पर-कालिदासाः,
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि नववररुचिर्विक्रमस्य ॥"

४. श्रूयते च उज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
इह कालिदासमेंठौ अत्रामरुरूपसारभारवयः ॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में अधिकांश गुप्तकालीन थे। इससे माना जा सकता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में इस नगर में एक ऐसी विद्वन्मंडली वर्तमान थी, जिसका कार्य नव-कृतियों का परीक्षण था। राजशेखर के अनुसार पाटलिपुत्र में भी एक विशेषज्ञ-परिषद् थी, जो काव्यकारों की परीक्षा लेती थी। इसके द्वारा उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि तथा वररुचि आदि के ग्रंथों की परीक्षा ली गई थी।[1] इनमें वररुचि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का विद्वान् था। अतएव कहा जा सकता है कि उसकी राजधानी में काव्यकार-परीक्षा-संबन्धी विद्वन्मंडली विद्यमान थी।

आर्थिक दशा—इस समय की आर्थिक दशा संतोषजनक थी। व्यापार उन्नत दशा में था। कालिदास के अनुसार उस समय हमारे देश के व्यापारी वाणिज्य-संबन्ध में पूर्वी द्वीप समूह (द्वीपान्तर) जाते थे। वे वहाँ से मसाले लाते थे। पश्चिमी व्यापार भृगुकच्छ तथा पूर्वी व्यापार ताम्रलिप्ति के बंदरगाह से संचालित होता था। देश के विभिन्न केन्द्र व्यापारिक मार्गों के द्वारा सुसंबद्ध थे। बसाढ़ की मुहरों के लेख से ज्ञात होता है कि इस समय प्रसिद्ध नगरों में व्यापारियों एवं कारीगरों की समितियाँ वर्तमान थीं, जिन्हें 'निगम' कहा जाता था। इन समितियों का संगठन आर्थिक लाभ के निमित्त किया गया था। बसाढ़ के मुहर-लेखों में 'श्रेष्ठि-निगम' अर्थात् नगर के पूँजीपतियों की आर्थिक समिति, 'कुलिक-निगम' अर्थात् कारीगरों की आर्थिक समिति एवं 'सार्थवाह-निगम' अर्थात् नगर के व्यापारियों की समिति का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रत्येक समिति की मुहरें अलग-अलग हुआ करती थीं, जिनसे महत्त्वपूर्ण लेखों पर प्रामाणिकता के हेतु छाप लगाई जाती थी। कभी-कभी ये आर्थिक समितियाँ किसी विशेष प्रयोजन से सम्मिलित मुहरें बनवाती थीं। उदाहरणार्थ बसाढ़ की एक मुहर के ऊपर 'श्रेष्ठि-कुलिक-निगम' लेख उत्कीर्ण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह मुहर वैशाली के पूँजीपतियों एवं व्यावसायिकों ने मिलकर बनवाई थी। इसी प्रकार बसाढ़ की एक अन्य मुहर के

हरिचंद्रचंद्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥"

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५

१. "श्रूयते च पाटलिपुत्रे काव्यकारपरीक्षा।
अत्रोपवर्षवर्षौ इह पाणिनिपिंगलाविहव्याडिः ॥
वररुचि-पतंजलि इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥"

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऊपर 'श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम' शब्द उत्कीर्ण मिलते हैं। इससे तात्पर्य उस मुहर से है; जिसे वैशाली के पूँजीपतियों, व्यापारियों एवं व्यावसायिकों ने सम्मिलित रूप में बनवाया था।

'निगम' समितियाँ आधुनिक बैंक का कार्य करती थीं। साँची के लेख के अनुसार काकनादवाट (आधुनिक साँची) में इस प्रकार की एक समिति थी, जिसे इसमें 'आर्यसंघ' कहा गया है। आम्रकार्द्दव नामक पदाधिकारी ने इसके पास पचीस सुवर्ण दीनार पंचमंडली के सामने जमा किया था।[1] इसके सूद से 'काकनादवाट' के 'श्रीमहाविहार' नामक मठ के पाँच श्रमणों को प्रति दिन भोजन तथा रत्नगृह (संभवतः स्तूप जो त्रित्न का सन्निधान था; उदाहरणार्थ बुद्ध, धर्म एवं संघ) में दीपक जलाने का व्यय वसूल होता था।[2] इस लेख में कहा गया है कि जब तक सूर्य एवं चन्द्र वर्तमान हैं, तब तक यह व्यवस्था चलती रहे (यावच्चन्द्रादित्यौ)। गुप्त संवत् ८८ के गढ़वा के लेख में भी आर्थिक समिति के पास दस दीनार जमा करने का उल्लेख मिलता है। यह द्रव्य पाटलिपुत्र के एक नागरिक के द्वारा धर्मार्थ दान में दिया गया था।

पदाधिकारी एवं सामन्त—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभिलेखों में उसके महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों एवं सामंतों के नाम उपलब्ध होते हैं—

(१) **वीरसेन**—यह पाटलिपुत्र का नागरिक (पाटलीपुत्रकः) तथा सान्धिविग्रहिक अमात्य (व्यापृतसंधिविग्रहः) था। उसने परंपरा के आधार पर सचिवपद प्राप्त किया था (अन्वयप्राप्तसाचिव्यः)। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ उसके शक-अभियान के संबन्ध में पूर्वी मालवा में भिलसा में रुका हुआ था। वहाँ उसने शैवों के निवास के निमित्त एक गुफा का निर्माण कराया था। उसका वास्तविक नाम शाब तथा कुल-नाम वीरसेन था ('वीरसेनः कुलाख्यया')।

(२) **शिखरस्वामी**—इसे करमदाण्डा की शिवलिंगप्रशस्ति में चन्द्रगुप्त का कुमारामात्य एवं मंत्री कहा गया है।[3] इस अभिलेख में उसके पुत्र पृथिवीषेण का

---

१. "पञ्चमण्डल्या प्रणिपत्य ददाति"

—साँची का लेख, सरकार, वही, पृष्ठ, २७३

२. "पञ्चभिक्षवो भुंजतां रत्नगृहे च दीपको जलतु"

—वही, पृष्ठ २७४

३. "महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यभत"

करमदाण्डा का लेख, सरकार, वही, पृष्ठ २८२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाम आता है, जो कुमारगुप्त प्रथम का कुमारामात्य एवं मंत्री था।[1]

(३) **आम्रकार्द्दव**—इसका नामोल्लेख गुप्त संवत् ९३ के साँची के लेख में हुआ है। वह 'सुकुलि'-देश' का रहने वाला था। अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने के कारण उसका यश चारों ओर फैला हुआ था (अनेक-समरावाप्त-विजय-यशस्पताकः)। इससे लगता है कि वह कोई उच्च सैनिक पदाधिकारी था। उसने काकनादवाट (साँची) के महाविहार को दान दिया था।

(४) **गोविन्दगुप्त**—वह तीरभुक्ति का राज्यपाल था, जिसकी राजधानी वैशाली नगरी थी। बसाढ़ के एक मुद्रा-लेख में उसे महादेवी ध्रुवस्वामिनी के गर्भ से उत्पन्न महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त का पुत्र बताया गया है।

(५) **सनकानीक महाराज**—यह गुप्त संवत् ८२ (४०१ ई०) में पूर्वी मालवा में चन्द्रगुप्त द्वितीय की अधीनता स्वीकार करता था (महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तपादानुध्यातस्य)। प्रयाग की प्रशस्ति में कहा गया है कि इसके पूर्व सनकानीक समुद्रगुप्त को कर देते थे (सर्वकरदान)। उदयगिरि के गुहा-लेख (गुप्त संवत् ८२) में सनकानीक महाराज को महाराज-छगलग का पौत्र तथा महाराज विष्णुदास का पुत्र कहा गया है। इस लेख की भाषा से लगता है कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का उत्कट भक्त था। संभव है कि उनके शक-युद्ध में इसने भी भाग लिया हो।

(६) **महाराज त्रिकमल**—इसका नामोल्लेख गया की बोधिसत्त्वप्रतिमा (संवत्सर ६४) के लेख में हुआ है।

(७) **स्वामिदास**—यह मध्यभारत में कहीं इस नरेश की अधीनता स्वीकार करता था।

(८) **महाराज-श्री-विश्वामित्रस्वामी**—इसका नाम बेसनगर से प्राप्त एक मुहर पर अंकित मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि वह संभवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त शासक था।

सुवर्ण-मुद्राएँ—इस नरेश के शासन-काल से मुद्रा-शास्त्र के इतिहास में नव युग का प्रवर्तन हुआ। डॉक्टर अल्तेकर के शब्दों में किसी भी अन्य हिन्दू सम्राट् ने संभवतः इतने विशाल मापदण्ड पर सुवर्ण मुद्राएँ नहीं प्रचलित की थीं।[2] उसके

---

१. "तस्य पुत्रो पृथिवीषेणो महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यः"
—सरकार, वही, पृष्ठ २८३

२. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ ६१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काल में टकसालगृह दो नगरों में रहे होंगे; पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी । उसकी मुद्राएँ उसके साम्राज्य के ऐश्वर्य तथा शक्ति पर तो प्रकाश डालती ही हैं, पर साथ ही उनसे उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं । पहले हम लोगों की जानकारी उसके केवल छह प्रकार की सुवर्ण मुद्राओं के ही विषय में थी, परन्तु हाल ही में उसके दो और प्रकार के भी सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं (चक्र-विक्रम और दण्डधारी) तथा इस प्रकार उसकी सुवर्ण मुद्राओं की प्रकार-संख्या अब आठ हो जाती है । इनमें से कुछ तो बिल्कुल ही नवीन प्रकार की हैं; उदाहरणार्थ सिंह-निहन्ता प्रकार, अश्वारोही प्रकार, छत्र प्रकार, पर्यंकस्थित राजा-रानी प्रकार, ध्वजधारी प्रकार, चक्रविक्रम प्रकार । उसकी धनुर्धरांकित तथा पर्यंक मुद्राओं में समुद्रगुप्त के सिक्कों की समता में नवीन विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं । इन विभिन्न सुवर्णमुद्राओं का संक्षिप्त वर्णन कुछ निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) **धनुर्धरांकित मुद्राएँ**—लगता है कि उसकी धनुर्धरांकित मुद्राएँ सबसे अधिक प्रयोग में थीं । बयाना-कोष की ९८३ मुद्राओं में ७९८ धनुर्धरांकित वर्ग की हैं ।[1] इस कोटि के सिक्के कलकत्ता-संग्रहालय में २८ तथा ब्रिटिश-संग्रहालय में २९ की संख्या में मिलते हैं । इन मुद्राओं का व्यास° ७५" से लेकर ९°" तक है । इनकी तौल १२१ ग्रेन, १२४ ग्रेन तथा १२७ ग्रेन है । इन मुद्राओं के मुख भाग पर सम्राट् का चित्र और गरुडध्वज दृष्टिगोचर होता है । वह अपने हाथ में धनुष बाण लिये हुए है । इस ओर वर्तुलाकार लेख 'देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः' मिलता है । पृष्ठ भाग की दृष्टि से ये मुद्राएँ दो तरह की हैं—(१) पहले प्रकार में सिंहासनाधिष्ठित लक्ष्मी का चित्र उपलब्ध होता है । उनके बाएँ हाथ में कमल तथा दाएँ हाथ में पाश है । इस ओर राजा की उपाधि 'श्रीविक्रमः' अंकित मिलती है (२) दूसरे प्रकार में देवी कमल पर आसीन हैं । उनके बाएँ हाथ में कमल तथा दाएँ हाथ में पाश है । इस ओर राजा की उपाधि 'श्रीविक्रमः' 'अंकित मिलती है । (२) दूसरे प्रकार में देवी कमल पर आसीन हैं । उनके बायें हाथ में कमल तथा दायें हाथ में पाश वर्तमान है ।

(३) **सिंह-निहन्ता** मुद्रा—इस मुद्रा में कलात्मकता अधिक दृष्टिगोचर होती है । बयाना-कोष की ७९३ मुद्राओं में ४३ इस वर्ग की हैं । इस प्रकार के सिक्के ब्रिटिश-संग्रहालय में १३, कलकत्ता-संग्रहालय में १० तथा लखनऊ-संग्रहालय

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर; पृष्ठ ९१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में १२ की संख्या में मिलते हैं। इनकी तौल १३० ग्रेन के लगभग है। इनके मुख भाग पर सम्राट् धनुष-बाण अथवा तलवार के द्वारा सिंह को मारता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि इस सम्राट् ने अपने पिता समुद्रगुप्त की 'व्याघ्रहनन्' मुद्रा को 'सिंहहनन्' मुद्रा में परिवर्तित कर दिया था। इस वर्ग की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर देवी सिंह की पीठ पर आरूढ़ दिखाई गई हैं। वाहन के कारण लगता है कि यह दुर्गा की आकृति है। इसके एक हाथ में कमल भी दृष्टिगोचर होता है, अतएव यह लक्ष्मी की आकृति भी हो सकती है। डॉक्टर अल्तेकर ने इस वर्ग की मुद्राओं को तीन हिस्सों में विभक्त किया है—(१) पहली कोटि में सम्राट् और सिंह एक दूसरे से द्वन्द्व की मुद्रा में अंकित किये गये हैं, (२) दूसरी कोटि में राजा सिंह को अपने पैर से कुचलता हुआ दिखाया गया है और (३) तीसरी कोटि में सम्राट् के भय से आक्रान्त सिंह पलायमान होता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इन मुद्राओं के साक्ष्य से स्पष्ट है कि यह सम्राट् आखेट का अत्यन्त प्रेमी था। इस वर्ग के सिक्कों से सम्बन्धित चार महत्त्वपूर्ण लेखों का प्रसंग दिया जा सकता है। (१)पहले प्रकार के लेख में सम्राट् की उपाधि 'नरेन्द्रचन्द्र', 'अजेय' तथा 'सिंहविक्रम' बताई गई है, (२) दूसरे प्रकार के लेख में उसकी उपाधि 'नरेन्द्रसिंह' मिलती है ('नरेन्द्रसिंह चन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति'), (३) तीसरे लेख में उसका नाम उसकी उपाधि महाराजाधिराज के सहित अंकित मिलती है तथा (४)चौथे प्रकार के लेख में उसे 'देवश्री-महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः' कहा गया है।[1]

(३) **अश्वारूढ़ मुद्रा**—यह इस सम्राट् के द्वारा प्रवर्तित नवीन प्रकार की मुद्रा थी। यह राजा के निपुण अश्वारोही होने की ओर संकेत करती है। इन सिक्कों का व्यास ·७५" से ·८"तक मिलता है। इनमें से अधिकांश तौल में १२१ ग्रेन हैं। कतिपय की तौल १२४ तथा १२७ ग्रेन भी मिलती है। ये सिक्के बयाना-कोष में ८२, लखनऊ-संग्रहालय में ११, कलकत्ता-संग्रहालय में ५ तथा ब्रिटिश संग्रहालय में १२ की संख्या में उपलब्ध हुए हैं। इन मुद्राओं के मुख भाग पर सम्राट् अश्वारुढ़ दिखाया गया है। इस ओर वर्तुलाकार लेख 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्री-चन्द्रगप्तः' अंकित है। पृष्ठ भाग पर प्रभामंडल से युक्त लक्ष्मी का चित्र मिलता है। वह एक हाथ में पाश तथा दूसरे हाथ में कमल लिये हुए दिखाई गई हैं।[2]

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १०५-२१

२. वही, पृष्ठ १२१-२६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(४) **छत्र मुद्रा**—यह भी इस सम्राट् के द्वारा प्रवर्तित नवीन प्रकार की मुद्रा है। ये सिक्के बयाना-कोष में ५७, लखनऊ-संग्रहालय में १ तथा ब्रिटिश संग्रहालय में ६ की संख्या में मिलते हैं। इनमें से अधिकांश की तौल १२१ ग्रेन है और कुछ की तौल १२४ ग्रेन एवं १२७ ग्रेन है। इनका व्यास ·७५" से लेकर ·८५" तक है। इनके मुख भाग पर सम्राट् यज्ञवेदी में आहुति डालता दिखाया गया है। उसके पीछे एक बौना नौकर सम्राट् के सिर पर छत्र धारण किये हुए है। संस्कृत-साहित्य में वामन (बौने) नौकर का प्रचुर उल्लेख मिलता है। ये विदूषक का काम तथा विभिन्न कार्य करते थे।[1] इस प्रकार की मुद्राओं पर वर्तुलाकार दो तरह के लेख मिलते हैं—(१) 'महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः' तथा (२) 'क्षितिमव जित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः'। पृष्ठ भाग पर कमल पर खड़ी लक्ष्मी का चित्र मिलता है। उसके बाएँ हाथ में नालयुक्त कमल तथा दाहिने हाथ में जपमाला दिखाई गई है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि हाथ में पद्म धारण किए लक्ष्मी का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रचुर रूप में उपलब्ध है।"[2]

(५) **पर्यंक मुद्रा**—यह समुद्रगुप्त की वीणावादन मुद्रा का अनुकरण है। पर साथ ही इसमें नवीनताएँ भी मिलती हैं। इस वर्ग की मुद्राएँ संख्या में अत्यल्प हैं (बयाना-कोष में तीन तथा बम्बई, कलकत्ता, लखनऊ एवं ब्रिटिश संग्रहालयों में एक)। इनकी तौल १२१ ग्रेन के लगभग है। इनका व्यास ·८" से लेकर ·८५" तक है। इसके मुख भाग पर सम्राट् वस्त्र एवं आभूषणों से सुसज्जित पर्यंक पर आसीन है। इस ओर तीन प्रकार के लेख मिलते हैं—(१) 'देवश्री-महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य', (२) 'विक्रमादित्यस्य' तथा (३) 'परमभागवत-महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः।' इस वर्ग की एक मुद्रा के ऊपर पर्यंक के नीचे

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ ९०

२. "बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम्।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया॥"

—रघुवंश, सर्ग १०, श्लोक ६२

तुलनार्ह

"छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥"

—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ५

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

सम्राट् की उपाधि 'रूपाकृति' अंकित मिलती है। इससे सम्राट् के सुन्दर व्यक्तित्व (रूपयुक्ता आकृतिः) का बोध होता है।[1] इसके पृष्ठ भाग पर देवी सिंहासनारूढ़ अवस्था में प्रदर्शित की गई है। उसके बायें हाथ में कमल तथा दाहिना हाथ रिक्त है। इस ओर राजा की उपाधि 'श्रीविक्रमः' अंकित मिलती है।

(६) **पर्यंकस्थित राजा-रानी मुद्रा**—इस प्रकार की केवल एक ही मुद्रा मिली है। इसका प्राप्तिस्थान अयोध्या से २५ मील की दूरी पर बदौली नामक ग्राम है। डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि यह सिक्का पर्यंक मुद्रा के साथ-साथ अथवा कुछ पीछे निकाला गया होगा। इसकी तौल केवल ११२·५ ग्रेन है। इसकी इतनी कम तौल के कारण इसकी गुप्त-मुद्रा होने में संदेह प्रकट करना ठीक न होगा। बयाना-कोष के चन्द्रगुप्त द्वितीय के कुछ सिक्के ११२ ग्रेन अथवा इससे भी कम तौल के हैं। इसके मुख भाग पर सम्राट् प्रभामंडल से युक्त लंबा कोट तथा पायजामा पहने हुए दिखाया गया है। उसके बायें हाथ के नीचे उसके नाम का पूर्वार्द्ध चन्द्र तथा उसके चित्र के चारों ओर 'परम···भग···श्रीचन्द्रगुप्त' लेख मिलता है। 'परम-भग' से तात्पर्य उसकी उपाधि परमभागवत से है। इसके पृष्ठ-भाग पर प्रभामंडलयुक्त राजा-रानी पर्यंक पर आसीन दिखाये गये हैं। इस ओर राजा की उपाधि 'श्री विक्रमः' मिलती है। वह उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय की थी। अतएव यह स्पष्ट है कि यह मुद्रा उसी की है।[2]

(७) **ध्वजधारी मुद्रा**—इस प्रकार की मुद्रा केवल एक ही मिली है। यह काशी विश्वविद्यालय के कलाभवन में रखी हुई है। श्री छाब्रा को संदेह है कि यह मुद्रा चन्द्रगुप्त द्वितीय की रही होगी। उनका कथन है कि इसके मुख भाग अथवा पृष्ठ भाग पर कहीं भी चन्द्रगुप्त द्वितीय की विरुद 'विक्रम' नहीं अंकित मिलती। परन्तु उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की सभी मुद्राओं पर यह उपाधि नहीं प्राप्त होती। डॉ० अल्तेकर एवं श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही सिक्का माना है।[3] इसके मुख भाग के ऊपर प्रभा-मंडल से युक्त सम्राट् कोट एवं पायजामा पहने वस्त्राभरणों से विभूषित दिखाया गया है। उसके बायें हाथ के नीचे उसका चन्द्रगुप्त नाम अंकित मिलता है। इस ओर वर्तुलाकार लेख 'वसुधां विजित्य जयति त्रिदिवं पृथिवीश्वरः' मिलता है।

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ ९४

२. द्रष्टव्य :—दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १३८-१४०

३. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ ९९

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

डॉ० अल्तेकर का कथन है कि यह 'वसुधां विजित्य जयति त्रिदितं पृथिवीश्वरः पुण्यैः' का पर्याय है—"संसार को जीत कर पृथ्वी का स्वामी पुण्य कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति करता है।"[1] इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर राजा की 'परमभागवत' उपाधि अंकित है। गुप्त-नरेशों में सबसे पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस उपाधि को धारण किया था।

(८) **चक्रविक्रम मुद्रा**—इस प्रकार का केवल एक ही सिक्का बयाना-कोष से प्राप्त हुआ है। इसका व्यास ·७५" तथा तौल ११६·७ ग्रेन है। इस मुद्रा की विशेषता है कि इसमें सम्राट् का नाम नहीं अंकित है। इसके मुख भाग की दाहिनी ओर भगवान् विष्णु प्रभामण्डल से युक्त धोती, हार एवं कटक पहने दिखाये गये हैं। उनके बायें हाथ में गदा है। उनके सामने प्रभामण्डलयुक्त राजा का चित्र है। वह अपना दाहिना हाथ ऊपर किये हुए हथेली में विष्णु से तीन गोल पदार्थों को ग्रहण कर रहा है। इसके पृष्ठ भाग पर कमलासीन लक्ष्मी का चित्र मिलता है। इस ओर लेख 'चक्रविक्रम' मिलता है।[2] यह चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधि 'अजित विक्रम' तथा 'सिंहविक्रम' से साम्य रखता है। वह परमविष्णुभक्त था, अतएव यह मुद्रा उसी की है।[3]

रजत-मुद्राएँ—गुप्तवंशीय नरेशों में सबसे पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने रजत-मुद्राओं का प्रवर्तन किया था। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि जिस समय उसने गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी मालवा को जीता, उस समय उसे शक-मुद्राओं के अनुकरण की आवश्यकता पड़ी। इन भागों में शकों के चाँदी के सिक्के चलते थे। इनके मुख भाग पर राजा का अर्द्धचित्र, लम्बे बाल एवं मूँछें, यूनानी अक्षरों के अस्पष्ट अवशेष तथा सिर के पीछे शक संवत् में तिथियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं। इनके पृष्ठ भाग पर अर्द्धचन्द्र, विन्दुसमूह तथा वर्तुलाकार मुद्रालेख आदि वर्तमान होते थे। इन विशेषताओं का अनुकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय की रजत-मुद्राओं में परिलक्षित होता है। इनके मुखभाग पर राजा का अर्द्धचित्र, गर्दन पर लटकते हुए लम्बे बाल, यूनानी अक्षरों के अवशेष तथा सिर के पीछे गुप्त संवत् में तिथि मिलती है। इनके पृष्ठ भाग पर अर्द्धचन्द्र तथा विन्दुसमूह एवं वर्तुलाकार मुद्रालेख दृष्टिगोचर होते हैं। अंतर केवल इतना ही मिलता है

---

१. गुप्त-कालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १००
२. वही, पृष्ठ १०२
३. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १४५-५०

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

कि जहाँ शक-मुद्राओं के पृष्ठ-भाग पर चैत्य मिलता है, वहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं पर गुप्त वंश का राजचिन्ह गरुड उत्कीर्ण है। इसमें गरुड का चित्र अपने वास्तविक स्वरूप में उपलब्ध होता है, अर्थात् मुख एवं शरीर दोनों ही गरुड पक्षी का है। शक-मुद्राओं के आकार और तौल की भाँति उसकी मुद्राओं का आकार ·५" से लेकर ·५५" तक तथा तौल २६·५ से लेकर ३१ ग्रेन तक है। उसके चाँदी के सिक्के दो प्रकार के हैं। पहले वर्ग के सिक्कों में सम्राट् के वैष्णव मतावलंबी होने का उल्लेख मिलता है। इसमें उसकी उपाधि विक्रमादित्य आती है—'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तविक्रमादित्यः'। डॉक्टर अल्तेकर का अनुमान है कि इस वर्ग की मुद्राएँ गुजरात के टकसाल में तैयार की गई होंगी। दूसरे वर्ग के सिक्कों में उसके राजवंश का उल्लेख मिलता है, पर उसके संप्रदाय का उल्लेख कहीं पर भी नहीं मिलता। इस कोटि की मुद्राओं में सम्राट् की उपाधि 'विक्रमांक' आती है—"श्री गुप्तकुलस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तविक्रमांकस्य"। डॉक्टर अल्तेकर का कथन है कि ये सिक्के काठियावाड़ के टकसाल में तैयार किये गये होंगे।[1]

ताम्रमुद्राएँ—इस नरेश ने ही गुप्त वंश में ताम्र-मुद्रा के प्रचलन की परंपरा को अधिक लोकप्रिय की थी। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि उसके ताँबे के सिक्के सोने के सिक्कों से भी कम संख्या में उपलब्ध हुए हैं। ताम्रमुद्राओं की संख्या का अभाव फाहियान के उस कथन की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार उस समय लोग साधारण आर्थिक व्यवहार में वस्तु-विनियम एवं कौड़ियों का उपयोग करते थे। उसे पाटलिपुत्र की बाज़ारों में कौड़ियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में देखने को मिला था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा प्रचलित ताम्र-मुद्राएँ निम्न प्रकार की थीं—

(१) **छत्रधारी मुद्रा**—इसका व्यास ·८५" तथा तौल ५७·५ ग्रेन है। इसके मुख भाग पर राजा का चित्र मिलता है तथा उनके पीछे बौना नौकर छत्र लिये खड़ा है। इसके पृष्ठ भाग पर राजा का नाम 'महाराजश्रीचन्द्रगुप्तः' अंकित मिलता है। इसी ओर गरुड की आकृति भी उपलब्ध होती है, जिसमें सिर मनुष्य का तथा शरीर पक्षी का मिलता है।

(२) **धनुर्धारी मुद्रा**—इसका व्यास ·८" तथा तौल ८४·३ ग्रेन है। इसके मुख भाग पर प्रभामंडलयुक्त राजा का चित्र मिलता है। वह अपने बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण धारण किये हुए है। उसके बायें हाथ के नीचे उसका

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १०८ तथा दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १५०-५२

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

चन्द्र नाम अंकित है। इसके पृष्ठ भाग पर कमलासीन लक्ष्मी का चित्र मिलता है। इसी ओर राजा की उपाधि 'श्रीविक्रमः' आती है।

(३) **ऊर्ध्वकाय मुद्रा**—इसका व्यास ·६" तथा तौल ८७ ग्रेन है। इसके मुख भाग पर राजा का अर्द्धचित्र मिलता है। वह हार, कुंडल तथा भुजबंध धारण किये हुए है। इसके पृष्ठ भाग पर प्रभामंडलयुक्त गरुड का चित्र तथा राजा का नाम ('महाराज-चन्द्रगुप्तः') अंकित मिलता है।

(४) **चक्रमुद्रा**—इस कोटि की मुद्रा दुष्प्राप्य है। इसका व्यास ·४" तथा तौल ८·४ ग्रेन है। इसके मुख भाग के ऊपरी आधे पर चक्र तथा निचले आधे पर 'चन्द्र' नाम अंकित मिलता है यद्यपि यह अधिक स्पष्ट नहीं है। इसके पृष्ठ भाग के ऊपरी हिस्से में गरुड का चित्र तथा उसके नीचे 'गुप्त' (राजा के नाम का उत्तरार्द्ध) उत्कीर्ण किया गया है।

(५) **कलश मुद्रा**—इसका व्यास ·४" तथा तौल १२·१ ग्रेन है। इसके मुख भाग के ऊपर अर्द्धचन्द्र तथा उसके नीचे 'चन्द्र' (राजा के नाम का प्रथमार्द्ध) अंकित है। इसके पृष्ठ भाग में कलश का चित्र मिलता है।[1] पूर्ण-कलश का स्थान भारतीय कला में सर्वदा महत्त्वपूर्ण रहा है। गुप्तकालीन देवालय-स्थापत्य में भी इस शुभाकृति का अंकन विशेष रूप से हुआ है।

फाहियान का विवरण—इस नरेश के काल की सांस्कृतिक दशा के पुनर्निर्माण में फाहियान का यात्राविवरण पर्याप्त रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ है। उसने अपने समकालीन भारतीय सम्राट् का नामोल्लेख नहीं किया है। उसने ३९९ ई० से लेकर ४१४ ई० तक भारत में विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों का पर्यटन किया था। यह काल चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल का प्रतिनिधित्व करता है। अतएव इस चीनी यात्री ने जिन सांस्कृतिक दशाओं का वर्णन किया है, वे इसी नरेश के काल की मानी जा सकती हैं। उसका जन्म चीन के वु-यंग नामक स्थान में हुआ था। उसका पिता बौद्ध मतावलम्बी था तथा इस कारण वह फाहियान को बौद्ध धर्म में दीक्षा देना चाहता था। उसके तीन और बड़े भाई थे, जो अल्पावस्था में ही दिवंगत हो चुके थे। फलतः उसके माता-पिता ने उसकी सेवा-शुश्रूषा बड़े ही लगन के साथ की। एक बार वह बहुत बीमार पड़ा और उसके बचने की कोई भी आशा नहीं थी। इस पर उसके पिता ने उसे एक समीपवर्ती बौद्ध मठ में भेज दिया,

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ ११२ तथा दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १५३-६१

Digitization by Hindu-Heritage Foundation, of America. HHFA(USA)

जहाँ भिक्षुओं की सेवा के कारण वह पूर्ण रूप से चंगा हो गया। इसके उपरांत वह बौद्ध मठ में ही निरंतर रहने लगा। इस कारण तथागत के प्रति उसकी आस्था दिन प्रति दिन द्विगुणित होती गई। उसने अपने परिवार के साथ पूर्ण रूप से संबन्धविच्छेद स्थापित किया तथा श्रमणों का जीवन बिताना प्रारंभ किया। उसने बौद्ध ग्रंथों का अनुशीलन किया। तथागत की जन्मभूमि के दर्शन के निमित्त उसकी स्पृहा बलवती हो उठी। बौद्ध तीर्थों का दर्शन कर वह अपनी आत्मा एवं नेत्रों को सन्तुष्ट करना चाहता था। इसके अतिरिक्त वह सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ विनयपिटक की एक प्रतिलिपि भी प्राप्त करना चाहता था।

यात्रा--उसने ३९९ ई० में कुछ मित्रों के साथ अपनी भारतीय यात्रा प्रारंभ की। इसके विशिष्ट साथियों में हुइ-चिंग, ताओ-चेंग, हुई-यिंग तथा हुई-वेई उल्लेखनीय हैं। कुछ आगे बढ़ने पर कतिपय अन्य चीन के भारतीय यात्रियों से उसकी भेंट हुई; उदाहरणार्थ चिह-येन, हुई-चियेन, सोंग-शाओ, पाओ-युन तथा सेंग चिंग। सर्वप्रथम वह शनशन पहुँचा। यहाँ पर भारतीय सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव था। इस स्थान में लगभग चार हजार बौद्ध-भिक्षु रहते थे। यहाँ की साधारण जनता विभिन्न भारतीय धर्मों का अवलम्बन करती थी। इसके अनन्तर वह कठिन यात्रा करता हुआ अपने मित्रों के साथ करशहर पहुँचा। वहाँ के मठों में भी हीनयान मतानुयायी बौद्ध भिक्षु रहते थे। इसके अनन्तर वह नदी, दुर्गम एवं विविक्त स्थानों को पार करता हुआ खोतान पहुँचा। वहाँ उस समय चौदह बड़े मठ वर्तमान थे। सबसे बड़े मठ का नाम गोमती विहार था, जिसमें तीन हजार महायान धर्म के अनुयायी भिक्षु रहते थे। उनका जीवन संयमित एवं आदर्शपूर्ण था। उनके भोजन, विश्राम और अध्ययन का समय निश्चित था। खोतान में गोमती बिहार के ही समीप एक दूसरा बड़ा विहार बना हुआ था, जो २५० फीट ऊँचा था। इसको तीन पीढ़ी के शासकों ने ८० वर्षों में बनवाया था। इसमें सुवर्ण, रजत् एवं बहुमूल्य धातुएँ जड़ी हुई थीं। इसके अनन्तर वह काशगर पहुँचा। यहाँ का शासक बौद्ध मतावलंबी था। जिस समय फाहियान वहाँ पहुँचा, उस समय उसने 'पंच-परिषद्' के सामने श्रमणों के जीवन में काम देने वाली आवश्यक वस्तुओं को दान में दिया था। इस स्थान में एक हजार हीनयान मतावलम्बी रहते थे।

स्थान-वर्णन--इसके पश्चात् भयंकर कष्टों का सामना करता हुआ वह पुष्कलावती पहुँचा। यह वह स्थान था, जहाँ अशोक का पुत्र धर्मवर्द्धन शासन कर चुका था। यहाँ पर बोधिसत्त्व ने दूसरे व्यक्ति को अपनी आँखें दी थीं। हीनयान मत के अनुयायियों की संख्या वहाँ अधिक थी। फाहियान ने इस स्थान पर एक बड़े स्तूप के वर्तमान होने का उल्लेख किया है, जो सुवर्ण एवं रजत् आदि धातुओं

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

से जटित था। वहाँ से पूर्व की दिशा में पाँच दिनों की यात्रा करने के उपरांत वह तक्षशिला पहुँचा। चीनी परंपरा के अनुसार यहाँ पर बोधिसत्त्व ने अपना सिर काट कर एक दूसरे व्यक्ति को दान कर दिया था। अतएव चीन में लोग तक्षशिला का अर्थ 'कटा सिर' समझते थे। इस नगर में बहुमूल्य धातुओं से जटित एक विशाल स्तूप था, जिस पर विभिन्न दिशाओं के सम्राट्, मंत्री एवं धनिक व्यक्ति पूजा चढ़ाने में एक दूसरे से स्पर्द्धा रखते थे। वहाँ से वह दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चार दिनों में पुरुषपुर पहुँचा। कनिष्क के द्वारा निर्मित स्तूप वहाँ इस समय विद्यमान था। यह लगभग ४०० फीट ऊँचा था। सुरम्यता तथा ऐश्वर्य में यह अद्वितीय था। फाहियान ने सबसे अधिक इसी स्तूप की प्रशंसा की है। इस समय तक उसके केवल दो ही साथी बच रहे थे—(१) हुइ-चिंग तथा (२) ताओ-चेंग। उसके अन्य मित्र अधिक थक जाने के कारण चीन लौट गये।

तत्पश्चात् वह १६ योजन पश्चिम की ओर यात्रा करता हुआ नगर देश पहुँचा। वहाँ पर उसने एक भव्य विहार के वर्तमान होने का उल्लेख किया है, जिसके नीचे गौतम बुद्ध के कपाल की हड्डी गड़ी हुई थी। पार्श्ववर्ती स्थानों के नरेश बड़ी श्रद्धा के साथ इस पर पूजा चढ़ाते थे। उन्होंने इस बात की सुरक्षा का प्रबन्ध किया था कि कोई व्यक्ति गौतम बुद्ध की अस्थि को निकाल न ले जाय। इस देश की राजधानी में एक स्तूप था, जिसमें परंपरा के अनुसार बुद्ध का दाँत गड़ा हुआ था। इस कारण यह स्तूप भी बड़े ही आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसके पश्चात् की कठिन यात्रा में उसका साथी हुई-चिंग मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसे इस घटना के कारण हार्दिक क्लेश हुआ। तदनन्तर पंजाब के विविध केन्द्रों का पर्यटन करता हुआ वह मथुरा पहुँचा। वहाँ जमुना नदी के किनारे २० मठ बने थे। इनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या तीन हजार के लगभग थी। भारतीय नरेश इन भिक्षुओं का आदर करते थे। वे अपने परिवार के सदस्यों एवं सचिवों के साथ इनका दर्शन करते समय अपनी पगड़ी उतार कर नीचे रख देते थे। इन असवरों पर वे जमीन के ऊपर बिछी दरी पर बैठ जाते थे तथा श्रमणों को भोजन कराते और उन्हें प्रभूत दक्षिणा देते थे।

फाहियान के अनुसार मथुरा के अनन्तर मध्यदेश प्रारंभ हो जाता था। उसने इस भू-भाग की सबसे अधिक प्रशंसा की है। यह उस समय ब्राह्मण देश कहा जाता था। उसके अनुसार इसके निवासी समृद्ध एवं सुखी थे। मध्य देश में सबसे पहले वह सांकाश्य पहुँचा। यह स्थान भी बौद्ध धर्म का एक पवित्र तीर्थ माना जाता था। भारतीय परंपरा के अनुसार भगवान् बुद्ध अपनी माता से मिलने के निमित्त यहाँ पर त्रयस्त्रिंश से उतरे थे। वहाँ पर अशोक के द्वारा निर्मित एक

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

मठ तथा ६० फीट ऊँचा एक स्तंभ था जिसके शीर्ष-स्थान पर एक सिंह-प्रतिमा बनी हुई थी। इस स्थान में कुछ और भी मठ बने हुए थे, जिनमें हीनयान तथा महायान दोनों ही शाखाओं के अनुयायी भिक्षु रहते थे। उनकी अध्ययनशीलता से वह प्रभावित हो उठा था। वह लिखता है कि यह प्रदेश उपजाऊ था और इस कारण यहाँ के निवासी संपन्न थे। जब कोई विदेशी उनके घर पर पहुँचता था, उस समय वे भोजन एवं वस्त्र आदि से उनका स्वागत करते तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

वहाँ से सात योजन दक्षिण-पूर्व की ओर यात्रा करता हुआ वह कान्यकुब्ज पहुँचा। यह नगर गंगा नदी के किनारे स्थित था। इसमें दो मठ थे जिनमें हीनयान धर्मावलंबी रहते थे। वहाँ से तीन योजन की दूरी पार करता हुआ वह साकेत पहुँचा। इस नगर से आठ योजन की दूरी पर श्रावस्ती स्थित था। उसने यहाँ के निवासियों की दानपरायणता तथा अतिथिसत्कार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इस नगर में दानगृह बने हुए थे, जहाँ पर यात्रियों एवं साधु-संन्यासियों को निःशुल्क भोजन एवं वस्त्र मिलता था। उसने यहाँ पर बौद्धेतर धर्मानुयायियों के भी वर्तमान होने का उल्लेख किया है। फाहियान के आगमन के समय यह नगर अधिक उजड़ चुका था। इसकी नीरवता को देख कर उसे बहुत कष्ट हुआ। इसमें अब भी कुछ मठ तथा स्तूप विद्यमान थे। उसने इस नगर के जेतवन का उल्लेख किया है। इसे सुदत्त ने जितनी सुवर्ण-मुद्राएँ इस उपवन में बिछाई जा सकती थीं, उतने मूल्य में खरीदा था। इसी कारण फाहियान ने इसे 'सुवर्ण-उपवन' कहा है। इसमें सुदत्त के द्वारा बनवाया हुआ विहार उस समय वर्तमान था। उसने इस नगर के उन सभी स्थानों का उल्लेख किया है, जो देवदत्त तथा काश्यप, क्रकुच्छन्द एवं कनकमुनि आदि पूर्व बुद्धों के जीवन से संबन्धित थे।

इसके उपरांत वह कपिलवस्तु पहुँचा। उस समय तक यह नगर काफी ध्वस्त हो चुका था। यहाँ रहने वालों की संख्या अत्यल्प थी। इसके भीतर जंगली जानवरों के आक्रमण का खतरा बराबर बना रहता था। इसके अनन्तर वह कुशीनगर तथा वैशाली होता हुआ पाटलिपुत्र पहुँचा। उसके अनुसार यह भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ नगर था। अशोक के द्वारा निर्मित राजप्रासाद इसमें अब भी वर्तमान था। इसे देखकर वह आश्चर्यचकित हो उठा। उसे ऐसा आभास हुआ, मानों उसका निर्माण देवताओं ने किया था, न कि मनुष्य ने। इसकी दीवालों तथा खंभों में पत्थर चुने गये थे और नक्काशी का काम बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया था। इस पुर के नागरिक धनधान्य से संपन्न एवं उन्नतशील थे। अतिथिपरायणता में वे एक दूसरे से स्पर्द्धा रखते थे। फाहियान के अनुसार इस नगर में महायान एवं

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

हीनयान धर्म से संबन्धित दो मठ वर्तमान थे। महायान मठ का सबसे प्रसिद्ध आचार्य रैवत नामक व्यक्ति था। वह महाप्राज्ञ एवं उदार व्यक्ति था। नागरिक उसका सबसे अधिक आदर करते थे। इस मठ में मंजुश्री नामक एक दूसरा बौद्ध आचार्य रहता था, जो अपनी विद्वत्ता एवं शुद्धाचार के कारण पूजनीय था। उसने पाटलिपुत्र में अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप तथा दो लाटों को देखा था। उन पर लेख उत्कीर्ण थे तथा उनके शीर्षस्थान पर सिंह-प्रतिमा बनी हुई थी। उसका ताओ-चेंग नामक साथी उसके साथ पाटलिपुत्र तक आया था। वह मध्यदेश के धार्मिक वातावरण से प्रभावित होने के कारण इस नगर में रुक गया तथा अपने जीवन के शेष दिनों को उसने भारतवर्ष में व्यतीत किया। फाहियान बौद्धधर्म-संबन्धी संकलित सामग्री के साथ स्वदेश जाना चाहता था, अतएव उसने ताओ-चेंग से विदाई लेकर आगे की यात्रा प्रारंभ की।

वह नालगाँव (नालन्दा) पहुँचा, जहाँ गौतम बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्र का जन्म हुआ था। उसकी मृत्यु भी इसी स्थान में हुई थी तथा उसकी अस्थियों के ऊपर एक स्तूप वहाँ पर बना हुआ था जिसका उल्लेख उसने किया है। उसके वर्णन से लगता है कि इस समय यह ग्राम के रूप में ही बसा हुआ था तथा वहाँ कोई नगर नहीं था। इसके अनन्तर एक योजन की यात्रा करता हुआ वह राजगृह पहुँचा। उसने वहाँ पर दो मठों के वर्तमान होने का उल्लेख किया है। इस नगर के पश्चिमी द्वार पर अजातशत्रु द्वारा निर्मित एक सुन्दर स्तूप बना हुआ था। उसने गृधकूट-शृंग का उल्लेख किया है। यह स्थान गौतम बुद्ध एवं आनन्द की कृतियों से संबन्धित था, अतएव इसे देख कर चीनी यात्री विभोर हो उठा। इसके अनन्तर बोधिगया का दर्शन करता हुआ वह पाटलिपुत्र लौट आया। वहाँ से वह वाराणसी आया। उसने मृगशिखावन (सारनाथ) का उल्लेख किया है। वहाँ पर दो मठ बने हुए थे। तदुपरान्त वह पुनः पाटलिपुत्र वापस लौटा तथा वहाँ से उसने अपनी गृह-यात्रा प्रारंभ की। चंपा से होता हुआ वह बंगाल समुद्र-तट पर स्थित बंदरगाह ताम्रलिप्ति (तामलुक) पहुँचा। वहाँ वह दो वर्षों तक रुका हुआ था। इस स्थान के धार्मिक वातावरण पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। इसमें २४ मठ बने हुए थे।

सम्राट्—फाहियान ने अपने समकालीन भारतीय नरेश (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) की प्रचुर प्रशंसा की है। उसके अनुसार यह सम्राट् ब्राह्मण मतावलंबी था। उसके राज्य के नागरिक उसी के समान दयालु एवं धार्मिक थे। उसके समय में प्रजा को कष्ट नहीं उठाना पड़ा था तथा दुर्भिक्ष, क्रान्ति अथवा अराजकता कभी

Digitization by Hindu-Heritage Foundation, of America. HHFA(USA)

न हुई थी।[1] उसका शासन-प्रबन्ध बहुत ही सुव्यवस्थित था। लोग सुखी एवं संपन्न थे। उन्हें अपनी संपत्ति के विषय में कोई कानूनी लिखा-पढ़ी नहीं करनी पड़ती थी। लोगों को न्यायालयों में बहुत कम जाना पड़ता था। करों की संख्या भी कम थी। जो नागरिक राजकीय भूमि को जोतते थे, उन्हें अपने लाभ का कुछ हिस्सा राज्य को देना पड़ता था। उन्हें स्वतंत्रता प्रचुर मात्रा में प्राप्त थी। शारीरिक दण्ड अथवा मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। अपराधियों से प्रायः अर्थदण्ड वसूल कर उन्हें छोड़ दिया जाता था। सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र करने पर अभियुक्त का केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था, पर उसे मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था।[2] चीनी यात्री के इस विवरण से स्पष्ट है कि उस समय भारतवर्ष का दण्डविधान बहुत ही साधारण था।

समाज—फाहियान ने भारतीय समाज की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उसके अनुसार इस देश के लोग अतिथिपरायण बहुत थे। जब कोई अतिथि उनके घर पहुँचता था, तो लोग दिल खोल कर उसका स्वागत करते थे। उनके भोजन एवं विश्राम की पूर्ण व्यवस्था करने में वे कभी चूकते नहीं थे।[3] दयालुता एवं धर्म के क्षेत्र में लोग एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा रखते थे। संपूर्ण देश में कोई जीवों की हत्या नहीं करता था। लोग लहसुन, प्याज, मांस, मछली तथा मदिरा आदि से परहेज रखते थे।[4] उसके अनुसार केवल चण्डाल ही मांस-भक्षण करते थे। वे क्रूर-वृत्ति के कारण अस्पृश्य समझे जाते थे। उन्हें बस्ती के बाहर रहना पड़ता था। जब कभी वे नगर में प्रवेश करते थे, तो वे गले में ढोल बाँध कर उसे बजाते हुए चलते थे तकि लोग उनके आगमन की सूचना पा जायँ तथा उनके स्पर्श से बच सकें।[5] लोग सूअर तथा मुर्गा नहीं पालते थे तथा जीवित पशुओं को नहीं बेंचते थे। बाजारों में कहीं भी कसाई-घर तथा मदिरागृह नहीं वर्तमान थे। केवल चाण्डाल लोग ही मछली मारते तथा जानवरों का शिकार करते थे। अन्यथा अन्य जातियों के लोगों का जीवन एवं व्यवसाय बहुत ही पवित्र था।[6] फाहियान ने सबसे अधिक वैश्यों

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १०४
२. वही, पृष्ठ ४२-४३
३. वही, पृष्ठ ५२
४. वही, पृष्ठ ४३
५. वही, पृष्ठ ४३
६. वही, पृष्ठ ४३

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

की प्रशसा की है। मथुरा के वैश्यों के विषय में वह लिखता है कि वे अत्यन्त धार्मिक प्रकृति के थे। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के विश्राम की सुविधा के निमित्त मठ बनवाया था। इन विहारों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त उन्होंने भूमि दान में दिया था। इनकी दीवालों के ऊपर ताम्रपत्र जड़े हुए थे, जिन पर दानकर्ता वैश्यों के नाम उत्कीर्ण किये गये थे। इस प्रकार ऐसे दान की स्मृति कई पीढ़ियों तक लोगों में बनी रहती थी। कोई भी सम्राट् दान को तोड़ नहीं सकता था।[1] उसके अनुसार पाटलिपुत्र के प्रधान वैश्यों ने वहाँ औषधालय एवं दानगृह निर्मित किया था। इनमें दरिद्र, निराश्रय, असहाय, विधवाओं, निस्संतान, लूले, लँगड़े तथा रोगी लोगों को भोजन, वस्त्र तथा औषधियाँ निःशुल्क मिलती थीं। ऐसे औषधालयों में निपुण चिकित्सक होते थे। वे रोगी की परीक्षा के उपरान्त उन्हें उचित औषधि देते थे। उनमें इनके विश्राम की भी सुविधा होती थी। जब वे अच्छे हो जाते थे, तभी उन्हें वहाँ से हटाया जाता था।[2]

आर्थिक दशा—फाहियान लिखता है कि क्रय-विक्रय में कौड़ियाँ प्रयोग में लाई जाती थीं। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की बाज़ारों में कौड़ियों का व्यवहार खूब होता था।[3] लगता है कि उसका यह कथन छोटे क्रय-विक्रय के विषय में है। बड़ी वस्तुओं की सौदागीरी में मुद्राओं का प्रयोग होता होगा। गुप्त-काल की मुद्राएँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं। फाहियान के वर्णन से लगता है कि भारतवर्ष का व्यापार उन्नत दशा में था। उसके अनुसार उस समय इतनी बड़ी जहाजें बनती थीं कि उनमें दो सौ व्यक्ति एक ही बार बैठ सकते थे। उसने ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर एक बड़ी जहाज में बैठ कर स्वदेश के लिये प्रस्थान किया था। उसके साथ कई छोटी-छोटी नावें भी लगी थीं। मार्ग में भयंकर आँधी तथा तूफान का सामना करने पर भी वह उलट नहीं सका था। उसने अपने साथ सफेद सिल्क लेकर भारतवर्ष आने वाले एक सौदागर का उल्लेख किया है।[4] स्पष्ट है कि वह चीनी व्यापारी था। कालिदास के अनुसार भारतवर्ष में चीनी रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) लोकप्रिय था।

विद्या का संरक्षण—उसके अनुसार सम्राट् विद्वानों का संरक्षक था। उस समय पाटलिपुत्र में महायान संप्रदाय का एक आचार्य रहता था। वह एक कुशाग्र एवं प्रखर बुद्धि का विद्वान् था। सम्राट् उसे आदर की दृष्टि से देखता था। वह

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ ७९
३. वही, पृष्ठ ४३
४. वही, पृष्ठ १०३

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America, HHFA(USA)

दर्शनार्थ इस आचार्य के पास जाया करता था। ऐसे अवसर पर उसे बैठने के लिये निम्न स्थान दिया जाता था। यदि अकस्मात् उसके शरीर का कोई भाग सम्राट् से छू जाता था, तो वह शीघ्र ही भली-भाँति उसे धो डालता था। उससे अध्ययनार्थ सुदूर भागों के लोग आया करते थे।[1] फाहियान ने पाटलिपुत्र के मंजुश्री नामक एक दूसरे विद्वान् का उल्लेख किया है। वह भी अपनी विद्वत्ता के लिये प्रख्यात था। सम्राट् ने इसे भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था।[2]

धार्मिक दशा--वह लिखता है कि भारतवर्ष में विभिन्न प्रकार की धार्मिक विचारधाराएँ विद्यमान थीं। परलोक में इन सबका विश्वास था।[3] उसने भारतीय श्रमणों की बड़ी प्रशंसा की है। मथुरा के श्रमणों के विषय में वह लिखता है कि वे धार्मिक गुणों से युक्त थे तथा प्रतिदिन सूत्रों का पाठ करते एवं ध्यानमग्न रहते थे। जब कोई नवागन्तुक भिक्षु उनके पास आता था, तो वे भोजन, जल एवं वस्त्र आदि से उनका आदर करते थे।[4] अन्य नगरों में निवास करने वाले भिक्षुओं के भी रहन-सहन का ढंग आदर्शपूर्ण था। पार्श्ववर्ती ग्रामों के निवासी उन्हें भोजन-वस्त्र पहुँचाते रहते थे।[5] जो विहार गौतम बुद्ध के जीवन से संबन्धित थे, उनका लोग बहुत ही आदर करते थे। उदाहरणार्थ जेतवन विहार को दान देने में भारतीय नरेश एक दूसरे की प्रतिस्पर्द्धा करते थे। वहाँ रात्रि के अवसर पर दीपक इतनी अधिक संख्या में जलाये जाते थे कि दिन जैसा प्रकाश दिखाई देता था।[6]

उत्सव—इस यात्री के अनुसार भारतवर्ष के लोग उत्सव एवं समारोह के प्रेमी थे। वे वैशाख की अष्टमी को एक विशेष प्रकार का उत्सव मनाते थे, जिसमें मूर्तियों का जलूस निकलता था। वे चार पहिए के रथ के ऊपर बाँस के ऊँचे लट्ठों को एक दूसरे से बाँध कर पाँच मंजिलों का एक ढाँचा तैयार करते थे। केन्द्रीय स्थान पर एक लकड़ी का लट्ठा गाड़ दिया जाता था, जिसकी ऊँचाई बीस हाथ के लगभग हुआ करती थी। इन लट्ठों के ऊपर विभिन्न रंगों से सुसज्जित रेशमी वस्त्र चढ़ा दिया जाता था। इस प्रकार के निर्माण द्वारा जो आकार तैयार होता

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ७८
२. वही, पृष्ठ ७९
३. वही, पृष्ठ ४४
४. वही, पृष्ठ ८९
५. वही, पृष्ठ ८९
६. वही, पृष्ठ ५७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था, वह स्तूप के तुल्य लगता था। रथ के ऊपर सुवर्ण एवं रजत से जटित देव-प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। बाहर चारों ओर ताख बने रहते थे, जिन पर बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ रखी रहती थीं। कुल मिला कर इस प्रकार के बीस रथ होते थे। इनकी सजावट द्रष्टव्य थी। प्रतिमाओं के इस जलूस में साधु एवं गृहस्थ सभी सम्मिलित होते थे। उनके साथ गाने-बजाने वाले भी होते थे। यह जलूस नगर के प्रत्येक भाग में घूमता था। इसमें दो रात्रियाँ बीत जाती थीं। ऐसे अवसर पर पुर सुन्दर रोशनी के कारण जगमगा उठता था।[1] भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में यह उत्सव बड़े ही समारोह के साथ मनाया जाता था।[2]

फाहियान के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का काल शान्ति एवं ऐश्वर्य का युग था। इस समय कला एवं साहित्य का भी विकास हुआ। उसका शासन गुप्त-युग के सबसे महत्त्वपूर्ण काल का प्रतिनिधित्व करता है। सफलताओं की दृष्टि से निश्चय ही इस राजवंश का वह सबसे महान् सम्राट् था। उसका अन्तिम लेख साँची का अभिलेख है, जो कि गुप्त संवत ९३ (४१२ ई०) का है। उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम की पहली ज्ञात तिथि गुप्त संवत् ९६ (४१५ ई०) है। इससे स्पष्ट होता है कि उसका शासन-काल ४१५ ई० के लगभग समाप्त हुआ।

●●

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ७९
२. वही, पृष्ठ ७९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

६

कुमारगुप्त प्रथम–महेन्द्रादित्य

"चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां
सुमेरु-कैलास-बृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुट-पुष्पहासिनीं
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ।। ——मन्दसोर-प्रशस्ति

"जिस समय कुमारगुप्त सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन कर रहे थे—ऐसी पृथ्वी जिसके चारो समुद्र कमरबन्द थे, सुमेरु एवं कैलास पर्वत बृहत् पयोधर के तुल्य थे तथा सुरम्य वाटिकाओं में खिले हुए प्रसून ही जिसकी हँसी के समान थे।"

मन्दसोर-प्रशस्ति (मालव सम्वत् ४९३ एवं ५२९) के रचयिता मर्मज्ञ कवि वत्सभट्टि ने उपर्युक्त श्लोक की रचना द्वारा कुमारगुप्तकालीन भारत का एक देदीप्यमान चित्र हमारे समक्ष बड़ी ही सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। बिलसद के अभिलेख में उसे महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त का पुत्र एवं महादेवी ध्रुवदेवी के गर्भ से उत्पन्न कहा गया है (महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य)। मुद्राओं के ऊपर उसकी कई उपाधियाँ अंकित हैं; यथा श्रीमहेन्द्र, अश्वमेधमहेन्द्र, सिंहमहेन्द्र, श्रीमहेन्द्रसिंह, महेन्द्रकुमार, महेन्द्रकल्प, सिंहविक्रम, व्याघ्रबल-पराक्रम, श्रीप्रताप एवं महेन्द्रादित्य।

वैशाली के मुद्रा-लेख के अनुसार गोविन्दगुप्त नामक उसका कोई अनुज भी था, जो सम्भवतः उत्तरी बिहार में उसके समय में राज्यपाल का कार्य करता था। इस लेख के अनुसार वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी ध्रुवदेवी से उत्पन्न था (महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजाधिराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता ध्रुवस्वामिनी)। भितरी के मुद्रा-लेख में उसकी प्रधान महिषी का नाम अनन्तदेवी बताया गया है। इससे उसका पुरुगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था (महादेव्यामनन्तदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरुगुप्तः)। उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम स्कन्दगुप्त था। कतिपय विद्वानों का कथन है कि वह कुमारगुप्त की देवकी नामक राजमहिषी से उत्पन्न हुआ था, जिसका नामोल्लेख भितरी के स्तम्भ-लेख में हुआ है। उसका कोई पुत्र घटोत्कचगुप्त भी था जिसके नाम का उल्लेख गुप्त संवत् ११६ (४३५ ई०) के तुमैन के लेख में हुआ है। सम्भवतः वह पूर्वी मालवा का राज्यपाल था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसकी पहचान वैशाली की मुद्रा के घटोत्कचगुप्त (श्रीघटोत्कचगुप्तस्य) के साथ की जा सकती है। डॉ० सरकार का कथन है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् घटोत्कचगुप्त ने स्कन्दगुप्त के साथ उत्तराधिकार-संबन्धी युद्ध किया होगा, परन्तु ऐसा मानने के निमित्त कोई प्रामाणिक आधार नहीं है।

साधन––अभिलेखीय साधनों में सर्वप्रथम मन्दसोर-प्रशस्ति उल्लेखनीय है, जिसकी रचना वत्सभट्टि नामक कवि ने कुमारगुप्त द्वितीय के काल में ४७२ ई० में की थी। हरिषेण के तुल्य यह कवि भी उन उत्कृष्ट साहित्यकारों की कोटि में आता है, जिनके रचित ग्रन्थ तो नहीं उपलब्ध हो सके हैं, परन्तु जिनकी काव्य-प्रतिभा के विषय में परिचय पाषाण-खण्ड पर उत्कीर्ण पंक्तियों के आधार पर होता है। इस प्रशस्ति की विशेषता है कि यह राजकीय अभिलेख नहीं अपितु वैयक्तिक लेख है। यद्यपि यह प्रशस्ति कुमारगुप्त द्वितीय के काल में उत्कीर्ण की गई थी तथापि इसके द्वारा कुमारगुप्त प्रथम (४१५ ई०–४५५ ई०) के राज्यकाल की कतिपय विशिष्ट घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त इसका विशेष साहित्यिक महत्त्व भी है। इसमें आर्य्या, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, उपेन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा तथा मालिनी आदि संस्कृत-छन्दों के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। मन्दसोर पश्चिमी मालवा में सिवना नदी के किनारे स्थित है। इसी स्थान को आज दसोर भी कहते हैं। इसका प्राचीन नाम दशपुर था। यह स्थान पहले सिन्धिया रियासत में पड़ता था। लेख को पता लगाने एवं उसे विशेष प्रकाश में लाने का वास्तविक श्रेय कनिंघम एवं फ्लीट महोदयों को है।

इस प्रशस्ति के प्रथम तीन श्लोकों में सूर्य की स्तुति की गई है तथा तदनन्तर केन्द्रीय गुजरात (लाट विषय) के रमणीक वर्णन से यह प्रारम्भ होता है। यह प्रदेश पुष्प-भार से अवनत वृक्षों, देवकुल, सभा एवं विहार आदि से अत्यन्त सुशोभित था।[1] वहाँ से सिल्क बनाने की कला में अत्यन्त दक्ष (प्रथितशिल्पाः) कलाकार मालवा के प्रसिद्ध नगर दशपुर (आधुनिक दसोर) में आये। पहले वे अकेले तथा तदुपरान्त परिवार-सहित वहाँ आये। वहाँ के सरोवर चित्ताकर्षक थे। उनके किनारे उगे वृक्षों से जब नीचे पुष्प गिरते थे उस समय उनका जल विशेष कान्ति को धारण करता था। उनके जल में कमल खिले थे तथा उनके बीच में हंस एवं कारण्डव आदि पक्षी निरन्तर तैरते रहते थे। वाटिकाओं की छटा और भी निराली

---

१. "कुसुमभरानततरुवर-देवकुल-सभा-विहार-रमणीयात्"

––सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९०

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

थी। भौरों की सुमधुर गुंजार तथा गजगामिनी रमणियों की मन्थर एवं भव्य चाल के फलस्वरूप उनका सामान्य वातावरण देखते ही बनता था। पुर की अट्टालिकाएँ अत्यन्त भव्य थीं। सुनिर्मित भवनों को देखने से लगता था मानों वे पृथ्वी को फाड़ कर एक ही साथ ऊपर निकल आए हों। नगर दो ओर से नदियों के द्वारा घिरा हुआ था। लगता था कि प्रीति एवं रति नामक भार्याएँ साक्षात् कामदेव का ही गूढ़ रूप से आलिंगन कर रही थीं।

दशपुर में आने वाले वे दस्तकार अपने पैतृक व्यवसाय के अतिरिक्त विविध कलाओं में प्रवीण थे। उनमें से कुछ ज्योतिष-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे, कुछ मधुर हितकारी वचन कहने में समर्थ थे, कुछ धनुर्विद्या के मर्मज्ञ थे, कुछ कथा-कहानी को सुनाने में प्रवीण थे तथा कुछ युद्ध-कला की भी विलक्षण जानकारी रखते थे। उस समय कुमारगुप्त नामक राजा राज्य करता था। उसका अधीनस्थ विश्ववर्मा नामक मालवा का शासक दयालु, अनाथ के लिये कल्पद्रुम के तुल्य, असहाय प्राणियों को अभय प्रदान करने वाला, रण में अर्जुन की भाँति पराक्रमी तथा भयभीत के लिये बन्धु-तुल्य था। उसका पुत्र बन्धुवर्मा नामक था। वह विनय से नम्र, कमनीय, शृंगार की साक्षात् मूर्ति तथा गर्व-रहित था। जिस समय अरिसुन्दरियाँ उसके रूप का स्मरण करती थीं, उस समय उनके स्तनों में कम्पन होने लगता था।[1]

सिल्क बनाने की कला में प्रवीण इन दस्तकारों (पट्टवायैः) ने अपने शिल्प के द्वारा अर्जित धनसमूह से (शिल्पावाप्तैर्द्धनसमुदयैः) विलक्षण भव्य सूर्य-मन्दिर (दीप्तरश्मेः भवनम्)का निर्माण करा दिया। इस प्रशस्ति के अनुसार इस देवालय का निर्माण मालव संवत् ४९३ (४३६ ई०) के सहस्य मास (दिसम्बर-जनवरी) के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को धार्मिक अनुष्ठानों के सहित (मंगलाचारविधिना) बड़े समारोह के साथ किया गया।[2] इस समय कुमारगुप्त प्रथम राज्य कर रहा था। यह मन्दिर चौड़े एवं ऊँचे शिखर से युक्त था। यह

---

१. "वैधव्य-तीव्र-व्यसन-क्षतानां
स्मृत्वा यमद्याप्यरिसुन्दरीणाम्।
भयाद्भवत्यायत-लोचनानां
घनस्तनायासकरः प्रकम्पः॥"
—सरकार, सेलेक्ट, इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९४

२. "मालवानां गण-स्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्य-घनस्तने॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चन्द्रमा की रश्मि-धारा के तुल्य धवल तथा पर्वत-शृंग का स्मरण दिलाता था।[१] कालान्तर में इस मन्दिर के कुछ भाग नष्ट हो गये (व्यशीर्य्यतैकदेशोऽस्य)। उस समय उसी पट्टवाय-समिति (श्रेणी)के सदस्यों ने अपने यश की अभिवृद्धि के लिये इस मन्दिर का जीर्णोद्धार किया।[२] यह नगर इस सुन्दर मन्दिर के द्वारा उसी प्रकार सुशोभित था, जिस प्रकार धवल चन्द्र के द्वारा नभ-मण्डल।[३] इस प्रशस्ति में मन्दिर के जीर्णोद्धार की तिथि मालव-संवत् ५२९ (४७२ ई०) के तपस्य मास (फरवरी-मार्च) के शुक्ल पक्ष की द्वितीया उल्लिखित है।[४] इस समय कुमारगुप्त द्वितीय राज्य कर रहा था। विचारणीय है कि गुप्तवंशीय अभिलेखों में तिथियाँ गुप्त-संवत् में दी गई हैं। परन्तु इस गुप्तकालीन लेख में दोनों ही तिथियों की गणना मालव संवत् में की गई है। इसका कारण स्पष्ट है। मालवा में जहाँ कि मन्दसोर स्थित है, मालव-संवत् विशेष रूप से प्रचलित था। यही कारण है कि मन्दसोर के सभी लेखों में तिथियाँ मालव-संवत् में दी गई हैं। इस क्षेत्र में उक्त संवत् की विशेष लोकप्रियता का वास्तविक कारण मालव गण-राज्य के शासन के साथ इसका संबन्ध था। दशपुर (मन्दसोर) के पुरवासियों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के क्षेत्र में इस मन्दिर का स्थान महत्त्वपूर्ण था। इस अभिलेख में प्रशस्तिकार ने बड़े ही काव्यात्मक ढंग से कहा है कि जिस प्रकार चन्द्रमा

सहस्यमास-शुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे ।
मंगलाचार-विधिना प्रासादोऽयं निवेशितः ॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९५

१. "विस्तीर्ण-तुंग-शिखरं शिखरि-प्रकाश-
मभ्युद्गतेन्द्रमल-रश्मि-कलाप-गौरम्"

—वही, पृष्ठ २९४

२. "स्वयशो-वृद्धये सर्व्वमत्युदारमुदारया ।
संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम् ॥"

—वही, पृष्ठ २९६

३. "अत्युन्नतमवदातं नभः स्पृशन्निव मनोहरैश्शिखरैः ।
शशिभान्वोरभ्युदयेष्वमल-मयूखायतनभूतम् ॥"

—वही, पृष्ठ २९६

४. "वत्सर-शतेषु पंचसु विशंत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु ।
यातेष्वभिरम्य तपस्यमास-शुक्ल-द्वितीयायाम् ॥"

—वही, पृष्ठ २९६

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America, HHFA(USA)

के द्वारा विमल नभ-मण्डल अथवा कौस्तुभमणि के द्वारा विष्णु (शार्ङ्गिण) का वक्ष-स्थल सुशोभित है, उसी प्रकार इस श्रेष्ठ सूर्य-मन्दिर के द्वारा सम्पूर्ण नगर अलंकृत हो उठता था।[1] प्रशस्तिकार वत्सभट्टि कामना करता है कि जब तक भगवान् विष्णु के गले में कमल की माला सुशोभित है अथवा शिव के मस्तक पर जटा एवं उनके ललाट पर चन्द्र-कला विराजमान है तब तक यह उदार सूर्य-मन्दिर अपने स्थान पर निरन्तर वर्तमान रहेगा।[2]

कुमारगुप्तकालीन लेखों में काल-क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम बिलसद का स्तम्भ-लेख उल्लेखनीय है। इसका पता कनिंघम ने १८७८ ई० में लगाया था। उसने १८८० ई० में आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया जिल्द ११ में इसे प्रकाशित किया था। बिलसद एक ग्राम है, जो कि उत्तर प्रदेश के एटा जिले में वर्तमान अलीगंज नामक कस्बे से ४ मील उत्तर-पूर्व स्थित है। यह स्थान बिलसड़ तथा बिलसन्द नामों से भी प्रसिद्ध है। कुछ नक्शों में इसे बीलसुर तथा कुछ में बिलसर नाम से भी इसे निर्दिष्ट किया गया है। इस ग्राम के तीन प्रधान भाग हैः—(१) बिलसद-पुवायम (पूर्वी बिलसद), (२) बिलसद-पछायम (पश्चिमी बिलसद) तथा (३) बिलसद-पट्टी (सरहदी बिलसद)। बिलसद पुवायम के दक्षिण-पश्चिम कोने पर चार एकाश्मक स्तम्भ विद्यमान हैं, जिनमें से एक पर वर्तमान अभिलेख उत्कीर्ण है। इसकी भाषा संस्कृत है तथा यह गद्य-पद्य-मिश्रित शैली में लिखा गया है। इस अभिलेख में गुप्त-संवत् ९६ (षण्णवते) का उल्लेख प्राप्य है। इसमें इसे कुमारगुप्त के राज्य-काल का समृद्धिशाली वर्ष कहा गया है (अभिवर्द्धमान-विजयराज्य-संवत्सर)। लेख की प्रथम पंक्ति से लेकर छठी पंक्ति तक गुप्त-वंशावली का वर्णन मिलता है। इसमें ध्रुवशर्मा नामक ब्राह्मण का उल्लेख आता है, जो कि कलि-काल के युगाचार एवं अच्छे धर्म के मार्ग का अनुयायी था (सद्धर्म-वर्त्मानुयायिना)। उसकी धार्मिक कृतियों का निरूपण करते

---

१. "शशिनेव नभो विमलं कौस्तुभ-मणिनेव शार्ङ्गिणो वक्षः।
भवन-वरेण तथेदं पुरमखिलमलंकृतमुदारम् ॥"
—सरकार, वही, २९६

२. "अमलिन-शशि-लेखा-दंतुरं-पिंगलानां
परिवहति समूहं यावदीशो जटानां।
विकच-कमल-मालामंस-सक्तां च शार्ङ्गीं
भवनमिदमुदारं शाश्वतन्तादवदस्तु ॥"
—सरकार, वही, २९७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुए इसमें कहा गया है कि उसने आध्यात्मिक लाभ के प्रयोजन से स्वामिमहासेन (स्वामि कार्त्तिकेय) के मन्दिर (आयतन) का निर्माण किया था। उसने प्रतोली (द्वार) का निर्माण किया, जो कि स्फटिक मणियों की कान्ति को धारण करती थी। इस द्वार के समक्ष उसने सीढ़ियाँ भी बनवाई, जो अपने विलक्षण सौन्दर्य के कारण नेत्रों को आह्लादित कर देती थीं। ये सीढ़ियाँ मुनियों एवं सिद्धों के निवास-स्थान एवं स्वर्ग के सोपान के तुल्य लगती थीं।[1] उसने एक धर्म्म-सत्र (धर्म-शाला) का भी निर्माण किया जिसमें श्रेष्ठ गुणों से युक्त व्यक्ति रहते थे (गुणवर-भवनं धर्म्मसत्रं यथावत्)। उसने उपर्युक्त वस्तुओं का निर्माण अपने जीवन में सञ्चित विभूति के द्वारा किया था (विभूति-सञ्चय-चयैः)। उसी ध्रुवशर्मा ने अपनी कृतियों को चिरस्मरणीय बनाने के निमित्त इस स्तम्भ का निर्माण कराया था जिस पर प्रस्तुत अभिलेख उत्कीर्ण मिलता है (तेनायं ध्रुवशर्म्मणा स्थिर-वरस्तम्भोच्छ्रयः कारितः)। उसकी श्रेष्ठ एवं आदर्श कृतियों के कारण सभी लोग उसे आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे (कस्तं न पूजयेत्)। इस अभिलेख में ध्रुवशर्मा को विमल बुद्धि से युक्त कहा गया है तथा उसके दीर्घ जीवन के निमित्त कामना की गई है (शुभमतिस्तात-शर्म्मा ध्रुवोऽस्तु)।[2]

उत्तर-प्रदेश में बिलसद के अतिरिक्त गढ़वा, मनकुँवर, करमदाण्डा एवं मथुरा से भी कुमारगुप्तकालीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं। प्रयाग जिले की करछना तहसील में स्थित गढ़वा से उसके समय के तीन लेख मिले हैं। गढ़वा के लेख (फ्लीट, गुप्त-लेख, संख्या ८) का पता राजा शिव प्रसाद ने १८७२ ई० में लगाया था। तदुपरान्त १८७३ ई० में कनिंघम महोदय ने इसे आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द २ में प्रकाशित किया था। इस लेख के अधिकांश भाग नष्ट हो चुके हैं। यह आद्योपान्त संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसकी दूसरी पंक्ति में 'महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्त' का उल्लेख मिलता है। इस लेख में गढ़वा में वर्तमान एक सत्र (दानगृह) का उल्लेख मिलता है। इसकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इसमें दस दीनारों एवं तीन दीनारों के दान के पृथक् उल्लेख प्राप्य हैं।

गढ़वा से प्राप्त एक अन्य प्रस्तर शिला-लेख (फ्लीट, गुप्त-कालीन लेख,

---

१. "कृत्वा नेत्राभिरामां मुनिवसतिमिह स्वर्गसोपानरूपां।
कौवेरच्छन्दबिम्बां स्फटिकमणिदलाभासगौरां प्रतोलीम्॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २७९

२. फ्लीट, का० इं० इं० जिल्द ३, पृष्ठ ४०-४५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संख्या ६८) का भी पता राजा शिव प्रसाद ने ही १८७२ ई० में लगाया था। तत्पश्चात् कनिंघम महोदय ने १८८० ई० में अनुवाद-सहित मूल लेख को आर्क्या-लॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द १० में प्रकाशित किया और इस रूप में इससे जिज्ञासुओं का परिचय सम्भव हो सका था। यह लेख भी गढ़वा के उपर्युक्त लेख की भाँति वैयक्तिक है, परन्तु खेद की बात यह है कि इसके अधिकांश भाग अब नष्ट हो चुके हैं। यहाँ तक कि राजा का नाम भी जो कि इसकी द्वितीय पंक्ति में उल्लिखित था अपने स्थान से लुप्त है। लेख की तिथि गुप्त संवत् ६८ (४१७ ई०) है। इससे अनुमान करना यथार्थ ही है कि यह कुमारगुप्त-कालीन राजा होगा। इस लेख में भी गढ़वा के उसी दानगृह का उल्लेख प्राप्य है। इसमें उसे शाश्वत् दानगृह ('सदा सत्र') कहा गया है। किसी नागरिक ने पुण्यार्जन के निमित्त उसी धर्म-शाला (सत्र) को बारह दीनार दानस्वरूप दे रखा था।

गढ़वा के तीसरे कुमारगुप्त-कालीन लेख (फ्लीट, गुप्त लेख, संख्या ६४) का पता कनिंघम महोदय ने १८७७ ई० में लगाया था। उन्होंने इसे आर्क्यालॉ-जिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द १० में १८८० ई० में प्रकाशित किया था। यह एक गोलाकार बालूदार प्रस्तर-स्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण है। उन्नीसवीं शताब्दी के किसी घर की दीवार के निर्माण में इस स्तम्भ का प्रयोग किया गया था। जीर्ण हो जाने के कारण जिस समय यह भित्ति गिराई जा रही थी उस समय इस स्तम्भ का पता लगा। यह लेख अब कलकत्ता के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। लेख संस्कृत गद्य में लिखा गया है और इसकी लिपि गुप्तकालीन है। यह अभिलेख गढ़वा के उपर्युक्त दोनों लेखों की तुलना में कहीं अधिक खंडित है। सम्भव है कि यह लेख तिथि-युक्त रहा हो। सम्राट् के नाम का केवल प्रथम अक्षर 'कु' मात्र बचा हुआ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह भी कुमारगुप्त-कालीन रहा होगा। इस लेख के दो भाग हैं। प्रथम भाग की पाँचवीं पंक्ति में अनन्तगुप्त नामक किसी नागरिक का उल्लेख मिलता है। उसने गढ़वा के दानगृह (सत्र) को कुछ सुवर्णमुद्राएँ दानस्वरूप प्रदान की थीं, जिसके वार्षिक व्याज से उसमें रहने वाले व्यक्तियों के प्रतिदिनि के भोजन की व्यवस्था तथा वस्त्र (चीवर) का भी प्रबन्ध किया जाता था। लेख के दूसरे भाग में सर्वप्रथम सुवर्ण-मुद्राओं के दान का उल्लेख प्राप्य है। इस धनराशि के सालाना सूद से उक्त 'सत्र' में रहने वाले व्यक्तियों के उत्तरीय एवं अधोवस्त्र तथा दैनिक भोजन आदि की व्यवस्था की जाती थी। तदुपरान्त किसी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित कुछ भूमि के भी दान का इसमें उल्लेख मिलता है। इसकी वार्षिक आमदनी से उसी 'सत्र' (दानगृह) की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी।

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में वर्तमान करमदाण्डा के समीप स्थित भराढी डीह से कुमारगुप्तकालीन एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। यह शिव-लिंग के नीचे उत्कीर्ण है। इसकी तिथि गुप्त संवत् ११७ (४३६ ई०) है। इसमें कुमारगुप्त के मंत्री एवं महाबलाधिकृत कुमारामात्य पृथिवीषेण का उल्लेख मिलता है। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री एवं कुमारामात्य शिखरस्वामी का पुत्र था। काशी प्रसाद जायसवाल ने इस लेख के शिखरस्वामी की पहचान मजमल-उत-तवारीख के सफर से की है। यह लेख महादेव की स्तुति (नमो महादेवाय) से प्रारम्भ होता है। इस अभिलेख में एक विशेष बात द्रष्टव्य यह हो जाती है कि इसमें कुमारगुप्त की उपाधि 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो' आती है, जो कि अन्य गुप्तवंशीय अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिये प्रयुक्त मिलती है। इसमें गुप्त संवत् ११७ को कुमारगुप्त के राज्य का 'विजयराज्यसंवत्सर' कहा गया है। इस अभिलेख के अनुसार शिखरस्वामी के पिता का नाम विष्णुपालितभट्ट था। इसमें अयोध्या के नगर का उल्लेख आता है। इस नगर में उस समय विद्याव्यसनी एवं विविध शास्त्रों में पारंगत विद्वान् रहते थे (नानागोत्रचरण-तपः-स्वाध्याय-मन्त्र-सूत्र-भाष्य-प्रवचन-पारग)।

उत्तर प्रदेश से प्राप्त कुमारगुप्तकालीन अभिलेखों में मनकुँवर का लेख भी उल्लेखनीय हो जाता है। इसका पता १८७० ई० में भगवानलाल इन्द्र जी ने लगाया था। उन्होंने जर्नल ऑफ बाम्बे ऑफ ब्राञ्च ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जिल्द १६ में अपने द्वारा किया गया इस लेख का पाठ, अंग्रेजी-अनुवाद-सहित प्रकाशित किया था। इसके पूर्व कनिंघम महोदय ने भी १८८० ई० में इस लेख का स्वकीय पाठ आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द १० में प्रकाशित किया था। प्रयाग जिले की करछना तहसील में स्थित आधुनिक अरैल से ९ मील दक्षिण-पश्चिम की दूरी पर मनकुँवर नामक एक छोटा सा ग्राम जमुना नदी के दाहिने किनारे पर वर्तमान है। यह लेख एक बुद्ध-प्रतिमा की चौकी पर उत्कीर्ण किया गया है। इसका पता लगाने का श्रेय कनिंघम महोदय को है। मनकुँवर के तत्कालीन गोसाईं के बगीचे में उस समय यह प्रतिमा विद्यमान थी। इसके पहले यह मनकुँवर से कुछ ही दूरी पर स्थित 'पंच-पहाड़' नामक स्थान पर वर्तमान थी। लगता है कि गोसाईं अथवा मनकुँवर के किसी नागरिक द्वारा ही यह इस स्थान पर स्थानान्तरित की गई थी। इस मूर्ति की स्थापना बुद्धमित्र नामक भिक्षु के द्वारा गुप्त-संवत् १२९ के ज्येष्ठ मास की अठारहवीं तिथि में कराई गई थी। यह लेख भगवान् बुद्ध की पूजा से प्रारम्भ होता है (नमो बुद्धानम्)। इस अभिलेख में सम्पूर्ण दुख के दूरीकरण के निमित्त प्रार्थना की गई है (सर्वदुःख-प्रहानार्थम्)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHFA)(USA)

हम पहले इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि उत्तर प्रदेश में मथुरा से भी एक कुमारगुप्तकालीन लेख प्राप्त हुआ है। इस लेख का भी पता कनिंघम महोदय ने ही लगाया था। उन्होंने १८७१ ई० में इसे जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जिल्द ५ में प्रकाशित किया था। उक्त जर्नल में ही प्रोफेसर डाउसन के द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया था। तदुपरान्त १८७३ ई० में आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द ३ में इस लेख का शुद्ध पाठ इसके छापे की प्रति के सहित निकाला गया था। यह लेख खड़ी मुद्रा में निर्मित किसी प्रतिमा की चौकी पर उत्कीर्ण मिलता है। यह मूर्ति टूटी अवस्था में प्राप्त हुई थी। इसका केवल पैर वाला ही भाग बचा हुआ था। लगता है कि यह कोई बौद्ध प्रतिमा रही होगी, क्योंकि चौकी पर जहाँ लेख उत्कीर्ण है, धर्मचक्र भी खुदा हुआ है। लेख संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसकी तिथि गुप्त-संवत् १३५ है। इसमें राजा के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इसकी तिथि से स्पष्ट है कि कुमारगुप्त के ही राज्य-काल में यह उत्कीर्ण किया गया होगा। इस प्रतिमा की स्थापना विहारस्वामिनी देवता नामक किसी महिला के द्वारा कराई गई थी। सम्भव है कि वह कोई भिक्षुणी रही हो। यह प्रतिमा-लेख पहले प्रयाग-संग्रहालय में वर्तमान था और कालान्तर में इसे राजकीय संग्रहालय लखनऊ में स्थानान्तरित किया गया था।

पूर्वी मालवा से कुमारगुप्त के काल के तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं—(१) उदयगिरि का गुहा-लेख, (२) साँची का लेख तथा (३) तुमैन का लेख। इसके पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के तीन अभिलेख पूर्वी मालवा से प्राप्त हुए हैं (उदयगिरि के दोनों गुहा-लेख तथा साँची का लेख गु० सं० ९३)। इससे स्पष्ट होता है कि गुप्तों के काल में पूर्वी मालवा उनके साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। कुमारगुप्तकालीन उदयगिरि के गुहालेख (फ्लीट, गुप्त लेख, संख्या ६१) का पता कनिंघम महोदय ने १८७५ ई० में लगाया था। उन्होंने १८८० ई० में आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द ९ में इसे प्रकाशित किया था। इसी जिल्द में राजा शिव प्रसाद के द्वारा इस लेख का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया था। कनिंघम ने इस गुफा को 'गुफा संख्या १० (जैन गुफा)' की संज्ञा प्रदान की थी। यह लेख आद्योपान्त संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इस लेख की तिथि गुप्त-संवत् १०६ (४२६) ई०) है। इस वर्ष के कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की पञ्चमी को जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा की स्थापना की गई थी। इस अभिलेख में राजा का नाम उत्कीर्ण नहीं है। उसे गुप्तवंशी नरेशों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (गुप्तान्वयानाम् नृपसत्तमानाम्)। इस प्रमाण से तथा उल्लिखित तिथि के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नरेश से तात्पर्य कुमारगुप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से है। 'जिन' पार्श्वनाथ की उक्त मूर्ति गुफा के मुख (गुहा-मुखे) पर ही निर्मित की गई थी। पार्श्वनाथ के सिर के ऊपर सर्प का फन आवरण किए हुए प्रदर्शित था (स्फटविकटोत्कटाम्)।

साँची के शिला-लेख (फ्लीट, गुप्त-लेख, संख्या ६२) का पता १८३७ ई० में लगाया गया था। जेम्स प्रिंसेप ने जर्नल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जिल्द ६ में इस लेख के पत्थर के छापे की प्रति भी प्रकाशित की थी। यह लेख गुप्त-संवत् १३१ (४५१ ई०) के अश्वयुज महीने की पञ्चमी को उत्कीर्ण किया गया था। इस अभिलेख में भी शासन-कर्त्ता सम्राट् का नामोल्लेख नहीं प्राप्य है। उल्लिखित तिथि के आधार पर यह कुमारगुप्तकालीन प्रतीत होता है। यह लेख भी आद्योपान्त संस्कृत गद्य में ही लिखा गया है। इसके अनुसार उपासक सनसिद्ध की धार्मिक भार्या हरिस्वामिनी ने अपने माता-पिता के पुण्यार्जन के निमित्त साँची के ऐतिहासिक मठ (काकनादबाट-महाविहार) को बारह दीनार दान-स्वरूप प्रदान किया था। इन दान के सूद से इस मठ में रहने वाले भिक्षुओं के दैनिक भोजन की व्यवस्था की जाती थी। इसके अतिरिक्त उसने तीन दीनारों का एक दूसरा दान भी दिया था जिसके व्याज से इस महाविहार के रत्नगृह में प्रति रात्रि तीन दीपकों के जलाने की व्यवस्था की जाती थी। हरिस्वामिनी ने एक तीसरा दान केवल एक ही दीनार का दे रखा था। इसके सूद से प्रति दिन उस स्थान पर दीपक जलाया जाता था, जहाँ पर चार बुद्ध-प्रतिमाएँ (चतुर्बुद्धस्य) स्थापित की गई थीं।

तुमैन के लेख की प्रथम तीन पंक्तियाँ खंडित अवस्था में हैं। तुमैन भूतपूर्व ग्वालियर रियासत के एसागढ़ जिले में स्थित है। इसका प्राचीन नाम 'तुम्बवन' था। लेख की प्रथम तीन पंक्तियों में जो कि खण्डित अवस्था में हैं, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम एवं घटोत्कचगुप्त का उल्लेख मिलता है। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर शासन किया तथा घटोत्कचगुप्त ने अपने पूर्वजों के द्वारा अर्जित यश को प्राप्त किया था। इस अभिलेख में गुप्त-संवत् ११६ (४३५-३६ ई०) का उल्लेख आता है। इसके अनुसार तुम्त्रवन (तुमैन) के निवासी कई भाइयों ने मिल कर एक मन्दिर का निर्माण किया था। अनुमानतः घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था। इसकी पहचान वैशाली की मुद्रा के श्रीघटोत्कचगुप्त तथा सेंट पीटर्सबर्ग की मुद्रा के घटोत्कचगुप्त से की जाती है। तुमैन के उक्त लेख में कुमारगुप्त की तुलना शरद ऋतु के सूर्य से की गई है।[1]

---

१. "गुप्तान्ययानां वसुधेश्वराणां
समा-शते षोडशवर्षयुक्ते।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुमारगुप्त के काल से गुप्तों के लेख बंगाल से प्राप्त होने लगे हैं। हम पहले इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि समुद्रगुप्त के काल में बंगाल का वह भाग जिसका प्रतिनिधित्व आधुनिक बाँकुड़ा जिला करता है गुप्तों के द्वारा जीत लिया गया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में बंगाल का एक महत्त्वपूर्ण भाग गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। तथापि इन नरेशों में किसी के काल का भी गुप्त-लेख बंगाल से प्राप्य नहीं है। इस राजवंश का कुमारगुप्त पहला सम्राट् था जिसके लेख इस क्षेत्र से उपलब्ध हुए हैं। इनकी संख्या तीन है और ये सभी दानपत्र के रूप में हैं–(१) धानाइदह का ताम्रलेख गु० सं० ११३, (२) दामोदरपुर का ताम्र-लेख गु० सं० १२४ तथा (३) दामोदरपुर का ताम्रलेख गु० सं० १२८।

धानाइदह का ताम्रलेख बंगाल के राजशाही जिले से प्राप्त हुआ है। वस्तुतः यह प्रथम गुप्तवंशीय अभिलेख है, जो बंगाल से उपलब्ध है। इसको विशेष रूप से प्रसिद्धि में लाने का श्रेय राखाल दास बनर्जी, राधा गोविन्द बसाक तथा डी० आर० भंडारकर महोदयों को है। इस अभिलेख की तिथि गुप्त-संवत् ११३ (४३३ ई०) है (संवत्सरे त्रयोदशोत्तरे)। इसमें कुमारगुप्त की उपाधियाँ परमदैवत, परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज आदि दी गई हैं। इस लेख के अनुसार एक कुल्यवाप भूमि भातृकटक के निवासी छन्दोग ब्राह्मण वराहस्वामी को प्रदान की गई थी। लिखापढ़ी का समस्त कार्य ग्राम की पञ्चमण्डली (अष्टकुलाधिकरण) के समक्ष संपन्न हुआ था। इसके कतिपय महत्त्वपूर्ण सदस्यों के नाम भी लेख में उल्लिखित हैं; यथा शिवशर्म्मा, नागशर्म्मा, विष्णुदेव शर्म्मा, क्षेमदत्त, विष्णुभद्र, श्रीभद्र तथा सोमपाल आदि। इस लेख में भूमिदान के माहात्म्य के समर्थन में महाभारत से कतिपय श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं, जिनके अनुसार भूमि का दान देने वाला व्यक्ति अखण्ड काल तक स्वर्ग लोक का उपभोग करता है तथा उसको छीनने वाले को नरक में कठोर यातनाओं को सहन करना पड़ता है।[1]

कुमारगुप्ते नृपतौ पृथिव्यां
विराजमाने शरदीव सूर्ये ॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० २९९

१. "स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत् वसुन्धराम् ।
स विष्टायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते ॥
षष्टि-वर्ष- सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः ।
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत ॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २८१

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

बंगाल से प्राप्त कुमारगुप्त कालीन द्वितीय लेख दामोदरपुर का ताम्र-लेख है, जिसकी तिथि गुप्त संवत् १२४ (४४४ ई०) है। दामोदरपुर बंगाल के दीनाजपुर जिले में स्थित है। यह अभिलेख आद्योपान्त संस्कृत गद्य में लिखा हुआ है। इसमें भी कुमारगुप्त की उपाधियाँ परमदैवत, परमभट्टारक एवं महाराजाधिराज आदि आती हैं। इसमें उनके साम्राज्य के पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति (उत्तरी बंगाल) का उल्लेख मिलता है। इस भुक्ति (प्रान्त) में उत्तरी बंगाल के बोगरा, राजशाही तथा दीनाजपुर आदि क्षेत्र सम्मिलित थे। उस समय इस प्रान्त का राज्यपाल चिरातदत्त नामक व्यक्ति था जिसके निमित्त इस लेख में 'उपरिक' शब्द प्रयुक्त मिलता है। इस प्रान्त के एक जिले (विषय) का नाम कोटिवर्ष था जिसकी पहचान कतिपय विद्वानों ने आधुनिक दीनाजपुर में स्थित देवीकोट से की है। इसके जिलाधीश का नाम वेत्रवर्मा था जिसे शासन-कार्यों में सहायता प्रदान करने के निमित्त एक प्रतिनधि-समिति वर्तमान थी। जिले के प्रधान नगर में इस समिति का एक कार्यालय भी था(अधिष्ठानाधिकरण)। इसके चार प्रमुख सदस्य थे—नगरश्रेष्ठि धृतिपाल, सार्त्थवाह वन्धुमित्र, प्रथमकुलिक धृतिमित्र तथा प्रथम कायस्थ शाम्बपाल। यह लेख भी एक दानपत्र के रूप में है। इसके अनुसार गुप्त संवत् १२४ के फाल्गुन महीने की सप्तमी को एक कुल्यवाप भूमि तीन दीनार में खरीद कर (त्रैदीनारिक्य कुल्यवापेण) दान दी गई थी। यह भूमि डोंगा नामक स्थान के उत्तर-पश्चिम में स्थित था। इस लेख में भी भूमिदान से सम्बन्धित महाभारत से श्लोक उद्धृत मिलते हैं।

बंगाल में कुमारगुप्त के काल का तीसरा लेख भी दामोदरपुर से ही मिला है। यह लेख भी ताम्र-पत्र पर उत्कीर्ण है एवं दान की सनद के रूप में है। इसमें भी उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति) के राज्यपाल चिरातदत्त एवं कोटिवर्ष विषय के प्रमुख कर्मचारी वेत्रवर्म्मा के नामोल्लेख प्राप्य हैं। इसमें वेत्रवर्म्मा की परामर्श-दातृ समिति के महत्त्वपूर्ण सदस्यों के नाम उत्कीर्ण हैं—धृतिपाल, बन्धुमित्र, धृतिमित्र एवं प्रथम कायस्थ आदि। इस अभिलेख के अनुसार गुप्त-संवत् १२८ (४४८ ई०) के वैशाख महीने की दसमी को तीन दीनार में खरीदी हुई एक कुल्यवाप (त्रैदीनारिक्य कुल्यवापेन) भूमि सिंचाई की व्यवस्था-सहित (पानकैश्च) दान-स्वरूप दी गई थी। यह भूमि ऐरावत गोराज्य के पश्चिम दिशा में पड़ती थी। इस अभिलेख में भी भूमि-दान-सम्बन्धी महाभारत के श्लोक उद्धृत मिलते हैं।[1]

---

१. "पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।
महीं महीवतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम्॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यहाँ पर उल्लेखनीय हो जाता है कि गुप्त-वंशीय अभिलेख सबसे अधिक कुमारगुप्त के ही काल के प्राप्त हुए हैं। तथापि उनमें से एक भी राजकीय नहीं हैं। तुमैन के लेख के अतिरिक्त अन्य सभी वैयक्तिक हैं जिनमें धर्मपरायण व्यक्तियों के द्वारा मूर्ति-स्थापना, मन्दिर-निर्माण तथा भूमि एवं द्रव्य-दान आदि का लेखा-मात्र प्राप्य हैं। प्रसंगतः उनमें वंशावली एवं तिथियाँ तथा स्थानों एवं पदाधिकारियों के नाम आदि भी दिए गए हैं। परन्तु उनमें राजनीतिक घटनाओं का कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता। यदि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति अथवा स्कन्दगुप्त-कालीन भितरी-प्रशस्ति के समान कुमारगुप्तकालीन कोई राजकीय अभिलेख प्राप्त हुआ होता तो संभवतः उस समय के इतिहास के विषय में—विशेष रूप से राजनीतिक उपलब्धियों के संबन्ध में हमारा परिचय अधिक पूर्ण होता। तथापि यह निर्विवाद है कि कुमारगुप्तकालीन लेख गुप्तयुगीन धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण में निश्चय ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

राज्यकाल—बिलसद का स्तंभलेख उसके राज्यकाल का प्रथम अभिलेख है। इसकी तिथि-गुप्त संवत् ९६ (४१५ ई०) है। अतएव उसका राज्याभिषेक इसी समय हुआ होगा। समुद्रगुप्त के एरण के लेख में उसके पौत्रों का उल्लेख हुआ है (गृहेषु मुदिताः बहुपुत्रपौत्राः)। इससे लगता है कि कुमारगुप्त का जन्म समुद्रगुप्त के समय में हो चुका था। उसके जीवन-काल के चालीस वर्ष (३७५ ई०—४१५ ई०) उसके पिता (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के समय में व्यतीत हो चुके थे। अतएव अपने राज्याभिषेक के समय वह एक वयोवृद्ध व्यक्ति रहा होगा।[1] उसकी मुद्राओं के ऊपर अन्तिम तिथि गुप्त-संवत् १३६ (४५५ ई०) उत्कीर्ण है तथा उसके पुत्र स्कन्दगुप्त के प्रथम अभिलेख (जूनागढ़ के लेख) में यही तिथि मिलती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि इस समय उसका शासन-काल समाप्त हो चुका होगा।

प्रारंभिक वर्ष—कुमारगुप्त के आदि लेखों से ज्ञात होता है कि उसके राज्य-काल के प्रारंभिक वर्षों में गुप्त-साम्राज्य के ऊपर कोई बाह्य आक्रमण नहीं हुए तथा वह शांतिपूर्वक राज्य कर रहा था। बिलसद के लेख (जो कि उसके समय का सबसे पहला लेख है) के अनुसार इस नरेश के साम्राज्य में चतुर्दिक् सुख एवं

बहुभिर्वसुधा दत्ता दीयते च पुनः पुनः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलमिति ॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २८७

१. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५६७ (पादटिप्पणी)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शांति का वातावरण वर्तमान था (अभिवर्द्धमानविजयराज्यसंवत्सरे)।[1] इस अभिलेख में कार्तिकेय के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है। उसके गढ़वा के दोनों लेखों (गुप्त संवत् ९८-४१७ ई०) में दान का उल्लेख मिलता है। इन तीनों लेखों के साक्ष्य से लगता है कि यह नरेश अपने राज्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में अपने साम्राज्य के साधनों का प्रयोग सार्वजनिक एवं धार्मिक कृतियों में कर रहा था।

पुष्यमित्रों का आक्रमण—स्कन्दगुप्त के काल के भितरी-अभिलेख की भाषा से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के राज्यकाल के अन्तिम वर्ष अशांतिमय थे। इस समय पुष्यमित्रों का गुप्त-साम्राज्य के उपर आक्रमण हुआ, जिसके फलस्वरूप इस कुल की राजलक्ष्मी विचलित हो उठीं। इसे स्थिर करने में स्कन्दगुप्त को कठोर प्रयास करना पड़ा। पुष्यमित्रों की बाढ़ को रोकने में उसे पूरी रात्रि युद्ध-भूमि में ही बितानी पड़ी थी। इस समय कुमारगुप्त अधिक वृद्ध हो चुका था। अतएव परिस्थितियों को सँभालने का संपूर्ण उत्तरदायित्व स्कन्दगुप्त के कंधों पर आ पड़ा। भितरी के लेख के अनुसार पुष्यमित्रों का सैनिक बल और साधन विकसित था और उन्हें दबाना एक टेढ़ी खीर थी। ऐसे शक्तिशाली एवं भयंकर आक्रमण-कारियों को परास्त कर स्कन्दगुप्त ने अपनी योग्यता एवं गुणों का परिचय दिया।[2]

श्री दिवेकर ने पुष्यमित्र के स्थान पर युद्धयमित्र पढ़ा है। पर अधिक शुद्ध पाठ पुष्यमित्र ही माना जाता है। विष्णुपुराण में पुष्यमित्रों का उल्लेख हुआ है। जैन कल्पसूत्र में एक पुष्यमित्रकुल का उल्लेख मिलता है। पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र नर्मदा नदी के मुहाने के समीप मेकला में शासन करते थे। रायचौधरी का कथन है कि पुराणों के वर्णन से ऐसा लगता है कि पुष्यमित्र जाति के लोग माहिष्मती के नगर से लेकर मेकला तक के सारे प्रदेश के स्वामी थे।[3] मेकला क्षेत्र के अधिपतियों की युद्ध-संबन्धी कृतियों का उल्लेख वाकाटक-लेखों में भी हुआ है। बाणभट्ट के हर्षचरित में वर्णन मिलता है कि मेकलाधिप के मन्त्रियों

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २७९

२. "विचलित-कुल-लक्ष्मी-स्तम्भानायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः॥"

—भितरी का लेख, चतुर्थ श्लोक

३. पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५६९ (पादटिप्पणी)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के द्वारा मगध के एक शासक का अपहरण किया गया था।[1] भीटा की मुद्राओं में पुसमितस (पुष्यमित्रस्य) का उल्लेख हुआ है।[2] इन सब प्रमाणों से पुष्यमित्र जाति की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है।

मंजुश्रीमूलकल्प का उल्लेख--इस ग्रंथ में वर्णन मिलता है कि महेन्द्र नामक सम्राट् के राज्य के ऊपर यवन, पह्लिक तथा शकुन जाति के लोगों ने आक्रमण किया था। उन्होंने गंगा तथा गंधार के उत्तर के क्षेत्रों को जीत लिया। कुमारगुप्त प्रथम की उपाधि महेन्द्रादित्य थी, अतएव इसकी पहचान मंजुश्रीमूलकल्प के महेन्द्र से की जाती है। इससे लगता है कि कुमारगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम भाग पर कतिपय विदेशी आक्रमणकारियों ने धावा किया हो।[3] पर इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि मंजुश्रीमूल-कल्प की ऐतिहासिकता संदेहास्पद है।

मनकुँवर के लेख का साक्ष्य – प्रयाग जिले में अरैल के पास जमुना नदी के तट पर स्थित मनकुँवर नामक ग्राम में बौद्ध प्रतिमा के नीचे एक लेख (गुप्त-संवत् १२९=४४८ ई०) मिलता है, जिसमें कुमारगुप्त की उपाधि केवल महाराज आती है (महाराजश्रीकुमारगुप्तस्य राज्ये)।[4] यह उपाधि सामंतों के द्वारा धारण की जाती थी। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनों में कुमारगुप्त अपने शत्रुओं के द्वारा दबा दिया गया था। उसकी राजनीतिक शक्ति क्षीण हो गई होगी। यही कारण है कि मनकुँवर के लेख में (जो कि उसके काल के उत्तरार्द्ध का लेख है) उसकी उपाधि केवल महाराज आती है न कि महाराजाधिराज। परन्तु ऐसा मानना ठीक न होगा। मनकुँवर का लेख कोई राजकीय लेख नहीं है। यह बुद्धमित्र नामक एक भिक्षु के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। उससे सम्राट् की शुद्ध एवं यथातथ्य उपाधि (महाराजाधि-राज) देने की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि दामोदरपुर के एक लेख (गुप्त-संवत् १२९-४४८ ई०, जो कि मनकुँवर के लेख का ही काल है) में कुमारगुप्त की उपाधि महाराजाधिराज आती है। अतएव कुमारगुप्त अपने शासन-काल के अन्तिम वर्षों में सामंत-स्थिति को प्राप्त हो गया था, ऐसा विश्वास करना संगत नहीं होगा।

---

१. पो० हि० ऐं० इं० पृष्ठ ५६९
२. वही, पृष्ठ ५६९ (पादटिप्पणी)
३. ए हिस्ट्री ऑफ दी गुप्ताज़, पृष्ठ ८९
४. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २८८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाकाटकों के साथ सम्बन्ध—लगता है कि कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल के अन्तिम भाग में वाकाटकों ने भी उपद्रव खड़ा किया। इस राजवंश के शासक नरेन्द्रसेन के लेखों से ज्ञात होता है कि वह कोसल, मेकला तथा मालवा का अधिपति था (कोसलमेकलामालवाधिपत्यभ्यर्चितशासन)। चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल से संपूर्ण मालवा के ऊपर गुप्तों का आधिपत्य था। मन्दसोर के लेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त ४३६ ई० में मालवा पर राज्य कर रहा था। नरेन्द्रसेन का राज्यकाल ४४० ई० से लेकर ४६० ई० है। यह समय कुमारगुप्त के शासन-काल के द्वितीयार्द्ध में पड़ता था। इस काल में स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों के साथ युद्ध करने में संलग्न था। इसका लाभ उठाकर नरेन्द्रसेन ने मालवा में गुप्तों के विरुद्ध कोई विजय प्राप्त की होगी। संभव है कि स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों को हरा लेने के उपरान्त मालवा से वाकाटकों को हटा दिया और इस प्रकार इस क्षेत्र में वाकाटक-राज्य अब किसी रूप में भी नहीं रह गया। स्कन्दगुप्त के काल में मालवा तथा उसके पश्चिम में गुजरात तक के प्रदेश पर गुप्तों का राज्य निश्चयात्मक रूप में वर्तमान था।

दक्षिणी अभियान—कुछ विद्वानों के अनुसार कुमारगुप्त ने अपने पितामह समुद्रगुप्त की भाँति दक्षिणी भारतवर्ष पर कोई सैनिक अभियान किया था।[1] उसकी 'व्याघ्र-हनन्' प्रकार की मुद्राओं के ऊपर उपाधि 'व्याघ्र-बल-पराक्रम' (व्याघ्र के तुल्य शक्ति एवं पराक्रम रखने वाले) आती है। इससे लगता है कि उसने नर्मदा नदी को पार कर व्याघ्रयुक्त अरण्य-क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की थी। दक्षिण में उसकी शक्ति के विस्तार के विषय में प्रमाण सतारा जिले से प्राप्त १३९५ मुद्राओं की एक ढेर है। एलिचपुर से भी उसकी तेरह मुद्राएँ उपलब्ध हैं। पर इन प्रमाणों से कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना दुष्कर है। उसने यदि दक्षिण में शक्तिविस्तार के लिये कोई प्रयास किया था, तो अधिक संभव यही है कि उसे इसमें कोई सफलता नहीं उपलब्ध हो सकी। यह भी संभव है कि सतारा तथा एलिचपुर में कुमारगुप्त की मुद्राएँ व्यापार-संबन्ध में पहुँची थीं। डॉक्टर अल्तेकर का कथन है कि ये दोनों स्थान गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। ये मुद्राएँ वहाँ पर वणिक, विद्वान्, ब्राह्मण तथा सेनानायक द्वारा लाई गई होंगी।

अश्वमेध यज्ञ—कुमारगुप्त ने अपने पिता एवं पितामह की भाँति अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान भी किया था। उसके अभिलेखों में इस घटना का कोई उल्लेख

---

१. प्रो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५६९-७०

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America: HHFA(USA)

नहीं मिलता; पर मुद्रा-साक्ष्य के द्वारा इसकी पुष्टि हो जाती है। उसकी कुछ दुष्प्राप्य सुवर्ण मुद्राएँ हैं, जिन्हें 'अश्वमेघ प्रकार' की संज्ञा दी जाती है। ब्रिटिश संग्रहालय में इस वर्ग की दो मुद्राएँ प्राप्त हैं। १९४६ ई० में बयाना की निधि में इस प्रकार के चार सिक्के प्राप्त हुए। १९४८ ई० में लखनऊ-संग्रहालय ने इस प्रकार का एक सिक्का खरीदा था। इस प्रकार की मुद्राओं के मुख भाग के ऊपर सुसज्जित यज्ञ का घोड़ा यूप के सामने अंकित प्रदर्शित किया गया है। इसी ओर सम्राट् का नाम भी उत्कीर्ण है। दूसरी ओर उसकी उपाधि 'अश्वमेघ महेन्द्रः' मिलती है। इससे स्पष्ट है कि उसके काल में कम से कम एक अश्वमेघ-यज्ञ का अनुष्ठान अवश्य हुआ था। यह उसकी किस जीत के उपलक्ष में हुआ, इस संबन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। डॉ०राधा कुमुद मुकर्जी का मत है कि कुमारगुप्त ने असम-विजय किया था और इसी की स्मृति में उसने अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया था। डॉ० मुकर्जी के तर्क इस प्रकार हैं:—

(१) अपनी कुछ दुष्प्राप्य मुद्राओं के ऊपर कुमारगुप्त गैंडा का आखेट करता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार के सिक्कों को खंगनिहन्ता (गैंडा मारने वाला) प्रकार की संज्ञा दी जाती है। १९४६ ई० में इस वर्ग के चार सिक्के बयाना-निधि में प्राप्त हुए थे। १९४८ ई० में लखनऊ-संग्रहालय के द्वारा इस प्रकार की एक मुद्रा खरीदी गई थी। इस प्रकार के सिक्कों के मुख भाग के ऊपर कुमारगुप्त को 'खड्गत्राता' कहा गया है। खड्ग शब्द का श्लेषात्मक अर्थ तलवार तथा गैंडा दोनों ही होता है। अतएव 'खड्गत्राता' शब्द का अर्थ हुआ 'तलवार से रक्षा करने वाला' अथवा 'गैंडा के आतंक से बचाने वाला'।[1] इस प्रकार की मुद्राएँ कुमार-गुप्त के द्वारा सबसे पहले चलाई गई थीं। गैंडा असम में पाये जाते हैं। इससे लगता है कि इस प्रदेश को जीत लेने के पश्चात उसने उपर्युक्त कोटि की मुद्रा प्रचलित की थी।

(२) असम की एक परंपरा के अनुसार विक्रमादित्य नामक नरेश वहाँ आया था। डॉ० मुकर्जी का कथन है कि इस परंपरा का संबन्ध कुमारगुप्त के द्वारा असम के ऊपर एक सफल आक्रमण से है।

(३) असम में गुप्त-संवत् प्रचलित था। इससे लगता है कि गुप्त-काल के किसी भाग में असम गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित था।

(४) गंगा-घाटी के शासकों के द्वारा असम के ऊपर आक्रमण के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ अफसढ़ के लेख

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १३८, द्रष्टव्यः-रघुवंश, ९, ६२; तथा मनु-स्मृति ३,२७२; ५,८१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुसार उत्तरगुप्त वंश के नरेश महासेनगुप्त ने सुस्थित्वर्मा नामक सम्राट् को हराया था, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों तटों पर उसकी कीर्ति का गान होता था (लौहित्यतटेषु स्फीतं यशो गीयते) । निधानपुर तथा नालंदा के ताम्रलेखों से स्पष्ट है कि वह असम का नरेश था ।

स्पष्ट है कि डॉ० मुकर्जी के उपर्युक्त तर्क सबल नहीं हैं । यदि गुप्तों का आधिपत्य असम पर होता, तो वहाँ से उनके लेख अवश्य मिलते । कुमारगुप्त का कोई भी लेख असम से नहीं मिला है, जब कि बंगाल से उसके चार लेख प्राप्त हैं । इससे असम को कुमारगुप्त के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखना अधिक समीचीन होगा ।

राज्य-विस्तार—गुप्तवंशीय अभिलेखों में इसे 'गुप्तकुल-व्योमशशी' (गुप्त-वंश रूपी आकाश का चन्द्रमा) कहा गया है । कुछ विद्वानों का कथन है कि यह समस्त पद कुमारगुप्त के काल में गुप्त-साम्राज्य के ग्रहण (विनाश) की ओर संकेत करता है । लगता है कि इस समय साम्राज्य का कोई भाग गुप्तों के हाथ से निकल गया। पर यह निष्कर्ष ठीक नहीं है। वह अपने पिता (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) के अखण्ड राज्य (पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक) का अधीश्वर था । इसका प्रमाण उसके अभिलेख एवं सिक्के हैं । उसकी पश्चिमी प्रकार की रजत मुद्राएँ काठियावाड़, गुजरात, वलभी, मोरवी, जूनागढ़, अहमदाबाद तथा कैरा नामक स्थानों से प्राप्त हैं । उसके पुत्र स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ से एक लेख प्राप्त हुआ है । इससे स्पष्ट है कि उसका साम्राज्य पश्चिम में गुजरात तथा काठियावाड़ तक फैला हुआ था । पूर्व में उसके साम्राज्य की सीमा बंगाल तक प्रसरित थी । वहाँ कई स्थानों (धानाइदह, बैग्राम एवं दामोदरपुर) से उसके लेख प्राप्त हैं । गुजरात एवं बंगाल के बीच कई केन्द्रों से उसके समय के अभिलेख एवं सिक्के उपलब्ध हैं । मन्दसोर के लेख के अनुसार पश्चिमी मालवा, तथा तुमैन के लेख के अनुसार पूर्वी मालवा उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे । उत्तरप्रदेश में उसके लेख कई स्थानों से प्राप्त हैं; उदाहरणार्थ एटा का बिलसद का लेख, फैजाबाद का करमदाण्डा का लेख, प्रयाग जिले में वर्तमान मनकुँवर एवं गढ़वा से प्राप्त लेख । उसने अपने मध्यदेशीय सिक्कों को गंगा की घाटी में प्रचलित करने के लिये तैयार कराया था । मन्दसोर के लेख में कुमारगुप्त की साम्राज्य-सीमा का अतिशयोक्ति के साथ वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'उसके राज्य (पृथ्वी) के चतुर्दिक् समुद्र कमरबन्द हैं तथा कैलाश एवं सुमेरु पर्वत उसके ऊँचे स्तन हैं ।'[1]

---

१. "चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां
सुमेरु-कैलास-बृहत्पयोधराम् ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सामंत एवं पदाधिकारी—इसके समय के अभिलेखों में राज्य के मुख्य सामंतों एवं पदाधिकारियों के नाम आते हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) **घटोत्कचगुप्त**—वह एक गुप्तवंशीय राजकुमार था। वह एरण से उत्तर-पश्चिम पचास मील की दूरी पर तुम्बवन (पूर्वी मालवा) में शासन करता था।

(२) **बन्धुवर्मा**—वह सामंत था तथा मन्दसोर (पश्चिमी मालवा) में शासन करता था।

(३) **गोविन्दगुप्त**—वह कुमारगुप्त का संभवतः छोटा भाई था। वैशाली-मुद्रा के ऊपर उसका नाम उत्कीर्ण मिलता है। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय वहाँ का राज्यपाल था। कुमारगुप्त के समय में वह पश्चिमी मालवा का राज्यपाल था।

(४) **चिरातदत्त**—वह संभवतः उत्तरी बंगाल (पुंड्रवर्द्धन भुक्ति) का राज्यपाल था।

(५) **पृथिवीषेण**—उसके नाम का उल्लेख करमदाण्डा के लेख में मिलता है। वह पहले कुमारगुप्त का मन्त्री एवं कुमारामात्य तथा तत्पश्चात् उसका महाबलाधिकृत था। उसका पिता शिखरस्वामी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में मन्त्री एवं कुमारामात्य रह चुका था।

धार्मिक दशा—कुमारगुप्त ने परंपरागत धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन किया। उसके काल में विष्णु, शिव, शक्ति, कार्तिकेय, सूर्य, बुद्ध तथा जिन् के उपासक वर्तमान थे। वह स्वयं वैष्णव मतावलंबी था। गुप्तकालीन अभिलेखों में उसकी उपाधि 'परमभागवत' मिलती है। गंगधार के लेख (४२३ ई०) के अनुसार विष्णुभट तथा हरिभट नामक व्यक्तियों ने विष्णुमन्दिर की स्थापना की थी (विष्णो स्थानमकारयत्)।[1] बैग्राम के ताम्रलेख (४४३ ई०) में गोविन्दस्वामी (विष्णु) के मन्दिर को दान का उल्लेख मिलता है। गंगधार के लेख में शक्ति-उपासना के निमित्त देवालय के निर्माण का वर्णन किया गया है।[2] करमदाण्डा के लेख (४३६ ई०) में कुमारगुप्त के महाबलाधिकृत शिखर-

---

वनान्त-वान्त-स्फुट-पुष्प-हासिनीं
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति।"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९३

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३८४

२. "मातृणाञ्च प्रमुदितघनात्यर्थनिह्लादिनीनाम्"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३८५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वामी के द्वारा शिव की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख आता है (भगवतो महादेवस्य पृथिवीश्वर) ।[1] बिलसद के लेख (४१५ ई०)के अनुसार ध्रुवशर्मा नामक व्यक्ति ने कार्तिकेय के मन्दिर (महासेनस्यायतन) का निर्माण किया था । इस अभिलेख में इसे स्वर्ग का सोपान तथा मुनियों का निवासस्थान कहा गया है (मुनिवसतिमिह स्वर्गसोपानरूपाम्) । मनकुँवर के लेख के अनुसार भिक्षु बुद्धमित्र ने गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा का निर्माण किया था (भगवतो सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु-बुद्धमित्रेण) ।[2] मन्दसोर के लेख के अनुसार दशपुर की तन्तुवाय-श्रेणी (जुलाहों की समिति) ने एक भव्य सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया था ।[3] वह नगर इस सुन्दर मन्दिर से उसी प्रकार विभूषित था, जैसे स्वच्छ आकाश चन्द्रमा से सुशोभित होता है और शार्ङ्गिण का वक्षस्थल कौस्तुममणि से आभूषित रहता है ।[4] उदयगिरि के एक गुहा-लेख (४२५ ई०) में सर्वश्रेष्ठ गुप्त सम्राट् के समृद्ध युग में जिनवर पार्श्व की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख हुआ है । यह समय कुमारगुप्त प्रथम के काल में पड़ता है । एक अन्य अभिलेख के अनुसार ४३२ ई० में मथुरा में जैनमूर्ति की स्थापना की गई थी । यह तिथि भी उसकी राज्यावधि के भीतर पड़ती है ।

आर्थिक दशा—मन्दसोर के लेख से उस समय की आर्थिक दशा का कुछ अनुमान होता है । इसके अनुसार उस समय के व्यावसायिक संगठनबद्ध थे । व्यावसायिक समिति को श्रेणी कहा जाता था । उपर्युक्त अभिलेख में दशपुर की जुलाहों की समिति (तन्तुवाय-श्रेणी) का उल्लेख हुआ है । इसके सदस्य कपड़ा बुनने के कार्य में तो दक्ष थे ही, इसके अतिरिक्त अन्य विषयों की भी उनकी अच्छी जानकारी थी । उनमें से कुछ कलाविद्; कुछ धार्मिक कर्त्तव्यों को बतलाने में प्रवीण; कुछ मधुर हितकारी वचन कहने में समर्थ; कुछ धनुर्विद्या में पारंगत, ज्योतिषशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता, युद्ध में धीर तथा शत्रुओं को नाश करने की शक्ति रखते थे । कुमारगुप्त के समय की सुवर्ण, रजत तथा ताम्र-मुद्राएँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं । इससे तत्कालीन संतोषजनक आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है ।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २८३

२. वही, पृष्ठ २८७

३. "श्रेण्यादेशेन भर्त्त्या च कारितं भवनं रवेः

—वही, पृष्ठ २९७

४. "शशिनेव नभो विमलं कौस्तुभ-मणिनेव शार्ङ्गिणो वक्षः ।

—वही, पृष्ठ २९६

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

प्रजा-हित कृतियाँ—कुमारगुप्त के समय में सार्वजनिक कार्य किये गये। उसके समय के अभिलेखों में जनता के लाभ के निमित्त कृतियों का विवरण प्राप्त होता है। साँची के लेख (४५० ई०) के अनुसार हरिस्वामिनी नामक एक महिला ने काकनादबाट के विहार को एक दान दिया था, जिसके सूद से इसमें रहने वाले भिक्षुओं के भोजन का खर्चा वसूल होता था। गढ़वा के एक लेख में दस दीनार तथा दूसरे में बारह दीनार दान देने का वर्णन मिलता है। इस समय अग्रहार-दान प्रचुर संख्या में दिये गये। धानाइदह के ताम्रलेख (४३२ ई०) के अनुसार वराह-स्वामी नामक ब्राह्मण को भूमि दान में दी गई थी (छन्दोग-ब्राह्मण-वराहस्वामिनो दत्तं)। बैग्राम के ताम्रलेख (४४७ ई०) के अनुसार गोविन्द-स्वामिन् के मन्दिर को कुछ भूमि दान में दी गई थी। इसकी आमदनी से इसमें दीपक जलाने तथा सुगन्धि एवं पुष्प की व्यवस्था करने का व्यय वसूल होता था। इन लेखों में महाभारत के श्लोक उद्धृत मिलते हैं, जिनके अनुसार दान में दी गई भूमि को छीनने वाला व्यक्ति घोर नरक-यातना भोगता था।[1]

शासन-प्रबन्ध—कुमारगुप्त के समय के लेख उसके काल की शासन-व्यवस्था को समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। मन्दसोर के अभिलेख में पूरे साम्राज्य के लिये पृथिवी शब्द का प्रयोग मिलता है। दामोदरपुर के ताम्रलेख में उसकी कई उपाधियों का उल्लेख है; उदाहरणार्थ महाराजाधिराज, परमदैवत तथा परम-भट्टारक। सम्राट् की अधीनस्थता में कई सामंत होते थे। मन्दसोर के लेख के अनुसार सामंत नृप, नृपति तथा पार्थिव की उपाधियाँ धारण कर सकता था। पूरा साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त को 'भुक्ति' कहा जाता था। बंगाल से प्राप्त कुमारगुप्त के लेखों में पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति (उत्तरी बंगाल) का उल्लेख बहुधा मिलता है। ४४३ ई० से लेकर ४४७ ई० तक इस प्रान्त के ऊपर चिरात-दत्त नामक व्यक्ति राज्यपाल था। उसकी उपाधि उपरिक महाराज थी (पुण्ड्र-वर्द्धन-भुक्तावुपरिक-चिरातदत्तस्य)।

प्रान्तों का वर्गीकरण जिले में किया जाता था। अभिलेखों में इसके लिये विषय शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके अध्यक्ष को विषयपति कहा जाता था जिसकी नियुक्ति राज्यपाल करता था (तन्नियुक्तक)। दामोदरपुर के ताम्र-लेख में पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति के अन्तर्गत् कोटिवर्ष नामक जिले का उल्लेख मिलता

---

१. "स्वदत्ताम्परदत्ताम्वा यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १८१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। इसका जिलाधीश (विषयपति) वेत्रवर्मा था, जो कुमारामात्य की उपाधि धारण करता था (कोटिवर्षविषये तन्नियुक्तक-कुमारामात्य-वेत्रवर्म्मणि)। जिले के प्रधान नगर को अधिष्ठान कहा जाता था। दामोदरपुर के ताम्रलेख (४४७ ई०) में जिला-कार्यालय के लिये 'अधिष्ठानाधिकरण' शब्द आता है। जिले तहसीलों में विभक्त थे। इसे वीथी तथा इसके प्रधान कर्मचारी को आयुक्तक कहा जाता था।

अभिलेखों में कतिपय तत्कालीन राज्यपालों के नाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति (तिरहुत) का राज्यपाल था। घटोत्कचगुप्त तुम्बवन (पूर्वी मालवा) का राज्यपाल था। राज्यपालों एवं विषयपतियों के अतिरिक्त सचिवों के भी नाम कुमारगुप्त के अभिलेखों में मिलते हैं। उसके एक मन्त्री का नाम पृथिवीषेण था। उसने परंपरा के द्वारा सचिव-पद प्राप्त किया था। उसका पिता शिखरस्वामी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मन्त्री एवं कुमारामात्य रह चुका था (महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यभूत्तस्य पुत्रः पृथिवीषेणो)। पृथिवीषेण मन्त्री होने के अतिरिक्त सेनानायक (महाबलाधिकृत) भी था। इससे लगता है कि दीवानी और फौजदारी विभागों में कोई अन्तर नहीं था। दीवानी विभाग के कर्मचारी से सैनिक कार्य लिया जा सकता था।

कुमारगुप्तकालीन अभिलेखों से उस समय के स्थानीय शासन-पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ जिलाधीश (विषयपति) की सहायता के निमित्त एक स्थानीय समिति होती थी, जिसकी बैठक उसके कार्यालय (अधिष्ठानाधिकरण) में हुआ करती थी। इस समिति के चार सदस्य थे:—

(१) नगर-श्रेष्ठि—वह जिले के प्रधान नगर का सबसे बड़ा पूंजीपति था। दामोदरपुर के लेखों में धृतिपाल नामक नगर-श्रेष्ठि का उल्लेख मिलता है।

(२) सार्थवाह—वह संभवतः व्यापारिक समिति का अध्यक्ष था। दामोदरपुर के लेख में बन्धुमित्र नामक सार्थवाह का उल्लेख आता है।

(३) प्रथमकुलिक—वह कारीगरों का प्रतिनिधि था। दामोदरपुर के लेख में धृतिमित्र नामक प्रथमकुलिक का उल्लेख हुआ है।

(४) प्रथमकायस्थ—वह लेखक-संघ का प्रतिनिधि था। उपर्युक्त लेख में शाम्बपाल नामक प्रथमकायस्थ का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार की एक जिला-समिति कोटिवर्ष नामक जिले के प्रधान कर्मचारी वेत्रवर्मा की सहायता करती थी।[1]

---

१. "नगर-श्रेष्ठि धृतिपाल—सार्थवाहबन्धुमित्र—प्रथमकुलिकधृतिमित्र—प्रथमकाय-स्थशाम्बपाल पुरोगे संव्यवहरति।" वही, पृष्ठ २८४

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

कलैकुरि के लेख में शृगंवेर नामक तहसील (वीथी) का उल्लेख मिलता है। इसके प्रधान कर्मचारी का कार्यालय (अधिष्ठान) पूर्णकाशिक नामक स्थान में विद्यमान था। उसकी सहायता के लिये भी एक स्थानीय समिति होती थी, जिसमें दो स्थानीय व्यक्ति तथा तीन राजकीय कर्मचारी सम्मिलित थे। स्थानीय सदस्यों में वीथि-महत्तर (प्रतिष्ठित व्यक्ति) तथा कुटुम्बी उल्लेखनीय हैं। राजकीय कर्मचारियों में पुस्तपाल (लेख सुरक्षित रखने वाले), कायस्थ (लेखक) और कुलिक (कारीगर) आते थे।

भूमि-विक्रय-सम्बन्धी विवरण—इस नरेश के समय के अभिलेखों में भूमि-विक्रय से संबन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण विवरण मिलते हैं। भूमि का विक्रय-मूल्य निर्धारित मूल्य (विक्रय-मर्यादा) से अधिक नहीं हो सकता था। कृषि-भूमि तथा वास्तु-भूमि (घर बनाने के लिये जमीन) का मूल्य अलग हुआ करता था। सार्वजनिक लाभ के उद्देश्य से जिस भूमि का बन्दोबस्त किया जाता था, उसके कुछ निश्चित नियम थे। दामोदरपुर के ताम्रलेख में इसे 'नीवी धर्म' कहा गया है। एक कुल्यवाप (एक प्रकार का माप) भूमि का मूल्य तीन दीनार था। भूमि-विक्रय का कार्य विशिष्ट व्यक्तियों के सामने होता था; उदाहरणार्थ महत्तर (प्रतिष्ठित लोग), अष्टकुलाधिकरण (ग्राम के आठ कुलों का विवरण रखने वाला कर्मचारी) तथा ग्रामिक (गाँव का मुखिया)। इनके समक्ष लिखा-पढ़ी के कारण विक्रय की पूरी कार्यवाही में कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती थी।

मुद्राएँ—कुमारगुप्त के समय में समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल से अधिक संख्या में मुद्राओं का निर्माण किया गया। इसके कारण स्पष्ट हैं। उसके राज्यकाल में गुप्तमुद्रा-कला सुविकसित अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी। उसने लगभग चालीस वर्षों तक राज्य किया। अतएव उसे नये प्रकार के सिक्कों को प्रचलित करने का अवसर प्राप्त हुआ। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में चन्द्रगुप्त प्रथम के राजा-रानी प्रकार तथा समुद्रगुप्त के व्याघ्रनिहन्ता, अश्वमेघ तथा वीणा-वादन प्रकार की मुद्राएँ बन्द कर दी गई थीं। कुमारगुप्त प्रथम के काल में इन सिक्कों को पुनः प्रचलित किया गया। उसने अपने पिता के अश्वारोही, धनुर्धारी, छत्र तथा सिंह-निहन्ता प्रकार की मुद्राओं को भी जारी रखा। इनके अतिरिक्त उसने नवीन प्रकार की सुवर्ण मुद्राओं का भी निर्माण कराया। उसके समय की रजत तथा ताम्र-मुद्राएँ भी प्राप्त हैं।

चन्द्रगुप्त प्रथम के आदर्श पर निर्मित मुद्राएँ

राजा-रानी प्रकार—इसका केवल एक ही उदाहरण बयाना-निधि में प्राप्त हुआ है। उसने अपने प्रपितामह (चन्द्रगुप्त प्रथम) के एकमात्र प्रचलित सिक्के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की स्मृति को नवीन बनाने के हेतु इसे निर्मित किया था। इस मुद्रा के मुख भाग पर सम्राट् और साम्राज्ञी एक दूसरे का सामना करते हुए खड़े हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम की भाँति कुमारगुप्त भी रानी को कुछ समर्पित करता हुआ अंकित किया गया है। भेंट की वस्तु सुमन-गुच्छक-तुल्य प्रतीत होती है। पृष्ठ भाग पर सिंह पर आसीन देवी की आकृति उत्कीर्ण की गई है ।

समुद्रगुप्त के अनुकरण पर प्रचलित सिक्के

व्याघ्र-निहन्ता प्रकार—इस वर्ग के सिक्के समुद्रगुप्त की व्याघ्र-निहन्ता प्रकार की मुद्राओं के आदर्श पर ढाले गये थे। इनके मुख भाग पर सम्राट् व्याघ्र को धनुष-बाण से मारता हुआ अंकित किया गया है। पृष्ठ भाग पर समुद्रगुप्त की मुद्राओं के समान देवी मकर की पीठ पर आसीन हैं। इस ओर 'कुमारगुप्तोऽधिराजा' लेख मिलता है। अधिराज शब्द से उसकी महान् शक्ति का बोध होता है। कालिदास ने कुमारसंभव में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है (हिमालयो नाम नगाधिराजः) ।

अश्वमेध प्रकार—इस प्रकार की अब तक सात मुद्राएँ उपलब्ध हैं। इनमें दो ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित हैं, चार बयाना-निधि में प्राप्त हुई हैं तथा एक लखनऊ संग्रहालय में वर्तमान हैं। इनके मुख भाग पर यज्ञ-यूप में बँधे हुए तथा जीन से अलंकृत घोड़े का चित्र मिलता है। इनके पृष्ठ भाग पर सम्राट् की उपाधि 'श्री-अश्वमेधमहेन्द्रः' अंकित है। इनकी तौल १२७ ग्रेन के लगभग है।

वीणा प्रकार—इस वर्ग की मुद्राएँ दुष्प्राप्य हैं। इस कोटि की केवल दो ही मुद्राएँ प्राप्त हैं, जो बयाना-निधि में सुरक्षित हैं। समुद्रगुप्त की भाँति इनमें भी मुख भाग की ओर सम्राट् ऊँची पीठ वाले पर्यंक पर आसीन और गोद में रखी वीणा को बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इसी ओर राजा का नाम उसकी उपाधि के सहित (महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तः) अंकित है। इसके पृष्ठ भाग पर देवी कुंडल, हार तथा कंकण पहने पर्यंक पर बैठी प्रदर्शित की गई है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के आदर्श पर निर्मित मुद्राएँ

अश्वारोही प्रकार—ये उस समय की प्रिय वर्ग की मुद्राएँ थीं। इनकी बनावट के आदर्श चन्द्रगुप्त द्वितीय के अश्वारोही प्रकार के सिक्के थे। इनके मुख भाग पर सम्राट् घोड़े की पीठ पर आसीन दिखाया गया है। इस ओर लेख 'पृथिवी-तलांबरशशी कुमारगुप्तो जयत्यजितः' (अजेय कुमारगुप्त, जो पृथ्वी रूपी आकाश में चन्द्रमा के तुल्य हैं, विजयी हों) आता है। पृष्ठ भाग की दृष्टि से इस कोटि की

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

मुद्राएँ दो प्रकार की हैं। पहली कोटि में देवी अकेले आसीन दिखाई गई हैं तथा दूसरी कोटि में वह मोर को खिलाती हुई अंकित की गई है।[1]

धनुर्धारी प्रकार—इस कोटि की मुद्राओं का आदर्श चन्द्रगुप्त द्वितीय की धनुर्धरांकित मुद्राएँ थीं। ये पर्याप्त संख्या में निर्मित की गई थीं। इनके मुख भाग पर सम्राट् बाईं ओर खड़ा है। उसके दाहिने हाथ में बाण तथा बायें हाथ में धनुष है। इस ओर लेख "महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तः" आता है। इनके पृष्ठभाग पर देवी सर्वदा कमल के आसन पर बैठी दिखाई गई हैं। उसके दाहिने हाथ में पाश तथा बायें हाथ में कमल है। इनकी तौल १२१ ग्रेन से लेकर १४४ ग्रेन तक है।[2]

छत्र प्रकार—इस वर्ग के सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में बड़ी संख्या में प्रचलित किए गए थे। कुमारगुप्त के समय की इस प्रकार की मुद्राएँ अब तक केवल दो उपलब्ध हैं। ये बयाना-निधि में प्राप्त हुई हैं। इससे लगता है कि कुमारगुप्त के काल में ये अधिक लोकप्रिय नहीं थे। बनावट की दृष्टि से ये चन्द्रगुप्त द्वितीय की छत्र मुद्राओं के ठीक अनुकरण हैं। इस कोटि की मुद्राओं के मुख भाग पर वामन नौकर सम्राट के सिर के ऊपर छत्र का आवरण किये हुए खड़ा है। इनके पृष्ठ भाग पर लम्बे नालयुक्त कमल के ऊपर आसीन देवी की आकृति अंकित की गई है। इसी ओर राजा की उपाधि 'श्रीमहेन्द्रादित्य' आती है।[3]

सिंह-हनन् प्रकार—इस कोटि की मुद्राएँ चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंह-हनन् प्रकार के सिक्कों के आदर्श पर निर्मित की गई थीं। इनकी तौल १२४ ग्रेन से लेकर १३१ ग्रेन तक है। ये सिक्के दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) सिंह से खड़ी अवस्था में युद्ध करता हुआ तथा (२) सिंह को कुचलता हुआ। पहली कोटि में मुद्रा-लेख 'क्षितिपतिरजितमहेन्द्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति" (अर्थात् अजेय महेन्द्र कुमारगुप्त, जो पृथ्वी के स्वामी हैं, स्वर्ग को जीतते हैं) मिलता है।

मौलिक सुवर्ण मुद्राएँ

खड्गधारी प्रकार—ये मुद्राएँ नये प्रकार की थीं। इस कोटि के सिक्के कुल मिलाकर १८ उपलब्ध हैं। इनमें से दस बयाना-निधि में सुरक्षित हैं। इसके

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १७३-८३
२. वही, पृष्ठ १६७-७४
३. वही, पृष्ठ १८३-८५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पहले छह सिक्के इस कोटि के मिले थे। पटना में इस वर्ग की दो और मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं। मुख भाग पर सम्राट् प्रभामण्डलयुक्त है और दाहिने हाथ से वेदी पर आहुति छोड़ रहा है। इसी ओर सम्राट् की विरुद 'गामवजित्य सुचरितैः कुमारगुप्तो दिवं जयति' (पृथिवी का विजय कर राजा पुण्य कर्मों के द्वारा स्वर्ग को जीतता है) उत्कीर्ण है। उसका बायाँ हाथ तलवार की मूठ पर अवलंबित है। पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी कमल पर आसीन हैं। इनकी तौल १२४ ग्रेन से लेकर १२७ ग्रेन तक है।

गजारोही प्रकार—इस वर्ग की कुल चार मुद्राएँ प्राप्त हैं। इनमें से तीन बयाना-निधि में प्राप्त हैं तथा एक बंगाल में महानद नामक स्थान से उपलब्ध हुई है। डॉक्टर अल्तेकर का कथन है कि इस प्रकार की मुद्राएँ सम्राट् के आखेट-जीवन से सम्बन्धित हैं। सम्राट् स्वयं महावत का कार्य कर रहा है तथा अपने हाथों में वह अंकुश लिये है। पीछे सेवक उसके ऊपर छत्र का आवरण किये हुए है। इनके पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी कमल के ऊपर खड़ी है।

गजारूढ़-सिंहनिहन्ता प्रकार—इस कोटि की मुद्राएँ कुल पाँच प्राप्त हैं। बयाना-निधि में इस कोटि के चार सिक्के प्राप्त हैं। इसके पहले इस कोटि का एक सिक्का पं० हीरानन्द शास्त्री को १९१७ ई० में उपलब्ध हुआ था, जो कि लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है। इनकी औसत तौल १२७ ग्रेन के लगभग है। इनके मुख भाग पर सम्राट् हाथी पर सवार तथा हाथ में कटार लिये हुए अंकित किया गया है। हाथी के सामने सिंह है। सिंह हाथी के अगले दाहिने पैर को काटने का प्रयत्न करता है। हाथी अपने बायें पैर से सिंह को कुचलने की चेष्टा करता है। इनके पृष्ठ भाग पर प्रभामंडलयुक्त देवी की आकृति अंकित है। इस ओर लेख 'सिंहनिहन्ता महेन्द्रगजः' (महेन्द्र का गज सिंह का नाशक है) मिलता है।

गैंडा-निहन्ता प्रकार—यह भी एक नवीन प्रकार है। बयाना-निधि में इस कोटि के चार सिक्के हैं। इस प्रकार की एक मुद्रा लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है। कला की दृष्टि से इस कोटि के सिक्के अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके मुख भाग पर राजा घोड़े पर सवार तथा तलवार से गैंडे को मारता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इनके पृष्ठ भाग पर मकरवाहिनी गंगा की आकृति उत्कीर्ण है। इस ओर लेख 'श्रीमहेन्द्रखड्ग' आता है।[1]

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ १९७ तथा आगे

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

कार्तिकेय प्रकार—इस कोटि की मुद्राएँ भी सबसे पहले कुमारगुप्त के समय में प्रचलित की गईं । उसका कुमार नाम कार्तिकेय से सम्बन्धित है, अतएव उसने इस प्रकार के सिक्कों के प्रवर्तन का विचार किया होगा । बयाना-निधि में इस वर्ग के तेरह सिक्के उपलब्ध हुए हैं । इनके मुख भाग पर राजा मयूर को खिलाता हुआ प्रदर्शित किया गया है । पृष्ठ भाग पर कार्तिकेय अपने वाहन मोर पर आरूढ़ है । इस ओर लेख 'महेन्द्रकुमारः' आता है ।[1] यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाता है कि मयूर-वाही कार्तिकेय की अवधारणा गुप्त-कालीन साहित्य में भी प्राप्य है (मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन) ।[2]

अप्रतिघ प्रकार—यह भी नवीन कोटि की मुद्रा थी । एलन ने इसे 'प्रताप' मुद्रा की संज्ञा दी थी । उन्होंने इसके पृष्ठ भाग पर 'श्रीप्रताप' पढ़ा था । परन्तु इसका शुद्ध पाठ 'अप्रतिघ' है । अतएव डॉ० अल्तेकर ने इन्हें 'अप्रतिघ प्रकार' कहा है । इनके मुख भाग पर तीन व्यक्तियों के चित्र अंकित हैं । मध्य चित्र सम्राट् का है । उसके दाहिनी ओर की आकृति स्त्री की है तथा बाईं ओर का चित्र पुरुष का है । इनके पृष्ठ भाग पर देवी लक्ष्मी खिले दोहरे कमला-सन पर बैठी हुई हैं । इस ओर लेख 'अप्रतिघ' मिलता है ।[3]

रजत मुद्राएँ—उसकी रजत मुद्राएँ अधिक संख्या में मिलती हैं । ये दो प्रकार की हैं :-(१)पश्चिम भारतीय रजत मुद्राएँ तथा (२) गंगा घाटी की रजत मुद्राएँ । कुमारगुप्त ने सबसे पहले चाँदी के सिक्कों को गंगा की घाटी में प्रचलित किया था । इस समय साधारण क्रय-विक्रय में कम मूल्य वाले चाँदी के सिक्कों की उपयोगिता समझी गई, अतएव गंगा घाटी के लिये भी रजत मुद्राएँ प्रचलित की गईं ।

पश्चिम देशीय मुद्राएँ—इन मुद्राओं के आदर्श चन्द्रगुप्त के चाँदी के सिक्के थे । इनके पृष्ठ भाग पर गरुड़ का चित्र तथा सात विन्दु-समूह का चित्र प्रचलित रहा । ये मुद्राएँ काठियावाड़, गुजरात, वलभी, जूनागढ़, अहमदाबाद तथा कैरा से प्राप्त हुई हैं । लेख की दृष्टि से ये दो प्रकार की हैं । पहले प्रकार में मुद्रा-लेख 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तमहेन्द्रादित्यः' मिलता

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ २०३ तथा आगे

२. "पराघ्यर्वर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवाभ्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥"
—रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ४

३. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ २४५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। दूसरे प्रकार में महाराजाधिराज के स्थान पर सम्राट् की उपाधि केवल 'राजाधिराज' प्राप्त है।

गंगा-घाटी की रजत-मुद्राएँ—इन मुद्राओं का आकार तथा तौल पश्चिमी सिक्कों के ही तुल्य है। दोनों के मुख भाग पर सम्राट् का अर्द्ध चित्र मिलता है तथा पृष्ठ भाग पर वर्तुलाकार मुद्रा-लेख चित्र के चतुर्दिक् प्राप्त होता है। इतिहासकारों का ऐसा अनुमान है कि गंगा-घाटी की मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्र सम्राट् की वास्तविक आकृति से सम्बन्धित है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि मध्य देशीय रजत-मुद्राओं में मौलिकता मिलती है। इन पर मिलने वाला सम्राट् का चित्र क्षत्रप सिक्कों के अनुकरण के रूप में नहीं है। तिथि के उत्कीर्ण करने का ढंग भी विभिन्न है। पश्चिम देशीय एवं गंगा घाटी की रजत-मुद्राओं में कुछ दृष्टियों से अन्तर था :-(१) जहाँ पश्चिम भारतीय मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर गरुड़ की आकृति मिलती है, वहाँ मध्यदेशीय सिक्कों पर पंख फैलाये मोर की आकृति अंकित है। (२) पश्चिम भारतीय मुद्राओं पर लेख गद्य में मिलता है, किन्तु मध्यदेशीय सिक्कों पर लेख छन्द में है। गंगा-घाटी में सबसे अधिक ये उत्तर प्रदेश से मिले हैं; उदाहरणार्थ सहारनपुर, मथुरा, कानपुर, बनारस तथा अयोध्या।[1]

ताम्र-मुद्राएँ—कुमारगुप्त की वास्तविक ताम्र-मुद्राएँ संख्या में बहुत थोड़ी हैं। डॉ० अल्तेकर ने इनका वर्गीकरण चार भागों में किया है:-(१) छत्र प्रकार, (२) धनुर्धारी प्रकार, (३) खड़ा राजा तथा (४) वेदी प्रकार। छत्र प्रकार की केवल एक ही मुद्रा मिली है, जो बम्बई के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके पुरो भाग पर छत्रधारी सेवक सम्राट् के ऊपर आवरण किये हुए प्रदर्शित किया गया है। धनुर्धारी प्रकार की भी केवल एक ही मुद्रा उपलब्ध है। यह भी बम्बई-संग्रहालय में प्राप्य है। इसके मुख भाग पर सम्राट् के बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण है। तीसरे प्रकार (खड़ा राजा) की मुद्रा अयोध्या से मिली है। यह बोदलियन संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके मुख भाग पर सम्राट् खड़ा दाहिने हाथ से वेदी पर आहुति देता हुआ अंकित किया गया है। चौथे प्रकार (वेदी प्रकार) की मुद्राएँ कुल चार मिली हैं। इनके मुख भाग पर वेदी का चित्र अंकित है।[2]

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ २३३ और आगे
२. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १६५-६८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मूल्यांकन—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुमारगुप्त का राज्यकाल कोई अवनति का काल नहीं था। उसने अपने पैतृक साम्राज्य को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा। लेख एवं मुद्राएँ अभिव्यञ्जित करती हैं कि उसके समय में आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास अविच्छिन्न था। बंगाल से प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है कि गुप्त-शासनव्यवस्था में उसने अधिक पूर्णता लाने की चेष्टा की। स्कन्दगुप्त के भितरी के लेख में उसे बुद्धिमान् (पृथुमति), शक्तिसंपन्न (प्रथित-शक्ति), यशस्वी (पृथुयशसः), पृथ्वी का स्वामी (पृथिवी-पति) तथा लक्ष्मी-वान् (पृथुश्रीः) कहा गया है। ये शब्द उसकी महत्ता के परिचायक हैं।

● ●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१०

उत्तराधिकार-समस्या

●

साम्राज्य-विभाजन की सम्भावना—कुमारगुप्त प्रथम के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर कई शंकाएँ एवं सम्भावनाएँ निर्दिष्ट की गईं। राधा गोबिन्द बसाक का मत है कि कुमारगुप्त प्रथम के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य दो प्रतिस्पर्द्धी शाखाओं में विभक्त हो गया।[1] प्रधान शाखा में स्कन्दगुप्त एवं उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय आते थे जिसका नामोल्लेख सारनाथ के लेख (गुप्त-संवत् १५४) में हुआ है। इसी कुमारगुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी सारनाथ के लेख (गुप्त-संवत् १५७) का बुधगुप्त रहा होगा। उसकी पहचान एरण के लेख (गुप्त-संवत् १६५) तथा दामोदरपुर के ताम्रलेख के बुधगुप्त के साथ की जाती है। दूसरी शाखा में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त एवं कुमारगुप्त तृतीय आते थे जिनके नामों का उल्लेख भितरी की राजमुद्रा-लेख में हुआ है। स्कन्दगुप्त-शाखा प्रधान गुप्त-शाखा थी। इसके नरेश उत्तरी बिहार एवं उत्तरी बंगाल में राज्य करते थे। पुरुगुप्त-शाखा गौण गुप्त-शाखा थी। इसमें आने वाले नरेशों का राज्य केवल दक्षिणी बिहार तक ही सीमित था। इस सम्भावना का आधार यह है कि चीनी साक्ष्य के अनुसार बालादित्य (नरसिंहगुप्त बालादित्य) ने नालन्दा (दक्षिणी बिहार) में बौद्ध मन्दिर का निर्माण कराया था। भितरी की राजमुद्रा-लेख को देखने पर एलन महोदय को भी विश्वास हो गया था कि इस अभिलेख में उल्लिखित पुरुगुप्त-शाखा, स्कन्दगुप्त एवं उसके उत्तराधिकारियों की समकालीन प्रतिस्पर्द्धनी शाखा रही होगी। इस मत के सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता है क्योंकि कार्डिंगटन[2] एवं किसी समय रमेशचन्द्र मजूमदार को भी भ्रम हो गया था कि कुमारगुप्त प्रथम के अनन्तर गुप्त-साम्राज्य का विभाजन हुआ होगा। एक भाग में स्कन्दगुप्त एवं उसकी परम्परा में आने वाले नरेश राज्य करते थे तथा दूसरे भाग में पुरुगुप्त एवं उसके उत्तराधिकारी जिनका नामोल्लेख भितरी की राजमुद्रा-लेख में मिलता है राज्य करते थे।

---

१. आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट १९१४-१५

२. ऐंशेंट इंडिया फ्राम दी अर्लिएस्ट टाइम्स टू दी गुप्त एज, पृष्ठ ५७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परीक्षण—जिस समय राधा गोबिन्द बसाक ने अपने मत का प्रवर्तन किया था, उस काल तक बुधगुप्त का नालन्दा से प्राप्त मुद्रा-लेख प्रकाश में नहीं आ सका था। इस अभिलेख से प्रमाणित हो जाता है कि बुधगुप्त पुरुगुप्त का ही पुत्र था। अतएव पुरुगुप्त से पृथक् किसी गुप्त-शाखा में बुधगुप्त के होने की कल्पना कर लेना एक ऐतिहासिक भूल होगी। बुधगुप्त के उपर्युक्त मुद्रा-लेख की प्राप्ति के उपरान्त साम्राज्य-विभाजन-सम्बन्धी मत वस्तुतः निर्मूल सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात विचारणीय यह हो जाती है कि स्कन्दगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय एवं बुधगुप्त चक्रवर्ती गुप्त-उपाधियों को धारण करते थे। भितरी की राजमुद्रा-लेख में उल्लिखित पुरुगुप्त एवं उसके उत्तराधिकारी भी परम्परागत सार्वभौम गुप्त-वंशीय उपाधियों से इसमें विभूषित हैं। ध्यान देने योग्य है कि एक ही समय उसी वंश के दो पृथक् शाखाओं के नरेश उन्हीं चक्रवर्ती-उपाधियों को नहीं धारण कर सकते थे। यह तथ्य भी साम्राज्य-विभाजन की सम्भावना को निराधार सिद्ध करता है। सभी विचारवान पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि दक्षिणी बिहार में गुप्तवंशीय किसी गौण शाखा के शासन का अनुमान लगा लेना कोरी कल्पना-मात्र है। दक्षिणी बिहार गुप्त-साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। इसमें मगध का भी एक हिस्सा सम्मिलित था। राजनीतिक दृष्टि से मगध का विभाजन भयंकर भूल के रूप में होता क्योंकि गुप्त-वंशीय राजधानी पाटलिपुत्र वहीं पर स्थित थी।[1] हमें इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि बुधगुप्त के लेख पूर्वी मालवा से लेकर उत्तरी बंगाल तक प्राप्य हैं। उसके पूर्व स्कन्दगुप्त के लेख एवं सिक्के गुजरात से बंगाल तक मिले हैं। उसके साम्राज्य की वास्तविक सीमाएँ ये ही थीं। कुमारगुप्त प्रथम का साम्राज्य भी पश्चिम में गुजरात से पूर्व में बंगाल तक प्रसरित था। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त अपने पिता के अखण्ड साम्राज्य का अधिपति था।

स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त का तादात्म्य—हार्नले महोदयका कथन है कि स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त को पृथक् नरेश मानना असंगत है। वस्तुतः दोनों एक ही व्यक्ति हैं।[2] मञ्जुश्रीमूलकल्प कहा में गया है कि स्कन्दगुप्त के कई नाम थे (बहुवाख्य)। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती थी। साँची-लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रिय नाम देवराज था। वाकाटक-लेखों में उसे देवगुप्त कहा गया है। संभव है कि इसी भाँति स्कन्दगुप्त का कोई अतिरिक्त नाम पुरुगुप्त भी

---

१. डिक्लाइन ऑफ मगध, बी० पी० सिनहा, पृष्ठ ७

२. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०९, पृष्ठ १२९

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

रहा हो। भितरी के मुद्रा-लेख के अनुसार पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी नरसिंह-गुप्त (बालादित्य) था। मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम बालाख्य (बालादित्य) था। अतएव स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त एक ही व्यक्ति प्रमाणित होते हैं। स्कन्दगुप्त हूणों एवं पुष्यमित्रों का सुप्रसिद्ध विजेता था। इनको हरा देना विलक्षण कार्य था। संभव है कि उसकी इसी असाधारण उपलब्धि के स्मरण में उसके उत्तराधिकारियों ने अपने लेखों में उसे पुरुगुप्त नाम द्वारा आदरपूर्वक उल्लिखित किया हो। स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त की मुद्राएँ समसामयिक सी लगती हैं।[1]

बिहार के स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है तथा भितरी की राजमुद्रा वाले लेख में पुरुगुप्त को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' उल्लिखित किया गया है। इससे भी दोनों एक ही व्यक्ति प्रमाणित होते हैं। परमार्थ-कृत प्रकाण्ड बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु के जीवनवृत्त में वर्णन प्राप्य है कि अयोध्या-नरेश विक्रमादित्य वसुबन्धु की प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित था। उसके व्यक्तित्व तथा धार्मिक क्षेत्र में सफलताओं से आकर्षित होकर वह बौद्ध धर्म का संरक्षक बन गया था। विक्रमादित्य ने अपने युवराज बालादित्य को बौद्ध अनुशीलन के निमित्त वसुबन्धु के पास भेजा था। यहाँ तक कि साम्राज्ञी भी वसुबन्धु की शिष्या बन गई थी। जब बालादित्य सम्राट् हुआ तो उसने एवं उसकी माता ने सम्मिलित रूप में वसुबन्धु को जो कि उस समय अपनी जन्म-भूमि पेशावर (पुरुषपुर) चला गया था अयोध्या आमन्त्रित किया और उसे विशेष सुविधाएँ प्रदान कीं।[2] विक्रमादित्य कोई गुप्त-वंशी राजा प्रतीत होता है। गुप्त-काल में अयोध्या का नगर एक समृद्धिशाली सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में वर्तमान था। इस बात का निर्देश हम पहले कर आए हैं कि कुमार-गुप्तकालीन करमदाण्डा के शिवलिंग-अभिलेख में अयोध्या (आयोध्यक) का उल्लेख आता है। तकक्सू ने वसुबन्धु के संरक्षक विक्रमादित्य की पहचान स्कन्द-गुप्त से की है जिसकी उपाधि 'क्रमादित्य' थी। बालादित्य की पहचान नर-सिंहगुप्त 'बालादित्य' से की जाती है, जो कि भितरी की राजमुद्रा-लेख के अनुसार पुरुगुप्त का पुत्र था। उधर परमार्थ की वसुबन्धु-जीवनी के अनुसार बालादित्य,

---

१. डि० कि० म०, बी० पी० सिनहा, पृष्ठ ७

२. ज० रा० ए० सो० १९०५, पृष्ठ ३३ और आगे; द्रष्टव्य, वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १५६, पादटिप्पणी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विक्रमादित्य (जिसका समीकरण तककुसू ने स्कन्दगुप्त 'क्रमादित्य' से की है) का पुत्र था। अतएव स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त एक ही व्यक्ति हैं।[1]

समीक्षा—मञ्जुश्रीमूलकल्प कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। तथापि यदि इसे किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष का आधार बनाना ही है तो इसमें वर्णित सामग्री के विषय में बड़ी सावधानी के साथ चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। स्कन्दगुप्त का नाम इस ग्रन्थ में 'सकाराख्य' बताया गया है तथा उसका उपनाम 'देवराज' उल्लिखित किया गया है। यदि सचमुच ही उसका कोई अतिरिक्त नाम पुरुगुप्त भी होता तो इस तथ्य का उल्लेख इसमें आना चाहिए था। दूसरी बात विचारणीय है कि स्कन्दगुप्तकालीन सभी अभिलेखों में—चाहे वे राजकीय हों अथवा वैयक्तिक—उसका यही नाम दिया गया है। यदि उसने पुष्यमित्र एवं हूण-विजय के फलस्वरूप अपना नाम पुरुगुप्त धारण किया होता तो कम से कम भितरी-प्रशस्ति में—जिसमें उसकी इन दोनों ही विजयों की चर्चा है—उसका नाम पुरुगुप्त अवश्य उल्लिखित होता। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उपनाम देवराज था। इस तथ्य का उल्लेख उसके साँची के अभिलेख में आता है। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों से भी यही आशा की जाती थी कि वे उसके सुविदित नाम (स्कन्दगुप्त) का ही उल्लेख अपने लेखों में करते। गुप्तवंशीय अभिलेखों की पूर्व-परम्परा भी यही थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने वंशजों के लेखों में अपने प्रसिद्ध नाम (चन्द्रगुप्त) से ही उल्लिखित है।

गुप्त-अभिलेखों में पुरुगुप्त को ही कुमारगुप्त प्रथम का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है। यहाँ तक कि स्कन्दगुप्त के अपने ही सुप्रसिद्ध अभिलेख (भितरी के स्तम्भ-लेख) में उसे अपने पिता का 'तत्पादानुध्यात' नहीं कहा गया है। यह कहना प्रामाणिक नहीं है कि बिहार के स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है। वास्तविकता तो यह है कि इस अभिलेख में स्कन्दगुप्त के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। अब यह सिद्ध हो चुका है कि जिसे पहले कुछ विद्वानों ने भ्रमवश स्कन्दगुप्त पढ़ा था, वह वस्तुतः पुरुगुप्त का ही नाम है। इस लेख में भी उसी को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है। अतएव एक ही समय दो व्यक्ति (स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त) कुमारगुप्त के 'तत्पादानुध्यात' नहीं सिद्ध किये जा सकते। यहाँ पर यह भी विचारणीय हो जाता है कि गुप्तवंशीय अभिलेखों में 'तत्पादानुध्यात' शब्द तात्कालिक उत्तराधिकारी के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। यह तो एक

---

१. डि० कि० म०, बी० पी० सिनहा, पृष्ठ ८-७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदरसूचक शब्द था जिसे सामन्त एवं कर्मचारी भी सम्राट् के प्रसंग में अपने नाम के पूर्व लगाते थे। उदाहरणार्थ उदयगिरि के गुहालेख में सनकानीक महाराज ने अपने आपको चन्द्रगुप्त द्वितीय का 'पादानुध्यात' कहा है। नचना की तलाई के लेख में व्याघ्रदेव ने स्वयं को वाकाटक-महाराज पृथ्वीषेण का 'पादानुध्यात' कहा है। प्रयाग की प्रशस्ति में महादण्डनायक तिलभट्टक ने अपने को परमभट्टारक महाराजाधिराज समुद्रगुप्त का 'पादानुध्यात' कहा है। कतिपय अभिलेखों में देवताओं के सन्दर्भ में भक्तों के निमित्त भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ गुणैधर के लेख के अनुसार महाराज वैन्यगुप्त भगवान् शिव (महादेव) का 'पादानुध्यात' था। इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त एवं पुरुगुप्त को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने के विषय में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे असमीचीन हैं।

उत्तराधिकारी कौन ?—इस बात का निर्देश पहले किया जा चुका है कि भितरी की राजमुद्रा के लेख में कुमारगुप्त प्रथम के नाम के अनन्तर पुरुगुप्त का नामोल्लेख मिलता है। इसमें उसे कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है। इस समस्तपद का अर्थ वही होता है जो कि 'तत्पादपरिगृहीत' (राजा के द्वारा अनुगृहीत) का। इससे लगता है कि पुरुगुप्त कुमारगुप्त प्रथम के द्वारा उत्तराधिकारी मनोनीत किया गया था और इस सम्राट् के उपरान्त वही सिंहासनारूढ़ हुआ था। कुमारगुप्त की अन्तिम तिथि गुप्त-सवत् १३६ (४५५ ई०) थी। जूनागढ़ के शिला-लेख में, जो कि स्कन्दगुप्त के राज्य-काल का प्रथम लेख है, तीन तिथियों का उल्लेख प्राप्य है—गुप्त-संवत् १३६, १३७ एवं १३८। गुप्त-संवत् १३८ (४५७ ई०) के सन्दर्भ में ही स्कन्दगुप्त का नाम इस अभिलेख में प्राप्य है। अतएव लगता है कि उसका राज्याभिषेक इसी समय (अर्थात् ४५७ ई० में) हुआ होगा। इससे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पुरुगुप्त ने कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त के बीच (गु० सं० १३६) ४५५ ई० से लेकर (गु० सं० १३७–३८) ४५७ ई० तक के लघु काल में राज्य किया था।[1]

परन्तु उपर्युक्त मत की बड़ी ही गहराई के साथ छानबीन की आवश्यकता है। 'तत्पादानुध्यातो' का वास्तविक अर्थ होता है 'उसके चरणों का ध्यान करता हुआ' (तस्य पादमनुध्याता) न कि 'उसके चरणों के द्वारा अनुगृहीत'। यह समस्तपद एक आदरसूचक शब्द है। इसका प्रयोग अन्य स्थलों पर भी इसी अर्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ महाभारत में 'तमनुध्यातमालक्ष्य' पाठ मिलता

---

१. डि० कि० म०, बी० पी० सिनहा, पृष्ठ ४२-४४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है ('ध्यान में मग्न उसको देख कर') । प्रवरसेन द्वितीय के ऋद्धपुर के लेख में प्रभावतीगुप्ता के लिए 'भगवत्पादानुध्याता' पाठ प्राप्य है (भगवान् के चरणों के ध्यान में रत) । पूना के ताम्रलेख में उसे 'भगवत्पादानुध्याता' के स्थान पर 'भगवद्भक्ता' कहा गया है । इस उदाहरण से स्पष्ट है कि 'अनुध्याता' शब्द का अर्थ 'भक्त' (ध्यान करने वाला) होता है ।

जहाँ तक जूनागढ़ के शिलालेख का प्रश्न है, इसके अनुसार गुप्त संवत् १३६ (४५५ ई०) के प्रौष्ठपद (अगस्त-सितम्बर) की षष्ठी को गिरिनगर के सुदर्शन तटाक् का बाँध टूटा जिससे नागरिकों को महान् कष्ट का अनुभव हुआ ।[1] गुप्त-संवत् १३७ (४५६ ई०) के ग्रीष्म मास के पूर्व पक्ष (ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्व पक्षे) के प्रथम दिन (प्रथमे अह्नि) से इस बाँध के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ।[2] जीर्णोद्धार की यह कार्यवाही स्कन्दगुप्त के सुयोग्य कर्मचारी चक्रपालित के पर्यवेक्षण में संपन्न हुई थी ।[3] गुप्त संवत् १३८ (४५७ ई०) में इसी कर्मचारी ने एक विष्णु-मन्दिर का निर्माण भी कराया था ।[4] चक्रपालित के उदाहरण से स्पष्ट है कि गुप्त संवत् १३७ (४५६ ई०) में स्कन्दगुप्त राज्य कर रहा था । इसी तिथि की ग्रीष्म-ऋतु (चैत्र , वैशाख एवं ज्येष्ठ) के पूर्व पक्ष के प्रथम दिन को ही बाँध के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था । गुप्त-संवत् चैत्रादि संवत् है । इससे निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त-संवत्

---

१. "संवत्सराणामधिके शते तु
त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव ।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे
गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय ।"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०६

२. सरकार, वही, पृष्ठ ३०६ ।

३. "संवत्सराणामधिके शते तु
त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च
गुप्तप्रकाले नयशास्त्रवेत्ता ।
विश्वोऽप्यनुज्ञान महाप्रभावः ॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०६

४. कारितमवक्र-मतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहं ।
वर्षशतेऽष्टात्रिंशे गुप्तानां कालक्रमगणिते ॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१३७ के प्रारम्भ होते पहले ही दिन (नव वर्ष का प्रथम दिवस) बाँध के जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ कर दिया गया। जूनागढ़ के शिला-लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके पुनर्निर्माण की तैयारी का काम दो महीने पूर्व से ही प्रारंभ हो गया था (मासद्वयेनादरवान्स भूत्वा)। इस कार्य में पर्याप्त द्रव्य का व्यय हुआ था (धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम्)। तैयारी के दो महीनों का यह काल गुप्त-संवत् १३६ (४५५ ई०) में पड़ता है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि स्कन्दगुप्त का राज्याभिषेक वस्तुतः ४५५ ई० में ही हो चुका था। इस प्रकार ४५५ ई० एवं ४५७ ई० के बीच सम्राट-रूप में पुरुगुप्त के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता था। अतएव स्पष्ट है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के ठीक पश्चात् स्कन्दगुप्त ही गद्दी पर बैठा। मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार कुमारगुप्त का तात्कालिक उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त ही था।

उत्तराधिकार-युद्ध—रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि सिंहासन प्राप्त करने के पहले स्कन्दगुप्त को अपने सौतेले भाई पुरुगुप्त के साथ एक उत्तराधिकार-युद्ध करना पड़ा। गुप्तवंशीय लेखों में पुरुगुप्त की माता अनन्तदेवी को कुमारगुप्त की महादेवी (प्रधान महिषी) कहा गया है।[1] इससे लगता है कि उसके राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी वही था। इसके प्रतिकूल स्कन्दगुप्त की माता के नाम का उल्लेख गुप्तवंशीय अभिलेखों में कहीं भी प्राप्य नहीं है। यहाँ तक कि उसके अपने लेखों में भी उसकी माता का नाम नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि उसकी माता कुमारगुप्त की प्रधान महिषी नहीं थी, अतएव वह उनके राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। इस कारण कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् पुरुगुप्त को गद्दी से हटाने के लिए स्कन्दगुप्त को एक गृह-युद्ध लड़ना पड़ा होगा।[2]

इस उत्तराधिकार-सम्बन्धी गृह-युद्ध का प्रतिबिम्ब भितरी के लेख के छठे श्लोक में मिलता है। इसके अनुसार कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तवंश की लक्ष्मी विचलित हो उठीं। उसने अपने भुजबल से उसे पुनः स्थापित किया। तदनन्तर वह अश्रुयुक्त नेत्रों वाली अपनी माता के पास उसी प्रकार पहुँचा, जिस प्रकार भगवान् कृष्ण शत्रुओं के दमन के पश्चात् अश्रुयुक्त नेत्रों वाली अपनी

---

१. महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यामनन्तदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरुगुप्तो"

—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २२

२. ज० ए० सो० बं०, १७, पृष्ठ २५३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

माता देवकी के पास पहुँचे।[1] यह उपमा इस बात को सूचित करती है कि जैसे भगवान् कृष्ण के शत्रु उनके आत्मसम्बन्धी (उनके मामा कंस) थे, वैसे ही स्कन्दगुप्त के शत्रु उसके घरेलू शत्रु (पुरुगुप्त) रहे होंगे। यह युद्ध कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् हुआ, अतएव यह उत्तराधिकार-सम्बन्धी युद्ध रहा होगा। सिवेल का कथन है कि इस उपमा के अनुसार स्कन्दगुप्त की माता का भी नाम देवकी होना चाहिए।[2] इस मत के सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस उपमा में केवल परिस्थितियों की समानता है न कि नामों की समानता। दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है कि इस युद्ध में स्कन्दगुप्त के विरुद्ध संभवतः उसके किसी मामा ने भाग लिया होगा। कृष्ण (जिसके साथ उसकी तुलना की गई है) के प्रधान शत्रु उनके मामा ही थे।[3]

हाल ही में बी० पी० सिनहा ने उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए इतिहासकारों का ध्यान जूनागढ़ के शिला-लेख के पाँचवें श्लोक की ओर आकृष्ट किया है जिसके अनुसार समस्त गुण-दोष के कारणों पर क्रमशः विचार करते हुए जिस स्कन्दगुप्त को बुद्धि में सबसे निपुण पाकर राजलक्ष्मी ने अन्य राजकुमारों (मनुजेन्द्रपुत्रान्) का परित्याग कर दिया तथा उसका ही पति के रूप में वरण कर लिया:—

"क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून्।
व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्रपुत्रां-
ल्लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार॥"

डॉ० सिनहा के अनुसार यह श्लोक गूढ़ ऐतिहासिक महत्त्व से परिपूर्ण है एवं विशेष घटना की ओर संकेत करता है। वह घटना है—कुमारगुप्त के अनन्तर उसके राजकुमारों के बीच दायाधिकार-सम्बन्धी युद्ध। अभिलेखीय

---

१. "पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
भुज-बल-विजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सान्त्वयेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णः देवकीमभ्युपेतः॥"
—भितरी का लेख, श्लोक ६

२. पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५७२

३. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३१४ (पादटिप्पणी)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एवं मुद्रा-साक्ष्य के आधार पर उसके चार पुत्र प्रमाणित होते हैं—स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त, घटोत्कचगुप्त एवं चन्द्रगुप्त तृतीय। इन्हीं चार राजपुत्रों की पहचान उक्त श्लोक में वर्णित 'मनुजेन्द्रपुत्रान्' (राजकुमारों) से की जा सकती है। इन चारों राजकुमारों में पुरुगुप्त ही कुमारगुप्त के राज्य का वैधानिक उत्तराधिकारी रहा होगा, क्योंकि भितरी की राजमुद्रा-लेख में उसी को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है। यह समस्त पद ऐतिहासिक अर्थ में प्रयुक्त है। उत्तराधिकार के निमित्त वैधानिक अधिकार की ओर यह संकेत करता है। स्कन्दगुप्त के अपने ही लेख (भितरी-प्रशस्ति) में उसे कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' नहीं कहा गया है। यहाँ तक कि उसकी माता का नाम भी इसमें उल्लिखित नहीं है। इससे लगता है कि वह महादेवी (प्रधान महिषी) के गर्भ से नहीं उत्पन्न हुआ था। बिहार के स्तम्भ-लेख में कुमारगुप्त के नाम के अनन्तर असावधानी से स्कन्दगुप्त नाम पढ़ लिया गया था। वह नाम वास्तव में पुरुगुप्त है। अतएव इस स्तम्भलेख के आधार पर स्कन्दगुप्त को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' सिद्ध करने की चेष्टा भ्रामक होगी।[1] यह लेख पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य अथवा बुधगुप्त का है और इसमें भी पुरुगुप्त को ही कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' उल्लिखित किया गया है।

कुमारगुप्त के राज्यकाल के अन्तिम क्षणों में पुष्यमित्रों एवं हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप परिस्थितियों ने भयावह रूप धारण कर लिया था। उनके दमन का उत्तरदायित्व उन्होंने सुयोग्य स्कन्दगुप्त को सौंपा होगा। इस कार्य को सम्पन्न करने के उद्देश्य से उसे पाटलिपुत्र से दूर किसी विशेष मोर्चे वाले स्थान पर जाना पड़ा होगा। उसकी अनुपस्थिति वाले इसी काल में कुमारगुप्त संभवतः स्वर्ग सिधारे। पुरुगुप्त उस समय गुप्त-राजधानी में ही वर्तमान रहा होगा। इन परिस्थितियों का लाभ उठा कर पुरुगुप्त ने अपने को राज्याभिषिक्त कर लिया होगा। अतएव राज्य की बागडोर को आत्मसात करने के हेतु स्कन्दगुप्त को उसे विशेष गृह-युद्ध द्वारा हटाना पड़ा होगा। जिस समय सुदर्शन कासार का बाँध गुप्त-संवत् १३६ (४५५ ई०) के भाद्रपद की षष्ठी को टूटा उस समय गद्दी पर पुरुगुप्त ही रहा होगा। स्कन्दगुप्त के हाथ में राज्य-सत्ता गुप्त-संवत् १३७ (४५६ ई०) की ग्रीष्म-ऋतु में आई होगी।[2] उस समय उक्त बाँध के पुनर्निर्माण की जटिल समस्या उसके समक्ष रही होगी।

---

१. डि० कि० म०, बी० पी० सिनहा, पृष्ठ ३३

२. वही, पृष्ठ ४४-४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. 2012 FA(USA)

कुमारगुप्त की मृत्यु से उत्पन्न वातावरण का लाभ उठा कर उसके अन्य दो पुत्रों (घटोत्कचगुप्त एवं चन्द्रगुप्त तृतीय) ने भी विभिन्न भागों में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और उनमें किञ्चित् काल तक राज्य भी किया। पहले हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि घटोत्कचगुप्त की ऐतिहासिकता के विषय में हमें सूचना तुमैन (तुम्बवन) के लेख द्वारा प्राप्त होती है जिसकी तिथि गुप्त-संवत् ११६ (४१५ ई०) है। इस घटोत्कचगुप्त की पहचान वैशाली के मुद्रा-लेख के घटोत्कचगुप्त (श्रीघटोत्कचगुप्तस्य) से की जाती है। लिपि के आधार पर वैशाली-लेख के घटोत्कचगुप्त का समय तुमैन के लेख के घटोत्कचगुप्त का ही काल लगता है। इसी घटोत्कचगुप्त का समीकरण सेन्ट पीटर्सवर्ग की मुद्रा वाले घटोत्कचगुप्त के साथ करना समीचीन होगा। इस मुद्रा-साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेने के उपरान्त उसने अपनी मुद्राएँ भी प्रवर्तित कीं। घटोत्कचगुप्त की सेन्ट पीटर्सवर्ग वाली मुद्रा कुमारगुप्त प्रथम की धनुर्धरांकित मुद्रा का अनुकरण प्रतीत होती है। इससे संकेत मिलता है कि वह कुमारगुप्त का ही पुत्र था। अपने पिता के राज्य-काल में वह कुछ समय तक पूर्वी मालवा (तुमैन) और कुछ समय तक उत्तरी बिहार (वैशाली) में राज्यपाल रह चुका था।

चन्द्रगुप्त तृतीय की सम्भावना के विषय में बी० पी० सिनहा ने विद्वानों का ध्यान 'इंडियन म्यूज़ियम कैटेलाग' की मुद्रा-संख्या ३०, ३१ एवं ३२ की ओर आकृष्ट किया है। इन मुद्राओं पर राजा का नाम चन्द्रगुप्त पढ़ा जा सकता है। इसको स्मिथ महोदय ने भ्रमवश चन्द्रगुप्त द्वितीय से समीकृत किया था। इन सिक्कों में सुवर्ण तुच्छ कोटि का है। अतएव ये उसके समृद्ध एवं स्वर्णिम काल के नहीं हो सकते। वस्तुतः इन मुद्राओं के आधार पर एक अन्य चन्द्रगुप्त (तृतीय) के अस्तित्व की सम्भावना प्रतिपादित होती है।[1] स्कन्दगुप्त को अपने इन्हीं तीनों भाइयों (पुरुगुप्त, घटोत्कचगुप्त एवं चन्द्रगुप्त तृतीय) को राज्य-सत्ता से च्युत कर राजगद्दी को प्राप्त करना पड़ा होगा। जूनागढ़ के शिला-लेख में इसी तथ्य को 'व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्' ('संपूर्ण राजकुमारों का परित्याग कर') कहा गया है।

डॉ० सिनहा ने अपने मत के समर्थन में विक्रमांकदेवचरित[2] से एक ऐतिहासिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार चालुक्य-नरेश आहवमल्ल के दो पुत्र

---

१. डि० कि० म०, बी० पी० सिनहा, पृष्ठ ३९

२. वही, पृष्ठ ३९।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थे—सोमेश्वर (ज्येष्ठ पुत्र) तथा विक्रमादित्य (कनिष्ठ पुत्र)। आहवमल्ल ने विक्रमादित्य को किसी सैनिक अभियान में बाहर भेजा था। इसी बीच उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गई। फलतः अवसर का लाभ उठाकर सोमेश्वर ने अपने को राजा घोषित कर दिया। कालान्तर में विक्रमादित्य ने उसे पदच्युत कर स्वयं राज्यश्री को प्राप्त किया। ऐसी ही परिस्थिति में पुरुगुप्त को परास्त कर स्कन्दगुप्त ने राज्य-सत्ता को आत्मसात किया होगा। यही कारण है कि उसके लेखों में बारंबार कहा गया है कि उसने बाहु-बल द्वारा शत्रुओं को जीता एवं पृथ्वी को अधिगत किया।[1]

विवेचना—उपर्युक्त तर्कों एवं प्रमाणों की यदि गहराई के साथ छानबीन की जाय तो वे समीचीन नहीं प्रतीत होते। गुप्त-कुल में यह कोई आवश्यक नहीं था कि प्रधान महिषी (महादेवी) का ही पुत्र सिंहासन का वैधानिक उत्तराधिकारी हो। कोई भी राजकुमार अपने गुणों के कारण सम्राट् के द्वारा उत्तराधिकारी मनोनीत किया जा सकता था। कई रानियाँ प्रधान महिषी हो सकती थीं। चन्द्र-गुप्त द्वितीय की दोनों पत्नियाँ (कुवेरनागा तथा ध्रुवदेवी) उसकी महादेवियाँ (प्रधान महिषी) थीं। गुप्त-अभिलेखों में कोई अनिवार्य परम्परा नहीं थी कि प्रधान महिषी का नामोल्लेख किया ही जाय। उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त द्वितीय की महादेवी कुवेरनागा का नाम उनमें उल्लिखित नहीं है। वाकाटक-साम्राज्ञी प्रभा-वतीगुप्ता के पूना के ताम्र-लेख में उसे इस सम्राट् की प्रधान महिषी (महादेवी) कहा गया है। स्कन्दगुप्त के भितरी के स्तम्भ-लेख के वंशावली वाले भाग में उसकी माता के नाम के अभाव का एक विशेष कारण है। इसमें कुमारगुप्त के नाम तक पूरी वंशावली गद्य में उल्लिखित है, अतएव सम्राटों के नाम उनकी माताओं के नाम के सहित आते हैं। परन्तु कुमारगुप्त के नाम के ठीक पश्चात् इस लेख का पद्य वाला भाग प्रारंभ हो जाता है अतएव स्कन्दगुप्त की माता के नाम का उल्लेख छन्द-भंग-दोष के कारण इसमें होने से रह गया है। ऐसी परिस्थिति में माता के नाम के अभाव के प्रश्न को उठा कर कुमारगुप्त के राज्य पर उसका अधिकार अवैधानिक नहीं सिद्ध किया जा सकता।

भितरी के स्तम्भ-लेख के सभी विचारवान पाठक इस बात का अनुभव करेंगे कि इसमें कहीं भी उत्तराधिकार-युद्ध का उल्लेख नहीं है। जिन शत्रुओं ने कुमार-गुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-वंश की लक्ष्मी को विचलित किया था वे उसके बाहरी शत्रु हो सकते हैं न कि घरेलू शत्रु। ये शत्रु पुष्यमित्र तथा हूण दोनों ही हो सकते हैं। भितरी के लेख के अनुसार कुमारगुप्त के दिवंगत होने पर उसकी कुल-

---

१. "बाहुभ्यामवनिं विजित्य"—भितरी का स्तम्भ-लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लक्ष्मी विप्लुत हो गई थीं (पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं)। इसी अभिलेख के अनुसार पुष्यमित्रों ने उसकी वंश-लक्ष्मी पर आघात पहुँचाया था (विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्)। हूण-जाति पुष्यमित्रों की तुलना में कई गुनी भयंकर थी। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के लेख की तिथि तथा कुमारगुप्त की मृत्यु की तिथि एक हैं (गुप्त-संवत् १३६ = ४५५ ई०)। इस अभिलेख में म्लेच्छों (हूणों)का उल्लेख मिलता है जिनको स्कन्दगुप्त ने परास्त किया था। लगता है कि कुमारगुप्त के मरते ही हूणों ने गुप्त-साम्राज्य के ऊपर आक्रमण कर दिया था। स्कन्दगुप्त को उनका सामना करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ा होगा। स्कन्दगुप्त के हूण (म्लेच्छ) विजय के प्रसंग में ही जूनागढ़ के शिला-लेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के अनन्तर उसने अपने बाहु-बल के द्वारा शत्रु का दमन कर पृथ्वी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था:—

"अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्थां
पितरिसुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या"

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि भितरी के स्तम्भ-लेख में कुमारगुप्त के दिवंगत होने के पश्चात् जिन शत्रुओं की चर्चा की गई है वे वास्तव में उसके बाहरी शत्रु ही थे। हूणों का उल्लेख भितरी के अभिलेख में भी प्राप्य है। हूण-युद्ध में बुरी भाँति संलग्न होने के कारण उसकी सुरक्षा के विषय में उसकी माता अत्यन्त चिन्तित रही होगी। यह स्थिति मालविकाग्निमित्रम् में उल्लिखित देवी धारिणी का स्मरण दिलाती है, जो कि इस ग्रन्थ में अपने पुत्र वसुमित्र के जीवन के विषय में अत्यन्त चिन्ता-मग्न उल्लिखित की गई हैं। वह उस समय अपने पिता की राजधानी (विदिशा) से बहुत दूर सिन्धु-नदी के तट पर यवन-युद्ध में व्यस्त था। उसने पुत्र की आयु के लाभ के निमित्त प्रति दिन एकसौ सुवर्ण मुद्राओं के दान का नियम बाँध दिया था।[1] जिस समय उसे सूचना प्राप्त हुई कि उसका पुत्र यवन-युद्ध में विजयी हुआ उस समय उसकी प्रसन्नता का कोई पारावार नही था।[2] स्कन्दगुप्त के हूण-विजय की परिस्थितियाँ समान रही होंगी। उनका दमन कर लेने के उपरान्त उसने अपना प्रथम कार्य माता को सान्त्वना-प्रदान करना समझा होगा।

---

१. "तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणं दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति।"
—मालविकाग्निमित्रम्, अंक ५

२. "अनेनाश्वस्तं मे हृदयम्"—वही, अंक ५

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

मितरी के स्तम्भ-लेख के छठे श्लोक (जिसको कुछ विद्वानों ने उत्तराधिकार-संबन्धी गृह-युद्ध का आधार बनाया है) से साम्य रखने वाली पंक्तियाँ परमार-लेखों में प्राप्य हैं। डोंगरग्राम (आधुनिक डोंगराँव) के शिला-लेख (शक संवत् १०३४) से ज्ञात होता है कि भगवान् शिव की आराधना से उदयादित्य परमार को जगद्देव नामक सुयोग्य पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पिता के दिवंगत होने पर सुगमतापूर्वक स्वयं सिंहासनारूढ़ होने की परिस्थिति में था परन्तु 'परिवित्ति' (बड़े भाई के पूर्व ही राज्यारोहण) के पाप के भय से उसने राज्यश्री (सिंहासन) को अपने अग्रज को निवेदित कर दिया:—

"तस्य सत्स्वपि पुत्रेषु स्वसम्मतसुतैषिणः
हराराधनतो जज्ञे जगद्देवो महीपतिः।
दिवं प्रयाते पितरि स्वयं प्राप्तामपि श्रियम्
परिवित्तिभयात्त्यक्त्वा योऽग्रजाय न्यवेदयत् ॥"

इस अभिलेख की पदावली ('दिवं प्रयाते पितरि') मितरी-अभिलेख की उक्त पंक्ति ('पितरि दिवमुपेते') से पर्याप्त रूप में मिलती है। इसे दायाधिकार-संबन्धी गृह-युद्ध का आधार नहीं बनाया जा सकता। उदयगिरि-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जिस समय भोज परमार देवलोक को सिधारे ('गतवति सदनं स्वर्गिणाम्'), उस समय उनकी राजधानी धारा उसके शत्रुओं की सेनाओं द्वारा तिमिराच्छादित हो गई थी। इसी तरह नागपुर के लेख से ज्ञात होता है कि जिस समय भोज परमार सुरधाम को पहुँचे ('तस्मिन् वासव-बन्धुतामुपगते राज्ये') उस अवसर पर उनके पुत्र उदयादित्य को पैतृक शत्रुओं का सामना करना पड़ा था। परमार-लेखों की उपर्युक्त पंक्तियाँ भी मितरी के लेख की उक्त पंक्ति से समानता रखती हैं। उल्लेखनीय है कि उदयादित्य के शत्रु जिन्होंने उसके पिता भोज की मृत्यु के पश्चात् उपद्रव खड़ा किया वे उसके बाहरी शत्रु थे न कि गृह-शत्रु। इसी भाँति स्कन्दगुप्त के भी शत्रु जिन्होंने कुमारगुप्त की मृत्यु के ठीक उपरान्त उथल-पुथल मचाया वे उसके बाह्य शत्रु ही रहे होंगे।

जूनागढ़ के शिला-लेख के कथन 'लक्ष्मी स्वयं यं वरयां चकार' (राजलक्ष्मी ने स्वयं जिसको पति के रूप में चुन लिया था) से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि स्कन्दगुप्त अपने पिता के राज्य का जन्मसिद्ध अथवा वैधानिक अधिकारी नहीं हो सकता था तथा उसने अपने परिश्रम के द्वारा पैतृक सिंहासन को आत्मसात किया था। प्राचीन साहित्य एवं अभिलेखों में यह उक्ति प्रचुर रूप में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्रष्टव्य है। लक्ष्मी-वरण के संबन्ध में निम्नलिखित प्रयोग विचारणीय हो जाते हैं:—

(१) एरण के स्तम्भ-लेख (गुप्त-संवत् १६५) के अनुसार राजलक्ष्मी ने महाराज मातृविष्णु को स्वेच्छापूर्वक पति के रूप में वरण कर लिया था (विधातुरिच्छया स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतेन)।

(२) हर्षचरित में वर्णन मिलता है कि स्वयं राजलक्ष्मी ने ही पति के रूप में हर्ष का वरण कर लिया था (स्वयमेव श्रिया परिगृहीतः)।

(३) रघुवंश के अनुसार लक्ष्मी ने कार्त्तवीर्य को पति के रूप में चुन कर चञ्चल होने के अयश को धो दिया था (येन श्रियः संशयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम्)।

(४) क्षेमीश्वर ने 'चण्डकौशिक' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि प्रतीहार-नरेश महीपाल को स्वयंवर में स्वयं राजलक्ष्मी ने ही पति के रूप में चुन लिया था (लक्ष्मी स्वयंवरप्रणयिना श्रीमहीपालदेवेन)।

(५) राजतरंगिणी में वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार नदियाँ अपनी कलुषता (गन्दगी) को मार्ग में ही परित्यक्त कर अपने शुद्ध जल द्वारा समुद्र में मिलती हैं उसी प्रकार लक्ष्मी ने अपने स्वाभाविक दोषों को अन्य भूपतियों पर त्याग कर काश्मीर-नरेश चन्द्रापीड़ का पवित्र मन से आलिंगन किया था :—

"दोषांस्त्यक्त्वाऽन्यभूपेषु यं शुद्धा श्रीरशिश्रियत् ।
मार्गाद्विष्वोधकालुष्यं क्षिप्त्वा सिन्धुरिवार्णवम् ॥"
—राजतरंगिणी. तरंग ४, श्लोक ४४

(६) राजतरंगिणी के ही अनुसार राजलक्ष्मी ने हरि के आलिंगन तथा चारो समुद्रों का परित्याग कर उज्जयिनी के सम्राट् हर्ष-विक्रमादित्य को पति के रूप में संवरण किया था:—

"भूपमद्मुत्सौभाग्यं श्रीर्बद्धरभसाऽभजत् ।
विहाय हरिबाहूंश्च चतुरः सागरांश्च यम् ॥"
—राजतरंगिणी, तरंग ३, श्लोक १२६

(७) पृथ्वीदेव द्वितीय के बैलागढ़ के ताम्रलेख के अनुसार जीमूतवाहन असीम गुण एवं गौरव से युक्त था तथा अपने उत्कृष्ट चरित्र के द्वारा उसने इस वसुधा को पवित्र कर दिया था। लक्ष्मी ने अपनी स्वाभाविक चञ्चलता को सर्वदा के लिये परित्यक्त कर उसे अपना लिया था:—

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

"जीमूतवाहन इति प्रथितस्तदीयः पुत्रः पवित्रितधरित्रिदधच्चरित्रम् ।
आसीदसीमगुणगौरवगुम्फितश्रीः श्रीरेव यत्र च मुमोच निजं चलत्वम् ॥"

(८) रुद्रदामन् के गिरिनार के अभिलेख के अनुसार राजलक्ष्मी ने पति के रूप में उसका संवरण कर लिया था (राजलक्ष्मीवारणा...रक्षार्थं पतित्वे वृतेन) ।

भारतीय औपनिवेशीकरण के परिणाम-स्वरूप इस प्रकार के वर्णन की परम्परा दक्षिण-पूर्व एशिया में भी पहुँची । वहाँ के प्राचीन शिला-लेखों में ऐसे प्रयोग के कतिपय दृष्टान्त निम्नलिखित हैं:—

(१) जावा के पेनंग-गुंगेन के लेख के अनुसार राजलक्ष्मी ने अन्य नरेशों को अयोग्य पाकर पृथ्वी के एकच्छत्र सम्राट् एर्लङ्गदेव का प्रगाढ़ आलिंगन किया था, जिसने अपने शत्रुओं का संहार कर दिया था एवं जिसने विभिन्न दिशाओं में दिग्विजय किया था:—

"पूर्व्वादिदिग्विजयिनं हतसर्व्वशत्रु—
मेकातपत्रमवनेर्एर्लङ्गमदेवम् ।
नान्यन्निरीक्षितुमलं सुभुजोपपीड़—
ङ्गाढम्परिष्वजति सम्प्रति राजलक्ष्मीः ॥"—श्लोक १३

(२) जावा के उसी लेख के अनुसार ईशानतुंग नामक नरेश को चंचला राज्यलक्ष्मी ने पति के रूप में चुन लिया था (लक्ष्मीन्दधौ गत्वरीम्) ।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि जूनागढ़ के अभिलेख में उल्लिखित लक्ष्मी-वरण को लेकर स्कन्दगुप्त के द्वारा उत्तराधिकार-संबन्धी युद्ध को प्रमाणित करने की चेष्टा सर्वथा भ्रान्तिमूलक होगी । राजाओं की उपलब्धि के वर्णन-प्रसंग में यह एक सुविदित भारतीय काव्य-परम्परा मात्र थी जिसे किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष का आधार बनाना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । तथापि जूनागढ़ के लेख के उपर्युक्त उल्लेख को किसी घटना-विशेष के द्योतक के अर्थ में यदि लेना ही है तो इससे संभवतः यह भाव निकालना अधिक समीचीन होगा कि कुमारगुप्त ने ही अपने अनेक राजकुमारों के बीच स्कन्दगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी उसी प्रकार चुना होगा जिस प्रकार प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपने पुत्रों में सबसे अधिक योग्य पाकर उत्तराधिकारी मनोनीत किया था । जूनागढ़ का शिलालेख वस्तुतः योग्यतम् के चयन का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है । इसके अनुसार स्कन्दगुप्त ने अपने सर्वश्रेष्ठ कर्मचारी पर्णदत्त को सुराष्ट्र (गुजरात) प्रान्त का राज्यपाल (गोप्ता) बनाया था (मारस्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तस्योद्वहने समर्थः)। उसी प्रकार संभव है कि अपने सम्पूर्ण राज्य के भार-वहन के उत्तरदायित्व के निमित्त उन्होंने स्कन्दगुप्त को ही मनोनीत किया हो।

स्कन्दगुप्त की कुछ विशेष प्रकार की सुवर्ण मुद्राएँ उपलब्ध हैं जिन्हें 'राजा और लक्ष्मी प्रकार' की संज्ञा प्रदान की जाती है। इनके मुखभाग पर बाईं ओर राजा धोती तथा आभूषण से सुसज्जित खड़ा है। दाहिनी ओर आभरण-युक्त लक्ष्मी का चित्र अंकित है। वह सम्राट् को कुछ भेंट करती हुई प्रदर्शित की गई हैं। यहाँ पर जूनागढ़ के लेख में उल्लिखित 'लक्ष्मी-वरण' की भावना का प्रतिबिम्ब मिलता है। लगता है कि लक्ष्मी के रूप में कुमारगुप्त के द्वारा ही स्कन्दगुप्त को राज्य-भार के समर्पण का ही भाव उक्त कोटि की मुद्राओं में अंकित किया गया है। इस प्रकार का निष्कर्ष असम्भाव्य नहीं माना जा सकता। प्रयाग की प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त प्रथम समुद्रगुप्त को वसुधा का भार अर्पित करता हुआ उल्लिखित किया गया है (पात्र्येवमुर्वीमिति)। सम्भव है कि स्वयं कुमारगुप्त ने ही स्कन्दगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर लिया हो और जूनागढ़ के अभिलेख में उल्लिखित लक्ष्मी के द्वारा गुण-दोष के हेतुओं पर ध्यानपूर्वक विमर्श से संबन्ध इसी तथ्य के साथ रहा हो (ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुणदोषहेतून्)। स्कन्दगुप्त के अभिलेखों में मिलने वाले इस उल्लेख से कि उसने बाहु-बल से वसुधा को प्राप्त किया था यह निष्कर्ष निकाल लेना समीचीन नहीं होगा कि वह अपने पैतृक राज्य का वैधानिक उत्तराधिकारी नहीं था। गुप्तवंशीय अभिलेखों में पराक्रमी नरेशों के द्वारा अपने बाहु-बल से 'अवनि-विजय' के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त का बन्धु एकमात्र उसका बाहुबल ही था (स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः)। यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने पिता के राज्य का अपहारक अथवा अवैधानिक अधिकारी था। मेहरौली-प्रशस्ति में कहा गया है कि सम्राट् चन्द्र ने अपने बाहुओं के द्वारा एकछत्र राज्य स्थापित किया था (स्वभुजार्जितम्)।

भितरी के स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त को अपने पिता के चरण-कमलों में भ्रमर के तुल्य लीन रहने वाला कहा गया है (पितृ-परिगत-पादपद्मवर्त्ती)।[1] विचारवान् पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि इसका अर्थ वही होता है जो कि तत्पादानुध्यात' का (तत्पादम् अनुध्याता उसके चरणों का ध्यान करने वाला)।

---

१. "प्रथित-पृथुमति-स्वभाव-शक्तेः
पृथुयशसः पृथिवीपतेः पृथुश्रीः"—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३१३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पहले हम इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं कि 'तत्पादानुध्यात' एक आदरसूचक समस्त पद मात्र है। इसे वैधानिक उत्तराधिकारी के अर्थ में लेना समीचीन नहीं होगा। गुप्त-वंश एवं अन्य राजवंशों के अभिलेखों में इस प्रकार की शब्दावली के प्रयोग प्रचुर रूप में प्राप्य हैं। उदाहरणार्थ राजा महाजयराज के आरंग के ताम्र-लेख में उसे 'मातृपितृपादानुध्यात' अर्थात् माता-पिता के चरणों का ध्यान करने वाला कहा गया है। एरण के एक लेख में धन्यविष्णु को अपने बड़े भाई मातृविष्णु का 'तत्प्रसाद-परिगृहीत' (अर्थात् उसकी कृपा का भाजन) कहा गया है। प्रभावतीगुप्ता के पूना के ताम्र-लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय को समुद्रगुप्त का 'तत्पादपरिगृहीत' (उसके चरणों के द्वारा उपकृत) कहा गया है। इस वाकाटक-साम्राज्ञी के ऋद्धपुर के लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय को समुद्रगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों ही समस्त पद एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और इनसे वैधानिक राज्याधिकार का भाव निकालना प्रमाण-संगत नहीं होगा।

इसके पूर्व सिद्ध किया जा चुका है कि गुप्त-संवत् १३६ (४५५ ई०) में पुरुगुप्त के राज्यारोहण की कोई भी सम्भावना नहीं हो सकती थी। उस समय वस्तुतः स्कन्दगुप्त ही गद्दी पर था। इस वर्ष के अन्तिम चरण में उसके सुयोग्य कर्मचारी चक्रपालित के पर्यवेक्षण में सुदर्शन तटाक् के जीर्णोद्धार का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। विचारणीय हो जाता है कि कुमारगुप्त की मृत्यु-तिथि तथा स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक की तिथियाँ एक ही हैं (गुप्त-संवत् १३६ = ४५५ ई०)। यदि कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त के बीच उत्तराधिकार-युद्ध छिड़ता, तो इन दोनों तिथियों में सम्भवतः कुछ काल का अन्तर अवश्य होता। उदाहरणार्थ बौद्ध परम्परा के अनुसार गृह-युद्ध के कारण बिन्दुसार की अन्तिम तिथि तथा अशोक के राज्याभिषेक-तिथि में चार वर्षों का अन्तर प्राप्य है। उत्तराधिकार-युद्ध की परिस्थितियों में स्कन्दगुप्त के अनन्तर पुरुगुप्त एवं उसके वंशजों का राज्य करना असम्भव हो जाता। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प का रचयिता किसी परम्परा से परिचित था जिसके अनुसार महेन्द्रादित्य (कुमारगुप्त) के अनन्तर सकाराद्य (जिसके नाम के पूर्व 'स' अक्षर पड़ता हो अर्थात् स्कन्दगुप्त) गद्दी पर बैठा। महेन्द्रादित्य के पिता का नाम विक्रम (विक्रमादित्य) तथा पितामह का नाम समुद्र (समुद्रगुप्त) बताया गया है:—

"समुद्राख्य नृपतिश्चैव
विक्रमश्चैव कीर्तिः।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महेन्द्रनृपवरो मुख्यः
सकाराद्यमतः परम ॥"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के अनन्तर स्कन्दगुप्त ही गद्दी पर बैठा तथा पुरुगुप्त के साथ उसका कोई उत्तराधिकार-संबन्धी गृह-युद्ध नहीं हुआ था।

●●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

११

स्कन्दगुप्त--'क्रमादित्य'

"तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चि--
र्द्धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु ।
आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो
दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात् ॥"

--भितरी का स्तम्भ-लेख

"जिस समय वह राजा राज्य कर रहा था, उस समय उसकी प्रजा में कोई भी व्यक्ति अधर्मी, दुखी, दरिद्र, संकट-ग्रस्त, लोलुप, दण्डनीय एवं भृशपीड़ित (अत्यन्त सताया हुआ) नहीं था।"

गुप्त-वंश का अद्वितीय वीरवर (गुप्तवंशैक-वीरः), बाहुबल के लिए प्रख्यात (जगति भुज-बलाढ्यो), अपने नाम को चरितार्थ करने वाला यह सम्राट् (नामतः स्कन्दगुप्तः) अपने कुल का गौरव था। यदि समुद्रगुप्त 'सर्वराजोच्छेता' एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य 'शकारि' था तो स्कन्दगुप्त को हूण-विजेता होने का श्रेय उपलब्ध था। उसने अपनी विलक्षण कृतियों एवं महती सफलताओं के द्वारा अपने पूर्वजों के यश के अभिवर्द्धन एवं विस्तार में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था।

साधन--स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व एवं उपलब्धियों के विषय में सूचना के प्रमुख स्रोत उसके राज्य कालीन अभिलेख हैं। इनमें कालक्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम जूनागढ़ का शिला-लेख उल्लेखनीय है। इसे प्रकाश में लाने का श्रेय जेम्स प्रिंसेप तथा भाऊदाजी को है। जूनागढ़ को गिरिनार भी कहते हैं। इसका प्राचीन नाम गिरिनगर था। यह एक पर्वत के समीप स्थित था जिसे इस अभिलेख में रैवतक तथा ऊर्जयत् भी कहा गया है। लेख आद्योपान्त संस्कृत पद्य में बड़े ही सुन्दर ढंग से लिखा गया है। इसमें मालिनी, आर्य्या, उपजाति, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा एवं वसन्ततिलका आदि छन्दों के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्य हैं। लेख दो भागों में विभक्त है। दूसरे भाग की कतिपय पंक्तियाँ विनष्ट हो गई हैं। प्रथम भाग विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ होता है। इसमें स्कन्दगुप्त के म्लेच्छ-विजय की चर्चा प्राप्त होती है। इस लेख के अनुसार उसने पर्णदत्त को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुराष्ट्र-प्रान्त (गुजरात) का राज्यपाल नियुक्त किया था। इस अभिलेख में तीन तिथियों का उल्लेख मिलता है--गुप्त-संवत् १३६, १३७ एवं १३८। ये तीनों ही तिथियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थीं।

इसके राज्य-काल का द्वितीय अभिलेख कहौम का स्तम्भ-लेख है। इस ग्राम को कहावम भी कहते हैं। इसका प्राचीन नाम ककुभ अथवा ककुभ-ग्राम भी था। यह देवरिया जिले के सलेमपुर-मझौली से दक्षिण-पश्चिम पाँच मील की दूरी पर स्थित है। यह स्तम्भ लाल बालूदार पत्थर के द्वारा निर्मित है। इस लेख को विशेष प्रकाश में लाने का श्रेय फांसिस बूकन, जेम्स प्रिंसेप, जेनरल कनिंघम, भगवानलाल इन्द्रजी, फ्लीट एवं कीलहार्न आदि को है। इस लेख को गुप्त-संवत् १४१ के ज्येष्ठ मास में उत्कीर्ण किया गया था (त्रिंशद्दशैकोत्तरक-शततमे ज्येष्ठ-मासि प्रपन्ने)। इसमें मद्र नामक नागरिक का उल्लेख मिलता है, जो द्विज, गुरु एवं यतियों के प्रति विशेष आस्था रखने वाला था।[1] उसका प्रपितामह सोमिल नामक था, जो विविध गुणों से संयुक्त था (प्रचुर-गुण-निधेः)। उसके पितामह का नाम भट्टिसोम था। उसके पिता का नाम रुद्रसोम था, जो अपनी बुद्धि एवं प्रतिष्ठा के लिए प्रख्यात था (पृथुल-मति-यशा)। वही व्याघ्र के नाम से भी सुप्रसिद्ध था। इसमें गुप्त-संवत् १४१ (अर्थात् ४६० ई०) को स्कन्दगुप्त के राज्य-काल का शान्त वर्ष कहा गया है (स्कन्दगुप्तस्य शान्ते वर्षे)। इस उल्लेख से निष्कर्ष निकलता है कि प्रारंभिक कठिनाइयों के उपरान्त उसका शासन-काल शान्तिमय हो गया था। इस समय न तो कोई बाह्य आक्रमण हुए और न ही आन्तरिक उपद्रव। इस लेख के अनुसार यह स्तम्भ आकाश की चोटी को छूता हुआ स्कन्दगुप्त की कीर्त्ति की प्रशंसा कर रहा था।[2] यह अभिलेख जैन धर्म से सम्बन्धित है। इसके अनुसार मद्र ने पाँच जैन तीर्थंकरों—आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की प्रतिमाएँ स्थापित की थीं। इस स्तम्भ के आधार पर पश्चिम की ओर पाँच आकृतियाँ अंकित मिलती हैं। भगवानलाल इन्द्रजी के अनुसार ये आकृतियाँ उपर्युक्त पाँच तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।

उसके राज्य-काल का तृतीय प्राप्त अभिलेख इन्दौर का ताम्रलेख है। इस लेख के अनुसन्धान का श्रेय ए० सी० एल० कार्लाइल को है, जो कि डॉयरेक्टर

---

१. "मद्रस्तस्यात्मजोऽभूद्द्विज-गुरु-यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०९

२. "शैलस्तम्भः सुचारुर्गिरिवर-शिखराग्रमोपमः कीर्त्ति-कर्त्ता"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जेनरल ऑफ आर्क्यालोजी के प्रथम सहायक थे। उन्होंने १८७४ ई० में इस लेख का पता लगाया था। उन्होंने इसे कनिंघम की सहायता से उसी वर्ष जनरल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जिल्द ४३ के भाग १ में प्रकाशित किया था। मूल लेख के साथ राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा प्रस्तुत इसका अंग्रेजी अनुवाद भी मुद्रित किया गया था। यह लेख एक ताम्र-पत्र के ऊपर उत्कीर्ण है। बुलन्दशहर जिले के अनूप शहर तहसील के प्रमुख नगर दिभाई से पाँच मील उत्तर-पश्चिम की दूरी पर स्थित इन्दौर नामक स्थान से यह ताम्र-पट प्राप्त हुआ है। इसका प्राचीन नाम इन्द्रपुर था। इस लेख में गुप्त-संवत् १४१ (४६० ई०) के फाल्गुन मास का उल्लेख मिलता है (संवत्सर-शते षच्चत्वारिंशदुत्तरतमे फाल्गुन-मासे)। यह अभिलेख सूर्य-पूजा से प्रारम्भ होता है। इस लेख के आदि में संस्कृत के दो श्लोक मिलते हैं जो कि शार्दूलविक्रीडित एवं इन्द्रवज्रा छन्दों में लिखे गए हैं। इसके उपरान्त लेख का गद्य वाला भाग प्रारम्भ होता है। इसमें सम्राट् की उपाधियाँ परमभट्टारक एवं महाराजाधिराज आती हैं। इस लेख में उसके शासन-काल के इस वर्ष को समृद्ध काल माना गया है (अभिवर्द्धमान-विजयराज्य-संवत्सर)। इसमें चन्द्रापुर के पद्मा के चतुर्वेदी ब्राह्मण देवविष्णु का उल्लेख मिलता है। उल्लिखित वंशावली के अनुसार वह डुडिक का प्रपौत्र, हरित्रात का पौत्र एवं देव नामक व्यक्ति का पुत्र होता था। इस लेख के अनुसार इन्द्रपुर में एक सूर्य-मन्दिर वर्तमान था, जिसका निर्माण क्षत्रिय अचलवर्मा तथा भृकुण्ठसिंह ने कराया था। ब्राह्मण देवविष्णु ने इस मन्दिर में दीपक जलाने के निमित्त दान दिया था। दान में दिया गया द्रव्य इन्द्रपुर में रहने वाले तेलियों की समिति (तैलिक-श्रेणी) के पास जमा किया गया, जिसका अध्यक्ष (प्रवर) जीवन्त नामक व्यक्ति था। मूलधन के सूद के हिसाब से इस तैलिक श्रेणी को दो पल तेल (तैलस्य पलद्वयं) उक्त सूर्य-मन्दिर में दीपक जलाने के उद्देश्य से देना पड़ता था। लेख के अन्त में उद्धृत श्लोक के अनुसार इस दान को भंग करने वाला व्यक्ति गो-हत्या, द्विज-हत्या एवं गुरु-हत्या का भागी बनता।[1]

---

१. "यो व्यक्रमेद्दायमिमं निबद्धम्
गोघ्नो गुरुघ्नो द्विज-घातकः सः।
तैः पातकैः पञ्चभिरन्वितोऽध-
र्गच्छेन्नरः सोपनिपातकैश्चेति॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३१२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्कन्दगुप्त के काल के प्रधान लेखों में उसके भितरी के स्तम्भ-लेख की भी गणना की जाती है। जूनागढ़ के अभिलेख के तुल्य यह लेख भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाओं से परिपूर्ण है। इस लेख को प्रकाश में लाने का विशेष श्रेय जेम्स प्रिंसेप, जेनरल कनिंघम, डब्ल्यू० एच० मिल, भगवानलाल इन्द्रजी एवं भाऊ दाजी को है। आधुनिक गाजीपुर जिले में स्थित सैदपुर से उत्तर-पूर्व पाँच मील की दूरी पर भितरी नामक एक ग्राम है जहाँ से यह लेख प्राप्त हुआ है। लेख की प्रथम पाँच पंक्तियाँ गद्य में लिखी गई हैं। उनमें स्कन्दगुप्त के पूर्वजों के नाम उनकी माताओं के नाम के सहित उल्लिखित हैं। लेख की छठी पंक्ति से पद्य वाला भाग प्रारम्भ हो जाता है। इसके द्वारा स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व एवं उपलब्धियों के विषय में सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार उसने भगवान् विष्णु (शार्ङ्गिण) की एक विशाल प्रतिमा की स्थापना की थी। लगता है कि यह प्रतिमा सुविशाल रही होगी। सूर्यएवं चन्द्रमा के तुल्य इसे स्थायी रहने के निमित्त लेख में कामना प्रगट की गई है। उसने अपने पिता के यश की अभिवृद्धि के निमित्त एक ग्राम इस मूर्त्ति को प्रदान किया था।[1] यह लेख साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम है। इसमें पुष्पिताग्रा, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित एवं अनुष्टुभ छन्दों के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्य हैं।

हाल ही में रींवा में स्थित सुपिया नामक स्थान से स्कन्दगुप्त के काल का एक लेख प्राप्त हुआ है। इसमें गुप्त-वंशावली घटोत्कच के समय से प्रारम्भ होती है। पहले विद्वानों का ऐसा अनुमान था कि बिहार का स्तम्भ-लेख भी जिसमें किसी तिथि का उल्लेख नहीं प्राप्य है स्कन्दगुप्तकालीन है। यह लेख पटना जिले में वर्तमान बिहार-शरीफ नामक स्थान से प्राप्य है। इसका पूर्व भाग पद्य एवं उत्तर भाग गद्य में है। गद्यांश वाले भाग में गुप्त-वंशावली प्राप्य है। यहाँ पर उल्लेखनीय हो जाता है कि विद्वान् अब इस लेख को स्कन्दगुप्त-कालीन नहीं मानते। रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन ठीक ही लगता है कि स्कन्द-

---

१. "कर्त्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः।
सुप्रतीतश्चकारेमां यावदाचन्द्र - तारकम्॥
इह चैनं प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठित - शासनः।
ग्राममेनं स विदधे पितुः पुण्याभिवृद्धये॥
अतो भगवतो मूर्त्तिरियं यश्चात्र संस्थितः।
उभयं निर्द्दिदेशासौ पितुः पुण्याय पुण्यधीरिति॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त के स्थान पर पुरुगुप्त पाठ अधिक समीचीन होगा। इसके नाम के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी नरेश का नाम भी उल्लिखित था। दुर्भाग्यवश नाम मिट गया है, परन्तु उसकी उपाधि 'परमभागवत' उल्लिखित मिलती है। वंशावली में एक ही नरेश का दो बार नाम क्रम से नहीं लिखा जा सकता। अतएव यह नाम पुरुगुप्त के किसी उत्तराधिकारी का रहा होगा। इसी कारण रमेशचन्द्र मजूमदार आदि विद्वान् इसे बुधगुप्त अथवा नरसिंहगुप्त का मानते हैं। इसमें मातृ-पूजा का उल्लेख मिलता है (मातृभिश्च लोकान्)।[1]

काल-क्रम की दृष्टि से उसके समय का अन्तिम लेख गढ़वा का शिला-लेख है, जिसका पता कनिंघम महोदय ने १८७५ ई० में लगाया था। उन्होंने इसे १८८० ई० में आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द १० में प्रकाशित किया था। कनिंघम के पाठ में कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं। अतएव इसका संशोधित पाठ अंग्रेजी अनुवाद के सहित ई० हुल्श ने १८८२ ई० में इंडियन ऐंटिक्वैरी के जिल्द ११ में प्रकाशित किया। गढ़वा से चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम के समय के भी लेख प्राप्त हुए हैं जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रयाग जिले की करछना तहसील में स्थित यह एक ग्राम है। लगता है कि गुप्त-काल में गढ़वा कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक केन्द्र था। यह लेख बालूदार शिला-खण्ड पर उत्कीर्ण है, जो कि गढ़वा के किसी प्राचीन विष्णु-मन्दिर (दशावतार-मन्दिर) की फर्श में लगा हुआ था। यह लेख राजकीय संग्रहालय, कलकत्ता में इस समय सुरक्षित है। लेख के अधिकांश भाग नष्ट हो गए हैं। यहाँ तक कि वह भाग भी जिसमें राजा का नाम उल्लिखित था, मिट गया है। इस लेख की तिथि गुप्त-संवत् १४८ (४६७ ई०) के माघ मास का पचीसवाँ दिन है (माघमास-दिवसे एकविंशतिमे)। इससे लगता है कि यह लेख स्कन्दगुप्तकालीन रहा होगा। इसकी भाषा आद्योपान्त संस्कृत गद्य है। इस लेख के अनुसार किसी

---

१. पहले सात माताओं की पूजा होती थी—

"ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुण्डा सप्तमातरः॥"

कालान्तर में आठ माताओं की पूजा होने लगी—

"ब्राह्मी माहेश्वरी चण्डी वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारी चैव चामुण्डा चर्च्चिकेत्यष्टमातरः॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३१७, पादटिप्पणी ४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नागरिक ने अपने धार्मिक लाभ के निमित्त गढ़वा के उक्त मन्दिर में भगवान् अनन्तशायी (विष्णु) की मूर्त्ति की स्थापना की थी (अनन्तस्वामीपादं प्रतिष्ठाप्य)। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि इस लेख में भगवान् विष्णु (अनन्तस्वामी) को चित्रकूटस्वामी भी कहा गया है। चित्रकूट तीर्थ राम से विशेष रूप से सम्बन्धित है, जो कि विष्णु के अवतार माने जाते हैं। उसी नागरिक ने मन्दिर के भीतर गन्ध, धूप एवं माला (स्रग) की व्यवस्था के निमित्त कुछ भूमि भी दान में दिया था।

राज्य-काल—कुमारगुप्त प्रथम की अन्तिम तिथि गुप्त-संवत्-१३६ (४५५ ई०) है। अतएव यही स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक की भी तिथि रही होगी। उसके जूनागढ़ के लेख में इस तिथि का उल्लेख प्राप्य है। उसकी अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त-संवत् १४८ (४६७ ई०) है। इस प्रकार उसे कुल बारह वर्षों तक (४५५ ई०—४६७ ई०) राज्य करने का अवसर मिल सका था। उसके अल्पकालीन शासन का कारण यह हो सकता है कि उसके जीवन का अधिकांश भाग उसके पिता के चालीस-वर्षीय राज्य-काल में व्यतीत हो चुका था।

नाम एवं उपाधियाँ—आर्य मञ्जु श्रीमूल कल्प में उसे कई नामों वाला नरेश (बह्वाख्य) कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार उसका एक द्वितीय नाम देव-राज भी था। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि उसके पितामह (चन्द्रगुप्त द्वितीय) का भी यही नाम था।[1] संभव है कि स्कन्दगुप्त ने इस नाम को भी धारण कर लिया हो। उसकी कई उपाधियाँ भी थीं। उदाहरणार्थ विक्रमादित्य तथा क्रमादित्य। भितरी के स्तंभ-लेख में इसकी ये दोनों उपाधियाँ आती हैं :—

"विनय - बल - सुनीतैर्व्विक्रमेण क्रमेण
प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन लब्ध्वा।"

उसकी धनुर्धारी प्रकार की सुवर्ण मुद्राओं के ऊपर भी उसकी उपाधि क्रमादित्य आती है (परहितकारी राजा जयति दिवं श्रीक्रमादित्यः)। गरुड़ प्रकार की रजत-मुद्राओं के ऊपर भी उसकी यह उपाधि प्राप्त है (परमभागवतमहाराजा-धिराजश्रीस्कन्दगुप्तक्रमादित्यः)। विक्रमादित्य की उपाधि वेदी प्रकार की रजत-

---

१. "महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य देवराज इति प्रियनाम्नः"
—साँची का लेख (गुप्त-संवत् ९३)
यहाँ पर उल्लेखनीय है कि वाकाटक-अभिलेखों में भी उसका नामदेव गुप्त एवं देवराज आता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मुद्राओं पर आती है (परमभागवतश्रीविक्रमादित्य स्कन्दगुप्तः) । कहौम के लेख में उसे शक्रोपम (इन्द्र के समान) कहा गया है ।[1] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की तुलना इन्द्र से की गई है (धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य) । कुमारगुप्त का एक दूसरा नाम महेन्द्र (महेन्द्रादित्य) था ।

प्रारंभिक वर्ष—यदि कुमारगुप्त के राज्यकाल के प्रारंभिक वर्ष शांतिमय थे तो स्कन्दगुप्त की राज्यावधि का आदि भाग अशान्त था । भितरी के लेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के मरते ही गुप्त वंश की लक्ष्मी विप्लुत हो उठीं (पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं) । इसी लेख में एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि गुप्त कुल की लक्ष्मी विचलित हो उठीं और स्कन्दगुप्त ने उसे अपने बाहुबल से पुनः स्थापित किया (विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन) । उसे पूरी रात युद्ध-भूमि में बितानी पड़ी (क्षितितलशयनीये-येन नीता त्रियामा) ।

पुष्यमित्र—कुछ विद्वानों का कथन है कि गुप्त वंश को विचलित करने में पुष्यमित्रों का हाथ था । उनके अनुसार इन लोगों ने गुप्त-साम्राज्य के ऊपर कुमारगुप्त की मृत्यु के अनन्तर आक्रमण किया, न कि उसके राज्य-काल के अन्त में । भितरी के लेख में कहा गया है कि पुष्यमित्रों को जीतकर स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा । इसका अर्थ यह हो सकता है कि उन्होंने कुमारगुप्त की मृत्यु के ठीक अनन्तर गुप्त-साम्राज्य के ऊपर आक्रमण किया होगा :—

"समुदितबलकोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिप-चरणपीठे स्थापितो वामपादः ।"

मंजुश्रीमूलकल्प में भी कहा गया है कि स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों को परास्त किया था । उनको हराना स्कन्दगुप्त के लिये गर्व की बात थी ।

हूण—इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि हूणों ने कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य के ऊपर आक्रमण कर दिया । इनका मूल स्थान मध्य एशिया था । ये बड़े ही आततायी एवं क्रूर माने जाते थे । स्कन्दगुप्त के पहले इन लोगों ने डैन्यूब से लेकर सिन्धु नदी तक उथल-पुथल मचा रखा था । भितरी के लेख में हूणों के साथ स्कन्दगुप्त के युद्ध का स्पष्ट वर्णन मिलता है । इसके अनुसार जिस समय स्कन्दगुप्त हूणों का सामना करने

---

१. "राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३०९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के लिये युद्ध-क्षेत्र में उतरा, उस समय उसके बाहुबल से पृथ्वी कम्पित हो उठी (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता)।

जूनागढ़ के लेख में हूणों को म्लेच्छ कहा गया है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस के भरदवाक्य तथा पुराणों में हूणों को म्लेच्छ कहा गया है (प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छाः राजन्यरूपिणः)। हूणों का उल्लेख महाभारत, कालिदास के रघुवंश, हर्षचरित, सोमदेव के नीतिवाक्यामृत, ललितविस्तर तथा अफसढ़ के लेख में मिलता है। एलन ने इतिहासकारों का ध्यान सोमदेव के कथा-सरित्सागर की ओर आकर्षित किया है। इसमें वर्णन मिलता है कि उज्जयिनी के नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य ने हूणों को परास्त किया था। यहाँ पर स्कन्दगुप्त से तात्पर्य है, जिसकी उपाधि विक्रमादित्य थी तथा जो कुमारगुप्त (महेन्द्रादित्य) का पुत्र था।

एक बौद्ध ग्रंथ (चन्द्रगर्भ-परिपृच्छा) में कौशाम्बी के शासक महेन्द्रसेन का उल्लेख मिलता है। उसका पुत्र बड़ा ही बहादुर था। जब वह केवल बारह वर्ष की अवस्था का था, उस समय महेन्द्र के राज्य के ऊपर तीन बाहरी जातियों ने आक्रमण किया—यवन, पल्हिक तथा सकुन। उनकी सम्मिलित सेना में तीन लाख सैनिक थे। महेन्द्र के सैनिकों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। उन्होंने इस सेना के साथ अपने पुत्र को उनका सामना करने के लिये भेजा। वह विजयी रहा। इस घटना के पश्चात् महेन्द्र ने राजकाज का सारा भार अपने पुत्र पर छोड़ कर संन्यास ले लिया। इस नव सम्राट् ने बारह वर्षों के अनवरत परिश्रम के पश्चात् इन बाहरी आक्रमणकारियों को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया तथा उनके नेताओं को मार डाला। डॉ० जायसवाल का कथन है कि यहाँ पर स्कन्दगुप्त तथा हूणों के युद्ध का वर्णन है।[1] इस वर्णन की समीचीनता बहुत कुछ सन्देहास्पद है।

यह कहना कठिन है कि यह युद्ध किस स्थान पर हुआ। संभव है कि यह गंगा की घाटी में कहीं पर हुआ हो (श्रोत्रेषु गांगध्वनिः)। यहाँ उल्लेखनीय है कि स्कन्दगुप्त ने हूणों को केवल अपने साम्राज्य से बाहर खदेड़ दिया था। अब भी उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में उनके आधार वर्तमान थे। उनसे सुरक्षा के निमित्त स्कन्दगुप्त ने अपने सुराष्ट्र-प्रान्त के मोर्चा-स्थलों पर रक्षकों (गोप्तृन) की नियुक्ति की। जूनागढ़ के लेख की भाषा से स्पष्ट है कि सुराष्ट्र-प्रान्त के ऊपर बाहरी हमलों का उस समय भी खतरा बना हुआ था।

---

१ .वाकाटक - गुप्त-एज, पृष्ठ १६४ (पादटिप्पणी)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नाग-नृपति—जूनागढ़ के अभिलेख में एक स्थान पर कहा गया है कि भुजग रूपी नरेशों (नरपतिभुजग) को, जो कि बहुत शक्तिशाली थे, स्कन्दगुप्त ने दबा दिया।[1] फ्लीट का कथन है कि यहाँ नाग वंश के नरेशों के उन्मूलन की ओर संकेत है। इस मत की यथार्थता के विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से कहा नहीं जा सकता। उस समय कोई नाग वंशी नरेश इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह स्कन्दगुप्त का विरोध करता।

गोविन्दगुप्त का संभावित विद्रोह—इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र था तथा उसके समय में वैशाली का राज्यपाल था। कुमारगुप्त के समय में वह पश्चिमी मालवा का राज्यपाल था। डॉक्टर मजूमदार का कथन है कि कुमारगुप्त के राज्यकाल के अन्त अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् गोविन्दगुप्त ने पश्चिमी मालवा में संभवतः विद्रोह कर दिया। मन्दसोर के एक लेख (मालव-संवत् ५२४ = ४६८ ई०) से ज्ञात होता है कि इन्द्र गोविन्दगुप्त की शक्ति के प्रति शंकालु था। इस उक्ति के आधार पर डॉ० भण्डारकार का कथन है कि पश्चिमी मालवा में गोविन्दगुप्त काफी शक्तिशाली हो चुका था। इन्द्र से तात्पर्य कुमारगुप्त (महेन्द्रादित्य) से लगता है। डॉ० रायचौधरी के अनुसार मन्दसोर का उपर्युक्त लेख व्यक्त करता है कि गोविन्दगुप्त कुमारगुप्त का प्रतिस्पर्द्धी रहा होगा।[2] लगता है कि कुमारगुप्त के मरते ही उसने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।[3] स्कन्दगुप्त ने इस विद्रोह का दमन कर दिया होगा। संभव है कि उसके मरने (४६७ ई०) के पश्चात् भी गोविन्दगुप्त जीवित था तथा उसके नेतृत्व में पश्चिमी मालवा में पुनः उपद्रव खड़ा किया गया। मन्दसोर के उपर्युक्त लेख (४६८ ई०) में गोविन्दगुप्त के नाम का उल्लेख मिलता है, न कि स्कन्दगुप्त का। इससे लगता है कि स्कन्दगुप्त के उपरान्त (अर्थात् ४६७ ई० के अनन्तर) पश्चिमी मालवा में गोविन्दगुप्त बहुत प्रभावशाली हो गया था।

वाकाटक—लगता है कि वाकाटकों ने भी कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् मालवा पर आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की। मन्दसोर के शिलालेख

---

१. "नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानां
प्रतिकृतिगरुडाज्ञां निर्व्विषीं चावकर्त्ता।"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३००

२. पो० हि० ऍ० इं०, पृष्ठ ५६६ (पादटिप्पणी)

३. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ १८०-८१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(मालव-संवत् ४९३ और मालव-संवत् ५२९) से ज्ञात होता है कि मालवा पर ४३६ ई० से लेकर ४७३ ई० तक के काल में कई नरेशों ने राज्य किया (बहुना समतीतेन कालेनान्यैश्च पार्थिवैः) । इससे लगता है कि राजनीतिक दृष्टि से यह समय (४३६ ई०–४७३ ई०) उथल-पुथल का काल था। स्कन्द-गुप्त का राज्यकाल (४५५ ई०–४६७ ई०) इसी काल के बीच पड़ता है। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि बालाघाट के लेख के अनुसार वाका-टक-नरेश नरेन्द्रसेन (४४० ई०–४६० ई०) के काल में मालवा के लोग उसके शासन की अभ्यर्चना करते थे। जूनागढ़ के लेख में कहा गया है कि स्कन्दगुप्त रात-दिन इस सोच-विचार में पड़ा था कि सौराष्ट्र प्रान्त की रक्षा का भार किसे सौंपा जाय।[1] उसने खतरे के सभी स्थानों पर रक्षकों (गोप्ता) की नियुक्ति की।[2] इससे लगता है कि उसके साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर यदि उत्तर से हूणों के आक्रमण का भय था, तो दक्षिण से वाकाटक-आक्रमण का। यहाँ उल्लेखनीय है कि वाकाटक स्कन्दगुप्त का कुछ बिगाड़ न सके। उसका साम्राज्य पश्चिम में गुजरात तक फैला था। उसके उपरान्त गुजरात तथा पश्चिमी मालवा के ऊपर उसके उत्तराधिकारियों का नियन्त्रण शिथिल होने लगा। उनका कोई भी लेख या सिक्का इन भागों से प्राप्त नहीं हुआ है। इसके प्रति-कूल वाकाटक नरेन्द्रसेन के उत्तराधिकारी पृथिवीषेण द्वितीय के लेखों के अनुसार उसका आधिपत्य लाट (दक्षिणी गुजरात) तथा अवन्ति (पश्चिमी मालवा) पर स्थापित हो चुका था। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त के अनन्तर इन भागों में वाकाटकों ने गुप्तों को दबाना प्रारंभ कर दिया।

कालान्तर के वर्ष—यहाँ उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त उपद्रव कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् प्रारंभ हो गये थे। भितरी के लेख में साफ कहा गया है कि पिता के निधन के अनन्तर स्कन्दगुप्त के ऊपर आपत्तियाँ आईं (पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं) तथा अपने भुजबल से उसने अपने शत्रुओं को

---

१. "एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन
नैकानहो - रात्र - गणान्स्व - मत्या।
यः संनियुक्तोऽर्थनया कथंचित
सम्यक्सुराष्ट्रावनि - पालनाय ॥"
—जूनागढ़ के लेख का बारहवाँ श्लोक

२. "सर्व्वेषु देशेषु विधान गोप्तृन"—जूनागढ़ का लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जीता (भुज-बल-बिजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः) । जूनागढ़ के लेख में भी कहा गया है कि पिता के सुरधाम पहुँचने के पश्चात् उसने अपने बाहुबल के द्वारा शत्रुओं को जीत लिया ।[1] स्कन्दगुप्त के लेखों से लगता है कि उसने अपने राज्य-काल के पूर्वार्द्ध में ही अरियों का दमन कर लिया तथा उसके शासन-काल का द्वितीयार्द्ध शान्तिपूर्वक बीता । ४६० ई० के कहौम के लेख में कहा गया है कि उसका यह वर्ष शान्त संवत्सर था (स्कन्दगुप्तस्य शान्ते वर्षे) ।

पदाधिकारी—स्कन्दगुप्त के लेखों में उसके पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं :—

(१) **पर्णदत्त** :—यह सौराष्ट्र प्रान्त का राज्यपाल था । स्कन्दगुप्त के कर्मचारियों में सबसे सुयोग्य वही था । इस प्रान्त की रक्षा के निमित्त सबसे उपयुक्त कर्मचारी वही समझा गया था । पारसीक लेखों में उसे फर्नदत कहा गया है ।[2]

(२) **शर्व्वनाग**—वह गंगा और यमुना के बीच के दोआबा (अन्तर्वेदी) का विषयपति था (विषयपति-शर्व्वनागस्यान्तर्व्वेद्याम्) । उसके नाम का उल्लेख बुलन्दशहर जिले में वर्तमान इंदौर (इन्द्रपुर) नामक स्थान से प्राप्त ताम्र-लेख में मिला है । यहाँ उल्लेखनीय है कि आधुनिक बुलन्दशहर इसी दोआबे में स्थित है ।

(३) **भीमवर्मा**—यह कोसम क्षेत्र में शासन करता था ।

(४) **चक्रपालित**—वह गुजरात में गिरिनगर नामक पुर का सर्वोच्च पदाधिकारी नियुक्त किया गया था ।

साम्राज्य-सीमा:—स्कन्दगुप्त के लेख तथा सिक्के उसके साम्राज्य के निर्धारण में सहायता पहुँचाते हैं । जूनागढ़ के लेख से स्पष्ट है कि सौराष्ट्र प्रान्त उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था । उसने पर्णदत्त को इसका राज्यपाल नियुक्त किया था । मन्दसोर के लेख के अनुसार पश्चिमी मालवा के ऊपर आधिपत्य उसके पिता के काल से ही चला आ रहा था । पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि पश्चिमी मालवा में उपद्रव के लिये प्रयास हुआ था, परन्तु इसने उसे दबा दिया । उसकी पश्चिम देशीय रजत-मुद्राएँ गुजरात, वलभी तथा

---

१. "अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्थां
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या ।"
—जूनागढ़ का लेख

२. दंडेकर, ए हिस्ट्री ऑफ दि गुप्ताज़, पृष्ठ १०८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पश्चिमी मालवा में प्रचलित थीं। मध्यदेशीय रजत-मुद्राएँ गंगा-घाटी में प्रचलित थीं। उत्तर-प्रदेश में चार स्थानों से स्कन्दगुप्त के लेख प्राप्त हुए हैं; कहौम (देवरिया), इन्दौर (बुलन्दशहर), गढ़वा (इलाहाबाद) तथा भितरी (गाजीपुर)। बिहार में बिहारशरीफ से उसका एक लेख प्राप्त है। उसके उत्तराधिकारियों के लेख बंगाल से उपलब्ध हैं। इस प्रकार वह पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक के प्रदेश का शासक था। वह अन्तिम गुप्त-सम्राट् था, जिसने इतने विशाल भू-भाग पर शासन किया। जूनागढ़ के लेख में उसके साम्राज्य की विशालता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि यह चारों समुद्रों तक फैला हुआ था (चतुरुदधिजलान्तां स्फीत-पर्यन्त-देशाम्)।

शासन-प्रबन्ध—जूनागढ़ के लेख में स्कन्दगुप्त के शासन-प्रबन्ध की प्रचुर प्रशंसा मिलती है। इस लेख के अनुसार इस सम्राट् के काल में न तो किसी को विशेष दण्ड दिया जाता था (दण्ड्यो) और न कोई बहुत पीड़ित ही था (भृशपीड़ितः)। उसके समय में अधिकारियों की नियुक्ति के विषय में योग्यता को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। जूनागढ़ के लेख के अनुसार गुजरात का राज्यपाल पर्णदत्त बुद्धिमान् (मतिवान्), विनम्र (विनीत), सत्यवादी, उदार (औदार्योपपन्न), दाक्षिण्य-युक्त, मधुरभाषी (माधुर्य), यशस्वी (यशोन्वित), सम्राट् का भक्त (भक्तोऽनुरुक्तो), सम्पूर्ण प्रकार के दोषों से परे (सर्व्वोपधाभिश्च विशुद्ध-बुद्धिः) तथा लोकोपकारी (सर्व्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः) था। गिरिनगर का नगराध्यक्ष चक्रपालित क्षमा, प्रभुत्व, विनय, नय, शौर्य, दाक्ष्य, दाक्षिण्य तथा धैर्य आदि गुणों से युक्त था। वह दुष्टों का दमन करने में समर्थ था (अस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः)। वह पुरवासियों को अपने ही पुत्र के समान मानता था।[1] वह नागरिकों के व्यक्तिगत समस्याओं के निवारण की चेष्टा करता था और उन्हें प्रसन्न रखता था। इस कारण वह उनमें लोकप्रिय था।[2] बिहार के लेख में उसके कुछ स्थानीय कर्मचारियों के नाम इस प्रकार आते हैं :—

---

१. "यो लालयामास च पौरवर्गान्
स्वस्येव पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान्।"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०४

२. "संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव
पूर्व्व-स्मिताभाषण-मान-दानैः।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(१) अग्रहारिक—वह दान में दी गई भूमि की देख-रेख करता था।

(२) शौल्किक :—वह कर-सम्बन्धी कर्मचारी था।

(३) गौल्मिक :—वह जंगलों का अध्यक्ष था।

सार्वजनिक कार्य—स्कन्दगुप्त लोकोपकारी था। भितरी के लेख के अनुसार वह दीन व्यक्तियों पर दया करता था (आर्त्तेषु कृत्वा दयाम्)। प्रजा-वत्सल होने के कारण उसकी प्रजा उसके गुणों की प्रशंसा करती थी।[1] उसके द्वारा सार्वजनिक कार्य का सबसे सुन्दर उदाहरण गिरिनगर के सुदर्शन कासार के बाँध का जीर्णोद्धार था। इसका निर्माण चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में राज्यपाल पुष्यगुप्त के द्वारा किया गया। अशोक के प्रान्तपति यवन तुषास्फ ने सिंचाई की सुविधा के निमित्त इस तटाक् से नालियाँ निकालीं थीं (प्रणालीभिरलंकृतम्)।[2] शकक्षत्रप रुद्रदामन् के काल में जलप्लावन के कारण कासार के किनारे का बाँध टूट गया जिससे नागरिकों में हाहाकार मच गया (पुनः सेतुबन्ध-नैराश्याद्हाहाभूतासु प्रजासु)।[3] प्रजा के इस कष्ट के निवारणार्थ रुद्रदामन् के सौराष्ट्र-राज्यपाल पह्लव सुविशाख के द्वारा इसका पुनर्निर्माण किया गया (सुराष्ट्रानां पालनार्थन्नियुक्तेन पह्लवेन सुविशाखेन)।[4] उसने पहले से तिगुना बड़ा एक दृढ़ सेतु का निर्माण किया। इससे सुदर्शन तटाक् की शोभा द्विगुणित हो उठी (त्रिगुणदृढ़तर-विस्तारायामं सेतुं विधाय सुदर्शनतरं कारितमिति)।[5]

४५५ ई० में (गुप्त-संवत् १३६ के भाद्रपक्ष की षष्ठी को) यह बाँध पुनः टूट गया। इसका कारण भीषण जलवर्षा थी। इसके फलस्वरूप नागरिकों को

निर्यन्त्रणान्योन्यगृहप्रवेशैः
संवर्द्धित-प्रीति-गृहोपचारैः ॥"

—जूनागढ़ का लेख, श्लोक २३

१. "चरितममलकीर्त्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः।"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३१४

२. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७१

३. वही, पृष्ठ १७४

४. वही, पृष्ठ १७४

५. वही, पृष्ठ १७४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बहुत बड़ी क्षति पहुँची ।[1] उनके कष्ट का कोई पारावार नहीं था (विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः) ।[2] राजकीय हित एवं नागरिकों के लाभ को दृष्टि में रखते हुए गिरिनगर के पुरपति चक्रपालित ने गुप्त-संवत् १३७ (४५६ ई०) में एक नवीन सुदृढ़ बाँध बनवाया ।[3] इस निर्माण के कारण स्थानीय नागरिक कष्टमुक्त हो गये । यह नवनिर्मित बाँध लगभग १०० हाथ लम्बा (आयामतो हस्तशतं समग्रं) तथा ६८ हाथ चौड़ा (विस्तारतः षष्ठिरथापि चाष्टौ) था । इसे सात मनुष्यों की ऊँचाई के बराबर ऊपर उठाया गया था (उत्सेधोऽन्यत् पुरुषाणि सप्त) ।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि मैत्रकों के काल से सौराष्ट्र प्रान्त की राजधानी के गिरिनगर से स्थानान्तरित होने के कारण सुदर्शन तटाक् उपेक्षित होने लगा । संभवतः यही कारण है कि गुप्त-काल के उपरान्त इस तटाक् के इतिहास के विषय में किसी भी साधन से सूचना नहीं उपलब्ध होती । इस नगर की पहचान आधुनिक जूनागढ़ (यवनगढ़) से की जाती है ।

धार्मिक दशा—स्कन्दगुप्त ने भी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अवलंबन किया । वह वैष्णव मतावलंबी (परमभागवत) था । उसके समय में वैष्णव मतावलंबी वर्तमान थे । गिरिनगर का नगराध्यक्ष चक्रपालित इसी धर्म का मानने वाला था । उसने गुप्त संवत् १३८ (४५७ ई०) में एक विष्णु-मन्दिर की स्थापना की थी ।[5] भितरी के लेख में भगवान् विष्णु की मूर्ति की स्थापना का वर्णन मिलता

---

१. "अथ क्रमेणाम्बुद-काल आगते
निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः ।
ववर्ष तोयं बहु संततं चिरं
सुदर्शनं येन विभेद चात्वरात् ॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०५

२. वही, पृष्ठ ३०५

३. वही, पृष्ठ ३०५

४. यहाँ पर उल्लेखनीय है कि जूनागढ़ के लेख के प्रथम भाग को सुदर्शन तटाक् के जीर्णोद्धार का रचना-ग्रन्थ कहा गया है:—
"सुदर्शन-तटाक-संस्कार-ग्रन्थ रचना समाप्ता।"
—जूनागढ़ का लेख, पंक्ति ७६

५. "कारितमवक्रमतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहम् ।
वर्षशतेऽष्टात्रिंशे गुप्तानां कालक्रमगणिते ॥"
—जूनागढ़ का लेख, श्लोक ४५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है (कर्त्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः) । बिहार के स्तंभ-लेख के अनुसार एक ग्राम (स्कन्दगुप्तवट) में यूप (यज्ञ-स्तम्भ) की स्थापना की गई तथा इसके चतुर्दिक् कई देवमन्दिर (देव-निकेतन-मण्डलं) बनाये गये । इसमें प्रधान मन्दिर कार्तिकेय का था (स्कन्दप्रधानैः) । इसमें से कुछ मन्दिर मातृ-पूजा (मातृभ्यः) से भी संबन्धित थे । माताओं की संख्या सात मानी जाती थी :– (१) ब्राह्मी, (२) माहेश्वरी, (३) कौमारी, (४) वैष्णवी, (५) माहेन्द्री, (६) वाराही तथा (७) चामुण्डा । इस तालिका में चण्डी की पूजा को जोड़ कर माताओं की संख्या आठ कर दी गई । स्कन्दगुप्त के समय में सूर्य की भी पूजा होती थी । इन्दौर का लेख सूर्य (भास्कर) की पूजा से प्रारम्भ होता है ।[1] इस लेख के अनुसार इन्द्रपुर (आधुनिक इन्दौर) में एक सूर्य-मन्दिर था (भगवते सवित्रे) । कहौम के लेख के अनुसार मद्र नामक व्यक्ति ने पाँच तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्थापना की थी :—आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर । कहौम के स्तम्भ पर पाँच जैन मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं । संभव है कि वे प्रतिमाएँ इन्हीं तीर्थंकरों की हों ।

आर्थिक दशा—इन्दौर तथा कहौम के लेखों के अनुसार उस समय की आर्थिक दशा को समझने में सुयोग मिलता है । इन्दौर के लेख में वर्णन मिलता है कि वहाँ (इन्द्रपुर में) तेलियों की एक समिति (तैलिक श्रेणी) रहती थी । चन्द्रापुर के पद्मा भाग में रहने वाले चतुर्वेदी ब्राह्मण देवविष्णु ने इस समिति के पास कुछ द्रव्य स्थायी रूप से (आजस्रिकम्) जमा किया था । इसके सूद से वहाँ के सूर्य-मन्दिर में प्रति दिन दीपक जलाया जाता था । इसमें कोई नागा नहीं हो सकता था (अभग्नयोगम्) । तेलियों की समिति (तैलिक-श्रेणी) से आशा की जाती थी कि वह उस द्रव्य को सर्वदा सुरक्षित रखे (अवच्छिन्नसंस्थम्) ।

---

१. इन्दौर के लेख के प्रारंभ में एक श्लोक मिलता है, जो कि सूर्य-पूजा से संबन्धित है । इसके अनुसार वे भगवान् भास्कर संसार की रक्षा करें; जिन्हें ब्राह्मण लोग ध्यानमग्न होकर चिन्तन करते हैं, जिसका अन्त देवता लोग भी नहीं जान पाते और जो बहुत से रोगों का विनाश करने वाले हैं—

"यं विप्रा विधिवत्प्रबुद्धमनसो ध्यानैकताना स्तुवः
यस्यान्तं त्रिदशासुरा न विविदुर्नोर्ध्वं न तिर्यग्गतिम् ।
यं लोको बहु - रोग - वेग - विवशः संश्रित्य चेतोलभः
पायाद्वः स जगत्पिधान-पुट-भिद्रश्म्याकरो भास्करः ॥"

—इन्दौर का लेख, प्रथम श्लोक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस पूरे अनुबन्ध की अच्छी तरह लिखा-पढ़ी हुयी थी (दायमिमं निबद्धम्)। यदि कोई उसकी शर्तों को तोड़ता, तो वह गऊ, ब्राह्मण तथा गुरु का घातक समझा जाता (गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातकः सः)। विहार के स्तम्भ लेख के अनुसार किसी व्यक्ति ने अजपुरक नामक नगर की एक श्रेणी के पास स्थायी रूप से द्रव्य जमा किया था (अक्षयनीवी)।

मुद्राएँ—पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि स्कन्दगुप्त अपने कुल की लक्ष्मी तथा मर्यादा एवं प्रतिष्ठा के बचाव में बुरी तरह संलग्न था। अतएव उसे विविध प्रकार की सुवर्णमुद्राओं को तैयार कराने का कोई अवसर उपलब्ध न हो सका। तथापि मुद्रा-निर्माण के क्षेत्र में वह एक विशिष्ट कार्य अवश्य संपन्न कर सका था। कुमारगुप्त के सिक्कों का अधिकतम तौल १३२ ग्रेन है। स्कन्दगुप्त ने अपनी मुद्राओं की तौल बढ़ा कर ८० रत्ती अर्थात् १४४ ग्रेन कर दिया। उसने यह कार्य संभवतः स्मृतियों के उस निर्देश का पालन करते हुए किया, जिसके अनुसार सुवर्ण-मुद्रा की प्रामाणिक तौल ८० रत्ती होनी चाहिये। कनिंघम का कथन है कि स्कन्दगुप्त की मुद्राओं में हीन धातु का मिश्रण अधिक है। इसी कारण उनकी तौल अधिक है। परन्तु स्कन्दगुप्त की सुवर्णमुद्राओं का जो धातुविश्लेषण हुआ है, उससे यह प्रतिपादित हो चुका है कि उसके सिक्कों में धातु-सम्मिश्रण का प्रमाण उतना ही है जितना कि उसके पिता के काल में।[1]

सुवर्ण मुद्राएँ : धनुर्धारी प्रकार—यह स्कन्दगुप्त की सबसे प्रिय मुद्रा थी। इसके मुख भाग पर वह लम्बा कोट तथा पायजामा पहने हुए अंकित किया गया है। उसके बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण था। इस ओर दो प्रकार के लेख मिलते हैं—(१) 'जयति महीतलम् सुधन्वी' (अच्छे धनुर्धर पृथ्वी का विजय करते हैं) तथा (२) 'परहितकारी राजा जयति दिवं श्रीक्रमादित्यः' (दूसरों का हित करने वाले राजा क्रमादित्य स्वर्ग को जीतते हैं)। इसी ओर लेख 'परमविक्रम श्रीस्कन्दगुप्तदेव' आता है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर प्रभा-मण्डलयुक्त लक्ष्मी कमल के आसन पर बैठी हैं।[2]

राजा और लक्ष्मी प्रकार—इस मुद्रा के मुख भाग पर एक ओर राजा तथा दूसरी ओर स्त्री का चित्र अंकित मिलता है। स्मिथ ने स्त्री के चित्र को रानी का चित्र समझ कर इस वर्ग की मुद्रा को राजा-रानी प्रकार की संज्ञा दी थी। उनका कथन है कि स्कन्दगुप्त ने इस कोटि की मुद्राओं को चन्द्रगुप्त प्रथम की राजा-

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १६९

२. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ २४२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रानी मुद्रा के आधार पर प्रचलित किया था। पर ऐसा मानना ठीक नहीं लगता। स्त्री वाला चित्र लक्ष्मी का चित्र है न कि रानी का। स्त्री राजा को कोई वस्तु भेंट कर रही है। देने वाला व्यक्ति ग्रहण करने वाले से सर्वदा श्रेष्ठ माना जाता है। अतएव स्त्री (जो मुद्रा के ऊपर भेंट करती हुई दिखाई गई है) राजा के लिये आदरणीय होगी। अतएव इसे लक्ष्मी का ही चित्र मानना अधिक ठीक है। इस कारण एलन तथा अल्तेकर ने इसे 'राजा और लक्ष्मी प्रकार' की संज्ञा दी है। इसके पृष्ठ भाग पर कमल के आसन पर बैठी प्रभामण्डलयुक्त लक्ष्मी का चित्र है।

छत्र प्रकार—इस कोटि की केवल एक ही मुद्रा मिली है, जो बयाना-निधि से प्राप्त है। इसके मुख भाग पर राजा हार तथा भुजबन्ध पहने खड़ा है तथा दाहिने हाथ से यज्ञ की वेदी में आहुति दे रहा है। वामन सेवक पीछे छत्र पकड़े है। इसके पृष्ठ भाग पर प्रभामण्डलयुक्त देवी की आकृति अंकित की गई है। इस ओर राजा की उपाधि 'क्रमादित्य आती है।[1]

अश्वारोही प्रकार—इस प्रकार की केवल एक ही मुद्रा प्राप्त है, जो बोडेलियन संग्रहालय में सुरक्षित है। सम्राट् घोड़े पर आरूढ़ है। इसके पृष्ठ भाग पर देवी की आकृति अंकित है। इस ओर, अधूरा लेख 'क्रमादित' (क्रमादित्य) आता है। इसमें सम्राट का नाम नहीं मिलता। स्मिथ ने इस मुद्रा को चन्द्रगुप्त द्वितीय का माना था। परन्तु उसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी न कि 'क्रमादित्य'। क्रमादित्य स्कन्दगुप्त की उपाधि थी, अतएव इस मुद्रा को उसी का मानना ठीक होगा। एलन तथा अल्तेकर ने इसे स्कन्दगुप्त की मुद्रा मानी है।

रजत-मुद्राएँ—इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि उसके राज्य में गुजरात, वलभी तथा पश्चिमी मालवा सम्मिलित थे। अतएव उसे पश्चिम देशीय रजत-मुद्राओं को प्रचलित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। डॉ० अल्तेकर ने पश्चिम देशीय चाँदी के सिक्कों को तीन वर्गों में विभक्त किया है :—(१) गरुड़ प्रकार, (२) नन्दी प्रकार तथा (३) वेदी प्रकार। गरुड़ प्रकार की मुद्राओं में मुख भाग पर राजा का अर्द्ध चित्र अंकित है। इसके पृष्ठ भाग पर गरुड़ का चित्र तथा लेख 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्तक्रमादित्य' प्राप्त है। नन्दी वर्ग की मुद्राओं के ऊपर गरुड़ के स्थान पर नन्दी का चित्र मिलता है। इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि गुप्तों के पूर्व पद्मावती के नाग राजाओं (भार-शिव नरेशों) का चिन्ह नन्दी था। गुप्तों के अधःपतन के पश्चात् कलचुरि-राजाओं

---

१. दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ २४७ तथा आगे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की मुद्राओं पर भी नन्दी-चिन्ह अंकित मिलता है। इससे लगता है कि नन्दी वर्ग की मुद्राएँ मालवा में प्रचलित थीं।[1] 'वेदी प्रकार' की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर मध्य में वेदी का चित्र उपलब्ध है। इस ओर वर्तुलाकार लेख 'परमभागवत श्री-विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त' मिलता है। मध्यदेशीय मुद्राओं के ऊपर फैलाये हुए पंख वाले मोर का चित्र अंकित है। इसके पृष्ठ भाग पर 'श्रीस्कन्दगुप्तो दिवं जयति' (स्कंदगुप्त स्वर्ग को जीतते हैं) लेख उत्कीर्ण है।[2]

मूल्यांकन—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त गुप्त वंश का एक प्रतिभाशाली नरेश था। अभिलेखों में प्राप्य सन्दर्भ उसकी महानता पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ, वह अपने वंश का सिरमौर (स्ववंशकेतुः), एवं राजाओं के गुण का सन्निधान था (नृपतिगुणनिकेतः)। उसे अपने ही बाहुबल का सदा भरोसा था (आश्रित्य वीर्यं स्वभुजद्वयस्य) तथा वह बड़ा ही यशस्वी था (पृथुयशसः)। पुष्यमित्रों एवं हूणों का जीतना कोई सरल कार्य नहीं था। हूणों ने रोम-साम्राज्य तक को दहला दिया था। भितरी के लेख में उसे गुप्त-वंश का एकमात्र वीर सम्राट् (गुप्तवंशैकवीरः) कहा गया है। मंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार वह श्रेष्ठ, बुद्धिमान् तथा धर्मवत्सल था। जिस विशाल साम्राज्य को उसने अपनी वीरता, प्रतिभा एवं बाहुबल से सुरक्षित रखा था, उसे आगे बचाने की क्षमता उसके उत्तराधिकारियों में न थी।

उसका नाम कार्तिकेय (स्कन्द) से संबन्धित है। उसकी रजत् मुद्राओं पर मयूर का चित्र मिलता है, जो कि कार्तिकेय का वाहन है। इस देवता का विशेष गुण सेनापतित्व है और यही स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। भितरी के लेख में उसके नाम स्कन्दगुप्त (नामतः स्कन्दगुप्तः) पर महत्त्व देते हुए कहा गया है कि वह अपनी कृतियों से भी स्कन्द (कार्तिकेय) था।[3] उक्त अभिलेख के अनुसार उसने अपने शस्त्र के अतुलनीय प्रताप से बलपूर्वक अपने शत्रुओं को ध्वस्त कर दिया था। उस अमल कीर्ति वाले राजा का शुभ्र चरित, जो कि उसके समुचित विनय, शान्ति एवं शौर्य आदि द्वारा

---

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १७८ तथा दी क्वायेज ऑफ दी गुप्ता एम्पायर, पृष्ठ २५० तथा आगे।

२. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृष्ठ १८०

३. "प्रथित - विपुल - धामा नामतः स्कन्दगुप्तः"
—भितरी का लेख, दूसरे श्लोक की दूसरी पंक्ति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दूरतर वृद्धि को प्राप्त हुआ था, बालक से लेकर प्रौढ़ द्वारा प्रसन्नतापूर्वक प्रत्येक दिशा में गाया जाता था:—

"प्रसभमनुपमैर्विध्वस्त-शस्त्र-प्रतापै-
विनय-समुचितैश्च क्षान्ति-शौर्यैर्निरूढ़म् ।
चरितममलकीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी

●

प्रमाणाभाव के कारण स्कन्दगुप्त के पश्चात् उत्तराधिकार-क्रम का यथातथ्य निर्धारण दुष्कर हो जाता है। इस नरेश की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त-संवत् १४८ है। इसके उपरान्त दूसरा गुप्तवंशीय लेख (कुमारगुप्त द्वितीय का) सारनाथ से प्राप्त हुआ है जिसकी तिथि गुप्त-संवत् १५४ है। तत्पश्चात् इसी स्थान से बुधगुप्त का लेख (गुप्त-संवत् १५७) प्राप्य है। इस आधार पर पहले कतिपय विद्वानों का अनुमान था कि स्कन्दगुप्त के अनन्तर क्रमशः कुमारगुप्त द्वितीय एवं बुधगुप्त सिंहासनारूढ़ हुए होंगे—

१. कुमारगुप्त प्रथम—(गु० सं० ९६—गु० सं० १३६)
|
२. स्कन्दगुप्त—(गु० सं० १३६—गु० सं० १४८)
|
३. कुमारगुप्त द्वितीय—(गु० सं० १५४)
|
४. बुधगुप्त—(गु० सं० १५७)

परन्तु भितरी की राजमुद्रा वाले लेख के प्राप्त होने पर एक नवीन उत्तराधिकार-क्रम प्रकाश में आया जिसका निर्देश निम्नलिखित सूची द्वारा किया जा सकता है :—

१. कुमारगुप्त प्रथम
|
२. पुरुगुप्त—(महादेवी अनन्तदेवी से उत्पन्न)
|
३. नरसिंहगुप्त (बालादित्य)—(महादेवी चन्द्रदेवी[1] से उत्पन्न)
|
४. कुमारगुप्त—(महादेवी मित्रदेवी[2] से उत्पन्न)

---

१. फ्लीट ने इसे 'वत्सदेवी' पढ़ा है
२. फ्लीट के अनुसार शुद्ध पाठ 'लक्ष्मीदेवी' होना चाहिए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भितरी के उपर्युक्त लेख को देख कर कतिपय विद्वानों को भ्रम हुआ था कि इसमें वर्णित वंशावली किसी प्रतिस्पर्द्धी गुप्त-शाखा का प्रतिनिधित्व करती है। कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य दो शाखाओं में विभक्त हो गया होगा। प्रथम शाखा में स्कन्दगुप्त एवं सारनाथ के लेख (गु० सं० १५४) के कुमारगुप्त (द्वितीय) तथा बुधगुप्त आते थे। द्वितीय शाखा में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त एवं भितरी की राजमुद्रा-लेख वाले कुमारगुप्त आते थे। परन्तु हम पहले ही इस बात को भली भाँति देख चुके हैं कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनन्तर गुप्त-साम्राज्य के विभाजन की किञ्चित् भी सम्भावना नहीं हो सकती थी। स्कन्दगुप्त अपने पिता के अखण्ड राज्य (गुजरात से लेकर बंगाल तक) का अधीश्वर था। बुधगुप्त के नालन्दा के लेख से अब स्पष्ट हो चुका है कि वह पुरुगुप्त का ही पुत्र था। अतएव उसे पुरुगुप्त से किसी विभिन्न परिकल्पित प्रतिस्पर्धी शाखा में निर्दिष्ट करना समीचीन नहीं होगा।

कतिपय विद्वानों ने भ्रम-वश भितरी के लेख के कुमारगुप्त की पहचान सारनाथ (गु० सं० १५४) के लेख के कुमारगुप्त के साथ करते हुए निम्नलिखित वंश-परम्परा का निर्देश किया था :—

१. कुमारगुप्त प्रथम
|
२. स्कन्दगुप्त
|
३. पुरुगुप्त
|
४. नरसिंहगुप्त (बालादित्य)
|
५. कुमारगुप्त द्वितीय
|
६. बुधगुप्त

निम्नलिखित तर्कों के आलोक में उपर्युक्त समीकरण एवं वंश-तालिका से सहमत होना क्लिष्ट है :—

(१) स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त-संवत् १४८ (४६७ ई०) है। सारनाथ के लेख के अनुसार कुमारगुप्त द्वितीय गु० सं० १५४ (४७३ ई०) में राज्य कर रहा था। सारनाथ-अभिलेख के कुमारगुप्त की पहचान भितरी-लेख के कुमारगुप्त के साथ करने पर स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि तीन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पीढ़ी के नरेशों (अर्थात् पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त बालादित्य एवं कुमारगुप्त द्वितीय) ने कुल छह वर्षों तक ही राज्य किया था। ऐसी परिस्थिति में इनमें से प्रत्येक का औसत राज्य-काल केवल दो वर्षों का निर्धारित होता है।

(२) विष्णुगुप्त नामक नरेश के हाल ही में प्राप्त नालन्दा-लेख के अनुसार वह भितरी राजमुद्रालेख के कुमारगुप्त का पुत्र तथा पुरुगुप्त का प्रपौत्र एवं नरसिंहगुप्त का पौत्र होता था। उधर बुधगुप्त के नालन्दा-लेख के अनुसार यह नरेश (अर्थात् बुधगुप्त) पुरुगुप्त का पुत्र था। इस लेख के प्रमाण से स्पष्ट है कि वह (बुधगुप्त) नरसिंहगुप्त का भाई था। सारनाथ के लेख वाली उसकी तिथि (गु० सं० १५७) प्रमाणित करती है कि वह सम्भवतः नरसिंहगुप्त का ज्येष्ठ भ्राता था। सारनाथ-लेख के कुमारगुप्त (द्वितीय) एवं भितरी-लेख के कुमारगुप्त को एक ही व्यक्ति मान लेने पर यह विश्वास कर लेना पड़ेगा कि बुधगुप्त अपने छोटे भाई नरसिंहगुप्त के पौत्र विष्णुगुप्त के उपरान्त गद्दी पर बैठा होगा। यह एक अचिन्तनीय तथ्य हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों लेखों के कुमारगुप्त एक व्यक्ति नहीं हो सकते थे। इस विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि सारनाथ-लेख (गु० सं० १५४) के कुमारगुप्त को कुमारगुप्त द्वितीय एवं भितरी-लेख के कुमारगुप्त को कुमारगुप्त तृतीय मानना तर्क-संगत होगा। इन नरेशों के अतिरिक्त दो अन्य गुप्त-सम्राटों के विषय में भी सूचना मिलती है :— (१) एरण के लेख (गु० सं० १९१) का भानुगुप्त तथा (२) गुणैघर के लेख (गु० सं० १८८) का वैन्यगुप्त। नालन्दा से इसी वैन्यगुप्त का एक मुद्रा-अभिलेख भी प्राप्त हुआ है जिसमें इसकी वंशावली दी गई थी। परन्तु दुर्भाग्यवश लेख का यह भाग इतना नष्ट है कि इससे उसके माता-पिता के नाम का पता लगाना असम्भव हो जाता है। गुणैघर के लेख में इसकी वंशावली अप्राप्य है। फलतः गुप्त-वंश की तालिका में वैन्यगुप्त का शुद्ध स्थान-निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि ४९५ ई० है तथा वैन्यगुप्त का गुणैघर का लेख ५०७ ई० (गु० सं० १८८) का है। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः वह बुधगुप्त का पुत्र था। कतिपय ने उसे कुमारगुप्त द्वितीय (४७३ ई०) का पुत्र माना है। एक अन्य सम्भावना यह भी हो सकती है कि वह नरसिंहगुप्त बालादित्य का भाई रहा हो।

एरण के लेख (गु० सं० १९१=५१० ई०) के भानुगुप्त के विषय में हम वैन्यगुप्त से कहीं अधिक अंधकार में हैं। इस लेख में न तो इसकी वंश-परम्परा उल्लिखित है और न ही इसका कोई अन्य अभिलेख प्राप्त हुआ है। कुछ लोगों ने इसकी तिथि (५१० ई०) को देखते हुए इसे वैन्यगुप्त (५०७ ई०) का उत्तरा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धिकारी माना है। परन्तु यह अवधारणा कल्पना मात्र है। एरण के उक्त लेख के अनुसार भानुगुप्त का मित्र गोपराज किसी युद्ध (संभवतः हूण-युद्ध) में इस स्थान पर मार डाला गया। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि इसी लड़ाई में सम्भवतः भानुगुप्त भी दिवंगत हो गया था। उसे बहुत ही कम समय तक राज्य करने का अवसर मिला। यही कारण है कि उसका केवल एक ही लेख प्राप्त हो सका है। लगता है कि हूणों का सामना करने में वैन्यगुप्त एवं भानुगुप्तकाम आए। इसके परिणामस्वरूप इन दोनों को बहुत ही कम समय तक राज्य करने का सुअवसर उपलब्ध हो सका था।

हम पीछे कह आए हैं कि नरसिंहगुप्त संभवतः बुधगुप्त का अनुज था। अतएव बुधगुप्त के उपरान्त वही सिंहासनारूढ़ हुआ होगा। रमेशचन्द्र मजूमदार का अनुमान है कि नरसिंहगुप्त, वैन्यगुप्त एवं भानुगुप्त—ये तीनों ही समकालीन थे। बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् इनमें उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर कोई युद्ध छिड़ा। भानुगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग में एरण के पास अपना राज्य स्थापित किया होगा एवं वैन्यगुप्त ने पूर्वी सीमा पर बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित कर ली होगी। इन दोनों राज्यों के बीच में नरसिंहगुप्त मगध का नरेश बन गया होगा। भानुगुप्त एरण के हूण-युद्ध में ५१० ई० में मार डाला गया होगा। अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर नरसिंहगुप्त ने वैन्यगुप्त को राज्यच्युत किया होगा तथा हूणों को भी जीत लिया होगा। इसी विजय के फलस्वरूप उसने बालादित्य की उपाधि धारण की होगी। नरसिंहगुप्त के उपरान्त मितरी के लेख का कुमारगुप्त (तृतीय) सिंहासनारूढ़ हुआ और तदनन्तर नालन्दा की मुद्रा के लेख का विष्णुगुप्त। उपर्युक्त विवेचन के आलोक में कुमारगुप्त प्रथम के पश्चात् उत्तराधिकार-क्रम कुछ निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट किया जा सकता है:—

१. कुमारगुप्त प्रथम (गु० सं० ९६ गु० सं० १३६)

२. स्कन्दगुप्त (गु० सं० १३६—गु० सं० १४८)

इन तीनों का सम्मिलित राज्यकाल (गु०सं० १४८ से गु०सं० १७५-१८०).

३. पुरुगुप्त

४. कुमारगुप्त द्वितीय (सारनाथ का लेख—गु० सं० १५४)

५. बुधगुप्त (सारनाथ का लेख गु०सं० १५७)

भानुगुप्त (गु०सं० १९१) — ६. नरसिंहगुप्त 'बालादित्य'— वैन्यगुप्त (गु०सं० १८८)

७. कुमारगुप्त तृतीय (मितरी का राजमुद्रा-लेख)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

८. विष्णुगुप्त* (नालन्दा का मुद्रा-लेख)
*नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त तृतीय एवं विष्णुगुप्त का सम्मिलित राज्यकाल (गु०सं० १८० से गु०सं० २३०–२५०)

१. पुरुगुप्त : विक्रम-प्रकाशादित्य—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् (४६७-६८ ई० में) पूरुगुप्त का राज्याभिषेक हुआ। कुछ विद्वानों ने अभिलेखों में उसका नाम पुरुगुप्त तथा पुरगुप्त भी पढ़ा है परन्तु अधिक शुद्ध पाठ पुरुगुप्त प्रतीत होता है। इसका नामोल्लेख कुमारगुप्त तृतीय के मितरी के राजमुद्रा-लेख एवं नालन्दा के मुद्रा-लेख में हुआ है। पुरुगुप्त के विषय में इतिहासकारों का प्रथम परिचय १८८९ ई० में हुआ, जब कि मितरी का उपर्युक्त लेख स्मिथ एवं हार्नले के द्वारा प्रकाशित किया गया। इस लेख में पुरुगुप्त का नाम कुमारगुप्त प्रथम के नाम के उपरांत आता है। इसमें उसे इस नरेश का पुत्र तथा महादेवी अनन्तदेवी के गर्भ से उत्पन्न कहा गया है (महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरुगुप्तः)[1]। कुमारगुप्त प्रथम एवं पुरुगुप्त के नामों के बीच स्कन्दगुप्त का नाम नहीं आता। इससे यह मत निर्धारित करना असमीचीन होगा कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनन्तर पुरुगुप्त राज्याभिषिक्त हुआ था न कि स्कन्दगुप्त के उपरांत।

भारतीय अभिलेखों में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ शासक अपने पूर्व-शासनकर्ता भाई का नामोल्लेख नहीं करता। उदाहरणार्थः—मदनपाल के लेख में उसके पूर्वज शासकों की तालिका में अग्रज शासक कुमारपाल का नाम अनुपलब्ध है।[2] इसी प्रकार विजयपाल के लेखों में देवपाल का नाम नहीं आता, जो कि उसका बड़ा भाई था एवं उसके पूर्व शासन कर चुका था।[3] कुछ पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का प्रतिस्पर्द्धी शासक था। इनका कथन है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनंतर गुप्त-साम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया। एक भाग का शासक स्कन्दगुप्त था तथा दूसरे भाग का शासक पुरुगुप्त।[4] इस बात का निर्देश पहले ही किया जा चुका है कि यह मत निराधार है। स्कन्दगुप्त के

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९५
२. रायचौधरी—पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५८५
३. वही, पृष्ठ ५८५
४. ऐ० भं० इं०, १९१८–१९, पृष्ठ ७४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभिलेखों और मुद्राओं के प्राप्तिस्थान इस बात के परिचायक हैं कि वह कुमारगुप्त के अखंड साम्राज्य (गुजरात से लेकर बंगाल तक प्रसरित) का अधीश्वर था।[1]

अपने सिंहासनारोहण के समय पुरुगुप्त बहुत वृद्ध हो चुका था। इस कारण कतिपय वर्षों तक ही उसे शासन का सुअवसर प्राप्त हो सका था। इसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय का ४७३ ई० का एक अभिलेख (सारनाथ-लेख) प्राप्त हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि पुरुगुप्त इसके पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। भितरी के मुद्रा-लेख में उसकी पत्नी का नाम विभिन्न विद्वानों के द्वारा कई तरह से पढ़ा गया है—वत्सदेवी, वैन्यदेवी तथा चन्द्रदेवी।[2] चन्द्रदेवी पाठ अधिक शुद्ध लगता है।

पुरुगुप्त की रजतमुद्राएँ उपलब्ध नहीं हुई हैं। इससे प्रमाणित होता है कि सौराष्ट्र में इसका राज्य समाप्त हो चुका था, जहाँ पर रजतमुद्राओं के प्रचलन की आवश्यकता थी। पुरुगुप्त की सुवर्णमुद्राएँ बहुत कम संख्या में उपलब्ध हुई हैं। इससे विदित होता है कि इसके काल से गुप्त-सत्ता ह्रासोन्मुखी होने लगी थी। इसकी कतिपय मुद्राओं पर 'श्रीविक्रम' की उपाधि अंकित मिलती है। इससे आभास मिलता है कि उसने संभवतः 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी।[3]

परमार्थ-रचित वसुबंधु के जीवनवृत्त में अयोध्या के सम्राट् विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है।[4] एलन महोदय ने इस विक्रमादित्य की एकता पुरुगुप्त 'विक्रमादित्य' से की है।[5] इससे प्रतीत होता है कि पुरुगुप्त के काल में अयोध्या में गुप्तों की द्वितीय राजधानी प्रतिष्ठित थी। यदि गया के ताम्रलेख की ऐतिहासिकता में विश्वास किया जाय, तो समुद्रगुप्त के काल से ही अयोध्या में गुप्तों का 'जय-स्कंधावार' प्रतिष्ठित था।[6] 'वसुबंधु के जीवनवृत्त' के अनुसार विक्रमादित्य इस आचार्य के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। इन्होंने अपने कुमार बालादित्य एवं प्रधान महिषी को सुशिक्षित बनाने के लिये वसुबंधु को उनका

---

१. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५८६
२. वही, पृष्ठ ५८६
३. मुकुर्जी, ऐंशेंट इंडिया, पृष्ठ २९५
४. वही, पृष्ठ २९४
५. मुकुर्जी, वही, पृष्ठ २९४
६. "महानौ–हस्त्यश्व-जयस्कन्धावाराजायोद्धया-वासकात्सर्व्वराजोच्छेत्तुः"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २६५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America; HHFA(USA)

आचार्य नियुक्त किया था।[1] बालादित्य की एकता पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त 'बालादित्य' से समीचीन प्रतीत होती है। मुद्रा-साक्ष्य के अनुसार उसने 'बालादित्य' उपाधि धारण की थी।[2] भितरी के राजमुद्रा-लेख में पुरुगुप्त की उपाधि 'परमभागवत' नहीं मिलती। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तिगत धर्म वैष्णव धर्म नहीं रह गया था। बहुत संभव है कि वह बौद्ध-मतावलम्बी था जैसा कि परमार्थ-कृत वसुबन्धु-जीवनी द्वारा आभासित होता है।

पुरुगुप्त ने स्यात् 'प्रकाशादित्य' की भी उपाधि धारण की थी। भरसर की मुद्राओं से संकेत मिलता है कि स्कन्दगुप्त के उपरान्त 'प्रकाशादित्य' सिंहासनारूढ़ हुआ था।[3] इससे प्रकाशादित्य को हम स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी पुरुगुप्त की विरुद मान सकते हैं। कुछ मुद्राओं पर 'प्रकटादित्य' नाम उत्कीर्ण मिलता है। एलन महोदय ने इसकी एकता पुरुगुप्त के साथ की है।[4] पर अधिकांश विद्वान् इस समीकरण से सहमत नहीं हैं। संभव है कि 'आदित्य' नामक अनेक उपाधियाँ पुरुगुप्त के द्वारा धारण की गई हों जैसा कि कई भारतीय नरेशों ने किया था। उदाहरणार्थ, स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य और क्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। वलभी-नरेश शीलादित्य 'धर्मादित्य' भी इसके प्रमाण हैं।[5] पुरुगुप्त का कोई स्वतंत्र लेख अभी तक अप्राप्य है। उसके उत्तराधिकारियों के लेखों में केवल वंशावली में ही उसका नामोल्लेख मात्र (माता-पिता एवं पत्नी के नामों के सहित) मिलता है। फलतः तत्कालीन घटनाओं के विषय में शुद्ध जानकारी प्राप्त होने से रह जाती है।

२. **कुमारगुप्त द्वितीय**—पुरुगुप्त की मृत्यु के उपरान्त कुमारगुप्त द्वितीय का सिंहासनारोहण हुआ। उसका अभी तक केवल एक ही लेख प्राप्त हो सका है—सारनाथ का लेख गु० सं० १५४ (४७३ ई०)। यह एक वैयक्तिक लेख है जिसमें राजा की वंशावली नहीं दी गई है। फलतः अद्यपर्यन्त यह निर्धारित नहीं हो सका है कि वह किसका पुत्र था। संभव है कि वह स्कन्दगुप्त या पुरुगुप्त का पुत्र रहा हो। इस तथ्य की ओर पहले ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है कि वह

---

१. रायचौधरी, वही, पृष्ठ ५८७
२. वही, पृष्ठ ५८७
३. वही, पृष्ठ ५८७
४. मुकुर्जी, ऐंशेंट इंडिया, पृष्ठ २९५
५. रायचौधरी, वही, पृष्ठ ५८७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भितरी की राजमुद्रा वाले लेख के कुमारगुप्त से नहीं समीकृत किया जा सकता। सारनाथ के लेख से ज्ञात होता है कि वह गुप्त-संवत् १५४ (४७३ ई०) में राज्य कर रहा था (वर्षशते गुप्तानां सचतुःपञ्चाशदुत्तरे भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते)। उसके उत्तराधिकारी बुधगुप्त के लेख मालवा एवं बंगाल में प्राप्त हुए हैं। इससे लगता है कि कुमारगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में भी मालवा से लेकर बंगाल तक का विस्तृत भू-भाग गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित रहा होगा। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि मालव संवत् ५२९ (४७२-७३ ई०) वाले मन्दसोर के लेख में भी कुमारगुप्त नामक किसी शक्तिशाली नरेश का उल्लेख आता है (कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति)।[1] कतिपय विद्वानों ने इस कुमारगुप्त की पहचान कुमारगुप्त द्वितीय से की है।

इस नरेश के काल का सारनाथ-अभिलेख, जो कि बौद्ध प्रतिमा पर उत्कीर्ण है सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यह प्रतिमा अत्यन्त भव्य थी। अभयमित्र नामक एक बौद्ध भिक्षु ने अपने माता-पिता एवं गुरुजनों के पुण्यार्जन तथा स्वकीय आध्यात्मिक लाभ के निमित्त इसका निर्माण कराया था।[2] इसमें गौतम बुद्ध को शास्ता एवं अप्रतिम गुणों से युक्त कहा गया है।[3] कुमारगुप्त द्वितीय की मुद्राओं पर 'क्रमादित्य' उपाधि उत्कीर्ण मिलती है। उसके सामन्त महाराज हस्तिन् का खोह का ताम्रलेख उपलब्ध हुआ है जिसकी तिथि गुप्त-संवत् १५६ (४७५ ई०) है। उक्त अभिलेख के अनुसार महाराज हस्तिन् गुप्त-सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था (गुप्तनृप-राज्य-भुक्तौ)।[4] वह बहुत ही धार्मिक एवं शक्ति-सम्पन्न था। उसने सहस्रों की संख्या में गाय, हाथी, घोड़े, सुवर्ण-मुद्राएँ एवं भूमि दान में दी थीं। इस लेख में उसे सैकड़ों युद्धों का विजेता कहा गया है (समर-शत-विजयिना)।[5] हस्तिन् 'परिव्राजक-महाराज' परिवार में उत्पन्न हुआ था जिसके नरेश बघेलखंड (भूतपूर्व नागौद

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९३

२. "माता-पितृ-गुरु-पूर्व्वैः पुण्येनानेन सत्वकायोऽयम्"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३२१

३. "भक्त्यावर्ज्जितमनसा यतिना पूजार्त्थमभयमित्रेण ।
प्रतिमाप्रतिमस्य गुणैरपरेयं कारिता शास्तुः ॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३२१

४. फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ ९५

५. फ्लीट, वही, पृष्ठ ९६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

रियासत के आप-पास) में गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे। खोह के लेख के प्रमाण से स्पष्ट है कि महाराज हस्तिन् के समय में इस सामन्त-परिवार ने पर्याप्त शक्ति सञ्चित कर ली थी एवं कुमारगुप्त द्वितीय के काल में इस भू-भाग में गुप्तों का नियन्त्रण शिथिल होने लगा था। कुमारगुप्त द्वितीय का शासन-काल सम्भवतः गुप्त-संवत् १५७ (४७७ ई०) में समाप्त हो गया, क्योंकि उसके उत्तराधिकारी बुधगुप्त का इस काल का एक लेख प्राप्त हुआ है।

३. **बुधगुप्त**—कुमारगुप्त द्वितीय के अनन्तर बुधगुप्त राज्याभिषिक्त हुआ होगा, क्योंकि इसके समय का सारनाथ-लेख (गु० सं० १५७ = ४७७ ई०) कुमारगुप्त द्वितीय के काल के समीप का है। हुयेनसांग के अनुसार बुधगुप्त शक्रादित्य का पुत्र था। इस शक्रादित्य की एकता कुमारगुप्त प्रथम 'महेन्द्रादित्य' से स्थापित कर पहले कुछ विद्वान् उसे इसी नरेश का पुत्र मानते थे। परन्तु यह मत अब अशुद्ध प्रमाणित हो चुका है। बुधगुप्त के नालन्दा के मुद्रा-लेख से अब स्पष्ट हो गया है कि वह पुरुगुप्त का पुत्र था।

अवनति-काल के नरेशों में सबसे अधिक शक्तिशाली बुधगुप्त ही लगता है। इसके समय के पाँच लेख प्राप्त हुए हैं जिनके प्राप्ति-स्थान से आभास मिलता है कि वह मालवा से लेकर बंगाल तक के विस्तृत भू-भाग का स्वामी रहा होगा। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि काल-क्रम की दृष्टि से सारनाथ का लेख (गु० सं० १५७ = ४७७ ई०) उसके राज्य का प्रथम लेख है।[1] अतएव इसी काल (४७७ ई०) के लगभग उसे राज्याभिषिक्त मानना समीचीन होगा। यह अभिलेख इस बात का प्रमाण है कि काशी जनपद इसके अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित था। इस लेख को भी बौद्ध भिक्षु अभयमित्र ने ही बुद्ध-प्रतिमा की चौकी पर उत्कीर्ण कराया था। उसके द्वारा इस मूर्ति की स्थापना सम्भवतः उपर्युक्त तिथि के वैशाख महीने के कृष्ण पक्ष की सप्तमी के अवसर पर कराई गई थी।[2]

उसके राज्य-काल का एक अन्य लेख एरण से प्राप्य है, जो कि गुप्त-संवत् १६५ (४८४ ई०) के असाढ़ महीने के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को उत्कीर्ण कराया

---

१. "गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपञ्चाशदुत्तरे ।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति ॥" श्लोक संख्या १
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३२३

२. "वैशाख-मास सप्तम्यां मूले श्याम-गते मया ।
कारिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्यभिक्षुणा ॥" श्लोक संख्या २
—सरकार, वही, पृष्ठ ३२३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया था। इस लेख के अनुसार मातृविष्णु आधुनिक सागर जिले के समीपवर्ती क्षेत्रों में बुधगुप्त की अधीनता स्वीकार करता था (भूपतौ च बुधगुप्ते)। उसने तथा उसके अनुज धन्यविष्णु ने माता-पिता के पुण्यार्जन के निमित्त विष्णु-ध्वज की स्थापना कराई थी (मातापित्रोः पुण्याप्यायनार्थमेष भगवतः ... जनार्द्दनस्य ध्वजस्तम्भोऽभ्युच्छ्रितः)। इसी लेख के अनुसार सुरश्मिचन्द्र राज्यपाल के रूप में नर्मदा एवं यमुना नदियों के बीच के दोआबे (अन्तर्वेदी) में शासन कर रहा था।[1] इस लेख के अन्तः साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि गुप्त-काल में नदियाँ प्रान्तों (भुक्ति) एवं जिलों (विषय) की प्राकृतिक सीमाएँ मानी जाती थीं।

State Museum Library Lucknow 7130

बुधगुप्त-कालीन दो लेख बंगाल के दिनाजपुर जिले में स्थित दामोदरपुर नामक स्थान से उपलब्ध हुए हैं। इनमें से एक लेख की तिथि गु० सं० १६३ (४८२-८३ ई०) है। इसमें बुधगुप्त की परमभट्टारक एवं महाराजाधिराज आदि उपाधियाँ आती हैं। इसमें पुंड्रवर्द्धन भुक्ति नामक प्रान्त (उत्तरी बंगाल) का उल्लेख आता है जिसमें ब्रह्मदत्त नामक व्यक्ति राज्यपाल के रूप में राज्य कर रहा था। दामोदरपुर के द्वितीय लेख में किसी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। लगता है कि यह गु० सं० १६३ वाले लेख के उपरान्त का है। इसमें जयदत्त नामक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है, जो कि पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का राज्यपाल था। संभव है कि वह ब्रह्मदत्त का पुत्र अथवा भाई रहा हो। दामोदरपुर के लेखों से ज्ञात होता है कि बंगाल में कोई दत्त-परिवार था जिसके सदस्य परम्परागत आधार पर उत्तरी बंगाल में राज्यपाल के रूप में नियुक्त किए जाते थे। उसका एक लेख नालन्दा से भी प्राप्त हुआ है। पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि इस लेख के आधार पर ही उसके माता-पिता के नामों के विषय में शुद्ध ज्ञान का होना संभव हो सका है।

बुधगुप्त के काल में गुप्तों की लुप्त समृद्धि एवं मर्यादा का पुनरुज्जीवन कुछ सीमा तक सम्पन्न हुआ था। संभवतः सौराष्ट्र के मैत्रक नरेश भी बुधगुप्त की अधीनता स्वीकार करते थे। इस वंश के शासक महाराज द्रोणसिंह का ५०२ ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें उसे "परमभट्टारकपादानुध्यात" कहा गया

---

१. "काञ्चिद्रो-नर्म्मदयोर्मध्यं पालयति लोकपाल-गुणैर्ज्जगति महाराज श्रियमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे च ॥"

—फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ ८९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है।[1] बहुत संभव है कि वह इस तिथि के पहले से ही शासन कर रहा था। द्रोणसिंह बुधगुप्त का समकालीन था। दामोदरपुर के लेख में बुधगुप्तकी उपाधि 'परमभट्टारक' मिलती है (परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीबुधगुप्ते पृथिवीपतौ)। इससे संकेत मिलता है कि द्रोणसिंह चक्रवर्ती बुधगुप्त का मांडलिक रहा होगा। खोह से परिव्राजक महाराज हस्तिन् का गुप्त-संवत् १६३ (४८३ ई०) का एक द्वितीय अभिलेख मिला है। इससे ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त द्वितीय के काल की भाँति बुधगुप्त के समय में भी वह गुप्तों का सामंत था। स्पष्ट शब्दों में इसमें वह गुप्त-संप्रभुता को स्वीकार करता हुआ प्रदर्शित किया गया है (गुप्ततृपराज्यभुक्तौ)। इस अभिलेख में हस्तिन्के द्वारा दिये गये हुए अग्रहार-दान का उल्लेख मिलता है। यह लेख बुधगुप्त के काल में ब्राह्मणधर्म के विकास की सूचना देता है। इसमें कई ब्राह्मण-गोत्रों के उल्लेख मिलते हैं, उदाहरणार्थः—भारद्वाज, कौत्स, भार्गव तथा वासुल। इसमें कुछ वैदिक शाखाओं के भी उल्लेख मिलते हैं, यथा—वाजसनेय तथा कठ।[2] इसके कालकी कुछ मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनके द्वारा इसके अधिकार-क्षेत्र के ऊपर प्रकाश पड़ता है। इसकी अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् १७५ है जिससे स्पष्ट है कि उसने कम से कम ४९५ ई० तक राज्य किया था।[3] यह भी सम्भावना हो सकती है कि उसने लगभग ५०० ई० तक शासन किया हो।

बुधगुप्त के लेखों में 'परमभागवत' उपाधि नहीं मिलती। इससे लगता है कि उसका व्यक्तिगत धर्म वैष्णवधर्म नहीं था। हुयेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म में इसकी विशेष आस्था थी। उसके अनुसार इसने नालंदा विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता प्रदान की थी।[4] सारनाथ का लेख इस बात का प्रमाण है कि इसके काल में बौद्ध मतावलंबी वर्तमान थे। इस लेख के अनुसार अभयमित्र नामक भिक्षु ने ४७७ ई० में गौतम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया था (कारिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्यभिक्षुणा)। इस मूर्ति में हाथ ऊपर उठा हुआ था। यह प्रतिमा छत्र के आवरण एवं पद्मासन मुद्रा से विभूषित थी (इमामुद्दण्ड-सच्छत्र-पद्मासन-विभूषिताम्)। यह मूर्ति देवपुत्रों की भाँति दिव्य तथा

---

१. गुप्त-वाकाटक-एज, पृष्ठ १७२
२. फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ १०५
३. गुप्त-वाकाटक-एज, पृष्ठ १७४
४. रायचौधरी, वही, पृष्ठ ५९३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विभिन्न चित्रों से युक्त सी लगती थी (देवपुत्रवतो दिव्यां चित्रविद्यासचित्रिताम्)। इस प्रतिमा का निर्माण अपने श्रेष्ठ जनों के पुण्यार्जन तथा स्वकीय आध्यात्मिक लाभ के हेतु किया गया था—

"यदत्र पुण्यं प्रतिमां कारयित्वा मया भृतम् ।
माता-पित्रोर्गुरूणां च लोकस्य च समाप्तये ॥"

बुधगुप्त के शासन-काल के अंतिम भाग में कुछ बाहरी आक्रमणों के संकेत मिलते हैं। वाकाटक-लेखों के अनुसार नरेन्द्रसेन ने कोसल, मेकला तथा मालवा पर आधिपत्य स्थापित किया था।[२] रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार नरेन्द्रसेन बुधगुप्त का समकालीन था। उनके अनुसार बुधगुप्त के काल में गुप्त-साम्राज्य के ऊपर दक्षिण की ओर से आक्रमण हुआ था। इस घटना के परिणामस्वरूप इस राजवंश की सत्ता को धक्का लगा होगा। बुधगुप्त के काल में बुन्देलखंड एवं बघेलखंड के ऊपर गुप्तों का आधिपत्य क्षीण हो चुका था। बुंदेलखंड के उच्चकल्प राजाओं के अभिलेख ४९३ और ४९६ ई० के बीच के उपलब्ध हुए हैं। इनमें गुप्तों की प्रभुता का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[३] बुधगुप्त के राज्यकाल में बघेलखंड के रींवा राज्य के ऊपर पांडुवंशी नरेश महाराज भरतबल राज्य कर रहा था।[४] इसी समय बघेलखंड के एक दूसरे भाग के ऊपर महाराज लक्ष्मण राज्य कर रहा था।[५] इन दोनों नरेशों के लेखों में गुप्त-सम्राट् की प्रभुता का कोई भी उल्लेख नहीं है।

उसके सामन्तों एवं कर्मचारियों ने अपने-अपने अधिकारों को बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। बुधगुप्त के पूर्व पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति (उत्तरी बंगाल) के दत्त-नामधारी राज्यपाल केवल महाराज की ही उपाधि धारण करते थे। परन्तु इस नरेश के काल में वहाँ के ब्रह्मदत्त एवं उसके उत्तराधिकारी जयदत्त नामक राज्यपाल उपरिक-महाराज की उपाधि धारण करने लगे थे। पूर्वी मालवा में बुधगुप्त की अधीनता स्वीकार करने वाले सामन्त मातृविष्णु एवं उसके अनुज धन्यविष्णु के

---

१. सरकार, वही, पृष्ठ ३२३
२. क्लैसिकल एज, पृष्ठ ३२
३. वही, पृष्ठ ३०
४. वही, पृष्ठ ३१
५. वही, पृष्ठ ३१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एरण के लेख (गु० सं० १६५=४८४ ई०)के अनुसार स्वयं राजलक्ष्मी ने ही उन्हें पति के रूप में चुन लिया था (स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतेन) । इसके पूर्व इस प्रकार की उक्ति स्कन्दगुप्त के विषय में उसके जूनागढ़ के लेख में आती है (लक्ष्मी स्वयं यं वरयाञ्चकार) । इससे स्पष्ट है कि उनकी स्थिति एकमात्र सामन्तों जैसी न रह गई थी । उन्होंने क्रमशः स्वतंत्र नरेशों के तुल्य व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया था । विचारणीय है कि इस लेख में सुरश्मिचन्द्र, मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु इन तीनों के ही नामों के पूर्व महाराज उपाधि प्रयुक्त मिलती है । इस साक्ष्य के अनुसार सुरश्मिचन्द्र राजलक्ष्मी का उपभोग करता था (श्रियमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे) । इससे संकेत मिलता है कि विशेषतः सीमावर्ती प्रान्तों के राज्य-पालों और कर्मचारियों पर इस समय केन्द्रीय नियन्त्रण शिथिल होने लगा था ।

बुधगुप्त के राज्य-काल के अंतिम दिनों में संभवतः हूणों ने भी आक्रमण किया था । इन बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य की आंतरिक शक्ति के ऊपर क्षतिकारक प्रभाव अवश्य पड़ा होगा । परन्तु इन विषम परिस्थितियों को देखते हुए भी उसकी महानता एवं प्रतिभा में कोई संदेह नहीं रह जाता । रमेश-चन्द्र मजूमदार के शब्दों में इस नरेश ने गुप्त-साम्राज्य की सुरक्षा बड़ी योग्यता के साथ की थी । यह अंतिम गुप्तवंशी नरेश था, जिसने एक विशाल साम्राज्य का उपभोग किया था ।[1]

४. नरसिंहगुप्त 'बालादित्य'—हम पहले निर्दिष्ट कर चुके हैं कि बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् १७५ (४९५ ई०) है । अतएव इस तिथि तक उसने अवश्य राज्य किया होगा । यह भी सम्भावना हो सकती है कि उसने ५०० ई० तक शासन किया हो । उसके अनन्तर उसका अनुज नरसिंहगुप्त सिंहा-सनारूढ़ हुआ । इस नरेश के राज्य-काल के प्रारम्भिक वर्ष अधिक संकट-पूर्ण थे । बाह्य आक्रमण, आन्तरिक झगड़े तथा सामन्तों एवं उच्च कर्मचारियों की मह-त्वाकांक्षाएँ आदि विघटन की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हो उठीं और इनके दमन में उसे पर्याप्त धैर्य एवं साहस से काम लेना पड़ा था ।

हूण-राज तोरमाण इस समय बड़ा ही उपद्रवी सिद्ध हुआ । उसने गंगा-घाटी में अपनी शक्ति को विस्तृत करना प्रारम्भ कर दिया । पूर्वी मालवा को उसने गुप्तों से छीन लिया । इस बात पर विमर्श किया जा चुका है कि इस क्षेत्र में मातृ-विष्णु नामक सामन्त बुधगुप्त की अधीनता स्वीकार करता था । तदनन्तर उसके अनुज धन्यविष्णु ने वहाँ हूणराज तोरमाण के माण्डलिक-रूप में राज्य करना

---

१. क्लैसिकल एज, पृष्ठ ३२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रारम्भ किया था (महाराज-श्रीतोरमाणे प्रशासति)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि बुधगुप्त के अनन्तर पूर्वी मालवा पर हूण-सत्ता भली भाँति स्थापित हो चुकी थी।

आन्तरिक झगड़ों ने तत्कालीन वातावरण को और भी क्षुब्ध बना दिया था। इसके पूर्व निर्देश किया जा चुका है कि गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग में भानुगुप्त नामक राजकुमार ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। उसके विषय में हमारी सूचना का एकमात्र साधन एरण का स्तम्भ-लेख (गु० सं० १९१ = ५१० ई०) है। गुप्त-साम्राज्य के पूर्वी भाग (बंगाल) में वैन्यगुप्त नामक गुप्तवंशी राजकुमार ने अपने राज्य की स्थापना की थी। इसके विषय में सूचना का साधन बंगाल से प्राप्त गुणैघर का ताम्र लेख है जिसकी तिथि गुप्त-संवत् १८८ (५०७ ई०) है। इस प्रकार संकेत मिलता है कि बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य सम्भवतः तीन प्रतिस्पर्द्धी राज्यों में विभक्त हो गया था। इसके पश्चिमी एवं पूर्वी भागों में क्रमशः भानुगुप्त एवं वैन्यगुप्त के राज्य स्थित थे और इन दोनों के मध्य मगध-क्षेत्र में नरसिंहगुप्त का राज्य वर्तमान था।

भानुगुप्त के विषय में इतिहासकार अधिकतर अन्धकार में हैं। उसके एक मात्र प्राप्त अभिलेख (एरण के स्तम्भ-लेख)में उसकी वंश-परंपरा का कोई भी उल्लेख नहीं है। फलतः यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि वह किसका पुत्र था? कतिपय विद्वानों ने इस बात पर संशय प्रकट किया है कि वह गुप्त-वंशी राजा रहा होगा। परन्तु उनकी यह आशंका सर्वथा निराधार है। लगता है कि उसका राज्य अल्पकालीन था। यही कारण है कि अभी तक उसका केवल एक ही अभिलेख प्राप्त हो सका है। इसीलिए उसकी मुद्राएँ भी अप्राप्य हैं। एरण के उक्त लेख में भानुगुप्त को विख्यात शूरमा सम्राट् कहा गया है।[1] इसमें उसके मित्र गोपराज का उल्लेख मिलता है, जो माधवराज का पुत्र तथा शरभराज का दौहित्र था। वह विख्यातपौरुष, अपने वंश का तिलक एवं श्रीसम्पन्न था। इस अभिलेख[2]

---

१. "श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो
राजा महान्पार्थसमोऽति शूरः।"—"सरकार, वही, पृष्ठ १७४

२. "तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपराजो
मित्रानुगत्येन किलानुयातः।
कृत्वा च युद्धं सुमहत्प्रकाशं
स्वर्गं गतो दिव्यनरेन्द्रकल्पः॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुसार उसने भानुगुप्त की ओर से किसी युद्ध में भाग लिया था। इसमें वह बहादुरी के साथ लड़ता हुआ मारा गया। इसके उपरान्त उसकी पतिपरायणा भार्या सती हो गयी थी[1]। एरण का यह अभिलेख प्रस्तर-स्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण है। स्थानीय जनता इसकी पूजा शिव-लिंग के रूप में करती है। अधिक संभव है कि इस आराधना का प्रारम्भ सती-स्मारक के भाव में हुआ हो। दुर्भाग्यवश यह अभिलेख इस युद्ध के फल के विषय में मौन है। हेमचन्द्र रायचौधरी का अनुमान है कि भानुगुप्त इस युद्ध में विजयी हुआ। उसका यह युद्ध हूणों के विरुद्ध हुआ होगा। बुधगुप्त की मृत्यु के अनन्तर पूर्वी मालवा में हूण-सत्ता स्थापित हो चुकी थी। रायचौधरी के अनुसार भानुगुप्त उक्त युद्ध के फलस्वरूप इस क्षेत्र को हूणों के शिकंजों से उन्मुक्त करने में सफल सिद्ध हुआ। उन्होंने इस युद्ध को 'भानुगुप्त का स्वतंत्रता-संग्राम' ('वार ऑफ लिबरेशन') की संज्ञा प्रदान की है।[2] इस निष्कर्ष के विषय में हम बहुत निश्चित नहीं हो सकते। हो सकता है कि गोपराज के अतिरिक्त भानुगुप्त भी इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ हो। उसके अल्प-कालीन शासन का यह एक सम्भावित कारण हो सकता था।

गुणैधर के ताम्रलेख में वैन्यगुप्त की वंश-परम्परा का उल्लेख अप्राप्य है। उसका एक लेख नालन्दा से भी मिला है, जो कि खण्डित अवस्था में है। इस अभि-लेख के द्वारा भी उसके पिता के नाम के विषय में कोई भी सूचना नहीं प्राप्त होती। फलतः गुप्त-वंशावली में उसका भी स्थान-निर्धारण दुष्कर हो जाता है। गुणैधर के लेख में उसकी उपाधि महाराज उल्लिखित है। परन्तु इस आधार पर उसे सामन्त नहीं प्रमाणित किया जा सकता। नालन्दा के लेख में उसे महाराजाधिराज कहा गया है। गुणैधर-लेख में उसके महासामन्त विजयसेन का उल्लेख मिलता है (महाराज-श्रीमहासामन्त-विजयसेन)। राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि वैन्यगुप्त गुप्त-वंशी नरेश नहीं था।[3] परन्तु यह कथन समीचीन नहीं है। उसकी मुद्राएँ बनावट में गुप्त-मुद्राओं के तुल्य हैं। गुणैधर का लेख गुप्त-शैली में निबद्ध है।

इस अभिलेख द्वारा तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं के विषय

---

१. "भक्तानुरुक्ता च प्रिया च कान्ता
भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम् ।"

—सरकार, वाकी, पृष्ठ ३३६

२. पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५९६

३. मुकर्जी, ऐंशेंट इंडिया, पृष्ठ ३०७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में महत्त्वपूर्ण परिचय उपलब्ध होता है। इस अभिलेख में वैन्यगुप्त को "भगवन्महादेवपादानुद्ध्यात्" कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वह शैवमतावलम्बी था। इस अभिलेख में 'अवलोकितेश्वराश्रम' विहार का उल्लेख मिलता है। वैन्यगुप्त ने इस विहार में रहने वाले भिक्षुसंघ को एक ग्राम संपूर्ण राजकीय अधिकारों के साथ (सर्वतो भोगेन) अग्रहार दान में दिया था। इस विहार का निर्माण आचार्य शांतिदेव ने किया था। वैन्यगुप्त के दान के पूर्व उसके सामंत महाराज रुद्रदत्त ने इस विहार को दान दिया था। इसकी आय से इसमें गंध तथा पुष्प की व्यवस्था और दीपक एवं धूप जलाने का व्यय वसूल होता था। इस आय से भिक्षुसंघ के निमित्त वस्त्र (चीवर), भोजन (पिण्डपात), शयन, आसन और औषधि (भैषज्य) तथा विहार के जीर्णोद्धार की व्यवस्था (खंड-फुट्ट-प्रतिसंस्कारकरणाय) की जाती थी। इस लेख से स्पष्ट है कि बंगाल वैन्यगुप्त के राज्य में सम्मिलित था। इस अभिलेख में तत्कालीन कतिपय पदाधिकारियों के नामोल्लेख प्राप्य हैं; उदाहरणार्थ दूतक, महाप्रतीहार, महापीलुपति, पञ्चाधिकरणोपरिक, पाटच्चरिक तथा पुरपालोपरिक।

भितरी के राजमुद्रा-लेख के अनुसार नरसिंहगुप्त महादेवी श्रीचन्द्रदेवी के गर्भ से उत्पन्न पुरुगुप्त का पुत्र था। फ्लीट के अनुसार नरसिंहगुप्त की माता के नाम का शुद्ध पाठ वत्सदेवी होगा। यच० शास्त्री ने नालन्दा की राजमुद्रा के लेख में इसे वैष्णदेवी पढ़ा है। भितरी के उक्त लेख में नरसिंहगुप्त को परमभागवत नहीं कहा गया है यद्यपि यह उपाधि इसमें उसके पुत्र कुमारगुप्त तृतीय के लिए प्रयुक्त है। इससे लगता है कि उसने वैष्णव मत का अवलम्बन नहीं किया था। नरसिंहगुप्त की सुवर्ण मुद्राओं के मुख भाग पर राजा के बाएँ हाथ के नीचे 'नर' लेख प्राप्य है। यह उसके नाम का पूर्वार्द्ध है। इसी ओर 'जयति नरसिंहगुप्तः' लेख भी प्राप्य है। इस मुद्राओं के पृष्ठ तल पर उसकी उपाधि 'बालादित्य' उत्कीर्ण है। प्रमाणाभाव के कारण निर्दिष्ट करना दुष्कर है कि समकालीन विद्रोही राजकुमारों (भानुगुप्त एवं वैन्यगुप्त) के साथ उसका संबन्ध क्या था ? संभव है कि ये दोनों उसके भाई रहे हों। इनका राज्य-काल अत्यल्प था। इससे संकेत मिलता है कि नरसिंहगुप्त ने उन्हें अपदस्थ कर पैतृक साम्राज्य पर अपना अधिकार सुदृढ़ कर लिया होगा। अथवा अन्य सम्भावना यह भी हो सकती थी कि हूणों का सामना करने में वे दोनों समरांगण में मार डाले गए।

उसकी सबसे उल्लेखनीय सफलता हूण-विजय थी। हुएनसांग के अनुसार बालादित्य नामक गुप्त-नरेश ने मिहिरकुल को परास्त कर दिया था। वह उसकी सेना के द्वारा बन्दी बनाकर बालादित्य की राजधानी में लाया गया, परन्तु उसकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

माता के अनुरोध के कारण वह उन्मुक्त कर दिया गया। राजनीतिक दृष्टि से यह एक बड़ी भूल थी। मिहिरकुल इसके उपरान्त पुनः आततायी एवं उपद्रवी सिद्ध हुआ था। अनुमान किया जाता है कि नरसिंहगुप्त के हूण-विजय में उसके सामन्तों (मौखरि आदित्यवर्मा एवं उत्तरगुप्तवंशीय हर्षगुप्त) ने उसे महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचायी होगी। अफसढ़ के लेख में हर्षगुप्त को भयंकर युद्ध का विजेता उल्लिखित किया गया है (घोराणामाहवानां लिखितमिव जयं श्लाघ्यमाविर्दधानो)। लगता है कि यहाँ पर हूण-युद्ध की ओर संकेत है जिसमें इसने नरसिंहगुप्त के माण्डलिक-रूप में भाग लिया होगा। उसकी धनुर्धरांकित वर्ग की मुद्राएँ दो प्रकार की उपलब्ध हुई हैं। एलन के अनुसार प्रथम वर्ग की मुद्राएँ गंगा नदी के दक्षिण की ओर प्रचलित थीं तथा दूसरे प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन इसके उत्तरी भाग में था। मंजुश्रीमूलकल्प में उसे 'बालाख्य' (अर्थात् बालादित्य) तथा उसके पुत्र को 'कुमाराख्य' (अर्थात् कुमारगुप्त) कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार पूर्वी भारत बालादित्य के राज्य के अन्तर्गत था।[1]

(५) **कुमारगुप्त तृतीय**—भितरी की राजमुद्रा के लेख के अनुसार वह नरसिंहगुप्त का पुत्र था एवं महादेवी मित्रदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।[2] फ्लीट के अनुसार उसकी माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। इस अभिलेख में उसके लिए 'परमभागवत' की उपाधि का प्रयोग मिलता है। इससे अभिव्यञ्जित होता है कि उसका व्यक्तिगत धर्म वैष्णव धर्म रहा होगा। उसके काल के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। एक तो भितरी का राजमुद्रा-लेख (जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है) तथा दूसरा नालन्दा का मुद्रा-लेख। इन दोनों अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान से अभिव्यक्त होता है कि वह पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार एवं बंगाल में राज्य कर रहा था। कुमारगुप्त तृतीय मालवा-नरेश यशोधर्मन् का समकालीन प्रतीत होता है, जो उसके मन्दसोर के शिला-लेख के अनुसार मालव संवत् ५८९ (अर्थात् ५३२ ई०) में राज्य कर रहा था। उसके समय का द्वितीय

---

१. "बालाख्य नामासौ नृपतिर्भविता पूर्वदेशकः।
तस्यापरेण नृपतिः गौड़ानां प्रभविष्णवः॥
कुमाराख्यो नामतः प्रोक्तः सोऽपिरत्यन्त धर्मवान॥"
—मंजुश्रीमूलकल्प, पृष्ठ ६३०

२. "महाराजाधिराज-श्रीनरसिंहगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमन्मित्रदेव्यामुत्पन्नो परमभागवतो महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तः"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३२२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुप्रसिद्ध अभिलेख मन्दसोर का स्तम्भ-लेख है। इसमें वर्णन मिलता है कि यह नरेश अपनी दिग्विजय-यात्रा के प्रसंग में ब्रह्मपुत्र नदी (आलौहित्योपकण्ठ) तक बढ़ आया था। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि इसी सैन्य-अभियान में गंगा-घाटी का तत्कालीन शासक कुमारगुप्त तृतीय उक्त मालव-नरेश द्वारा परास्त कर दिया गया था। यह घटना ५३० ई० के लगभग घटी होगी। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि संभवतः वह इस युद्ध में मार भी डाला गया था। यहाँ उल्लेखनीय हो जाता है कि दामोदरपुर के पाँचवें लेख (५४३ ई०) में उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति) के दत्त-परिवार का कोई भी उल्लेख नहीं है। बी० पी० सिनहा का अनुमान है कि यशोधर्मन् ने लौहित्य-विजययात्रा में इस दत्त-परिवार को समाप्त कर दिया था। संभवतः इन्हीं पूर्वी शक्तियों को मन्दसोर-शिलालेख में 'प्राचो नृपान्' कहा गया है। परन्तु यशोधर्मन् की इस विजय-यात्रा का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा था। हम इसे इतिहास की एक आकस्मिक घटना के रूप में भले ही ग्रहण कर लें, परन्तु यह कोई महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त नहीं माना जा सकता। पूर्वी भारतवर्ष में इसके उपरान्त भी गुप्त-राज्य चलता रहा। कुमारगुप्त तृतीय के उत्तराधिकारी विष्णुगुप्त ने इसके अनन्तर भी लगभग बीस वर्षों तक राज्य किया था। नवीनतम अनुसन्धान के अनुसार उसका राज्य इससे भी दीर्घ-कालीन था। सुमंडल के अभिलेख के आधार पर रमेशचन्द्र मजूमदार का अनुमान है कि विष्णुगुप्त ने अपने पिता (कुमारगुप्त तृतीय) की मृत्यु के पश्चात् संभवतः चालीस वर्षों तक राज्य किया था।

(६) **विष्णुगुप्त 'चन्द्रादित्य'**—पहले कुमारगुप्त तृतीय ही गुप्त-वंश का अन्तिम नरेश माना जाता था। परन्तु विष्णुगुप्त के नालन्दा के मुद्रा-लेख की प्राप्ति के उपरान्त यह सिद्ध हो चुका है कि कुमारगुप्त तृतीय के अनन्तर भी गुप्त राजवंश ने एक पीढ़ी अधिक राज्य किया था। नालन्दा के अभिलेख में विष्णुगुप्त की वंशावली निम्नलिखित रूप में प्राप्य है :—

१. पुरुगुप्त
|
२. नरसिंहगुप्त
|
३. कुमारगुप्त
|
४. विष्णुगुप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्पष्ट है कि इस लेख के कुमारगुप्त से तात्पर्य कुमारगुप्त तृतीय से है। अतएव प्रमाणित हो जाता है कि विष्णुगुप्त कुमारगुप्त तृतीय का ही पुत्र रहा होगा। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार 'कुमाराख्य' के अनन्तर 'उकाराख्य' सिंहासनारूढ़ हुआ। यहाँ 'कुमाराख्य' से तात्पर्य कुमारगुप्त तृतीय तथा 'उकाराख्य' से तात्पर्य विष्णुगुप्त से लगता है। उसकी मुद्राओं पर उसकी उपाधि 'चन्द्रादित्य' उत्कीर्ण है। पहले जब नालन्दा का उपर्युक्त लेख नहीं मिला था, उस समय विद्वान् उक्त मुद्राओं के विष्णुगुप्त 'चन्द्रादित्य' का समीकरण उत्तर-गुप्त राजवंश के विष्णुगुप्त से करते थे जिसका नामोल्लेख मँगराँव एवं देववर्नार्क के अभिलेखों में हुआ है। कतिपय विद्वान् उसका समीकरण मालव-नरेश यशोधर्मन् से भी करते थे जिसका उपनाम विष्णुवर्द्धन् था। परन्तु नालन्दा के उपर्युक्त मुद्रा-लेख की प्राप्ति के पश्चात् सिद्ध हो चुका है कि गुप्त-कुल में भी विष्णुवर्द्धन् नामक नरेश उत्पन्न हुआ था और उक्त मुद्राएँ इसी सम्राट् की हैं। इस लेख के प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त-वंश का अन्तिम नरेश विष्णुगुप्त ही था न कि कुमारगुप्त तृतीय।

यहाँ पर किञ्चित् काल के लिए दामोदरपुर के पाँचवें लेख पर भी विचार कर लेना प्रासंगिक होगा जिसकी तिथि गुप्त-संवत् २२४ (५४३ ई०) है। दुर्भाग्यवश नरेश के नाम वाला भाग लेख से नष्ट हो गया है। दिनेशचन्द्र सरकार एवं कुछ अन्य विद्वानों ने इसे उत्तर गुप्तवंश के किसी नरेश का लेख माना है। यह मत समीचीन नहीं लगता। इस लेख की शैली गुप्त-लेखों की शैली से साम्य रखती है। इसमें उल्लिखित उपाधियाँ सम्राट् गुप्तों की उपाधियों से मेल खाती हैं; उदाहरणार्थ पृथिवीपति, परमदैवत्, परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज। यदि दामोदरपुर के इस लेख की समता इस स्थान से प्राप्त अन्य लेखों के साथ की जाय तो इसमें कोई भी संशय नहीं रह जाता कि यह किसी गुप्त-वंशी नरेश के द्वारा ही उत्कीर्ण कराया गया होगा। ५४३ ई० में गुप्त-सत्ता के विद्यमान होने में संशय नहीं होना चाहिए। वलभी-नरेश ध्रुवसेन प्रथम के ५४५ ई० के एक लेख में 'परमभट्टारकपादानुध्यात' का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि यहाँ गुप्त-सत्ता की ओर संकेत है। दामोदरपुर के लेख के अनुसार पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति (उत्तरी बंगाल) एक समृद्धिशाली प्रान्त था। इसका प्रान्तपति (उपरिक महाराज) हस्तिसेना, अश्वसेना, पदाति-सेना तथा उपभोग की विभिन्न सामग्री के साथ राज्य कर रहा था (हस्त्यश्व-जन-भोगेनानुवहमानके)। इस प्रान्त का कोटिवर्ष नामक जिला गुप्त-राज्य का महत्त्वपूर्ण भाग था। इसका सबसे प्रधान अधिकारी विषयपति स्वयंभुदेव था। इस कर्मचारी के कार्यालय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का उल्लेख इस अभिलेख में हुआ है (कोटिवर्षविषये ··· अधिष्ठानाधिकरणम्)। उसकी सहायता के लिए एक समिति थी जिसके सदस्य नगरश्रेष्ठि इभुपाल, सार्थवाह स्थाणुदत्त, प्रथम कुलिक मतिदत्त तथा प्रथमकायस्थ स्कन्दपाल थे। इस अभिलेख में श्वेतवाराहस्वामी के मन्दिर को भूमि के दान का उल्लेख मिलता है। इसकी आय से मन्दिर की मरम्मत तथा इसके भीतर धूप, पुष्प एवं दीपक जलाने का व्यय वसूल होता था। इस लेख की तिथि के आधार पर लगता है कि यह लेख विष्णुगुप्त-कालीन रहा होगा। जैन हरिवंश के अनुसार स्थापना-काल (३१९ ई०) के २३१ वर्षों उपरान्त गुप्त-वंश का राज्य समाप्त हो गया। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि विष्णुगुप्त ने (३१९ ई० + २३१ वर्ष) ५५० ई० तक राज्य किया होगा। हाल ही में प्राप्त सुमंडल के लेख से अभिव्यञ्जित होता है कि उड़ीसा में गुप्त-राज्य कम से कम ५७० ई० तक स्थायी रहा। अतएव संभव है कि विष्णुगुप्त का राज्य किसी न किसी रूप में ५७० ई० तक विद्यमान था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१३

अधःपतन के मूलभूत कारण

"गुप्तानाम् च शतद्वयम्
एक-त्रिंशच्च वर्षाणि
काल-विद्भिरुदाहृतम् ॥"

—हरिवंश

स्थापना-काल से लेकर ४६७ ई० तक के बीच लगभग दो शताब्दियों वाले काल में प्रतिभाशाली नरेशों के सफल संरक्षण में गुप्त-साम्राज्य पल्लवित एवं संवर्द्धित होता रहा। परन्तु स्कन्दगुप्त की मृत्यु के साथ ही (४६७ ई० में) गुप्त-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल की भी इतिश्री हो गई। इस समय से विसंघटन एवं ह्रास की विविध प्रवृत्तियाँ क्रियाशील होने लगीं। इस तिथि के अनन्तर गुप्त-साम्राज्य का समृद्धिशाली एवं महत्त्वपूर्ण सुराष्ट्र प्रान्त इससे क्रमशः पृथक् हो गया। बुधगुप्त वस्तुतः अन्तिम गुप्त-नरेश था, जिसके राज्य में यमुना और नर्मदा नदी का मध्यवर्ती भाग (जिसमें पश्चिमी मालवा भी आता था) सम्मिलित था। उसके उत्तराधिकारियों के आधिपत्य में पूर्वी मालवा से लेकर बंगाल तक का ही भू-भाग सम्मिलित था। विषम परिस्थितियों एवं जटिल समस्याओं के फलस्वरूप इसके अन्य प्रान्त भी धीरे-धीरे स्वतन्त्र होने लगे थे। जिनसेन के अनुसार प्रादुर्भाव के समय से २३१ वर्ष उपरान्त अर्थात् (३१९ ई० + २३१) ५५० ई० में गुप्त-सत्ता का अन्तिम विनाश सम्पन्न हुआ था।[1] इस घटना के अनन्तर मौखरि एवं वर्द्धन-सदृश शक्तिशाली राजवंशों का अभ्युदय हुआ, जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष की राजधानी पाटलिपुत्र से स्थानान्तरित हो कान्यकुब्ज चली आई।

विशाल गुप्त-साम्राज्य का अधःपतन कोई आकस्मिक अथवा अल्प-काल में ही घटित होने वाला वृत्तान्त नहीं था। इसके सम्पन्न होने में लगभग ८२ वर्षों (४६८ ई०—५५० ई०) का दीर्घकाल लग गया था। इस साम्राज्य के विनाश के मूलभूत कारणों को निर्दिष्ट करना कुछ दुष्कर नहीं है। इस

---

१. हरिवंश, अध्याय ६०।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

घटना के वास्तविक कारण वे ही थे जो किसी भी विशाल भारतीय साम्राज्य के विनाश के सम्बन्ध में लागू होते हैं। इस सम्बन्ध में रमेशचन्द्र मजूमदार अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि गुप्त-साम्राज्य के विनाश में उन्हीं परिस्थितियों का योगदान दृष्टिगोचर होता है जो कि मौर्य-साम्राज्य तथा कालान्तर में मुगल-साम्राज्य के ह्रास में सक्रिय थीं।[1] लगभग समान मत का प्रतिपादन करते हुए हेमचन्द्र रायचौधरी हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करते हैं कि गुप्त-साम्राज्य के अधःपतन के बाह्य रूप स्पष्ट ही हैं। कालान्तर में चौदहवीं शताब्दी में तुर्की साम्राज्य एवं अठारहवीं शताब्दी में मुगल-साम्राज्य के अधःपतन के जो कारण कहे जा सकते हैं, वे ही गुप्तवंश की विनाश-क्रिया में भी कार्यशील हुए थे। इन कारणों का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार किया जा सकता है :—(१) हूण-आक्रमण, (२) साम्राज्य का सामन्त-संघीय संघटन, (३) प्रान्तपतियों के विशेषाधिकार, (४) आन्तरिक झगड़े, (५) बौद्ध धर्म का आलिंगन, (६) शासन-व्यवस्था के दोष तथा (७) यशोधर्मन् का अभ्युदय।

हूण-आक्रमण—गुप्त-अभिलेखों से संकेत मिलता है कि कुमारगुप्त प्रथम के राज्य-काल के अन्तिम चरण से ही बाहरी आक्रमण प्रारंभ हो गए थे। भितरी के स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्रों का आक्रमण विपत्तिजनक सिद्ध हुआ था। बड़ी कठिनाई के साथ स्कन्दगुप्त इनका दमन करने में सफलीभूत हुआ था। हूणों के आक्रमण भी लगभग उसी समय से प्रारम्भ हो गए थे। वे सम्भवतः मध्य एशिया के मूल निवासी थे तथा प्रसरण की क्रिया में दो मुख्य शाखाओं में विभाजित हो गए थे। एक तो पश्चिमी शाखा थी, जिसने यूरोप में काफी उथल-पुथल मचा रखा था। दूसरी पूर्वी शाखा थी जो कि फारस में वंक्षु (आक्सस) नदी के तट पर आ बसी थी। महाभारत के भीष्म पर्व में हूणों का उल्लेख पारसीकों के साथ हुआ है:—

"यवना चीन-काम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः।
सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह॥"[1]

स्कन्दगुप्त के काल तक ये हूण गुप्तों का कुछ बिगाड़ने में असमर्थ रहे। यह दूसरी बात है कि उनका सामना करने एवं भगाने में विशेष रूप से स्कन्दगुप्त को कड़ी परीशानियों एवं कठोर समस्याओं का सामना करना पड़ा था। जूनागढ़ एवं भितरी-लेखों से इस तथ्य का भली भाँति स्पष्टीकरण हो जाता

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, ९, ६५-६६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। वे इस प्रतापी वीरवर के द्वारा गुप्त-साम्राज्य की सीमाओं के बाहर खदेड़ दिए गये थे। पर स्कन्दगुप्त के मरते ही इन लोगों ने गुप्तों को आघात पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया था। जैन लेखक सोमदेव के अनुसार वे आगे बढ़ते हुए चित्रकूट तक चले आए थे।[1] हाल ही में कौशाम्बी में हूणराज तोरमाण की मुद्रा प्राप्त हुई है। बुधगुप्त के काल में एरण (पूर्वी मालवा) में महाराज मातृविष्णु बुधगुप्त की अधीनता स्वीकार करता था। परन्तु इस गुप्त-नरेश की मृत्यु के उपरान्त मातृविष्णु का अनुज धन्यविष्णु इसी क्षेत्र में हूण-नरेश तोरमाण की अधीनस्थता स्वीकार करने लगा था —

"वर्षे प्रथमे पृथिवीम् पृथु-कीर्त्तौ पृथु द्युतौ ।
महाराजाधिराजश्रीतोरमाणे प्रशासति ॥"

इस अभिलेखीय साक्ष्य से प्रमाणित हो जाता है कि बुधगुप्त के उपरान्त (अर्थात् ५०० ई० के पश्चात्) तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने एरण को जीत लिया। बाद में चलकर भानुगुप्त के काल में पूर्वी मालवा को हूण-शासन से उन्मुक्त करने के निमित्त प्रयास किया गया। उसके समय के एरण के लेख (गुप्त संवत् १९१=५१० ई०) से ज्ञात होता है कि उनके साथ युद्ध करता हुआ भानुगुप्त का माण्डलिक गोपराज मारा गया था। कालान्तर में वे मिहिरकुल के काल में गुप्तों को और भी दबाने लगे। सुंग युन एवं कास्मस आदि लेखकों के अनुसार यह हूण-नरेश बड़ा ही उपद्रवी एवं आसुरी प्रवृत्ति का था। उसके निर्दयतापूर्ण व्यवहारों से जनता ऊबने लगी थी। कतिपय विद्वान् यहाँ तक मानते हैं कि गुप्तों को निर्बल बनाने में सबसे बड़ा हाथ हूणों का ही था। इन लोगों ने रोम-साम्राज्य की भाँति गुप्त-साम्राज्य को भी गहरा धक्का पहुँचाया था। परन्तु एकमात्र इस तथ्य को ही गुप्तों की शक्ति के ह्रास का सबल कारण मान लेना सर्वथा समीचीन नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य घटनाओं का भी गुप्तों की आन्तरिक शक्ति पर क्षतिकारक प्रभाव पड़ा था।

सामन्त-संघीय संघटन—गुप्तों के काल में सामन्तवादी प्रथा के होने के सम्बन्ध में सबसे सबल प्रमाण उनके अभिलेख ही हैं। प्रयाग की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के काल से ही सामन्त लोग वर्तमान थे। वे उसे सम्पूर्ण प्रकार के कर देते (सर्वकरदान), राजधानी में आकर उसे प्रणाम करते (प्रणामागमन) तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे (आज्ञाकरण)। चन्द्रगुप्त

---

१. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ६२९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वितीय-कालीन उदयगिरि के शैव लेख से ज्ञात होता है कि सनकानीक लोग पूर्वी मालवा में गुप्तों की अधीनता को स्वीकार करते थे। गुप्तकालीन सामन्त-वर्ग विशेषाधिकारों से युक्त वर्ग था। ये सामन्त अपने-अपने शासन-क्षेत्रों में परम्परागत आधार पर एक नरेश की ही भाँति राज्य करते थे। उन्हें सेना रखने का अधिकार प्राप्त था तथा निजी भू-भाग में वे कर आदि वसूल करते थे। इसके बदले में उन्हें गुप्त-सम्राट् को पूर्व-निर्धारित वार्षिक धन-राशि भेंट-स्वरूप देनी होती थी तथा युद्ध के अवसर पर सैनिक सहायता भी प्रदान करनी पड़ती थी।

गुप्तकालीन सुप्रसिद्ध सामन्तों में सबसे पहले मौखरि एवं उत्तर-गुप्त उल्लेखनीय हैं। नागार्जुनी एवं बराबर के लेखों के प्राप्ति-स्थान से लगता है कि सम्भवतः पहले मौखरि लोग बिहार प्रान्त के गया जिले में शासन करते थे। बाद में वे वहाँ से हट कर कान्यकुब्ज चले आए थे। वहाँ पर हरिवर्मा, आदित्य-वर्मा एवं ईश्वरवर्मा आदि ५०० ई० से लेकर ५५० ई० तक राज्य किये थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि जौनपुर एवं हरहा के लेखों में इन नरेशों के द्वारा किए गए जिन युद्धों के वर्णन हुए हैं, उनमें वास्तव में उन्होंने वस्तुतः गुप्तों के स्वामिभक्त सामन्तों के रूप में भाग लिया था। उक्त मौखिर-नरेश 'महाराज' एवं 'नृप' सदृश राजकीय उपाधियों को धारण करते थे। उत्तर-गुप्त वंश के लोग सम्भवतः मगध-क्षेत्र में गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे। कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त एवं जीवितगुप्त प्रथम आदि इस राजघराने के नरेशों ने लगभग ५५० ई० तक गुप्त-सामन्त की हैसियत से राज्य किया था। अफसढ़ के लेख के अनुसार कृष्णगुप्त एवं हर्षगुप्त ने 'नृप' एवं जीवितगुप्त प्रथम ने 'क्षितीश-चूड़ामणि' की उपाधि धारण की थी।

रींवाँ एवं जबलपुर (डभाल) वाले भागों में परिव्राजक-महाराज गुप्तों की अधीनस्थता में राज्य करते थे। वे 'नृप-परिव्राजक' सुशर्मा के वंशज थे, अतएव वे 'परिव्राजक-महाराज' के नाम से प्रख्यात हुए। इसी वंश में महाराज हस्तिन एवं संक्षोभ उत्पन्न हुए थे जिनके लगभग आधे दर्जन लेख प्राप्त हुए हैं। ये सभी लेख जो कि ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण हैं ४७५ ई० से लेकर ५२८ ई० के बीच के हैं। इनमें उन्होंने गुप्तों की अधीनस्थता का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है (गुप्तनृपराज्यभुक्तौ)। ऐरिकिण प्रदेश (आधुनिक सागर जिले) में मातृविष्णु गुप्त-नरेश बुधगुप्त का अधीनस्थ शासक था। बुन्देलखंड में अजयगढ़ एवं जासो में उच्चकल्प वंश के नरेश गुप्तों के सामन्त के रूप में राज्य कर रहे थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मालवा में वर्मन् वंश के लोग उनके अधीनस्थ शासक थे। मन्दसोर के शिला-लेख (मालव संवत् ४९३ एवं ५२९) में विश्ववर्मा एवं बन्धुवर्मा नामक नरेशों के नाम आते हैं। वे इसी वर्मन् राजवंश से सम्बन्धित थे एवं कुमार-गुप्त प्रथम के काल में मालवा-प्रदेश में गुप्तों की प्रभुता को स्वीकार करते थे। इस अभिलेख में इन दोनों नरेशों के लिए 'नृप' की उपाधि प्रयुक्त मिलती है एवं उनकी शक्ति एवं समृद्धि का वर्णन पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ हुआ है। उल्लेखनीय हो जाता है कि इसमें विश्ववर्मा को राजाओं में अग्रणी कहा गया है (ललामभूतो भुवि पार्थिवानाम्)। इस लेख के शब्दों में वह बृहस्पति के तुल्य बुद्धिमान्, अनाथों का नाथ, शरण में आये हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करने वाला, दीनों के लिए कल्पद्रुम, आतंकित प्राणी के निमित्त बन्धु के तुल्य, आर्त्त पर अनुकम्पा करने वाला एवं युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन के सदृश पराक्रमी था।[1] इस अभिलेख में उसे 'गोप्ता' (रक्षक) की उपाधि प्रदान की गई है।[2]

विश्ववर्मा का पुत्र बन्धुवर्मा था जिसका वर्णन उक्त प्रशस्ति में एक प्रभाव-शाली नरेश के रूप में हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार राजा होते हुए भी उसमें कोई गर्व नहीं था (राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः)। वह रणविद्या में अत्यन्त पटु, विविध गुणों से सम्पन्न होने पर भी विनय से अवनत, शृंगार की मूर्त्ति एवं बिना अलंकारों को धारण किए भी कामदेव के तुल्य था।[3] उसके प्रभावशाली शत्रुओं की आयत लोचनों वाली स्त्रियाँ जब उसके रूप का स्मरण करती थीं, उस समय वे भयाकुल हो जाती थीं एवं उनके स्तनों में कम्पन

---

१. "दीनानुकंपनपरः कृपणार्त्तवर्ग-
सन्धाप्रदोऽधिकदयालुरनाथ-नाथः।
कल्पद्रुमः प्रणयिनामभयं प्रदश्च
भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत्॥"

२. "रणेषु यः पार्थ-समानकर्म्मा
बभूव गोप्ता नृप विश्ववर्मा"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९३

३. "कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च
राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः।
शृंगारमूर्त्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि
रूपेण य कुसुमचाप इव द्वितीयः॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होने लगता था।[1] मन्दसोर की प्रशस्ति में जिस रूप में विश्ववर्मा एवं बन्धुवर्मा की शक्ति का वर्णन हुआ है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तकालीन सामन्त विशेष राजनीतिक अधिकारों से विभूषित थे। परिणामस्वरूप अनुकूल अवसर पाने पर अपने चक्रवर्ती सम्राट् के विरुद्ध वे उनका दुरुपयोग कर सकते थे।

मालवा के पश्चिम में गुजरात एवं काठियावाड़ में मैत्रक वंश गुप्तों की अधीनस्थता को स्वीकार करता था। इस राजवंश की नींव भटार्क ने डाली थी। उनकी राजधानी वलभी में स्थित थी, जो कि पश्चिमी भारतवर्ष का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र था। भटार्क के वंशज वहाँ पैतृक आधार पर राज्य करने लगे। वलभी के एक ताम्रलेख (गु० सं० २६९) के अनुसार इस नगर में मैत्रकों की शक्तिशालिनी सेना नियुक्त थी (विजयस्कन्धावाराद्भद्रपत्तन)। भटार्क एवं उसका पुत्र धरसेन केवल सेनापति की ही उपाधि धारण करते थे। परन्तु धरसेन के उत्तराधिकारी द्रोणसिंह के काल से इस वंश के नरेशों ने महाराज की उपाधि को धारण करना प्रारम्भ कर दिया। वलभी के उक्त ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि अखिल भुवन-मण्डल का उपभोग करने वाले उनके चक्रवर्त्ती सम्राट् ने (परमस्वामिना) स्वयं वलभी में आकर महाराज द्रोणसिंह को राज्याभिषिक्त किया था (स्वमुपहितराज्याभिषेको)। यहाँ पर संकेत उसके समकालीन गुप्त-नरेश की ओर है। महाराज द्रोणसिंह के भमोद्रा-मोहोता ताम्रलेख (गु० सं० १८३) के अनुसार वह गुप्तों की अधीनता को स्वीकार करता था (परमभट्टारक-पादानुध्यात)।

सामन्तवाद की प्रथा गुप्त-साम्राज्य के अस्तित्व के निमित्त कालान्तर में घातक सिद्ध हुई थी। स्कन्दगुप्त के समय तक उपर्युक्त माण्डलिक दबे रहे। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् जैसे-जैसे गुप्त-नरेशों की शक्ति क्षीण होती गई, वैसे-वैसे उनके सामन्त शासकों ने सैन्य बल का विस्तार एवं राजनीतिक अधिकारों का दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम वलभी के मैत्रक वंश ने अपना सम्बन्ध-विच्छेद घोषित कर दिया। द्रोणसिंह के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों

---

१. "वैधव्य-तीव्र-व्यसन-क्षतानां
स्त्रित्वा यमद्याप्यरि-सुन्दरीणाम्।
भयाद्भवत्यायत-लोचनानां
घनस्तनायास करः प्रकम्पः॥"

—सरकार, वही, पृष्ठ २९५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में गुप्तों की सम्प्रभुता की स्वीकृति का कोई भी उल्लेख नहीं प्राप्य है। उनके विरोधी कार्यवाहियों के फलस्वरूप सुराष्ट्र प्रान्त (गुजरात एवं काठियावाड़) उनके साम्राज्य से पृथक् हो गया। छठी शताब्दी के प्रथमार्द्ध में यशोधर्मन् ने मालवा में स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया था। मन्दसोर से उसके समय के दो लेख मिले हैं जिनमें उसकी महत्वाकांक्षाओं का वर्णन प्राप्य है।

छठी सदी के मध्य काल में मौखरियों ने ईशानवर्मा के नेतृत्व में कान्यकुब्ज में एक स्वतंत्र राजवंश की नींव डाली थी। इस राजवंश का वह प्रथम नरेश था जिसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। हरहा के लेख से ज्ञात होता है कि उसने क्रमशः कई शक्तियों को परास्त कर दिया था और अनेक समकालीन शासकों ने उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया (नतक्षितीशचरणः)। उसी समय मगध में कुमारगुप्त के नेतृत्व में उत्तर-गुप्त राजवंश स्वतंत्र हो गया था। अफसढ़ के लेख में उसकी शक्ति की उच्च प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह वीरों में अग्रगण्य (पुरःसरम्) तथा युद्ध-क्षेत्र में अपनी शक्ति के लिए विख्यात था (विख्यातशक्तिमाजिषु)।

बंगाल से गुप्तों का अन्तिम लेख ५४३ ई० का उपलब्ध हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि इस काल के उपरान्त बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति एवं वर्द्धमान भुक्ति) गुप्तों के राज्य से निकल गया। हरहा के लेख से निष्कर्ष निकलता है कि ५५४ ई० में बंगाल में गौड़ लोग बड़े शक्तिशाली हो गये थे। आदित्यसेन के अफसढ़ के लेख के पाँचवें एवं छठे श्लोक में इन्हीं गौड़ों की ओर संकेत है। इनके अनुसार वे समुद्रतट पर राज्य करते थे जो कदली वृक्षों के द्वारा घिरा था (कदलीकाण्डासु वेलासु)। वहाँ तमाल वृक्षों का एक अरण्य (तालीवन) वर्तमान था जहाँ पर मतवाले जंगली हाथियों का भय बना रहता था (भ्राम्यद्दन्ति)। गौड़ों का प्रथम उल्लेख पाणिनि के अष्टाध्यायी[1] एवं तदनन्तर कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] में हुआ है। छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में गुप्त वंश के विनाश से उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाने के निमित्त बंग-भूमि में उन्होंने भरपूर चेष्टा की थी। हर्षचरित के साक्ष्य से स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में गौड़ नरेश शशांक बड़ा ही उपद्रवी एवं भयानक सिद्ध हो रहा था। बड़े ही कूटनीतिक चाल के द्वारा राज्यवर्द्धन की हत्या कर उसने कन्नौज पर अधिकार जमा लिया था और उत्तरी भारत का वह एक चक्रवर्त्ती

---

१. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ६३२

२. वही, पृष्ठ ६३२

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

नरेश बनना चाहता था। वाक्पतिराज के गौडवहो[1] के अनुसार भी गौड़ बड़े शक्तिसंपन्न थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुप्त-वंश के सामन्तों की विरोधी कार्य-वाहियों के कारण उनके साम्राज्य में विघटन की सबल प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हो उठीं। सामन्तों को दी गई विशेष सुविधाएँ एवं छूट—मुख्यतया स्थायी सेना रखने एवं परम्परागत आधार पर राज्य करने का विशेषाधिकार—गुप्त-साम्राज्य के अस्तित्व के लिए घातक सिद्ध हुई थीं। यदि सामन्तवादी प्रथा को समाप्त कर सभी भुक्तियों एवं विषयों में उन्होंने सीधा नियन्त्रण स्थापित करने की सूक्ष्मदर्शिता दिखाई होती तो यह तथ्य उनके साम्राज्य के स्थायित्व के पक्ष में हुआ होता।

प्रान्तपतियों के विशेषाधिकार—गुप्त-वंशीय अभिलेखों के साक्ष्य से प्रमाणित हो जाता है कि राजकुमारों के अतिरिक्त विश्वस्त एवं सुयोग्य कर्मचारी भी प्रान्तपति के पद पर नियुक्त किए जाते थे। उनके साम्राज्य का पश्चिमी सीमान्त प्रान्त सुराष्ट्र (गुजरात एवं काठियावाड़) था। स्कन्दगुप्त-कालीन जूनागढ़ के लेख से स्पष्ट है कि पर्णदत्त नामक पदाधिकारी इस प्रान्त के राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया गया था।[2] पूर्वी सरहदी प्रान्त पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति (उत्तरी बंगाल) में चिरातदत्त नामक कर्मचारी राज्यपाल के रूप में शासन कर रहा था।[3] साम्राज्य के मध्यवर्ती भागों में स्थित प्रान्तों में भी कर्मचारियों की नियुक्ति प्रान्तपति के रूप में की गई थी। उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त-कालीन इन्दौर के लेख के अनुसार शर्व्वनाग नामक कर्मचारी अन्तर्वेदी (गंगा एवं यमुना के दोआबे) में शासन करता था।[4] इस अन्तर्वेदी में स्थित प्रान्त में हरिद्वार से लेकर प्रयाग तक का क्षेत्र सम्मिलित था। बुधगुप्त-कालीन एरण के लेख (गु० सं० १६४)

---

१. रामचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ६३२

२. "यः संनियुक्तोऽर्थनया कथंचित्
सम्यक्सुराष्ट्रावनि-पालनाय"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०२

३. "पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तादुपरिक चिरातदत्त"
—सरकार, वही, पृष्ठ २८४

४. "शर्व्वनागस्यान्तर्व्वेद्याम्"
सरकार, वही, पृष्ठ ३१०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. (HHFA)(USA)

के अनुसार सुरश्मिचन्द्र कालिन्दी (यमुना) एवं नर्मदा नदियों की अन्तर्वेदी (दोआबे) में शासन करता था।[1]

ये राज्यपाल उप-नरेश की भाँति अपने-अपने क्षेत्रों में ठाट-बाट के वातावरण में राज्य करते थे। उन्हें नृप, महाराज, उपरिक-महाराज आदि उपाधियों को धारण करने के अधिकार प्राप्त थे। अभिलेखों में इनमें से कुछ को सम्राट् का 'तत्पाद-परिगृहीत' कहा गया है। इससे व्यक्त होता है कि वे सम्राट् के विशेष कृपा-भाजन थे। उन्हें प्रान्तीय कर्मचारियों की नियुक्ति का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। जूनागढ़ के उक्त अभिलेख के अनुसार स्वयं पर्णदत्त ने ही अपने पुत्र चक्रपालित को सुराष्ट्रप्रान्त के अधिष्ठान (राजधानी) का नगराधीश नियुक्त किया था।[2] दामोदरपुर के लेखों (गु० सं० १२४ एवं १२८) के अनुसार पुण्ड्रवर्द्धन प्रान्त के राज्यपाल चिरातदत्त ने कोटिवर्ष नामक जिले का विषय-पति (जिलाधीश) वेत्रवर्मा नामक कर्मचारी को बनाया था। इन लेखों में प्रान्तीय कर्मचारियों को 'तन्नियुक्त' अर्थात् राज्यपाल के द्वारा नियुक्त किया गया हुआ कहा गया है। दामोदरपुर से दो अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं। प्रथम लेख गुप्त-संवत् १६३ का है जिसके अनुसार चिरातदत्त के उपरान्त ब्रह्मदत्त नामक कर्मचारी पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति का राज्यपाल नियुक्त किया गया था।[3] द्वितीय लेख के अनुसार (जो कि बुधगुप्त के काल का है और जिसमें किसी तिथि का उल्लेख नहीं है) ब्रह्मदत्त के पश्चात् जयदत्त उक्त प्रान्त का राज्यपाल बनाया गया।[4] इससे स्पष्ट है कि बंगाल में कोई दत्त-परिवार था जिसके सदस्य परम्परागत आधार

---

१. "कालिन्दी-नर्म्मदयोर्म्मध्यं पालयति लोकपाल-गुणैर्ज्जगति-महाराज-श्रियमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे च।"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३२४

२. "इत्येवमेतानधिकानतोऽन्या-
न्गुणान्परीक्ष्य स्वयमेव पित्रा।
यः संनियुक्तो नगरस्य रक्षां
विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक्॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०४

३. "पुण्ड्रवर्द्धनभुक्तावुपरिक-महाराज-ब्रह्मदत्ते संव्यवहरति"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३२४

४. "पुण्ड्रवर्द्धनभुक्तावुपरिक-महाराज-जयदत्त" —सरकार, वही, पृष्ठ ३२८

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

पर उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति) के राज्यपाल क्रमशः नियुक्त किए गए थे ।

दामोदरपुर के उपर्युक्त लेखों के अनुसार कोटिवर्ष विषय के जिलाधीश की सहायता के निमित्त चार महत्त्वपूर्ण सदस्य थे:—(१) नगर-श्रेष्ठि (जिले का सबसे प्रमुख सेठ), (२) सार्थवाह (व्यापारी-वर्ग का प्रतिनिधि), (३) प्रथम कुलिक (व्यावसायिक वर्ग का प्रतिनिधि) एवं (४) प्रथमकायस्थ, (प्रमुख लेखक) । दामोदरपुर के लेखों में नगर-श्रेष्ठि के निमित्त धृतिपाल एवं ऋभुपाल नाम तथा सार्थवाह के लिए बन्धुमित्र एवं वसुमित्र नाम प्रयुक्त मिलते हैं। इनके अतिरिक्त वरदत्त एवं मतिदत्त ने क्रमशः प्रथमकुलिक तथा साम्बपाल, विप्रपाल एवं स्कन्दपाल ने क्रमशः प्रथमकायस्थ के पद को सुशोभित किया था । उपर्युक्त नामों से स्पष्ट होता है कि बंगाल में पाल एवं मित्र आदि कुछ प्रमुख वंश या परिवार थे जिनके सदस्यों ने पैतृक आधार पर उक्त पदों पर कार्य किया था । केन्द्रीय शक्ति के दुर्बल होते ही इन राज्यपालों ने अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया । गुप्त-साम्राज्य से सर्वप्रथम सुराष्ट्र-प्रान्त ही पृथक् हुआ था । महत्त्वाकांक्षी प्रान्तपति वास्तविक सम्राट्-भक्त न होकर अवसरवादी एवं स्वार्थसेवी थे । इनकी विरोधी एवं ध्वंसात्मक कृतियों ने साम्राज्य के विघटन एवं ह्रास को अवश्यंभावी बना दिया था ।

आन्तरिक कलह—गुप्त-वंश में आन्तरिक कलह होने के प्रमाण प्रारम्भ से ही मिलने लगते हैं । उत्तराधिकार के कोई निश्चित् नियम नहीं थे । सम्राट् किसी भी राजकुमार को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर सकता था । इस बात को लेकर राजपुत्रों में मनोमालिन्य एवं विद्वेष की भावना बनी रहती थी । प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक से प्रमाणित होता है कि जिस समय समुद्रगुप्त युवराज घोषित किया गया, उस समय उसके भाई (तुल्यकुलज) उदास हो गये थे (म्लानाननोद्वीक्षितः) । इस प्रकार उनके मन में विद्रोह या बदला लेने की भावना ने जन्म ले लिया यद्यपि वह अपने गुण-ग्राही पिता के द्वारा सबसे सुयोग्य होने के कारण ही उत्तराधिकारी चुना गया था (तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा) । इस बात का हम पहले उल्लेख कर आए हैं कि समुद्रगुप्त के राज्याभिषेक के पश्चात् उसके भाइयों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। प्रयाग की प्रशस्ति के पाँचवें एवं छठें श्लोकों के अनुसार (जो कि खण्डित अवस्था में हैं) समुद्रगुप्त को अपने राज्यारोहण के ठीक उपरान्त अपने शत्रुओं का सामना करना पड़ा था । उसके ये शत्रु उसके घरेलू विरोधी (भाई आदि) ज्ञात होते हैं, जो कि उसके उत्तराधिकार के विपक्ष में थे । प्रयाग के स्तम्भ-लेख के उपर्युक्त श्लोकों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

उसने अपने कुछ भाइयों को अपने बाहु-बल से दबा दिया था (स्वभुजबलविजिता:) तथा कुछ को स्नेह-द्वारा जीत लिया था (स्नेहेन)। उसके कुछ भाइयों ने अपने कुकृत्य पर खेद (पश्चात्ताप) भी प्रकट किया था।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख से भी संकेत मिलता है कि गुप्त-कुल में उत्तराधिकार-संबंधी कोई निश्चित् नियम नहीं थे। इस अभिलेख में राजलक्ष्मी अनेक राजकुमारों के बीच स्कन्दगुप्त का वरण करती हुई प्रदर्शित की गई है (लक्ष्मी स्वयं यं वरयाञ्चकार)। लगता है कि यहाँ पर लक्ष्मी के रूप में स्वयं कुमारगुप्त ही अपने अनेक पुत्रों के बीच स्कन्दगुप्त का वरण करते हुए अर्थात् उसे उत्तराधिकारी मनोनीत करते हुए प्रदर्शित किए गए हैं। रमेशचन्द्र मजूमदार आदि कतिपय विद्वानों के अनुसार कुमारगुप्त की मृत्यु के ठीक पश्चात् स्कन्दगुप्त को जो युद्ध लड़ना पड़ा था वह उसका उत्तराधिकार-संबंधी गृह-युद्ध ही रहा होगा। भितरी के लेख में उसके विजय की समता कृष्ण की जीत से की गई है। कृष्ण के शत्रु उनके सगे-संबन्धी (मामा) कंस थे। अतएव स्कन्दगुप्त के भी शत्रु उसके घरेलू प्रतिद्वन्द्वी रहे होंगे। जूनागढ़ के लेख में लक्ष्मी के द्वारा अनेक राजकुमारों के तिरस्कार का उल्लेख मिलता है (व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्)। कतिपय विद्वानों के अनुसार यहाँ पर स्कन्दगुप्त के द्वारा अपने भाइयों को राज्य-च्युत करने की ओर संकेत किया गया है। बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् से गुप्त-कुल में आन्तरिक झगड़ों के होने की अधिक सम्भावनाएँ मिलने लगती हैं। ऐसी आपत्ति-वेला में जब कि हूणों के आक्रमण एवं सामन्तों के विद्रोह के कारण गुप्त-साम्राज्य पहले से ही क्षीण होने लगा था, गुप्त-वंशीय राजकुमारों ने पारस्परिक संगठन एवं एकता की दूरदर्शिता न दिखा कर आन्तरिक झगड़े और कलह का वातावरण उत्पन्न कर दिया, जो कि इस साम्राज्य के अस्तित्व के लिए और भी घातक सिद्ध हुआ।

बौद्धधर्म का आलिंगन—स्कन्दगुप्त के काल तक के गुप्त-नरेश साम्राज्य-वादी नीति के समर्थक थे तथा पुरातन वैदिक धर्म एवं कर्मकाण्डों के उन्नायक थे। उनके राजनय के अनुसार हिंसा एवं रक्तपात एकराट् होने के हेतु आवश्यक था। समुद्रगुप्त 'सर्वराजोच्छेता' एवं 'धरणिबन्ध' के आदर्शों का पोषक था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य 'कृत्स्नपृथ्वीजय' एवं स्कन्दगुप्त 'समग्र-अवनिविजय' के लक्ष्य का उत्कट समर्थक था। उन्होंने सैनिक पदों पर बहुधा शैवों को नियुक्त किया था। करमदाण्डा के अभिलेख के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम का सेनापति (महाबला-ध्यक्ष) पृथिवीषेण शिव (भगवतो महादेवस्य) का पुजारी था।[1] उसके पूर्व

१. उतने शिवलिंग (पृथिवीश्वर) की स्थापना कराई थी। इस शिवलिंग की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शैव वीरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का परराष्ट्रमन्त्री (सान्धिविग्रहिक सचिव) था। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में से कुछ ने बौद्ध धर्म का अवलम्बन कर लिया था; उदाहरणार्थ बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य एवं व्रज। पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त के लिए भितरी के राजमुद्रा-लेख में 'परमभागवत' की उपाधि नहीं आती। बौद्ध धर्म के अवलम्बन के कारण इन लोगों ने अहिंसा-नीति का अवलम्बन कर लिया होगा जिसका क्षतिकारक प्रभाव उनकी सैनिक शक्ति के ऊपर पड़ा होगा। यह तथ्य हमें अशोक तथा उसके उत्तराधिकारियों एवं हर्ष के द्वारा बौद्ध मतावलम्बन का स्मरण दिलाता है जिसके परिणामस्वरूप क्रमशः मौर्य एवं वर्द्धन-साम्राज्य का सैन्य-संगठन क्षीण हुआ था। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों द्वारा बौद्ध मतावलम्बन के कुपरिणाम के विषय में एक ज्वलन्त प्रमाण हुएनसांग के यात्राविवरण में प्राप्य है। इस चीनी यात्री के अनुसार जिस समय बालादित्य के ऊपर मिहिरकुल ने आक्रमण किया, उस समय उसने उसका सामना करने में अनिच्छा प्रगट की थी। तथापि उसके पराक्रमी सैनिक इस आततायी हूण नरेश को पराजित कर उसे बन्दी बनाने में सफल हो सके थे। कालान्तर में वह बालादित्य की माता की आज्ञा के अनुसार मुक्त कर दिया गया था। इसका फल यह हुआ कि मिहिरकुल को अपनी शक्ति के संचय का पुनः अवसर उपलब्ध हो गया था। उसने एक क्रूर एवं भयावह शासन को जन्म दिया, जिससे तत्कालीन जनता ऊब चुकी थी। मिहिरकुल के साथ उपर्युक्त उदारता राजनीतिक दृष्टि से भयंकर भूल थी। हुएनसांग के वर्णन से स्पष्ट है कि बौद्ध मतावलम्बी गुप्त-नरेशों की दयालुता एवं उदारता के प्रति तो लोगों को श्रद्धा थी, परन्तु उनके शौर्य एवं पराक्रम के लिये नहीं। उनकी राजनीतिक भूलों एवं शिथिल नीतियों का लाभ वर्द्धनों, मौखरियों, उत्तर गुप्तों एवं गौड़ों ने भी उठाया था। नियन्त्रण एवं भय को हटा देने के ही कारण इन राजवंशों के नरेशों की महत्वाकांक्षा आशातीत बढ़ गई थी।

शासन-व्यवस्था के दोष—गुप्तों की शासन-व्यवस्था के सुदृढ़ होने पर भी इसमें कतिपय दोष आ गए थे, जिनके फलस्वरूप उनके साम्राज्य के ऊपर क्षतिकारक प्रभाव पहुँचा। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि राज्यपालों एवं विषयपतियों के अधिकार अत्यधिक थे। गुप्तवंशीय अभिलेखों के अनुसार प्रान्तपति 'नृप' और 'उपरिक महाराज' जैसी उच्च राजकीय उपाधियों को धारण कर सकते थे।

पहचान करमदाण्डा के शिवलिंग से की जा सकती है जिस पर उक्त लेख उत्कीर्ण है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजनीतिक सुविधाओं एवं अधिकारों के उपभोग ने उन्हें स्वतंत्र एवं विद्रोही बनाने में योग दिया था। उनमें महत्वाकांक्षा एवं कुचक्री भावनाएँ पहले से ही विद्यमान रहती थीं। अनुकूल अवसर पाते ही वे सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठा लेते थे। उच्च पदाधिकारियों का पद आनुवंशिक था। उदयगिरि के गुहालेख के अनुसार गुप्तों के समय में मन्त्री का पद 'अन्वयप्राप्त' अर्थात् परंपरागत था।[1] इसका फल यह होता था कि कभी-कभी अयोग्य व्यक्ति शासन में प्रवेश पा जाते थे। इनके कारण राज्य में भ्रष्टाचार फैलता था। मृच्छकटिक में ऐसे ही पदाधिकारियों को राजा के शासन को दूषित करने वाला कहा गया है। ये लोग अपने गलत व्यवहारों के द्वारा सम्राट् के ऊपर कलंक लाते थे।[2]

गुप्तों के काल में अग्रहार-दान की प्रथा प्रचलित थी। इस कोटि के दान से संबंधित ताम्रलेख सबसे अधिक संख्या में गुप्तों के ही प्राप्त हुए हैं। दान के नियमों एवं धार्मिक मान्यताओं के अनुसार दानग्राही एवं उसके वंशज भूमि का भोग अनन्त काल तक कर सकते थे। दान देने वाला सम्राट् अथवा उसका कोई भी उत्तराधिकारी उसे छीन नहीं सकता था। गुप्तों के समस्त दानपत्रों में महाभारत से ऐसे श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनमें अग्रहार-दान का माहात्म्य वर्णित है।[3]

---

१. "अन्वय-प्राप्त-सान्धिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः"

—सरकार, वही, पृष्ठ २७२

२. "ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यते च हतानि च॥"

—मृच्छकटिक, अंक ९, श्लोक ४१

३. "स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते॥
बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति॥"

—गुप्तसंवत् २२४ के दामोदरपुर के ताम्रलेख में उद्धृत,
द्रष्टव्यः—सरकार, वही, पृष्ठ ३४०

"पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर"
महीं महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनमिति"

—गुप्त संवत् १२८ के वैग्राम के ताम्रलेख में उद्धृत,
सरकार, वही, पृष्ठ ३४५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दानग्राही को दान की भूमि में समस्त राजकीय अधिकार उपलब्ध हो जाते थे। स्थानीय निवासी समस्त निश्चित एवं सामयिक कर अब राज्य के स्थान पर दानग्राही को देने लगते थे । सूक्ष्मदर्शिता एवं राजनीतिक दृष्टि से इस प्रकार की सुविधाओं एवं छूट का देना दोषपूर्ण था। प्राचीन भारतीय अग्रहार प्रथा, मध्यकालीन जागीरदारी प्रथा का स्मरण दिलाती है, जिसका परिणाम खिलजी एवं तुगलक राजवंशों की आन्तरिक शक्ति के लिए अन्ततोगत्वा घातक सिद्ध हुआ था ।

यशोधर्मन् 'जनेन्द्र' का अभ्युदय—गुप्त-साम्राज्य के अधःपतन में एक बहुत बड़ा योग यशोधर्मन् के अभ्युदय का भी रहा होगा। इसके विषय में विशद सूचना मन्दसोर के स्तंभलेख से मिलती है। इसका नामोल्लेख एक दूसरे अभिलेख (मंदसोर के शिलालेख, विक्रम संवत् ५८९ = ५३२ ई०) में भी हुआ है जिसमें उसकी उपाधि 'जनेन्द्र' आती है।[1] इसके अनुसार जिन प्रदेशों के ऊपर गुप्त नरेशों ने भी अपने प्रताप से शासन नहीं किया था, उन पर इसने अपना आधिपत्य स्थापित किया।[2] राजाओं के मुकुट पर विलास करने वाली हूण-नरेश (हूणाधिप) की राजाज्ञा भी ऐसे क्षेत्रों में प्रवेश पाने में असमर्थ सिद्ध हुई थी।[3] पूर्वी सागर से लेकर लौहित्य नदी के उपकण्ठ तक तथा पश्चिमी समुद्र से लेकर हिमालय पर्वत तक इसने विजय-यात्रा की थी।[4] हूण सम्राट् मिहिरकुल ने बहुमूल्य उपहारों के साथ इसके दोनों पैरों की वंदना की थी।[5] इस लेख के अनुसार मिहिरकुल हिमगिरि (हिमालय-काश्मीर और उसके आस-पास के क्षेत्र) का शासक था।[6] यशोधर्मन्

---

१. "अथ जयति जनेन्द्रः श्रीयशोधर्म्म-नामा"

—सरकार, वही , पृष्ठ ३८७

२. "ये भुक्ता गुप्त-नाथैर्न्न-सकल-वसुधाक्रान्ति-दृष्ट-प्रतापैः

—सरकार, वही, पृष्ठ ३९४

३. "नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपति-मुकुटद्वयासिनी यान्प्रविष्टा"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३९४

४. "आ लौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादा महेन्द्रा-
दा गंगाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणपश्चिमादापयोधेः"—वही, पृ० ३९४

५. "चूडा-पुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम् "

—सरकार, वही, पृष्ठ ३९५

६. "यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्ग-शब्दाभिमानम्"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३९४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शिव का उपासक था।[1] लगता है कि उसका उत्कर्ष बड़ा ही आकस्मिक था। मन्दसोर के स्तम्भ-लेख के अनुसार उसने अपने परिवार की सीमाओं का अतिक्रमण किया था (स्वगृह-परिसरावज्ञया यो मुनक्ति)। इससे लगता है कि वह सामन्तकुल में उत्पन्न हुआ था। गुप्तों की गिरती हुई शक्ति का लाभ उसने भली भाँति उठाया था।

काशी प्रसाद जायसवाल का अनुमान है कि यशोधर्मन् थानेश्वर के वर्द्धन-वंशी नरेशों का कोई पूर्वज था। मन्दसोर के स्तम्भ-लेख के अनुसार वह शिव (स्थाणु) का परम भक्त था और उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता के समक्ष उसने अपने उत्तमांग (सिर) को नहीं नमाया था (स्थाणोरन्यत्र्च येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमांगम्)। वर्द्धन-वंशी नरेशों की राजधानी स्थाणीश्वर (थानेश्वर) में वर्तमान थी और वे शिव (स्थाणु) के उपासक थे एवं अपने नाम के अन्त में वर्द्धन शब्द जोड़ते थे। डॉ० जायसवाल के उपर्युक्त मत से सहमत होना कठिन है। बंसखेड़ा एवं मधुबन के अभिलेखों में वर्द्धन नरेशों की वंश-तालिका मिलती है। इसमें यशोधर्मन् अथवा विष्णुवर्द्धन नाम अप्राप्य है। लगता है कि उसका जन्म किसी सामन्त-कुल में हुआ था। मन्दसोर के स्तम्भ-लेख के अनुसार उसने अपने परिवार की सीमाओं का उल्लंघन किया था (स्वगृह-परिसरावज्ञया यो मुनक्ति)। यहाँ पर उसके पूर्वजों के सामन्त-वंशी होने की ओर संकेत है। संभव है कि यह सामन्त-कुल सम्राट् गुप्त-वंश की अधीनता स्वीकार करता हो। मन्दसोर के स्तम्भ-लेख में यशोधर्मन् ने गुप्तवंशी नरेशों को 'गुप्त-नाथ' कहा है। यह उल्लेख उपर्युक्त तथ्य की ओर संकेत करता है। मन्दसोर के शिला-लेख (५३२ ई०) में उसने अपने वंश को औलिकर वंश (प्रख्यात औलिकर-लाञ्छन आत्मवंशों) कहा है। यहाँ पर उल्लेखनीय हो जाता है कि बिहार कोट्रा-लेख के अनुसार नरवर्मा 'औलिकर-वंश' में उत्पन्न हुआ था। वह विश्ववर्मा का पिता एवं बन्धुवर्मा का पितामह था। इन दोनों का नामोल्लेख एवं उनकी कृतियों का निरूपण ४७२ ई० वाले मन्दसोर के लेख में हुआ है। वे मालवा में गुप्तों की अधीनस्थता में राज्य करते थे। अतएव बहुत संभव है कि यशोधर्मन् का संबन्ध मालवा के इसी वर्मन् वंश से रहा हो, जो कि गुप्तों का सामन्त-कुल था।

मंदसोर के शिलालेख में यशोधर्मन् और विष्णुवर्द्धन दो नाम मिलते हैं। इसमें यशोधर्मन् को जनेन्द्र तथा शत्रुसेना को छिन्न-भिन्न करने वाला कहा गया है।[2]

---

१. सरकार, वही, पृष्ठ, ३९४

२. "प्रमद-वनमिवान्तः शत्रु-सैन्यं विगाह्य"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३८७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विष्णुवर्द्धन के लिये इसमें नराधिपति, राजाधिराज और परमेश्वर की उपाधियाँ आती हैं। उसने पूर्व और उत्तर के बहुत से नरेशों को परास्त किया था।[1] इसने अपने बाहुबल के द्वारा पृथ्वी को जीता था।[2] एलन[3] तथा फ्लीट[4] ने यशोवर्मन् और विष्णुवर्द्धन को दो विभिन्न व्यक्ति माना है। इन विद्वानों के अनुसार विष्णुवर्द्धन यशोवर्मन् का सामंत था। परन्तु यह मत स्वीकार कर लेना ठीक न होगा क्योंकि इसी अभिलेख में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि विष्णुवर्द्धन यशोवर्मन् का ही नाम था।[5] सबसे पहले हॉर्नले ने दोनों की एकता की ओर इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित किया था।[6] तदुपरान्त डॉ० जायसवाल[7] और डॉ० सरकार[8] ने दोनों को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने के निमित्त निम्नलिखित तर्कों को प्रस्तुत किया—(१) दोनों की उपाधियाँ एक सी हैं, यशोधर्मा–'जनेन्द्र' तथा विष्णुवर्द्धन—'नराधिपति'। (२) मन्दसोर के स्तंभ-लेख में यशोधर्मन् के विषय में जिन कृतियों का निरूपण किया गया है, वे इस स्थान के शिलालेख में वर्णित विष्णुवर्द्धन की कृतियों से मेल खाती हैं। (३) एक ही लेख में यशोवर्मन् और विष्णुवर्द्धन का नामोल्लेख और उनकी प्रशंसा की गई है, अतएव वे विभिन्न नहीं हो सकते। (४) दोनों एक ही काल में एक ही क्षेत्र के स्वामी नहीं हो सकते थे। इससे दोनों की एकता प्रमाणित होती है। (५) दोनों ही नामों के साथ सार्वभौम उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं। यशोवर्मा को जनेन्द्र एवं सम्राट् कहा गया है तथा विष्णुवर्द्धन को नराधिपति, राजाधिराज एवं परमेश्वर कहा गया है। इससे भी दोनों का तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

---

१. "प्राचो नृपान्सुबृहतश्च बहूनुदीचः
साम्ना युधा च वशगान्प्रविधाय येन।"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३८८

२. "भुज-विजित-भुवा भूरयो येन देशाः"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३८८

३. ज० रॉ० ए० सो०, १९०९, ८९-९३

४. सिनहा, डि० किं० म०, पृष्ठ ११८

५. वही, पृष्ठ ११८

६. "श्रीविष्णुवर्द्धन-नराधिपतिः स एव"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३८८

७. इं० ऐ०, ४६, पृष्ठ १४५

८. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३८६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मन्दसोर के स्तंभलेख में यशोधर्मन् के सामंतों की संख्या बहुत अधिक बताई गई है।[1] अब हमारे समक्ष प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त दोनों लेखों में यशोधर्मन् की शक्ति एवं प्रभाव का वर्णन कहाँ तक सत्य माना जाय। मन्दसोर की दोनों प्रशस्तियों के विचारवान एवं सतर्क पाठकों के मन में स्वाभाविक शंका उत्पन्न होती है कि इनके वर्णन में चढ़ाव-बढ़ाव एवं अतिशयोक्ति की मात्राएँ अवश्य हैं। तथापि इन अभिलेखों से संकेत मिलता है कि वह कोई महत्त्वपूर्ण विजेता था। उसकी लौहित्य की विजय-यात्रा से तात्पर्य उसके द्वारा उत्तर-पूर्व भारत में किए गए किसी सैनिक अभियान से लगता है। यह विजय-यात्रा मगध में गुप्तों के विरुद्ध भी हुई होगी। इसी अभियान में उसने किसी प्रसिद्ध युद्ध में अपने समकालीन नरेश कुमारगुप्त तृतीय को परास्त कर दिया होगा। यह युद्ध अनुमानतः ५३२ ई० के लगभग हुआ होगा। मन्दसोर के शिला-लेख की तिथि यही है। हेमचन्द्र रायचौधरी का तो यहाँ तक कहना है कि गुप्त-साम्राज्य के अधःपतन का तात्कालिक कारण यशोधर्मन् का पूर्वी भारत का सैन्य अभियान ही था।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लगभग तीन सौ वर्षों तक शासन करने वाले गुप्त-वंश के अधःपतन का वृत्तान्त भारतीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। क्रमानुसार घटित होने वाले इस तथ्य के कई मूलभूत कारण एवं अबाध्य परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बाह्य आक्रमण एवं साम्राज्य-संगठन के सामन्त-संघीय स्वरूप के अतिरिक्त इस राजवंश के आन्तरिक झगड़ों एवं वैमनस्य, राजनीतिक भूलों, उत्तर काल में युद्ध-नीति से यथासंभव परांगमुखता, राजपुरुषों का अधिकार-बाहुल्य एवं ईशानवर्मा तथा यशोधर्मन् सदृश नव संगठनकर्त्ताओं की असाधारण प्रतिभा आदि ऐतिहासिक घटनाओं के परिणामस्वरूप गुप्त-साम्राज्य का ह्रास एवं पतन अवश्यम्भावी हो गया था।

---

१. "सामन्तैर्यस्य बाहु-द्रविण-हृत-मदैः पादयोरानमद्भिः"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३९४

२. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५९७.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१४

समाज एवं संस्कृति

"नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥
यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणांकुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥"

"ये नरेश बड़ी विधि से यज्ञ करते हैं और प्रशंसनीय वंश में उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार ऋषियों के शान्त आश्रय में सब जीव वैर का परित्याग कर एक स्थान पर रहते हैं उसी प्रकार विद्वत्ता और मौन रहना ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें एक साथ रहते हैं। चन्द्रमा की चाँदनी के समान आँखों को सुख देने वाला प्रकाश तो घर में रहता है परन्तु सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओं के उन राजभवनों पर दृष्टिगोचर होता है जिनके उजड़ जाने पर उनमें तृणाङ्कुर उग आए हैं।"

—रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ४६–४७

महत्ता—गुप्त-नरेशों के काल में भारतवर्ष सामाजिक एवं भौतिक उन्नति की अभूतपूर्व पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। इस समय भारतवर्ष में एकछत्र शासन का प्रादुर्भाव हुआ। समुद्रगुप्त देश को एकबद्ध करने की भावना (धरणिबन्ध) से प्रेरित था। इस काल में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना हुई, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास संभव हो सका था।

शासन-व्यवस्था—गुप्तों की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा करता हुआ चीनी यात्री फाहियान लिखता है कि भारतवर्ष के लोग समृद्ध एवं संपन्न थे। उन्हें किसी तरह की लिखा-पढ़ी नहीं करनी पड़ती थी। वे न्यायालयों के बन्धन से मुक्त थे। जो राजकीय भूमि को जोतते थे, उन्हें इसकी उपज का अल्प भाग कर के रूप में देना पड़ता था। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त थी। अतएव राज्य उनके व्यक्तिगत मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। कठोर दण्ड या फाँसी की सजा नहीं दी जाती थी। लोग अपराध के अनुसार हल्का या कड़ा दण्ड पाते थे। राजद्रोह या सम्राट के जीवन के विरुद्ध षड्यंत्र करने पर उनका केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था। राजा के अंगरक्षक या परिचारक तथा अन्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कर्मचारी अच्छा वेतन पाते थे और इस कारण सन्तुष्ट थे।[1] जूनागढ़ के लेख में गुप्तों की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उस समय कोई दुःखी, दरिद्र, व्यसनी, कठिन दण्ड से पीड़ित अथवा राजकीय नियन्त्रणों से कष्ट-युक्त नहीं था।[2] कालिदास ने अपने आदर्श नरेश के शासन-प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उसके शासन-काल में उपवनों में मद पीकर सोती हुई पुर-सुन्दरियों के वस्त्र को वायु तक नहीं छू सकता था। भला उनके आभूषणों के चुराने का साहस किसमें संभाव्य था।[3] कालिदास गुप्तकालीन थे, अतएव यह गुप्तों के ही शासन की प्रशंसा हो सकती है। फाहियान भी लिखता है कि गुप्तों के राज्य-काल में कहीं भी चोरी और डकैती का कोई भय नहीं था। उसने भारतवर्ष में कठिन मार्गों से भी यात्रा की थी, पर उसे किसी भी चोर अथवा डाकू से भेंट न हुई थी।[4]

सम्राट्—राजा न्याय, सेना तथा दीवानी विभाग का अध्यक्ष था। प्रधान सेनापति के रूप में सैनिक अभियान में उसे सेना का नेतृत्व करना पड़ता था। महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ वह स्वयं करता था। लोग सम्राट् को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को देव कहा गया है (लोक-धाम्नो देवस्य)। इस लेख के अनुसार वह मनुष्य वहीं तक था, जहाँ तक कि वह लौकिक-क्रियाओं का अनुष्ठान करता था (लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र मानुष्यस्य)। अन्यथा वह अन्य बातों में देवता-तुल्य था। प्रयाग की प्रशस्ति में उसे 'अचिन्त्यपुरुष' (भगवान् विष्णु के तुल्य) कहा गया है तथा उसकी तुलना कुवेर, वरुण, इन्द्र तथा यमराज आदि से की गई है (धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य)। वह 'परमदैवत' उपाधि धारण करता था। यह उपाधि उसकी दैवी उत्पत्ति की ओर संकेत करती है। उसकी कतिपय अन्य उपाधियाँ भी थीं; उदाहरणार्थ महाराजाधिराज, एकाधिराज, परमेश्वर तथा चक्रवर्तिन्। साम्राज्य के विभिन्न भागों

---

१. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १०४

२. "तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चिद्धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु।
आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात्॥"
—जूनागढ़ का लेख, छठा श्लोक

३. "यस्मिन्नृपे शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्थ पथे गतानाम्।
वातोऽपि नासंश्रयदंशुकानि को लम्बयेदाभरणाय हस्तम्॥"
—रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ७५

४. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ १०४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की यथातथ्य सूचना पाने के हेतु सम्राट् दौड़ा करता था। यह परपरा मौर्यों के ही काल से चली आ रही थी।

अमात्य—सम्राट् शासन के कार्यों में मंत्रिमंडल की सहायता लेता था। इसके सदस्यों को अमात्य, सचिव अथवा मन्त्री कहा जाता था। गुप्तकालीन अभिलेखों में मंत्रिमंडल के निम्न सदस्यों के नाम मिलते हैं :—

(१) **हरिषेण**—यह समुद्रगुप्त का सान्धिविग्रहिक मन्त्री था। इसके नाम का उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति में मिलता है। इसके अतिरिक्त वह कुमारामात्य तथा महादण्डनायक भी था।

(२) **शाव**—यह चन्द्रगुप्त द्वितीय का सान्धिविग्रहिक मन्त्री था। इसके नाम का उल्लेख उदयगिरि के गुहालेख में मिलता है। इस सम्राट् के शक-युद्ध में वह सम्मिलित हुआ था। उसका कुल-नाम वीरसेन था (वीरसेनः कुलाख्याया)।

(३) **शिखरस्वामी**—उसके नाम का उल्लेख करमदाण्डा के अभिलेख में हुआ है। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री तथा कुमारामात्य था (महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यभूत)।

(४) **पृथिवीषेण**—करमदाण्डा के ही लेख में इसके नाम का भी उल्लेख मिलता है। वह कुमारगुप्त का मन्त्री तथा कुमारामात्य था। उदयगिरि के गुहालेख से ज्ञात होता है कि सचिव का पद परंपरागत था (अन्वयप्राप्तसाचिव्यः)। हरिषेण ध्रुवभूति का पुत्र था, जो उसके पहले महादण्डनायक तथा अमात्य रह चुका था। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि परिव्राजकों तथा उच्चकल्पों में भी यह परंपरा प्रचलित थी। ४८२ ई० में परिव्राजकों के काल में सूर्यदत्त परराष्ट्र मंत्री था। इसके २८ वर्ष उपरान्त उसका पुत्र विभुदत्त मंत्री नियुक्त किया गया। उच्चकल्पों के शासन-काल में ४९६ ई० में गल्लु परराष्ट्र मंत्री था। इसके उपरान्त ५१२ ई० में उसका छोटा भाई मनोरथ मन्त्री नियुक्त हुआ था। पृथिवीषेण अमात्य शिखरस्वामी का पुत्र था। उपर्युक्त उदाहरणों से लगता है कि बहुधा सेनानायक (महादण्डनायक) ही सम्राट् का परराष्ट्र मंत्री (सान्धिविग्रहिक) हुआ करता था। मंत्री की नियुक्ति में योग्यता को प्रधानता दी जाती थी। उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सान्धिविग्रहिक अमात्य वीरसेन एक निपुण कवि तथा व्याकरण, न्याय एवं राजनीति का पंडित था (शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलीपुत्रकः—उदयगिरि का गुहालेख)। समुद्रगुप्त का मंत्री हरिषेण एक निपुण कवि एवं गद्यकार था। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार सम्राट् विद्वान् एवं पवित्र आचरण वाले व्यक्तियों को अपना मन्त्री बनाता था (सः मंत्रिणः प्रकुर्वीत् प्राज्ञान्मौलानस्थिरान् शुचीन्)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

केन्द्रीय कर्मचारी—डॉ० अल्तेकर ने अभिलेखों के आधार पर कतिपय केन्द्रीय कर्मचारियों की एक तालिका प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है:—

(१) **सर्वाध्यक्ष**—वह एक प्रमुख अधिकारी था, जिसे सभी केन्द्रीय विभागों का सामान्य पर्यवेक्षण करना पड़ता था।

(२) **प्रतीहार अथवा महाप्रतीहार**—वे सम्राट् से मिलने के लिये लोगों को आज्ञापत्र दिया करते थे।

(३) **कुमारामात्य**—पहले लोगों का विचार था कि कुमारामात्य राजकीय परिवार का कोई सदस्य होता था। वह या तो सम्राट् का प्रतिनिधि (वाइसराय) अथवा युवराज हुआ करता था। पर यह मत ठीक नहीं लगता। गुप्त-अभिलेखो में कर्मचारियों को भी कुमारामात्य कहा गया है। सेनानायक हरिषेण तथा पृथिवीषेण कुमारामात्य थे। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि कुमारामात्य आधुनिक 'आई० ए० यस०' की भाँति पदाधिकारियों का एक वर्ग था। ऐसे कर्मचारी उच्च से उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे।

सैनिक शासन—सैनिक विभाग कन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग होता था। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सम्राट् ही सेना का अध्यक्ष होता था। यदि सम्राट् अधिक वृद्ध होता था, तो सेना की अध्यक्षता का कार्य युवराज करता था। राजा के नीचे प्रधान सेनापति हुआ करता था, जिसे महासेनापति अथवा महादण्डनायक कहा जाता था। लगता है कि प्रधान सेनापति के नीचे कई उपसेनापति भी होते थे। सेना कई शाखाओं में विभाजित थी; उदाहरणार्थ गज-सेना तथा अश्वसेना। गज-सेना के प्रधान अध्यक्ष को महापीलुपति कहा जाता था। इसके नीचे कई उपाध्यक्ष होते थे, जिन्हें पीलुपति कहते थे। अश्वसेना के अध्यक्ष को महाश्वपति कहा जाता था। इसके नीचे कई उपाध्यक्ष होते थे, जिन्हें अश्वपति कहते थे। सैनिकों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले शस्त्रों के नाम का उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति में मिलता है; उदाहरणार्थ फरसा (परशु), बाण (शर), शंकु, शक्ति, प्रासासि, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच तथा वैतस्तिक।

पुलिस-शासन—पुलिस-शासन गुप्तों के समय में अधिक सुदृढ़ था। पुलिस विभाग के बड़े कर्मचारी को 'दण्डपाशिक' कहते थे। इसका उल्लेख बसाढ़ की मुद्रा में मिलता है। डॉक्टर अल्तेकर का कथन है कि यह कर्मचारी आधुनिक जिला-पुलिस-सुपरिन्टेन्डेंट की समकक्षता में आता था। पुलिस-विभाग के साधारण कर्मचारियों को 'चाट' तथा 'भाट' कहा जाता था। अभिज्ञानशकुन्तलम् तथा मृच्छकटिक में पहरेदार को 'रक्षिन्' कहा गया है। फाहियान लिखता है कि उस समय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चोरी का कोई भी भय नहीं था। इससे लगता है कि इस समय पुलिस-शासन पर्याप्त कठोर था।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के निमित्त साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में किया जाता था। प्रान्त को देश अथवा भुक्ति कहा जाता था। इस समय के प्रान्तों में सौराष्ट्र, पश्चिमी मालवा (अवन्ति), पूर्वी मालवा (एरण), तीरभुक्ति (उत्तरी बिहार), पुण्ड्रवर्द्धन (उत्तरी बंगाल), वर्द्धमान (पश्चिमी बंगाल) तथा मगध उल्लेखनीय हैं। प्रान्तों का क्षेत्रफल आधुनिक कमिश्नरियों के बराबर होता था। तीरभुक्ति में आधुनिक मुज़फ्फ़रपुर तथा दरभंगा के जिले आते थे। पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्ति में आधुनिक दिनाजपुर, बोगरा एवं राजशाही जिले सम्मिलित थे। मगध प्रान्त में गया, राजगृह तथा पाटलिपुत्र आदि आते थे। राज्यपाल को 'उपरिक' अथवा 'उपरिकमहाराज' कहा जाता था। सीमा-प्रान्तों के राज्यपाल के लिये 'गोप्ता' शब्द अभिलेखों में आता है। इस पद पर प्रायः राजकुमार अथवा बहुत सुयोग्य कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। राज्यपाल की नियुक्ति स्वयं सम्राट् के द्वारा की जाती थी। अभिलेखों में कुछ राज्यपालों के नाम इस प्रकार आते हैं—

(१) **गोविन्दगुप्त**—वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का कनिष्ठ पुत्र था। उसके समय में वह तीरभुक्ति प्रान्त का राज्यपाल था। कुमारगुप्त के काल में वह पश्चिमी मालवा का राज्यपाल था।

(२) **घटोत्कचगुप्त**—वह कुमारगुप्त का पुत्र तथा पूर्वी मालवा का राज्यपाल था।

(३) **पर्णदत्त**—वह स्कन्दगुप्त के काल में सौराष्ट्र प्रान्त का राज्यपाल था।

अपने सहायक कर्मचारियों की नियुक्ति राज्यपाल स्वयं करता था।

जिला-शासन—प्रान्तों का वर्गीकरण जिलों में किया गया था, जिन्हें 'विषय' कहते थे। जिला के सबसे प्रधान अधिकारी को 'विषयपति' कहा जाता था। उसकी नियुक्ति राज्यपाल स्वयं करता था। जिलाधीश (विषयपति) की सहायता के लिये एक समिति होती थी, जिसमें चार सदस्य हुआ करते थे:—(१) नगर-श्रेष्ठि (पुर के पूंजीपतियों का मुखिया), (२) सार्थवाह (जिले के व्यापारियों का प्रधान), (३) प्रथम कुलिक (व्यावसायिकों का प्रतिनिधि) तथा (४) प्रथम कायस्थ (लेखक)। जिले का एक प्रधान नगर होता था, जिसे अधिष्ठान कहते थे। जिलाधीश का कार्यालय यहीं पर वर्तमान होता था।

नगर-शासन—नगर का शासन राज्य की ओर से नियुक्त पदाधिकारियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा स्थानीय सभा, समितियों एवं समुदायों द्वारा संपन्न होता था। पदाधिकारियों में नगर-प्रमुख उल्लेखनीय है। इसकी नियुक्ति की परंपरा हमारे देश में मौर्यों के काल से ही चली आ रही थी। नगर-प्रमुख को कौटिल्य ने 'नागरक' कहा है। उसकी पहचान अशोककालीन कलिंग-लेख के 'नगलक' से की जा सकती है। मनुस्मृति में नगर के प्रमुख अधिकारी को 'नगरसर्वार्थचिन्तक' अर्थात् पुर में होने वाली प्रत्येक घटना की देख-रेख करने वाला कहा गया है।[1] जूनागढ़ के अभिलेख में चक्रपालित का नामोल्लेख हुआ है, जो सौराष्ट्र-पुर गिरिनगर का स्कन्दगुप्तकालीन प्रमुख अधिकारी था। इस लेख के अनुसार उसके दो प्रधान कर्त्तव्य थे:—(१) नगर की रक्षा[2] तथा (२) दुष्टों का दमन।[3] इस पदाधिकारी से आशा की जाती थी कि उसका व्यवहार पुरवासियों के साथ सहानुभूति एवं आत्मीयता से परिपूर्ण हो। गिरिनगर का प्रधान अधिकारी चक्रपालित यहाँ के नागरिकों को पुत्र के समान मानता था तथा उनके दोषों को दूर करने की चेष्टा करता था।[4] इस अधिकारी से सार्वजनिक कार्यों की भी आशा की जाती थी; उदाहरणार्थ चक्रपालित ने नागरिकों के लाभ के लिये सुदर्शन तटाक् का जीर्णोद्धार किया था। इस पद पर प्रायः बहुत सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्त की जाती थी। जूनागढ़ के लेख के अनुसार चक्रपालित सब प्रकार से श्रेष्ठ था तथा उसमें संपूर्ण वांछनीय गुण विद्यमान थे।[5] वह क्षमा, प्रभुत्व, विनय, नय, शौर्य, दाक्ष्य, दान तथा दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का केन्द्रविन्दु था।[6]

नगर-पालिका के कर्तव्य—नगर-शासन के लिये एक सभा होती थी, जिसे

---

१. "नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्"
—मनुस्मृति, अध्याय ७, पंक्ति २४१

२. "यः सन्नियुक्तो नगरस्य रक्षाम्"
—फ्लीट, का० इं० इं०, ३, पृष्ठ ५९

३. "अस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः"
—वही, ३, पृष्ठ ५९

४. "यो लालयामास च पौरवर्गान्
स्वस्येव पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान्"
—वही, ३, पृष्ठ ५९

५. "स एव कार्त्स्न्येन गुणान्वितानाम्"
—वही, ३, पृष्ठ ५९

६. वही, ३, पृष्ठ २९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन ग्रन्थों में 'पौर' कहा गया है। रामायण[1], खारवेल के लेख[2] तथा दिव्यावदान[3] एवं कतिपय अन्य ग्रन्थों में 'पौर' शब्द का उल्लेख मिलता है। इनमें जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे पुर-सभा का बोध होता है। बृहस्पति के अनुसार यह नगर में 'शान्तिक कर्म' अर्थात् शान्ति की व्यवस्था करती थी। इसके अतिरिक्त 'पौष्टिक कर्म' अर्थात् नागरिकों के हित में कार्य करना इसका कर्त्तव्य समझा जाता था।[4] नगर-सभा के अन्य सार्वजनिक कार्यों में सभा-गृह, सरोवर, मन्दिर एवं विश्रामशाला का निर्माण तथा अनाथ एवं दरिद्रों की सहायता उल्लेखनीय है।[5] नगर-सभा की बैठक उसके एक कार्यालय में होती थी। प्रयाग के सन्निकट भीटा नामक स्थान में इस प्रकार के कार्यालय के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं।[6] नालन्दा से एक मुद्रा मिली है, जिस पर 'पुरिका' शब्द उत्कीर्ण मिलता है।[7] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नगर-सभा की एक मुद्रा भी होती थी, जिससे इस सभा के विशिष्ट लेख मुद्रित किये जाते थे।

स्थानीय समितियाँ—यहाँ पर उल्लेखनीय है कि पारस्परिक विवादों का निर्णय बहुधा स्थानीय समितियों एवं समुदायों द्वारा किया जाता था। इनमें तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) श्रेणी, (२) पूग तथा (३) कुल। इन तीनों समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में निर्णय देने का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था।[8] इन समितियों के प्रधान निर्णय देने का काम करते थे।[9] व्यावसायिक

---

१. अयोध्याकांड, सर्ग १११, श्लोक १९

२. एपिग्राफिआ इंडिका, २०, ७१

३. दिव्यावदान, पृष्ठ ४१०

४. बृहस्पति स्मृति, ६, ३२

५. "सभाप्रपादेवतटाकाराम संस्कृतिः।
तथातायदरिद्राणां संस्कारो यजन-क्रिया॥"
—बृहस्पति, वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२५

६. मेकिण्डिल, मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, खंड २६

७. वही, खंड २६

८. "श्रेणीविकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।"
—याज्ञवल्क्य, २, ३०

९. "कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारकाः"
—बृहस्पतिस्मृति, पृष्ठ १६, पंक्ति १८५
(गायकवाड़-प्रकाशन)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समिति को 'श्रेणी' कहा जाता था तथा इस समिति के कुछ रीति-रिवाज़ थे जिन्हें स्मृतियों में 'श्रेणीधर्म' कहा गया है। यह समिति श्रेणीधर्म के अनुसार अपने सदस्यों के झगड़े का निपटारा करती थी। 'पूग' नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समितियों को कहा जाता था।[1] संभवतः एक ही परिवार के सदस्यों के समूह को 'कुल' कहते थे। इन विभिन्न धर्मों को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी।[2] इन्हीं के अनुसार ये समितियाँ अपने सदस्यों के झगड़ों में निर्णय देती थीं। यदि कुल, जाति तथा श्रेणी के सदस्य अपने धर्म का पालन नहीं करते थे, तो राज्य उन्हें दण्ड देता था।[3]

ग्राम-शासन—ग्राम-शासन की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम-शासन का कार्य प्रधानतः ग्राम-सभा के द्वारा संपादित होता था। इसे ग्राम की भूमि का लेखा तैयार करना पड़ता था। ग्रामवासियों के लाभ के निमित्त इसे विविध चेष्टाएँ करनी पड़ती थीं; उदाहरणार्थ सभा-गृह का निर्माण, रक्षा-व्यवस्था, स्वच्छता-व्यवस्था, सरोवर-निर्माण तथा असहाय व्यक्तियों के भोजन एवं वस्त्र का प्रबन्ध। ग्राम-सभा का सबसे प्रधान सदस्य 'ग्रामिक' (मुखिया) होता था। अन्य सदस्यों को 'महत्तर' कहा जाता था। 'महत्तर' ग्राम के प्रतिष्ठित एवं कुलीन व्यक्तियों को कहा जाता था। गुप्तकालीन अभिलेखों में ग्राम-सभा के लिए 'पंचमंडली' तथा 'ग्राम जनपद' शब्द आते हैं।

कर-व्यवस्था—राजकीय आय के प्रधान साधन कर थे। अभिलेखों में 'उद्रंगकर' का उल्लेख मिलता है। इसी को 'भागकर' भी कहा जाता था। यह भूमिकर था। लगता है कि भूमि का छठा भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था। इसीलिए सम्राट् को 'षष्टांशवृत्ति' (छठा अंश ही जीविका जिसकी) कहा जाता था।[4] लेखों में 'भूतप्रत्याय' नामक कर का भी उल्लेख मिलता है। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि यह कर स्थान पर उत्पन्न (भूत) होने वाली वस्तु

---

१. "पूगाः समूहाः भिन्नजातीनाम्"
—मिताक्षरा

२. मनु, ८, ४१

३. "कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ।
स्वधर्मान्विचलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥"
—याज्ञवल्क्य, १, ३६०

४. "षष्टांशवृत्तेरपि धर्म एषः"
—अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के ऊपर लगाया जाता था। इससे लगता था कि यह नसीली वस्तुओं पर वसूल किया जाता होगा।[1] नगर में आने वाली वस्तुओं के ऊपर चुंगी (शुल्क) लगाई जाती थी। शुल्क राजभाग के रूप में वसूल किया जाता था।[2] चुंगी लेने वाले पदाधिकारी को 'शुल्काध्यक्ष' कहते थे। शुल्काध्यक्ष का कार्यालय नगर के प्रवेश-द्वार पर स्थित होता था। इसके कार्यालय के ऊपर एक ऊँची पताका लगी रहती थी। सौदागर से नाम, पता, बेचने वाली वस्तुओं की संख्या तथा तौल आदि पूछ लेने के उपरान्त ही शुल्काध्यक्ष उन्हें नगर के अन्दर जाने की आज्ञा देता था। यदि कोई सौदागर शुल्क को बिना दिये हुए धोखा देकर निकल जाने का प्रयास करता था, तो उसे उचित कर का कई गुना दण्ड के रूप में देना पड़ता था। कभी-कभी नगर की बाजारों में भी व्यापारियों से शुल्क वसूल करने के लिये राजपुरुष घूमते रहते थे। मृच्छकटिक में कहा गया है कि नगरों में दूकानों के चतुर्दिक् शुल्क वसूल करने वाले राजकीय कर्मचारी उसी प्रकार चक्कर काटते हैं, जिस प्रकार भौंरे वृक्ष तथा उसके पुष्पों के चारों ओर मड़राते हैं।[3]

नगर की बाजारों में प्रयुक्त होने वाले माप एवं तौल को भली भाँति जाँच कर उन पर राजकीय मुहर लगाई जाती थी तथा इस रूप में उन्हें प्रमाणित किया जाता था। इसके लिए बनियों को कर देना पड़ता था। इस कर को 'प्रातिवेधनिक कर' कहा जाता था। अर्थशास्त्र में विक्रय-कर लगाने का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार तुला पर तौल कर बेची जाने वाली वस्तु का बीसवाँ भाग कर के रूप में वसूल किया जाय तथा जो वस्तुएँ गिन कर बेंची जायँ, उनका ग्यारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाय।[4] हो सकता है कि यह प्रथा गुप्तों के काल में भी विद्यमान रही हो। उद्योग-कर कारीगरों से लिया जाता

तुलनार्हः—'षड्भागमितो राजा' (बौधायन) तथा "राज्ञे 'दत्त्वा षड्-भागम्' (पराशर)

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ २६८

२. "राजभागः शुल्कमुदाहृतम्"

—शुक्रनीति, अध्याय ४, प्रकरण २, १०८

३. "वणिजा इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साध्यन्ते मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति॥"

—मृच्छकटिक, अंक ७, श्लोक १

४. विष्णु स्मृति, अध्याय ३, पृष्ठ १२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। यही कारण है कि अभिलेखों में इसे 'कारुकर' (कारीगरों से लिया जाने वाला कर) कहा गया है। यह कर दो रूपों में लिया जाता था—(१) विष्टि अर्थात् बेगार के रूप में तथा (२) द्रव्य के रूप में। विष्टि छोटे कारीगरों से ली जाती थी; उदाहरणार्थ कुम्हार, बढ़ई और लोहार। स्मृतियों में कहा गया है कि राजा छोटे कारीगरों से महीने में एक बार सार्वजनिक कार्यों में विष्टि ले सकता था।[1] पर बड़े कारीगरों से कर द्रव्य के रूप में लिया जाता था। इनमें सुनार, जुलाहे तथा शराब बनाने वाले आते थे। कौटिल्य के अनुसार शराब बनाने वाले पाँच प्रतिशत कर देते थे।[2]

न्याय-व्यवस्था—नगरों में न्याय-शासन का कार्य प्रधानतः राजकीय न्यायालयों के द्वारा किया जाता था। मृच्छकटिक में नगर के न्यायालय को 'अधिकरण-मण्डप' तथा न्यायाधीश को 'अधिकरणिक' कहा गया है।[3] अशोककालीन धौली के शिलालेख में नगर-न्यायाधीश को 'नगल-वियोहालक' (नगर-व्यवहारक) कहा गया है।[4] इसकी तुलना अर्थशास्त्र के 'पौर-व्यावहारिक' से की जा सकती है।[5] नगर-न्यायाधीश के पद पर योग्य व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। मृच्छकटिक में अधिकरणिक (नगर-न्यायाधीश) की योग्यता के विषय में कहा गया है कि उसे शास्त्रज्ञ, छल-कपट को जानने में कुशल, वाग्मी, क्रोधरहित, शत्रु एवं मित्र दोनों के लिये समान, चरित्र देखने के अनन्तर ही उत्तर देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों के लिये दण्ड का दाता, धार्मिक, निर्लोभी, वास्तविक रहस्य का प्रकाशक, दूसरों के हृदय को जानने में कुशल तथा राजा के क्रोध का निवारक होना चाहिए।[6] अधिकरणिक की सहायता के लिए कुछ और

---

१. "कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः॥"
—मनुस्मृति, ७, १३८

२. "अराजपण्याः पञ्चकं शतं शुल्कं दद्युः"
—अर्थशास्त्र, प्रकरण ४२

३. मृच्छकटिक, अंक ९

४. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४१

५. रायचौधरी, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ३१७

६. "शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी कर्मचारी होते थे; उदाहरणार्थ इसे मन्त्रणा प्रदान करने वाले राजपुरुष, दूत, गुप्तचर तथा मुहर्रिर आदि।

मृच्छकटिक में न्यायालयों की कार्यपद्धति का बहुत अच्छा वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि व्यवहार-मंडप के मुख्य द्वार के सामने एक दौवारिक नियुक्त रहता था। दण्डनायक की आज्ञा पाने पर वह घोषणा करता था कि कौन-कौन से लोग 'कार्यार्थी' अर्थात् मुकदमा दायर करना चाहते हैं।[1] इस घोषणा के पश्चात् वादी (अर्थिन्) न्यायालय में अपना वक्तव्य देता था। न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रतिवादी (प्रत्यर्थिन्) निश्चित तिथि पर उपस्थित होता था। प्रतिवादी के उत्तर के पूर्व वादी को अपने कथन में परिवर्तन का पूर्ण अधिकार दिया जाता था, पर प्रतिवादी के उत्तर के पश्चात् उसे इसके लिये अनुमति नहीं मिलती थी।[2]

न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। बिना प्रमाण का निर्णय ठीक नहीं माना जाता था।[3] इसके लिये गवाही ली जाती थी। सभी प्रकार के मनुष्यों की गवाही ठीक नहीं मानी जाती थी। केवल तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, ऋजु, पुत्रवान्, धर्मप्रधान तथा धनिक व्यक्तियों का प्रमाण ठीक माना जाता था।[4] स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी, उन्मत्त तथा लूले एवं लँगड़े प्रमाण के अयोग्य समझे जाते थे।[4] गवाह से सत्य की आशा की जाती थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि प्रमाण देने वाला व्यक्ति यदि झूठे बयान में पकड़ा जाता था, तो उसे अंगच्छेद की सजा दी जाती थी।[5] लोगों का विश्वास था कि गवाही में सत्य बोलने वाला साक्षी मरने पर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता[6]

क्लीवान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः ॥"

—मृच्छकटिक, अंक ९

१. मृच्छकटिक, अंक ९
२. नारद, २, ७
३. वहीं, १, १४
४. "तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥"

—याज्ञवल्क्य, २,६८

५. वही, २, ६९
६ मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़, खंड २७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America HHFA(USA)

है और इस लोक में उत्तम कीर्ति पाता है। ब्रह्मादि देवता भी सत्य वाणी से उसका सत्कार करते हैं।[1]

न्यायालयों में शपथग्रहण की भी प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण को सत्य; क्षत्रिय को वाहन या आयुध; वैश्य को गऊ, बीज एवं सुवर्ण तथा शूद्र को सब पापों का शपथ लेना पड़ता था।[2] झूठा शपथ लेने वाला निन्दा तथा धिक्कार का भाजन बनता था। मृच्छकटिक में अधिकरणिक झूठा शपथ लेने वाले शकार को फटकारता है कि अरे नीच ! तूँ वेदों की शपथ ले रहा है, तब भी तेरी जीभ नहीं कटती ? तूँ मध्याह्न में सूर्य को देख रहा है, तो भी तेरी दृष्टि विचलित नहीं हुई ? प्रदीप्त अग्नि में तूँ हाथ दे रहा है, परन्तु तेरा हाथ दग्ध नहीं हुआ ? तूँ निर्दोष चारुदत्त को चरित्रभ्रष्ट बता रहा है, तब भी तेरे शरीर का पृथ्वी हरण नहीं कर रही है ?[3] चार प्रकार की दिव्य परीक्षाएँ प्रचलित थीं—(१) विष-परीक्षा, (२) जल-परीक्षा, (३) तुला-परीक्षा तथा (४) अग्नि-परीक्षा। मृच्छकटिक में चारुदत्त इन चारों दिव्य परीक्षाओं के प्रयोग के लिये प्रस्तुत दिखाया गया है।[4]

सामाजिक जीवन

वर्ण-व्यवस्था—इस समय का समाज परंपरागत चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। समाज में ब्राह्मणोंका स्थान सबसे ऊँचा

---

१. "सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥"

—मनुस्मृति, ८, ८१

२. "सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥"

वही, ८, ११३

३. "वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि, न च ते जिह्वा निपतिता
मध्यान्हे वीक्षसेऽर्कं, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता।
दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि, न ते देहं हरति भूः॥"

—मृच्छकटिक, अंक ९, २१

४. "विषसलिलतुलाग्निप्रार्थितं मे विचारे"

—वही, अंक ९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। उनके छह कर्त्तव्य माने जाते थे; अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना।[1] क्षत्रिय का कर्त्तव्य शस्त्र के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करना था।[2] वैश्य का व्यवसाय वाणिज्य था।[3] शूद्रों का मुख्य कर्त्तव्य था सेवा करना।[4] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल में जातियों के विषय में व्यवसाय का यह बन्धन कुछ शिथिल पड़ने लगा था। ब्राह्मण लोग अन्य जातियों के उद्यम का पालन करने लगे थे। मृच्छकटिक के अनुसार ब्राह्मण चारुदत्त वाणिज्य का कार्य करता था। इस समय ब्राह्मण राजवंशों के प्रमाण मिलते हैं, उदाहरणार्थ वाकाटक तथा कदम्ब। गुप्तों का सामन्त शासक मातृविष्णु ब्राह्मण था। स्कन्दगुप्तकालीन इन्दौर के लेख से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय जाति के लोग वैश्य का कार्य करते थे। गुप्तकालीन स्मृतियों में कुछ मिश्रित जातियों के उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ मूर्द्धावषिक्त, अम्बष्ठ, पारशव, उग्र तथा करण।

अस्पृश्य—फाहियान के वर्णन से लगता है कि भारतीय समाज में उस समय एक अस्पृश्य (अछूत) जाति थी। इसके सदस्य सबसे निम्न वृत्ति का पालन करते थे। वे जंगली जानवरों का शिकार करते, मछली मारते तथा श्मशान-घाटों की रखवाली करते थे। उन्हें बस्ती के बाहर रहना पड़ता था। जिस समय वे ग्राम या नगर में प्रवेश करते थे, उस समय वे ढोल बजाते हुए चलते थे ताकि लोग उनके आगमन की सूचना पा जायँ तथा उनके स्पर्श से बच सकें।[5] उन्हें स्मृतियों में अंत्यज अथवा चण्डाल तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न कहा गया है।[6]

अन्नपान—फाहियान के अनुसार भारतीय समाज शाकाहारी था। इस

---

१. "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः॥"

—मनुस्मृति, १०, ७५

२. "क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम्"

—विष्णुस्मृति, ५, ३

३. "वाणिज्यं कारयेत् वैश्यम्"

—मनुस्मृति, ८, ४१०

४. "दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्"

वही, ८, ४१०

५. लेग्गे, फाहियान, पृष्ठ ४३

६. "चण्डालश्चाधमो"

—मनुस्मृति, १०, ११

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ओर संकेत करते हुए वह लिखता है कि सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है। केवल चण्डाल ही ऐसा करते हैं। जनपद में लोग न तो सूअर और मुर्गी पालते हैं और न जीवित पशु ही बेचते हैं। न कहीं मांस की दूकान है और न कहीं मद्यपान-गृह।[1] उसके वर्णन से लगता है कि भोजन के समय लोग स्वच्छता पर पर्याप्त ध्यान देते थे। शाकाहार में चावल, यव, गेहूँ, दाल, फल, दूध, घी तथा मक्खन बहुत अधिक प्रचलित थे। शालि, महाशालि, कलम तथा महाबीहि नामक चावलों के उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य में मिलते हैं। पके हुए चावल को ओदन एवं भक्त कहा जाता था।

वेष-भूषा—राजवर्ग सुन्दर तथा बहुमूल्य वस्त्रों का अत्यन्त प्रेमी था। भारतीय नरेश पगड़ी पहनते थे, जिन पर विभिन्न प्रकार के बेलबूटे बने रहते थे तथा पत्तियों का काम किया जाता था। कामदार साफों में बहुधा झालरें लटकाई जाती थीं और उन्हें आभूषणों से युक्त किया जाता था। गुप्त-मुद्राओं से ज्ञात होता है कि गुप्त नरेश टोपी भी पहनते थे। अपनी मुद्राओं पर समुद्रगुप्त कोट तथा चूड़ीदार पाजामा एवं जूता पहने हुए अंकित किया गया है। धनिक नागरिकों की वेशभूषा भी अत्यन्त अलंकृत हुआ करती थी। वे लोग बहुमूल्य क्षौम तथा कौशेय वस्त्र धारण करते थे। रामायण में क्षौम[2] तथा ऋतुसंहार में कौशेय[3] वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। कलाप्रेमी नागरिक झालरदार, लट्टूदार, कामदार तथा आभूषणयुक्त पगड़ियों का प्रयोग करते थे।[4] ब्राह्मणों की वेश-भूषा साधारण थी। अजन्ता के चित्रों में वे धोती, दुपट्टा तथा कंटोप पहने हुये दिखाये गये हैं।[5] सभ्यकुल की ललनाओं की वेश-भूषा सुन्दर हुआ करती थी। उनकी साड़ी बहुधा एँड़ी तक पहुँचती थी। सिर किनारेदार ओढ़नियों से ढका जाता था। लहँगा पहनने की रीति भी प्रचलित थी। वक्षस्थल को ढकने के लिये चोली पहनी जाती थी, जिसकी ग्रन्थि को स्तनों के बीच बाँधा जाता था।[6]

---

१. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ५३
२. रामायण, २, ६, २८
३. ऋतुसंहार ५, ८
४. मोती चन्द्र, भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ ३८७
५. वही, पृष्ठ २०६
६. "स्तनमध्य-गात्रिका-ग्रन्थि"

—हर्षचरित, पृष्ठ ६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अलंकार प्रसाधन—गुप्तकालीन समाज अलंकारप्रेमी था । इस समय के ग्रन्थों में स्त्री-आभूषणों के नाम मिलते हैं; उदाहरणार्थ कर्णपूर (कर्णाभूषण), निष्क तथा यष्ठि (कंठाभूषण) । करधनी को रसना, मेखला, कांची तथा किंकिणी कहा जाता था । आभूषणों को बिना धारण किये हुए पति के सम्मुख जाना दोष-पूर्ण समझा जाता था । पुरुष-वर्ग में भी प्रयुक्त होने वाले आभूषणों के नाम तत्कालीन ग्रन्थों में मिलते हैं; यथा केयूर (भुजबन्ध), वलय तथा आंगुलीयक (अंगूठी)। पति के प्रवासी होने पर स्त्री केवल एक ही आभूषण (शंख की चूड़ी) धारण करती थी।[1] श्रृंगारवृद्धि के लिये पुर-ललना अपने केश को सुसज्जित करती थी । कालिदास ने केशपास में मन्दार तथा मल्लिका नामक पुष्पों के प्रयोग का उल्लेख किया है। अपने बालों को सुसज्जित करने के पहले वे उन्हें अच्छी तरह सुगंधित और सुवासित करती थीं । केशपास के ऊपर वे एक जाली (जूटिकाबन्ध) लगाती थीं ।

अलंकारप्रेमी नागरिक सुगंधित द्रवों का प्रयोग करते थे । उनके पास सुगंधित द्रवों की एक पेटी होती थी; जिसमें वे सुरभियुक्त जल, तेल, चूर्ण तथा अनुलेप आदि रखते थे । सौरभयुक्त पुष्पों की माला धारण की जाती थी । मुखवास को शुद्ध करने के लिये नागरिक ताम्बूल का सेवन करते थे । स्त्रियाँ अपने नेत्र तथा ओठ पर अंगराग चढ़ाती थीं । नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख मिलता है (नेत्रयोरंजनं कार्यमधरस्य च) ।[2]

उत्सव—फाहियान के अनुसार भारतवर्ष के लोग उत्सवों के प्रेमी थे । गुप्तकालीन उत्सवों में कौमुदीमहोत्सव, वसन्तोत्सव, दीपोत्सव (दीपावली) तथा रथयात्रा उल्लेखनीय हैं । मुद्राराक्षस से विदित होता है कि पाटलिपुत्र के नागरिक 'कौमुदीमहोत्सव' को बड़े ही समारोह के सा मनाते थे । इसे शरद की पूर्णिमा के अवसर पर मनाया जाता । वसन्त के आगमन के अवसर पर वसन्तोत्सव मनाया जाता था । इसको मधूत्सव तथा मदनोत्सव भी कहा जाता था । कौशाम्बी के नागरिक इसे बहुत ठाट-बाट से मनाते थे । दीपोत्सव (दीपावली) भारत का एक राष्ट्रीय पर्व था । प्रारंभिक काल में यक्षाधिपति कुबेर की पूजा के निमित्त लोग इस उत्सव को मनाते थे। यही कारण है कि वात्स्यायन के काम-

---

१. "एकं शंखवलयं वा धारयेत्"

—कामसूत्र, पृष्ठ ३१५

२. नाट्यशास्त्र, २३, ३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सूत्र में इसे यक्षरात्रि कहा गया है।[1] फाहियान ने रथयात्रा के उत्सव का वर्णन किया है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

विवाह—शास्त्रों के अनुसार विवाह धर्म का एक आवश्यक अंग था। स्मृतियों में कहा गया है कि जिस प्रकार वायु को पीकर संपूर्ण जन्तु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर मनुष्य लोकयात्रा का निर्वाह करते हैं।[2] अविवाह पापतुल्य समझा जाता था।[3] आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच। केवल गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच को छोड़ कर अन्य शास्त्रसम्मत विवाह थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में अनुरंजन (कोर्टशिप) की प्रथा का उल्लेख मिलता है। चतुर प्रेमी नायिका के मन में अपने प्रति अनुराग बढ़ाने के लिये चित्ताकर्षक कथाओं तथा आख्यानों के द्वारा उनका मनोरंजन करता था। वह उसके साथ पुष्पचयन, माल्य-ग्रंथन तथा क्रीड़ायोजन भी करता था। प्रियतमा के भावों एवं संकेतों के द्वारा उसके हृदय में प्रेम के बीजांकुरण को समझने की वह चेष्टा करता था। धनिक वर्ग में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। शाकुन्तलम् में राजाओं को बहुवल्लभ कहा गया है।[4] राजकीय अंतःपुर की महिलाओं के मनोविनोद के लिये बौने, बहरे, गूँगे तथा कुब्जे नियुक्त किये जाते थे। नागरिकों के उदार वर्ग में विधवा-विवाह प्रचलित था। महाभारत में पति की मृत्यु के पश्चात् देवर से विवाह के लिये अनुमति दी गई है।[5] वसिष्ठ ने संयोग के पूर्व ही पति के मर जाने पर बाला को अक्षतयोनि तथा उसके पुनर्विवाह को लोकाचार के अनुकूल बताया है।[6] सती-

---

१. भारतीय विद्या, अंक ५, पृष्ठ ६२ (पी० के० गोडे का लेख)

२. "यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वमानवाः॥"
—मनु, ३, ७७

३. "अपत्नीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम्"
—महाभारत, १, १११, ३६

४. "बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते"
शाकुन्तलम्, अंक ३, पृष्ठ ६५

५. "नारी तु पत्यभावे वै देवरं कृणुते पतिम्"
—महाभारत, १३, १२, १९

६. "पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥"
—वसिष्ठ, १७, ६६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अलंकार प्रसाधन—गुप्तकालीन समाज अलंकारप्रेमी था । इस समय के ग्रन्थों में स्त्री-आभूषणों के नाम मिलते हैं; उदाहरणार्थ कर्णपूर (कर्णाभूषण), निष्क तथा यष्ठि (कंठाभूषण) । करधनी को रसना, मेखला, कांची तथा किंकिणी कहा जाता था । आभूषणों को बिना धारण किये हुए पति के सम्मुख जाना दोष-पूर्ण समझा जाता था । पुरुष-वर्ग में भी प्रयुक्त होने वाले आभूषणों के नाम तत्कालीन ग्रन्थों में मिलते हैं; यथा केयूर (भुजबन्ध), वलय तथा आंगुलीयक (अंगूठी)। पति के प्रवासी होने पर स्त्री केवल एक ही आभूषण (शंख की चूड़ी) धारण करती थी।[1] श्रृंगारवृद्धि के लिये पुर-ललना अपने केश को सुसज्जित करती थी । कालिदास ने केशपास में मन्दार तथा मल्लिका नामक पुष्पों के प्रयोग का उल्लेख किया है। अपने बालों को सुसज्जित करने के पहले वे उन्हें अच्छी तरह सुगंधित और सुवासित करती थीं । केशपास के ऊपर वे एक जाली (जूटिकाबन्ध) लगाती थीं ।

अलंकारप्रेमी नागरिक सुगंधित द्रवों का प्रयोग करते थे । उनके पास सुगंधित द्रवों की एक पेटी होती थी; जिसमें वे सुरभियुक्त जल, तेल, चूर्ण तथा अनुलेप आदि रखते थे । सौरभयुक्त पुष्पों की माला धारण की जाती थी । मुखवास को शुद्ध करने के लिये नागरिक ताम्बूल का सेवन करते थे । स्त्रियाँ अपने नेत्र तथा ओठ पर अंगराग चढ़ाती थीं । नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख मिलता है (नेत्रयोरंजनं कार्यमधरस्य च) ।[2]

उत्सव—फाहियान के अनुसार भारतवर्ष के लोग उत्सवों के प्रेमी थे । गुप्तकालीन उत्सवों में कौमुदीमहोत्सव, वसन्तोत्सव, दीपोत्सव (दीपावली) तथा रथयात्रा उल्लेखनीय हैं । मुद्राराक्षस से विदित होता है कि पाटलिपुत्र के नागरिक 'कौमुदीमहोत्सव' को बड़े ही समारोह के सा मनाते थे । इसे शरद की पूर्णिमा के अवसर पर मनाया जाता । वसन्त के आगमन के अवसर पर वसन्तोत्सव मनाया जाता था । इसको मधूत्सव तथा मदनोत्सव भी कहा जाता था । कौशाम्बी के नागरिक इसे बहुत ठाट-बाट से मनाते थे । दीपोत्सव (दीपावली) भारत का एक राष्ट्रीय पर्व था । प्रारंभिक काल में यक्षाधिपति कुबेर की पूजा के निमित्त लोग इस उत्सव को मनाते थे। यही कारण है कि वात्स्यायन के काम-

---

१. "एकं शंखवलयं वा धारयेत्"

—कामसूत्र, पृष्ठ ३१५

२. नाट्यशास्त्र, २३, ३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सूत्र में इसे यक्षरात्रि कहा गया है।[1] फाहियान ने रथयात्रा के उत्सव का वर्णन किया है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

विवाह—शास्त्रों के अनुसार विवाह धर्म का एक आवश्यक अंग था। स्मृतियों में कहा गया है कि जिस प्रकार वायु को पीकर संपूर्ण जन्तु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर मनुष्य लोकयात्रा का निर्वाह करते हैं।[2] अविवाह पापतुल्य समझा जाता था।[3] आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच। केवल गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच को छोड़ कर अन्य शास्त्रसम्मत विवाह थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में अनुरंजन (कोर्टशिप) की प्रथा का उल्लेख मिलता है। चतुर प्रेमी नायिका के मन में अपने प्रति अनुराग बढ़ाने के लिये चित्ताकर्षक कथाओं तथा आख्यानों के द्वारा उनका मनोरंजन करता था। वह उसके साथ पुष्पचयन, माल्य-ग्रंथन तथा क्रीड़ायोजन भी करता था। प्रियतमा के भावों एवं संकेतों के द्वारा उसके हृदय में प्रेम के बीजांकुरण को समझने की वह चेष्टा करता था। धनिक वर्ग में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। शाकुन्तलम् में राजाओं को बहुवल्लभ कहा गया है।[4] राजकीय अंतःपुर की महिलाओं के मनोविनोद के लिये बौने, बहरे, गूँगे तथा कुब्जे नियुक्त किये जाते थे। नागरिकों के उदार वर्ग में विधवा-विवाह प्रचलित था। महाभारत में पति की मृत्यु के पश्चात् देवर से विवाह के लिये अनुमति दी गई है।[5] वसिष्ठ ने संयोग के पूर्व ही पति के मर जाने पर बाला को अक्षतयोनि तथा उसके पुनर्विवाह को लोकाचार के अनुकूल बताया है।[6] सती-

---

१. भारतीय विद्या, अंक ५, पृष्ठ ६२ (पी० के० गोडे का लेख)

२. "यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वमानवाः॥"
—मनु, ३, ७७

३. "अपत्नीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम्"
—महाभारत, १, १११, ३६

४. "बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते"
शाकुन्तलम्, अंक ३, पृष्ठ ६५

५. "नारी तु पत्यभावे वै दैवरं कृणुते पतिम्"
—महाभारत, १३, १२, १९

६. "पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥"
—वसिष्ठ, १७, ६६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रथा भी विद्यमान थी। मृच्छकटिक में चारुदत्त की पत्नी सती होने के लिये प्रस्तुत दिखाई गई है।[1]

स्त्रियों की स्थिति—समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी। महाभारत में भार्याहीन गृहस्थ का जीवन शून्य माना गया है। इसमें भार्या संपूर्ण रोगों तथा दुःखों के निदान का कारण मानी गई है। गृहिणीहीन गृह कान्तार माना जाता था। रघुवंश में अज ने अपनी प्रियतमा को सखी, सचिव तथा प्रियशिष्या कहा है।[2] स्वप्नवासदत्तम् में उदयन वासवदत्ता को प्रिये तथा प्रियशिष्ये आदि शब्दों से संबोधित करते हैं।[3] पाणिबन्ध के कारण भार्या पुरुष की सहधर्मिणी मानी जाती थी। पति के द्वारा उसके सुख की उपेक्षा की गणना जघन्य अपराधों की कोटि में होती थी। उच्च कुल की महिलायें सुशिक्षिता हुआ करती थीं। यह परंपरा गुप्तकाल के पहले से ही चली आ रही थी। ललितविस्तर से विदित होता है कि गोपा नामक राजकन्या अनेक शास्त्रों में प्रवीणा थी।[4] मनु ने लिखा है कि सभ्य नागरिक की पत्नी को दैनिक, मासिक तथा वार्षिक आय एवं व्यय का विवरण रखने के लिये ज्ञान का होना आवश्यक है।[5]

मनोविनोद—गुप्तकालीन ग्रन्थों में मनोविनोद के कतिपय साधनों का उल्लेख मिलता है; उदाहरणार्थ उद्यानयात्रा, पशुपक्षिपालन, मृगया तथा द्यूत। वात्स्यायन ने कामसूत्र में नागरिकों की उद्यानयात्रा का उल्लेख किया है। धनिक व्यक्तियों के घरों में एक पक्षिशाला बनी होती थी। उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना की पक्षिशाला में शुक, सारिका, कोयल, काक, तीतर, चातक, मोर, हंस एवं कबूतर आदि पक्षी पाले गये थे।[6] राजवर्ग के मनोविनोद का प्रिय

---

१. मृच्छकटिक, अंक ९

२. "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या"

—रघुवंश, ८, ६७

३. "हा प्रिये हा प्रियशिष्ये" —स्वप्नवासवदत्तम्' अंक ५

४. "शास्त्रे विधिज्ञकुशला"

—ललितविस्तर, पृष्ठ ११२

५. "अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्"

—मनु०, १०, २

६. "पठति शुकः, कुरुकुरायते मदनसारिका, योध्यन्ते लावकाः, प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः" —मच्छकटिक, अंक ४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साधन मृगया थी। शाकुन्तल में इसे दिलबहलाव का सर्वोत्तम साधन बताया गया है।[1] द्यूत के विषय में मृच्छकटिक में सबसे अधिक उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रंथ में एक जुआड़ी द्यूत की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हुआ कहता है कि जूआ खेलना मानों सिंहासनरहित राज्य प्राप्त करना है।[2] इस पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर द्यूत समस्त भौतिक सुखों की प्राप्ति का साधन माना गया है।[3] जूये के खेल में हारा हुआ उज्जयिनी का एक नागरिक जूआ खेलने की इच्छा को जैसे तैसे रोकता हुआ कहता है कि कौड़ियों की आवाज मेरे मन को उसी प्रकार लुभा रही है, जिस प्रकार हाथ से राज्य के निकल जाने वाले किसी राजा के हृदय में भेरी का शब्द युद्धादि के लिये लालसा उत्पन्न कर देता है।[4] मैं यद्यपि यह जानता हूँ कि जूआ सुमेरु शिखर से गिरने के समान हानिकर है, अतः नहीं खेलूँगा, तथापि कोकिल के कंठ से निकले हुये मधुर शब्द के समान पासे का शब्द मेरे मन को आकृष्ट कर रहा है।[5] मैं तो द्यूत से अपने आप को हटाने में असमर्थ हूँ। जैसे बन्धन से छूटी हुई गर्दभी दूसरों को ताड़ित करती है, वैसे ही मैं इस गर्दभी (जूये में प्रयुक्त कौड़ी आदि) से बुरी तरह पिछाड़ा गया हूँ।[6] जूआ खेलने वाले व्यक्ति के झगड़े का निर्णय द्यूतशाला का संचालक करता था।

दास-प्रथा—मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि गुप्तों के काल में दासों की स्थिति काफी शोचनीय थी। इस ग्रंथ में एक दास स्वामी को अपने शरीर का

---

१. "मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः"
—शाकुन्तलम्, अंक २

२. "द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनम् राज्यम्"
—मृच्छकटिक, अंक २

३. "द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारामित्रं द्यूतेनैव"
—वही, अंक २

४. "ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्य।
जानामि न क्रीडिष्यामि कत्ताशब्दो मनो हरति॥"
—वही, अंक २, ५

५. "जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसन्निभं द्यूतम्।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनोहरति॥"
—वही, अंक २

६. वही, अंक २

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अधीश्वर बताता है।[1] वह अपने दयनीय जीवन पर रोता हुआ दासता को धिक्कारता है। जब स्वामी उससे उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना की हत्या कराना चाहता है, उस समय वह कहता है कि चाहे आप मुझे मारें अथवा पीटें, मैं पाप न करूँगा।[2] इससे विदित होता है कि दास की कोई स्वतंत्रेच्छा नहीं थी तथा स्वामी उससे गलत से गलत काम ले सकता था। वह दास पाप से डरा हुआ कहता है कि मैं पूर्व जन्म के पापों से इस जन्म में दास बना हूँ। अब और अधिक अकार्य करके पाप न मोल लूँगा। मैं कदापि अनर्थ नहीं कर सकता।[3]

गणिका—मृच्छकटिक के द्वारा गणिकाओं के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इसमें उनकी तुलना उस तालाब से की गई है, जहाँ द्विजवर तथा वर्णाधम मूर्ख स्नान कर सकता है। उसे वह लता बताया गया है, जहाँ पर मोर तथा वायस समान रूप से बैठते हैं।[4] इस ग्रंथ में वेश्या के घर को युवकों का निवासस्थान कहा गया है। उसे मार्ग की लता के समान जन-संपत्ति समझा जाता था। उसका शरीर 'पण्यभूत' एवं 'धनहार्य' था। प्रिय एवं अप्रिय की पाशविक मनोवृत्तियों एवं वासनाओं की तृप्ति उसे अपनी असहाय अवस्था के कारण करनी पड़ती थी।[5] वेश्यागामी को समाज निम्न दृष्टि से देखता था। यही कारण है कि मृच्छकटिक में न्यायाधीश के पूछने पर चारुदत्त नगर-वेश्या के साथ अपना संबन्ध स्वीकार

---

१. "प्रभवति भट्टकः शरीरस्य"

——मृच्छकटिक, अंक ८

२. "ताडयतु भट्टकः, मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि"

——वही, अंक ९

३. "येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भाग्यदोषैः।
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं न करिष्यामि॥"

——वही, अंक ८

४. "त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज"

——वही, अंक १

५. "तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो
विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव।
बहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं
सममुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च॥"

——वही, अंक १

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करने में लज्जा का अनुभव करता है।[1]

इस नाटक में विदूषक एक हितैषी के रूप में चारुदत्त से कहता है—मैं, ब्राह्मण होकर, आपके पैरों पर गिर कर कहता हूँ कि आप वेश्या का साथ छोड़ दें। गणिका तो जूते में पड़ी किंकिणी के समान है जो एक बार घुसने के उपरान्त बड़ी कठिनाई के साथ निकाली जाती है।[2] मित्र ! अधिक क्या कहूँ, जहाँ वेश्या रहती है वहाँ बुरे आदमी भी नहीं जाते, सज्जनों का तो कहना ही क्या? उनके इन्द्रजाल से भगवान् ही बचायँ।[3] वे धन के लिये क्षण में हँसती हैं और क्षण में ही रोती भी हैं। बाहर से वे पुरुषों को विश्वास दिलाती हैं पर वे छल-प्रपंच से भरी होती हैं। अतएव कुलशील-समन्वित व्यक्ति को वेश्या-संसर्ग श्मशान-पुष्प की भाँति परित्याग कर देना चाहिए।[4]

कुटनी—जो वेश्याएँ वृद्ध हो जाती थीं, उनका रूप-व्यापार समाप्त हो जाता था। अतएव वे कुट्टनी का काम करना प्रारम्भ कर देती थीं। वे एक तरह से नई वेश्याओं के लिए मार्गदर्शक का काम करने लगती थीं और इसके लिए उनकी आमदनी में भाग लेती थीं। दयनीय दशा में पड़ी युवतियों को गणिका-वृत्ति सिखा देना और युवकों को पथभ्रष्ट करना उनका काम था।[5] कुट्टनियों के हथकंडों एवं उनकी गर्हित जीवन-वृत्ति के ऊपर हमारे दो प्राचीन ग्रंथों द्वारा प्रकाश पड़ता है—एक तो 'कुट्टनीमतम्' और दूसरा 'दूतीकर्मप्रकाश'। 'कुट्टनीमतम्' के रचयिता दामोदरगुप्त ने लिखा है कि जो व्यक्ति विट, धूर्त्त, वेश्या एवं कुट्टनी के चंगुल में न पड़ेंगे, उनका जीव न हर तरह से सुखी रहेगा।[6]

---

१. "आर्य ! गणिका तव मित्रम्" —वही, अंक ९

२. "गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियन्ते"
—मृच्छकटिक, अंक ५

३. देखिए, मेरा ग्रन्थ 'हमारे पुराने नगर', पृष्ठ १२०

४. "एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्याः श्मशानसुमनाः इव वर्जनीयाः॥"
मृच्छकटिक, अंक ४, श्लोक १४

५. लेखक का अनुसन्धान-ग्रन्थ 'हमारे पुराने नगर' पृष्ठ १२०

६. "काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वंच्यते कदाचिद्विट वेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति॥"
—कुट्टनीमतम्, श्लोक १०५८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'दूतीकर्मप्रकाश' में कुट्टनियों के विषय में कहा गया है कि उनके रहस्यमय चरित्र को ब्रह्मा भी नहीं समझ सकते, मनुष्य की तो कोई बात ही नहीं।[1]

आर्थिक जीवन

नगर—गुप्तकाल आर्थिक जीवन के क्षेत्र में नगरों के विकास के लिये उल्लेखनीय है। फाहियान के अनुसार पाटलिपुत्र इस समय हमारे देश का सबसे प्रमुख नगर माना जाता था। मुद्राराक्षस में इसके प्राकार तथा नगर-द्वारों का उल्लेख हुआ है। फाहियान लिखता है कि वहाँ के राजप्रासाद को देख कर ऐसा आभास होता था कि मानों इसका निर्माण देवताओं ने किया हो। इसकी दीवालों एवं द्वारों में पत्थर चुन कर लगाये गये थे। इसमें सुन्दर नक्काशी तथा पच्चीकारी की गई थी ,जो विश्व के किसी भी मानव से संभव नहीं थी। अशोक के द्वारा निर्मित स्तूप इस समय भी विद्यमान था। इसके बगल में एक विशाल मठ था, जिसमें महायान धर्म के अनुयायी रहते थे। पाटलिपुत्र का उल्लेख रघुवंश में भी हुआ है। इन्दुमती के स्वयंवर के समय सुनन्दा न्दुमती से कहती है—यदि इस मगध-नरेश के साथ तुम अपना विवाह करना चाहती हो तो अवश्य करो। जब तुम विवाह करके इनके साथ इनकी राजधानी पाटलिपुत्र में पहुँचोगी तब वहाँ की स्त्रियाँ झरोखों में बैठ कर तुम्हें निहारेंगी और तुम्हारे दर्शन से उन्हें असीम सुख मिलेगा।[2]

उत्तर-पूर्व भारतवर्ष के नगरों में इस समय वैशाली भी अधिक प्रसिद्ध था। वहाँ पर तीरभुक्ति (तिरहुत) की राजधानी थी। गुप्त वंशीय राजकुमार वहाँ राज्यपाल के रूप में शासन करता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में वहाँ गोविन्द-गुप्त राज्यपाल था। फाहियान इस नगर में आया था। वह लिखता है कि इसके भीतर एक विहार था, जिसे आम्रपाली नामक सुप्रसिद्ध वेश्या ने गौतमबुद्ध के प्रति श्रद्धा के कारण उनके निवास के निमित्त बनवाया था।

---

१. "तच्चरित्रमिति ज्ञातुं ब्रह्मणापि न शक्यते"
—दूतीकर्मप्रकाश, श्लोक ५। विस्तृत सूचना के लिए देखिए:—मेरा अनुसन्धान-ग्रन्थ, 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर', पृष्ठ ३६०

२. "अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येव कुरु प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुरांगनानाम् ॥"
रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक २४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation and Education Trust (HFA&E)

पश्चिम में उज्जयिनी का नगर सबसे प्रसिद्ध था। मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि गुप्तों के समय में यह नगर अत्यन्त समृद्धिशाली था। इसके अनुसार इस पुर में विविध विहार, आराम, देवालय, सरोवर, कूप तथा यज्ञयूप विद्यमान थे, जिनके कारण इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी।[1] इस ग्रंथ में उज्जयिनी के नागरिकों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का एक सजीव वर्णन उपलब्ध होता है। नगर-वेश्या वसन्तसेना के भव्य प्रासाद का जो विवरण ग्रंथकार ने प्रस्तुत किया है, वह बहुत ही मनोरम तथा प्राचीन वास्तुसंबन्धी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है। लेखक ने उस विशाल भवन के बहिर्द्वार, विभिन्न प्रकोष्ठ, संगीतशाला, सोपान, गृहफलक तथा वातायन आदि का मूर्तिमान स्वरूप जिस सफलता के साथ उपस्थित किया है, वह परमश्लाघनीय है। रघुवंश में उज्जयिनी के राजप्रासाद, महाकालमन्दिर, शिप्रा नदी एवं उपवनों का मनोरम वर्णन हुआ है। सुनन्दा इन्दुमती से कहती है—इस नगर का राजप्रासाद महाकालमन्दिर के अत्यन्त सन्निकट स्थित है। शिव के ललाट पर स्थित चन्द्र की ज्योत्सना के फलस्वरूप कृष्णपक्ष में भी वहाँके नरेश अपनी महिषियों के साथ सर्वदा शुक्ल पक्ष का ही आनन्द लेते हैं। हे रम्भोरु ! क्या तुम उज्जयिनी के उन उद्यानों में विहार करना चाहती हो जिनमें दिन-रात शिप्रा नदी का शीतल समीर हरहराता रहता है।[2] गुप्तकालीन उज्जयिनी के ठाट-बाट के शुद्ध परिचय के निमित्त कालिदासकृत मेघदूत का परिशीलन करना चाहिए। विरही यक्ष मेघ से कहता है—मइया मेघ ! यहाँ के जानकार लोग बाहरी नगरों से आए हुए अपने संबंधियों को यह कथा सुना कर मन बहला रहे होंगे कि यहीं पर मदभरा नलगिरि नामक हाथी खूँटा उखाड़ कर उन्मत्त हो इधर-उधर घूमता था। वहाँ पर वत्स-देश के राजा उदयन ने उज्जयिनी के महाराज प्रद्योत की प्यारी कन्या वासवदत्ता को हर लिया था और वहीं उनका बनाया हुआ ताड़ के पेड़ों का सुनहला उपवन था।[3] हे सखे !

---

१. "विहारारामदेवाल्यतडागकूपयूपैरलंकृता नगर्युज्जयिनी"
—मृच्छकटिक, अंक ९

२. "असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
विहर्तुमुद्यानपरम्परासु शिप्रातरंगानिलकम्पितासु ॥"
—रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ३४-३५

३. "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जन्हे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः"
—मेघदूत (पूर्वमेघ), श्लोक ३५

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha. Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उस नगरी में खिले हुए कमलों के गन्ध से सनी हुई तुझे शिप्रा की वायु मिलेगी जो सारसों की मीठी बोली को दूर-दूर तक फैलाती है। यह स्त्रियों की संभोग-जनित थकावट को उसी भाँति दूर करती है जिस तरह चतुर प्रेमी पंखा झल कर मीठी-मीठी बातों द्वारा सुरत में थकी अपनी प्रेयसी का मन बहलाता है।[1] वहाँ की बाजारों में तुझे रत्न, शंख, मणि, मयूख तथा बहुमूल्य वस्तुएँ विक्रय के निमित्त सजी दिखायी देंगी।[2]

दशपुर भी पश्चिमी भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। इसका अत्यन्त मनोरम तथा रमणीय वर्णन मन्दसोर की प्रशस्ति में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार यह नगर विश्व में अग्रणी था।[3] इसकी झीलों में कमल खिले थे तथा निरंतर बतख तैर रहे थे। कूल पर स्थित वृक्षों से पुष्पों के गिर जाने के कारण जल विभिन्न रंगों से युक्त कान्ति को धारण कर रहा था। इन सरोवरों में कहीं पर राजहंस तैरते हुये दृष्टिगोचर हो रहे थे, जिनका शरीर कमल की पंखुड़ियों के पराग से भूरा हो गया था तथा अन्यत्र कमल अपने पराग के कारण झुक गये थे।[4] वहाँ की कमनीय वाटिकाओं में वृक्ष पुष्प-भार से अवनत थे। मतवाले भवरों की गुंजार तथा नगर-वधुओं की सुन्दर पद्धति से उपवनों की शोभा द्विगुणित हो उठती थी। भवनों की चोटी पर झंडे लहरा रहे थे। उनमें रहने वाली कोमलांगी स्त्रियों तथा उच्च शृंगों के द्वारा उनका सौन्दर्य बढ़ गया था। वे अपनी ऊँचाई के कारण कैलाश पर्वत का स्मरण दिलाते थे। उनके प्रांगण में कदली वृक्ष आरोपित किये गये थे। वे सुन्दर चित्रों के द्वारा विभूषित थे तथा उनमें संगीत की प्रतिध्वनि सुनाई देती थी। रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित इन भवनों के अनेक मंजिलों

---

१. "यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः।
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥"
—वही, श्लोक ३३

२. "हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शंखशुक्तीः।
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्नयूखप्ररोहान्॥"
—वही, श्लोक ३४

३. "दशपुरं प्रथमं मनोभिः"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९०

४. "अजस्रगाभिश्च पुरांगनाभिर्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि।
चलत्पताकान्यवलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ २९१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation-Australia-HHFA(USA)

को देखने से लगता था, मानों वे पृथ्वी को फाड़ कर एक ही समय ऊपर निकल आये हों।[1] मेघदूत में भी दशपुर का वर्णन प्राप्य है। विरही यक्ष मेघ को सम्बोधित करते हुए कहता है—मेरे मित्र! चर्मण्वती नदी को पार कर तुम दशपुर की ओर बढ़ जाना और अपना रूप दिखा कर वहाँ की उन रमणियों को रिझाना, जिनकी काली-काली कटीली भौंहें ऐसी जान पड़ेंगी मानों उन्होंने कुन्द के फूलों पर मँडराने वाले भौरों की चमक चुरा ली हो।[2]

भृगुकच्छ पश्चिमी समुद्र-तट का सबसे प्रसिद्ध बंदरगाह था। जल-कूल पर स्थित होने के कारण वाणिज्य के क्षेत्र में इसकी महानता प्रतिपादित हो चुकी थी। पेरिप्लस के वर्णन के अनुसार यह नगर भारतीय आयात एवं निर्यात का सुप्रसिद्ध पाश्चात्य केन्द्र था। सुप्पारक जातक में भृगुकच्छ के वणिकों की व्यापारिक कृतियों का उल्लेख मिलता है। सुस्सोंदि जातक में भी इस नगर का वर्णन एक वाणिज्य-केन्द्र के रूप में उपलब्ध है। ताम्रलिप्ति पूर्वी समुद्र-तट का सबसे बड़ा बंदरगाह था। टालमी के अनुसार यह गंगा के मुहाने पर स्थित था। विष्णुपुराण में इसे समुद्रतट पर स्थित पुरी (समुद्रतटपुरी) कहा गया है। स्वदेश वापस लौटने के निमित्त फाहियान यहीं पर एक बड़े जहाज में बैठा था।

व्यवसाय—भारतीय नगर व्यवसाय के केन्द्रविन्दु थे। अनुकूल परिस्थितियों में पड़ने के कारण उच्च व्यावसायिक संवर्द्धन तथा औद्योगिक केन्द्रीकरण ग्राम की अपेक्षा नगर में ही संपन्न हुआ। यही कारण है कि एक ही नगर में विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक बहुसंख्या में रहते थे। यह परंपरा हमारे देश में गुप्तों के काल के पहले से ही चली आ रही थी। उदाहरणार्थ रामायण में अयोध्या के प्रमुख व्यावसायिकों की एक तालिका मिलती है। इसमें जिन व्यावसायिकों के नाम आते हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) सुनार (सुवर्णकाराः), (२) जौहरी (मणिकाराः), (३) कपड़े बुनने वाले (सूत्रकर्मविशेषज्ञाः), (४) कुम्हार (कुंभकाराः), (५) हथियार बनाने वाले (शस्त्रोपजीविनः), (६) मोर की पूँछ से पंखा बनाने वाले (मायूरकाः), (७) आराकस (क्राकचिकाः), (८) मोतियों में छेद बनाने वाले (वेधकाः), (९) रंगसाज (रोचकाः), (१०) हाथी दाँत की चीजें बनाने

---

१. "प्राकादनालाभिरलंकृतानि धरां विदार्यैव समुत्थितानि"
—सरकार, वही, पृष्ठ २९१

२. "कुन्दप्रसानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥" —मेघदूत (पूर्वमेघ), श्लोक ५१

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

वाले (दन्तकाराः), (११) चूना बनाने वाले (सुधाकाराः),(१२) गंधी (गंधोपजीविनः) (१३) कंबल बुनने वाले (कम्बलकारकः),(१४) धूप बनाने वाले (धूपकाः), (१५) शराब बनाने वाले (शौण्डिकाः),(१६) दर्जी (तुन्नवायाः), तथा (१७) धोबी (रजकाः)।[1]

गुप्तकालीन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि प्राचीन नगरों में व्यावसायिक शिक्षा देने वाले आचार्य रहते थे। इन आचार्यों की प्रयोगशालाओं में नवागन्तुक विद्यार्थी अपने बन्धुओं की आज्ञा पाने के उपरांत मनोवांछित शिल्प में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये आता था। व्यावसायिकों की समिति को 'श्रेणी' कहा जाता था। मन्दसोर के लेख में 'पट्टवाय-श्रेणी' (रेशमी सूत बनाने वाले कारीगरों की समिति) का उल्लेख मिलता है। बृहस्पति ने व्यावसायिकों के श्रेणिबद्ध होने के दो कारण बताये हैं—(१) चोर, डाकुओं तथा अन्य मानवीय आपत्तियों से सुरक्षा तथा (२) सामूहिक लाभ।[2] एक व्यवसाय के पालन करने वाले पुर के एक ही भाग में रहते थे। 'श्रेणी' का एक प्रधान होता था, जिसे 'ज्येष्ठक' कहा जाता था। वह समृद्ध तथा समाज का एक सम्मानित व्यक्ति था। राजदरबार में भी वह आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसका प्रधान कारण उसका पद एवं ऐश्वर्य माना जा सकता है। ज्येष्ठक का पद आनुवंशिक हुआ करता था। पिता के व्यवसाय का अनुसरण उसका पुत्र करता था।

धर्मशास्त्रों में 'श्रेणी-धर्म' शब्द का उल्लेख मिलता है। इससे तात्पर्य उन नियमों से है, जो कि आर्थिक श्रेणियों में कानून के रूप में प्रचलित थे।[3] उदाहरणार्थ मनुस्मृति में कहा गया है कि धर्मवित् राजा को चाहिये कि जातिधर्म, जानपदधर्म, कुलधर्म और 'श्रेणीधर्म' अर्थात् इन संस्थाओं के रीति-रिवाजों को भली भाँति छानबीन करके उनसे अविरुद्ध अपने राजकीय नियम और कानूनों की स्थापना

---

१. रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ८३

२. "ग्रामश्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया।
बाधाकाले तु सा कार्य्या धर्मकार्य्ये तथैव च॥
चाटचौरभये बाधाः सर्व्वसाधारणाः स्मृताः।
तत्रोपशमनं कार्यं सर्व्वेनैकेन केनचित्॥"
—बृहस्पति, १७, ५-६

३. कारपोरेट लाइफ, पृष्ठ ३३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करे।[1] इस प्रकार का वचन नारदस्मृति[2] और याज्ञवल्क्यस्मृति[3] में भी मिलता है।

ये व्यावसायिक समितियाँ आधुनिक बैंक का भी कार्य करती थीं। वे द्रव्य को सुरक्षित रखतीं तथा उस पर सूद देती थीं। निक्षेपकर्ता से व्यावहारिक समय भी निश्चित कर लिया जाता था, जिससे दोनोंपक्षों में कालान्तर में कोई भेद न हो। द्रव्य के सूद से मन्दिर में दीपक जलाना अथवा किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति भी उसे करना पड़ता था। इन्दौर के एक लेख के अनुसार यहाँ की एक 'तैलिक श्रेणी' के पास रुपया जमा किया गया था, जिसके सूद से सूर्य-मन्दिर में दीपक जलाने के लिये तेल का खर्चा चलाया जाता था।[4] दशपुर की 'पट्टवाय-श्रेणी' के ऊपर वहाँ के सूर्यमन्दिर के पुनरुद्धार का भार था।[5]

व्यापार—व्यावसायिक विकास के कारण वाणिज्य का भी विकास स्वाभाविक ही था। गुप्त काल के पहले से ही एक ही नगर में कई व्यापारी रहते थे। मिलिन्दपञ्हो में शाकल (स्यालकोट) के व्यापारियों के नाम मिलते हैं, उदाहरणार्थ फल बेचने वाले (फलिका), जड़ी बेचने वाले (मूलिका), भात बेंचने वाले (ओदनिका), पूये बेचने वाले (पूविका), मछली बेचने वाले (मच्छिका) तथा मांस के विक्रेता (मंसिका)।[6] गुप्तकाल के वणिक साझापत्ती के सिद्धान्त पर व्यापार करते थे। इस प्रकार के व्यापार को स्मृतियों में 'संभूय-समुत्थान-व्यवहार' कहा गया है।[7] साझेदार अपनी लागत के अनुपात के हिसाब से लाभ में भाग पाते थे। साझेदारों में व्यवहार-संबन्धी आपसी समझौता भी होता था जिसके लिये

---

१. "जातिजानपदान्धर्म्मान् श्रेणीधर्म्मांश्च धर्म्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्म्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥"
—मनु०, ८. ४१

२. नारद, १०, २

३. याज्ञवल्क्य, १, ३६०

४. फ्लीट, का० इं० इं०, ३, ७०

५. वही, ३, ८१

६. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३२४

७. "वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते।
तत्संभूय समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्॥"
—नारद, ३, १

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्मृतियों में 'समय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस समझौते का पालन साझेदार का परम कर्त्तव्य था ।[1]

जब एक नगर के व्यापारी दूसरे नगर में सामान बेचने के लिये निकलते थे उस समय वे अपना एक समूह बना कर चलते थे। इस समूह को सार्थ कहा जाता था। अमरकोष में सार्थ को यात्रा करने वाले पांथों का समूह कहा गया है।[2] इसके नेता को सार्थवाह कहा जाता था।[3] व्यापारिक समितियों को 'निगम' कहा जाता था। निगम के प्रधान को 'श्रेष्ठि' कहते थे। वह अतुल धनराशि का स्वामी माना जाता था। उसका सम्मान राजा तथा व्यापारी दोनों करते थे। नगर एवं जनपद के लोग भी उसका आदर करते थे।[3] उसकी योग्यता, उपयोगिता तथा उच्च स्थान को देखते हुए कभी-कभी उसे शासन-समितियों में स्थान दिया जाता था।[4]

धार्मिक दशा

वैष्णव मत—गुप्त-नरेशों का व्यक्तिगत धर्म वैष्णव मत था। उनकी उपाधि 'परमभागवत' थी। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार उनकी राजाज्ञाएँ गरुड़ध्वज से अंकित (गरुत्मदङ्क) हुआ करती थीं। गरुड़ध्वजांकित मुद्रा का उदाहरण गाजीपुर जिले से भितरी नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। उनकी मुद्राओं के ऊपर वैष्णव धर्म के प्रतीक अंकित हैं, उदाहरणार्थ शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा लक्ष्मी। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का स्तम्भ-लेख तथा बुधगुप्त का एरण का स्तम्भ-लेख विष्णु की स्तुति से प्रारंभ होता है। जूनागढ़ के लेख के अनुसार चक्रपालित नामक कर्मचारी ने विष्णु-मन्दिर का निर्माण किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने विष्णुपद नामक पर्वत के ऊपर विष्णुध्वज की स्थापना की थी।[6]

---

१. "कुर्युस्तेऽव्यभिचारेण समये स्वे व्यवस्थिताः"

—नारद, ३, ४

२. अमरकोष, पृष्ठ १३३ (हरदत्त शर्मा संपादित)

३. जातक, २, ६८

४. "राजपूजितो नगरजनपदपूजितो"

—जातक, ५, ३८२

५. एपिग्राफिआ इंडिका, १५, १३३

६. "प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतः भक्त्या ध्वजः स्थापितः"

— मेहरौली का लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सूर्य-पूजा—गुप्तों के काल में सूर्योपासक वर्तमान थे। विक्रम संवत् ५२९ वाले मन्दसोर के लेख के प्रारंभ में कुछ श्लोक मिलते हैं, जिनके भाव इस प्रकार हैं—"सूर्य आपकी रक्षा करें जिनसे संसार का प्रारंभ तथा नाश है; देव लोग अपने रक्षार्थ जिनकी पूजा करते हैं, सिद्ध लोग अपनी यौगिक सिद्धि के लिये जिनकी आराधना करते हैं; वे योगी जो सदा ध्यानावस्थित रहते हैं, जिनकी इच्छायें वशीभूत हैं तथा वे साधु जो घोर तपस्या करते हैं और जिनमें शाप एवं आशीर्वाद देने की शक्ति है तथा भक्ति से जिसकी पूजा करते हैं। जिस सूर्य के स्वरूप को सत्य के ज्ञाता ब्रह्मर्षि नहीं बतला सकते है, जो फैले हुए रश्मियों से तीनों लोकों की रक्षा करते हैं, जिसके निकलते ही गन्धर्व, देव, किन्नर तथा मनुष्य हर्षित हो उठते हैं तथा जो अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करते हैं। वे भगवान सूर्य आपकी रक्षा करें, जो रश्मियों से सुशोभित हैं। उस सूर्य भगवान को नमस्कार है, जिनकी किरणें प्रति दिन पूर्व के उदयाचल-विस्तृत पर्वतशृंगों पर फैलती हैं और जो मतवाली स्त्री के कपोल के सदृश लाल हैं।[1]" मन्दसोर के उपर्युक्त लेख से ज्ञात होता है कि इस स्थान पर एक सूर्य-मन्दिर विद्यमान था। स्कन्दगुप्त कालीन इन्दौर का ताम्रलेख सूर्य-पूजा से प्रारंभ होता है। इस लेख के द्वारा भी गुप्तों के काल में सूर्य-मन्दिरों के निर्मित होने की सूचना मिलती है।

शैवधर्म—गुप्तों के काल में शैव धर्म का भी विकास हुआ। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेनापति वीरसेन एक प्रकांड शैव था। उसने शैवों के निवास के निमित्त उदयगिरि की पहाड़ी में एक गुफा का निर्माण किया था। अन्यत्र इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि मथुरा में इस समय माहेश्वर नामक एक शैव संप्रदाय रहता था। मेघदूत से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी में महाकाल का एक मन्दिर था, जहाँ संध्या के समय आरती उतारी जाती थी। कुमारगुप्त प्रथम का सेनापति पृथ्वीषेण शैव धर्म का अनुयायी था। उसने करमदाण्डा नामक स्थान में एक शिव-प्रतिमा की स्थापना की थी। बिलसद के 'लेख के अनुसार ध्रुवशर्मा नामक ब्राह्मण ने एक शिवमन्दिर को दान दिया था। गुप्तों के सामंत महाराज हस्तिन् के खोह के लेख में 'नमो महादेव' शब्द उत्कीर्ण मिलते हैं। इससे लगता है कि किसी शुभ

---

१. "यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्ण-तुंग-शिखर-स्खलितांशुजालः।
क्षीबांगनाजन-कपोल-तलाभिताम्र-
पायात्स वस्सुकिरणाभरणो विवस्वान्॥"
—मन्दसोर का लेख, तीसरा श्लोक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कार्य के पूर्व शिव की वन्दना की जाती थी। दामोदरपुर के लेख में शिव-पूजा के निमित्त अग्रहार-दान का वर्णन मिलता है।

जैनधर्म—गुप्तों के काल में जैन धर्म का भी विकास हुआ। इस समय वलभी में जैनों की एक वृहत् सभा का अयोजन किया गया था। पहाड़पुर से कई लेख मिले हैं, जिनमें जैन मन्दिरों को भूमि-दान का वर्णन किया गया है। कहौम के लेख के अनुसार स्कन्दगुप्त के काल में मद्र नामक व्यक्ति ने पाँच जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों की स्थापना कराई थी—आदिनाथ, शांतिनाथ नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर। मथुरा के एक अभिलेख के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल में हरिस्वामिनी नामक एक जैन महिला ने किसी जैन मन्दिर को दान दिया था। फाहियान के अनुसार गुप्तों के काल में भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगरों में जैनियों के देवालय वर्तमान थे। इनमें प्रति दिन झाड़ू लगाया तथा पानी छिड़का जाता था। जैन पुजारी इनमें धूप एवं दीपक जलाते तथा पूजा करते थे।

बौद्धधर्म—इस समय बौद्ध धर्म का भी विकास हुआ। साँची के एक लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने आम्रकार्द्दव नामक एक बौद्ध मतावलम्बी को उच्च पद पर नियुक्त किया था। उसने काकनादबाट के महाविहार को पचीस दीनार दान में दिया था।[1] इसके सूद से इसमें दीपक जलाया जाता तथा पाँच भिक्षुओं को भोजन कराया जाता था।[2] गुप्तकाल में प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपनी मर्मस्पर्शिनी विद्वत्ता के द्वारा भारतीय ज्ञान के विकास में योगदान किया। इनमें वसुबंधु, असंग तथा दिङ्नाग उल्लेखनीय हैं। फाहियान के वर्णन के अनुसार गुप्तकाल में बौद्ध धर्म अपने स्वाभाविक रूप में विकसित हो रहा था। उसके अनुसार भारतीय नगरों में इस समय मठ बने हुये थे, जिनमें बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाता था।

साहित्य

काव्य—गुप्तकाल श्रेष्ठ कवियों का काल था। इस काल के काव्यकारों का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है। पहले भाग में वे कवि आते

---

१. "काकनादबाट—श्रीमहाविहारे...प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतिश्च दीनारान्"

—साँची का लेख (गुप्त-संवत् ९३)

२. "रत्नगृहे च दीपको ज्वलतु—पञ्चैव भिक्षवो भुंजताम्"

—साँची का लेख (गुप्त-संवत् ९३)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं, जिनके विषय में हमारा परिचय एकमात्र अभिलेखों पर अवलंबित है। इनकी कोई भी कृतियाँ उपलब्ध नहीं है। इस कोटि के कवियों में हरिषेण, वीरसेन तथा वत्सभट्टि उलेखनीय हैं।

हरिषेण—वह महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र था। समुद्रगुप्त के समय में वह सान्धिविग्रहिक, कुमारामात्य तथा महादण्डनायक था। उसकी शैली के विषय में सूचना का एकमात्र साधन प्रयाग का स्तंभलेख है। इस लेख के प्रारंभ में शार्दूल-विक्रीडित, स्रग्धरा तथा मन्दाक्रान्ता छन्दों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। ये वैदर्भी रीति में लिखे गये हैं तथा कालिदास की शैली का स्मरण दिलाते हैं। लेख का उत्तर भाग गद्य में है, जो कि सुरक्षित अवस्था में है। इसमें लम्बे-लम्बे समस्त पद मिलते हैं। लेख का गद्यांश बाणभट्ट की गौड़ी शैली का स्मरण दिलाता है। पूरा लेख चंपू (गद्यपद्य-मिश्रित) शैली का विलक्षण नमूना है।

शाव—वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सान्धिविग्रहिक अमात्य था। उसका कुलनाम वीरसेन था। इसकी भी कोई कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। उसका एक लेख उपर्युक्त नरेश के समय की उदयगिरि की गुफा की दीवाल पर उत्कीर्ण मिलता है। इसकी काव्य-शैली के विषय में सूचना का एकमात्र साधन यही लेख है। इसके अनुसार वह व्याकरण, न्याय एवं राजनीति का मर्मज्ञ तथा पाटलिपुत्र का निवासी था। वह शैव मतावलम्बी तथा कौशिकगोत्रीय था। परंपरा के आधार पर वह सचिव के पद पर नियुक्त किया गया था।

वत्सभट्टि—इसकी भी कोई कृतियाँ प्राप्त नहीं हैं। उसकी काव्य-शैली के विषय में सूचना का एकमात्र साधन मालव-संवत् ४९३ तथा ५२९ (४३६ ई० और ४७३ ई०) का मन्दसोर का स्तम्भ-लेख है। इसमें शार्दूलविक्रीडित, वसन्त-तिलका, आर्य्या, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, हरिणी, इन्द्रवज्रा, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता तथा अनुष्टुभ आदि में लिखे हुये ४४ सुन्दर श्लोक उत्कीर्ण हैं। इनमें कालिदास की वैदर्भी रीति की छाप मिलती है। प्रारम्भ के तीन श्लोकों में सूर्य की स्तुति की गई है। चौथे तथा पाँचवें श्लोक के अनुसार लाट प्रदेश से तंतुवाय-समिति के लोग दशपुर आये थे। छठें श्लोक से लेकर चौदहवें श्लोक तक दशपुर नगर का मनोरम वर्णन उपलब्ध होता है। इस लेख के अनुसार कुमार-गुप्त का विश्ववर्मा नामक राज्यपाल मन्दसोर में शासन करता था। वह बृहस्पति के समान बुद्धिमान्, भूलोक में राज-मण्डल का भूषण तथा बुद्धि में पार्थ के समान शक्तिशाली था। उसका पुत्र बन्धुवर्मा गम्भीरता एवं सदाशय से युक्त था। दश-पुर की तंतुवाय-श्रेणी ने वहाँ एक भव्य सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया। उस मन्दिर के उत्तुंग एवं विस्तीर्ण शिखर पर्वत के सदृश लगते थे। चन्द्रमा की रश्मिधारा के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समान वह स्वच्छ था। कुछ समय व्यतीत होने पर इस मन्दिर के कुछ भाग नष्ट हो गये। उस समय अपने यश की वृद्धि के लिये इस तन्तुवाय-श्रेणी ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार किया। लेख के अन्त में लेखक, वाचक तथा श्रोता के कल्याण-निमित्त प्रार्थना की गई है।

वासुल—इस कोटि का चौथा कवि वासुल था। वह यशोधर्मन के काल की मन्दसोर-प्रशस्ति का रचयिता था। इसमें लेख ९ श्लोक मिलते हैं। इनमें प्रथम आठ स्रग्धरा तथा नवाँ अनुष्टुभ वृत्त में लिखित हैं। इसकी शैली सरस, रोचक एवं हृदयग्राही है। लेख के अनुसार वासुल कक्क नामक व्यक्ति का पुत्र था (वासुलेनोपरचिताः श्लोकाः कक्कस्य सूनुना)। इस लेख को गोविन्द नामक कलाकार ने उत्कीर्ण किया था (उत्कीर्णा गोविन्देन)।

कालिदास—द्वितीय कोटि के कवियों की रचनायें प्राप्त हुई हैं। इनमें कालिदास, भारवि, भट्टि, मातृगुप्त तथा भर्तृमेण्ठ उल्लेखनीय हैं। कालिदास के उपलब्ध काव्य-ग्रंथ इस प्रकार हैं—(१) ऋतुसंहार, (२) मेघदूत, (३) कुमारसंभव तथा (४) रघुवंश। ऋतुसंहार एक खंड काव्य है, जिसमें छह ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त) का निरूपण उपलब्ध होता है। मेघदूत एक गीतिकाव्य है जिसके दो भाग हैं—(१) पूर्वमेघ तथा (२) उत्तरमेघ। इस ग्रन्थ में कुल १३० श्लोक हैं। इसमें एक विरहविधुर यक्ष तथा उसकी प्रियतमा की आतुर दशा का वर्णन मिलता है। यह वियोग-श्रृंगार का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है। कुमारसंभव में १७ सर्ग मिलते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इस ग्रंथ के केवल प्रारंभिक ८ सर्ग ही कालिदास के द्वारा लिखे गये हैं। मल्लिनाथ की टीका यहीं तक सीमित है। बाद के ९ सर्गों की भाषा और शैली विभिन्न है। पर ऐसा मानना ठीक न होगा। अन्तिम ९ सर्गों के अभाव में कुमार-संभव की रचना पूर्ण नहीं हो सकती थी। इन सर्गों को लिखने के पश्चात् ही कालिदास ने रघुवंश पर लेखनी उठाई होगी। रघुवंश संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग मिलते हैं। प्रारंभ के ९ सर्गों में राम के पूर्वजों (दिलीप, अज, रघु और दशरथ) का वर्णन मिलता है। उसके पश्चात १० से १५ सर्ग तक राम का गुणानुवाद तथा १६ से १९ सर्ग तक राम के वंशजों का चरित उपलब्ध होता है।

भारवि—यह महाकवि अपने 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य के कारण अमर है। वह थोड़े ही शब्दों में बड़े अर्थ के सन्निवेश के लिये प्रसिद्ध है (भारवेरर्थगौरवम्)। इस ग्रंथ की कथा महाभारत के वनपर्व पर आधारित है। इसमें १८ सर्ग मिलते हैं। पाण्डवों और कौरवों की द्यूतक्रीड़ा, पराजित पाण्डवों का वन-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वास, अर्जुन की कठोर तपश्चर्या, किरातवेशधारी शंकर से युद्ध तथा अन्त में उनके प्रसाद से पाशुपत नामक दिव्य शस्त्र को प्राप्त करना आदि–इस ग्रंथ की कथा के प्रमुख विषय हैं।

भट्टि–उन्होंने 'भट्टिकाव्य' की रचना की थी, जिसको 'रावणवध' भी कहा जाता है। इसमें २२ सर्ग तथा १६२४ श्लोक मिलते हैं। इसमें रामायण की कथा का वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ की रचना का उद्देश्य व्याकारण के जटिल नियमों का उदाहरण प्रस्तुत करना था। अतएव यह प्रधानतः शास्त्रकाव्य हो जाता है। व्याकरण का ज्ञाता एवं अलंकार-शास्त्र का मर्मज्ञ ही इस ग्रंथ को वास्तविक रूप में समझ सकता है। भट्टि ने स्वयं कहा है:—"जो विद्वान् व्याकरण के ज्ञाता हैं, उनके लिये यह ग्रन्थ दीपक की भाँति है; किन्तु व्याकरण की दृष्टि से रहित लोगों के लिये अन्धे के हाथ में दिये गये हुए दर्पण के समान उसका कोई महत्त्व नहीं है।"

"दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥"

मातृगुप्त—इनके विषय में सूचना का एकमात्र साधन कल्हण-कृत राजतरंगिणी है। औफ्रेक्ट महोदय के अनुसार मातृगुप्त गुप्तकाल (४३० ई०) में हुआ था। डॉ० भाऊदाजी ने मातृगुप्त और कालिदास को एक ही व्यक्ति माना है। परन्तु यह मत मान्य नहीं है। उनके तर्क सारगर्भित नहीं कहे जा सकते। मातृगुप्त ने भरत के नाटच-शास्त्र के ऊपर एक टीका लिखी थी, जो उपलब्ध नहीं है। कल्हण के अनुसार वे काश्मीर के सम्राट् थे।

भतृमेण्ठ–उनका एक द्वितीय नाम हस्तिपक भी था। उसने हयग्रीववध की रचना की थी। परंपरा के अनुसार मातृगुप्त भतृमेण्ठ के प्रशंसक थे। सूक्तिसंग्रहों में इनके काव्य से उद्धरण उपलब्ध होते हैं। राजशेखर ने केवल तीन ग्रंथकारों की प्रशंसा की है:—वाल्मीकि, भतृमेण्ठ एवं भवभूतिः—

"बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥"

आख्यान–डॉ० अल्तेकर का कथन है कि विष्णुशर्मा ने पंचतंत्र की रचना गुप्त-काल में ही की थी। इसकी रचना का उद्देश्य अमरशक्ति नामक सम्राट के मूर्ख पुत्रों को नीतिशास्त्र में दक्ष बनाना था। विश्व की लगभग पचास भाषाओं में इसके २५० विविध संस्करण निकल चुके हैं। संसार के सबसे अधिक प्रचलित ग्रंथों में बाइबिल के बाद पंचतंत्र का स्थान है। ५७० ई० में इसका अनुवाद पहलवी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भाषा में हुआ था। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इसका अनुवाद यूनानी, लैटिन, स्पैनिश, इटैलियन, जर्मन तथा अंग्रेजी भाषाओं में हो चुका था। प्रारंभिक काल में ही इसकी कहानियों का प्रचार पाश्चात्य देशों में हुआ था। ईसप की कई कहानियों पर पंचतंत्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। पञ्चतन्त्र के पाँच भाग हैं:—(१) मित्रभेद, (२) मित्रलाभ, (३) सन्धिविग्रह, (४) लब्ध-प्रणाश तथा (५) अपरीक्षाकारित्व या अपरीक्षितकारकम्।

नाटक

कालिदास—वे संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार थे। इन्होंने तीन नाटकों की रचना की थी—(१) मालविकाग्निमित्रम्, (२) विक्रमोर्वशीयम् तथा (३) अभिज्ञानशकुन्तलम्। कालक्रम के अनुसार मालविकाग्निमित्रम् कालिदास का प्रथम नाटक ज्ञात होता है। इसमें पाँच अंक मिलते हैं। अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय-कथा का निरूपण इसमें सुन्दर ढंग से मिलता है। रचनाक्रम के अनुसार विक्रमोर्वशीयम् कालिदास का द्वितीय नाटक है। यह पाँच अंकों का एक त्रोटक (उपरूपक) है। इसमें सम्राट् पुरूरवा तथा उर्वशी नामक अप्सरा के प्रणय का वर्णन उपलब्ध है। अभिज्ञानशकुन्तलम् न केवल कालिदास अपितु संपूर्ण संस्कृत नाटक-साहित्य का सर्वोच्च ग्रन्थ माना जाता है। इसमें दुष्यन्त तथा शकुन्तला के मिलन, विप्रलंभ तथा पुनर्मिलन का वर्णन मिलता है।

शूद्रक—उन्होंने मृच्छकटिक की रचना की थी, जो कि दस अंकों का एक प्रकरण है। इसमें सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। भाषा और भाव की दृष्टि से तो यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही ऐतिहासिक सामग्री से भी यह भरपूर है। इसमें राजा, ब्राह्मण, व्यापारी, पुलिस के अधिकारी, वेश्या, कुट्टनी जुआरी, चोर, धूर्त तथा दास आदि—समाज के सभी वर्गों का वर्णन हुआ है। इसकी उक्तियाँ मनुष्य के दैनिक जीवन में काफी ठीक बैठती हैं। दरिद्र व्यक्ति की शोचनीय दशा का उल्लेख करता हुआ लेखक कहता है:—"निर्धन व्यक्ति की बातों को उसके आत्मीय जन भी नहीं सुनते। उसके प्रिय से प्रिय मित्र भी अकारण शत्रु बन जाते हैं। आपत्तियों का ताँता बध जाता है। उसका तेज उत्तरोत्तर क्षीण होने लगता है। उसकी शील रूपी कान्ति म्लान हो जाती है। दूसरों के द्वारा भी किये गये अपराधों को दरिद्र व्यक्ति के ही मत्थे मढ़ दिया जाता है:—

"दारिद्रात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥"

विशाखदत्त—वे सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज पृथु के पुत्र थे। उन्होंने मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम् की रचना की थी। मुद्राराक्षस के भरदवाक्य में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' पाठ मिलता है। अतएव कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के समकालीन थे। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें घटनाओं का वास्तविक एवं सजीव चित्रण हुआ है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि देवीचन्द्रगुप्तम् अपने वास्तविक स्वरूप में अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसके कुछ अंश उद्धरण के रूप में रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र द्वारा रचित 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रंथ में उपलब्ध हैं। देवीचन्द्रगुप्तम् की गणना ऐतिहासिक नाटकों में होती है। इसके प्राप्त उद्धरणों में चन्द्रगुप्त के द्वारा शकराज एवं रामगुप्त का वध तथा तदुपरान्त ध्रुवदेवी के साथ उसके विवाह का वर्णन मिलता है।

धार्मिक ग्रंथ—इस काल के धार्मिक ग्रंथों में स्मृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन एवं बृहस्पति गुप्तकाल की विभूति थे। याज्ञवल्क्य-स्मृति सबसे विशिष्ट मानी जाती है। इसमें आचार (धार्मिक अनुष्ठान), व्यवहार (कानून) तथा प्रायश्चित्त (तपस्या) आदि का वर्णन मिलता है।

पारिभाषिक ग्रन्थ—इस समय चन्द्रगोमिन् ने चान्द्र व्याकरण की रचना की। यह ग्रन्थ बौद्धों में लोकप्रिय था। तिब्बती भाषा में इसका एक अनुवाद उपलब्ध हुआ है। इसी समय अमरसिंह ने अमरकोश की रचना की थी। यह संस्कृत का सबसे प्रामाणिक कोष माना गया है। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि अग्नि पुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कतिपय भाग गुप्त-काल में लिखे गये थे। इसी समय कामन्दक ने नीतिसार की रचना की थी। यह ग्रन्थ कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रभावित है तथा इसका विषय राजनीति है।

विज्ञान—गुप्त-काल में ज्योतिष, गणित तथा चिकित्साशास्त्र के क्षेत्रों में विकास हुआ :—

वराहमिहिर—इस काल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर थे। इनका जन्म काम्पिल्य में हुआ था। वे आदित्यदास के पुत्र थे। ज्ञानार्जन के निमित्त वे उज्जयिनी आये थे :—

"आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः काम्पिल्लके सवितृलब्धपरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बृहत्संहिता तथा पञ्चसिद्धान्तिका इनके सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं। बृहत्संहिता में ज्योतिष, वास्तु तथा तक्षणकला से संबन्धित विषयों का निरूपण मिलता है। पञ्चसिद्धान्तिका के अनुसार ज्योतिष के पाँच सिद्धान्त माने जाते थे। (१) पैतामह सिद्धान्त, (२) वाशिष्ट सिद्धान्त, (३) सूर्य सिद्धान्त, (४) पौलिश सिद्धान्त तथा (५) रोमक सिद्धान्त।

आर्यभट—उसने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में रह कर विद्योपार्जन किया था (आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्)। वह अपने समय का सबसे बड़ा गणितज्ञ माना जाता था। उसने 'आर्यभटीयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसने दशमलव से संबन्धित नवीन बातों का निर्देश किया। अलमसूदी तथा अल्बरूनी के अनुसार इनका अनुसरण कालान्तर में अरब में किया गया। आर्यभट ने पाई के मूल्य (वृत्त के व्यास एवं परिधि का अनुपात) को निश्चित किया। उसके अनुसार ग्रहण में राहु तथा केतु का कोई भी स्थान नहीं है। यह सूर्य तथा चन्द्रमा के ऊपर पृथ्वी की छाया का परिणाम है। भारतवर्ष में सर्वप्रथम उसने इस बात का निर्देश किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर सूर्य की परिक्रमा लगाती है।

चिकित्सा-ग्रन्थ—इस समय चिकित्सा-शास्त्र-संबंधी कुछ ग्रन्थ भी लिखे गये। वाग्भट प्रथम ने 'अष्टांग-संग्रह' की रचना की। इसमें चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता का निचोड़ मिलता है। गुप्तकाल में नवनीतकम् नामक चिकित्सा-शास्त्र-संग्रह प्रस्तुत किया गया। इसमें मेलसंहिता, सुश्रुतसंहिता तथा चरकसंहिता के सिद्धान्तों का संकलन उपलब्ध होता है।

शिक्षा—प्रसिद्ध नगरों में शिक्षा देने वाले आचार्य रहते थे। वे अपने घर पर ही विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। छात्रों से जो कुछ दक्षिणा उन्हें प्राप्त होती थी, उनसे वे अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। ऐसे ब्राह्मण आचार्य पौरोहित्य कर्म तथा राज्य एवं धनिक व्यक्तियों से उपलब्ध दान के द्वारा भी कुछ द्रव्यार्जन कर लेते थे। इस प्रकार के शिक्षा-केन्द्रों में पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, वलभी, तक्षशिला, प्रवरपुर तथा पद्मावती उल्लेखनीय हैं। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि आर्यभट की शिक्षा पाटलिपुत्र तथा वराहमिहिर की शिक्षा उज्जयिनी में संपादित हुई थी। इसके तीर्थ भी शिक्षा-केन्द्र थे। उदाहरणार्थ अयोध्या में मंत्र, सूत्र, भाष्य तथा प्रवचन में पारंगत विद्वान रहते थे (स्वाध्याय-मंत्रसूत्र-भाष्यप्रवचनपारग)।

गुप्तकाल में अग्रहार-ग्रामों में भी शिक्षा दी जाती थी। पारंगत विद्वानों को राज्य की ओर से ग्राम दान में मिलते थे। उनकी आमदनी से आचार्य पाठ-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America-HHFA(USA)

शाला खोलता था। उड़ीसा में इस प्रकार के ३६ अग्रहार ग्राम थे, जहाँ उच्च शिक्षा दी जाती थी। पिष्ठपुर के एक अग्रहार-ग्राम में प्रकाण्ड विद्वान् तथा शिक्षक रहते थे (विद्याध्ययनप्रवचनव्याख्यानशीलिनः)। इस समय नालंदा के विश्व-विद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। गुप्तकाल के अन्त में यह शिक्षा के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध हो चुका था। असंग, नागार्जुन, वसुबन्धु तथा दिङ्नाग संभवतः इसी विश्वविद्यालय की विभूति थे।

वास्तुकला

राजप्रासाद—इस समय के ग्रंथों में राजमहल के लिये प्रासाद, राजप्रासाद, राजगृह, राजवेश्म, राजगृह तथा राजनिवेशन आदि शब्द आते हैं। फाहियान ने गुप्तकालीन राजप्रासाद का मनोरम विवरण किया है। उसे देख कर वह आश्चर्य-चकित हो उठा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस विशाल भवन का निर्माण देवों ने किया था, मानव ने नहीं। उसके अनुसार सभा-भवन के द्वार तथा उसकी भीतों में पत्थरों की चुनाई की गई थी।

नागरिक शालाएँ—प्राचीन ग्रंथों में नागरिक शालाओं के लिये आगारा, अधिवास, वेश्म, गृह, शाला, सदन, हर्म्य तथा सौध शब्दों का प्रयोग किया गया है। वात्स्यायन के अनुसार प्रत्येक नागरिक शाला में दो भाग होते थे :—(१) वहिर्भाग तथा (२) अंतःपुर। इस प्रकार के घर को 'द्विवास-गृह' कहा जाता था। वहिर्भाग पुरुषों के लिये बना होता था तथा अंतःपुर स्त्रियों के प्रयोग के लिये। प्रत्येक भाग में कई कमरे होते थे (विभक्तकर्मकक्षम्)। इनमें से प्रत्येक किसी विशेष उद्देश्य से बने होते थे। नागरिक शालाओं के संबन्ध में स्नान, शयन तथा भोजन के कमरों का प्रायः उल्लेख मिलता है।[1] भवन का एक वहिर्द्वार होता था, जिससे होकर घर के अन्दर प्रवेश किया जाता था। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के वहिर्द्वार का सुंदर वर्णन मिलता है। यह अपने विलक्षण सौन्दर्य के कारण वीतराग का भी मन आकर्षित कर लेता था। उसके ऊपर भरपूर जल का छिड़काव किया गया था। मार्जनी से सफाई कर उसे खूब स्वच्छ कर दिया गया था। हरे रंग के लेप तथा सुगंधित पुष्पों से सजाने के कारण वह चित्रित सा प्रतीत हो रहा था।

---

१. द्रष्टव्य, मेरा शोध-प्रबन्ध 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' पृष्ठ १००

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उस पर चमेली की सुन्दर माला लटकाई गई थी।[१] धनिक नागरिक के बहिर्द्वार के सामने एक द्वारपाल भी नियुक्त होता था।[२]

भवन की औसत ऊँचाई आदर्श मानी जाती थी। नारद स्मृति में कहा गया है कि भवन की ऊँचाई यथासंभव न तो बहुत अधिक हो और न बहुत कम।[३] भवनों में कभी-कभी शिखर बने होते थे। शिखर के लिये इस समय के ग्रंथों में शृंग तथा अट्ट शब्द आते हैं। महाभारत में ऐसे शिखरों का उल्लेख मिलता है, जो सुधालेप के कारण पाण्डुवर्ण के लगते थे।[४] सीढ़ियों को सोपान कहा जाता था। ऐसे सोपानों का प्रायः उल्लेख मिलता है, जिनसे सरलतापूर्वक ऊपर चढ़ा जा सकता था (सुखारोहणसोपानैः)। सुन्दरता के हेतु भवनों के ऊपर झंडे फहराये जाते थे। उन्हें ध्वज, पताका तथा केतु कहा जाता था। मन्दसोर के लेख के अनुसार नगर के भवनों के ऊपर झंडे फहराये गये थे।[५] धनिक नागरिकों के भवनों के ऊपर सौन्दर्य के निमित्त वंदनवार सजाया जाता था। भवनों में स्थान स्थान पर रोशनदान या खिड़कियाँ बनी होती थीं। इनको वातायन (पाली में वातपान) कहा जाता था। मृच्छकटिक में उज्जयिनी के भवनों के वातायनों का उल्लेख हुआ है[६]। कालिदास ने अयोध्या के भवनों के वातायनों में बैठी हुई पुरसुंदरियों का वर्णन किया है।[७] उनमें नागरिक के शृंगार की विभिन्न सामग्री वर्तमान् होती थी; उदाहरणार्थ रात्रि में लगाये जाने वाले अनुलेप, माला, मोम रखने का पात्र, सुगंधित द्रवों के रखने

---

१. मृच्छकटिक, अंक ४

२. "श्रोत्रिय इस सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः"

—वही, अंक ४

३. "नात्युच्छ्रितं नातिनीचं कुर्य्योत्सेधं यथारुचि"

—नारद, २९, १११

४. "सुधापाण्डुशृंगैश्च"

—सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ३८

५. "चलत्पताकानि"

सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९१

६. "स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैः"

—मृच्छकटिक, अंक ४

७. "प्रासादवातायनसंस्थितानाम्"

—रघुवंशे, ६, २४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

की डिबिया, मुखवास को शुद्ध करने वाले चूर्ण की डिबिया तथा पनडब्बा।[1]

गृह-प्रांगण में उद्यान लगाया जाता था। इसमें तरह-तरह के वृक्ष लगाये जाते थे। यही कारण है कि कहीं-कहीं गृह-उद्यान को वृक्ष-वाटिका कहा गया है।[2] उद्यान के भीतर हरित शाक, औषधियाँ एवं वनस्पतियों के बीज आरोपित किये जाते थे।[3] वाटिका की शोभा को बढ़ाने के लिये विभिन्न प्रकार के पुष्पों का आरोपण किया जाता था। वात्स्यायन ने मल्लिका, नवमालिका तथा कुरंटक आदि पुष्पों के लगाने का उल्लेख किया है। मनोविनोद के लिये भवनोद्यान के वृक्षों में पेंग मारने वाली झूला (प्रेंखादोला) लटकाई जाती थी। बैठने के लिये स्थान-स्थान पर सुन्दर वेदी (स्थंडिल) का निर्माण किया जाता था।[4]

स्तूप—कुमारस्वामी के अनुसार सारनाथ के धमेख-स्तूप का निर्माण गुप्त-काल में हुआ था। यह ईंटों का बना है। पूरे स्तूप की ऊँचाई १२८ फीट के लगभग है। इसकी विशेषता यह है कि यह धरातल पर निर्मित है। इसमें अन्य स्तूपों की भाँति चबूतरा नहीं मिलता। इस स्तूप के चार प्रधान कोनों पर बौद्ध प्रतिमाओं को रखने के निमित्त ताख बने हुए हैं जिनके नीचे रेखागणित की विभिन्न आकृतियाँ तथा पुष्प एवं पत्तियों के नमूने अंकित किये गये हैं। गुप्तकाल का दूसरा प्रसिद्ध स्तूप राजगृह का 'जरासन्ध का बैठक' है। इसका निर्माण एक ऊँचे चबूतरे के ऊपर हुआ है। यह पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनाया गया था।

गुफाएँ—गुप्तकालीन गुफा-मन्दिरों का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है—(१) ब्राह्मण गुहा-मन्दिर तथा (२) बौद्ध गुहा-मन्दिर। ब्राह्मण गुफा-मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध उदयगिरि का गुहा-मन्दिर है। इसका निर्माण चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य के सेनापति वीरसेन ने कराया था। इसकी भीतरी दीवाल के ऊपर एक लेख भी मिलता है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। यह मन्दिर शैव धर्म से संबंधित है। इसके भीतर एक गर्भगृह तथा उसके सामने एक मण्डप

---

१. द्रष्टव्य, मेरा शोध-प्रबन्ध 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' पृष्ठ १०६

२. "तत्भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिका"
—कामसूत्र, पृष्ठ ४२, सूत्र ४

३. वही, पृष्ठ २२५, सूत्र ७

४. "वृक्षवाटिकायां च स्थण्डिलानि मनोज्ञानि कारयेत्"
—वही, पृष्ठ २२५, सूत्र १७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिलता है। स्तंभों एवं दीवालों के ऊपर गुप्त-शैली में काट-छाँट तथा पच्चीकारी का काम किया गया है।

बौद्ध-गुहा-मन्दिर में अजन्ता तथा बाघ की गुफाएँ आती हैं। अजन्ता की गुफाएँ (संख्या १६, १७ तथा १९) गुप्तकाल की मानी जाती हैं। फोगेल ने इन गुफाओं की निम्न विशेषताओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है—(१) अजन्ता की गुफाओं के भीतर चट्टान-खंड को काट कर स्तूप बनाये गये हैं। स्तूप के ऊपर हर्मिका एवं छत्र मिलता है। (२) ये गुफाएँ महायान-धर्म से संबन्धित हैं। इनमें गौतम बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का अंकन मिलता है। गुप्तकाल के पहले की गुफाओं का संबन्ध हीनयान-धर्म से है। अतएव उनमें गौतम की कोई प्रतिमा नहीं प्राप्य है। उन्हें प्रतीकों के माध्यम द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। (३) सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें यक्ष, यक्षिणी तथा नाग प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि गुप्त-काल में बौद्ध एवं ब्राह्मण-धर्म में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की जा रही थी। (४) जहाँ पूर्वकालीन गुफाओं के स्थापत्य में सादगी है, वहाँ अजन्ता के गुहा-मन्दिरों के निर्माण में अलंकरण एवं सजावट प्राप्य है। गुहा-मन्दिर (संख्या १६) ६५ फीट लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है। इसके भीतर २१ स्तम्भ हैं। इनकी बनावट विभिन्न शैली में है। इस मन्दिर के दो भाग हैं—(१) अन्तःप्रकोष्ठ—इसमें स्तूप बना हुआ है; तथा (२) बाह्य प्रकोष्ठ—इसमें भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ पूजा के हेतु एकत्र होती थीं। दोनों ओर के बरामदों में भिक्षुओं के निवास के निमित्त छोटे कमरे भी बने हुए हैं। इसमें प्रलम्बपाद मुद्रा में गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा मिलती है। गुफा-संख्या १७ की बनावट गुफा-संख्या १६ के स्थापत्य के ठीक समान है। इसमें गवाक्ष, स्तम्भ, चट्टाननिर्मित स्तूप तथा बौद्ध प्रतिमाओं के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। गुफा-संख्या १९ के भीतर एक सुन्दर स्तूप मिलता है, जिसके ऊपर तथा नीचे के भागों में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ अंकित की गई हैं। स्तूप के सबसे ऊपरी भाग पर हर्मिका एवं त्रिछत्र मिलते हैं। बाघ की गुफाएँ भी बौद्ध धर्म से संबन्धित हैं। इनकी दीवालों के ऊपर चित्रकारी मिलती है।

मन्दिर—गुप्तकालीन मन्दिरों की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं:—

(१) केवल भीतरगाँव के मन्दिर को छोड़ कर अन्य सभी प्रस्तर-निर्मित हैं। वे प्रस्तरनिर्मित ब्राह्मण-मन्दिरों के सबसे प्राचीन उदाहरण हैं।

(२) इनकी छतें प्रायः चिपटी हैं। गुप्त काल के अन्त में मन्दिरों के शीर्ष-स्थान पर शिखर-निर्माण की परंपरा आरंभ हुई।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(३) वे एक चबूतरे के ऊपर बने हुए हैं, जिसके चतुर्दिक् ऊपर आने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं।

(४) इन मन्दिरों के भीतरी भाग में सादगी मिलती है, पर इनका प्रवेश-द्वार पर्याप्त अलंकृत एवं सुसज्जित है।

(५) मन्दिर के द्वार के चौखट पर मकरवाहिनी गंगा तथा कूर्मवाहिनी यमुना की आकृतियों का अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसके ऊपर कुछ अन्य सुन्दर एवं शुभ आकार अंकित किये गये हैं; उदाहरणार्थ द्वारपाल (प्रतीहारी), उड़ते हुये हंसों के जोड़े (मांगल्य विहग), शुभ वृक्ष (श्रीवृक्ष), स्वस्तिक, कलश (पूर्ण घट), मिथुन तथा पत्रवल्ली। कभी-कभी चौखट पर शंख एवं पद्म के आकार प्रदर्शित किये गये हैं। इस प्रकार के निर्माण का उल्लेख मेघदूत में मिलता है (द्वारोपान्ते–लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा)।

(६) मन्दिर के भीतर एक गर्भ-गृह मिलता है, जिसमें देव-प्रतिमा की स्थापना की गई है। गर्भ-गृह के सामने एक मण्डप (मुखमंडप) मिलता है।

(७) इनमें कुछ शुभ एवं भव्य प्रतीकों का अंकन प्राप्य हैं; उदाहरणार्थ गवाक्ष-वातायन तथा पूर्णकलश।

(८) गर्भगृह के चतुर्दिक् एक प्रदक्षिणा-मार्ग हुआ करता था।

गुप्तकालीन मन्दिरों के सात उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—(१) नागोद राज्य में स्थित भुमरा का शिव-मन्दिर, (२) जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान पर निर्मित विष्णु-मन्दिर, (३) नचनाकुठार का पार्वती मन्दिर, (४) देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, (५) खोह का मन्दिर, (६) भीतरगाँव का मन्दिर तथा (७) लाड़खान का मन्दिर।

भुमरा का शिव-मन्दिर—इसका अब केवल गर्भगृह मात्र अवशिष्ट है। इसके निर्माण में प्रस्तर-खंडों का उपयोग किया गया है। इसकी छत चिपटी है। गर्भ- गृह के भीतर शिव की प्रतिमा मिलती है। प्रवेश-द्वार पर सजावट का काम किया गया है। इसकी चौखट पर गंगा और यमुना की आकृतियाँ अंकित की गई हैं। गर्भगृह के समक्ष एक मण्डप तथा उसके चतुर्दिक् प्रदक्षिणामार्ग मिलता है। मण्डप स्तम्भयुक्त था। मन्दिर में खिड़कियाँ (गवाक्ष) बनी हुई हैं।

तिगवा का विष्णु-मन्दिर—यह मन्दिर बनावट की दृष्टि से बहुत ही सादा है। इसके गर्भगृह का व्यास आठ फीट के लगभग है। इसके समक्ष एक मण्डप है, जिसकी लम्बाई सात फीट है। इसके स्तम्भ कई कोनों से युक्त हैं। उनके शीर्ष-स्थान पर सिंह तथा पूर्ण कलश की आकृतियाँ बनी हैं। गर्भगृह के द्वार पर गुप्त-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कालीन स्थापत्य की विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं। उसके चौखट पर कूर्मवाहिनी यमुना तथा मकरवाहिनी गंगा अंकित की गई हैं।

नचनाकुठार का पार्वती-मन्दिर—यह मन्दिर अजयगढ़ राज्य में स्थित है। इसका निर्माण ५०० ई० के लगभग हुआ था। यह प्रत्येक दिशा में १५ फीट एक वर्गाकार भवन है। इसके गर्भगृह की चौड़ाई साढ़े आठ फीट है। गर्भगृह के समक्ष एक स्तम्भयुक्त मंडप है। इसका निर्माण पैंतीस फीट वर्गाकार एक चबूतरे के ऊपर किया गया है। इसके चतुर्दिक् सीढ़ियाँ बनी हैं। गर्भगृह के चारों ओर एक प्रदक्षिणा-मार्ग भी मिलता है। इसकी दीवालों पर विभिन्न आकृतियों का अंकन किया गया है।

देवगढ़ का दशावतार-मन्दिर—कुमारस्वामी का अनुमान है कि इसका निर्माण गुप्तकाल के अन्त में हुआ था। यह इस समय का सबसे सुन्दर मन्दिर माना जाता है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में इस मन्दिर के निर्माण में गुप्त-स्थापत्य अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। इसकी कतिपय विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(१) जहाँ अन्य मन्दिरों की छतें चिपटी है, वहाँ इसमें एक शिखर मिलता है। (२) जहाँ अन्य मन्दिरों में केवल एक ही मण्डप हैं, वहाँ इसमें चार मण्डप मिलते हैं। प्रत्येक मण्डप की छत चिपटी है। ये मण्डप गर्भगृह की चारों दिशाओं में वर्तमान हैं। (३) इसमें मूर्तियों के द्वारा पौराणिक कथाओं का निरूपण किया गया है। इसमें एक स्थान पर गजेन्द्रमोक्ष तथा दूसरे स्थान पर शेषशायी विष्णु का दृश्य प्रदर्शित किया गया है। गर्भगृह की बाहरी दीवालों के ऊपर रामायण के कतिपय दृश्य अंकित किये गये हैं। यह मन्दिर प्रारंभिक वास्तुकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण स्वीकार किया जाता है।

खोह का मन्दिर—यह मन्दिर भूतपूर्व नागोद रियासत में वर्तमान है। यह अपने समय का भव्य देवालय रहा होगा। इसमें एकमुखलिंग शिवमूर्ति स्थापित की गई थी। इसमें शंभु-गणों की भी कुछ मूर्तियाँ रखी हुई थीं, जो आज प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

भीतरगाँव का मन्दिर—गुप्तकालीन मन्दिरों में केवल यही एक ऐसा है, जिसका निर्माण ईंटों के द्वारा किया गया था। इसकी छत पिरेमिडनुमा है। इसकी बाहरी दीवालों में ताख बने हुए हैं, जिनमें मृण्मयी मूर्तियाँ रखी हुई हैं। इनके द्वारा हिन्दू पौराणिक कथाओं के कतिपय दृश्यों को प्रदर्शित किया गया है।

लाड़खान का मन्दिर—वह ऐहोड़े के समीप लाड़खान नामक स्थान पर विद्यमान है। कुमारस्वामी के अनुसार इसका निर्माण ४५० ई० के लगभग हुआ था। इसकी छत चिपटी है तथा दीवालों में प्रस्तर-खंड लगाये गये हैं। इसकी दीवालों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में भी ताख बने हैं, जिनमें मूर्तियों का अंकन किया गया है। इस मन्दिर की छत के ऊपर गर्भगृह के आकार के तुल्य एक वर्गाकार निर्माण मिलता है। इसकी खिड़कियों की बनावट काफी सुन्दर है।

तक्षण-कला

विशेषताएँ—तक्षण-कला के विकास की दृष्टि से भी गुप्त-काल काफी महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति-निर्माण के क्षेत्र में इस समय नवीन परिवर्तन हुए। मानसार में 'तक्षक' शब्द का उल्लेख मिलता है। शिल्पशास्त्रों के अनुसार वह प्रस्तर को काट कर बृहत् एवं लघु मूर्तियाँ बनाता था (तक्षणात्स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकस्तु स्मृतः)। गुप्तकालीन मूर्तियों में निम्न विशेषतायें परिलक्षित होती हैं :—

(१) कुषाणकालीन मूर्तियों में पतले एवं महीन उत्तरीय वस्त्र के द्वारा शरीर के सौन्दर्य को उभाड़ने का प्रयास किया गया है। गुप्तकालीन मूर्तिकारों ने अपेक्षाकृत मोटे उत्तरीय वस्त्र की सहायता से इस आकर्षण को ढकने का प्रयास किया। उन्होंने नग्नता के स्थान पर संयमित सौन्दर्य को प्रधानता दी।

(२) इस समय सारनाथ-केन्द्र में जो मूर्तियाँ बनाई गईं, उनके ऊपर गंधार शैली का कोई भी प्रभाव नहीं परिलक्षित होता। कुषाणकालीन मूर्तियों में प्रभामंडल सादा एवं अनलंकृत है। गुप्तकालीन मूर्तियों के प्रभामंडल को विविध आकृतियों द्वारा सुसज्जित किया गया।

वैष्णव मूर्तियाँ—पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि गुप्त-काल में वैष्णव धर्म का विकास हुआ। अतएव वैष्णव मूर्तियों का निर्माण स्वाभाविक ही था। अभिलेखों में मूर्तिनिर्माण के उल्लेख मिलते हैं। जूनागढ़ के लेख के अनुसार चक्रपालित ने एक विष्णु-मन्दिर का निर्माण किया (कारितमवक्रमतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहम्)। इसमें उसने विष्णु की एक मूर्ति की स्थापना की थी (विष्णोश्च पादकमले समवाप्य तत्र)। भितरी के लेख के अनुसार स्कन्दगुप्त के शासन-काल में विष्णु-मूर्ति की स्थापना की गई थी।[1] अधिकतर विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियाँ बनाई गईं। इनमें उनके सिर के ऊपर मुकुट, गले में हार तथा केयूर तथा कानों में कुंडल प्रदर्शित किया गया है। उनकी चतुर्भुजी मूर्तियों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) उदयगिरि की गुहा की दीवाल पर अंकित विष्णु-प्रतिमा तथा (२) एरण की विष्णु-प्रतिमा।

---

१. "कर्त्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३१५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विष्णु की सबसे प्रसिद्ध प्रतिमा देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में उपलब्ध हुई है। इसको 'अनन्तशायी' मूर्ति की संज्ञा दी जाती है। इसमें विष्णु शेषनाग को शय्या बना कर लेटे हुये प्रदर्शित किये गये हैं। कुंडल, मुकुट, वनमाल, कंकण, हार तथा केयूर आदि से उनका शरीर सुशोभित है। इसमें एक ओर शिव तथा ऐरावत गज पर आरूढ़ इन्द्र आदि देवताओं की प्रतिमायें अंकित की गई हैं। समीप ही दो शस्त्रधारी पुरुषों की आकृतियाँ भी प्रदर्शित की गई हैं। अन्य अंकित आकृतियों में मयूर पर आसीन कार्तिकेय उल्लेखनीय हैं। नाभि से निकले हुये कमल के ऊपर चार मुख वाले ब्रह्मा आसीन हैं। उनके पैरों की ओर चरण दबाती हुई लक्ष्मी की आकृति दिखाई गई है।

वराह-प्रतिमाएँ—इस समय विष्णु के वराह (नृसिंह-वराह) अवतार की प्रतिमाएँ बनाई गईं। वराह की मूर्तियाँ दो प्रकार की प्राप्त हुई हैं—(१) इनमें शरीर मनुष्य एवं मुख वराह का प्रदर्शित किया गया है तथा (२) इनमें वराह की वास्तविक आकृति दिखाई गई है। पहले प्रकार की आकृति उदयगिरि की गुफा की दीवाल पर अंकित मिलती है। इसमें वराह के वाम पद के नीचे शेष की आकृति एवं कंधे के ऊपर भूमि देवी की आकृति दिखाई गई है। यह मूर्ति गुप्त-कालीन तक्षणकारों की प्रतिभा का स्मारक मानी जाती है।[1] दूसरे प्रकार की मूर्ति एरण से उपलब्ध हुई है। इसका निर्माण मातृविष्णु के अनुज धन्यविष्णु ने किया था। वह एरण में तोरमाण की अधीनता स्वीकार करता था (धन्यविष्णुना मातापित्रोः पुण्याप्यायनार्थमेव भगवतो वराहमूर्त्तेर्ज्जगत्परायणस्य नारायणस्य शिलाप्रासादः स्वविषयेऽस्मिन्नैरिकिणे कारितः)।[2]

शिव-मूर्तियाँ—गुप्तकालीन लेखों में शिव की प्रतिमाओं के निर्माण का उल्लेख मिलता है; उदाहरणार्थ करमदाण्डा तथा बिलसद के अभिलेख। इस समय की शिव-मूर्तियों का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है—(१) चतुर्मुख-शिवलिंग-मूर्ति—इसमें शिव के चार मुख दिखाये गये हैं तथा (२) एकमुख-शिवलिंग मूर्ति—इसमें शिव का केवल एक ही मुख दिखाया गया है। करमदाण्डा से पहली कोटि की शिव-प्रतिमा का उदाहरण उपलब्ध हुआ है। इसका निर्माण कुमारगुप्त के मंत्री तथा कुमारामात्य पृथिवीषेण ने किया था। वह चन्द्रगुप्त

---

१. वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ४१५
२. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३९६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विक्रमादित्य के मन्त्री तथा कुमारामात्य शिखरस्वामी का पुत्र था।[1] दूसरे प्रकार की मूर्ति खोह से प्राप्त हुई है। इसमें शिव का जटाजूट, अर्द्धचन्द्र एवं तृतीय नेत्र तथा उनके गले में हार और कानों में कुंडल प्रदर्शित किया गया है।

बौद्ध प्रतिमाएँ—गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियाँ अपने निर्माण की उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं। विंसेंट स्मिथ का कथन है कि उनमें सजीवता एवं मौलिकता मिलती है। दक्षिण-पूर्व एशिया तथा मध्य एशिया की कला पर गुप्तकालीन बौद्ध तक्षण-कला का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। गुप्त-वंशीय अभिलेखों में बौद्ध मूर्तियों की स्थापना के उल्लेख मिलते हैं। गुप्त-संवत् १२९ (४४८ ई०) के मनुकुँवर के लेख के अनुसार बुद्धिमित्र नामक भिक्षु ने बुद्ध-मूर्तिकी स्थापना की थी (सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्धमित्रेण)।[2] गुप्त-संवत् १५७ (४७६ ई०) के सारनाथ के लेख के अनुसार अभयमित्र नामक भिक्षु ने अपने माता-पिता की कीर्ति की अभिवृद्धि के लिये बुद्ध की एक प्रतिमा स्थापित की थी।[2] इस समय की तीन बौद्ध मूर्तियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं–(१) मथुरा-संग्रहालय की गौतम बुद्ध की खड़ी मूर्ति, (३) बरमिंघम-संग्रहालय की बुद्ध की ताम्रमूर्ति तथा (३) सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा। मथुरा एवं बरमिंघम के संग्रहालयों की मूर्तियों में भी गुप्तकालीन तक्षण-कला का चूड़ान्त निदर्शन उपलब्ध होता है। वे इनमें व्याख्यान-मुद्रा में प्रदर्शित किये गये हैं। सारनाथ की मूर्ति में गौतम बुद्ध ध्यानमग्न मुद्रा में आसीन दिखाये गये हैं।

अन्य मूर्तियाँ—इस काल की कुछ मूर्तियाँ राम और कृष्ण के जीवन से संबन्धित हैं। उदाहरणार्थ देवगढ़ के मन्दिर में एक स्थान पर कृष्ण-जन्म, वसुदेव के द्वारा कृष्ण को गोकुल पहुँचाना, कालिया नाग का दमन तथा गोवर्द्धन-पर्वत-धारण आदि दृश्यों का अंकन किया गया है। इस मन्दिर में अन्यत्र कृष्ण-सुदामा मिलन का दृश्य दिखाया गया है। इसमें सुदामा की दयनीय दशा देखते बनती है। पास में खड़ी रुक्मिणी उसके प्रति कृष्ण के अगाध प्रेम को देख कर आश्चर्यचकित हो उठती हैं। देवगढ़ के मन्दिर में राम के जीवन से संबन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण दृश्य अंकित किये गये हैं; उदाहरणार्थ अहिल्या का उद्धार, राम का वनबास, अगस्त्य के आश्रम का दर्शन तथा लक्ष्मण के द्वारा शूर्पणखा का कर्णछेदन आदि।

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २८१

२. "यदत्र पुण्यं प्रतिमां कारयित्वा मया भृतम्।
मातापित्रोर्गुरूणां च लोकस्य च समाप्तये॥"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३२३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चित्रकला—चित्रकला का ज्ञान प्रत्येक सभ्य नागरिक के लिये अनिवार्य था। प्राचीन ग्रंथों में चित्रकला को चित्रकर्म्मरचना,[१] चित्रकर्म्म[२] तथा आलेख्य[३] कहा गया है। वात्स्यायन ने इसकी गणना चौसठ कलाओं से की है। चित्रकला की शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे। कालिदास ने चित्रकला के शिक्षक के लिये 'चित्राचार्य' शब्द का प्रयोग किया है। उत्तररामचरित में अर्जुन नामक एक चित्रकार का उल्लेख मिलता है, जो कि चित्रकला की शिक्षा देता था।[४] वात्स्यायन ने कामसूत्र में चित्र के छह अंगों (चित्रं षडंगकम्) का उल्लेख किया है—(१) रूपभेद (आकृतिज्ञान), (२) प्रमाण (नाप), (३) भाव (रूप पर विचार का प्रभाव), (४) लावण्ययोजन (कलात्मक अभिव्यक्ति), (५) सादृश्य (तद्रूपता) तथा (६) वर्णिकाभंग (उपकरण का ठीक प्रयोग)।[५] चीन में भी चित्र के छह अंग (The six canons) माने जाते थे। छठी शताब्दी के लेखक 'सियेह हो' ने इसका उल्लेख किया है। विद्वानों का अनुमान है कि चीनवासियों ने इसे भारतवर्ष से सीखा था।

नगरों में चित्रशालायें बनी होती थीं, जिनकी दीवालों पर तरह-तरह के चित्र बने होते थे। मालविकाग्निमित्रम् में इस प्रकार की एक चित्रशाला का उल्लेख मिलता है।[६] कादम्बरी में चित्रशालाओं के उल्लेख मिलते हैं; जिनमें देव, दानव, सिद्ध तथा गंधर्वों के चित्र बने हुए थे।[७] नाट्यशास्त्र में चित्रशाला की दीवालों के ऊपर चित्र बनाने का वर्णन मिलता है।[८] नागरिक के पास एक पेटी हुआ करती थी, जिसमें विभिन्न प्रकार के रंग तथा चित्रनिर्माण के उपकरण भरे रहते थे। ऐसी पेटी को वर्णिकाकरंड, वर्णमंजूषा, तथा प्रतोलिका कहा जाता

---

१. मुद्राराक्षस, अंक २
२. कामसूत्र, पृष्ठ २९२, सूत्र २०
३. वही, पृष्ठ ३२
४. उत्तररामचरित, अंक १
५. "रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्रं षडङ्गकम्॥"
—कामसूत्र, पृष्ठ ३३
६. मालविकाग्निमित्रम्, अंक १
७. कादम्बरी, पृष्ठ २१०
८. नाट्यशास्त्र, २, ७२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

था। वात्स्यायन ने इसे प्रिया को उपहार के रूप में समर्पित करने का उल्लेख किया है।[1]

कामसूत्र के अनुसार प्रतोलिका में हरा, लाल, श्याम, पीत तथा श्वेत रंग भरा जाता था (शिलाहरितालहिंगुलश्यामवर्णकादीनाम्)। कुमारसंभव में रंग की पेटी में हरा, लाल, काला तथा श्वेत रंग के रखे जाने का उल्लेख मिलता है।[2] चित्रकला के उपकरणों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—तूलिका तथा वर्तिका। तूलिका से चित्र में रंग भरा जाता था। कुमारसंभव में कहा गया है कि नव यौवन के आगमन द्वारा पार्वती का शरीर उसी प्रकार सुशोभित हो रहा था, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल प्रस्फुटित होता है अथवा तूलिका से रँगा हुआ चित्र सौन्दर्ययुक्त हो उठता है।[3] वर्तिका एक पेंसिल होती थी, जिससे चित्र का खाका तैयार किया जाता था। वर्तिका के द्वारा खाका-चित्र बनाने का उल्लेख कालिदास ने किया है। इसे देख कर शकुन्तला की सखी आश्चर्यचकित हो कहती है—"अरे ! जरा राजा दुष्यन्त की वर्तिका-निपुणता को तो देखो। लगता है, मानों मेरी सखी ही सामने खड़ी हो।"[4] कभी-कभी खड़िया से भी चित्र का खाका खींचा तथा उसमें रंग भरा जाता था। मेघदूत में यक्ष लाल रंग की खड़िया से अपनी प्रियतमा का चित्र शिलापट्ट पर बनाता हुआ दिखाया गया है।[5] इसको 'धातुराग-आलेखन' (लाल खड़िया से चित्र का तैयार करना) कहते थे।

चित्र की पृष्ठ भूमि को भली भाँति स्वच्छ कर उसके ऊपर मृगनाभि अथवा चन्दन का अंगराग लगाया जाता था। पृष्ठभूमि में सौन्दर्य लाने के लिये उसमें

---

१. "प्रतोलिकानां....दानम्"

—कामसूत्र, पृष्ठ २०३

२. "पीतासितारिक्तसितैः"

—कुमारसंभव, सर्ग १५

३. "उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥"

वही, सर्ग १, श्लोक ३२

४. "अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता ! जाने मे सखी अग्रतो वर्तते इति"

—शाकुन्तलम्, सर्ग ६

५. "त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैश्शिलायाम्"

—मेघदूत, २, ४७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राकृतिक दृश्य चित्रित किये जाते थे। उदाहरणार्थ मेघदूत में एक चित्रकार चित्र की पृष्ठभूमि को रेवा नदी तथा विंध्यश्रेणियों के दृश्य से सुसज्जित करता हुआ उल्लिखित किया गया है (रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्)।[1] शाकुन्तलम् में दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र की पृष्ठभूमि में कुछ प्राकृतिक विषयों को चित्रित करने के उद्देश्य से कहते हैं :—"अभी मुझे मालिनी नदी बनानी है, जिसके बालुकामय दोनों तटों पर हंसों के जोड़े बैठे हों। उसके चतुर्दिक् हिमालय की पवित्र श्रेणियों को भी चित्रित करना है, जिन पर हरिण बैठे हों। शाखाओं में लटकते हुये वल्कलों वाले वृक्षों के नीचे कृष्ण मृग की सींग पर बायें नेत्रों को खुजलाती हुई मृगी का चित्र भी अभी दिखाना है।[2]" चित्रकारी में पूर्णता का ले आना आवश्यक समझा जाता था। शाकुन्तलम् में दुष्यन्त अपनी प्रियतमा का चित्र बनाते हुए कहते हैं कि इसमें जो कुछ शुद्ध न था, उसको यद्यपि मैंने ठीक किया तथापि उसका सौन्दर्य बहुत कुछ ठीक नहीं उभड़ पाया है।[3]

अजन्ता की चित्रकला—चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण अजन्ता से प्राप्त हुये हैं। हैदराबाद के समीपस्थ जलगाँव नामक स्टेशन से लगभग ३५ मील दूर फर्दापुर नामक एक ग्राम है। अजन्ता इससे चार मील दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। वहाँ पर चट्टान को काट कर २९ गुफायें बनाई गई हैं। ये स्थापत्य एवं तक्षण-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं ही, पर प्रधान रूप से उनकी महत्ता चित्रकला के क्षेत्र में है। ये गुफायें अर्द्ध वृत्ताकार अवस्था में काटी गई हैं। १९१८ ई० तक इन चित्रों के विषय में कोई भी जानकारी नहीं थी। वहाँ पर जंगल उग गया था और इन गुफाओं में अधिकांशतः जंगली जानवर रहते थे। इस बीते हुये काल में अजन्ता के चित्र काफी नष्ट हो गये। अवशिष्ट चित्र भी कुछ सीमा तक अस्पष्ट एवं धुंधले हैं। तथापि इनके द्वारा इनके पूर्व रूप के विषय में पर्याप्त परिचय उपलब्ध

---

१. मेघदूत १, २०

२. "कार्या सैकत-लीन-हंस-मिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्ण-हरिणा गौरी-गुरोः पावनाः।
शाखा-लम्बित-वल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥"
—शाकुन्तलम्, अंक ६

३. "यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्याः लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥"
—वही, अंक ६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

होता है। ये चित्र गुफा संख्या १,२, ९, १०, १६ तथा १७ में उपलब्ध होते हैं। ये चित्र कई समय के बने हुये हैं :—

(१) गुफा-संख्या ९ तथा १० के भित्ति-चित्र—गुप्त-काल के पूर्व (पहली शताब्दी)

(२) गुफा-संख्या १० के स्तम्भों पर मिलने वाले चित्र—प्रारंभिक गुप्त काल (३५० ई०)

(३) गुफा-संख्या १६ तथा १७ के भित्ति-चित्र—उत्तर गुप्त-काल (५०० ई०)

(४) गुफा-संख्या १ तथा २ के भित्ति-चित्र—गुप्त-काल के बाद (६२८ ई०)

अजन्ता के चित्रों के निर्माण का ढंग बहुत ही साधारण था। चट्टान कणिकाओं, गोबर, मिट्टी तथा भूसा को पतला कर गाढ़ा लेप तैयार किया जाता था। भीत के जिस भाग पर चित्र बनाना होता था, उसे तौलिया से रगड़कर अच्छी तरह साफ कर लिया जाता था। तदुपरान्त उस पर लेप को भली भाँति चढ़ा दिया जाता था। चित्र का खाका बनाने में कलाकार लाल खड़िया का प्रयोग करते थे। इसकी तुलना मेघदूत के 'धातुराग-आलेखन' से की जा सकती है। इनमें लाल, पीला, नीला, काला तथा सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। अजन्ता के चित्रों के निर्माता निश्चयात्मक रूप से प्रकृति के प्रेमी थे। यही कारण है कि इनमें फल-फूल से युक्त वृक्ष, मन्थर गति से बहने वाली सरितायें, पशु तथा पक्षी आदि की आकृतियाँ चित्रित की गई हैं।

ऊपर इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि गुफा-संख्या १० के स्तम्भ-चित्र तथा गुफा-संख्या १६ और १७ के भित्ति-चित्र गुप्तकालीन हैं। इनकी आकृतियों के प्रभा-मंडल तथा उत्तरीय वस्त्र की शैली में गुप्त-कला की विशेषतायें स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती हैं। गुफा-संख्या १६ के भित्ति-चित्र में 'मरती हुई राजकुमारी' का दृश्य दिखाया गया है। यह चित्र 'षडदंत जातक' की कथा का प्रतिनिधित्व करता है। ग्रिफिथ, बर्गेस तथा फर्गुसन ने इस चित्र की पर्याप्त प्रशंसा की है। ग्रिफिथ का कथन है कि प्रभाव डालने की शक्ति, भाव तथा वास्तविक अभिव्यक्ति की दृष्टि से कला के इतिहास में इस चित्र का अतिक्रमण असंभव है।

गुफा-संख्या १७ के चित्र सबसे अधिक सुरक्षित अवस्था में हैं। इसे हम अक्षरशः 'चित्रशाला' कह सकतें हैं। इन चित्रों में गौतम बुद्ध के जन्म, महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि तथा महापरिनिर्वाण का दृश्य दिखाया गया है। इस गुफा के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चित्रों में 'माता और पुत्र' नामक चित्र काफी प्रसिद्ध है। इसमें गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा अपने पुत्र राहुल को उन्हें समर्पित करती हुई चित्रित की गई हैं। इस गुफा के एक दूसरे चित्र में सिंह, कृष्ण मृग तथा हाथी के शिकार का दृश्य दिखाया गया है। लेडी हेरिंघम का कथन है कि सतरहवीं शताब्दी की इटली की चित्रकला भी इस चित्र की तुलना में नहीं आ सकती। इस गुफा के एक दूसरे चित्र में गौतम बुद्ध के 'महाभिनिष्क्रमण' का दृश्य दिखाया गया है। निवेदिता का कथन है कि यह चित्र अपने ढंग का सबसे बड़ा कल्पनात्मक व्यक्तीकरण है। इस प्रकार की कल्पना का पुनः उठना असंभव है। इस गुफा के एक अन्य चित्र में कोई सम्राट् सुनहले राजहंस की बातों को अभिरुचि के साथ सुनता हुआ प्रदर्शित किया गया है। निवेदिता के अनुसार ऐसा सुन्दर चित्र विश्व में अन्यत्र मिलना नितांत असंभव है। बाणभट्ट ने लिखा है कि उज्जयिनी के भित्ति-चित्र विश्वरूप का प्रदर्शन करते थे (दर्शित विश्वरूप)। गुफा-संख्या १७ के भित्ति-चित्रों के विषय इतने विविध हैं कि उनकी तुलना बाणभट्ट के 'दर्शित विश्वरूप' चित्रों से की जा सकती है।

बाघ की चित्रकला—बाघ ग्वालियर का समीपस्थ एक छोटा सा ग्राम है। यहाँ पर विंध्य की पहाड़ियों को काट कर गुफायें बनाई गई हैं, जो संख्या में कुल मिला कर ९ हैं। इनकी भीतरी दीवालों पर चित्र मिलते हैं, जो कि गुप्तकालीन माने जाते हैं। भित्ति-चित्र के इतिहास में अजन्ता की चित्रकला के समान बाघ की चित्रकला का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। अजन्ता के चित्र प्रधानतः धार्मिक विषयों से सम्बन्धित हैं, पर बाघ के चित्र मनुष्य के लौकिक जीवन से लिये गये हैं। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से बाघ की चित्रकला की विशिष्टता अधिक हो जाती है। इस स्थान के चित्र तत्कालीन वेशभूषा, केशविन्यास तथा अलंकार-प्रसाधन आदि को समझने में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यहाँ के सबसे प्रसिद्ध चित्र में संगीत-नृत्य का दृश्य दिखाया गया है। इसमें अच्छी वेशभूषा से सुसज्जित महिलाओं का समूह प्रदर्शित किया गया है। इसका नायक एक पुरुष है। समूह के सदस्य स्वच्छन्दतापूर्वक गान एवं नृत्य में संलग्न हैं। बाघ के चित्रों के बनाने की कल्पना एक ही समय की गई थी। अतएव वे दर्शक के समक्ष एकरूपता का भाव प्रस्तुत करते हैं। अजन्ता के चित्र समय-समय पर बनाये गये, अतएव उनसे समष्टि का भाव नहीं प्रकट होता। इस दृष्टि से बाघ के चित्र अजन्ता के चित्रों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ललित कला

संगीत—संगीत की गणना ललित कला में होती थी। भारतीय सम्राट् संगीत के प्रेमी थे। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने संगीत के क्षेत्र में निपुणता के कारण देवताओं के गुरु नारद तथा तुम्बुरु को भी लज्जित कर दिया था, जो कि संगीतके आचार्य माने जाते थे।[1] वात्स्यायन ने संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य माना है। नगरों में संगीत की शिक्षा देने के लिये कलाभवन बने रहते थे। मालविकाग्निमित्रम् में इस प्रकार के एक कलाभवन का उल्लेख मिलता है। इसमें गणदास नामक आचार्य संगीत की शिक्षा देता था।[2] संगीत में गीत के साथ-साथ वाद्य का भी सामंजस्य रहता था। वाद्यों में वीणा, वेणु तथा मृदंग अधिक प्रिय थे। भास के चारुदत्त नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न बतलाया गया है।[3] कालिदास ने हृदयंगम ध्वनि करने वाली वीणा को विलासी अग्निवर्ण की गोद को अशून्य करने वाली कहा है।[4] वेणु की प्रशंसा करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि यह वाद्य प्रियतमा को आकर्षित करने का मूल मंत्र है।[5] ललितविस्तर में कहा गया है कि पुर-सुन्दरियाँ वेणु का अभ्यास करती थीं।[6] बुद्धचरित में सभ्य महिलायें संगीत के समय मृदंग बजाती हुई दिखाई गई हैं।[7] इन वाद्यों के अतिरिक्त भेरी, पणव तथा तूण आदि का भी विस्तृत प्रचार था। ललितविस्तर में कहा गया है कि कपिलवस्तु की स्त्रियाँ इनके वादन में परम निपुण थीं।[8] धनिक व्यक्तियों के घरों में संगीतशाला बनी होती थी,

---

१. का० इं० इं०, ३, ६

२. मालविकाग्निमित्रम्, अंक १

३. "वीणा नाम समुद्रोत्थितं रत्नम्"

—चारुदत्त, अंक ३

४. रघुवंश, १९, १३

५. "वंशं वादयतो या शब्दं शृणोति सा वश्या भवति"

—कामसूत्र, पृष्ठ ३७९, सूत्र ४३

६. "नार्यो मुदितमनाः प्रसन्नचित्ताः वेणुभ्यो मधुरमनोरमं रमन्ते"

—ललितविस्तर, १३, १६२

७. "नारिकराग्राभिर्हतैः मृदंगैः"

—बुद्धचरित, २, ३०

८. ललितविस्तर, ५, ३०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जहाँ विभिन्न वाद्यों का अभ्यास किया जाता था। वसन्तसेना के भवन की संगीत-शाला का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसमें युवतियों के कोमल करों से बजाये जाते हुए मृदंग मेघ के समान गंभीर शब्द कर रहे थे। क्षीणपुण्या गगन-तारिका के समान कांस्यताल के गिरने का शब्द भी हो रहा था। मधुकर की मधुर गुंजार के समान बाँसुरी अत्यन्त मधुरता के साथ बजाई जा रही थी।[१]

नृत्य—ललित कला के साथ नृत्य का भी संबन्ध सदा से ही रहा है। नगरों में नृत्य की शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे। मालविकाग्निमित्रम् में गणदास नामक एक नाट्याचार्य का उल्लेख मिलता है।[२] इस ग्रंथ में सफल नाट्याचार्य के सुलक्षणों को बताते हुए कहा गया है कि जो नृत्य की शिक्षा तथा क्रिया दोनों में प्रवीण हों, वे विशेष रूप से सम्माननीय हैं।[३] राजकुल तथा सभ्य घरानों की कन्याओं को नृत्य की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। वे नृत्य का अभ्यास व्यक्तिगत मनोविनोद के लिये करती थीं। सामूहिक मनोविनोद के लिये नर्तकियों एवं नर्तकों की मंडलियाँ दर्शकों के सामने अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। दश-कुमारचरित से विदित होता है कि नर्तकियों की कला का सम्मान नागरिकों में विशेष था।[४] मथुरा की कला में एक नर्तकी एक छोटे मण्डप में नृत्य करती हुई दिखाई गई है। मण्डप के भीतर कई व्यक्ति बाजा बजाते हुए दिखाये गये हैं। मण्डप के सामने दर्शकों का एक समूह है। कुछ दर्शक प्रशंसा के भाव में अपने हाथ को ऊपर उठाये हुये हैं।[५] कभी-कभी नगरों में नृत्य-प्रतियोगिता भी हुआ करती थी। मालविकाग्निमित्रम् में हरदत्त तथा गणदास नामक नाट्यचार्यों की नृत्य प्रतियोगिता का वर्णन मिलता है।[६]

अभिनय—नाटकों के अभिनय की गणना उच्च कला के अन्तर्गत होती थी। अभिनय का वास्तविक कार्य नाट्यशालाओं में किया जाता था। इन्हें प्रेक्षा-गृह तथा रंगशाला कहा जाता था। अभिनय की सफलता दर्शकों की संतुष्टि से निर्धारित होती थी। शाकुन्तलम् में सूत्रधार कहता है कि "सभ्यों को प्रसन्न करना

---

१. मृच्छकटिक, अंक ४
२. मालविकाग्निमित्रम्, अंक १
३. वही, अंक १
४. दशकुमारचरित, पृष्ठ २१० (काले)
५. द्रष्टव्य, मेरा शोध-प्रबन्ध 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृष्ठ २८८
६. मालविकाग्निमित्रम्, अंक २

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभिनेता का वास्तविक कार्य है। जब तक उन्हें संतोष न हो जाय, तब तक मैं अपनी कला की श्रेष्ठता में नहीं विश्वास करता।"[१] प्रेक्षागृह में नागरिक शान्ति-पूर्वक बैठते थे। शाकुन्तलम् में कहा गया है कि जिस समय इस नाटक का अभिनय हो रहा था, उस समय दर्शक चित्रलिखित के समान बैठे हुए थे।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्त-काल उत्थान एवं अभ्युदय का काल था। तत्कालीन शासन-व्यवस्था तथा कला एवं संस्कृति के विविध क्षेत्रों में श्लाघनीय विकासों को ही संभवतः दृष्टिकोण में रख कर कालिदास ने कहा था—"वे प्रतापी राजा इतने अच्छे ढंग से अपना राज्य चलाते थे और उनका ऐसा दबदबा था कि उपवनों में मद पीकर सोई स्त्रियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं हिला सकता था फिर उन्हें हटाने का साहस भला कौन कर सकता था? उनका यश कहाँ तक फैला हुआ है उसका ठिकाना थोड़े ही है। पर्वतों पर, समुद्रों के पार, पाताल-लोक में, नागों के देश में, सब दिशाओं में और भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में सब कहीं तो उन्हीं का यश फैला हुआ है।"

"यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्थपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥
आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टाम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेतुमियत्तयालम्॥"
(रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ७५-७७)

• •

---

१. "आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्"
—शाकुन्तलम्, प्रस्तावना

२. "अहो रागबद्धचित्रवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः"
वही (प्रस्तावना)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१५

नवीन शक्तियाँ

●

(क) मौखरि वंश : अभिलेखीय साधन

(१) **हरहा का लेख**—मौखरियों का सबसे प्रधान लेख हरहा का अभिलेख है। यह उत्तर प्रदेश के बाराबंकी जिले में स्थित हरहा के एक समीपस्थ ग्राम से प्राप्त हुआ है। इसका पता हीरानन्द शास्त्री ने १९१५ ई० में लगाया था। उन्होंने इसे एपिग्राफिआ इंडिका (१९१७-१८ ई०) में प्रकाशित किया और इस प्रकार लोगों का इस लेख के साथ परिचय हुआ। यह एक चिकने प्रस्तर-खंड के ऊपर उत्कीर्ण है। इसमें २२ श्लोक मिलते हैं। लेख की लिपि छठी शताब्दी ईसवी के अन्तर्गत आती है। इसकी तिथि विक्रम संवत् ६११ (५५४ ई०) है। इस लेख को चतुर्थ मौखरि-सम्राट् ईशानवर्मा के पुत्र सूर्यवर्मा ने उत्कीर्ण किया था। इसमें प्रथम चार मौखरि नरेशों की कृतियों का वर्णन विस्तारसहित उपलब्ध होता है।

(२) **जौनपुर का लेख**—मौखरियों का दूसरा प्रमुख लेख जौनपुर का लेख है। कनिंघम ने १८७५ ई० में इसका पता लगाया था। उसने इस लेख को आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स (जिल्द ११, १८८० ई०) में प्रकाशित किया था और इस प्रकार इसके साथ विद्वानों का परिचय संभव हुआ। यह लेख जौनपुर की वर्तमान 'जामे मस्जिद' के दक्षिणी दरवाजे के सबसे निचले तोरण में लगे हुये शिला-खंड के ऊपर उत्कीर्ण मिलता है। इस लेख की भाषा संस्कृत है। इसमें कोई तिथि नहीं मिलती। इस अभिलेख में प्रथम तीन मौखरि नरेशों की कृतियों का निरूपण उपलब्ध है।

(३) **असीरगढ़ का लेख**—विशिष्टता की दृष्टि से यह मौखरियों का तीसरा प्रमुख लेख है। यह एक ताँबे की मुहर पर उत्कीर्ण है। इस लेख का पता १८३६ ई० में लगा था। असीरगढ़ एक पहाड़ी किला है, जो कि निमाड़ जिले के प्रधान नगर बुरहानपुर के ग्यारह मील उत्तर-पूर्व स्थित है। यह लेख इस राजवंश के पाँचवें नरेश शर्ववर्मा के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। इस लेख की भाषा संस्कृत है। इसमें छठी शताब्दी ईसवी की लिपि का प्रयोग मिलता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

(४) **नालंदा के अभिलेख**—मौखरियों के कुछ लेख नालन्दा से भी प्राप्त हुये हैं। ये लेख खण्डित अवस्था में प्राप्य हैं। इनके द्वारा मौखरिकालीन सांस्कृतिक दशा का आंशिक ज्ञान प्राप्त होता है।

(५) **अफसढ़ का लेख**—मौखरि-इतिहास के विषय में अफसढ़ के लेख से भी परिचय प्राप्त होता है। यह उत्तर-गुप्तों का अभिलेख है। इस लेख का पता मेजर मरखम कीटो ने १८५० ई० के पहले ही लगा लिया था। इसको प्रकाश में लाने का श्रेय कनिंघम तथा डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र को है। अफसढ़ बिहार प्रान्त के गया जिले में सकारी नामक नदी के तट पर स्थित एक ग्राम है। यह लेख शिला-खंड पर उत्कीर्ण मिलता है। यह पद्य में लिखा गया है तथा इसकी भाषा संस्कृत है। उत्तर-गुप्त वंश के आठवें नरेश आदित्यसेन के समय में यह उत्कीर्ण कराया गया था। इसमें कोई तिथि नहीं मिलती। मौखरियों तथा उत्तर-गुप्तों के पारस्परिक संघर्ष के इतिहास को समझने में यह लेख उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(६) **देवबर्णार्क का लेख**--उत्तर गुप्तवंशीय देवबर्णार्क का लेख मौखरियों के इतिहास के ऊपर प्रकाश डालता है। कनिंघम ने १८८० ई० में इसका पता लगाया था। उसने इसे आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट (जिल्द १६, १८८३ ई०) में प्रकाशित किया था। देवबर्णार्क बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले के प्रधान नगर आरा के दक्षिण-पश्चिम पचीस मील की दूरी पर स्थित एक ग्राम है। यह लेख एक विष्णु-मन्दिर के द्वार-स्तभ पर उत्कीर्ण है। यह लेख उत्तर गुप्तवंश के शासक जीवितगुप्त द्वितीय के समय में उत्कीर्ण किया गया था। लेख की भाषा संस्कृत है।

(७) **नाजार्गुनी तथा बराबर के लेख**—कुछ मौखरि-लेख गया के पास नागार्जुनी तथा बराबर पाड़ियों की गुफाओं में मिले हैं। वे मौखरियों की प्रारंभिक राजनीतिक स्थिति तथा उनके मूल-स्थान को समझने में उपयोगी सिद्ध हुये हैं।

(८) **बड़वा का लेख**—कतिपय मौखरि-लेख राजस्थान में बड़वा नामक स्थान में यज्ञ-यूप पर अंकित मिलते हैं। ये भी इस राजवंश के प्रारंभिक लेख हैं तथा मौखरियों की प्रारम्भिक स्थिति तथा उनके उद्गम-स्थान के निर्धारण में सहायता प्रदान करते हैं।

(९) **सोहनाग का लेख**—हाल ही में देवरिया जिला के सोहनाग नामक स्थान से मौखरियों का एक लेख उपलब्ध हुआ है। इसने इस वंश के इतिहास पर नवीन प्रकाश डाला है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साहित्यिक साधन

(१) **हर्षचरित**—इसकी रचना बाणभट्ट ने सातवीं शताब्दी में की थी। इसमें अवन्तिवर्मा तथा ग्रहवर्मा नामक मौखरि-नरेशों का नामोल्लेख तथा उनके शासनकाल की घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार उत्तर गुप्तवंशी देवगुप्त ने गौड़ नरेश शशांक की सहायता से कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया तथा ग्रहवर्मा को मार कर मौखरि-वंश का अन्तिम विनाश कर डाला।

(२) **मंजुश्रीमूलकल्प**—इस ग्रन्थ की चर्चा पहले की जा चुकी है। इसमें मौखरियों के प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं। यह बाद की रचना है, अतएव इसके अधिकांश वर्णन अश्रद्धेय हैं।

मुद्राएँ

भितौरा की मुद्राएँ—उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में भितौरा नामक स्थान से मौखरियों के सिक्कों का एक ढेर मिला है। इससे मौखरि-नरेशों के तिथि-क्रम के निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है।

प्राचीनता—मौखरि लोग काफी प्राचीन थे। कय्यट (१२वीं शताब्दी) ने पतंजलि के महाभाष्य की टीका में 'मौखर्य्या' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) के समकालीन थे। इससे लगता है कि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में मौखरि विद्यमान थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए वामन तथा जयादित्य (सातवीं शताब्दी) ने 'मौखर्य्या' शब्द का उल्लेख किया है। पाणिनि का समय पाचवीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मौखरि इस समय वर्तमान थे। साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातत्त्व-साक्ष्यों से भी मौखरियों की प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। कनिंघम को गया जिले में मिट्टी की एक मुहर प्राप्त हुई, जिस पर चतुर्थ शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी लिपि में 'मोखलिनम्' लेख उत्कीर्ण मिलता है। यह संस्कृत के 'मौखरीणाम्' शब्द का पाली रूपान्तर है तथा मौखरियों को सूचित करता है। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी लिपि का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि मौखरि इस समय विद्यमान थे।

उत्पत्ति—आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स में कनिंघम ने मौखरियों का संबन्ध मौर्यों के साथ दिखाने की चेष्टा की है।[1] उनके अनुसार मौरीय शब्द

---

१. आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, १५, पृष्ठ १६६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

मौखरीय शब्द का संगत लघु रूप होगा। परन्तु इस मत में कोई बल नहीं है। मौर्य तथा मौखरि शब्दों में कुछ ध्वनिसाम्य अवश्य है, पर एक का दूसरे के साथ संबन्ध दिखाने के लिये कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। हरहा के लेख में अश्वपति नामक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। वैवस्वत के वर से उन्हें सौ पुत्र उत्पन्न हुये। मौखरि इन्हीं के वंशज थे। प्राचीन साहित्य में अश्वपति नामक कई व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। यह कहना दुष्कर है कि हरहा के लेख के अश्वपति का संबन्ध इनमें से किस अश्वपति के साथ है। अतएव इस अभिलेख में वर्णित उपर्युक्त अनुश्रुति से मौखरियों की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता।

बाणभट्ट ने मौखरि वंश को 'मुखरवंश' कहा है। हरहा के लेख में मौखरि नरेशों को 'मुखराः क्षितीशाः' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि मुखर नामक व्यक्ति इस राजवंश का संस्थापक था। वामन तथा जयादित्य ने जिस 'मौखर्य्यी' शब्द का उल्लेख किया है, यह पितृनाम है। इससे लगता है कि मुखर नामक व्यक्ति इस वंश का मूल पुरुष था।

आदि स्थान—मौखरियों के प्रारंभिक लेख गया जिले से उपलब्ध हुए हैं। कनिंघम के द्वारा प्राप्त उनका प्राचीनतम लेख (मुद्रा-लेख—चतुर्थ शताब्दी ई० पू०) गया जिले से उपलब्ध हुआ है। उनके अन्य दो प्रारंभिक लेख (नागार्जुनी तथा बराबर की पहाड़ियों की गुफाओं के लेख) गया जिले में प्राप्त हैं। इससे कहा जा सकता है कि उनका मूल स्थान यही क्षेत्र रहा होगा।

प्रारंभिक स्थिति—प्रारंभ में मौखरि लोग सामंत थे। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि राजस्थान (कोटा-राज्य) में बड़वा नामक स्थान पर कुछ मौखरि-लेख यज्ञ-यूप पर उत्कीर्ण मिलते हैं। इन मौखरियों का समय तृतीय शताब्दी ईसवी है। वे वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने त्रिरात्र यज्ञ का अनुष्ठान किया था। उनकी उपाधि महासेनापति थी, जो कि उनकी सामन्त-स्थिति का द्योतक है। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि वे या तो उज्जयिनी के क्षत्रपों अथवा पद्मावती के नागों के सामन्त थे। नागार्जुनी तथा बराबर पहाड़ियों की गुफाओं के लेख में तीन मौखरि नाम मिलते हैं :—(१) यज्ञवर्मा, (२) शार्दूलवर्मा तथा (३) अनन्तवर्मा। इनमें शार्दूलवर्मा ने सामन्तचूड़ामणि की उपाधि धारण की थी। यज्ञवर्मा तथा अनन्तवर्मा की उपाधि नृप थी। ये उपाधियाँ सामन्तों के द्वारा धारण की जाती थीं। उपर्युक्त मौखरि पाँचवीं शताब्दी ईसवी के थे, जिस समय सम्राट् गुप्त उत्तरी भारतवर्ष के चक्रवर्ती नरेश थे। इस प्रकार वे इन्हीं के सामन्त शासक प्रतीत होते हैं। ५५० ई० तक मौखरि सामन्त के रूप में शासन करते रहे। जब इसके उपरान्त सम्राट् गुप्तों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, उस समय मौखरियों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी ।

वर्ण-निर्णय—काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार मौखरि जाति के वैश्य थे । उनका अनुमान है कि गया जिले के आधुनिक मौहरि जो कि जाति के वैश्य हैं, प्राचीन मौखरियों के वास्तविक प्रतिनिधि हैं । परन्तु इस मत के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि आधुनिक मौहरियों का मौखरियों के साथ सम्बन्ध दिखाने के लिये कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है । हरहा के लेख से उनका क्षत्रिय होना प्रमाणित होता है । उनके नाम के अन्त का वर्मा शब्द भी उनके क्षत्रिय होने की ओर संकेत करता है । हरहा के लेख के संपादक हीरानन्द शास्त्री का कथन है कि मौखरि सूर्यवंशी क्षत्रिय रहे होंगे । हरहा के लेख में मौखरियों की उत्पत्ति वैवस्वत से सिद्ध की गई है, जो कि जाति के सूर्यवंशी थे ।

निहाररंजन राय का कथन है कि मौखरि चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे । हर्षचरित के अनुसार वर्द्धन एवं मौखरि-वंश की कीर्ति सूर्य वंश एवं चन्द्रवंश के समान थी (सोमसूर्यवंशाविव पुष्यमूतिमुखरवंशौ) । निहाररंजन राय के अनुसार इस उल्लेख में वर्द्धनों के सूर्यवंशी तथा मौखरियों के चन्द्रवंशी होने की ओर संकेत है । वर्द्धनों के सूर्यवंशी होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं । इस वंश के नरेश सूर्य के उपासक थे । उनके आदित्यवर्द्धन तथा प्रभाकरवर्द्धन जैसे नामों के पूर्वार्द्ध सूर्य के पर्याय हैं । परन्तु इस मत से सहमत होना दुष्कर है । वर्द्धनों को सूर्य-वंशी क्षत्रिय मान लेना ऐतिहासिक तथ्यों से रहित होगा । हुयेनसांग तथा मंजुश्री-मूलकल्प से स्पष्ट है कि वे जाति के वैश्य थे । बाणभट्ट के उपर्युक्त संदर्भ के सभी विचारवान पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि इसमें वर्द्धनों एवं मौखरियों की सूर्य एवं चन्द्रवंश (जो कि प्राचीन प्रसिद्ध राजवंश माने जाते थे) से तुलना मात्र की गई है, न कि उनका इनके साथ कोई जाति-सम्बन्ध दिखाया गया है । इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि मौखरियों को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानना अधिक तर्कसंगत होगा ।

राजधानी—स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् मौखरियों ने अपनी राजधानी कान्य-कुब्ज में स्थापित की । कुछ विद्वानों का कथन है कि कान्यकुब्ज उत्तर गुप्तों के राज्य में था । इनमें शंकर पांडुरंग पंडित तथा विंसेन्ट स्मिथ प्रमुख हैं । इनका यह मत भ्रामक एवं सारहीन है । हार्नले, चिन्तामणि विनायक वैद्य, पेटरसन, हाल, बूलर तथा रमाशंकर त्रिपाठी आदि विद्वानों ने मौखरियों की राजधानी कान्यकुब्ज में होने के विषय में निम्न तर्क दिये हैं :—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America HHFA(USA)

(१) मौखरियों के अधिकांश लेख तथा सिक्के कान्यकुब्ज (कन्नौज) के समीप मिले हैं; उदाहरणार्थ जौनपुर एवं हरहा के लेख तथा भितौरा (अयोध्या) एवं अहिच्छत्र की मुद्राएँ।

(२) हर्षचरित से ज्ञात होता है कि गुप्त (अर्थात् देवगुप्त) ने राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् कुशस्थल को छीन लिया (देवभूयम् गते देवे राज्यवर्द्धने गुप्तनामा च गृहीते कुशस्थले)। कुशस्थल कान्यकुब्ज का एक दूसरा नाम था। गुप्त (देवगुप्त) मौखरियों का शत्रु था। इससे स्पष्ट है कि कान्यकुब्ज मौखरि-राज्य में वर्तमान था, न कि उत्तर-गुप्त राज्य में।

(३) हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्द्धन के मरते ही दुरात्मा देवगुप्त ने मौखरि ग्रहवर्मा को मार डाला तथा भर्तृदारिका राज्यश्री पैरों में लोहे की बेड़ियाँ पहना कर चोर की स्त्री की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई (कालायसनिगड़चुम्बितचरणा चौरांगणेव कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उसके पति ग्रहवर्मा की राजधानी इसी नगर में विद्यमान थी। यही कारण है कि उसके मार डाले जाने के पश्चात् वह यहाँ वन्दी-गृह में डाल दी गई।

(४) हर्षचरित से ज्ञात होता है कि विन्ध्य वन में भटकने के पश्चात् राज्यश्री कान्यकुब्ज लौट आई। इससे स्पष्ट है कि उसके पति की राजधानी यहीं पर थी।[1]

नाम एवं वर्णन—कतिपय साक्ष्यों में कान्यकुब्ज के स्थान पर कन्यकुब्ज, कन्याकुब्ज तथा कन्याकुब्जा नाम आते हैं। पर अधिक प्रचलित नाम कान्यकुब्ज था। इसके अतिरिक्त इस नगर के कतिपय अन्य नाम भी थे; उदाहरणार्थ महोदय, महोदया, गाधिपुर, गाधिनगर तथा कुशस्थल। हुयेनसांग लिखता है कि गंगा के तट पर निर्मित यह नगर तीन मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा था। उसके अनुसार इसके चतुर्दिक् परिखा एवं सुदृढ़ प्राकार वर्तमान थे तथा भीतर अनेक उपवन, वितान, सरोवर तथा अट्टालिकायें विद्यमान थीं। इसकी बाज़ारों में विक्रय के निमित्त सुदूर देशों से संख्यातीत भांड एकत्र किये गये थे। नागरिकों का चरित्रसंगठन उच्च था। वे धन्यधान्य से संपन्न, सभ्य, सुसंस्कृत, धर्म-निष्ठ एवं सरल हृदय थे। नगर के विहारों में भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों का बाहुल्य था। स्थान-स्थान पर अनेक ब्राह्मण-मन्दिर भी बने हुए थे।[2]

---

१. द्रष्टव्य—रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृष्ठ ३२-३६

२. वाटर्स, १, ३४१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हर्षचरित तथा जौनपुर, हरहा एवं असीरगढ़ के लेखों द्वारा निम्न मौखरि-नरेशों के नाम ज्ञात होते हैं :—

सम्राट्	साम्राज्ञी
१. महाराज हरिवर्मा	भट्टारिकादेवी जयस्वामिनी
२. महाराज आदित्यवर्मा	" हर्षगुप्ता
३. महाराज ईश्वरवर्मा	" उपगुप्ता
४. महाराजाधिराज ईशानवर्मा	" लक्ष्मीवती
५. महाराजाधिराज शर्ववर्मा	" इन्द्रभट्टारिका
६. महाराजाधिराज अवन्तिवर्मा	?
७. महाराजाधिराज ग्रहवर्मा	राज्यश्री

उक्त नरेश प्रधान शाखा के मौखरि माने जाते हैं। इन्हें कान्यकुब्ज के मौखरि अथवा सम्राट् मौखरि भी कहा जाता है।

हरिवर्मा—यह कान्यकुब्ज शाखा का प्रथम मौखरि नरेश था। अनुमानतः उसका राज्य-काल लगभग ५०० ईसवी से प्रारंभ हुआ। असीरगढ़ के लेख में उसकी उपाधि 'महाराज' आती है, जो कि उसकी सामन्त-स्थिति को व्यक्त करती है। वह सम्राट्-गुप्तों का सामन्त रहा होगा। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में यह बताना दुष्कर हो जाता है कि बड़वा की शाखा के मौखरियों अथवा नागार्जुनी एवं बराबर-शाखा के मौखरियों के साथ उसका सम्बन्ध क्या था? असीरगढ़ के लेख में उसकी पत्नी का नाम जयस्वामिनी बताया गया है। हरहा के लेख में उसकी शक्ति का वर्णन बड़े ही चढ़ाव-बढ़ाव के साथ हुआ है; उदाहरणार्थ :—(१) वह ज्वालामुख था, (२) उसका यश चारों समुद्रों तक फैला हुआ था (चतुस्समुद्रातिक्रांतकीर्तिः), (३) उसकी शक्ति एवं सहानुभूति की भावना के कारण समकालीन नरेश उसकी प्रभुता को स्वीकार करते थे (प्रतापानुरागोपनतान्यराज्ञो), (४) वह वर्णाश्रम-व्यवस्था के स्थापन में संलग्न था (वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृत्तः), (५) वह चक्रधर के तुल्य था तथा (६) प्रजा के दुःख को वह दूर करने वाला था (प्रजानामार्तिहरः)। स्पष्ट है कि हरहा के लेख के इन शब्दों में अतिशयोक्ति अधिक है। हरिवर्मा सामन्त शासक था और इस कारण उसका इतना अधिक प्रभावशाली एवं यशस्वी होना असंभव था।

आदित्यवर्मा—वह हरिवर्मा का उत्तराधिकारी पुत्र था। कान्यकुब्ज-शाखा का वह द्वितीय मौखरि नरेश माना जाता है। असीरगढ़ के लेख के अनुसार वह भट्टारिकादेवी जयस्वामिनी से उत्पन्न हुआ था। उसके नाम का उल्लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तीन अभिलेखों में हुआ है—(१) जौनपुर का लेख, (२) हरहा का लेख तथा (३) असीरगढ़ का लेख। जौनपुर तथा हरहा के लेखों के अनुसार वह ब्राह्मण मतावलम्बी था। उसके समय में वैदिक मन्त्रों का उच्चारण एवं यज्ञों के अनुष्ठान अधिक हुआ करते थे। असीरगढ़ के लेख में उसकी उपाधि महाराज आती है, जो कि उसकी सामन्त-स्थिति प्रमाणित करती है। अपने पिता की भाँति वह भी सम्राट् गुप्तों का सामन्त था। असीरगढ़ के लेख के अनुसार उसका विवाह हर्षगुप्ता नामक राजकुमारी के साथ हुआ था। वह उत्तरगुप्त राजवंश के द्वितीय सम्राट् हर्षगुप्त की बहिन थी। इससे लगता है कि आदित्यवर्मा के समय में दोनों राजवंशों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक प्रेमपूर्ण था।

ईश्वरवर्मा– वह आदित्यवर्मा का उत्तराधिकारी पुत्र था। कान्यकुब्ज-शाखा का वह तृतीय मौखरि नरेश माना जाता है। हरहा के लेख के अनुसार वह ब्राह्मण मतावलंबी था। उसके समय में वैदिक नियमों के अनुसार कई यज्ञों का अनुष्ठान हुआ था। जौनपुर के लेख में इसे राजाओं में सिंहतुल्य (क्षिति-भुजां सिंहेन) कहा गया है। इसमें वर्णन मिलता है कि उसने तीन समकालीन शक्तियों को परास्त किया–(१) धारा-नरेश—जौनपुर के लेख में काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि अग्नि की जो लपट धारा की ओर से आई, उसे ईश्वर-वर्मा ने बुझाया था (धारामार्गविनिर्गताग्निकणिका)। विद्वानों का ऐसा अनु-मान है कि यह धारा-नरेश मालवा का शासक यशोधर्मा ही था। (२) आंध्र-पति—जौनपुर के लेख के अनुसार आंध्र-नरेश ने ईश्वरवर्मा से पराजित होने के कारण विंध्य पर्वत के छिद्रों में शरण ली थी (विंध्याद्रेः प्रतिरंध्रम् आंध्र-पतिना)। रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार वह विष्णुकुंडिन वंश का माधववर्मा प्रथम था। (३) रैवतक-नरेश—उसने ईश्वरवर्मा से पराजित होने के कारण रैवतक पर्वत पर शरण ली (यातो रैवतकाचलम्)। रैवतक गुजरात में स्थित आधुनिक गिरिनार का प्राचीन नाम था। अतएव वह गुजरात का शासक प्रतीत होता है।

राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है कि इन विजयों के फलस्वरूप ईश्वरवर्मा ने अपने राज्य की सीमा रैवतक, धारा तथा विन्ध्य तक बढ़ा ली। पर इस प्रकार का निष्कर्ष संगत नहीं लगता। ईश्वरवर्मा के ये युद्ध आक्रमणात्मक युद्ध नहीं थे। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि उसकी उपाधि केवल 'महाराज' थी। इससे लगता है कि इसके समय में भी मौखरि, सामन्त थे। रमाशंकर त्रिपाठी के शब्दों में ईश्वरवर्मा ने उपर्युक्त युद्धों को किसी साम्राज्य-वादी भावना से नहीं किया था। अधिक संभव यह लगता है कि इन तीनों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शक्तियों ने सामूहिक रूप में अथवा अलग-अलग ईश्वरवर्मा के राज्य के ऊपर आक्रमण किया तथा इस मौखरि-नरेश ने अपने शासित भू-भाग को इनके हाथों में पड़ने से बचाया था। असीरगढ़ के लेख के अनुसार ईश्वरवर्मा का विवाह भट्टारिकादेवी उपगुप्ता के साथ हुआ था। वह तृतीय उत्तरगुप्त नरेश जीवितगुप्त प्रथम की बहिन थी। इससे स्पष्ट है कि ईश्वरवर्मा के समय में भी दोनों राजवंशों का सम्बन्ध प्रेमपूर्ण था। लगता है कि ५५० ई० के लगभग ईश्वरवर्मा का राज्यकाल समाप्त हो गया। इस प्रकार लगभग ५०० ई० से लेकर ५५० ई० तक इस राजवंश के कुल तीन नरेशों (हरिवर्मा, आदित्यवर्मा तथा ईश्वरवर्मा) ने राज्य किया था।

ईशानवर्मा—वह ईश्वरवर्मा का उत्तराधिकारी पुत्र था। कान्यकुब्ज-शाखा का वह चौथा मौखरि-नरेश माना जाता है। उसका जन्म भट्टारिकादेवी उपगुप्ता से हुआ था। उसकी पत्नी का नाम भट्टारिकादेवी लक्ष्मीवती था। इस समय सम्राट् गुप्तों का शासन-काल समाप्त हो गया था, अतएव ईशानवर्मा के नेतृत्व में मौखरियों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। हरहा के लेख से ज्ञात होता है कि वह विक्रम संवत् ६११ (५५४ ई०) में शासन करता था। असीरगढ़ के लेख के अनुसार उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। इससे उसकी महानता एवं स्वतंत्रता व्यक्त होती है।

हरहा के लेख के तेरहवें श्लोक के अनुसार ईशानवर्मा एक प्रभावशाली सम्राट् था। समकालीन शासक उसके चरणों पर अपना सिर झुकाते थे (नतक्षितीशचरणः)। उसने तीन शक्तियों को परास्त किया था[1]—(१) आंध्रपति—हरहा के लेख के शब्दों में ईशानवर्मा ने ऐसे आन्ध्र शासक को परास्त किया, जिसकी सेना में सहस्रों मदस्रावी गज सम्मिलित थे। आन्ध्रों के साथ उसकी शत्रुता परंपरागत थी। उसके पिता ईश्वरवर्मा ने भी अपने समकालीन आन्ध्र-नरेश को हराया था। डॉ० रायचौधरी ने ईशानवर्मा के द्वारा पराजित आन्ध्र-सम्राट् की पहचान विष्णुकुंडिन वंश के माधववर्मा द्वितीय के साथ की है। रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार यह आन्ध्र नरेश विष्णुकुंडिन वंश का इन्द्र-

---

१. "जित्वान्ध्राधिपतिं सहस्रगणितत्रेधाक्षरद्वारणम्
व्यावल्गन्नियुतातिसंख्यतुरगान्मंखा रणे शूलिकाम्।
कृत्वा चार्यातमौचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रया-
न्व्यासिष्ट नतक्षितीशचरणः सिंहासनं यो जिती॥"
—हरहा का लेख, तेरहवाँ श्लोक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वर्मा अथवा विक्रमेन्द्रवर्मा था। (२) शूलिक—शूलिकों की पहचान निश्चयात्मक रूप से नहीं की जा सकती। शूलिकों की सेना में असंख्य घोड़े सम्मिलित थे। डॉ० रायचौधरी ने शूलिकों की पहचान चालुक्यों से की है। फादर हेरास, पिरेस तथा अरवमूथन के अनुसार चोलों को हरहा के लेख में शूलिक कहा गया है। रमाशंकर त्रिपाठी ने शूलिकों की पहचान शौलिकों से की है, जिनका उल्लेख बृहत्संहिता तथा मार्कण्डेय पुराण में मिलता है। (३) गौड़—हीरानन्द शास्त्री तथा राधागोविन्द बसाक का कथन है कि ईशानवर्मा के समय में गौड़ बंगाल के समुद्र-तट पर रहते थे। हरहा के लेख के अनुसार इस मौखरि नरेश ने गौड़ों को अपने उचित अधिकार-क्षेत्र में पड़े रहने के लिये बाध्य किया था।[1]

---

१. दिनेश चन्द्र सरकार (ज० रॉ० ए० सो० बं०, १९४४) का कथन है कि हरहा के लेख में गौड़ों के विषय में जो उल्लेख मिलता है, उसका अभी तक विद्वानों ने शुद्ध पाठ नहीं किया है। उसका वास्तविक पाठ कुछ इस प्रकार होगा—"कृत्वा चायतिमोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रयान्" (अर्थात् ईशानवर्मा ने गौड़ों का पृथ्वी के साथ संबन्ध छुड़ा कर उन्हें समुद्र में शरण लेने के लिये बाध्य किया)। राधागोविन्द बसाक तथा हीरानन्द शास्त्री के अनुसार 'समुद्राश्रय' शब्द से भाव निकलता है कि ईशानवर्मा ने गौड़ों को समुद्र-तट (बंगाल के समुद्र-तट) पर शरण लेने के लिये बाध्य किया। दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है कि 'समुद्राश्रय' शब्द की यह व्याख्या समीचीन नहीं है। इसका व्याकरणसम्मत अर्थ होता है—समुद्र ही हो आश्रय जिनका (समुद्रः एव आश्रयः येषां तान्)। गौड़ लोग सचमुच ही समुद्राश्रयी थे। व्यापार एवं वाणिज्य के संबन्ध में वे बराबर बड़ी जहाज एवं नावों में रहते थे। मलाया के एक लेख में बुधगुप्त नामक गौड़ को इसीलिये महानाविक कहा गया है। इस प्रसंग में समुद्र एक तरह से उनका घर हो गया था। ईशानवर्मा के समय में यह गौड़ों का जातिगत स्वभाव बन गया था। हरहा के लेख का रचयिता ईशानवर्मा का आश्रित कवि था। उसने गौड़ों के जातिगत (समुद्राश्रयी) स्वभाव को इस मौखरि नरेश के साथ संबन्धित कर दिया है। अर्थात् गौड़ जो बराबर समुद्र में दृष्टिगोचर होते हैं, वह ईशानवर्मा के भय के कारण। इससे प्रतिपादित हुआ कि ईशानवर्मा का गौड़ों के साथ कोई युद्ध नहीं हुआ था।

प्राचीन साहित्य में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहाँ कवियों ने जातियों के स्वभाव-विशेष को अपने आश्रयदाताओं के साथ संबन्धित किया है। उदा-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ईशानवर्मा ने संभवतः हूणों को भी परास्त किया था। हरहा के लेख के अनुसार "उसने भूमि रूपी टूटी हुई नौका को ऊपर उठा लिया और सैकड़ों राजसी

हरणार्थ राजतरंगिणी के रचयिता कल्हण ने कुछ तुरुष्क तथा द्रविड़-प्रथाओं का कारण ललितादित्य को माना है। तुरुष्क लोग अर्द्धमुण्डित सिर रहते थे (तुरुष्का दधते व्यक्तं मूर्द्धानञ्चार्द्ध-मुण्डितम्)। कुछ दाक्षिणात्य कौपीन वस्त्र पहनते थे तथा ऊपर से एक पूँछ लटकाते थे, जो कि जमीन को छूती चलती थी (पुच्छं महीतलस्पर्शि चक्रे कौपीनवाससि)। कल्हण लिखता है कि ललितादित्य के भय के कारण वे इतनी दयनीय अवस्था में पड़े रहने के लिये बाध्य किये गये थे। इसी प्रकार विष्णु पुराण में कुछ विदेशी प्रथाओं--उदाहरणार्थ यवनों का मुंडित होना, शकों का अर्द्ध मुंडित होना, पारदों का लम्बे केश बढ़ाना तथा पह्लवों का मूँछ-दाढ़ी बढ़ाना आदि--का कारण राजा सगर को बताया गया है:--

"यवनान्मुण्डितशिरसोऽर्द्धमुण्डिताञ्छकान् ।
प्रलम्बकेशान्पारदान् पह्लवाञ्श्मश्रुधरान् ॥"

डॉ० सरकार के उपर्युक्त मत से सहमत होना प्रमाण-संगत नहीं है। अफसढ़ के लेख से ज्ञात होता है कि जीवितगुप्त प्रथम (जो कि ईश्वरवर्मा का समकालीन था)के समय में गौड़ बंगाल के समुद्र-तट पर रहते थे तथा साम्राज्यवादी भावना को लेकर ऊपर उठ रहे थे। ऐसी दशा में ईशानवर्मा का गौड़ों के साथ संघर्ष कोई दुष्कर बात नहीं थी। अफसढ़ के लेख के रचयिता ने गौड़ों की हार का काव्यात्मक ढंग से वर्णन करते हुये कहा है कि ईशानवर्मा ने पृथ्वी के साथ उनका संबन्ध छुड़ा कर उन्हें समुद्र में शरण लेने के लिये बाध्य किया। इस प्रकार का विजय-वर्णन अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण में उल्लेख मिलता है कि किसी विजेता ने अपने शत्रुओं का उनके जनपदों से संबन्ध छुड़ा दिया तथा फटे वस्त्र एवं कृष्ण मृगचर्म धारण कर उन्हें सागर, पर्वत एवं नदियों में शरण लेने के लिये बाध्य किया :—

"अनावृष्टिहतास्ते वै वार्तामुत्सृज्य दुःखिताः ।
आश्रयन्ति स्म प्रत्यन्तान्हित्वा जनपदान्स्वकान् ॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of North America (HHFA(USA)

गुण-रूपी रस्सियों से उसे चारों ओर से बाँध कर ऐसे समय में डूबने से बचा लिया, जब वह कलिकाल के झंझावात से डगमगा कर रसातल रूपी समुद्र में बैठने जा रही थी" :—

"प्रविशती कलिमारुतघट्टिता
क्षितिरलक्ष्यरसातलवारिधौ ।
गुणशतैरवबध्य समन्ततः
स्फुरितनौरिव येन बलाद्धृता ॥"
(हरहा का लेख, श्लोक १५)

हरहा का उपर्युक्त लेख किसी भयानक उपद्रव की ओर संकेत करता है। लगता है कि यह उत्पात हूणों के द्वारा उत्पन्न किया गया था।

उत्तर-गुप्तों के साथ संघर्ष—पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ईश्वरवर्मा के समय तक मौखरियों एवं उत्तर गुप्तों के बीच प्रेमपूर्ण सम्बन्ध था। पर ईशानवर्मा के समय में दोनों राजवंशों में एक ऐसा युद्ध छिड़ा, जिसने परंपरागत युद्ध का रूप धारण किया। रमाशंकर त्रिपाठी के शब्दों में दोनों राजवंशों के बीच प्रकट वैमनस्य ईशानवर्मा के शासन-काल की एक उल्लेखनीय घटना थी। इस युद्ध के कारण स्पष्ट थे :—

(१) ईशानवर्मा के समय में सम्राट् गुप्तों का अधःपतन हो चुका था। अतएव मौखरि स्वतंत्र हो गये। इसी प्रकार कुमारगुप्त के नेतृत्व में उत्तर गुप्तों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। दोनों ही नरेश मगध के ऊपर आधि-

---

सरितः सागरानूपान्सेवन्ते पर्वतानपि ।
चीरकृष्णाजिनधरा निष्क्रिया निष्परिग्रहाः ॥"
(मत्स्य पुराण, अध्याय १४४, श्लोक ७१-७२)

इसी प्रकार विष्णु पुराण में वर्णन मिलता है कि पराजित शत्रु मधु, शाक, मूल, फल, पत्र एवं फूल का आहार करने तथा पर्वत एवं घाटी में आश्रय लेने के हेतु विवश किये गये:—

"एवं चातिलुब्धकराजासहाश्शैलानामन्तरद्रोणीः प्रजास्संश्रयिष्यन्ति ।
मधुशाकमूलपत्रपुष्पाद्याहाराश्च भविष्यन्ति ॥"
(विष्णु पुराण, अध्याय २४, श्लोक ९५)

अफसढ़ के लेख के अनुसार हारे हुये शत्रुओं ने पर्वत पर शरण लिया (शीतेऽपिशैले स्थिता)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पत्य स्थापित करना चाहते थे, जो कि एक गौरव की बात मानी जाती थी।

(२) ईशानवर्मा आन्ध्रों, शूलिकों और गौड़ों को परास्त कर काफी शक्तिशाली हो गया था और उत्तरी भारतवर्ष का चक्रवर्ती नरेश बनना चाहता था। उधर उत्तरगुप्त वंशी नरेश कुमारगुप्त की भी शक्ति अधिक आगे बढ़ चुकी थी, जैसा कि अफसढ़ के लेख से स्पष्ट है। इस महत्वाकांक्षा के कारण दोनों सम्राटों में संघर्ष स्वाभाविक था।

इस युद्ध का उल्लेख अफसढ़ के लेख के आठवें श्लोक में हुआ है—"जिस कुमारगुप्त ने राजाओं में चन्द्रमा के तुल्य ईशानवर्मा की सेना को युद्ध-क्षेत्र में मथ डाला, जिस प्रकार मंदर पर्वत के द्वारा उस क्षीरसागर का मंथन किया गया जो कि भयानक, तथा लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण माना जाता है।"

"भीमः श्रीशानवर्माक्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धुः।
लक्ष्मीसंप्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन ॥"

लेख की भाषा से स्पष्ट है कि इस युद्ध में ईशानवर्मा पराजित कर दिया गया तथा कुमारगुप्त विजयी होने के कारण मगध के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलीभूत हो सका था। ईशानवर्मा के जीवन की यह पहली और अन्तिम पराजय थी।

धार्मिक प्रवृत्ति—ईशानवर्मा धार्मिक प्रवृत्ति का नरेश था। हरहा के लेख के अनुसार उसके शासन-काल में तीनों वेद पुनः जागरूक हो उठे थे (यस्मिन्शासति च क्षितिं क्षितिपतौ जातेग भूयस्त्रयो)। जौनपुर के लेख के अनुसार वह वर्णाश्रम-व्यवस्था के संस्थापन में निरत था।

शर्ववर्मा—वह ईशानवर्मा का उत्तराधिकारी पुत्र था। कान्यकुब्ज-शाखा का वह पाँचवाँ मौखरि नरेश माना जाता है। वह भट्टारिकादेवी लक्ष्मीवती के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। हरहा के लेख में ईशानवर्मा के सूर्यवर्मा नामक एक अन्य पुत्र का नामोल्लेख मिलता है। उसने एक शिवमन्दिर का जीर्णोद्धार किया था। वह शर्ववर्मा का कोई छोटा भाई ज्ञात होता है। सूर्यवर्मा का नाम मौखरि-वंशतालिका में नवीन है। अभिलेखों में मौखरि-राजाओं की सूची में सूर्यवर्मा का नाम नहीं उपलब्ध होता। उसकी कोई मुद्रायें भी प्राप्त नहीं हुई हैं। इससे लगता है कि वह कभी राज्याभिषिक्त नहीं हो सका था। हीरानन्द शास्त्री का कथन है कि सूर्यवर्मा या तो ईशानवर्मा के ही समय में मर गया या अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर वह मौखरि-गद्दी के लिये अपने भाई शर्ववर्मा का प्रतिद्वन्द्वी था। अधिकांश विद्वानों ने उत्तर मत का अनुमोदन किया है। उदाहरणार्थ रमा-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation and Education Trust. HHFA(USA)

शंकर त्रिपाठी का कथन है कि ईशानवर्मा के पश्चात् शर्ववर्मा एवं सूर्यवर्मा में एक उत्तराधिकार-सम्बन्धी युद्ध छिड़ा, जिसमें सूर्यवर्मा मार डाला गया होगा।

सिरपुर के लेख का सूर्यवर्मा—महाशिवगुप्त के सिरपुर के लेख में सूर्यवर्मा नामक नृप का उल्लेख मिलता है (श्रीसूर्यवर्मा नृपः)। वह निष्कलंक वर्मन् कुल में उत्पन्न हुआ, जो कि मगध के ऊपर आधिपत्य के कारण विशिष्ट माना जाता था (निष्पंके मगधाधिपत्यमहतां जातः कुले वर्मणाम्)। मौखरि-वंश वर्मन् वंश के नाम से भी प्रसिद्ध था। डॉ० रायचौधरी, डॉ० सरकार तथा डॉ० बी० पी० सिनहा के अनुसार सिरपुर के वर्मन् वंश से तात्पर्य मौखरि (वर्मन्) वंश से है, जिसने कई वर्षों तक मगध के ऊपर शासन किया था। इस आधार पर ये विद्वान् सिरपुर के लेख के सूर्यवर्मा की पहचान मौखरि सूर्यवर्मा से करते हैं, जिसका नामोल्लेख हरहा के लेख में हुआ है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं, उदाहरणार्थ डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी तथा श्री ए० घोष।

रमाशंकर त्रिपाठी का मत—हरहा के लेख के संपादक राय बहादुर हीरा लाल के अनुसार सिरपुर के लेख की लिपि आठवीं शताब्दी की है। इससे लगता है कि जिस सूर्यवर्मा का उल्लेख इसमें हुआ है, उसका समय यही है। मौखरि सूर्यवर्मा का काल छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था। अतएव दोनों एक ही व्यक्ति नहीं सिद्ध किये जा सकते।

ए० घोष के तर्क

(१) मौखरि सूर्यवर्मा राज्याभिषिक्त नहीं हो सका था। सिरपुर के लेख के सूर्यवर्मा को इसमें नृप कहा गया है। नृप शब्द से निष्कर्ष निकलता है कि उसका सिंहासनारोहण हुआ था।

(२) सिरपुर के लेख का सूर्यवर्मा ऐसे वर्मन् राजवंश का बताया गया है, जो कि प्रधानतः मगध-राजवंश था। इसके प्रतिकूल मौखरि सूर्यवर्मा उस वर्मन् वंश में उत्पन्न हुआ था, जो कि मूलतः कान्यकुब्ज-राजवंश था। ये विभिन्नताएँ दोनों को पृथक् व्यक्ति प्रमाणित करती हैं।

निराकरण—दिनेशचन्द्र सरकार ने डॉ० त्रिपाठी तथा श्री घोष के तर्कों के विरुद्ध निम्न आपत्तियाँ प्रकट की हैं :—

(१) नृप उपाधि प्रायः सामन्तों तथा उच्च पदाधिकारियों के द्वारा भी धारण की जाती थी। मौखरि सूर्यवर्मा अपने पिता ईशानवर्मा के समय में हरहा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के चतुर्दिक् किसी प्रान्त का राज्यपाल था। इस कारण वह नृप की उपाधि अच्छी तरह धारण कर सकता था।

(२) सिरपुर के लेख के अनुसार सूर्यवर्मा ऐसे वर्मन् कुल में उत्पन्न हुआ था, जो मगध के ऊपर शासन करता था। मौखरियों के वर्मन् परिवार के अतिरिक्त अन्य किसी वर्मन् राजवंश का पता नहीं है, जिसने मगध के ऊपर शासन किया हो। इससे स्पष्ट है कि केवल मौखरि सूर्यवर्मा की ही पहचान सिरपुर के लेख के सूर्यवर्मा के साथ संभव है।

(३) मौखरियों के मगध-शासक होने के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उनके लेख गया तथा नालन्दा से प्राप्त हुए हैं, जो मगध के साथ उनका सम्बन्ध प्रकट करते हैं। देववर्नार्क के लेख से मौखरियों का मगधाधिपत्य पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

(४) दिनेशचन्द्र सरकार तथा बी० पी० सिनहा के अनुसार सिरपुर के लेख की लिपि छठी शताब्दी की लिपि से साम्य रखती है। इससे कहा जा सकता है कि इस लेख के सूर्यवर्मा की तिथि छठी शताब्दी ईसवी थी। मौखरि सूर्यवर्मा का भी समय यही है।

(५) सिरपुर के लेख के अनुसार सूर्यवर्मा की एक पुत्री थी, जिसका विवाह तीवर के भाई चन्द्रगुप्त के पुत्र हर्षगुप्त के साथ हुआ था। तीवर विष्णुकुंडिन् वंश के महेन्द्रवर्मा प्रथम (छठी शताब्दी) का समकालीन था। इससे लगता है कि सिरपुर के लेख का सूर्यवर्मा भी महेन्द्रवर्मा प्रथम का समकालीन अर्थात् छठी शताब्दी का रहा होगा, जो कि मौखरि सूर्यवर्मा का समय था।

डॉ० सरकार के मत के समर्थन में बी० पी० सिनहा के निम्न तर्क विचारणीय हैं :—

(१) इतिहास के पृष्ठों में कोई भी वर्मन् वंश ज्ञात नहीं है, जिसने आठवीं शताब्दी में मगध के ऊपर शासन किया हो।

(२) ईशानवर्मा की मृत्यु के पश्चात् शर्ववर्मा तथा सूर्यवर्मा के बीच किसी उत्तराधिकार-युद्ध की कल्पना करना ठीक नहीं है। संभव है कि सूर्यवर्मा शर्ववर्मा के काल में भी जीवित रहा हो। यह भी संभव है कि शर्ववर्मा ने उसे मगध का राज्यपाल नियुक्त किया हो। इस पदाधिकारी के रूप में सूर्यवर्मा नृप की उपाधि धारण कर सकता था। यह उपाधि सामन्तों एवं राज्यपालों के द्वारा भी प्रयुक्त की जाती थी। यज्ञवर्मा, अनन्तवर्मा, कृष्णगुप्त तथा परिव्राजक महाराज की उपाधि नृप थी, यद्यपि वे सामन्त थे। विश्ववर्मा तथा बन्धुवर्मा, जो मालवा में सम्राट् गुप्तों के सामन्त थे, नृप की उपाधि धारण करते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

थे। अमरकोष के अनुसार नृप, मण्डलेश्वर (सामन्त) का द्वितीय नाम है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मौखरि सूर्यवर्मा को ही सिरपुर के लेख में 'नृप सूर्यवर्मा' कहा गया है।

उत्तर-गुप्तों के साथ संघर्ष

असीरगढ़ के लेख में शर्ववर्मा की उपाधि 'महाराजाधिराज' आती है। इससे उसकी महानता तथा स्वतंत्रता व्यक्त होती है। अफसढ़ के ग्यारहवें श्लोक से ज्ञात होता है कि 'दामोदरगुप्त ने मौखरि-नरेश की सेना को विघटित कर दिया। इस सेना ने हूणों को हराया था तथा इसमें गर्वपूर्वक कदम बढ़ाने वाले हाथी प्रभूत संख्या में सम्मिलित थे। दामोदरगुप्त युद्ध-क्षेत्र में मूर्छित हुआ। तदनन्तर सुरवधुओं ने उसका वरण किया। उनके कमलवत् हाथों के सुखद स्पर्श से वह पुनः जागरूक हो उठा।'

"यो मौखरेः समितिषूद्धतहूणसैन्य-
वल्गत्घटाविघटयन्नुरुवारणानाम्।
सम्मूर्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति
तत्पाणिपंकजसुखस्पर्शाद्विबुद्धः॥"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक ११)

(१) सुरवधुओं के द्वारा दामोदरगुप्त के वरण से फ्लीट आदि विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि वह युद्धभूमि में लड़ता हुआ मारा गया। पं० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने पांडित्यपूर्ण लेख (डी० आर० भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम) में प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि उपर्युक्त मत भ्रान्तिमूलक है। अफसढ़ के लेख में दामोदरगुप्त के लिये 'सम्मूर्च्छितः' शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि युद्ध-क्षेत्र में वह केवल मूर्छित हुआ था, न कि मारा गया। इस निष्कर्ष की पुष्टि अफसढ़ के लेख के 'विबुद्धः' शब्द से होती है। इसका अर्थ होता है कि दामोदरगुप्त मूर्छा के अनन्तर पुनः जागरूक हो उठा। अफसढ़ के लेख के रचयिता ने काव्यात्मक ढंग से कहा है कि देवांगनाओं के सुखद पाणिस्पर्श से उसकी मूर्छा दूर हो सकी थी।

इस प्रकार का वर्णन उत्तररामचरित के तृतीय अंक में भी उपलब्ध होता है। इसमें तमसा सीता से कहती है—"तुम्हारा पाणिस्पर्श ही मूर्छित रामचन्द्र के पुनः जागरूक होने का एकमात्र उपाय हो सकता है"—"पुनस्त्वत्पाणिस्पर्श एवं संजीवनोपायो रामभद्रस्य"। प्रिय जन के सुखद पाणिस्पर्श

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से पुनः जागरूक होने का उल्लेख 'उत्तररामचरित' में कतिपय अन्य स्थलों पर भी मिलता है। उदाहरणार्थ, इस नाटक के तृतीय अंक में तमसा पुनः सीता से कहती है—"हे कल्याणी ! तुम्हीं जगताधिपति रामचन्द्र की मूर्छा को दूर कर सकती हो। तुम्हारा पाणिस्पर्श उन्हें बहुत ही सुखद है। उसी पर उनका जागरूक होना संभव है।"

"त्वमेव ननु कल्याणि संजीवय जगत्पतिम् ।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते तत्रैव नियतो भरः ॥"
(उत्तररामचरित, तृतीय अंक, दसवाँ श्लोक)

इस नाटक के तृतीय अंक के चौदहवें श्लोक में रामचन्द्र सीता से कहते हैं कि उनका शीतल पाणिस्पर्श उन्हें आह्लादित कर रहा था (स्पर्शः स्नेहार्दशीतलः)। तृतीय अंक के ३९ वें श्लोक में रामचन्द्र सीता से पुनः कहते हैं कि उनका पाणि-स्पर्श उन्हें पुनरुज्जीवित कर रहा था (स्पर्शप्पुनरपि जीवयन्नकस्मानां)। उत्तर-रामचरित तथा अफसढ़ के लेख का रचनाकाल एक (आठवीं शताब्दी) है। उत्तररामचरित के इस उदाहरण से स्पष्ट है कि दामोदरगुप्त मारा नहीं गया। वह केवल मूर्छितमात्र हुआ था।

अफसढ़ के लेख का अगला श्लोक (बारहवाँ) इस बात को सूचित करता है कि दामोदरगुप्त ने इस घटना के अनन्तर क्या किया ? उसने गुणवती तथा आभूषण एवं यौवन से संपन्न ब्राह्मण-कन्याओं का पाणिग्रहणसंस्कार संपन्न कराया तथा सैकड़ों ग्रामों को दान में दिया :—

"गुणवद्द्विजकन्यानां नानालंकारयौवनवतीनाम् ।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम् ॥"
(अफसढ़ का लेख, बारहवाँ श्लोक)

अफसढ़ के लेख के श्लोक कालक्रम के अनुसार उल्लिखित हैं। ग्यारहवें श्लोक में दामोदरगुप्त के मूर्छित एवं तदनन्तर उसके जागरूक होने, तथा बारहवें श्लोक में इस घटना के पश्चात् उसके द्वारा दान देने का वर्णन मिलता है। वह लड़ाई में मरने से बच गया था। अतएव उसने इस प्रकार का धार्मिक कार्य किया होगा।

दिनेशचन्द्र सरकार ने अपने एक लेख (जर्नल ऑफ दी रॉयल एशिया-टिक सोसायटी, १९४४ में प्रकाशित) में पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के उप-र्युक्त तर्कों की आलोचना करते हुये विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि 'सम्मूर्छितः' (मूर्छित होना) तथा 'विबुद्धः' (जागरूक होना) शब्दों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

के बीच 'सुरवधूर्वरयन्ममेति' (देवांगनाओं ने दामोदरगुप्त का वरण किया) समस्त पद मिलता है । इससे भाव निकलता है कि दामोदरगुप्त सुरवधुओं के लोक में पहुँचा, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुआ । प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि जो वीर लड़ाई में मारा जाता है, वह स्वर्ग लोक में पहुँच कर देवांगनाओं का उपभोग करता है । महाभारत के अनुसार 'युद्धक्षेत्र में मारे हुए व्यक्ति के विषय में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये । वह व्यक्ति स्वर्ग लोक में पहुँच जाता है, अतएव वह अशोच्य है । युद्ध में काम आये हुये व्यक्ति के पास हजारों श्रेष्ठ अप्परायें शीघ्रतापूर्वक दौड़ कर आती हैं और उसे अपना पति चुन लेती हैं ।"

"आहवे तु हतं शूरं न शोचेत् कथञ्चन ।
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ॥
वराप्सरसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ।
त्वरमाणानि धावन्ति मम भर्ता भवेदिति ॥"
(महाभारत, १२, ९८, ४४-४७)

अफसढ़ के लेख के 'सुरवधूर्वयन्ममेति' तथा महाभारत के 'मम भर्त्ता भवेदिति' का अर्थ एक है । राजतरंगिणी में भी वर्णन मिलता है कि युद्ध में मरे हुये योद्धा अपने लौकिक शरीरों से पृथ्वी तथा दिव्य देह से अप्सराओं का आलिंगन करते हैं :—

"विद्रदौ स तु तद्योधैर्हतैश्च परिषस्वजे ।
अदिव्यैर्मेदिनीं दिव्यैर्देहैस्त्वप्सरसां गणः ॥"
(राजतरंगिणी, ८, १९७)

अफसढ़ के लेख से ध्वनि निकलती है कि दामोदरगुप्त अप्सराओं के आलिंगन में जागरूक हुआ था; अथात् युद्ध-क्षेत्र में वह सचमुच ही मार डाला गया ।

(२) दूसरा प्रश्न यहाँ खड़ा होता है कि दामोदरगुप्त का मौखरि-प्रतिद्वन्द्वी कौन था ? अफसढ़ के लेख में उसे केवल वंशनाम (मौखरि) से पुकारा गया है; पर उसका नाम नहीं उल्लिखित है । पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने उसकी पहचान अवन्तिवर्मा से की है । मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में उसे म्लेच्छों का विजेता कहा गया है । म्लेच्छों से यहाँ पर तात्पर्य हूणों से है । अफसढ़ के लेख के अनुसार दामोदरगुप्त का मौखरि-प्रतिद्वन्द्वी हूण-विजेता था । पर यह पहचान ठीक नहीं लगती । असीरगढ़ के लेख में शर्ववर्मा को विशेष रूप से मौखरि कहा गया है (शर्ववर्मा मौखरिः) । अफसढ़ के लेख में दामोदरगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी को मौखरि (मौखरेः) शब्द से अभिहित किया गया है । अतएव उसकी पहचान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शर्ववर्मा से करना समीचीन होगा।[1] ईशानवर्मा अपने समकालीन उत्तरगुप्त नरेश कुमारगुप्त के द्वारा पराजित किया गया था। अपने पिता के इस हार का बदला शर्ववर्मा दामोदरगुप्त से लेना चाहता होगा, जो कि कुमारगुप्त का पुत्र था। रमाशंकर त्रिपाठी आदि विद्वानों ने शर्ववर्मा को ही दामोदरगुप्त का मौखरि-प्रतिद्वन्द्वी माना है।

युद्ध का परिणाम—इस युद्ध में दामोदरगुप्त मारा गया। इससे स्पष्ट है कि युद्ध का परिणाम मौखरियों के पक्ष में हुआ। अर्थात् इसमें शर्ववर्मा ही विजयी हुआ। इस विजय के फलस्वरूप उसका आधिपत्य मगध के ऊपर स्थापित हो गया। इसकी पुष्टि देववर्नार्क के लेख से हो जाती है। इसके अनुसार शर्ववर्मा ने वारुणीक नामक ग्राम को दान में दिया था। इस ग्राम की पहचान आधुनिक देववर्नार्क से की जाती है, जो कि बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले (प्राचीन मगध) में स्थित है। इससे मगध के ऊपर शर्ववर्मा का आधिपत्य प्रमाणित हो जाता है। रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन है कि मगध पर शर्ववर्मा के आधिपत्य को सिद्ध करने के लिये देववर्नार्क के लेख को प्रमाण नहीं बनाया जा सकता। इस लेख में दो ग्रामों के नाम आते हैं—(१) वारुणीक तथा (२) किशोर-वाटकग्राम। इस लेख के संपादक फ्लीट को संदेह था कि जो ग्राम शर्ववर्मा के द्वारा दान में दिया गया, वह वारुणीक था अथवा किशोरवाटकग्राम। यदि यह मान लिया जाय कि शर्ववर्मा ने किशोरवाटकग्राम को दान में दिया, तो देव-वर्नार्क के लेख के आधार पर मगध के ऊपर शर्ववर्मा का आधिपत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। किशोरवाटकग्राम मगध में नहीं स्थित था। फ्लीट के अनुसार यह गाँव शाहाबाद जिले के प्रधान नगर आरा के ८५ मील पश्चिम कहीं उत्तर प्रदेश में स्थित था।

डॉ० मजूमदार के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुये डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है कि 'किशोरवाटकग्राम' अशुद्ध पाठ है। पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों में 'किशोरवडवागोमहिष्यधिकृत' नाम मिलता है। यह पदाधिका-रियों की एक सूची है। 'किशोरवाटकग्राम' इसी नाम का असमीचीन एवं आंशिक पाठ है। इससे स्पष्ट है कि देववर्नार्क के लेख में केवल वारुणीक ग्राम का नामोल्लेख हुआ है। शर्ववर्मा के द्वारा इसका दान दिया जाना इस बात का प्रमाण है कि मगध उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।[2]

१- हिस्ट्री ऑफ कनौज, पृष्ठ ४७

२. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १९४४, पृष्ठ ७४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मगध के हाथ से निकल जाने के कारण उत्तर गुप्तों का राज्य अब केवल मालवा तक ही सीमित था। यही कारण है कि हर्षचरित में दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त को 'मालवराज' (मालवा का सम्राट्) कहा गया है। रमाशंकर त्रिपाठी, दिनेशचन्द्र सरकार, रायचौधरी तथा विमलाचरण लाहा के अनुसार मालवा से तात्पर्य केवल पूर्वी मालवा (भिलसा) से है। उनका यह मत वात्स्यायन के कामसूत्र की टीका पर अवलंबित है। इसमें उल्लेख मिलता है कि उज्जयिनी की स्त्रियाँ पश्चिमी मालवा तथा मालवा की स्त्रियाँ पूर्वी मालवा की रहने वाली कहलाती हैं (उज्जयिनीदेश-भव्यास्ता एवापरमालव्यः मालव्य इति पूर्वमालवभवः)। अर्थात् उज्जयिनी से पश्चिमी मालवा का बोध होता है और जहाँ केवल मालव शब्द का प्रयोग किया जाय, वहाँ तात्पर्य पूर्वी मालवा से समझा जाय।

पर यदि उपलब्ध प्रमाणों की गहराई के साथ छानबीन की जाय, तो निष्कर्ष निकलता है कि मालव शब्द से न केवल पूर्वी मालवा अपितु पश्चिमी मालवा का भी बोध होता है, जिसमें उज्जयिनी का नगर भी स्थित था। वी० पी० सिनहा ने इस संबन्ध में निम्न तर्क दिये हैं—

(१) कामसूत्र की टीका का साक्ष्य इस विषय में बहुत प्रामाणिक नहीं है। इसकी तिथि बाद की है। केवल इसे छोड़ कर अन्य किसी भी साधन में नहीं कहा गया है कि मालवा से तात्पर्य केवल पूर्वी मालवा से है।

(२) बाणभट्ट की कादम्बरी में उल्लेख मिलता है कि उज्जयिनी की स्त्रियों को मालवी (मालवा की रहने वाली) कहा जाता था। इससे स्पष्ट है कि मालव (मालवा) से तात्पर्य पश्चिमी मालवा से भी था, जिसमें उज्जयिनी का नगर स्थित था।

(३) ऐहोड़े के लेख के अनुसार लाट, मालव तथा गुर्जर पुलकेशिन द्वितीय के सामन्त थे। लाट एवं गुर्जर से तात्पर्य क्रमशः दक्षिणी गुजरात तथा पश्चिमी राजपूताना से था। अतएव मालव में इनके आस-पास का क्षेत्र (संपूर्ण मालवा) सम्मिलित रहा होगा। बाणभट्ट के हर्षचरित में लाट तथा गुर्जर शब्दों के साथ मालव शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि इसमें पश्चिमी मालवा भी सम्मिलित था। वी० पी० सिनहा के शब्दों में महासेनगुप्त का मालव पश्चिम में चम्बल से लेकर पूर्व में एरण तक तथा दक्षिण में विन्ध्य से लेकर उत्तर में चम्बल के उत्तरी मोड़ तक फैला हुआ था।

हूण-विजेता—अफसढ़ के लेख के अनुसार दामोदरगुप्त का मौखरि-प्रतिद्वन्द्वी हूणों का विजेता था। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस मौखरि-प्रतिस्पर्द्धी की पहचान शर्ववर्मा से की जाती है। इससे लगता है कि उसने हूणों को हराया होगा। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्द्धन के समय में (छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध) हूण भारतवर्ष में वर्तमान थे। वह हूणों के लिये सिंह-तुल्य था (हूणहरिणकेसरी)। उसने राज्यवर्द्धन को हूणों को परास्त करने के लिये भेजा था (हूणान्हन्तुं ... प्राहिणोत्)। शर्ववर्मा का भी समय वही है, जो कि प्रभाकरवर्द्धन का। अतएव हूणों के साथ उसका संघर्ष कोई असंभव घटना नहीं मानी जा सकती।

State Museum Library Lucknow 7130

निर्मन्द के लेख का शर्ववर्मा—पंजाब में काँगड़ा के पास स्थित निर्मन्द नामक स्थान से महाराज शर्ववर्मा का एक लेख मिला है, जिसमें उसके द्वारा किये गये हुये दान का वर्णन मिलता है। अरवमूथन तथा बी०पी० सिनहा का कथन है कि यह मौखरि शर्ववर्मा का लेख है। इस लेख के प्राप्तिस्थान के आधार पर उन्होंने प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि पश्चिम में उसका राज्य काँगड़ा तक फैला हुआ था। पर इस मत के विरुद्ध कई आपत्तियाँ हैं :—

(१) मौखरि शर्ववर्मा की उपाधि महाराजाधिराज थी। निर्मन्द के लेख का शर्ववर्मा केवल महाराज की उपाधि धारण करता था।

(२) निर्मन्द के लेख के शर्ववर्मा का पिता महासामन्त महाराज था। मौखरि शर्ववर्मा का पिता महाराजाधिराज ईशानवर्मा था।

(३) यदि इस पहचान को सत्य मान लिया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि वर्द्धन राज्य के ऊपर भी, जो कि काँगड़ा तथा मौखरि-राज्य के बीच स्थित था, शर्ववर्मा का आधिपत्य था। पर इसके लिये लवलेश प्रमाण भी नहीं प्राप्य है। मौखरि तथा वर्द्धन राजवंशों में प्रगाढ़ मैत्री थी।

उपर्युक्त तर्कों को ध्यान में रखते हुए मौखरि शर्ववर्मा तथा निर्मन्द के लेख के शर्ववर्मा को पृथक् व्यक्ति मानना होगा।[1]

उत्तराधिकारी कौन ?—फ्लीट, चिन्तामणि विनायक वैद्य, राधा कुमुद मुकर्जी तथा कावेल एवं टामस के अनुसार शर्ववर्मा का उत्तराधिकारी सुस्थित वर्मा था। इन विद्वानों के तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) सुस्थितवर्मा का नामोल्लेख अफसढ़ के लेख में हुआ है। उसके नाम के अन्त का वर्मा शब्द उसे मौखरि (वर्मन्) वंश से संबन्धित करता है।

(२) अफसढ़ के लेख के अनुसार महासेनगुप्त ने सुस्थितवर्मा को परास्त

---

१. द्रष्टव्य—रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृष्ठ ३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation and HHFA(USA)

किया था, जिसके फलस्वरूप लौहित्य नदी के दोनों तटों पर आज भी लोग उसके यश को गाते थे :—

"श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदांकं मुहुः
यस्याद्यापि विबुद्धकुन्दकुमुदक्षुण्णाच्छहार तम् ।
लौहित्यस्य तटेषु शीतलतटेषूत्फुल्लनागद्रुम-
च्छायासुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते ॥"
(अफसढ़ के लेख का चौदहवाँ श्लोक)

महासेनगुप्त का पिता दामोदरगुप्त अपने समकालीन मौखरि-नरेश शर्ववर्मा के द्वारा पराजित किया गया था तथा युद्ध-क्षेत्र में मार भी डाला गया था। अपने पिता की हार एवं मृत्यु का बदला लेने के लिये वह शर्ववर्मा के पुत्र को परास्त करना चाहता था। अतएव सुस्थितवर्मा, जो मौखरि-वंशी प्रतीत होता है और जो महासेनगुप्त के द्वारा परास्त किया गया, शर्ववर्मा का पुत्र रहा होगा।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अधिकांश विद्वान् उपर्युक्त मत के विरुद्ध हैं; उदाहरणार्थ हेमचन्द्र रायचौधरी , राखालदास बनर्जी, अरवमूथन, रमाशंकर त्रिपाठी, दिनेशचन्द्र सरकार, रमेशचन्द्र मजूमदार तथा बी० पी० सिनहा आदि। उनके तर्कों का सार इस प्रकार है :—

(१) सुस्थितवर्मा के नाम के अन्त का वर्मा शब्द निश्चयात्मक रूप से उसे मौखरि-वंशी नहीं प्रमाणित करता। कुछ अन्य भारतीय राजवंश भी वर्मन् वंशी थे; उदाहरणार्थ असम का वर्मन् राजवंश।

(२) अफसढ़ के लेख के अनुसार महासेनगुप्त ने सुस्थितवर्मा को लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के तट पर परास्त किया था। ब्रह्मपुत्र असम की नदी है। इससे सुस्थितवर्मा असम का शासक प्रतीत होता है। असम मौखरि-राज्य के बाहर था।

(३) सुस्थितवर्मा नामक मौखरि-नरेश का नाम अज्ञात है। अफसढ़ के लेख में भी कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, जिससे यह समझा जाय कि सुस्थित-वर्मा मौखरि-वंशी था।

(४) नालन्दा के लेख में असम के नरेश सुस्थितवर्मा का नामोल्लेख मिलता है।

(५) निधानपुर के लेख के अनुसार सुस्थितवर्मा हर्ष के समकालीन असम-नरेश भास्करवर्मा का पिता था। इससे प्रतिपादित होता है कि अफसढ़ के लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के सुस्थितवर्मा की पहचान निधानपुर के लेख के सुस्थितवर्मा से करना समीचीन है ।

(६) भितौरा के मुद्रा-ढेर में सुस्थितवर्मा की कोई मुद्रा नहीं मिली है । इसमें ईशानवर्मा तथा शर्ववर्मा की मुद्राओं के साथ अवन्तिवर्मा के सिक्के मिले हैं । इससे लगता है कि शर्ववर्मा के अनन्तर अवन्तिवर्मा ही गद्दी पर बैठा होगा ।

(७) देववर्नार्क के लेख में शर्ववर्मा के नाम के पश्चात् अवन्तिवर्मा का नाम आता है न कि सुस्थितवर्मा का । इस लेख के अनुसार जिस ग्राम को शर्ववर्मा ने दान में दिया, उसे अवन्तिवर्मा ने सुदृढ़ किया । अतएव शर्ववर्मा का उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा ही रहा होगा ।

(८) सोहनाग के लेख से पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि शर्ववर्मा के पश्चात् अवन्तिवर्मा ही राज्याभिषिक्त हुआ था ।

अवन्तिवर्मा—वह मौखरि वंश का छठा सम्राट् माना जाता है । इस नरेश के संबन्ध में सूचना का सबसे प्रधान साधन हर्षचरित है । इस ग्रंथ के अनुसार वह राजाओं में अग्रगण्य था (धरणीधराणाम् च मूर्ध्नि स्थितो)। उसके समय में शिव के पदचिन्ह की भाँति मौखरि पूजनीय थे (माहेश्वरपादन्यास इव सकलभुवननमस्कृतो मौखरिवंशः) । मुद्राराक्षस के भरतवाक्य के अनुसार अवन्तिवर्मा ने म्लेच्छों से पीड़ित वसुधा की रक्षा की थी (म्लेच्छैः उद्वेज्यमाना) । म्लेच्छों से तात्पर्य हूणों से है। इससे लगता है कि अपने पितामह एवं पिता की भाँति वह भी हूणों का विजेता था । संभव है कि वह मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त का आश्रयदाता भी रहा हो। कादम्बरी की प्रस्तावना के अनुसार मौखरि बाणभट्ट के आचार्य के आश्रयदाता थे (सशेखरैः मौखरिभिः कृतार्चनम्) । पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि शर्ववर्मा के द्वारा दिये गये हुये दान (वारुणीक नामक ग्राम के दान)को अवन्तिवर्मा ने सुदृढ़ किया । इससे स्पष्ट है कि इसके समय में मगध मौखरि-राज्य में सम्मिलित था ।

ग्रहवर्मा—वह अवन्तिवर्मा का उत्तराधिकारी पुत्र था । मौखरि वंश का वह सातवाँ नरेश माना जाता है । वह अवन्तिवर्मा का ज्येष्ठ पुत्र था (सूनुरग्रजः)। हर्षचरित के अनुसार वह सूर्य की भाँति तेजस्वी था (ग्रहवर्मा नाम ग्रहपतिरिवागतः) । ग्रहवर्मा का विवाह प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था । यह वैवाहिक संबन्ध उसके काल की सबसे उल्लेखनीय घटना थी । रमाशंकर त्रिपाठी के शब्दों में राजनीतिक दृष्टि से यह संबन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण था । इसने उस समय के दो शक्तिशाली राजवंशों को एकबद्ध किया । रमाशंकर त्रिपाठी, बी० पी० सिनहा तथा राधागोविन्द बसाक का कथन है कि इस विवाह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के समय अवन्तिवर्मा जीवित नहीं था। इसकी संभावना दो बातों से लगती है:—

(१) जिस समय मौखरियों का ताम्बूलवाहक थानेश्वर पहुँचा, उस समय प्रभाकरवर्द्धन ने केवल ग्रहवर्मा का कुशल पूछा न कि अवन्तिवर्मा का।

(२) हर्षचरित के अनुसार जिस समय ग्रहवर्मा की बारात थानेश्वर पहुँची, उस समय प्रभाकरवर्द्धन ने केवल ग्रहवर्मा का स्वागत किया। इस अवसर पर अवन्तिवर्मा का कोई उल्लेख नहीं है। इससे लगता है कि वह इस समय जीवित नहीं था।[1]

विद्वानों का अनुमान है कि यह विवाह ६०४ ई० के लगभग हुआ। इस समय मगध के पूर्व में गौड़ अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। इससे आतंकित होने के कारण ग्रहवर्मा ने वर्द्धनों के साथ वैवाहिक संबन्ध की इच्छा प्रकट की होगी। राधागोविन्द बसाक का कथन है कि ग्रहवर्मा ने स्वयं विवाहसंबन्धी वार्तालाप को प्रारंभ किया होगा। मौखरि राजवंश काफी प्रतिष्ठित था। अतएव प्रभाकरवर्द्धन ने सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। मौखरियों एवं वर्द्धनों की मैत्री के विरुद्ध उत्तरगुप्त राजकुमार देवगुप्त तथा गौड़ नरेश शशांक के बीच एक राजनीतिक दलबन्दी स्थापित हुई। शशांक इस समय प्रबल महत्वाकांक्षी सिद्ध हो रहा था। देवगुप्त मौखरियों एवं वर्द्धनों की इस मैत्री से कुढ़ता था। जिस समय प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हुई, उस समय देवगुप्त ने शशांक की सहायता से कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर दिया तथा ग्रहवर्मा को मार डाला। इस घटना के संबन्ध में रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन है कि ग्रहवर्मा का राज्यश्री के साथ विवाह मौखरियों के लिये यदि एक ओर वरदान सिद्ध हुआ, तो दूसरी ओर अभिशाप भी। ग्रहवर्मा की मृत्यु ६०६ ई० के लगभग हुई। इस समय कई पीढ़ियों से चले आने वाले उत्तरगुप्त-मौखरि-संघर्ष का अन्त हुआ।

सुव्रवर्मा की संभावना—हर्षचरित के अनुसार ग्रहवर्मा पुत्रहीन मरा था। इससे लोग प्रायः निष्कर्ष निकालते हैं कि वह मौखरि राजवंश का अन्तिम शासक था। राज्यश्री विधवा हो जाने के कारण शान्तिमय जीवन व्यतीत करना चाहती थी। राज्यकार्य को सँभालने पर इस प्रकार का जीवन असंभव हो जाता। अतएव मौखरिराज्य हर्ष को प्राप्त हो गया।

रमेशचन्द्र मजूमदार ने इतिहासकारों का ध्यान मंजुश्रीमूलकल्प तथा नालंदा के एक लेख की ओर आकर्षित किया है। मंजुश्रीमूलकल्प में कुछ मौखरि-

---

१. रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृष्ठ ५०; बी० पी० सिन्हा, डिक्लाइन ऑफ़ मगध, पृष्ठ, २०९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नरेशों के नाम इस क्रम से मिलते हैं—उदाहरणार्थ ईशान (ईशानवर्मा), सर्व (शर्ववर्मा), ग्रह (ग्रहवर्मा) तथा सुव्र (सुव्रवर्मा)।

"ईशान - सर्व - पंक्तिश्च ग्रह - सुव्र तथा परः।
ततस्ते लुप्तराजानः भ्रष्टमर्याद सर्वदा ॥"

नालन्दा की एक मुहर के ऊपर किसी राजा का नाम उत्कीर्ण मिलता है, जिसका प्रथम अक्षर सु है। यह मुहर टूटी हुई है, अतएव उसके नाम के बाद वाला भाग नहीं पढ़ा जा सकता। इस नरेश की पहचान मंजुश्रीमूलकल्प के सुव्र से की जा सकती है। सुव्र (सुव्रवर्मा) का नाम इस ग्रंथ में ग्रह (ग्रहवर्मा) के नाम के अनन्तर आता है, अतएव वह इसका उत्तराधिकारी रहा होगा। हर्षचरित के अनुसार ग्रहवर्मा पुत्रहीन मरा था, अतएव सुव्र (सुव्रवर्मा) इसका कोई छोटा भाई रहा होगा। हर्षचरित में ग्रहवर्मा को अवन्तिवर्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उसके कोई छोटा भाई अवश्य था। ग्रहवर्मा का यह अनुज सुव्र (सुव्रवर्मा) रहा होगा। राधागोविन्द बसाक का कथन है कि ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् सुव्र (सुव्रवर्मा) ने नाममात्र के लिये कान्यकुब्ज पर शासन किया होगा। रमेशचन्द्र मजूमदार का अनुमान है कि ग्रहवर्मा के मरने के अनन्तर सुव्र (सुव्रवर्मा) कान्यकुब्ज की गद्दी के लिये विधवा राज्यश्री का प्रतिद्वन्द्वी था। शशांक ने सुव्र (सुव्रवर्मा) का पक्ष लिया होगा। उसने इसे अपने आश्रित के रूप में कान्यकुब्ज की गद्दी पर बिठा दिया होगा। इस नगर पर अपना आधिपत्य जमाने के लिये हर्ष को इसे हटाना पड़ा होगा।[1]

फांगचिह के अनुसार हर्षवर्द्धन अपनी विधवा बहिन के साथ शासन कर रहे थे। रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि यह कथन कान्यकुब्ज के शासन की ओर संकेत करता है। प्रारंभ में उन्होंने वहाँ अपनी बहिन के नाम पर शासन किया। कालान्तर में जब उनकी स्थिति सुरक्षित हो गई, उस समय उन्होंने अपने आप को कान्यकुब्ज का सार्वभौम नरेश घोषित किया तथा सम्मिलित राज्य (वर्द्धन-मौखरिराज्य) की राजधानी थानेश्वर से कान्यकुब्ज में स्थानान्तरित किया। अतएव यह कहना ठीक न होगा कि मौखरि-गद्दी ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् रिक्त हो गई तथा बिना किसी कठिनाई के ही वह हर्ष को प्राप्त हो गई थी।

वर्द्धनों के लिये मार्ग— मौखरियों के विनाश ने वर्द्धनों के विकास के लिये मार्ग प्रस्तुत किया। तुलनात्मक दृष्टि से मौखरियों की राजनीतिक शक्ति वर्द्धनों

१. रमेशचन्द्र मजूमदार, क्लैसिकल एज, पृष्ठ १०१-१०२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

से अधिक थी । उनका इतिहास इनसे प्राचीन है । मौखरि अपने उत्कर्ष-काल में राजाओं में सिरमौर माने जाते थे । वाणभट्ट (जो वर्द्धनों का दरबारी था) लिखता है कि अवन्तिवर्मा के समय में शिव के पदचिन्ह की भाँति मौखरि पूजनीय थे तथा ग्रहवर्मा सूर्य की भाँति तेजस्वी था । ये उल्लेख मौखरियों की शक्ति की महानता की ओर संकेत करते हैं । कादम्बरी की प्रस्तावना में इस राजवंश को सबसे प्रभावशाली कहा गया है (सशेखरैः मौखरिभिः) ।

यदि ग्रहवर्मा जीवित होता, तो सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का राजनीतिक इतिहास संभवतः कुछ दूसरा ही होता । उसके शासन के चलते रहने पर हर्ष के उत्थान के लिए परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जातीं । ग्रहवर्मा के द्वारा शासित भू-भाग पश्चिम में कन्नौज से लेकर पूर्व में पाटलिपुत्र तक प्रसरित था । यदि हर्ष ग्रहवर्मा के जीवित रहने पर उत्तरी भारतवर्ष का चक्रवर्ती नरेश बनना चाहते, तो उन्हें इस विस्तृत प्रदेश को छीनना आवश्यक हो जाता । यह उस समय का सबसे बड़ा राज्य था । ऐसी परिस्थिति में वर्द्धन-मौखरि-संघर्ष अवश्यंभावी हो जाता, यद्यपि दोनों राजवंशों में वैवाहिक सम्बन्ध था । भारतीय इतिहास में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, जिसके अनुसार सगे-सम्बन्धी राजवंशों के बीच राजनीतिक कारणों से युद्ध छिड़ा था । उदाहरणार्थ मौखरियों एवं उत्तर-गुप्तों में तीसरी पीढ़ी तक वैवाहिक सम्बन्ध था । तथापि दोनों राजवंशों की चतुर्थ पीढ़ी के नरेशों (ईशानवर्मा तथा कुमारगुप्त) के बीच साम्राज्य-विस्तार के उद्देश्य से एक ऐसा युद्ध छिड़ा, जिसने परंपरागत संघर्ष का रूप धारण किया ।

दूसरी संभावना यह हो सकती थी कि ग्रहवर्मा के जीवित रहने पर हर्ष पूर्व की ओर कोई सैनिक अभियान नहीं करते । इस दिशा में वर्द्धन-राज्य को मौखरियों का राज्य स्पर्श करता था । ग्रहवर्मा की सैनिक शक्ति तथा उसके साम्राज्य के साधन वर्द्धनों की शक्ति एवं साधन की तुलना में निश्चयात्मक रूप से अधिक थे । ऐसी परिस्थिति में उनकी विजयें वर्द्धन-राज्य के केवल पश्चिम की ओर ही सीमित रहतीं । इसकी पुष्टि यों हो जाती है कि प्रभाकरवर्द्धन के जिन शत्रुओं के नाम हर्षचरित में गिनाये गये हैं, वे पश्चिम की शक्तियाँ हैं; उदाहरणार्थ हूण, गंधाराधिप तथा सिन्धुराज ।

ग्रहवर्मा की मृत्यु के उपरान्त हर्षवर्द्धन को बिना किसी प्रयत्न के ही सम्पूर्ण मौखरि-राज्य प्राप्त हुआ, जो पश्चिम में कान्यकुब्ज से लेकर पूर्व में मगध तक फैला हुआ था । इस प्रकार वर्द्धन-साम्राज्य आकार में कई गुना विशाल हो गया । हर्षवर्द्धन को मौखरियों की शक्तिशालिनी सेना उपलब्ध हुई । समकालीन अभिलेखों में मौखरि-सेना की विशालता एवं शक्तिसंपन्नता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की प्रचुर प्रशंसा मिलती है। हरहा एवं अफसढ़ के लेखों के अनुसार इसे हूणों को जीतने का गर्व था। अफसढ़ के लेख में इसकी तुलना क्षीरसागर से की गई है। इसके अनुसार इसमें मदस्रावी गज सम्मिलित थे। युद्ध-क्षेत्र में इनकी पंक्ति को देख कर ऐसा आभास होता था, मानो काले बादलों की घटा छाई हो। इसने आन्ध्र, धारा तथा रैवतक-शासकों को परास्त किया था। इसका लोहा गौड़ लोग भी मानते थे। इस सेना के मिल जाने के कारण हर्षवर्द्धन की सैनिक शक्ति बढ़ गई। वर्द्धनों एवं मौखरियों की सम्मिलित सेना किसी भी समकालीन शक्ति के लिये भय का कारण सिद्ध हो सकती थी। बाणभट्ट लिखता है कि हर्ष ने दिग्विजय के निमित्त एक विशाल सेना के साथ प्रस्थान किया था। इसकी विशालता को देखते हुए लगता था, मानो अपने ठाट-बाट से सुसज्जित कोई नगर ही चलायमान हो उठा हो। हुयेनसांग लिखता है कि जिस समय हर्ष दिग्विजय के हेतु निकले, उस समय उनकी सेना में पाँच हजार हाथी, बीस हजार घोड़े तथा पचास हजार पैदल सैनिक सम्मिलित थे। यह उल्लेख वर्द्धन-मौखरि सेना के सम्मिलित आकार की ओर संकेत करता है। सैनिक शक्ति के बढ़ जाने के कारण हर्षवर्द्धन को दिग्विजय में सहायता प्राप्त हुई। हुयेनसांग लिखता है कि इस सेना के साथ हर्ष ने छह वर्षों तक लगातार युद्ध किया तथा पंच भारत के शासकों को अपनी प्रभुता को मानने के लिये बाध्य किया। हर्षचरित के वर्णन से स्पष्ट है कि जिस समय हर्ष का राज्याभिषेक हुआ, उस समय वे काफी डाँवाडोल परिस्थिति में थे। वर्द्धन-वंश के ऊपर उस समय विपत्तियों के बादल मँडरा रहे थे। मौखरि-साम्राज्य के साधनों की प्राप्ति के कारण हर्ष की प्रारम्भिक समस्याएँ सुलझ गईं। इन रूपों में मौखरियों के विनाश ने वर्द्धनों के भावी उत्थान के लिये पृष्ठभूमि का निर्माण किया था।

● ●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

(ख) "उत्तर-गुप्त" (कृष्णगुप्त-वंश)

साधन

(१) **अफसढ़ का शिलालेख**—इस राजवंश के इतिहास के विषय में सूचना का सबसे प्रधान साधन अफसढ़ का शिलालेख है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इस लेख में प्रथम उत्तरगुप्त नरेश कृष्णगुप्त के समय से लेकर आठवें नरेश आदित्यसेन के काल तक की घटनाओं का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। यह लेख काफी सुरक्षित अवस्था में उपलब्ध हुआ है। यदि यह प्राप्त नहीं होता, तो इस राजवंश के विषय में हम लोगों का परिचय अत्यल्प रह जाता। इस लेख में मिलने वाले नरेशों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) कृष्ण-गुप्त, (२) हर्षगुप्त, (३) जीवितगुप्त प्रथम, (४) कुमारगुप्त, (५) दामोदर-गुप्त, (६) महासेनगुप्त, (७) माधवगुप्त तथा (८) आदित्यसेन।

(२) **शाहपुर का लेख**—यह आठवें उत्तरगुप्त नरेश आदित्यसेन के समय में उत्कीर्ण कराया गया था। इसकी तिथि हर्ष संवत् ६६ (६७२ ई०) है। इस लेख के द्वारा उत्तरगुप्तों के तिथि-निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है। यह लेख पटना जिले में स्थित शाहपुर नामक ग्राम से उपलब्ध हुआ है।

(३) **मन्दर के लेख**—बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में स्थित मन्दर से आदित्यसेन के समय के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इस नरेश के शासन-काल की घटनाओं के पुनर्निर्माण में ये लेख उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(४) **मंगराँव का लेख**—यह लेख इस राजवंश के दसवें नरेश विष्णुगुप्त के समय का है। इसमें उसके लिये 'महाराजाधिराज' तथा 'परमेश्वर' उपाधियाँ आती हैं। इस लेख का रचयिता देवदत्त नामक व्यक्ति था (लिखिता देव-दत्तेन)। इसे सूत्रधार कुलादित्य ने उत्कीर्ण किया था (उत्कीर्णा सूत्रधारेण कुलादित्येन धीमता)।

(५) **देवबर्नार्क का लेख**—इस लेख की चर्चा पहले की जा चुकी है। इसमें आदित्यसेन के उपरान्त तीन नरेशों के नाम आते हैं :—देवगुप्त, विष्णुगुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय। ये उत्तरगुप्त राजवंश के क्रमशः नवें, दसवें तथा ग्यारहवें नरेश थे। देवगुप्त के पहले इसमें दो नरेशों के नाम आते हैं :—माधवगुप्त तथा आदित्यसेन।

(६) **वैद्यनाथधाम के मन्दिर का लेख**—यह लेख भागलपुर जिले के मन्दर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर्वत के किसी मन्दिर से लाया गया था। यह भी आदित्यसेन के समय में उत्कीर्ण किया गया था। इसके अनुसार उक्त मन्दिर में भगवान् विष्णु के अवतार नृहरि की प्रतिमा की स्थापना की गई थी। कालान्तर में इसमें बलभद्र नामक व्यक्ति ने वराह की मूर्ति की स्थापना कराई थी। इसमें आदित्यसेन को 'समुद्रपर्यन्त' पृथ्वी का शासक कहा गया है। इसके अनुसार उसने अश्वमेघ यज्ञ तथा अन्य यज्ञों का अनुष्ठान किया था।

सम्राट् गुप्तों से पृथक्ता--इस राजवंश के नरेशों के नाम के अन्त में गुप्त शब्द मिलता है। इससे थोड़ी देर के लिए संदेह होने लगता है कि कहीं इनका सम्बन्ध सम्राट् गुप्तों के साथ तो नहीं था ? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क विचारणीय हैं :—

(१) इस राजवंश के प्रथम तीन नरेश (कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त तथा जीवित-गुप्त प्रथम) सम्राट् गुप्तों के सामन्त (५०० ई० से लेकर ५५० ई० तक) थे। सामन्त-स्थिति सम्राट् गुप्तों से इनकी पृथक्ता प्रमाणित करती है।

(२) इस राजवंश के सभी नरेशों के नाम के अन्त में गुप्त शब्द नहीं मिलता। उदाहरणार्थ आदित्यसेन के नाम के अन्त में गुप्त शब्द संयुक्त नहीं है। इससे स्पष्ट है कि यह उनका वंश-नाम नहीं है।

(३) अफसढ़ के लेख में इस राजवंश के संस्थापक कृष्णगुप्त को अच्छे कुल में उत्पन्न (सद्वंशः) कहा गया है। यदि सम्राट् गुप्तों के साथ उसका सम्बन्ध होता तो 'सद्वंशः' के स्थान पर 'गुप्तवंशः' (गुप्त वंश में उत्पन्न) का उल्लेख मिलता।

(४) दरबारी कवि अपने आश्रयदाता के वंश का सम्बन्ध प्राचीन उच्च राजवंशों के साथ दिखाने में चूकते नहीं थे। सम्राट् गुप्त वंश के नरेश बड़े ही यशस्वी थे। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा स्कन्दगुप्त की विलक्षण कृतियों की स्मृति उस समय अब भी नवीन थी। यदि उत्तरगुप्त सचमुच ही उनके वंशज होते, तो वे अपने लेखों में इसका उल्लेख बड़े ही गर्व के साथ करते।

(५) सम्राट् गुप्तों के लेखों की शैली से उत्तरगुप्तों की अभिलेख-शैली विभिन्न है।

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि सम्राट् गुप्तों के साथ उत्तर गुप्तों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। वास्तविकता तो यह है कि उनको उत्तर गुप्त नाम देना ही भ्रान्तिमूलक है। इसे 'कृष्णगुप्त-वंश' कहना कहीं अधिक समीचीन होगा।

मूल स्थान—फ्लीट का कथन है कि उत्तर गुप्तों का मूल स्थान मगध था। इस मत का समर्थन राखालदास बनर्जी तथा बी० पी० सिनहा ने किया था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of North America - HHFA(USA)

इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों का कथन है कि इनका आदि स्थान मालवा था। इनमें फ्लीट, हॉर्नले, एडवर्ड ए० पिएर्स, आर० यन० सैलेतोर, डी० सी० गंगूली, चितामणि विनायक वैद्य, हेमचन्द्र रायचौधरी तथा राधाकुमुद मुकर्जी प्रधान हैं। इन विद्वानों के तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) देववर्नार्क के लेख में (जो मगध के ऊपर उत्तर गुप्तों के आधिपत्य का प्रमाण है) सबसे पहले सातवें नरेश माधवगुप्त का नाम मिलता है। इससे लगता है कि मगध के ऊपर उत्तरगुप्तों ने सबसे पहले इसी नरेश के काल से शासन करना प्रारंभ किया। इस लेख के अंतः साक्ष्य से विदित होता है कि माधवगुप्त के पहले यहाँ मौखरि-नरेश शर्ववर्मा तथा अवन्तिवर्मा का राज्य था। इससे स्पष्ट है कि मगध उत्तरगुप्तों का मूल स्थान न रहा होगा।

(२) नागार्जुनी एवं बराबर पहाड़ियों के लेखों से ज्ञात होता है कि मौखरियों का मूलस्थान गया जिला था। अतएव उनके समकालीन उत्तर गुप्तों के लिये मगध में कोई स्थान नहीं था।

(३) चन्द्रवल्ली के लेख के आधार पर पिएर्स का कथन है कि गुप्तों के अभ्युदय के पहले से ही मौखरि वंश के लोग मगध में शासन कर रहे थे। इसके अनुसार कदम्ब-नरेश मयूरशर्मा ने त्रैकूट, आभीर, पल्लव, परीयात्रिक, शकस्थान तथा मोकरि को परास्त किया था। पिएर्स तथा डी० सी० सरकार के अनुसार मोकरि से तात्पर्य मौखरि से है। पिएर्स का कथन है कि मयूरशर्मा का मौखरि-प्रतिद्वन्द्वी मगध-नरेश रहा होगा। उन्होंने इसकी पहचान क्षत्रवर्मा से की है, जो हर्षचरित के अनुसार अपने शत्रु के चारणों के द्वारा काट डाला गया था।

(४) काशी प्रसाद जायसवाल का कथन है कि गुप्तों के अभ्युदय के पहले मगध में कोत-कुल राज्य कर रहा था। इस कोत-कुल का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में हुआ है। डॉ. जायसवाल ने इतिहासकारों का ध्यान कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक की ओर आकर्षित किया है, जिसका पता रामकृष्ण कवि ने लगाया था। इसमें सुन्दरवर्मा तथा कल्याणवर्मा का उल्लेख मिलता है, जिनका जन्म मगध-कुल में हुआ था। डॉ० जायसवाल ने इस मगध-कुल की पहचान कोत-कुल से की है। उन्होंने इस नाटक के नायक चण्डसेन तथा गुप्त वंश के चन्द्रगुप्त प्रथम को एक ही व्यक्ति माना है।

(५) हुयेनसांग के अनुसार उसके आगमन के समय मगध में पूर्णवर्मा नामक नरेश राज्य कर रहा था। उसने वहाँ उत्तरगुप्तों के शासन का कोई उल्लेख नहीं किया है।

(६) बाणभट्ट ने हर्षचरित में कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त को मालवा के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नरेश का पुत्र (मालवराजपुत्रौ) कहा है। इस ग्रंथ के अनुसार माधवगुप्त महासेनगुप्त का पुत्र था। इससे स्पष्ट है कि महासेनगुप्त को ही इसमें 'मालवराज' कहा गया है। अतएव निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरगुप्त मालवा के शासक थे।

यदि ध्यानपूर्वक उपर्युक्त तर्कों की समीक्षा की जाय, तो वे समीचीन नहीं प्रतीत होते। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि मौखरियों के हाथों से दामोदरगुप्त की पराजय एवं मृत्यु के फलस्वरूप मगध उत्तरगुप्तों के राज्य से निकल गया तथा परिणामतः उसके पुत्र महासेनगुप्त का राज्य केवल मालवा तक ही सीमित था। यही कारण है कि हर्षचरित में उसे 'मालवराज' कहा गया है न कि 'मगधराज'। देववर्नार्क के लेख में वारुणीक नामक ग्राम के दान का वर्णन आता है। इस ग्राम के दान से जिन उत्तरगुप्त नरेशों का सम्बन्ध था, केवल उन्हीं भूपतियों का नामोल्लेख इसमें हुआ है (अर्थात् माधवगुप्त, आदित्यसेन, देवगुप्त, विष्णुगुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय)। प्रारंभिक उत्तरगुप्त नरेशों का इस ग्राम के दान से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। यही कारण है कि इस अभिलेख में उनके नाम का कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

नागार्जुनी तथा बराबर पहाड़ियों के लेखों में जिन मौखरियों का नाम उल्लिखित है, उनका समय पाँचवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। कान्यकुब्ज के मौखरियों के साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। प्रारंभिक उत्तर गुप्तों के काल (अर्थात् छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध) में मालवा में यशोधर्मन् (५३२ ई० के लगभग) राज्य कर रहा था। अतएव वहाँ उत्तर गुप्तों के मूल स्थान होने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

चन्द्रवल्ली के लेख के मयूरशर्मा के मोकरि (मौखरि)–प्रतिद्वन्द्वी का सम्बन्ध मगध से नहीं लगता। उसके द्वारा विजित जिन अन्य क्षेत्रों के नाम दिये गये हैं, उनमें से कोई भी मगध के समीप नहीं पड़ता। संभव है कि उसका सम्बन्ध बड़वा अथवा कर्णाटक के मौखरि-वंश से रहा हो। के० ए० शास्त्री का कथन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से चन्द्रवल्ली के लेख का साक्ष्य अश्रद्धेय है। अतएव इसे कोई महत्त्व प्रदान करना ठीक न होगा। विन्टरनित्ज़ आदि विद्वानों का कथन है कि कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक को किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष के लिये आधार मानना ठीक न होगा। इस ग्रन्थ में वर्णित घटनायें गुप्तवंशीय अभिलेखों में वर्णित घटनाओं से मेल नहीं खातीं। प्रयाग की प्रशस्ति में कल्याणवर्मा का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। अतएव डॉ० जायसवाल का मत मान्य नहीं है।

अफसढ़ के लेख के अनुसार तृतीय उत्तरगुप्त नरेश जीवितगुप्त प्रथम ने समुद्र-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHFA)(USA)

तट (बंगाल के समुद्र-तट) एवं हिमालय के शत्रुओं को परास्त किया था। इस लेख में वर्णन मिलता है कि छठे उत्तर गुप्त सम्राट् महासेनगुप्त ने लौहित्य (ब्रह्म-पुत्र) नदी के तट पर विजय किया था। ये सारे स्थान मगध के समीप पड़ते हैं। यदि उत्तर गुप्तों का मूल स्थान मालवा होता, तो उतनी दूर से बंगाल, असम तथा हिमालय में उनके लिये विजय करना असंभव हो जाता। चौथे उत्तर गुप्त नरेश कुमारगुप्त की मृत्यु प्रयाग में हुई थी। इससे लगता है कि यह उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। मगध में रह कर प्रयाग के ऊपर आधि-पत्य स्थापित करना मालवा की अपेक्षा अधिक सरल था। उत्तर गुप्तों के सभी लेख मगध के आसपास के क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं; उदाहरणार्थ अफसढ़, शाहपुर, मंदर, मंगरांव तथा देववर्नार्क के लेख। इन सारे प्रमाणों से निष्कर्ष निकलता है कि मगध को ही उत्तर गुप्तों का मूल स्थान मानना अधिक समीचीन होगा।[1]

सम्राट् मौखरियों का सम्बन्ध कान्यकुब्ज से था। उन्होंने मगध को बाद में जीता। हर्षवर्द्धन ने माधवगुप्त को मगध में नियुक्त किया था, जो कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उसके आधिपत्य के अन्तर्गत आ गया था। यदि उत्तर गुप्तों का आदि स्थान मालवा रहता, तो हर्ष ने माधवगुप्त को मालवा वापस दिलाने की चेष्टा की होती। देववर्नार्क के लेख से स्पष्ट है कि माधवगुप्त, आदित्यसेन, देवगुप्त, विष्णुगुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय मगध के शासक थे। अफसढ़ के लेख में, जो कि मगध के ऊपर उत्तर गुप्तों के आधिपत्य का स्पष्ट प्रमाण है, इस वंश की परंपरा इसके संस्थापक कृष्णगुप्त के समय से प्रारंभ होती है। इसके समय से लेकर तीसरे नरेश जीवितगुप्त प्रथम के समय तक उत्तर गुप्त वंश के लोग मगध में सम्राट् गुप्तों के सामन्त के रूप में रहते थे। चौथे नरेश कुमार-गुप्त के समय में यह राजवंश स्वतंत्र हो गया। उसने मौखरि ईशानवर्मा को परास्त कर मगध में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित कर ली। इस विवेचन से स्पष्ट है कि उत्तर गुप्तों का प्रारंभिक सम्बन्ध मगध से ही था।[2]

समानता—रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में मौखरियों एवं उत्तर गुप्तों का इतिहास बहुत कुछ अंशों में समान है। दोनों का इतिहास लगभग एक समय

---

१. द्रष्टव्य—बी० पी० सिनहा, डिक्लाइन ऑफ किंगडम ऑफ मगध, पृष्ठ १३० और आगे; सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, पृ० २०२-२०४

२. डिक्लाइन ऑफ किंगडम ऑफ मगध, पृष्ठ १४८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से प्रारंभ होता है। दोनों लगभग ५५० ई० तक सम्राट् गुप्तों के सामन्त थे। उनका अधःपतन होते ही दोनों राजवंश स्वतंत्र हो गये।

कृष्णगुप्त—अफसढ़ के लेख में उत्तरगुप्त वंश का इतिहास कृष्णगुप्त के समय से प्रारंभ होता है। अतएव स्पष्ट है कि इसकी स्थापना इसी नरेश ने की थी। इस अभिलेख में उच्च शब्दों में कृष्णगुप्त की शक्ति की प्रशंसा की गई है। उदाहरणार्थ वह बहुत ही विद्यासंपन्न था (विद्याधराध्यासितः), उसकी सेना में असंख्य हाथी सम्मिलित थे (आसीद्दन्तिसहस्रगाढकटको) तथा वह पर्वत के सदृश उच्च था (उन्नतो गिरिरिव)। उसने असंख्य रिपुओं के प्रताप को जीत लिया था (असंख्यरिपुप्रतापजयिना)। स्पष्ट है कि इस वर्णन में अतिशयोक्ति है। इस लेख में उसे 'नृप' कहा गया है। यह उपाधि सामन्तों के द्वारा भी धारण की जाती थी। वह सम्राट् गुप्तों का सामन्त था। वह इस वंश का जन्मदाता था, इसीलिये उसके विषय में इतने प्रशंसात्मक उल्लेख इस अभिलेख में मिलते हैं। वह मौखरि-नरेश हरिवर्मा का समकालीन था। ये दोनों ही सम्राट् गुप्तों के सामन्त थे, अतएव इन दोनों के बीच किसी प्रकार के राजनीतिक संघर्ष का कोई प्रश्न नहीं उपस्थित होता। उसने अनुमानतः ४९० ई० से लेकर ५०५ ई० तक राज्य किया। डॉ० रायचौधरी का कथन है कि कृष्णगुप्त ने यशोधर्मन् के विरुद्ध युद्ध किया था। अफसढ़ के लेख में उसे बलवान शत्रुओं का दमन करने वाला कहा गया है। यह संकेत इसी घटना की ओर हो सकता है। पर इस प्रकार मानना संगत न होगा। यशोधर्मन् ५३२ ई० के लगभग का शासक था। कृष्णगुप्त का राज्यकाल ५०५ ई० के समीप समाप्त हो गया था।

हर्षगुप्त—वह कृष्णगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था। उत्तरगुप्त राजवंश का वह द्वितीय नरेश था। अफसढ़ के लेख में उसकी प्रशंसा अतिशयोक्ति के साथ की गई है। उदाहरणार्थ, वह कलंकरहित तथा अंधकार को दूर करने वाला था (सकलः कलंकरहितः क्षततिमिरस्तोयधेः शशांक इव)। वह भयंकर युद्धों का विजेता था (घोराणामाहवानां लिखितमिव जयं श्लाध्यमाविर्दधानो)। उसकी छाती पर कठोर शस्त्रों के प्रहार के चिन्ह थे (वक्षस्युद्दामशस्त्रव्रणकठिनकिण-ग्रन्थिलेखाच्छलेन)। वह गुप्त-नरेश नरसिंहगुप्त का सामन्त था। लगता है कि अफसढ़ के लेख में जिन भयंकर युद्धों का विजेता इसे कहा गया है, उसने उन्हें नरसिंहगुप्त के सामन्त के रूप में लड़ा था। बी० पी० सिनहा का कथन है कि हर्षगुप्त ने नरसिंहगुप्त के हूण-युद्ध में मांडलिक के रूप में भाग लिया होगा। उसकी बहिन हर्षगुप्ता का विवाह मौखरि-वंश के द्वितीय नरेश आदित्यवर्मा के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

साथ हुआ था। इससे स्पष्ट है कि दोनों राजवंशों का सम्बन्ध प्रेमपूर्ण था। इससे दोनों की प्रतिष्ठा एवं शक्ति में विस्तार हुआ। उसने अनुमानतः ५०५ ई० से लेकर ५२५ ई० तक शासन किया।

जीवितगुप्त प्रथम—वह हर्षगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था। उत्तरगुप्त राजवंश का वह तृतीय नरेश था। अफसढ़ के लेख में इसकी कृतियों का निरूपण कृष्णगुप्त तथा हर्षगुप्त की कृतियों के वर्णन से अधिक विस्तृत है। इससे लगता है कि जीवितगुप्त प्रथम इनसे बड़ा शासक था। इस लेख में उसे 'क्षितीशचूड़ामणि' कहा गया है। यह उपाधि 'नृप' उपाधि से (जो कि कृष्णगुप्त तथा हर्षगुप्त के द्वारा धारण की गई थी) अधिक महत्त्वपूर्ण है। अफसढ़ के लेख के अनुसार उसने समुद्र-तट पर रहने वाले शत्रुओं को ज्वर से पीड़ित कर दिया (भाम्यदन्तिकरावलूनकदलीकाण्डासु वेलास्वपि)। राधागोविन्द बसाक तथा बी० पी० सिनहा ने इन शत्रुओं की पहचान बंगाल के समुद्र-तट पर रहने वाले गौड़ों से की है। इस लेख में वर्णन मिलता है कि जीवितगुप्त ने हिमालय के शत्रुओं को पराजित किया (श्च्योतत्स्फारतुषारनिर्झरपयः शीतेऽपि शैले स्थितान्)। राधागोविन्द बसाक ने इनकी पहचान नेपाल के लिच्छवियों से की है।

वह, सम्राट् गुप्तवंशी विष्णुगुप्त का सामन्त था। लगता है कि जीवितगुप्त ने हिमालय तथा बंगाल के समुद्र-तट वाले इन युद्धों में विष्णुगुप्त के सामन्त के रूप में भाग लिया था।[1] उसने अपने राजवंश की प्रतिष्ठा में निश्चयात्मक रूप से विस्तार किया। अफसढ़ के लेख में कहा गया है कि "उसकी अलौकिक कृतियों को लोग आज भी उसी प्रकार बड़े ही आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं, जिस प्रकार कोशवर्द्धन के तट से हनुमान की छलाँग बड़ी ही विस्मयजनक कृति मानी जाती है"।

"यस्यातिमानुषं कर्म दृश्यते विस्मयाज्जनौघेन।
अद्यापि कोशवर्धनतटात्प्लुतं पवनजस्येव ॥"
(—अफसढ़ का लेख, छठा श्लोक)

उसकी बहिन उपगुप्ता का विवाह उसके समकालीन तृतीय मौखरि-नरेश ईश्वरवर्मा के साथ हुआ था। इससे स्पष्ट है कि दोनों राजवंशों में बड़ी मैत्री थी। उसने अनुमानतः ५२५ ई० से लेकर ५४५ ई० तक राज्य किया।

कुमारगुप्त—वह जीवितगुप्त प्रथम का उत्तराधिकारी पुत्र था। उत्तर गुप्त राजवंश का वह चौथा नरेश था। इसके समय से उत्तर गुप्त स्वतंत्र हो गये।

---

१. सिनहा, डिक्लाइन ऑफ किंगडम ऑफ मगध, पृष्ठ १५९-६२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसका कारण यह है कि इसके काल में सम्राट् गुप्तों के साम्राज्य का पूर्ण विनाश हो चुका था। इसी समय ईशानवर्मा के नेतृत्व में मौखरि भी स्वतंत्र हो गये। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कुमारगुप्त और ईशानवर्मा समान रूप से शक्तिशाली एवं महत्वाकांक्षी थे। अतएव अफसढ़ के लेख के अनुसार दोनों में युद्ध हुआ, जिसमें ईशानवर्मा पराजित हो गया। हरहा के लेख (५५४ ई०) में इस युद्ध का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। अतएव यह युद्ध ५५४ ई० के उपरान्त हुआ होगा। इसमें विजय के फलस्वरूप कुमारगुप्त का आधिपत्य गंगा नदी के किनारे प्रयाग तक फैल गया। अफसढ़ के लेख के अनुसार कुमारगुप्त अपनी शक्ति के लिये प्रसिद्ध तथा वीरों में अग्रगण्य था (प्रख्यातशक्तिमाजिषु पुरःसरं श्रीकुमारगुप्तमिति)।

उपर्युक्त लेख से ज्ञात होता है कि प्रयाग में इस नरेश ने प्रज्वलित अग्नि में कूद कर अपने शरीर को भस्मीभूत कर लिया था :—

"शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो धने।
अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः॥"
(—अफसढ़ का लेख, नवाँ श्लोक)

निहाररंजन राय के अनुसार कुमारगुप्त की आत्महत्या इस बात का प्रमाण है कि वह युद्ध में ईशानवर्मा द्वारा पराजित हो गया था। इसके दुसह शोक के फलस्वरूप उसने प्रयाग में अपने जीवन का अन्त कर लिया होगा। इस प्रकार का निष्कर्ष असमीचीन है। अफसढ़ के लेख की भाषा से पूर्णतः स्पष्ट है कि ईशानवर्मा ही कुमारगुप्त के द्वारा पराजित किया गया। प्रयाग में कुमारगुप्त की आत्महत्या का वास्तविक कारण यह था कि यह कार्य वहाँ पर अपवाद रूप में धर्मसंगत माना जाता था। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि एक सौ वर्ष तथा दस दिन की अवस्था पूर्ण हो जाने पर इसके रचयिता शूद्रक ने अग्नि में प्रवेश कर अपने जीवन का अन्त कर लिया था :—

"राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥"

पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने लेख (यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, १९३७) में सप्रमाण निर्देश किया है कि बहुत से भारतीय शासकों ने प्रयाग में आत्महत्या की थी; उदाहरणार्थ धंग, गांगेयदेव, रामपाल तथा चालुक्य-नरेश आहवमल्ल। हुयेनसांग ने वटवृक्ष से कूद कर प्राणत्याग का उल्लेख किया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHFA)(USA)

है। इसके नीचे हड्डियाँ बिखरी रहती थीं।[1] पुराणों में वट-वृक्ष से कूद कर प्राणत्याग का वर्णन मिलता है।[2] पुराण-साहित्य में संगम के जल में डूब कर मरने का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। लोगों का विश्वास था कि इस क्रिया के द्वारा अनेक आध्यात्मिक फलों की प्राप्ति होती है।[3] कायाक्लेश के द्वारा प्राणत्याग का उल्लेख हुयेनसांग ने किया है। उसने लिखा है कि स्थानीय नागरिक संगम की भूमि पर ऊँचे लट्ठे गाड़ते थे। उनकी चोटी पर चढ़ कर वे सूर्य को निरंतर देखते रहते थे। सूर्यास्त के उपरान्त वे नीचे उतर आते थे तथा दूसरे दिन पुनः उसी क्रिया को प्रारंभ करते थे। इस कठोर तपश्चर्या के द्वारा क्रमशः आत्मघात कर लेने में लोगों की असीम निष्ठा थी।[4]

दामोदरगुप्त—वह कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था। उत्तर गुप्त राजवंश का वह पाँचवाँ नरेश माना जाता है। अफसढ़ के लेख के अनुसार उसने अपने शत्रुओं का उसी प्रकार संहार किया, जिस प्रकार नारायण ने दैत्यों का विनाश किया था :—

"श्रीदामोदरगुप्तोऽभूत्तनयः तस्यः भूपतेः।
येन दामोदरेणैव दैत्या इव हता द्विषः॥"
(— अफसढ़ का लेख, श्लोक १०)

पूर्व परिच्छेद में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि उसने अपने समकालीन मौखरि-नरेश से युद्ध किया, जिसमें वह संभवतः मार डाला गया (देखिए,

---

१- वाटर्स, २, २७७

२. "वटमूलं समाश्रित्य यस्तु प्राणान्परित्यजेत्
सर्वलोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति॥"
—कूर्मपुराण, अध्याय ३६, पृष्ठ ३४६

तुलनार्ह—
"प्रयागवटशाखाग्रात् पत्तनं च करोति यः।
महापापक्रियः स्वर्गे दिव्यान्भोगान्समश्नुते॥"
—ब्रह्मपुराण, अध्याय २८, श्लोक ६

३. "जलप्रवेशं यः कुर्यात्संगमे लोकविश्रुते।
राहुग्रस्तो यथा सोमो विमुक्तः सर्वपातकैः॥"
—कूर्मपुराण, अध्याय ३६, पृष्ठ ३४६

४. वाटर्स, २, ३७१; द्रष्टव्यः—लेखक का अनुसन्धान-ग्रन्थ "स्टडीज इन एशेंट इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर," पृष्ठ २२९-३२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पृष्ठ ३९६–३९७) । वह एक धर्मनिष्ठ सम्राट् था । उसने ब्राह्मण युवतियों का पाणिग्रहण-संस्कार संपन्न कराया तथा सैकड़ों ग्राम दान में दिया :—

"गुणवद्द्विजकन्यानां नानालंकारयौवनवतीनाम् ।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम् ॥"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक ११)

मौखरियों के साथ उसका युद्ध ५८२ ई० के लगभग हुआ था। इसमें दामोदर-गुप्त की पराजय तथा मृत्यु के उपरान्त दोनों राजवंशों में शत्रुता किञ्चित् काल के लिये स्थगित हो गई ।

महासेनगुप्त—वह दामोदरगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था । उत्तर गुप्त राजवंश का यह छठा नरेश था । अफसढ़ के लेख में उसकी शक्ति की प्रचुर प्रशंसा की गई है । इसके अनुसार वह शूरों में अग्रगण्य था :—

"श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्तस्माद्वीराग्रणी सुतः ।
सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम् ॥"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक १३)

इसके अनुसार उसने सुस्थितवर्मा को लौहित्य नदी के तट पर परास्त किया था । पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि यह नरेश असम का सम्राट् था तथा हर्ष के समकालीन नृपति भास्करवर्मा का पूर्वज था । मौखरियों ने उसके पिता दामोदरगुप्त से मगध छीन लिया था । परिणामतः उसका राज्य केवल मालवा तक ही सीमित रह गया । महासेनगुप्त के मालवा में न केवल पूर्वी मालवा, अपितु पश्चिमी मालवा भी आता था जिसमें उज्जयिनी का नगर स्थित था । हुयेनसांग ने अपने वर्णन में 'मोलापो' राज्य का उल्लेख किया है । हॉर्नले, बील तथा बर्गेस का कथन है कि 'मोलापो' की पहचान मालवा से करना ठीक होगा । बिसेंट स्मिथ, चिंतामणि विनायक वैद्य, एस० एन० मजूमदार, बी० सी० लाहा तथा बी० पी० सिनहा ने उपर्युक्त मत के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये हैं :—

(१) हुयेनसांग ने दो पृथक् राज्यों का उल्लेख किया है–(१) उज्जैन का राज्य तथा (२) मोलापो का राज्य । उज्जैन (उज्जयिनी का नगर) मालवा में पड़ता है, अतएव मोलापो तथा मालवा एक नहीं हो सकते थे ।

(२) हुयेनसांग के अनुसार 'मोलापो' वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय के राज्य में पड़ता था । यस. यन. मजूमदार तथा बी. पी. सिनहा ने इतिहासकारों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि धरसेन द्वितीय के दो ताम्र-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

लेखों में वलभी-राज्य के अन्तर्गत मालवक नामक प्रान्त का उल्लेख मिलता है। इसके वलभी-राज्य में सम्मिलित होने के कारण मालवा से इसकी पृथक्ता सिद्ध हो जाती है। कनिंघम(ऐंशेंट ज्यॉग्रफी) के अनुसार मालवक का 'कन्' प्रत्यय सूचित करता है कि इससे तात्पर्य 'लघु मालवा' से था।[1] इसमें 'क' प्रत्यय मालवा (बड़े मालवा) से विभिन्नता दिखाने के लिये जोड़ा गया होगा। हुयेन-सांग के 'मोलापो' की पहचान इसी 'मालवक' के साथ करना समीचीन होगा। वलभी-राज्य में दोनों के ही सम्मिलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

चिन्तामणि विनायक वैद्य तथा बी० पी० सिनहा का कथन है कि मालवा की पहचान हुयेनसांग के द्वारा उल्लिखित उज्जैन-राज्य से की जानी चाहिये। उसने इसके नाम का उल्लेख इसकी राजधानी के नाम से किया है। हुयेनसांग के यात्राविवरण में इस प्रकार का नामोल्लेख अन्य स्थलों पर भी हुआ है। उदाहरणार्थ उसने वर्द्धन-राज्य को इसकी राजधानी के नाम पर थानेश्वर-राज्य कहा है। हुयेनसांग के अनुसार उज्जैन राज्य की परिधि ६,००० 'ली' (लगभग ६०० मील) थी। अतएव महासेनगुप्त के मालवा का विस्तार यही रहा होगा।[2]

हेमचन्द्र रायचौधरी का कथन है कि महासेनगुप्त का राज्य केवल पूर्वी मालवा तक ही सीमित था। पश्चिमी मालवा में (जिसमें उज्जैन पड़ता था) पहले कलचुरि शासन करते थे और उसके पश्चात् वहाँ मैत्रक राज्य करने लगे।

---

१. 'कन्' प्रत्यय के प्रयोग के लिए देखें:—पाणिनि, ५. ३. ६ "ह्रस्वे कन्" (ह्रस्वो वृक्षो वृक्षकः)। कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में 'वृक्षक' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। टीकाकार मल्लिनाथ ने 'वृक्षक' शब्द की व्युत्पत्ति समझाते हुए इसका अर्थ लघु वृक्ष उल्लिखित किया है 'वृक्षकान्स्वल्पवृक्षान्।' 'अल्पे' इत्यल्पार्थे कन्प्रत्ययः'। 'कन्' प्रत्यय के प्रयोग के विषय में निम्नलिखित विचारणीय हैं—

(१) 'अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्
घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां
न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥"—कुमारसंभव, सर्ग५, श्लोक १४०

(२) "क्व वत हरिणकानां जीवनञ्चातिलोलं
क्व च निशितनिपाताः वज्रसाराः शरास्ते"—शाकुन्तलम्, अंक १, श्लोक १०

२. बी० पी० सिनहा, डिक्लाइन ऑफ मगध, पृष्ठ १८२-८३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतएव महासेनगुप्त के लिये वहाँ स्थान नहीं था। पर यह मत निम्न प्रमाणों के आलोक में भ्रान्तिमूलक लगता है:—

(१) कलचुरियों ने पश्चिमी मालवा में ५९५ ई० से शासन करना प्रारंभ किया। इसके उपरान्त ६१७ ई० में यह मैत्रिकों के अधिकार में आ गया। ५८२ ई० में मगध के छिन जाने के पश्चात् महासेनगुप्त मालवा चला आया था। उस समय पश्चिमी मालवा में कलचुरि अथवा मैत्रक शासन नहीं था। अतएव उसके इस भू-भाग में आने में कोई राजनीतिक प्रतिबन्ध नहीं था।[1]

(२) मालवा सम्राट्-गुप्तों के साम्राज्य में कई पीढ़ियों तक सम्मिलित था। उज्जयिनी उनके पश्चिमी साम्राज्य का एक प्रधान नगर था। उनके शासन-काल के समाप्त हो जाने पर भी उनके शासन की स्मृति वहाँ पर बनी रही होगी। महासेनगुप्त ने मालवा में ५८२ ई० से लेकर ५९५ ई० तक राज्य किया होगा।

बी० पी० सिनहा ने इतिहासकारों का ध्यान अभोना के लेख की ओर आकर्षित किया है। इस लेख के अनुसार कलचुरि-संवत् ३४७ (५९५ ई०) में इस वंश के नरेश शंकरगण ने पश्चिमी मालवा (उज्जैन) को जीत लिया। अभोना के लेख में उसकी उपाधियाँ ठीक सम्राट् गुप्तों की उपाधियों के तुल्य हैं। सम्राट् गुप्तों की उपाधियों को उत्तर गुप्तों ने धारण करना प्रारंभ किया था। इससे लगता है कि उज्जैन में शंकरगण का प्रतिद्वन्द्वी उत्तरगुप्त नरेश महासेनगुप्त रहा होगा, जो कि उसका समकालीन शासक प्रतीत होता है। उसको हरा लेने के अनन्तर शंकरगण ने उसकी उपाधियों को धारण करना प्रारंभ किया। लगता है कि उसके साथ युद्ध में महासेनगुप्त मार भी डाला गया। यह युद्ध ५९५ ई० में हुआ होगा। अभोना के लेख की तिथि यही है।[2]

प्रभाकरवर्द्धन की माता महासेनगुप्ता देवी महासेनगुप्त की बहिन थी। इस प्रकार वह उत्तर गुप्त नरेश का भतीजा होता था। महासेनगुप्त का इस प्रकार दुखद अन्त हो जाने के कारण प्रभाकरवर्धन ने उसके दोनों पुत्रों (कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त) को अपने दरबार में रख लिया। हर्षचरित के अनुसार वे राज्यवर्द्धन एवं हर्षवर्द्धन के साथी थे। प्रभाकरवर्द्धन को ये दोनों बहुत ही प्रिय थे। इससे लगता है कि पिता के निधन के कारण कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त दयनीय अवस्था में पड़ गये थे।[3]

---

१. बी० पी० सिनहा, डिक्लाइन ऑफ मगध, पृष्ठ १७९
२. वही, पृष्ठ १८८
३. वही, पृष्ठ १९३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

माधवगुप्त—वह महासेनगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था। अफसढ़ के लेख के शब्दों में जिस प्रकार वसुदेव से कृष्ण का जन्म हुआ, उसी प्रकार महासेनगुप्त से माधवगुप्त का जन्म हुआ—

"वसुदेवादिव तस्माच्छ्रीसेवनशोभितचरणयुगः ।
श्रीमाधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरसः ॥"

—अफसढ़ का लेख, श्लोक १५

उत्तरगुप्त राजवंश का वह सातवाँ नरेश था। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि महासेनगुप्त की मृत्यु के पाश्चात मालवा से संबन्ध छूट जाने के कारण उसके दोनों पुत्र कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त थानेश्वर (वर्द्धनों की राजधानी) में रहने लगे। लगता है कि कुमारगुप्त की पहले ही मृत्यु हो गई। माधवगुप्त को हर्ष ने मगध में अपना सामन्त शासक नियुक्त किया होगा। हर्ष के मगध के चक्रवर्ती शासक होने के विषय में कोई सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता। नालन्दा से उनकी मिट्टी की एक मुहर प्राप्त हुई है। शाहपुर के लेख से विदित होता है कि मगध में हर्ष-संवत् प्रचलित था। 'म-त्वान-लिन' के अनुसार हर्ष ने मगधराज की उपाधि धारण की थी। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् माधवगुप्त मगध का स्वतन्त्र शासक हो गया। चीनी साधनों के अनुसार ६४१ ई० में हर्ष 'मगधराज' हुआ था। अतएव उसने इसी समय के लगभग अपने विश्वासपात्र माधवगुप्त को मगध में नियुक्त किया होगा।

हर्षचरित से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त की मृत्यु के अनन्तर देवगुप्त नामक उत्तरगुप्त वंशी मालवा के किसी भाग पर शासन कर रहा था। वह संभवतः महासेनगुप्त का भतीजा था। माधवगुप्त का वह प्रतिद्वन्द्वी रहा होगा। उसे वर्द्धनों एवं मौखरियों की मैत्री से द्वेष था। माधवगुप्त हर्ष का मित्र था, अतएव वह उसे घृणा की दृष्टि से देखता था। हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्द्धन के मरते ही देवगुप्त ने गौड़ाधिप शशांक की सहायता से कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया तथा ग्रहवर्मा को मार डाला। इस क्रूर कर्म के कारण देवगुप्त को हर्षचरित में मालवा का दुष्ट शासक कहा गया है। (दुरात्मना मालवराजेन)। प्रभाकरवर्द्धन के ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन ने अपने बहनोई की मृत्यु का बदला लेने के लिये देवगुप्त का दमन किया। बंसखेड़ा के लेख के अनुसार 'इस नरेश ने देवगुप्त आदि राजाओं को एक साथ ही युद्ध में इस प्रकार दमन किया, जैसे दुष्ट घोड़ों को चाबुक के प्रहार से घुमाया जाता है।"

"राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः ।
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्वे समं संयताः ॥"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हर्षचरित तथा अफसढ़ के लेख के अनुसार माधवगुप्त हर्ष का प्रगाढ़ मित्र था (श्री हर्षदेवनिजसंगमवाञ्छया च)। लगता है कि उसने हर्ष को उनके दिग्विजय में बराबर सहायता दी होगी। यही कारण है कि असफढ़ के लेख में उसे नाना शत्रुओं का विजेता कहा गया है (विनिहिता बलिनो द्विषन्तः)। इस अभिलेख के अनुसार वह सज्जनता की मूर्ति, धार्मिक, लक्ष्मी एवं सरस्वती का निवास-स्थान तथा वीरों में अग्रगण्य था :—

"सौज्जन्यस्य निधानमर्थनिचयत्यागोद्धुराणां वरः।
लक्ष्मीसत्यसरस्वती कुलगृहं धर्मस्य सेतुर्दृढः॥"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक १६)

राखालदास बनर्जी के अनुसार हर्षचरित के माधवगुप्त तथा अफसढ़ के लेख के माधवगुप्त एक व्यक्ति नहीं सिद्ध किये जा सकते। पर यह मत ठीक नहीं माना जा सकता। हार्नले, वैद्य ,राखालदास बनर्जी तथा हेमचन्द्र रायचौधरी ने निम्न तर्कों के आधार पर दोनों में एकता स्थापित की है—

(१) दोनों ही महासेनगुप्त के पुत्र थे।

(२) दोनों हर्ष के घनिष्ट मित्र थे।

(३) एक ही समय हर्ष के मित्र के रूप में माधवगुप्त नामक दो नरेश हर्षचरित के लेखक को अज्ञात हैं। इन तर्कों को दृष्टि में रखते हुए हर्षचरित के माधवगुप्त की पहचान अफसढ़ के लेख के माधवगुप्त के साथ करना सब प्रकार से समीचीन होगा। हर्ष ने ६०६ ई० से लेकर ६४७ ई० तक राज्य किया। अतएव इसी समय के लगभग माधवगुप्त भी राज्य कर रहा होगा।

आदित्यसेन—वह माधवगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था। देवबर्नार्क के लेख के अनुसार वह श्रीमती देवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था (श्रीमाधवगुप्तः तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्रीमत्यामुत्पन्नः)। उत्तर गुप्त राजवंश का यह आठवाँ नरेश माना जाता है। इसके समय के इतिहास के विषय में हम लोगों का परिचय अधिक पूर्ण है। इसका कारण है कि उसके समय के कई लेख प्राप्त हुये हैं :—(१) अफसढ़ का लेख, (२) शाहपुर का लेख तथा (३) मन्दर का लेख। शाहपुर के लेख में हर्ष-संवत् ६६ का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वह इस समय (हर्ष-संवत् ६६ अर्थात् ६७२ ई० में) राज्य कर रहा था।

छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध (६४७ ई०) में हर्ष की मृत्यु के कारण आदित्यसेन को शक्तिसंचय का सुअवसर उपलब्ध हुआ। उसने मगध में अपने राजवंश के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHFA)(USA)

शासन को भली भाँति सुदृढ़ कर लिया। अभिलेखों में उसके लिये पृथिवी-पति, परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज आदि उपाधियाँ आती हैं। मन्दर के एक लेख के अनुसार उसने एक दिग्विजय किया था। इस घटना के अनन्तर उसके द्वारा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान भी किया गया। इस अवसर पर उसने हाथी, घोड़े तथा विपुल संपत्ति दान में दी थी। बंगाल से कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं, जिन पर अश्वमेध-अश्व के चित्र का अंकन मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये सिक्के इसी नरेश के हैं। उसके लेखों के अनुसार उसके राज्य की सीमा समुद्र को स्पर्श करती थी (शास्ता समुद्रान्तवसुन्धरायाः)।

देववर्नार्क के लेख में उसकी उपाधि 'परमभागवत' आती है। इससे लगता है कि वह वैष्णव मतावलम्बी था। उसने विष्णु-मन्दिर का निर्माण किया था:—

"याता सागरपारमद्भुततमा सापन्नवैरादहो।
तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम्॥"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक २६ का उत्तरार्द्ध)

अन्य धर्मों के प्रति उसने सहिष्णुता की नीति अपनाई थी। उसकी माता श्रीमती देवी ने मठ का निर्माण कराया था :—

"तज्जनन्या महादेव्या श्रीमत्या कारितो मठः।
धार्मिकेभ्यः स्वयं दत्तः सुरलोकगृहोपमः॥"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक २७)

इस नरेश ने जनता के हित के लिये सार्वजनिक कार्य किया था। उदाहरणार्थ उसकी पत्नी कोणदेवी ने प्रजा की भलाई के हेतु एक सरोवर का निर्माण किया था :—

"राज्ञा खानितमद्भुतं सुपयसा पेपीयमानं जनै-
स्तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः श्रीकोणदेव्याः सरः।"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक २८)

मन्दर के लेख (लेख संख्या ४४) के अनुसार भी कोणदेवी ने तालाब खुदवाया था (परमभट्टारकमहाराजाधिराजश्रीआदित्यसेनदेवदयिता परमभट्टारिका-महादेवी-श्रीकोणदेवी पुष्करिणी···कारितवती)। अफसढ़ के लेख में उसे परम यशस्वी कहा गया है (यशः श्लाघ्यम्)। उसकी कीर्ति शरद् ऋतु के चन्द्रमा की भाँति धवल थी—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"येनेयं शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यातभूमण्डला
लक्ष्मीसंगमकांक्षया सुमहती कीर्तिश्चिरं कोपिता ।"
(अफसढ़ का लेख, श्लोक २६ का पूर्वार्द्ध)

आदित्यसेन के लेख गया, पटना तथा भागलपुर जिले से प्राप्त हुये हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन मगध तथा अंग उसके राज्यान्तर्गत थे। अभिलेखों में उसका वर्णन चक्रवर्ती नरेश के रूप में किया गया है। उनके अनुसार वह संसार का रक्षक था, एवं वसुधा-मंडल उसके श्वेत छत्र के द्वारा रक्षित था (श्वेतातपत्र-स्थगित-वसुमती-मंडलो लोकपालः)। अन्य नरेशों के शिरोरुह उसके चरणों के प्रताप रूपी अनल के नीचे थे (न्यस्ताशेष-नरेन्द्र-मौलि-चरण-स्फार-प्रतापानलः)। उसका यश समुद्र के दूसरे छोर को भी पार कर गया था (याता सागरपारम्)।

यद्यपि वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था, तथापि अन्य धर्मों के प्रति उसने सहिष्णुता की नीति का अवलंबन किया था। इत्सिंग ने अपने यात्राविवरण में कोरिया के हुइ-लुन नामक यात्री का उल्लेख किया है, जो समुद्रमार्ग के द्वारा सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष आया था। नालन्दा में इत्सिंग से उसकी भेंट हुई थी। हुइ-लुन के अनुसार आदित्यसेन ने बोधिगया में एक बौद्ध मन्दिर का निर्माण किया था। इसमें अधिकतर दक्षिण भारतवर्ष के भिक्षु रहते थे। जिस समय हुइ-लुन वहाँ पहुँचा, उस समय यह नया बन कर तैयार हुआ था।

बिहार प्रान्त के हजारीबाग के दुधवनी-लेख में मगध-नरेश आदिसिंह का उल्लेख मिलता है, जिसने उदयमान नामक व्यक्ति को तीन ग्रामों को दान में दिया था। संभव है कि आदित्यसेन को ही इस लेख में आदिसिंह कहा गया हो।[1] बी० पी० सिनहा का कथन है कि आदित्यसेन का राज्य पश्चिम में उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर जिले तक प्रसरित था। देवबर्नार्क के लेख में 'गोमतीकोट्टक' का उल्लेख मिलता है। यह स्थान कहीं गोमती नदी के किनारे स्थित रहा होगा, जो शाहजहाँपुर, लखनऊ तथा जौनपुर से होती हुई बनारस एवं गाजीपुर के बीच गंगा नदी में मिलती है। इससे लगता है कि शाहजहाँपुर जिला तथा इसके पूर्व में उत्तर प्रदेश के कई जिले आदित्यसेन के राज्य में सम्मिलित थे।[2]

देवगुप्त—वह आदित्यसेन का उत्तराधिकारी पुत्र था। उसका जन्म कोण-देवी के गर्भ से हुआ था (तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकायां राज्ञां महा-देव्यां श्रीकोणदेव्यामुत्पन्नः)। यह उत्तर गुप्त राजवंश का नवाँ नरेश माना जाता

---

१. डि० कि० म०, पृष्ठ २९३
२. वही, पृष्ठ २९४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

है। यह उस देवगुप्त से पृथक् है, जिसका उल्लेख हर्षचरित में हुआ है तथा जो वर्द्धनों एवं मौखरियों का शत्रु था। देववर्नार्क के लेख में उसकी उपाधियाँ 'परमभट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज' आती हैं। ये आदित्यसेन की उपाधियों से मेल खाती हैं। इस लेख में उसे 'परममाहेश्वर' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उसका व्यक्तिगत धर्म शैव धर्म था। इसके पूर्व आदित्यसेन के समय तक उत्तर गुप्तवंशी नरेश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। देवगुप्त के समय से उत्तर गुप्तों का अधःपतन प्रारंभ हो गया। चालुक्य नरेश विनयादित्य के केन्डूर के लेख (बाम्बे गज़ेटियर, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ १८९) से ज्ञात होता है कि उसने ६८० ई० के लगभग उत्तरी भारत के एक ऐसे शासक को परास्त किया, जिसने 'सकलोत्तरापथनाथ' की उपाधि धारण की थी। यह इस चालुक्य-नरेश के द्वारा देवगुप्त की पराजय की ओर संकेत हो सकता है। यह उत्तरगुप्त नरेश ६८० ई० के लगभग शासन करता रहा होगा। शाहपुर के लेख से स्पष्ट है कि इसके पहले उसका पिता आदित्यसेन ६७२ ई० के आसपास शासन कर रहा था। हुइ-लुन ने पूर्वी भारतवर्ष के देवपाल नामक नरेश का उल्लेख किया है। राधा गोविन्द बसाक तथा बी० पी० सिनहा ने देवपाल की पहचान देवगुप्त से की है। उसका राज्यकाल संभवतः ६९५ ई० में समाप्त हो गया था।

विष्णुगुप्त—उत्तरगुप्त राजवंश का वह दसवाँ नरेश माना जाता है। देववर्नार्क के लेख के अनुसार वह देवगुप्त का पुत्र था तथा कमलादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था (श्री देवगुप्तदेवः तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्रीकमलादेव्यामुत्पन्नः)। इस लेख में उसकी उपाधियाँ परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर मिलती हैं। उसका एक लेख बक्सर एवं शाहाबाद के बीच स्थित मंगराँव से प्राप्त हुआ है, जिसमें उसकी ठीक ये ही उपाधियाँ आती हैं। इस लेख में उसके 'प्रवर्द्धमानविजयराज्यसम्वत्सर' का उल्लेख मिलता है। यह लेख पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके अनुसार इस नरेश के शासनकाल के सतरहवें वर्ष में कुट्टुकदेशीय अविमुक्तरज्ञ नामक व्यक्ति ने अंगारग्राम (मंगराँव) के संपूर्ण गृहस्थों से तेल खरीद कर श्रीसुभद्रेश्वरदेव की प्रतिमा के सम्मुख दीपक जलाने के लिये चुन्दस्कील तपोवन में निर्मित श्रीमित्रकेशवदेव के मन्दिर को उसे दान कर दिया था। देववर्नार्क के लेख में उसकी 'परममाहेश्वर' उपाधि उत्कीर्ण है। इससे लगता है कि वह शैव धर्म का अनुयायी था। मंगराँव के लेख में अनेक शिव-मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख मिलता है (अनेकशिवसिद्धायतन)। उसने लगभग ६९५ ई० से लेकर ७१५ ई० तक राज्य किया था।

जीवितगुप्त द्वितीय—वह विष्णुगुप्त का उत्तराधिकारी पुत्र था। उत्तर-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त राजवंश का वह ग्यारहवाँ तथा अन्तिम नरेश था। देववर्नार्क के लेख के अनुसार वह इज्जादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था (परमभट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्रीइज्जादेव्यामुत्पन्नः)। अपने पिता की भाँति वह भी परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर की उपाधियाँ धारण करता था। देववर्नार्क का लेख इसी के काल का है। इस लेख में कुछ अन्य राजवंशों के नरेशों के नाम भी प्राप्त होते हैं; उदाहरणार्थ सम्राट् गुप्त वंश का बालादित्यदेव तथा मौखरि वंश के शर्ववर्मा एवं अवन्तिवर्मा।

इस लेख में तत्कालीन पदाधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ राजामात्य, महाक्षपटलिक, महादण्डनायक, महाप्रतीहार, कुमारामात्य, राजस्थानीय, चौरोद्धरणिक, दाण्डिक तथा दण्डपाशिक। इसमें कुछ करों के ी उल्लेख आते हैं; उदाहरणार्थ उद्रंग-कर तथा उपरिकर। इससे स्पष्ट है कि उत्तर गुप्तों के समय में करों एवं पदाधिकारियों के नाम वे ही थे, जो कि सम्राट् गुप्तों के काल में। आधुनिक देववर्नार्क नाम प्राचीन देव-वरुणार्क नाम का अपभ्रंश लगता है। देववर्नार्क के लेख से ज्ञात होता है कि वह एक दानी सम्राट् था।

अन्तिम विनाश—कन्नौज के यशोवर्मा का अभ्युदय उत्तरगुप्तों के विनाश का कारण माना जाता है। भवभूति के समकालीन वाक्पतिराज (अठावीं शताब्दी) के गौडवहो से ज्ञात होता है कि यशोवर्मा ने अपनी पूर्वी विजययात्रा में मगधनाथ (मगध के सम्राट्) को मार डाला था। इस मगध-नरेश की पहचान जीवितगुप्त द्वितीय से की जाती है। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने कन्नौज के यशोवर्मा को परास्त कर उसे अपना अधीनस्थ कर लिया था। गौडवहो के ८३२ वें श्लोक में ७३३ ई० के १४ अगस्त के सूर्यग्रहण का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ के अनुसार इस समय यशोवर्मा की स्थिति कुछ डाँवाडोल हो गई थी। लगता है कि यहाँ पर ललितादित्य के द्वारा यशोवर्मा की पराजय की ओर संकेत है। इसी समय (७३३ ई०) के लगभग यह घटना घटी होगी। अतएव जीवितगुप्त द्वितीय के ऊपर यशोवर्मा की विजय इस तिथि के कुछ पूर्व (अनुमानतः ७३१ ई० के लगभग) संपन्न हुई होगी।[1]

---

१. डि० कि० म०, पृष्ठ ३१२-१९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA (USA)

(ग) हूण

मूलस्थान एवं प्रसरण—हूण मध्य-एशिया की एक खानाबदोश बर्बर जाति थी। वे अत्यन्त नृशंस एवं आततायी थे। किञ्चित् कारणों से इन्होंने अपने मूल-स्थान को छोड़ कर पश्चिम की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। ये लोग क्रमशः दो शाखाओं में विभक्त हो गये—(१) पश्चिमी शाखा तथा (२) पूर्वी शाखा। पश्चिमी शाखा के हुण फैलते हुए यूरोप तक बढ़ आये थे। उनकी ध्वंसात्मक कृतियों के फलस्वरूप रोम-साम्राज्य को पर्याप्त आघात पहुँचा। पूर्वी शाखा के हूण क्रमशः आगे बढ़ते हुए आक्सस नदी के तट पर बस गये। यूनानी लेखकों ने पूर्वी शाखा के हूणों को श्वेत हूण कहा है। इन्हीं को इतिहास के पृष्ठों में 'एफ्थलाइट' भी कहा जाता है।

पश्चिमी शाखा के हूण—पाश्चात्य प्राचीन लेखकों के अनुसार वे छोटे कद पर भयावह आकृति के थे। उनकी घूरती आँखें मज़बूत दिल में भी कम्पन उत्पन्न कर देती थीं। वे छोटी दाढ़ी रखते थे और उनकी आदतें प्रायः गन्दी ही थीं। वे अपना अधिकांश समय घोड़े की पीठ पर ही बिता दिया करते थे। अपने अश्वों को तीव्र गति से भगाते हुए वे शत्रुसेना को सुगमता के साथ चीर कर आगे निकल जाते थे। उनकी तेजी और फुर्ती उनके विपक्षियों को चमत्कृत कर देती थी। उन्होंने ३७४ ई० में अलन जाति के लोगों को परास्त कर दिया। ये उत्तरी काकेशस के समीप रहते थे तथा इनमें जर्मन एवं ईरानी रक्त का सम्मिश्रण था। इसके पश्चात् उनका संघर्ष पूर्वी गोथ के साथ हुआ। वे डान तथा नियेपर नदियों के दोआबे में रहते थे। यद्यपि उन्होंने बहादुरी के साथ इनका सामना किया, पर वे अन्ततोगत्वा असफल सिद्ध हुए एवं उनके सम्राट् ने अपने सतत् पराजयों के फलस्वरूप आत्महत्या कर ली थी। तदुपरान्त उन्होंने पश्चिमी गोथ जाति को भी हरा दिया। वे अपनी सुरक्षा के हेतु अपना स्थान छोड़ कर डैन्यूब नदी की ओर हट आये। कालान्तर में हूण-प्रभाव बढ़ने पर उन्हें यह प्रदेश भी छोड़ देना पड़ा। गोथ जाति के लगभग दो लाख व्यक्तियों ने तत्कालीन रोम-सम्राट् (वलेन) से शरणयाचना की। इनमें से अधिकांश ईसाई मत को मानते थे। उल्फिलाज़ नामक बिशप की मध्यस्थता के फलस्वरूप इन्हें रोम-साम्राज्य में बसने के लिए स्थान तो मिल गया, पर रोम-सम्राट् ने इनके सामने जो शर्तें रखीं उनके अनुसार इन्हें अपने शस्त्र समर्पित कर देने पड़े। कहा जाता है कि रोम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के कर्मचारियों ने इनकी विवशता का लाभ उठा कर कुछ समय तक इनके साथ पाशविक बर्ताव किया। उनमें से कुछ ने प्रभावशाली एवं धनीमानी रोम-नागरिकों को अपनी असहाय सन्तानों को दास के रूप में समर्पित कर दिया, तथापि उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया।

उल्दीन—इसके नेतृत्व में हूणों की शक्ति और भी बढ़ गई। ४४१ ई० के प्रारम्भिक भाग में उसने बाल्कन प्रायद्वीप के ऊपर आक्रमण कर दिया, जो रोम-साम्राज्य का अधिकार क्षेत्र था। उल्दीन को अपनी शक्ति का बड़ा ही गर्व था। वह चाँद-सितारों को भी तोड़ने का दावा रखता था। उसके उपद्रवों के कारण चतुर्दिक् खलबली मच गई। डैन्यूब नदी के तट पर स्थित कैस्ट्रा मार्टिस को उसने जीत लिया। ऐसा लगता था, मानो वह सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप को ही जीतने जा रहा हो। रोम-सम्राट् ने उसके आक्रमण की बाढ़ को देख कर सुरक्षा के साधनों को मजबूत करना प्रारम्भ किया। प्रमुख नगरों की सुदृढ़ किलेबन्दी की गई। बाइजेंटियम को बचाने के लिए उसके चारों ओर नई ऊँची दीवाल खड़ी की गई। पर रोम के सैनिक उल्दीन को आगे बढ़ने से रोकने में असफल सिद्ध हुए। परिस्थितियों की प्रतिकूलता को देखकर रोम-साम्राज्य ने उसे एक गहरी रकम भेंट की, जिससे सन्तुष्ट होने पर उसने अपनी भावी विजय-योजनाओं को स्थगित कर दिया।

रुगिला—उसने हूण-जाति के विभिन्न वर्गों को संगठनबद्ध किया। रोम के एक लेखक के अनुसार उसकी ऊँचाई औसत थी तथा वह पुरुषार्थ के गुणों से युक्त, सुरूप, कुशाग्र, चतुर घुड़सवार, कुशल तीरंदाज, सशक्त, तलवार के प्रयोग में दक्ष, प्रवीण योद्धा, धैर्यवान तथा अथक परिश्रमी था। आपत्ति के क्षणों में वह निर्भीक रहता था। भूख, प्यास, एवं अनिद्रा के कष्टों को सहने की उसमें विचित्र क्षमता थी। उसने थेइस तथा डैन्यूब नदियों के बीच अपनी जड़ों को जमा लिया। पूर्वी रोम-सम्राट् थिओडोसियस द्वितीय ने ४२४ ई० में उसे ३५० पौंड सुवर्ण की वार्षिक भेंट करना स्वीकार कर लिया। ४३४ ई० में रुगिला की मृत्यु हो गई।

अत्तिल—रुगिला के अनन्तर उसका भतीजा अत्तिल हूण-साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। पश्चिमी हूणों में वह सबसे प्रसिद्ध था। उसने राइन नदी से लेकर वाल्गा तक एक विशाल भू-खण्ड पर लगभग बीस वर्षों (४५४ ई०) तक राज्य किया। उसने रोम-साम्राज्य के विभिन्न भागों में काफी लूटपाट मचाया। उसके इस स्वभाव को देखते हुए कुछ इतिहासकारों ने उसकी तुलना चंगेज खाँ से की है। गोथिक लेखकों के अनुसार उसका ललाट उन्नत, रंग काला, नाक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (USA)

चिपटी तथा कन्धे चौड़े थे। उसकी गतियों एवं व्यवहारों में अहंकार की भावना छिपी थी। उसका रोषमय व्यक्तित्व शत्रुओं को दहला देता था। प्रिस्कस नामक इतिहासकार ने उसके दरबारी शानशौकत का रोचक एवं सजीव वर्णन किया है। ४४८ ई० में उसे इस हूण-नरेश के साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हुआ। इस समय वह एक ऐसे महल में सिंहासनासीन था, जिसकी दीवालों पर सुन्दर पालिश चढ़ाई गई थी। इस प्रसाद के चतुर्दिक् एक चहारदीवारी भी थी। इसके कमरों की फर्श के ऊपर चटाइयाँ बिछी हुई थीं। राजमहिषी की सेवा में चेरियाँ संलग्न थीं। एक अलग बड़े कमरे में दर्शनाभिलाषियों के बैठने के निमित्त दीवाल के किनारे कुर्सियाँ लगी थीं। भोजन-कक्ष में सेवकगण विविध खाद्य-पदार्थ सोने और चाँदी की तश्तरियों में सजा रहे थे। वहाँ का शाही ठाटबाट देखते ही बनता था। अन्धकार होते ही यथास्थान प्रकाश जला दिये गये। चारणों ने आकर गीत सुनाये, जिनमें उसकी वीरता एवं सफलता का वर्णन था। कर्णों को आह्लादित करने वाले उनके स्वरों से दरबारी विभोर हो रहे थे। शूरों के हृदय में उनके स्वर युद्ध के लिए लालसा उत्पन्न कर रहे थे। शिष्टाचार के नियमों का पालन कड़ाई के साथ करना पड़ता था।

पूर्वी शाखा के हूण—इस शाखा के हूणों ने आक्सस नदी के तट पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। महाभारत के भीष्मपर्व में इन हूणों का उल्लेख पारसीकों के साथ हुआ है (हूणाः पारसिकैः सह)। कालिदास के अनुसार वे वंक्षु (आक्सस) नदी के तट पर रहते थे। उनके अनुसार इस सरिता के तट पर पहुँच कर रघु के घोड़े वहाँ की रेतों में लोटकर अपनी थकान मिटाने लगे। लोटने की इस क्रिया में उनके शरीर में जो केसर लग गई थी उसे उठ कर उन्होंने हिलाते हुए झाड़ दिया। वहाँ रघु ने अपने प्रचण्ड पराक्रम से जिन हूण-नरेशों को मार डाला था, उनकी स्त्रियाँ सिर पीट कर इतना रोईं कि उनके गाल लाल हो गये—

"विनिताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुंकमकेसरान् ॥
तत्रहूणावरोधानां भर्तृषुव्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥
(रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६७-६)

फारस में हूणों की कृतियाँ—४२५ ई० तक पूर्वी हूणों के फारस आ जाने के विषय में निश्चित् प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इनकी भयंकरता तथा दलबल को देख कर फारसवासी दहल उठे। इस समय वहाँ ससैनियन वंशी वहराम पंचम

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्य कर रहा था। वह बड़ा ही सुयोग्य, युद्धकला में दक्ष तथा आखेट का प्रेमी था। उसकी शूरता के विषय में फारस में नाना किंवदन्तियाँ प्रचलित थीं। कालान्तर साहित्य में भी उसकी शूरता के विषय में रोचक वर्णन उपलब्ध होते हैं। उसने बड़े ही धैर्य एवं बुद्धिमत्ता के साथ कार्य लिया। रात्रि के अवसर पर जब कि हूण गाढ़ निद्रा में अचेत पड़े थे, उसने आकस्मिक ढंग से अपने अश्वारोहियों के साथ उन पर आक्रमण कर दिया। इस पर हूणों को अपनी स्थिति को सँभालना कठिन हो गया। इस संग्राम में हूण-सम्राट् मार डाला गया तथा उसकी प्रधान महिषी बन्दी बना ली गई। इसके अनन्तर सतत् कई युद्धों में हूणों को परास्त कर उसने उन्हें ईरान की सीमा के बाहर खदेड़ दिया। ४३८ ई० में वहराम की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी यज्दगर्द द्वितीय के शासनकाल में ४४३ ई० के लगभग उन्होंने ससैनियन राज्य के पूर्वी भाग पर पुनः आक्रमण कर दिया। हूणों के साथ ४५१ ई० तक उसका युद्ध चलता रहा। हूण यद्यपि उसके द्वारा पराजित किये गये, तथापि उनका दमन विशेष रूप से नहीं हो सका तथा वे अब भी फारस पर आक्रमण करने के लिये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थे।

फीरोज की हत्या—यज्दगर्द द्वितीय के उपरान्त ससैनियम वंश की गद्दी पर फीरोज़ सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसे पाश्चात्य लेखकों ने पिरोज़ भी कहा है। ४५९ ई० से ४८४ ई० तक का उसका राज्यकाल हूण-युद्ध के लिए उल्लेखनीय है। इस समय हूणों का सम्राट् खुश-नेवाज़ नामक था, जो कि बड़ा ही अंहकारी तथा नृशंस था। उसके विरुद्ध फिरोज़ पहले ही असफल सिद्ध हुआ तथा एक कठोर सन्धि को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया जिसके अनुसार उसे अपनी एक पुत्री हूण-सम्राट् को उसकी भार्या के स्वरूप में प्रस्तुत करनी थी। इस अपमान से बचने के लिए ससैनियन सम्राट् ने उसके पास दास-कन्या भेजी। इसका रहस्य कुछ ही दिनों में खुल गया। इस पर खुश-नेवाज की कोपाग्नि प्रज्वलित हो उठी। इसे प्रगट करने के पूर्व उसने किसी अन्य प्रदेश पर सैनिक अभियान के बहाने उससे कुछ सैनिक पदाधिकारियों की सहायता माँगी। फिरोज़ ने विश्वास कर ससैनियन सेना के तीन सौ मजे हुए योद्धाओं को उसके पास भेज दिया। इनको अपने वश में पा लेने पर उसने बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया। उनमें से कुछ मार भी डाले गये और कुछ को अंगच्छेद की सजा दी गई। इस अमानुषिक ढंग से उसने अपनी मर्यादा की ठेस का बदला लिया। खुश-नेवाज़ की क्रूरता एवं शक्ति उत्तरोत्तर और बढ़ने लगी। उसके नाना अत्याचारों से फीरोज़ ऊब चुका था। उसने इस आततायी हूणसम्राट् के दमन के लिए एक सुसंगठित सेना के साथ स्वयं प्रस्थान किया। पर भाग्यचक्र ने पुनः उसका साथ नहीं दिया। हूणों ने उसकी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

सेना को चारों ओर से घेर लिया। ससैनियन दल के सैनिक बुरी तरह काट डाले गये। इसमें फिरोज स्वयं लड़ता हुआ मारा गया। इस पराजय के कारण फारस को ४८३ ई० से लेकर ४८५ ई० तक हूण-सम्राट् को निश्चित् कर देना पड़ता था।

कवद का हूण-युद्ध—फीरोज के उत्तराधिकारी कवद ने अपने वंश के गौरव के पुनरुद्धार हेतु मदोन्मत्त हूणों का विनाश करना आवश्यक समझा। उसने दस वर्षों (५०३ ई०—५१३ ई०) तक उसके साथ सतत युद्ध किये। प्रमाणाभाव के कारण इन युद्धों के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। तथापि यह स्पष्ट है कि उनकी पूर्वकालीन शक्ति एवं महत्ता समाप्त हो गई और फारस उनके संभावित खतरों से सुरक्षित हो गया। इसके बाद के ईरानी साहित्य में उनका जहाँ कहीं भी उल्लेख हुआ है, वहाँ आततायी एवं नृशंस आक्रमणकारी के रूप में नहीं। हूणों के भयानक हमलों से ईरान की सुरक्षा फीरोज के यश में चार चाँद लगती है।

नौशेरवाँ तथा हूण—हूणों के दमन एवं अन्तिम विनाश का वास्तविक श्रेय सुप्रसिद्ध पारसीक सम्राट् नौशेरवाँ को दिया जा सकता है। उसने उनके ऊपर स्वयं आक्रमण किया। यद्यपि इस हमले की वास्तविक तिथि के विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना दुष्कर है, तथापि यह लगता है कि यह घटना ५५४ई० के अनन्तर ही घटी होगी, क्योंकि इसके पूर्व यह सम्राट् रोम के साथ युद्ध करने तथा तुर्कों की समस्या को सुलझाने में व्यस्त था। इस युद्ध में तत्कालीन हूण-सम्राट् लड़ता हुआ मारा गया। इस विजय ने हूणों को अच्छी तरह कुचल दिया। इस सफलता के फवस्वरूप पारसीक नरेश को बल्ख प्राप्त हो गया। यह घटना फारस के इतिहास में राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी।

भारतीय अभियान

प्रथम आक्रमण—हूणों का प्रथम भारतीय आक्रमण स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में हुआ था। भितरी के लेख से स्पष्ट होता है कि हूण उसके द्वारा परास्त कर दिये गये। प्रशस्तिकार उसकी इस विजय का काव्यात्मक ढंग से वर्णन करता हुआ कहता है कि जिस समय उसने युद्ध-क्षेत्र में हूणों को ललकारा, उस समय उसके बाहुबल के भय से पृथ्वी कम्पित हो उठी (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता)। चान्द्र व्याकरण की एक सूत्रवृत्ति में 'अजयत् गुप्तो हूणान्' (अर्थात् गुप्तों ने हूणों को जीत लिया) लेखक के जीवन-काल की घटना के रूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में कहा गया है। लगता है कि यहाँ पर स्कन्दगुप्त की हूण-विजय की ओर संकेत है।

सोमदेव के कथासरित्सागर में वर्णन मिलता है कि उज्जयिनी के नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य ने हूणों को परास्त किया था। लगता है कि यहाँ पर स्कन्दगुप्त (विक्रमादित्य) की ओर संकेत है, जो कुमारगुप्त (महेन्द्रादित्य) का पुत्र था। जूनागढ़ के लेख के अनुसार स्कन्दगुप्त म्लेच्छों का विजेता था।[1] यहाँ पर म्लेच्छों से तात्पर्य हूणों से है। प्राचीन साहित्य एवं अभिलेखों में कई स्थलों पर हूणों को म्लेच्छ कहा गया है। भितरी के लेख से ज्ञात होता है कि हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का युद्ध गंगा नदी के तट पर हुआ था (श्रोत्रेषु गांगध्वनिः)।

सुरक्षा-व्यवस्था—यहाँ पर उल्लेखनीय है कि स्कन्दगुप्त के द्वारा हूण लोग केवल गंगा घाटी से ही उन्मूलित किए जा सके थे। उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में इनके राजनीतिक आधार अब भी विद्यमान थे। गंगा-घाटी के ऊपर पुनः आक्रमण करने के लिये वे अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थे। जूनागढ़ के लेख की भाषा से आभास मिलता है कि उसके सीमावर्ती प्रान्त (सुराष्ट्र) के ऊपर हूण-आक्रमण का अब भी बहुत बड़ा खतरा था। अतएव उसने पर्णदत्त नामक अपने सबसे सुयोग्य कर्मचारी को सुराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त किया।[2] इस अभिलेख में पर्णदत्त को गोप्ता (रक्षक) कहा गया है।[3] यह शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि सुराष्ट्र के ऊपर किसी भयानक हमले की संभावना थी। यह हूण-आक्रमण

---

१. "अपि च जितमेव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोऽपि।
आमूल-भग्न-दर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु ॥"
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०१

२. "सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु
यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान्।
आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो
भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०२

३. "एवं स जित्वा पृथिवीं समग्रां
भग्नाग्र-दर्पान् द्विषतश्च कृत्वा।
सर्व्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्
संचिन्तयामास बहु-प्रकारम् ॥"
—सरकार, वही, पृष्ठ ३०१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की आशंका की ओर संकेत करता है। जूनागढ़ के लेख में कहा गया है कि स्कन्दगुप्त ने रात-दिन सम्यक् प्रकार से विचार कर लेने के पश्चात् पर्णदत्त को सुराष्ट्र प्रान्त की रक्षा का भार सौंपा था:—

"एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन
नैकानहो-रात्र-गणान्स्वमत्या ।
यः सन्नियुक्तोऽर्थनया कथंचित्
सम्यक्सुराष्ट्रावनिपालनाय ॥"
(जूनागढ़ का लेख, श्लोक १२)

जिस प्रकार देवताओं ने वरुण को पश्चिमी दिशा का भार सौंपा, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त ने बड़े ही विश्वास एवं दृढ़ता के साथ पर्णदत्त को अपने पश्चिमी प्रान्त (सुराष्ट्र) की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा:—

"नियुज्य देवाः वरुणं प्रतीच्यां
स्वस्थाः यथानोन्मनसो बभूवुः ।
पूर्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं
नियुज्य राजा धृतिममांस्तथाभूत् ॥
(जूनागढ़ का लेख, श्लोक १३)

तोरमाण—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के लगभग ३३ वर्षों के उपरान्त (५०० ई० में) हूणों ने गंगा-घाटी पर पुनः आक्रमण किया। इसका नेता तोरमाण था। दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है कि तोरमाण नाम तुर्की शब्द 'तोरमान', 'तूरमान' एवं 'तोरेमेन' से (जिसका अर्थ विद्रोही होता है) तुलनीय है।[1] उसके राज्य-काल के दो लेख प्राप्त हुये हैं:—(१) एरण की वराह-प्रतिमा वाला लेख तथा (२) कुरा (पंजाब) का शिलालेख।

कुरा के लेख में उसे 'तोरमाण-षाहि-जऊब्ल' कहा गया है। जऊब्ल सामन्त-उपाधि थी। इससे कीलहार्न तथा बूलर का कथन है कि कुरा के लेख का तोरमाण एक सामन्त शासक था। अतएव वह हूण-सम्राट् तोरमाण नहीं हो सकता, जो कि अधिक प्रभावशाली था। यह मत भ्रान्तिमूलक माना जाता है। तोरमाण प्रारंभ में सामन्त था। उसका चक्रवर्ती हूण-नरेश बैक्ट्रिआ में शासन करता था। माण्डलिक होने के कारण वह 'जऊब्ल' की उपाधि धारण करता होगा। लगता है कि स्वतंत्र होने के पश्चात् भी वह 'जऊब्ल' की उपाधि धारण करता था। स्वतंत्र

---

१. सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३९८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्य स्थापित करने के उपरान्त भी पुण्यमित्र शुंग ने सेनापति तथा उज्जयिनी के शकों ने महाक्षत्रप की उपाधियाँ धारण की थी। ये सामन्त-उपाधियाँ हैं। अतएव स्पष्ट है कि कुरा के लेख का तोरमाण तथा हूण नरेश तोरमाण एक ही व्यक्ति हैं।

सोमदेव के अनुसार हूण चित्रकूट तक बढ़ आये थे। यह घटना तोरमाण के काल की हो सकती है। ४८५ ई० वाले एरण के लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ पर महाराज मातृविष्णु बुधगुप्त नामक गुप्त-सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था। तोरमाण के काल के एरण के लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ पर मातृविष्णु का भाई धन्यविष्णु इस हूण-नरेश के शासनकाल के प्रथम वर्ष में उसकी अधीनता स्वीकार करता था:—

"वर्षे प्रथमे पृथिवीमपृथु-कीर्त्तौ पृथुद्युतौ ।
महाराजाधिराज - श्रीतोरमाणे प्रशासति ॥"

(एरण का वराह-प्रतिमा वाला लेख, श्लोक २)

इससे स्पष्ट है कि बुधगुप्त के उपरान्त (अर्थात् ५०० ई० के पश्चात्) तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने एरण को जीत लिया। कौशाम्बी से हूणराज तोरमाण की एक मुहर मिली है। आठवीं शताब्दी के जैन ग्रन्थ कुवलयमाला में तोरमाण को उत्तरापथ का शासक कहा गया है। यह रचना गंगा-घाटी में उसके राजनीतिक प्रभाव को व्यक्त करती है। इसके अनुसार उसकी राजधानी चन्द्रभागा (चेनाब) नदी के तट पर विद्यमान थी। इस ग्रन्थ में तोरमाण का नाम तोरराय आता है। राजतरंगिणी में भी तोरमाण के नाम का उल्लेख हुआ है।

इस नरेश की 'अश्वारोही वर्ग' की कुछ रजत-मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं। इनके मुख भाग पर अश्वारोही का चित्र तथा उसके पीछे हूण-प्रतीक अंकित हैं। इनके पृष्ठ भाग पर यूनानी अक्षरों में 'षाहि-जऊब्ल' लेख मिलता है। उसकी ताम्र-मुद्रायें पंजाब तथा सतलज एवं यमुना के बीच वाले क्षेत्र से उपलब्ध हुई हैं। इनके ऊपर उसके नाम का पूर्वार्द्ध 'तोर' अंकित मिलता है। उसके समय के एरण के लेख के प्रारंभ में वराह की वंदना की गई है:—

"जयति धरण्युद्धरणे घन-घोणाघात-घूर्णित-महीद्ध्रः ।
देवो वराहमूर्त्तिस्त्रैलोक्य-महागृह-स्तम्भः ॥"

(एरण का लेख, श्लोक १)

---

२. सरकार सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस पृष्ठ ३९८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उक्त लेख में इसके राज्य-काल के प्रथम वर्ष का उल्लेख मिलता है [1]। इस अभिलेख से निष्कर्ष निकलता है कि उसका सामन्त धन्यविष्णु वैष्णव मतावलंबी था। इसमें समस्त जगत् के मंगल की कामना की गई है (स्वस्त्यस्तु गो-ब्राह्मण-पुरोगाभ्यः सर्व्व-प्रजाभ्य इति)। कुरा का लेख उसके 'अभिवर्धमान राज्य-संवत्सर' के 'मार्गशिर' मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया में उत्कीर्ण किया गया था। इस लेख के अनुसार रोट-जयवृद्धि के पुत्र रोट-सिद्धवृद्धि ने भाई, भगिनी, पत्नी, पुत्र तथा दुहिता के पुण्यार्थ महीशासक संप्रदाय के आचार्यों के निवास के लिये एक बौद्ध विहार का निर्माण किया था। उसके लेखों के प्राप्तिस्थान एवं उनके अन्तःसाक्ष्य से लगता है कि उसने पश्चिम में पंजाब से लेकर पूर्व में एरण (आधुनिक सागर) तक के प्रदेश पर राज्य किया। मिहिरकुल-कालीन ग्वालियर के लेख से ज्ञात होता है कि वह अनेक गुणों से संपन्न था (प्रभूतगुणः)। उसने सत्य, शौर्य तथा न्याय आदि से पृथ्वी का शासन किया था (सत्यप्रदानशौर्य्याद्येन महीं न्यायतः शास्ता)।

मिहिरकुल—तोरमाण के अनन्तर मिहिरकुल ने राज्य किया। ग्वालियर से उसके शासनकाल के पंद्रहवें वर्ष (अभिवर्द्धमानराज्ये पंचदशाब्दे) का एक लेख मिला है। इस लेख के प्रारंभ में सूर्य की स्तुति की गई है:—

"भुवनभवनदीपः शर्व्वरीनाशहेतुः ।
तपितकनकवर्णैरंशुभिः पंकजानाम् ॥"

इस अभिलेख में उसके पिता के नाम के प्रारंभ में दो अक्षर 'तोर' मिलते हैं। उसके नाम के बाद वाले अक्षर मिट गये हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ग्वालियर के लेख का नामांश 'तोर' तोरमाण नाम का प्रथमार्द्ध है। इस लेख के अनुसार मिहिरकुल अत्यन्त पराक्रमी (तोरमाण) का पुत्र था। उसने अपने कुल की पूर्व कीर्ति का विस्तार किया। वह शिव का अखंड पुजारी था:—

"तस्योदितकुलकीर्त्तेः पुत्रोऽतुलविक्रमः पतिः पृथिव्याः ।
मिहिरकुलेतिख्यातोऽभंगो यः पशुपतिम् ॥"

राजतरंगिणी से भी निष्कर्ष निकलता है कि वह शैव धर्म का अनुयायी था। मिहिरकुल के विषय में कुछ अन्य साधनों द्वारा भी सूचना मिलती है; उदाहर-

---

१. 'वर्षे प्रथमे पृथिवीम् पृथु - कीर्त्तौ पृथु-द्युतौ ।
महाराजाधिराज - श्रीतोरमाणे प्रशासति ॥"
सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३९६-९७.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

णार्थ सुंग युन, कास्मस तथा हुयेनसांग का विवरण एवं कल्हण की राजतरंगिणी और यशोधर्मा के काल का मन्दसोर का लेख ।

सुंग-युन का उल्लेख—चीन की वेइ वंश की एक साम्राज्ञी ने सुंग-युन नामक व्यक्ति को (५१८ ई० में) भारतवर्ष बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियों को लाने के निमित्त भेजा था । उसके साथ हुइ-शेंग नामक एक बौद्ध भिक्षु भी था । उसकी यात्रा केवल उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष; विशेषतः उड्डियान (स्वात की घाटी) और गंधार (पेशावर) तक ही सीमित थी । वह ५२२ ई० में चीन वापस लौट गया । उसका विवरण अप्राप्य है । पर उसके कुछ उद्धरण कालान्तर के लेखकों की रचनाओं में मिलते हैं । बील ने इन उद्धरणों का अंग्रेजी अनुवाद 'रेकर्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड' (जिल्द १) में किया है ।

गंधार के विषय में सुंग-युन लिखता है कि वह ५२० ई० में इस क्षेत्र में आया हुआ था । यह प्रदेश उचंग राज्य से काफी मिलता-जुलता था । इसके पहले यह 'ये-पो-लो' देश कहा जाता था । इसे हूणों ने जीता था । तब से इस जाति के दो पीढ़ी के नरेश राज्य कर चुके थे । उस समय का शासक बड़ा ही क्रूर तथा आसुरी प्रवृत्ति का था । वह बौद्ध धर्म में विश्वास नहीं करता था । उसके निर्दयतापूर्ण व्यवहारों से लोग ऊब चुके थे । उसे अपने बाहुबल में दृढ़ विश्वास था । उसने किपिन (काश्मीर) के ऊपर आक्रमण किया था । वह लगभग तीन वर्षों से इसके जीतने के प्रयास में था । उसकी सेना में सात सौ हाथी सम्मिलित थे । इसके राज्य की जनता दुखी थी । लगता है कि यहाँ पर मिहिरकुल की ओर संकेत है । सुंग-युन के वर्णन के अनुसार उसकी राजधानी गन्धार में स्थित थी ।

कास्मस का वर्णन—सिकन्दरिया का यूनानी यात्री कास्मस (५३५ ई०) लिखता है कि भारतवर्ष के उत्तरी भाग में श्वेत हूण शासन करते थे । उनका नेता गोल्लास जब युद्ध के लिये प्रस्थान करता था, उस समय उसके साथ एक बड़ी सेना चलती थी, जिसमें दो हजार हाथी तथा अगणित घोड़े सम्मिलित थे । वह लोगों को बहुत सताता तथा उनसे कर वसूल करता था । सिन्धु नदी उसके राज्य की सीमा का निर्माण करती थी । कास्मस के लेख में वर्णित गोल्लास नामक हूण-सम्राट् की एकता मिहिरकुल (मिहिरगुल) से की जाती है ।

हुयेनसांग का साक्ष्य—उसने मिहिरकुल के विषय में लिखा है कि वह उसके आगमन के कुछ शताब्दियों पूर्व भारतवर्ष में राज्य कर रहा था । उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) में वर्तमान थी । उसने आस-पास के राजाओं को अधिक दबा रखा था । हुयेनसांग के अनुसार मिहिरकुल पहले बौद्ध धर्म का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदर करता था। उसने भिक्षुसंघ से उसके पास एक श्रमण भेजने को कहा। भिक्षु-संघ ने उसके पास श्रमण के स्थान पर एक भृत्य भेजा। इस पर मिहिर-कुल कुपित हो उठा। उसने पंच भारत में भिक्षुओं के संहार के लिये एक आज्ञा घोषित की। हूण-सम्राट् की इस आज्ञा के अनुसार बौद्ध संघ के समूल उच्छेदन के निमित्त प्रयास किया गया। उसने अनेक स्तूपों और विहारों को ध्वस्त करा दिया था।

बालादित्य एवं मिहिरकुल—हुयेनसांग के अनुसार गुप्त-सम्राट् बालादित्य ने मिहिरकुल को परास्त किया था। वह लिखता है कि मगध-नरेश बालादित्य बौद्ध धर्म का सम्मान करता था। जब उसने मिहिरकुल के अत्याचारों के विषय में सुना, उस समय उसने अपने राज्य की सीमाओं की मोर्चेबन्दी करना प्रारंभ कर दिया। हूण-सम्राट् ने बलावलेप के कारण बालादित्य के राज्य के ऊपर आक्रमण कर दिया। गुप्त-नरेश के सैनिकों ने बहादुरी के साथ उसका सामना किया। मिहिरकुल बन्दी बना कर बालादित्य के समक्ष लाया गया। उन्होंने अपने कर्मचारियों को उसे प्राणदंड देने के लिये आज्ञा दी, पर उनकी माता के अनुरोध के कारण वह छोड़ दिया गया। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि इस बालादित्य की एकता नरसिंहगुप्त बालादित्य के साथ करना समीचीन होगा।

भानुगुप्त की हूण-विजय—एरण के लेख (गु० सं० १९१) से ज्ञात होता है कि भानुगुप्त द्वारा किये गये हुए किसी तुमुल युद्ध में उसका विश्वस्त माण्डलिक गोपराज मार डाला गया।[1] इस घटना के अनन्तर उसकी पतिपरायणा भार्या सती हो गई थी।[2] भानुगुप्त का यह युद्ध अनुमानतः हूणों के विरुद्ध हुआ होगा।

---

१. "श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो
राजा महान्पार्थ-समोऽतिशूरः।
तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपराजो
मित्रानुगत्येन किलानुयातः॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३३६

२. "कृत्वा च युद्धं सुमहत्प्रकाशं
स्वर्गं गतो दिव्य - नरेन्द्र - कल्पः।
भक्तानुरुक्ता च प्रिया च कान्ता
भार्य्यावलग्नानुगताग्निराशिम्॥"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस युद्ध की संभावित तिथि ५१० ई० रही होगी। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ५०० ई० के अनन्तर हूणों ने एरण को जीत लिया था। भानुगुप्त का एरण का उपर्युक्त युद्ध (५१० ई०) इस क्षेत्र में हूणों का आधिपत्य हटाने के लिये हुआ था। यद्यपि उसका सामन्त गोपराज इस युद्ध में मारा गया, तथापि विजयश्री उसी को प्राप्त हुई। एरण से उसके समय के लेख का मिलना इस बात का प्रमाण है कि उसने इस क्षेत्र को हूणों के चंगुल से उन्मुक्त कर दिया था। हेमचन्द्र रायचौधरी ने भानुगुप्त के उक्त युद्ध को 'मुक्ति-संग्राम' की संज्ञा प्रदान की है। इस क्षेत्र के आस-पास ५१० ई० से लेकर ५२८ ई० तक परिव्राजक महाराज गुप्तों की अधीनता को स्वीकार करते थे।

यशोधर्मन् तथा मिहिरकुल—पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि यशोधर्मन् (५३२ ई०) बड़ा ही पराक्रमी था। उसके समय के मन्दसोर के स्तंभ-लेख से ज्ञात होता है कि उसने मिहिरकुल को परास्त किया था। इसमें काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि "जिसने शिव को छोड़ कर अन्य किसी के सामने भी अपने सिर को नहीं झुकाया तथा जिसकी भुजाओं के द्वारा आलिंगित होने के कारण हिमालय व्यर्थ ही दुर्लंघनीय दुर्ग शब्द को अभिमानपूर्वक धारण करता है, ऐसे मिहिरकुल के मस्तक को अपने बाहुबल के द्वारा यशोधर्मन् ने नीचे झुका कर उसे क्लेशयुक्त किया तथा उसके बालों की जूट में लगे हुए पुष्पों के द्वारा अपने दोनों पैरों की उसने पूजा कराई।"

"स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमांगं
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिदुर्ग्गशब्दाभिमानम्।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति-भुजबलावर्ज्जन-क्लिष्ट-मूर्द्धा
चूडापुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्॥"

(यशोधर्मन् का मन्दसोर का स्तंभलेख, श्लोक ६)

यशोधर्मन् से युद्ध के पहले मिहिरकुल का राज्य काश्मीर से लेकर ग्वालियर तक फैला हुआ था, पर इस पराजय के उपरान्त उसका अधिकार-क्षेत्र केवल काश्मीर तक सीमित था। मन्दसोर के उपर्युक्त लेख के अनुसार इस समय मिहिरकुल केवल हिमगिरि (काश्मीर एवं पार्श्ववर्ती क्षेत्र) का शासक रह गया था।

राजतरंगिणी का वर्णन—राजतरंगिणी में भी मिहिरकुल का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ में भी वह क्रूर एवं विध्वंसकारी के रूप में वर्णित है। इसके अनुसार 'उस दुष्टकर्मा ने श्रीनगरी में मिहिरेश्वर के मन्दिर की स्थापना की तथा होलदा में मिहिरपुर नामक एक विशाल पुर का निर्माण किया।'[1] 'गंधार

१. राजतरंगिणी, १, ३०६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America (HHF-USA)

के ब्राह्मणों ने उससे अग्रहार दान पाया। वे भी चरित्र में उसी की कोटि के थे। वे ब्राह्मणों में सबसे नीच माने जाते थे।'[२] राजतरंगिणी के 'मिहिरेश्वर' देवता से तात्पर्य शिव से है। यशोधर्मा के मन्दसोर-लेख के अनुसार मिहिरकुल स्थाणु (शिव) का उपासक था। ग्वालियर के लेख में कहा गया है कि वह पशुपति का पुजारी था।

ग्वालियर के लेख से सूचनाएँ—इस लेख में ग्वालियर का प्राचीन नाम गोपाह्वय भूधर कहा गया है। इसी को गोपगिरि तथा गोपाद्रि भी कहा जाता था। इस अभिलेख में इसे रमणीक प्रदेश कहा गया है। इसमें मातृचेट नामक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है, जो कि मातृतुल का पौत्र तथा मातृदास का पुत्र था। उसने माता, पिता तथा अपने यश एवं पुण्य की वृद्धि के लिये ग्वालियर में एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया था—

"नानाधातुविचित्रे गोपाह्वयनाम्नि भूधरे रम्ये।
कारितवान्शैलमयं भानोः प्रासाद - वर - मुख्यम्॥"

इससे लगता है कि उस समय सूर्य-पूजा का पर्याप्त प्रचार था। उपर्युक्त लेख के अनुसार जो लोग चन्द्रमा की किरणों के समान धवल सूर्य-मन्दिर का निर्माण करते हैं, उन्हें स्वर्ग में अखण्ड स्थान उपलब्ध होता है :—

"ये कारयन्ति भानोश्चन्द्रांशु-सम-प्रभं गृहप्रवरं।
तेषां वासः स्वर्गे यावत्कल्पक्षयो भवति॥"

मिहिरकुलोत्तर हूण-इतिहास—मिहिरकुल के उपरान्त हूणों का इतिहास अंधकारमय हो जाता है। हीरानन्द शास्त्री ने 'नालन्दा ऐंड इट्स एपिग्रैफिक मैटिरियल्स' नामक पुस्तक तथा ए० घोष ने 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली' (जिल्द १९) में प्रकाशित एक लेख में इतिहासकारों का ध्यान किसी राजवंश के क्रमिक नरेशों के नामों की ओर आकर्षित किया है। इनके विषय में सूचना नालन्दा से प्राप्त दो मुद्रा-लेखों के द्वारा प्राप्त होती है—

महाराज लवखाण
|
(महाराजाधिराज) नाम लुप्त
महिषी-विट्टव्वदेवी
|

---

२. वही, १, ३०७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(महाराज) जरीव
महिषी-मेलयदेवी
|
(महाराजाधिराज) नाम लुप्त
|
नाम लुप्त
(मुद्रा का निर्माता)

नालन्दा के मुद्रा-लेख के लवखाण तथा जरीव की पहचान लखाण तथा जरी नामक हूण-सम्राटों के साथ की जा सकती है, जिनके विषय में सिक्कों के द्वारा सूचना उपलब्ध होती है। लगता है कि लवखाण को ही राजतरंगिणी में लखाण नरेन्द्रादित्य कहा गया है। इन्हीं हूण-शासकों ने मिहिरकुल के पश्चात् राज्य किया होगा।[1]

मौखरियों का हूण-युद्ध—गुप्तों के अधःपतन काल (५५० ई०) से लेकर ६०६ ई० तक उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में हूण वर्तमान थे। ५५० ई० में अनुकूल अवसर पाकर हूणों ने गंगा-घाटी पर आधिपत्य जमाने के लिये आक्रमण कर दिया। मौखरि-नरेश ईशानवर्मा ने इन्हें पराजित किया। हरहा के लेख के अनुसार उसने पृथ्वी का एक ऐसे समय उद्धार किया, जब वह कलियुग के प्रचंड तूफान के कारण डगमगाकर रसातल रूपी समुद्र में डूबने जा रही थी (कलियुगध्वान्तावमग्न)। यह संभवतः हूणों के द्वारा किये गये हुये उपद्रव की ओर संकेत करता है। अफसढ़ के लेख में मौखरि-सेना को हूण-विजेता कहा गया है। मुद्राराक्षस में मौखरि-नरेश अवन्तिवर्मा को म्लेच्छों को परास्त करने वाला कहा गया है। यहाँ पर म्लेच्छों से तात्पर्य हूणों से है। पुराणों में हूणों को म्लेच्छ कहा गया है (प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छाः राजन्यरूपिणः)।

वर्द्धनों का हूण संघर्ष—इसी समय वर्द्धनों का भी हूणों के साथ युद्ध हुआ। हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्द्धन हूण रूपी हरिण के लिये केसरी-तुल्य थे (हूण-हरिणकेसरी)। उन्होंने अपने शासन-काल के अन्तिम वर्ष (६०५ ई०) में हूणों को हराने के लिये राज्यवर्द्धन को उत्तर दिशा में भेजा था (हूणान्हन्तुं उत्तरदिशं प्राहिणोत्)।

हूण-मुद्राएँ—यहाँ पर उल्लेखनीय है कि हूणों की कतिपय मुद्राएँ भी उपलब्ध हैं। इनमें दो विशेषताएँ प्रधान रूप से दृष्टिगोचर होती हैं :-(१) इनके

---

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ २२४-२२५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America.:HHF(USA)

सिक्के चाँदी एवं ताँबे के द्वारा निर्मित हैं। इनकी कोई सुवर्ण-मुद्रा नहीं मिली है। (२) इनकी मुद्राओं में कोई मौलिकता नहीं दृष्टिगोचर होती। जिन प्रदेशों को हूणों ने जीता, उनमें प्रचलित मुद्राओं के आधार पर उन्होंने अपने सिक्कों का निर्माण किया।

उनकी सबसे प्रारंभिक मुद्राएँ ससैनियन सम्राटों से जीते गये हुये प्रदेशों में प्रचलित करने के निमित्त तैयार की गई थीं। अतएव उन पर ससैनियन मुद्राओं का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वे आकार में पतले किन्तु लम्बे हैं। उनके मुख भाग पर ससैनियन शैली में सम्राट् की ऊर्ध्वकाय मूर्ति अंकित है तथा पृष्ठ भाग पर अग्निकुंड एवं अग्नि-परिचारकों के चित्र उत्कीर्ण हैं।[1]

जब हूणों ने उत्तर-पश्चिम भारत में पहली बार प्रवेश किया, उस समय उन्होंने अपनी मुद्राओं के ऊपर हिन्दू-प्रतीकों को अंकित करना प्रारंभ किया; उदाहरणार्थ शंख, चक्र तथा त्रिशूल। उनके मुद्रा-लेख अब पह्लवी के स्थान पर ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण किये जाने लगे। पंजाब एवं काश्मीर को जीत लेने के अनन्तर उन्होंने कुषाण-सिक्कों का अनुकरण किया। मध्य भारत को जीतने के पश्चात् उन्हें गुप्त-मुद्राओं के आदर्श पर अपने सिक्कों को प्रचलित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कोटि की रजत-मुद्राओं के मुख भाग पर राजा के शरीर का ऊपरी हिस्सा तथा पृष्ठ भाग पर मोर का चित्र अंकित मिलता है। इन पर सम्राट् की विरुद गुप्त-सम्राटों की विरुद से समानता रखती है; उदाहरणार्थ 'विजितावनिपतिरश्रीतोरमाण'।

गुप्तों के आदर्श पर निर्मित ताम्र-मुद्राओं के मुख भाग पर राजा का चित्र तथा पृष्ठ भाग के ऊपरी हिस्से में प्रतीक-चिन्ह एवं निचले भाग में सम्राट्-नाम अंकित मिलता है। तोरमाण की मुद्राओं में उसे 'शाहि जवुल' कहा गया है। कुरा के लेख में उसके नाम के साथ 'षाहि-जऊव्ल' लेख मिलता है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि जवुल (अथवा जऊव्ल) सामन्त-उपाधि थी। मिहिरकुल के सिक्कों के एक ओर ऊपरी भाग में नन्दि का चित्र तथा निचले हिस्से में 'जयतु वृषभः' लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वह शैव धर्म का अनुयायी था।[2] मिहिरकुल की मुद्राओं में गुप्त सिक्कों के अनुकरण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव कहा जा सकता है कि उसके समय में गुप्तों के प्रान्तों पर हूणों का कोई राजनीतिक प्रभाव अधिक समय तक नहीं था।

---

१. वाकाटक–गुप्त-एज, पृष्ठ २८१

२. वही, पृष्ठ २८२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१६

बाह्य सम्पर्क

•

(क) भारतवर्ष एवं पाश्चात्य विश्व

उपलब्ध साधनों से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में भारतवर्ष के लोग एकाकी जीवन नहीं व्यतीत करते थे। पाश्चात्य सभ्यताओं के साथ हमारे देश का घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्पर्क था। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौंच), शूर्पारक (सोपारा) एवं कल्याण-सदृश बन्दरगाह स्थित थे, जहाँ से भारतीय माल जहाजों में भर कर मिस्र, यूनान, रोम एवं पश्चिम एशिया आदि सुदूर भागों में भेजे जाते थे। वहाँ विदेशी जहाज भी लंगर डाले हुए देखे जा सकते थे। आयात एवं निर्यात के वातावरण से सम्पन्न भृगुकच्छ को विदेशी लेखों में 'बैरीगाज़ा' अथवा 'बैरुगाज़ा' कहा गया है। वहाँ से हाथीदाँत की बनी हुई भव्य वस्तुएँ, रेशमी एवं सूती वस्त्र, मिर्च, बहुमूल्य पत्थर, मलमल, जटामांसी एवं गुगुल, विदेशों में भेजे जाते थे। पेरिप्लस के अनुसार इस बन्दरगाह में मदिरा, सूक्ष्म वस्त्र, अनुलेप, सुरमा तथा अच्छे रोगन आते थे। शूर्पारक को बौद्ध साहित्य में 'सुप्पारक' कहा गया है। विदेशी लेखकों ने कल्याण को 'कल्लियेन' कहा है। उनके अनुसार इन दोनों ही बन्दरगाहों का बाहरी देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क था।

रोम—वाणिज्य-प्रसंग में भारतवर्ष में रोम की 'डेनैरियस' नामक सुवर्ण-मुद्राएँ आई थीं। गुप्त-सम्राटों ने अपने सिक्कों की तौल इन्हीं मुद्राओं की तौल (रोमन वेट स्टैंडर्ड) के आधार पर निर्धारित किया था। सुवर्ण-मुद्रा के लिए प्रयुक्त भारतीय शब्द 'दीनार' 'डेनैरियस' नाम से संबन्धित लगता है। भारतवर्ष के जहाज फारस और अरब के समुद्र-तट से होते हुए लालसागर तथा वहाँ से रोम की ओर जाते थे। रोम में भारतवर्ष के विलास की सामग्री की तगड़ी माँग थी। वहाँ की बाज़ारों में भारतीय मलमल, जवाहरात, मोती, जटामांसी तथा सिल्क भरे रहते थे। प्लिनी ने हार्दिक क्लेश प्रकट किया है कि उसके देश के निवासी अपनी विलासिता के कारण अपने देश की अतुल धनराशि भारतवर्ष भेज देते थे। उसके अनुसार रोम की लगभग ५ करोड़ मुद्राएँ हमारे देश में प्रति वर्ष आती थीं। भारत में बनी हुई हाथीदाँत की राजलक्ष्मी की एक प्रतिमा पांपिआई में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिली है। अरिकमेडू-उत्खनन में रोम में निर्मित एक दीप का टुकड़ा प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि रोम से भी भारतवर्ष में वस्तुएँ आती थीं।

यूनान—वेबर आदि विद्वानों ने भारतीय नाटकों पर यूनानी नाटकों के प्रभाव को सिद्ध करने की चेष्टा की है। मृच्छकटिक की तुलना 'न्यू एटिक कामेडी' से की जाती है। भारतीय नाटकों में पर्दे के लिए 'यवनिका' शब्द का प्रयोग मिलता है। गार्गी संहिता में कहा गया है कि 'यवन लोग बर्बर हैं। तथापि वे पूजनीय हैं, क्योंकि ज्योतिष-शास्त्र का जन्म उन्हीं से हुआ है।' भारतीय ग्रन्थों में ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें पाँचवाँ 'रोमक सिद्धान्त' है। नाम से इसका संबन्ध रोम से लगता है। परन्तु ऐसा मानना तर्क-संगत नहीं होगा। वराहमिहिर ने 'रोमक सिद्धान्त' के संबन्ध में जिन नक्षत्रों का नामोल्लेख किया है, वे यूनानी नाम लगते हैं। अतएव 'रोमक सिद्धान्त' को यूनान की देन मानना चाहिए। वराहमिहिर के 'होराज्ञान' के ऊपर यूनानी प्रभाव परिलक्षित होता है। चरक-संहिता में चिकित्साशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए जिस प्रतिज्ञा का वर्णन मिलता है, वह हिप्पाक्रेटीज़ के द्वारा उल्लिखित यूनानी चिकित्सक की प्रतिज्ञा से साम्य रखती है।

इसी प्रकार यूनानी भी भारतीय सभ्यता से प्रभावित हुए थे। कई विदेशियों ने भारतीय धर्म को स्वीकार कर लिया था। पूर्व काल में यवन नरेश मिलिन्द (मेनेण्डर) ने बौद्ध मत का अवलम्बन किया था। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि यवन राजदूत हेलिओडोरस वैष्णव धर्म का अनुयायी था। उसने बेसनगर में गरुडध्वज की स्थापना की थी। भारतीय पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने पाइथागोरस को प्रभावित किया था। प्लेटो के रिपब्लिक में भारतीय कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। पाइथागोरस ने मांस और सुरा आदि के परित्याग का जो उपदेश दिया है, वह बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त से प्रभावित है। निओ-प्लेटोनिक विचारधारा में ध्यान के द्वारा आत्मा को शरीर से मुक्त करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। यह पतञ्जलि के योग-शास्त्र से प्रभावित है। गार्बे ने उपनिषद् के अद्वैत-सिद्धान्त एवं 'इलीटिक्स' दर्शन में साम्य सिद्ध किया है। भारतीय विचारधारा के अनुसार सृष्टि-निर्माण का मूलभूत तत्त्व जल है। इस सिद्धान्त से कई यूनानी विचारक प्रभावित हुए थे।

मिस्र एवं पश्चिमी एशिया—जलमार्ग के द्वारा भारतवर्ष का मिस्र के साथ सीधा सम्पर्क था। वहाँ भारतीय मसालों एवं कीमती पत्थरों की प्रचुर माँग थी। मिस्र के दो बन्दरगाहों (बेरेनिस तथा मिओस होर्मोस) में भारतीय व्यापारी बहुधा आया करते थे। वहाँ उनकी सुविधा के लिए विश्राम-गृह भी बने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुए थे। स्ट्रेबो लिखता है कि मिओस होर्मोस के बन्दरगाह से एक ही मौसम में मिस्र के लगभग १२० जलपोतों ने भारत के लिए प्रस्थान किया था। इस समय मिस्र के कुछ साहसिक व्यापारी गंगा नदी के मुहाने तक पहुँचे थे। स्पष्ट है कि बंगाल के समुद्र-तट पर स्थित ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर वे उतरे होंगे। चीनी साधनों के अनुसार पार्थिया में बौद्ध धर्म के प्रचार के संबन्ध में सूचना मिलती है। अल्बरूनी ने लिखा है कि खोरासान एवं ईराक में बौद्ध धर्म का प्रचार था। कतिपय इतिहासकारों का कथन है कि मनीच धर्म बौद्ध धर्म से प्रभावित था। मनीच धर्म से संबन्धित एक ग्रंथ में इसके प्रवर्तक मनी को तथागत कहा गया है। इसमें बुद्ध एवं बोधिसत्व का उल्लेख मिलता है। संन्यास की भावना का उद्गम संभवतः भारतीय प्रभाव के कारण हुआ था। दजला-फरात घाटी के टेरोन नामक स्थान पर दो भारतीय मन्दिर वर्तमान थे। वहाँ पर एक भारतीय उपनिवेश भी विद्यमान था। जब सेंट ग्रिगोरी ३०४ ई० में इन मन्दिरों के विनाश के अभिप्राय से वहाँ आया था, उस समय वहाँ के भारतवासियों ने उसका विरोध किया था।

ईरान—गुप्त-कालीन साहित्य में पारसीकों (ईरानियों) के विषय में यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ रघुवंश में रघु के पारसीक विजय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'जैसे कोई योगी इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने के लिए तत्त्वज्ञान का सहारा लेता है, वैसे ही रघु ने पारसीक नरेशों को हराने के निमित्त स्थल-मार्ग का अवलम्बन किया था। मधुमक्खियों से भरे हुए छत्ते के समान दाढ़ियों वाले यवनों के सिरों को भल्ल नामक बाणों से काट कर रघु ने पृथ्वी को पाट दी थी। उनमें से जो बच गए, उन्होंने अपने लोहे के टोप उतार कर रघु के चरणों में रख दिए, क्योंकि महापुरुषों की कृपा प्राप्त करने का यही उपाय है कि उनकी शरण में पहुँच जाय।"

"पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्वज्ञानेन संयमी॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्॥"
(रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६०, ६३ एवं ६४)

महाभारत के भीष्म पर्व में पश्चिमोत्तर भारतवर्ष में रहने वाली जातियों में पह्लवों (पार्थियन) का उल्लेख मिलता है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)
पह्लवों का वर्णन किया है। मुद्राराक्षस के अनुसार पारसीकों (पह्लवों) ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की थी। यद्यपि यह सन्दर्भ ऐतिहासिक तथ्यों से रहित है, तथापि यह निर्विवाद है कि इसका रचयिता ईरानियों से परिचित था। विष्णु पुराण के अनुसार पह्लव लम्बी दाढ़ी बढ़ाते थे ('पह्लवाञ्श्मश्रुधरान्')। बाण-भट्ट लिखता है कि किसी पारसीक ने सम्राट् तारापीड़ को इन्द्रायुध नामक घोड़े को भेंट में दिया था। सोमदेव के कथासरित्सागर में एक दुष्ट पारसीक नरेश की हत्या का उल्लेख मिलता है। फारस-नरेश खुसरो परवेज़ ने बहुमूल्य उपहारों के साथ अपना राजदूत चालुक्य-नरेश पुल्केशिन द्वितीय के दरबार में भेजा था।

ईरानियों ने शतरंज का खेलना भारतवर्ष से सीखा था। वात्स्यायन के काम-सूत्र में (जो कि गुप्तकालीन ग्रन्थ माना जाता है) शतरंज के फलक (आकर्ष-फलक) तथा जूआ खेलने वाले फलक (द्यूतफलक) का उल्लेख मिलता है। बाणभट्ट ने शतरंज खेलने की प्रथा का उल्लेख आलंकारिक ढंग से किया है। वह लिखता है कि महाराज हर्ष के शासन-काल में चतुरंग-कल्पना अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे की रचना केवल शतरंज में ही होती थी, अपराधियों के सम्बन्ध में चतुरंग-कल्पना (दोनों हाथ तथा दोनों पैर के काटने की चर्चा) नहीं सुनी जाती थी (अष्टपदानां चतुरंग-कल्पना)। पारसीक नरेश खुसरो के दरबार में किसी भारतीय नरेश ने भेंट की सामग्री भेजी, जिसमें शतरंज का एक फलक भी था। उस समय वहाँ यह खेल अज्ञात था। सभी दरबारियों ने बारी-बारी चेष्टा की, पर इसके रहस्य को वे न समझ पाये। अन्त में बुज़र्गमेहर नामक वजीर ने, जो कि अपनी कुशाग्रता के लिये विख्यात था, बड़ी माथापच्ची के अनन्तर इस खेल की विधि का पता लगाया। अरबों ने कालान्तर में इसे फारस से सीखा और उनके माध्यम से इसका प्रचार यूरोप में हुआ।

भविष्य पुराण में वर्णन मिलता है कि कृष्ण-पुत्र साम्ब कुष्ठ-रोग से पीड़ित हो उठा था। जब कोई भी उपचार उसे लाभप्रद नहीं सिद्ध हुआ, तब उसने उपवास एवं सूर्योपासना करना प्रारम्भ कर दिया और इससे वह शीघ्र ही रोग-मुक्त हो उठा। अपनी कृतज्ञता के प्रतीक-स्वरूप उसने चन्द्रभागा (चेनाब) के तट पर एक भव्य सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया। भारतीय ब्राह्मणों ने इसमें पुजारी का कार्य करने से इन्कार कर दिया। इस पर पुरोहित गौरमुख ने परामर्श दिया कि ईरान के सूर्योपासक मगी (मग) इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकेंगे तथा उन्हें आमन्त्रित किया जाय। अस्तु, साम्ब का निमंत्रण पाने पर ईरान से अठारह मग परिवार भारतवर्ष आए तथा उप-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

र्युक्त सूर्य-मन्दिर में उन्होंने पौरोहित्य कर्म प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में इनकी सन्ततियाँ भारतीय वर्ण-व्यवस्था में मिल गईं। इन्हीं के द्वारा शाकद्वीपी (आधुनिक सकलदीपी) ब्राह्मणों का उद्गम हुआ था। इनके आगमन के उपरान्त भारतवर्ष में सूर्य-मन्दिर-निर्माण तथा सूर्य-पूजा विशेष रूप से लोकप्रिय हो गई थी।

गुप्त-काल से सूर्य-पूजा के प्रमाण अधिक मिलने लगते हैं। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के प्रारम्भ में सूर्य की स्तुति की है। स्कन्दगुप्त-कालीन इन्दौर (इन्द्र-पुर) का लेख सूर्योपासना से प्रारम्भ होता है। इस लेख के अनुसार इस स्थान पर एक सूर्य-मन्दिर (प्रतिष्ठापितक-भगवते सवित्रे) वर्तमान था, जिसे देव-विष्णु नामक चतुर्वेदी ब्राह्मण ने दान दिया था। कुमारगुप्त (द्वितीय)-कालीन मन्दसोर-प्रशस्ति (मालव-संवत् ५२९-४७२ ई०) भी सूर्य-स्तुति से ही प्रारम्भ होती है। इसके अनुसार मालवा के दशपुर (आधुनिक दसोर अथवा मन्दसोर) में एक सूर्य-मन्दिर (दीप्तरश्मि-भवन) वर्तमान था। इसका निर्माण इस नगर में रहने वाली जुलाहों की समिति(पट्टवाय-श्रेणी) ने मालव-संवत् ४९३ (४३६ ई०) में कराया था। इसके सदस्यों ने अपने शिल्प के द्वारा प्राप्त समस्त धन इसके निर्माण में लगा दिया था।[1] लगभग छत्तीस वर्ष बीतने पर इस मन्दिर का एक भाग टूट गया। फलतः इसके जीर्णोद्धार का प्रश्न सामने आ गया। मन्दसोर के उक्त लेख द्वारा पता चलता है कि दशपुर की उसी पट्टवाय-श्रेणी ने मालव-संवत् ५२९ (४७२ ई०) में इस सूर्य-मन्दिर (भानुमतो गृहम्) का जीर्णोद्धार किया था:—

"स्वयशोवृद्धये सर्व्वमित्युदारमुदारया ।
संस्कारितनिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम् ॥"

स्कन्द पुराण के अनुसार मूलस्थान (मुलतान) में एक सूर्य-मन्दिर था —

"ततो गच्छेन्महादेवि मूलस्थानमिति श्रुतम् ।
देविकायास्तटे रम्ये भास्करं वारितस्करम् ॥"

(प्रभासक्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय २७८)

मुलतान के इस मन्दिर का उल्लेख चीनी यात्री य्वान्-च्वांग ने भी किया

---

१. "शिल्पवाप्तैर्द्धन-समुदयैः पट्टवायैरुदारं
श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारितं दीप्तरश्मेः"

—सरकार दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है । वह लिखता है कि सिन्ध से १५० मील (६०० ली) की यात्रा करने के पश्चात् सिन्धु नदी को पार कर वह मूलस्थान (मोउ-लो-सन-पु-लु) देश पहुँचा । इसकी परिधि ७०० मील (४००० ली) तथा इसकी राजधानी की परिधि ५ मील (३० ली) थी । यहाँ की भूमि उपजाऊ एवं जलवायु नम थी । इसके निवासी सत्यवादी, चरित्रवान् तथा विद्यासंपन्न थे । बौद्ध मतावलम्बियों की संख्या थोड़ी थी । केवल दस ही मठ थे ।वे भग्नावशेष को प्राप्त हो चुके थे । वहाँ उस समय एक सूर्य-मन्दिर वर्तमान था । इसके भीतर एक सुवर्णजटित प्रतिमा स्थापित की गई थी । यह चामत्कारिक एवं अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न मानी जाती थी । दूर देशों में भी इसका काफी नाम था। इस मन्दिर में पूरी रात रोशनी जलती रहती थी । मन्दिर का वातावरण धूप एवं विविध सुगन्धियों से सुवासित रहता था । यहाँ पर भारतीय सम्राट् आकर सूर्यदेव की मूर्त्ति का दर्शन करते और उसे बहुमूल्य भेंट चढ़ाते थे । पूजा करने वालों की भीड़ वहाँ निरन्तर बनी रहती थी । इस देवालय के चतुर्दिक् सरोवर एवं उपवन आदि थे, जिनसे इसका दृश्य नितान्त अनुपम था । इसके आसपास विश्रामगृह बने थे, जहाँ रुग्ण एवं असहाय व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र एवं औषधियाँ निःशुल्क मिला करती थीं (वाटर्स, २,२५४) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

[ख] भारतवर्ष एवं मध्य-एशिया

भूमिका—चीन, भारत तथा ईरान के बीच मध्य-एशिया की भौगोलिक स्थिति उसे प्रारम्भ से ही इन स्रोतों से समय-समय पर आने वाले विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों का केन्द्र बनाये रही है। इस क्षेत्र की आदिम जातियों का सम्बन्ध चीन की सीमा पर रहने वाली बर्बर जातियों से था। शाखामनीषी सम्राटों द्वारा पारसीक साम्राज्य की स्थापना होने पर मध्य-एशिया का अधिकांश भाग इसके क्षत्रप-शासित प्रदेश में परिणत हो गया। इसे जीतने में ही मैस्सागेटी नामक जाति द्वारा साइरस की हत्या की गयी थी और दारा प्रथम को मार्जियाना के विद्रोह (५२२ ई० पू०) को कुचलने में सबसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। मध्य-एशिया में पारसीक शासन की स्थापना के साथ ही भारत से इसके प्रथम सम्पर्क का प्रारम्भ माना जा सकता है, क्योंकि हिंदु, गान्धार और सतगु जैसे भारतीय प्रदेश भी बहिस्तुन-अभिलेख के अनुसार ईरानी साम्राज्य के अंग थे।

सिकन्दर का आक्रमण जिसके समक्ष सम्पूर्ण पारसीक साम्राज्य बालू की दीवाल के तुल्य ढह गया था, विश्व-इतिहास की एक युग-प्रवर्तक घटना थी। इसने मध्य-एशिया और भारत दोनों को अछूता न छोड़ा। सिकन्दर के जीवन-काल में ही उसका साम्राज्य भारत और मध्य-एशिया के बीच सम्पर्क का एक माध्यम बना रहा। उसकी मृत्यु के बाद भारत तो चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में स्वतन्त्र हो गया परन्तु ईरान एव मध्य-एशिया उसके सेनापति और एशियाई उत्तराधिकारी सिल्यूकस के साम्राज्य के अंग बन गये। कालान्तर में ईरान एवं मध्य-एशिया के दोनों ही प्रान्त क्रमशः पार्थिया और बैक्ट्रिया के नाम से स्वतंत्र हो गये। भारत के मौर्य-साम्राज्य की सीमा सिल्यूकस द्वारा समर्पित एरिया, अराकोशिया, जेड्रोशिया एवं पैरोपनीसडाई के प्रान्तों के फलस्वरूप बैक्ट्रिया एवं पार्थिया के भावी राज्यों की सीमाओं को स्पर्श करने लगी। बैक्ट्रिया का उत्तरी-पूर्वी विस्तार उस समय सम्भवतः ख्वारिज्म और फर्गना को छोड़कर समस्त मध्य-एशिया तक था। बैक्ट्रिया का यह राज्य जो सिकन्दर द्वारा बसाये गये ग्रीक उपनिवेशों के माध्यम से विकसित था, मौर्य-साम्राज्य के पतन के अनन्तर प्रधानता और महत्त्व को प्राप्त हुआ।

पुष्यमित्र शुंग की समकालीनता में बैक्ट्रिया के यवनों ने भारत पर आक्रमण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया तथा काबुल-घाटी और पंजाब के क्षेत्र में बैक्ट्रियन शासन की नींव डाली। यह मध्य-एशिया और भारत के राजनीतिक सम्बन्धों की दूसरी कड़ी थी। किन्तु भारत पर अधिकार जमाने के साथ-साथ यवनों के पैर बैक्ट्रिया तथा मध्य-एशिया से उखड़ गये। उन्हें सीर तथा आमू दरिया के क्षेत्र से आने वाले शकों ने उन्मूलित कर दिया और वे स्वयं भी चीन की मंगोलियाई सीमा से आने वाली यू-ची जाति द्वारा भगा दिये गये। यू-ची लोगों ने ही आगे चल कर भारत में कुषाण-साम्राज्य की नींव डाली जिसका विस्तार एक ओर यदि मध्य-एशिया को आत्मसात किये हुए था तो दूसरी ओर उत्तरी भारत के अधिकांश भाग को भी। यह साम्राज्य रोम,चीन तथा भारत के बीच व्यापार का एकमात्र माध्यम था। यही कारण था कि व्यापार के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का भी मध्य-एशिया में प्रवेश सम्भव हो सका।

साहित्यिक स्रोतों के आधार पर विद्वानों का यह अनुमान था कि मध्य-एशिया के साथ भारत के घनिष्ठतम सम्पर्क सर्वप्रथम कुषाणकाल में ही स्थापित हुए, जब कि विशाल 'सिल्क-पथ' के माध्यम से चीन के व्यापारिक माल रोम पहुँचाये जाते थे। भारतीय सामान भी इसी व्यापारिक मार्ग से चीन एवं रोम पहुँचता था तथा इन व्यापारियों के साथ ही साथ महायान बौद्ध धर्म के प्रचारक भी अपना सन्देश; संस्कृति और धर्म-ग्रन्थ लेकर मध्य-एशिया एवं चीन पहुँचे। मध्य-एशिया में बौद्ध धर्म और उनके प्रचारकों का कितना आदर हुआ, इसका ज्ञान स्थानीय भाषाओं में अनूदित अनेक संस्कृत-ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों की प्राप्ति तथा इस प्रदेश में स्थापित बौद्ध संघारामों के विषय में उपलब्ध साहित्यिक उल्लेखों द्वारा प्राप्त होता है। किन्तु हाल में होने वाले सोवियत पुरातत्त्वीय अन्वेषणों एवं उत्खननों के फलस्वरूप भारत और मध्य-एशिया के बीच होने वाले इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कतिपय मूर्त्त उदारहण भी प्राप्त हुये हैं। तेरमेज़ के निकट ऐरताम नामक गाँव से २० फीट ऊँचा एवं २३ फीट लम्बा पत्थर का एक ऐसा चित्र-फलक प्राप्त हुआ है जिस पर स्त्री और पुरुष संगीतज्ञों तथा उपहार लिये हुये उपासकों की आकृतियाँ अंकित हैं। इनका आकार-प्रकार तथा चित्रण-शैली पूर्णतया भारतीय और कुषाणकालीन है। तेरमेज़ में शेलिना नामक एक सोवियत पुरातत्त्ववेत्ता ने कड़ातेपे की पहाड़ी पर कन्दरा के रूप में काटे गये एक प्राचीन बौद्ध विहार को खोज निकाला जिसके उत्खनन द्वारा भारतीय प्रभाव के परिचायक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। दक्षिणी उज़्बेकिस्तान के खलचयन नामक स्थान से प्राप्त एक प्राचीन नगर के ध्वंसावशेष की खुदाई में पकी मिट्टी का एक ऐसा चित्र-फलक प्राप्त हुआ है जिस पर नोकदार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

टोपी और जूता पहने हुए एक दाढ़ीदार आदमी को सिंहासनारूढ़ दिखाया गया है। उसके पार्श्व में इसी वेशभूषा में एक छोटा चित्र भी मिलता है जो सम्भवतः युवराज का था। चित्र की आकृति और वेशभूषा मथुरा से मिली हुई विम कैड-फिसीज़ की मूर्त्ति से बहुत अधिक साम्य रखती है। सुर्ख कोटल में भी ऐसा ही एक चित्र प्राप्त हुआ है जिसे श्लम्बर्गर महोदय ने बौद्ध धर्म की अनुयायिनी कला के साथ-साथ कुषाणकालीन राजकीय कला का भी एक उदाहरण माना है। ख्वारिज़्म में तोप्राककाला, सोग्डियाना में तालीबार्जू तथा अन्य विभिन्न स्थानों पर प्राप्त कुर्गान-समाधियों से ऐसी ही अनेक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं जिनसे मध्य-एशिया की संस्कृति पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

कुषाणों के अनन्तर और हूण-आक्रमणों के पूर्व मध्य-एशिया अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया जिनके शासक स्थानीय जातियों के लोग तो थे किन्तु वे मध्य-एशिया के जनसाधारण में प्रविष्ट बौद्ध धर्म तथा भारतीय प्रभाव को स्वीकार करते थे। इन स्वतन्त्र राज्यों में काशगर (शैलदेश), यार-कन्द, खोतान, शानशान, तुर्फान, कूची, करसहर (अग्निदेश) आदि की गणना प्रमुख रूप से की जा सकती है। इनके साथ भारतीय सम्बन्धों की घनिष्ठता के अनेक प्रमाण एवं परम्पराएँ प्राप्त होती हैं, जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

सम्बन्ध का सामान्य परिचय—पूर्वी तुर्किस्तान के दक्षिणी राज्यों एवं भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम भाग के बीच वाणिज्य-सम्पर्क था जिसके कारण इनमें भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई। गुप्तकाल में बौद्ध धर्म के द्वारा सम्पूर्ण पूर्वी तुर्किस्तान प्रभावित हुआ। इसके पूर्व यहाँ के विभिन्न राज्यों में खरोष्ठी लिपि प्रचलित थी। पर गुप्तकाल में इनमें भारतीय लिपि को विकसित होने के लिये अवकाश प्राप्त हुआ। काशगर, खोतान तथा शानशान में इस समय उत्तरी भारतवर्ष की ब्राह्मी लिपि का भी प्रयोग होता था। इन राज्यों में शिष्ट वर्ग में संस्कृत भाषा का भी प्रचार हुआ। फाहियान के अनुसार इनके निवासी भारतीय पुस्तकों का अध्ययन करते तथा भारतवर्ष की भाषा को सीखते थे। पूर्वी तुर्कि-स्तान के बौद्ध भिक्षु संस्कृत में लिखे हुये बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन करते थे। यहाँ पर कई स्थानों से बौद्ध रचनाओं की प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी भाषा संस्कृत है।

यहाँ कई बौद्ध ग्रन्थों की हस्तलिपियाँ एक ओर भारतीय लिपि तथा दूसरी ओर स्थानीय लिपि में प्रस्तुत की गई थीं। कुछ भारतीय ग्रन्थ स्थानीय भाषाओं में अनुवादसहित प्राप्त हुये हैं। काश्मीर एवं गंधार के बौद्ध विद्वानों ने वहाँ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाकर इस धर्म का प्रचार किया। पूर्वी तुर्किस्तान में बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के प्रचार का वास्तविक श्रेय इन्हीं विद्वानों को है। तृतीय शताब्दी में खोतान का गोमती विहार बौद्ध अनुशीलन का सबसे प्रधान केन्द्र था। २६० ई० के लगभग चीन का चु-शे-हिंग नामक भिक्षु इस विहार में अध्ययनार्थ आया हुआ था। फाहियान के अनुसार इसमें भारतीय बौद्ध भिक्षु अध्यापन का कार्य करते थे। वह लिखता है कि यहाँ पर 'सिं-क्यू-किंग-शेंग' नामक एक चीनी राजकुमार भारतीय आचार्यों से बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ने के निमित्त आया हुआ था। डॉ० बागची के अनुसार खोतान का गोमती विहार बौद्ध अनुशीलन का एक भारतीय केन्द्र समझा जाता था।[1]

पूर्वी तुर्किस्तान में भारतीय चिकित्साशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ आदर्श माने जाते थे। यहाँ विविध स्थानों से कई भारतीय चिकित्सा-ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं। इनमें से कुछ का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। उदाहरणार्थ कुचर की प्राचीन भाषा में एक भारतीय चिकित्सा-ग्रन्थ का अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। यहाँ की तक्षण-कला पर उत्तर-पश्चिम भारत की गंधार-शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस क्षेत्र से प्राप्त बौद्ध मूर्त्तियाँ भारतीय प्रतिमाओं का स्मरण दिलाती हैं। यहाँ के भित्ति-चित्रों एवं भारतीय भित्ति-चित्रों में साम्य परिलक्षित होता है।

भारतीय स्तूपों के आदर्श पर निर्मित स्तूपों के उदाहरण भी यहाँ से उपलब्ध हुये हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं के द्वारा पूर्वी-तुर्किस्तान के विविध स्थानों से भारतीय भाषा एवं लिपि में लिखे हुये कई प्राचीन राजकीय लेख प्रकाश में लाये गये हैं। काष्ठ-पट्टिकाओं के ऊपर यहाँ के सम्राटों की 'महानुअ .महरय' उपाधि अंकित मिलती है। यह 'महानुभाव महाराज' उपाधि का अनुकरण है। यहाँ के प्राचीन लेखों में कुछ नाम आते हैं, जो भारतीय नामों से साम्य रखते हैं; उदाहरणार्थ भीम, वंगुसेन, नंदसेन, शमसेन, शितक तथा उपजीव। कुछ नाम भारतीय नामों के अनुकरण प्रतीत होते हैं; उदारहरणार्थ अंगच तथा कुशनसेन। यहाँ पर गुप्तचर को चर तथा राजदूत को दूतक कहा जाता था।

उपलब्ध ग्रन्थ—पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त भारतीय ग्रन्थों में धम्मपद, उदानवर्ग तथा सारिपुत्रप्रकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धम्मपद खोतान से तेरह मील की दूरी पर एक स्थान से उपलब्ध हुआ है। बूलर महोदय का अनुमान

---

१. बागची, प्रबोधचन्द्र, इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ २४-२६ तथा रमेशचन्द्र मजूमदार, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६२७-२८.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है कि इस ग्रन्थ को कोई भारतीय भिक्षु अपने साथ तुर्किस्तान ले गया था। इसकी भाषा प्राकृत है। यह दूसरी शताब्दी की खरोष्ठी लिपि में लिखा गया है। उदानवर्ग बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवाद शाखा से सम्बन्धित है। यह ग्रन्थ भारतवर्ष में अप्राप्य था। इस दृष्टि से इसकी उपयोगिता बहुत अधिक है। यह ग्रन्थ भारतवर्ष के बाहर काफी लोकप्रिय था। इसका अनुवाद चीन, तिब्बत तथा मध्य-एशिया की कई भाषाओं में हो चुका था। सारिपुत्रप्रकरण तुर्फान से उपलब्ध हुआ है। इसका लेखक अश्वघोष था, जिसने बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द की रचना की थी।

खोतान—मध्य-एशिया के जिन भागों के साथ भारतवर्ष का विशेष रूप से सम्बन्ध था; उनमें खोतान, कूची तथा करसहर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खोतान भारतीय औपनिवेशीकरण का एक महान् केन्द्र था।[1] बौद्ध परम्पराओं के अनुसार अशोक का पुत्र कुणाल, जो कि तक्षशिला का राज्यपाल था, अपनी सौतेली माता के व्यवहारों से ऊब कर खोतान चला गया था। यहाँ पर उसने एक स्वतंत्र राजवंश की नींव डाली थी।

तिब्बत के ग्रन्थों में कुणाल को कुस्तन कहा गया है। उसके पौत्र का नाम विजितसम्भव था। इसके उपरान्त उसके सभी उत्तराधिकारियों ने अपने नाम के प्रारम्भ में विजित शब्द को धारण करना प्रारम्भ किया। खोतान के एक लेख में उसकी उपाधि 'महाराज राजाधिराज देव विजितसम्भव' आती है। उसके उपरान्त ग्यारह पीढ़ी के शासकों के अनन्तर विजितधर्म नामक नरेश सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने कई शक्तियों को परास्त किया था। बाद में चल कर उसने एक बौद्ध भिक्षु का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। विजितधर्म के उपरान्त विजितसिंह तथा विजितकीर्ति ने राज्य किया।

बौद्ध धर्म का प्रचार—फाहियान के आगमन के समय खोतान में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था। वह लिखता है कि इस देश के नागरिकों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। वहाँ पर विशेषतः महायान शाखा के अनुयायी भिक्षु रहते थे। प्रत्येक नागरिक अपने घर के सामने एक लघु 'पगोड़ा' का निर्माण करता था। यह ऊँचाई में बीस फीट तक हुआ करता था। फाहियान ने गोमती विहार का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उसके अनुसार इसके पुजारी महायान धर्म के अनुयायी थे। इसमें लगभग तीन हजार भिक्षु रहते थे। घण्टा बजते ही

---

१. मजूमदार रमेशचन्द्र, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६२८ तथा वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ३२७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वे सब भोजन के निमित्त एक स्थान पर एकत्र हो जाते थे। उनके व्यवहार में बड़ी गम्भीरता थी। वे शान्तिपूर्वक यथास्थान बैठ जाते थे। भोजन करते समय वे बोलते नहीं थे। घटने पर केवल संकेत के द्वारा ही वे खाद्यपदार्थ और जल आदि माँगते थे।

प्रतिमाओं का जलूस—फाहियान लिखता है कि खोतान में चौदह बड़े मठ बने हुये थे। इसके अतिरिक्त वहाँ छोटे मठ भी वर्तमान थे। यहाँ पर भारतीय रथयात्रा की भाँति मूर्त्तियों का जलूस निकाला जाता था। इस अवसर पर नगर के भीतर स्वच्छता की व्यवस्था की जाती थी। सड़कें भली-भाँति साफ कर दी जाती थीं। उसने गोमती विहार के प्रतिमा-जलूस का रोचक वर्णन किया है। वह लिखता है कि नगर से कुछ दूर चार पहिये के रथ को भली-भाँति सजाया जाता था। इसकी ऊँचाई तीस फीट होती थी। इसके ऊपर गौतम बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा रखी जाती थी। उसके दोनों ओर बोधिसत्वों की मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं। ये प्रतिमायें सोने और चाँदी की बनी होती थीं। जब रथ नगर से से केवल १०० कदम दूर रहता था, उस समय सम्राट् बिना मुकुट एवं जूता पहने हुये समीप आकर गौतम बुद्ध की मूर्त्ति की आरती उतारता एवं पुष्पाञ्जलि अर्पित करता था।

मठ—फाहियान ने अपने यात्रा-विवरण में 'सम्राट् के नये मठ' का उल्लेख किया है। उसके अनुसार तीन पीढ़ी के राजाओं ने इसका निर्माण अस्सी वर्षों में किया था। यह २५० फीट ऊँचा था।

हस्तलिपियाँ—भारतवर्ष से चीन जाने वाले बौद्ध प्रचारकों ने लिखा है कि खोतान में संस्कृत की कुछ ऐसी हस्तलिपियाँ वर्तमान थीं; जो कि भारतवर्ष में अनुपलब्ध थीं। ४३३ ई० में धर्मक्षेत्र नामक एक भारतीय विद्वान् महायान शाखा के 'महापरिनिर्वाणसूत्र' की हस्तलिपि की प्राप्ति के लिये खोतान गया था, क्योंकि यह ग्रन्थ उस समय भारतवर्ष में अनुपलब्ध था। खोतान के पार्श्ववर्ती स्थानों (उदाहरणार्थ योत्कन, रवाक तथा निय) से भी बौद्ध ग्रन्थों की हस्तलिपियाँ तथा इस धर्म से सम्बन्धित प्रतिमाएँ एवं चित्रकारियाँ प्राप्त हुई हैं।

कूची (आधुनिक कूचा)—जिस प्रकार मध्य-एशिया के दक्षिणी भाग में खोतान भारतीय सभ्यता का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र था उसी प्रकार इसके उत्तरी भाग में कूची की ख्याति सर्वश्रेष्ठ थी। वहाँ के नरेश भारतीय नाम धारण करते थे; उदाहरणार्थ सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव तथा सुवर्णदेव। लगता है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कि भारतवर्ष के लोग कूची में भी बसे हुए थे। उन्होंने स्थानीय निवासियों के साथ अपना विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया।

कुमारायण—भारतवर्ष से कूची आने वाले व्यक्तियों में सबसे प्रसिद्ध कुमारायण थे। वे एक सचिव-परिवार के सदस्य थे। उन्होंने भावी सचिव-पद के आकर्षण का परित्याग कर धार्मिक जीवन बिताना प्रारम्भ किया। इस रूप में वे कूची के सम्राट् के पास आये। वह उनकी प्रतिभा से प्रभावित हो उठा। वे वहाँ पर राजगुरु नियुक्त किये गये। वहाँ पर जीवा नामक राजकुमारी के साथ उनका प्रेम हो गया। इस कारण उसके साथ इन्हें अपना विवाह करना पड़ा। उससे इन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि कुमारजीव के नाम से विश्व-इतिहास में प्रख्यात है। उनका यह नाम पिता एवं माता के नाम के आधार पर पड़ा था।

प्रारम्भ से ही कुमारजीव की प्रतिभा प्रखर थी। जीवा ने इनके विद्या-व्यसन को देख कर इन्हें उच्च शिक्षा देना चाहा। अपने द्वितीय पुत्र पुष्यदेव के जन्म के अनन्तर जीवा भिक्षुणी हो गई। वह कुमारजीव को लेकर काश्मीर आई। वहाँ पर उन्होंने बुधदत्त नामक एक विद्वान् से आगमों एवं अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। तदनन्तर उन्होंने काशगर में चारों वेद तथा ब्राह्मण-दर्शन एवं ज्योतिष में उच्च ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने महायान बौद्ध धर्म में दीक्षा प्राप्त की तथा नागार्जुन एवं आर्यदेव जैसे महायान आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे कूची लौट आये और वहाँ एक मठ में भिक्षु-जीवन व्यतीत करने लगे।

वहाँ पर कुमारजीव से शिक्षा प्राप्त करने के लिये मध्य-एशिया के विभिन्न भागों से लोग आये। पूर्वी तुर्किस्तान में बौद्ध धर्म के प्रचार के निमित्त उन्होंने महत्त्वपूर्ण चेष्टाएँ कीं। इसी समय कूची के ऊपर एक चीनी आक्रमण हुआ। वहाँ का सम्राट् पराजित हो गया। कई लोग बन्दी बनाये गये, जिसमें कुमारजीव भी थे। कालान्तर में चीन के सम्राट् ने उनकी प्रतिभा को समझा और उन्हें सम्मान प्रदान किया। उनकी मृत्यु चीन में ४१३ ई० में हुई।

बौद्ध स्मारक—चीनी साधनों के अनुसार कूची में चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में कई स्तूप एवं बौद्ध देवालय बने हुए थे। प्रथम चिन् वंश के इतिहास में कूची में बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में निम्न कथा आती है—

"कूची के राज्य में अनेक मठ विद्यमान थे। उनका सौन्दर्य उत्कृष्ट कोटि का था। राजप्रासाद के सामने गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा स्थापित की गई थी। वहाँ के तमु नामक मठ में १७० भिक्षु रहते थे। उत्तर की पहाड़ी पर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

वर्तमान चेलि नामक मठ में ५० भिक्षु रहते थे। कियेनमु नामक सम्राट् के नवीन मठ में ६० भिक्षु रहते थे। वेनसु के शासक के मठ में ७० भिक्षु थे। ये चारों मठ बुद्धस्वामी के निर्देश द्वारा संचालित होते थे। इन मठों के भिक्षु प्रत्येक तीन महीने के उपरान्त अपने कमरे को बदल देते थे। दीक्षा के पाँच वर्ष उपरान्त वे राजकीय मठ में एक रात भी न रुक सकते थे। यहाँ के एक मठ में कुमारजीव नामक भिक्षु रहते थे, जिनकी योग्यता उच्च कोटि की थी। उन्होंने महायान धर्म के समस्त ग्रन्थों का अनुशीलन किया था। बुद्धस्वामी उनके शिक्षक थे।"

"एलि के मठ में १८० भिक्षुणियाँ, लिअन-जो-कन के मठ में ५० भिक्षुणियाँ तथा ए-लि-पो के मठ में ३० भिक्षुणियाँ रहती थीं। ये तीनों मठ भी बुद्धस्वामी के पर्यवेक्षण के अन्तर्गत आते थे। भिक्षुणियों को शिक्षा नियमित रूप से दी जाती थी। बाहरी देशों के नियमों के अनुसार भिक्षुणियों को स्वशासन का अधिकार नहीं प्राप्त था। इन मठों में पामीर के पूर्व के राजाओं एवं राजकुमारों की स्त्रियाँ एवं बहनें भी भिक्षुणी के रूप में रहती थीं। वे इन मठों में ज्ञानार्जन के निमित्त सुदूर भागों से आती थीं। इन मठों का नियम कड़ा था। उन्हें इनका पालन करना पड़ता था। वे प्रत्येक तीन महीने के उपरान्त अपने कमरे को बदल देती थीं। केवल तीन प्रधान भिक्षुणियों को छोड़कर अन्य को बाहर जाने की अनुमति नहीं थी। उन्हें धर्म के लगभग पाँच सौ नियमों का पालन करना पड़ता था।"

भारतीय अनुशीलन—कूची में संस्कृत के ग्रन्थों का भी पठन-पाठन होता था। यहाँ पर कातंत्रपद्धति के अनुसार लोग व्याकरण पढ़ते थे। ज्योतिष एवं चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों का यहाँ पठन-पाठन होता था। कूची एक ऐसा महत्त्व-पूर्ण केन्द्र था, जिसके माध्यम से बाहरी देशों में बौद्ध धर्म का संतोषजनक प्रचार किया गया।[1]

करसहर—यह भी भारतीय सभ्यता के प्रसरण का एक विशिष्ट केन्द्र था। इसका प्राचीन नाम अग्नि-देश था। इसके नरेश भारतीय नाम धारण करते थे; उदाहरणार्थ इन्द्रार्जुन तथा चन्द्रार्जुन। कूची के समान यह प्रदेश भी चीन में बौद्ध धर्म के प्रसरण का माध्यम था।

---

१. द्रष्टव्यः—रमेशचन्द्र मजूमदार, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६२७-३०; वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ ३२९-३३३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बज़्क्लिक—यह भी बौद्ध धर्म का एक केन्द्र था। इसमें कई देवालय बने हुये थे, जिनकी भित्तियों के ऊपर भिक्षुओं के चित्रों का निर्माण किया गया था। इन चित्रों में भारतीय भिक्षु पीत वस्त्र धारण किये हुये प्रदर्शित किये गये हैं। इन चित्रों के नीचे उनके नाम ब्राह्मी लिपि में उल्लिखित मिलते हैं। अन्य भिक्षुओं के नाम स्थानीय लिपि में लिखे गये हैं। यहाँ भित्तियों के ऊपर गणेश एवं कुबेर के भी चित्र बनाये गये थे[1]।

●●

१. क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६३०;
वाकाटकक-गुप्त एज, पृष्ठ ३३३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

[ग] भारतवर्ष एवं दक्षिण-पूर्व-एशिया

दक्षिण-पूर्व-एशिया—जिसमें वर्मा, स्याम, कम्बोडिया, विएतनाम तथा इण्डोनेशिया जैसे आधुनिक देशों की गणना होती है, चीन और भारत उपमहाद्वीपों के बीच स्थित है। इण्डोनेशिया को छोड़कर सभी देशों का सामूहिक विस्तार हिन्द महासागर में दूर तक घुसे हुए एक विशाल प्रायद्वीप के रूप में है जिसके पूरब में प्रशान्त महासागर का अनन्त विस्तार है। इस प्रायद्वीपीय भाग के दक्षिण, हिन्द महासागर से लेकर फिलीपाइन द्वीप-समूह तक प्रशान्त महासागर में फैलने वाले अनेक छोटे-बड़े समुद्रीय द्वीपों की शृंखला ही वस्तुतः आधुनिक इण्डोनेशिया का निर्माण करती है। मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो एवं बाली आदि इस देश के प्रमुख द्वीप हैं। उत्तर से दक्षिण की ओर प्रसरित पर्वत-मालाएँ और उनके समानान्तर ही अवस्थित नदी-घाटियाँ तथा पठारों ने प्रायद्वीपीय दक्षिण-पूर्वी एशिया को प्राकृतिक पार्थक्य के माध्यम द्वारा प्रारम्भ से ही उन विविध विभागों में बाँट रखा था, जो आज इस क्षेत्र के विभिन्न देशों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। द्वीपीय भाग मध्यवर्ती पहाड़ी और छोटी-छोटी नदियों से युक्त तटवर्ती मैदानों के एक जैसे भूगोल का दिग्दर्शन कराता है। वनस्पतियों से हरे-भरे तथा घने जंगलों से आच्छादित इन द्वीपों की उष्ण कटिबन्ध में स्थिति समुद्र में तैरते हुए नीलम के टुकड़ों की भाँति इन्हें आकर्षक एवं रमणीय बना देती है।

भाषा एवं शारीरिक गठन की दृष्टि से इन देशों की जनसंख्या भारत की अपेक्षा चीन के अधिक निकट है। प्रागैतिहासिक मानव की जो भी सामग्री इन देशों से प्राप्त हुई है उसका सादृश्य भारत के प्रागैतिहासिक उपकरणों से न हो कर तत्युगीन चीनी उपकरणों के ही साथ है। अतः भारत की अपेक्षा चीन से इन देशों का सम्बन्ध अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। उत्तर-पाषाण-काल तक इन देशों की सभ्यता चीनी तथा स्थानीय तत्त्वों का एक सम्मिश्रण-मात्र थी। भारतीय या अन्य किसी विदेशी सभ्यता का प्रभाव अभी यहाँ नहीं पहुँच पाया था। दक्षिण-पूर्व-एशिया के लोग, इस प्रकार अभी सांस्कृतिक विकास की उत्तर-पाषाणकालीन अवस्था में ही थे, जब कि प्राकृतिक निधियों और नवीन बाज़ारों की तलाश में भारत के दुस्साहसी युवा व्यापारी भारतीय संस्कृति और सभ्यता को लेकर वहाँ पहुँचे। इस प्रकार पहुँचने वाले भारतीय प्रभाव ने वहाँ एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकार की क्रान्ति का सूत्रपात किया। शीघ्र ही उत्तर-पाषाण-काल की जड़ता टूटी और दक्षिणी-पूर्वी-एशिया के विभिन्न भाग क्रमशः नगरों, मन्दिरों, बाज़ारों तथा सशक्त सैनिक-राज्यों की स्थापना से मुखरित हो उठे एवं जीवन ने एक नयी दिशा पायी। जड़ता और ग्रामीणता नष्ट हो गयी तथा कोरे कागज पर लिखे हुए अंकों की भाँति भारतीय धर्म, विश्वास, भाषा, रहन-सहन आदि दक्षिणी-पूर्वी एशियाई जनता के प्रबुद्ध वर्ग में सरलता के साथ प्रविष्ट हुए और देखते ही देखते इन उजाड़ एवं पिछड़े हुए देशों का भारतीयकरण हो गया। किन्तु नगरों से दूर और जनसंख्या के प्रबुद्ध वर्गों से अलग ग्रामीण वातावरण में उत्तर-पाषाणकालीन संस्कृति का मौलिक स्वरूप अब भी वर्तमान रहा और उसी ने सम्भवतः भारतीय प्रेरणा से बनने वाले स्वरूपों में स्थानीयता का वह तत्त्व डाल दिया, जो भारतवर्ष के विशुद्ध स्वदेशी निर्माणों में अप्राप्य है। इन देशों में फैलने वाले भारतीय धर्मों में नाना अन्धविश्वासों और विचित्र देवी-देवताओं एवं पूजन-विधियों का समावेश शायद इसी पिछड़े हुए वर्ग की रुचि को ध्यान में रख कर किया गया। भारतीयकरण की यह प्रक्रिया सदियों तक चलती रही तथा अनेक मन्दिरों, स्तूपों, संस्कृत-प्रशस्तियों और हिन्दू नामों से युक्त राजाओं एवं राजवंशों के रूप में इसने इन देशों में अपने चिन्ह भी छोड़े। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ की तिथि तो निश्चित नहीं है तथापि ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास यह मानी जाती है। इसका अवसान व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में अरब-व्यापारियों के हाथ ईसा की बारहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। यही कारण है कि आज का दक्षिण-पूर्व-एशिया और विशेष कर इण्डोनेशिया एक मुस्लिम क्षेत्र है यद्यपि भारतीयता के बहुत सारे अवशेष अब भी जन-जीवन के इस्लामी मुलम्मे के नीचे से झाँकते हुए देखे जा सकते हैं।

अनेक साहित्यिक एवं पुरातत्त्व प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस देश की उज्ज्वल संस्कृति सदियों से दक्षिण-पूर्व-एशिया को प्रकाशित करती रही है। वहाँ पर हिन्दू राज्यों की स्थापना तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसरण हमारे देश के इतिहास का स्वर्णिम परिच्छेद कहा जा सकता है। बर्मा, मलाया, स्याम, अनाम, लाओस, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो के उत्कीर्ण लेखों एवं साहित्यिक साधनों के द्वारा ईसा की निकटतम शताब्दियों में इनमें हिन्दू औपनिवेशिक राज्यों की स्थापना के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मातृभूमि से हजारों मील दूर बस कर हिन्दू उपनिवेशिकों ने अपने देश की पुण्य स्मृति को अक्षुण्ण बनाने के निमित्त वहाँ के कई केन्द्रों का भारतीय नाम रखा;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. Inc. (USA)

उदाहरणार्थ, अयोध्या, कौशाम्बी, द्वारावती, मथुरा, चम्पा, कलिंग, कम्बुज तथा गंधार ।

मार्ग—ऐतिहासिक काल में दक्षिण-पूर्व-एशिया जाने के लिये लोग अधिकतर ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से जाते थे । फाहियान भारत से लौटते समय यहीं पर जहाज में बैठा था । पेरिप्लस और टालमी के अनुसार हमारे देश के वणिक् जलमार्ग के द्वारा ताम्रलिप्ति से पलोरा होते हुए मलय प्रायद्वीप तक जाते थे । इसके अतिरिक्त अंडमन एवं निकोबार द्वीप से होकर एक सीधा रास्ता मलाया की ओर जाता था । स्थल-मार्ग के द्वारा लोग बंगाल, मनीपुर, आसाम, तथा बर्मा से होकर पूर्वी द्वीप-समूह की ओर जाया करते थे ।

सम्बन्ध की प्राचीनता—भारतवर्ष और दक्षिण-पूर्व-एशिया के पारस्परिक सम्बन्ध की प्राचीनता के विषय में कुछ साहित्यिक एवं पुरातत्व-सामग्री उपलब्ध होती है । अर्थशास्त्र में जनसंख्या के भार को संतुलित करने के निमित्त जनता को नवीन केन्द्रों में स्थानांतरित करने का सुझाव दिया गया है । इससे प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही लोग बाहर जाने लगे थे । जातक, मिलिन्दप्रश्न तथा बृहत्कथा समुद्रयात्रा की कथाओं से परिपूर्ण हैं । सिलवाँ लेवी ने 'निद्देश' में आये हुये संस्कृत नामों की एकता दक्षिण-पूर्व-एशिया के विभिन्न स्थानों से की है । टालमी के भूगोल में दक्षिण-पूर्व-एशिया के जिन स्थानों के नाम आते हैं, वे संस्कृत में हैं । चीनी साधनों के अनुसार जावा में हिन्दू राज्य की स्थापना प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो चुकी थी ।

चीन के इतिहासकारों के अनुसार एक ब्राह्मण ने फूनन के हिन्दू-राज्य की नींव प्रथम शताब्दी ईसवी में डाली थी । कालिदास ने पूर्वी द्वीपसमूह को द्वीपान्तर कहा है । उनके अनुसार हमारे देश के व्यापारी वहाँ से मसाले लाते थे—

"अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानी तलवंगपुष्पैरपाकृतास्वेदलवा मरुद्भिः ॥"
(रघुवंश)

सुमात्रा, स्याम, अनाम, बोर्नियो एवं पूर्वी जावा में अमरावती शैली में निर्मित मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं । इनका निर्माण पाँचवीं शताब्दी के पूर्व हो चुका था । हिन्द चीन में दक्षिणी अनाम के वोचन्ह नामक स्थान से संस्कृत का सबसे प्राचीन लेख एक प्रस्तरखंड पर उत्कीर्ण मिला है । लिपि के आधार पर इसका

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समय तृतीय शताब्दी निश्चित की गई है। मध्य स्याम के पांगतुक नामक स्थान पर एक मन्दिर के चबूतरे का निर्माण अमरावती-शैली में किया गया था। इसके साथ द्वितीय शताब्दी का एक कांस्यनिर्मित दीप तथा अमरावती शैली में निर्मित एक बुद्ध-प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है। पश्चिमी कोचीन के एक स्थान से प्राप्त ताबीज़ के ऊपर ब्राह्मण धर्म के प्रतीकों की आकृतियाँ उत्कीर्ण मिलती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ स्वर्णाभूषण भी मिले हैं, जिन पर द्वितीय शताब्दी की भारतीय लिपि में लेख उत्कीर्ण हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी तक भारतवर्ष एवं दक्षिण-पूर्व-एशिया के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

उपनिवेशों की स्थापना के कारण—इस औपनिवेशिक प्रसार के सम्बन्ध में विभिन्न कारणों का निर्देश किया जाता है। एक मत के अनुसार अशोक के कलिंग-युद्ध से त्रस्त लोगों ने भाग कर दक्षिण-पूर्व-एशिया में शरण लिया, जिसके फलस्वरूप वहाँ हिन्दू-उपनिवेशों का श्रीगणेश हुआ। एक अन्य मत के अनुसार ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में बाह्य आक्रमणों के कारण हमारे देश की एक विशाल जनसंख्या को मातृभूमि छोड़कर विदेश में शरण लेनी पड़ी। समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित राजाओं ने भी दक्षिण-पूर्व-एशिया के देशों में शरण लिया होगा।

फ्रांसीसी विद्वान् कोएदीज़ का मत है कि बौद्ध धर्म के उत्थान ने भी औपनिवेशीकरण को प्रोत्साहित किया। इस धर्म ने स्पर्श्यास्पर्श्य तथा जातिप्रथा का तिरस्कार किया। ऐसी परिस्थिति में समुद्रयात्रा विशाल मापदण्ड पर सम्भव हुई। इस औपनिवेशिक प्रसार का सबसे बड़ा कारण व्यापारिक प्रलोभन था। ईसा पूर्व द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी में बहुमूल्य धातुयें साइबेरिया से आती थीं। बर्बर जातियों की कृतियों के फलस्वरूप बैक्ट्रिआ से होकर जाने वाला मार्ग असुरक्षित हो गया। परिणामतः भारतवर्ष के लोगों को बहुमूल्य धातुओं की पूर्ति के निमित्त 'सुवर्णभूमि' की ओर मुड़ना पड़ा। दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के लिये प्राचीन भारतीय साहित्य में ताम्रद्वीप, यवद्वीप, शंखद्वीप, कर्पूरद्वीप तथा नारिकेलद्वीप का उल्लेख किया गया है। इन नामों से व्यापारिक सम्बन्ध की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

ईसा की निकट शताब्दियों में भारतवर्ष में नौका-निर्माण के क्षेत्र में प्रगति हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय हिन्द महासागर में ऐसे जहाजों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, जिन पर ६०० से ७०० तक यात्री बैठ सकते थे। ईसा की प्रथम शताब्दी में हिप्पालस नामक यूनानी ने जलपोत के संचालन में मानसून

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHF.A (USA)

की महत्ता का अनुसंधान कर लिया था। यूनानी सम्पर्क के कारण भारतवर्ष के निवासियों ने भी द्वितीय शताब्दी में इसकी उपयोगिता को सीख लिया था। इस कारण जलमार्ग के द्वारा विभिन्न देशों के साथ भारतीय व्यापार में अभिवृद्धि हुई। उपलब्ध साधनों के आधार पर इस कथन को मानने में कोई ऐतिहासिक भूल न होगी कि राजाओं एवं साम्राज्यवादियों के पहले भारतीय व्यापारी ही इन देशों में आये। जिस प्रकार अंग्रेज व्यापारियों ने भारतवर्ष में समुचित वातावरण पाकर बाद में अपने राज्य की यहाँ स्थापना कर ली, उसी प्रकार कालान्तर में हमारे देश के अनेक असन्तुष्ट राजाओं तथा राजकुमारों, सामन्तों एवं राजकीय पदाधिकारियों ने यहाँ आकर अपने राज्यों को स्थापित किया। इन परिस्थितियों में दक्षिण-पूर्व-एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार को स्वर्णिम अवकाश उपलब्ध हुआ।

प्रमुख हिन्दू-राज्य—हिन्दू राज्यों में प्राचीनतम् नाम फूनन का आता है। यह राज्य कम्बोडिया में वर्तमान था। चीनी साधनों से ज्ञात होता है कि इस राज्य की स्थापना 'कौण्डिण्य' नामक एक भारतीय ने की थी। वह ब्राह्मण मतावलम्बी था। उसके आगमन के पूर्व यहाँ के लोग असभ्य थे। वे लोग नंगे रहते थे। कौण्डिण्य ने उन्हें वस्त्र पहनने के लिये बाध्य किया तथा सभ्य बनाया। उसके वंशजों ने यहाँ लगभग १०० वर्षों तक राज्य किया। चीनी साधनों के अनुसार चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फूनन में एक दूसरा 'कौण्डिण्य' नामक ब्राह्मण शासक राज्य करता था। उसने वहाँ भारतीय कानून तथा रीति-प्रथाओं को प्रचलित किया। उसके उत्तराधिकारियों में जयवर्मन् सबसे प्रसिद्ध था। उसने ५१४ ई० तक राज्य किया। ४८४ ई० में नागसेन नामक एक भारतीय साधु को उसने चीन-सम्राट् के पास भेजा था। जयवर्मन् महेश्वर का पूजक था। उसका उत्तराधिकारी रुद्रवर्मन् था। वह फूनन का अन्तिम भारतीय शासक था, जिसका नाम अब तक ज्ञात हो सका है।

द्वितीय भारतीय राज्य कम्बुज (कम्बोडिया) में वर्तमान था। परम्परा के अनुसार इसकी नींव ऋषि 'कम्बुस्वायम्भुव' नामक व्यक्ति ने डाली थी। उसी के नाम पर इसका नाम कम्बुज पड़ा। इसके प्रथम ऐतिहासिक शासक श्रुतवर्मन् तथा उसका पुत्र श्रेष्ठवर्मन् हैं, जिनके वंश के राजाओं ने कम्बुज को फूनन की अधीनता से मुक्त किया था। कम्बुज के द्वितीय ऐतिहासिक राजवंश की नींव भववर्मन् ने डाली। उसने भवपुर नामक नगर की स्थापना की थी। महेन्द्रवर्मन् तथा ईशावर्मन् नामक उसके उत्तराधिकारियों के काल में कम्बुज राज्य कोचीन-चीन तथा पूरे कम्बोडिया में फैल गया। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में शैलेन्द्रों ने कम्बुज को जीत लिया। पर कुछ काल के पश्चात् जयवर्मन् द्वितीय नामक पराक्रमी सम्राट् ने इसे उनकी अधीनता से मुक्त कर लिया।

दक्षिण-पूर्व-एशिया में हिन्दू-उपनिवेशों की स्थापना का क्रम गुप्त-काल के उपरान्त भी जारी रहा। इन्द्रवर्मन् नामक व्यक्ति ने ८७७ ई० के लगभग कम्बुज में एक अन्य भारतीय राजवंश के शासन को जन्म दिया। इस राजवंश ने ८७७ ई० से लेकर १००१ ई० तक राज्य किया। इसके नरेशों में यशोवर्मन् राजेन्द्रवर्मन् तथा जयवर्मन् पंचम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके राज्यकाल में कम्बुज-राज्य अपने अभ्युदय के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। यशोवर्मन् संस्कृत का प्रेमी था। उसने वामशिव नामक आचार्य से शिक्षा ली थी। उसके संस्कृत भाषा में लिखे हुये कई अभिलेख उपलब्ध हुये हैं। ये उत्कृष्ट काव्य-शैली के उदाहरण माने जा सकते हैं। उसने पतंजलि के महाभाष्य के ऊपर एक टीका लिखी थी। राजेन्द्र वर्मा ने चम्पा पर आक्रमण किया तथा सम्भवतः कुछ अन्य प्रदेशों को विजित किया। जयवर्मन् पंचम के उपरान्त इस राजवंश में कुछ वर्षों तक उथल-पुथल तथा आन्तरिक कलह चलता रहा।

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सूर्यवर्मन् प्रथम नामक नरेश ने कम्बुज की शक्ति का पुनरुद्धार किया। वह भाष्य, काव्य, दर्शन एवं धर्मशास्त्र का ज्ञाता था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, परन्तु उसने शैव एवं वैष्णव मन्दिरों का भी निर्माण किया। उसकी मृत्यु के अनन्तर सूर्यवर्मन् द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। वह एक पराक्रमी सम्राट् था। उसने चीन में एक राजदूत भेजा था। उसने अपने आचार्य दिवाकरमित्र की सहायता से कोटिहोम तथा लक्षहोम आदि यज्ञों का अनुष्ठान किया। वह विष्णु का अनन्य भक्त था। उसने सुप्रसिद्ध अंकोरवट का निर्माण किया। उसने चम्पा एवं अनाम के ऊपर आक्रमण किया था। वहाँ उसे प्रारम्भ में कुछ सफलता उपलब्ध हुई थी।

पूर्वी द्वीपसमूह तथा मलाया के क्षेत्र में आठवीं शताब्दी में शैलेन्द्र नामक एक प्रख्यात राजवंश का उदय हुआ, जिसने शीघ्र ही अपनी शक्ति का विस्तार कर तत्कलीन राजनीति में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इसके शासक 'महाराज' उपाधि धारण करते थे और भारत, चीन एवं अरब आदि देशों से इसका व्यापारिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध था। प्रारम्भ में इसका मुख्य केन्द्र सम्भवतः जावा का मध्यवर्ती प्रदेश था, परन्तु इसके हाथ से निकल जाने पर इसकी शक्ति आधुनिक सुमात्रा में श्रीविजय नामक प्रख्यात नगर तथा बन्दरगाह में केन्द्रित हो गई। ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिणी भारत के चोल शासकों ने हिन्द महासागर तथा बंगाल की खाड़ी के व्यापारिक मार्गों के नियंत्रण के लिये

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शैलेन्द्र वंश से घोर संघर्ष किया परन्तु इसका कोई निश्चित परिणाम न हुआ और अंततः परिस्थिति पूर्ववत् हो गई। शैलेन्द्र वंश की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डॉक्टर मजूमदार के मतानुसार यह एक भारतीय राजवंश था, जिसका सम्बन्ध सम्भवतया उड़ीसा और उसके पार्श्ववर्त्ती क्षेत्रों के गंग, शैलोद्भव अथवा शैल वंशों से रहा होगा।

जावा में शैलेन्द्रों की शक्ति के क्षीण हो जाने पर एक नवीन राज्य की स्थापना हुई। इसे इतिहासकारों ने पूर्वी जावा-साम्राज्य की संज्ञा दी है। इसका प्रमुख शासक ऐर्लंग हुआ। इसके पश्चात् यह साम्राज्य कडिरि तथा सिंहसारि नामक दो भागों में विभक्त हो गया। इन्हीं राज्यों द्वारा निर्मित नींव पर कुछ काल उपरान्त मजपहित के विशाल साम्राज्य की सृष्टि हुई। ऐर्लंग तथा उसके उत्तराधिकारियों के तत्त्वावधान में जावा में भारतीय संस्कृति, कला तथा धर्म को प्रचुर प्रोत्साहन मिला।

आधुनिक स्याम अथवा थाईलैंड में प्रारम्भ में मौन् जाति के लोग निवास करते थे, जिन्होंने बहुत कुछ अंशों में भारतीय सभ्यता को ग्रहण कर लिया था। इनके प्रमुख राज्य द्वारावती इत्यादि थे। कालान्तर में यह प्रदेश कम्बुज-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया, परन्तु तेरहवीं शताब्दी में चीन से आने वाली थाई जाति के योद्धाओं ने इस पर अधिकार कर लिया। क्रमशः थाई लोग भी यहाँ की भारतीय परम्परा से प्रभावित होने लगे और आज सम्भवतः सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व-एशिया में भारतीयता का अंश इसी प्रदेश में विद्यमान है।

बर्मा देश में भी भारतीय संस्कृति का पदार्पण बहुत प्राचीन काल में हो चुका था। प्रारम्भ में दक्षिणी बर्मा में सुधम्मवती इत्यादि भारतीय संस्कृति तथा बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। दसवीं शताब्दी के मध्य के लगभग महान् सम्राट् अनिरुद्ध के राज्यारोहण से इस देश के इतिहास में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। अरिमर्दनपुर (पेगन) के शासक अनिरुद्ध ने न केवल दक्षिणी बर्मा तथा अरकान को जीत कर प्रथम ऐतिहासिक बर्मी सार्वदेशिक साम्राज्य का निर्माण किया, अपितु उत्तरी बर्मा में सिंहलीय बौद्ध धर्म तथा भारतीय सभ्यता के अन्य तत्त्वों को भी दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करने में योग दिया। उसके क्यानजित्थ तथा नरपति सथु इत्यादि उत्तराधिकारी भी उसी प्रकार भारतीयता के पोषक थे; जिन्होंने गया के सुप्रसिद्ध बौद्ध मंदिर का जीर्णोद्धार करने में धनराशि का व्यय किया। इस वंश के राजाओं की अमर कीर्ति अरिमर्दनपुर के आनन्द मन्दिर के रूप में आज भी विद्यमान है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतीय संस्कृति का प्रभाव

शासन-प्रबन्ध—औपनिवेशिक राज्यों में शासन-पद्धति, न्याय तथा राजकीय नियमों के आदर्श भारतीय थे। राजा सर्वोत्तम पदाधिकारी माना जाता था। जावा के इन्द्रलोक तथा नीतिप्रिय नामक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वहाँ सम्राट् शासन के मामलों में सर्वोच्च होता था। उपर्युक्त पुस्तकों में राजा के कर्त्तव्यों की व्याख्या के सम्बन्ध में महाभारत तथा रामायण से कथायें दृष्टान्त के स्वरूप में प्रस्तुत की गई हैं। ये ग्रन्थ मनुस्मृति के द्वारा भी प्रभावित लगते हैं। भारतीय आदर्शों के अनुसार यहाँ भी राजत्व में देवत्व की कल्पना की गई थी। चम्पा के डोंग डुआंग नामक स्थान से प्राप्त लेख में सम्राट् को 'पृथ्वी पर निवास करने वाला देवता' कहा गया है। वहाँ राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही प्रायः उसका उत्तराधिकारी होता था। सम्राट् की सहायता के लिये सचिव हुआ करते थे। मन्त्री का पद परम्परागत हुआ करता था। उच्च राज्यकर्मचारियों को जागीरें दी जाती थीं। चम्पा के अमरावती, विजय एवं पांडुरंग नामक प्रान्तों में पदाधिकारियों को वेतन के स्थान पर जागीरें दी जाती थीं।

सम्राट् राज्य का सर्वप्रधान न्यायाधीश हुआ करता था। राजा के अधीनस्थ न्यायालय नगरों में वर्तमान होते थे। भारतवर्ष की भाँति जावा में न्यायाधीश को धर्माधिकरण कहा जाता था। सेना चार भागों में विभाजित होती थी, पैदल, हाथी, घुड़सवार तथा नौसेना। भारतवर्ष की भाँति इन देशों में हस्ति-सेना का विशेष महत्त्व था। भारतीय सेनाओं की भाँति चम्पा की सेनायें भी कई बार हाथियों के भगदड़ के कारण पराजित हुई थीं। सेना के अध्यक्ष को सेनापति अथवा महासेनापति कहा जाता था।

सामाजिक दशा

वर्णव्यवस्था—इन हिन्दू औपनिवेशिक राज्यों में हिन्दू रीति-प्रथाओं एवं सामाजिक नियमों का प्रचार था। इनके शिलालेखों का 'चतुर्वर्ण' शब्द समाज की चार जातियों को व्यक्त करता है। यहाँ अभिलेखों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों का उल्लेख हुआ है। भारतवर्ष की भाँति इनमें अन्तर्जातीय विवाह होता था। चम्पा के सम्राट् रुद्रवर्मन् के पिता ब्राह्मणवंश तथा माता क्षत्रियवंश की राजकुमारी थीं। चम्पा में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के बीच अनेक विवाह से एक नवीन जाति (ब्रह्मक्षत्रिय) का प्रादुर्भाव हुआ। भारतवर्ष में भी ब्रह्मक्षत्रिय जाति विद्यमान थी। बंगाल के सेन राजा इसी जाति के थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ था। अध्ययन एवं अध्यापन उनका परम कर्त्तव्य माना जाता था। चम्पा के एक शिलालेख में ब्राह्मण को मनुष्यों में देवता कहा गया है। वाली के पदण्ड नामक पुरोहित ब्राह्मण जाति के माने जाते हैं। क्षत्रियों का कर्त्तव्य युद्धकर्म एवं राज्य-संचालन था। शिलालेखों के अनुसार यहाँ के राजवंश अधिकतर क्षत्रिय जाति के थे। धनाढ्य व्यापारी वैश्य जाति के अन्तर्गत आते थे। यहाँ पर शूद्र अस्पृश्य नहीं माने जाते थे।

स्त्री-दशा—भारत की अपेक्षा यहाँ स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था। सामाजिक एवं धार्मिक कृतियों में वे पुरुषों के साथ भाग लेती थीं। भारत की भाँति यहाँ भी विवाह को लोग एक पवित्र संस्कार मानते थे। अधिकतर विवाह सजातीय ही हुआ करते थे। परन्तु भारतवर्ष की भाँति एक ही जाति में निषिद्ध श्रेणियाँ नहीं थीं। वहाँ विवाह की विधि भारतवर्ष जैसी ही थी। ब्राह्मण पुरोहित विवाह निश्चित करने का माध्यम होता था। विवाह मंत्रों के उच्चारण के साथ सम्पन्न होता था।

सती-प्रथा—इस प्रथा के प्रचार के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यह प्रथा केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ग में ही प्रचलित थी। शिलालेखों के द्वारा राजाओं के मरने पर उनकी रानियों और यहाँ तक कि रखेलिनों के सती हो जाने की सूचना प्राप्त होती है। जावा में पति की मृत्यु के अनन्तर स्त्रियाँ या तो छुरा भोंक कर मर जाती थीं या पति के शव के साथ जल जाती थीं।

अन्त्येष्ठि-संस्कार—यहाँ शव को फेंकने, जीव-जंतुओं को खाने के लिये खुला छोड़ देने तथा जलाने की प्रथा प्रचलित थी। दूसरे प्रकार की विधि में जब हड्डियाँ बच रहती थीं, उस समय मृत व्यक्ति के सम्बन्धी लोग उसे जला-कर उसकी राख को जल में फेंक देते थे। शव को जलाने का ही विशेष प्रचार था। चम्पा में विशिष्ट लोगों के शव को पाँच या छह दिन बाद जलाया जाता था। शव को जलाने के अनन्तर उसकी राख को एक घड़े में रख कर पानी में डाल दिया जाता था। किसी सामन्त या उच्च पदाधिकारी के शव को नदी के मुहाने पर जलाया जाता था तथा तदुपरान्त ताँबे के घड़े में राख को बन्द कर फेंक दिया जाता था। राजा के शव की राख को सोने के घड़े में रखकर समुद्र में डाल दिया जाता था।

वेशभूषा—यहाँ की मूर्तियों एवं भित्तिचित्रों के द्वारा लोगों के वस्त्र तथा आभूषण आदि के विषय में सूचना प्राप्त होती है। इनका अधोवस्त्र प्रायः घुटने तक लटकता रहता था। साधु एवं भृत्यवर्ग लँगोटी धारण करता था। विभिन्न आकृतियों से चित्रित कपड़ों के पहनने की यहाँ विशेष प्रथा थी। भारत-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वर्ष की भाँति स्त्रियों के आभूषणों में कंगन, कर्णपूर, करधन, पायल तथा हार आदि का प्रमुख स्थान था ।

मनोरंजन के साधन—यहाँ पर जूआ विशेष रूप से प्रचलित था। साधारण वर्ग के लोग मुर्गे लड़ाते थे । मनोविनोद के अन्य साधनों में संगीत, नाटक तथा नृत्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चम्पा के भित्त-चित्रों में वहाँ के बाजों की आकृतियाँ दिखाई गई हैं । भारतीय ढोल एवं मजीरा का वहाँ व्यापक प्रचलन था । उच्च वर्ग की महिलायें नृत्य का अभ्यास करती थीं ।

साहित्य—कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो के कुछ प्राचीन लेख संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं । इनमें शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, स्रग्धरा, अनुष्टुप, पुष्पतिलका तथा उपेन्द्रवज्रा आदि संस्कृत-छन्दों के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन संस्कृत-अभिलेखों में पाणिनि के व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का पालन किया गया है । इनमें श्लेष तथा अनुप्रास से अलंकृत काव्यमयी शैली के उदाहरण उपलब्ध होते हैं । ये कादम्बरी, नैषध और शिशुपालवध की शैली का स्मरण दिलाते हैं । इस प्रकार का एक उदाहरण निम्न श्लोक में उपलब्ध होता है—

"भूता भूतेशभूता भवतिभवोद्भावभावात्मभावा ।
भावाभावास्वभावा भवभवभवाभावभावैकभावा ।।
भावाभावाग्रशक्तिः शशिमुकुटतनोर्द्धकायासुकाया ।
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेव स्वसिद्धया ।।"

(परमेश्वरवर्मन् का शिलालेख)

चम्पा, कम्बोडिया और जावा में महाभारत और रामायण का पठन-पाठन विशेष रूप से होता था । यहाँ के लेखों में वेद, वेदांग तथा सामवेद के ज्ञाता ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है । ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म के सभी ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाता था । यहाँ के शिलालेखों में सेतुबन्ध के रचयिता प्रवरसेन तथा सूर्यशतक के लेखक मयूर का नामोल्लेख मिलता है । कम्बोडिया के प्रेरुप-शिलालेख के चार श्लोकों पर रघुवंश के चार श्लोकों की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है । इन शिलालेखों में मनुस्मृति, नारदस्मृति, विशालाक्ष के नीतिशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र तथा सुश्रुत के चिकित्साशास्त्र का उल्लेख हुआ है। इनमें पाणिनि के अष्टाध्यायी तथा उसके भाष्यों का भी नाम आता है ।

जावा के काव्य, नाटक एवं साहित्य की अन्य शाखाओं को भारतीय साहित्य

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने प्रभावित किया। इनमें स्थान-स्थान पर भारतीय ग्रन्थों से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। महाभारत के अनुकरण पर यहाँ कुछ ग्रन्थ लिखे गये; उदाहरणार्थ अर्जुनविवाह, कृष्णायन, सुमनसान्तक, हरिवंश, भरतयुद्ध तथा स्मरदहन। यहाँ के पौराणिक ग्रन्थों में ब्रह्माण्डपुराण प्रमुख है। कथावस्तु एवं शैली की दृष्टि से यह संस्कृत के मौलिक ग्रन्थ का अनुकरण है। अमरकोष के आधार पर जावा में शब्दकोष संकलित किये गये। नालन्दा के एक ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि इस स्थान पर वर्तमान विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय यश से प्रभावित होकर सुवर्णद्वीप के शासक बालपुत्रदेव ने वहाँ एक विहार का निर्माण कराया तथा अपने मित्र (बंगाल के पाल-नरेश) देवपाल से उसकी आर्थिक सहायता के लिए पाँच ग्राम दान में दिलवाया था—

"नालंदगुणलुब्धमनसा भक्त्या च शौद्धोधने।
नानाभिक्षुसंघवसतिर्तस्यां विहारः कृतः॥
सुवर्णद्वीपाधिपमहाराजश्रीबालपुत्रदेवेन वयं विज्ञापिताः।
यथा मया श्रीनालंदायां विहारः कृतः॥"

प्राचीन तथा मध्यकालीन जावा के साहित्य पर भारतीय छाप इतनी गहरी और स्पष्ट है कि इसे "इण्डो-जैवेनीज़-लिटरेचर" कह कर पुकारा जाता है। जावा के अतिरिक्त बर्मा और स्याम में भी प्राचीन तथा मध्यकाल में प्रभूत मात्रा में साहित्य का सृजन हुआ। यह साहित्य अधिकांशतः धार्मिक है और पाली भाषा में लिखा गया है।

धर्म

बौद्ध धर्म—इन देशों में बसने वाले व्यक्तियों के साथ भारतीय धर्मों तथा धार्मिक विश्वासों का भी वहाँ समावेश हुआ। जैन धर्म के अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य सभी धर्मों और संप्रदायों का यहाँ के लोगों में विस्तृत प्रचार हुआ। लगता है कि यहाँ सभी धर्मों का प्रसार साथ-साथ और लगभग समान रूप से हुआ। दक्षिण-पूर्व-एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार की प्राचीनता के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। साधारणतया लोगों का कथन है कि बर्मा में बौद्ध धर्म का प्रवेश अशोक के प्रयत्न के फलस्वरूप हुआ। लंका की एक अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने सोण और उत्तर नामक दो प्रचारकों को सुवर्णभूमि भेजा था। विद्वानों का अनुमान है कि यहाँ पर सुवर्णभूमि से तात्पर्य बर्मा से है। हमवज़ा के निकट मौगन नामक स्थान से सोने के चद्दरों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर पाली भाषा में उत्कीर्ण कुछ बौद्ध लेख मिले हैं। फिनों ने लिपि के आधार पर उनकी तिथि पाँचवीं शताब्दी माना है।

कुछ विद्वानों के अनुसार इंडोचीन के वोचन्ह का शिलालेख चम्पा में तृतीय शताब्दी में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रमाणित करता है। केदा के एक शिलाखंड पर पल्लव-लिपि में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कुछ संस्कृत के श्लोक उत्कीर्ण मिलते हैं। ६०५ ई० में एक चीनी सेनानायक चम्पा से कुछ बौद्ध ग्रन्थ स्वदेश ले गया था। चम्पा में बौद्ध धर्म को राजाश्रय भी प्राप्त था। यहाँ के सम्राटों ने मठों का निर्माण किया। उदाहरणार्थ जय-इन्द्रवर्मन् नामक सम्राट् ने स्थानीय भिक्षुसंघ के लिये एक मठ बनवाया था; जिनमें भोजन, वस्त्र एवं विश्राम की सुविधाएँ सुचारु रूप में उपलब्ध थीं।

कम्बुज में भी बौद्ध धर्म का प्रचार था। काश्मीर के राजकुमार गुणवर्मन् ने जावा में बौद्ध धर्म के प्रचार के हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। श्रीविजय (आधुनिक पालेम्बंग) में पाँचवीं शताब्दी की बौद्ध प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। सातवीं शताब्दी में इत्सिंग के आगमन के अवसर पर वहाँ के धार्मिक वातावरण के ऊपर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। दक्षिण-पूर्व-एशिया के प्रायः सभी देशों में सातवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। फूनन में इस समय बोधिसत्व की पूजा होती थी। इस साक्ष्य से वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार प्रमाणित होता है। श्रीक्षेत्र (आधुनिक प्रोम) में इस समय बौद्ध धर्म की चार शाखायें प्रचलित थीं; उदाहरणार्थ महासंगीत, स्थविरवाद, मूलसर्वास्तिवाद तथा सम्मतीय।

वैष्णव धर्म—दक्षिण-पूर्व-एशिया के हिन्दू राज्यों की विशिष्टता यह थी कि यहाँ पर बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म का भी विशेष रूप से प्रचार था। कम्बुज के दो प्राचीनतम शिलालेख वैष्णव धर्म से सम्बन्धित हैं। सूर्यवर्मन् द्वितीय विष्णु का पुजारी था। उसने अंकोरवट के विशाल मन्दिर में विष्णु-मूर्ति की स्थापना की थी। चम्पा में विष्णु के लिये पुरुषोत्तम, नारायण, गोविन्द, माधव तथा विक्रम आदि अनेक नाम प्रचलित थे। कृष्णावतार की विभिन्न कथाओं का यहाँ विशेष रूप से प्रचार था। कृष्ण गोवर्धन पर्वत के धारण करने वाले और कंस केशी आदि दैत्यों के संहारक के रूप में प्रसिद्ध थे। विष्णु के चतुर्भुजी रूप की यहाँ पूजा होती थी। उनका वाहन गरुड़ माना जाता था। जावा में अनन्तशायी विष्णु की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। लक्ष्मी विष्णु की अर्द्धांगिनी एवं धन-देवी मानी जाती थीं। जावा में भी विष्णु की पूजा होती थी। वहाँ के कई शिलालेखों में शेषशायी विष्णु के रूप का वर्णन किया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया है। वैष्णव धर्म के प्रतीक शंख, चक्र, गदा तथा पद्म आदि माने जाते थे। जावा से विष्णु के विभिन्न अवतारों से सम्बन्धित कृष्ण, मत्स्य, वराह और नरसिंह की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

शैव धर्म—यह चम्पा का प्रमुख धर्म था। शिव की पूजा महेश्वर, महादेव, अमरेश, वृद्धेश्वर, ईशान्, ईशानेश्वर, शम्भु, शंकर, शर्व, भीम, उग्र तथा रुद्र आदि नामों से की जाती थी। चम्पा के लेखों और साहित्य में शिव को सर्व-श्रेष्ठ देवता माना गया है। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि शिव सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं तथा जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु एवं आकाश आदि उनके प्रगट रूप हैं। शिव-मूर्त्तियों से पता चलता है कि चम्पा के लोग उनके त्रिनेत्रयुक्त, त्रिशूलधारी, तांडवनृत्यकारी तथा जटाधारी आदि रूपों से परिचित थे। जनमत में प्रतिष्ठित था कि उनकी जटा से गंगा निकलती हैं तथा वे गिरिराजतनया पार्वती के पति हैं। सिद्ध, चारण, यक्ष तथा किन्नर आदि उनके सेवक हैं। शिव की कृतियों में कामदेव को भस्म करना तथा त्रिपुर नामक राक्षस की हत्या आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध थे।

शैव धर्म का जावा में भी विशेष रूप से प्रचार था। यहाँ के श्रीसंजय नामक सम्राट् ने एक पहाड़ी पर शिवलिंग की स्थापना की थी। जावा से शैव मन्दिरों एवं मूर्त्तियों के कई उदाहरण प्राप्त हुए हैं। यहाँ कतिपय स्थानों पर शिव-मन्दिर के दोनों पार्श्वों पर विष्णु एवं ब्रह्मा के लघु मन्दिर बनाये जाते थे। पार्वती, कार्त्तिकेय एवं गणेश की भी पूजा होती थी। बाली में ब्रह्मा और विष्णु शिव के अन्य रूप माने जाते थे। यहाँ पर शैव धर्म एवं बौद्ध धर्म में एकता लाने की चेष्टा की जा रही थी। धार्मिक अवसरों पर शैव एवं बौद्ध पुरोहित दोनों ही बैठते थे। यह परम्परा अभी तक चली आ रही है।

अन्य देवों की पूजा—इन देशों में ब्रह्मा की भी पूजा की जाती थी। चम्पा के लेखों में उन्हें चतुरानन कहा गया है। मूर्त्तियों में ब्रह्मा के चार मुख दिखाये गये हैं। जावा में यम, वरुण, इन्द्र, अग्नि तथा कुबेर की पूजा का प्रचलन था। यहाँ पर सूर्योपासना तथा सर्प-पूजा होती थी। चम्पा के लेखों में सूर्य-पूजा के उल्लेख मिलते हैं। दक्षिण-पूर्व-एशिया के प्रत्येक देश में विविध भारतीय सम्प्रदाय एवं मत प्रचलित थे, पर सभी लोग एक दूसरे के धर्म का आदर करते थे तथा उनमें किसी प्रकार का धार्मिक वैमनस्य नहीं था।

धार्मिक विश्वास—यज्ञों के अनुष्ठान में लोगों का विश्वास था। सूर्यवर्मा द्वितीय के काल में कोटिहोम, लक्षहोम तथा महाहोम आदि यज्ञों का सम्पादन किया गया था। इनके अन्य धार्मिक विश्वासों में जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रभाव, ज्योतिष के प्रति श्रद्धा तथा स्वर्ग एवं नरक जैसे लोकों की कल्पना उल्लेखनीय हैं। वे सत्-युग, द्वापर तथा कलियुग में विश्वास करते थे। महाभारत, रामायण तथा पुराणों का नियम से पाठ होता था।

कला—आनन्द कुमारस्वामी का कथन है कि दक्षिण-पूर्व-एशिया की कला को भारतीय कला का एक अंग माना जा सकता है। यहाँ के प्राचीन भवनों एवं मूर्त्तियों को देखने से लगता है, मानों वे भारतीय कलाकारों के द्वारा बनाई गई हों। रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार दक्षिण-पूर्व-एशिया की कला के प्रत्येक अंग पर भारतीय कला की छाप परिलक्षित होती है। कम्बोडिया, चम्पा तथा जावा के प्रारम्भिक मन्दिर भारतीय देवालयों के आदर्शों पर निर्मित हैं। वे शुद्ध भारतीय कला के उदाहरण लगते हैं। प्रेइ कुक के मन्दिर में देवगढ़ के मन्दिर के समान अनन्तशायी विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति मिलती है। इसका मुख्य कक्ष भारतीय मन्दिरों के गर्भगृह से साम्य रखता है। अश्राम महारोसी का मन्दिर पल्लव-मन्दिर के आदर्श पर निर्मित है।

नगर-निर्माण—यहाँ पर नगर-निर्माण शैली पूर्णतः भारतीय थी। यहाँ पर कम्बुज की राजधानी अंकोरथौम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना जयवर्मन् सप्तम् ने की थी। यह नगर वर्गाकार था। प्रत्येक ओर इसकी लम्बाई २ मील से ऊपर थी। नगर के चतुर्दिक् ३३० फीट चौड़ी एक परिखा थी। यह पत्थर की ऊँची दीवालों से घिरा हुआ था। परिखा को पार करने के निमित्त पाँच पुल बनाये गये थे, जो नगर के पाँच प्रधान द्वारों से मिले हुये थे। इन प्रधान नगर-द्वारों से राजमार्ग नगर के केन्द्रीय भाग की ओर जाते थे। नगर अनेक सरोवरों एवं भव्य भवनों से सुशोभित हुआ करते थे।

अंकोरवट—इसका पता सबसे पहले १८६० ई० में हेनरी मूहोट ने लगाया था। उसके अनुसार विश्व की कला के इतिहास में दक्षिण-पूर्व-एशिया की यह एक आश्चर्यजनक देन है। इसकी तुलना विश्व के कतिपय प्राचीन भवन ही कर सकते हैं। इसका निर्माण सूर्यवर्मा द्वितीय ने कराया था। सम्पूर्ण मन्दिर पत्थर का बना हुआ है। इसमें कहीं भी लकड़ी का प्रयोग नहीं हुआ है। इसके चतुर्दिक् एक ऊँची एवं लम्बी चहारदीवारी तथा गहरी खाई बनी हुई है। मन्दिर में प्रवेश करने के निमित्त इसकी पश्चिमी दिशा में एक प्रधान द्वार बना हुआ है। इसमें प्रदक्षिणामार्ग बने हुए हैं। इसकी दीवालों पर हिन्दू धर्म की कथायें आकृतियों के द्वारा दिखाई गई हैं। १४४० ई० में कम्बुज की राजधानी, अंकोरवट से आधुनिक नामपेन्ह में स्थानान्तरित की गई। तब से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यह मन्दिर अपने स्थान पर अव-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

हेलना की परिस्थिति में विद्यमान था। शताब्दियों तक प्रकृति के रौद्र रूप का सामना करता हुआ यह अपने मौलिक स्वरूप को सुरक्षित किये हुये है।

बोरोबोदुर का स्तूप—यह निर्माण शैलेन्द्र राजाओं की समृद्धि एवं वैभव का शानदार स्मारक है। इसकी स्थापना स्थापत्य की भव्यता, कौशल, विशालता एवं पवित्रता का प्रतिनिधित्व करती है। यह 'केदू' में एक पहाड़ी पर आश्चर्यजनक ढंग से बनाया गया है। सम्पूर्ण निर्माण सीढ़ीनुमा पिरेमिड के रूप में है। हर निचला चबूतरा बड़ा तथा ऊपरी चबूतरा क्रमशः छोटा होता गया है। नीचे के पाँच चबूतरे वर्गाकार हैं तथा ऊपर के तीन चबूतरे गोलाकार हैं। नीचे के चबूतरे की दीवालों पर सुन्दर आकृतियाँ अंकित की गई हैं। इनमें जातक-कथाओं के दृश्य प्रदर्शित किये गये हैं। इन दीवालों में ताख बने हुए हैं, जिनमें ध्यानी बुद्ध की मूर्त्तियाँ स्थापित की गई हैं। इनमें रत्नसम्भव, अमिताभ तथा अमोघसिद्ध की मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं। नीचे से पहले गोल चबूतरे में ३२, दूसरे में २४ तथा तीसरे में १६ स्तूप बने हुये हैं। सबसे ऊपरी चबूतरे के मध्य भाग में एक अर्द्धगोलाकार स्तूप बना हुआ है, जो सम्पूर्ण पिरेमिडनुमा आकृति के शीर्ष-स्थान का निर्माण करता है। इन सभी स्तूपों में ताख बने हुए हैं, जिनमें धर्मचक्रमुद्रा में बुद्ध की मूर्त्तियाँ स्थापित की गई हैं। इस पूरे निर्माण को बौद्ध स्थापत्य का एक अति सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। अंकोरवट तथा बोरोबुदुर के अतिरिक्त बर्मा का आनन्द मन्दिर, अंकोरथौम का बेयोन-मन्दिर, चम्पा के माइसोन मन्दिर तथा पूर्वी जावा के लाराजोंगरम वर्ग के मन्दिर भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी पर भारतीय स्थापत्य का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

मूर्ति-कला—यहाँ के प्रायः प्रत्येक देश से बौद्ध प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। चम्पा के डांगडुअंग नामक स्थान पर गौतम बुद्ध की एक मूर्त्ति बैठी हुई अवस्था में उपलब्ध है। यहाँ से उनकी एक सुन्दर ताम्रमूर्ति भी खड़ी हुई अवस्था में प्राप्त हुई है। कम्बोडिया के रोमलोक तथा ताकियो नामक स्थानों से गौतम बुद्ध की प्रस्तर-मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बनावट की दृष्टि से ये सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा का स्मरण दिलाती हैं। आनन्द पगोडा में ८१ 'उत्कीर्ण भास्कर' प्राप्त हुए हैं, जो ललित विस्तर में वर्णित बुद्ध के जीवन की घटनाओं का स्मरण दिलाते हैं। स्पष्टता, सौन्दर्य एवं सजीवता की दृष्टि से ये प्रतिमायें दर्शनीय हैं। बोरोबोदुर-स्तूप की बौद्ध प्रतिमाओं की विविधता, सरलता एवं पवित्रता सराहनीय है।

गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवताओं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की अनेक मूर्त्तियों के उदाहरण इन देशों से उपलब्ध हुए हैं; उदाहरणार्थ शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, लक्ष्मी तथा स्कन्द। चम्पा के बियन होआ नामक स्थान से विष्णु की चतुर्भुजी मूर्त्ति मिली है। विष्णु के हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म तथा गले में केयूर एवं वनमाल सुशोभित हैं। चम्पा एवं कंबोडिया के मन्दिरों में शेषशायी विष्णु की मूर्त्ति मिलती है। उनकी नाभि से निकले हुए कमल पर आसीन ब्रह्मा की आकृति का अंकन किया गया है। पुराणों में विष्णु के इस प्रकार के रूप का वर्णन मिलता है।

●●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

[घ] भारत-चीन-सम्पर्क

सम्बन्ध की प्राचीनता—चीन के साथ भारतवर्ष का सम्पर्क सम्भवतः तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारम्भ हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चीन के रेशमी वस्त्र का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि चीन का नाम वहाँ के चिन् वंश (२२१ ई० पू०—३२० ई०) के नाम के आधार पर पड़ा। तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में उत्तर-पश्चिम चीन में इस नाम का एक लघु राज्य था। कतिपय इतिहासकारों का कथन है कि सम्पूर्ण देश के लिये चीन नाम इस छोटे राज्य के नाम के आधार पर उसी प्रकार पड़ा, जिस प्रकार सिंधु (हिन्दु) नाम के आधार पर सम्पूर्ण हिन्दुस्तान का नाम पड़ गया था। महाभारत के द्रोणपर्व (द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व) में चीन नाम का उल्लेख मिलता है।

"यवनाः चीन--काम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः।
सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह॥"

चीन एवं भारतवर्ष के प्राचीन सम्पर्क को घनिष्ठ बनाने में बौद्ध धर्म ने सबसे अधिक योग दिया था। चीन की एक प्राचीन परम्परा के अनुसार बौद्ध धर्म के कुछ प्रचारक २१७ ई० पू० में चिन् वंश की राजधानी में आये हुए थे। वहाँ की एक अन्य परम्परा के अनुसार १२१ ई० पू० में एक चीनी सेनानायक गौतम बुद्ध की एक सुवर्ण-प्रतिमा अपने साथ स्वदेश ले आया था। परन्तु कतिपय विद्वानों के अनुसार ये परम्परायें ऐतिहासिक तथ्यों से रहित एवं अश्रद्धेय प्रतीत होती हैं। अधिकांश इतिहासकार इस मत से सहमत हैं कि चीन में बौद्ध धर्म का प्रथम वास्तविक प्रवेश २ ई० पू० में हुआ था। यू-ची शासकों ने इस समय वहाँ कुछ बौद्ध ग्रन्थों एव मूर्त्तियों को भेजा था। भारतवर्ष से कतिपय बौद्ध धर्म के प्रचारक ६५ ई० के लगभग चीन आये हुए थे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि भारतवर्ष एवं चीन का प्राचीन सम्पर्क प्रधानतः बौद्ध धर्म से सम्बन्धित था। रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में दोनों देशों का सम्पर्क, जो प्रारम्भ में वाणिज्यविषयक प्रेरणा का प्रभाव था, कालान्तर में बौद्ध प्रचारकों की कृतियों के प्रभाव से आच्छादित हो उठा।[1]

---

१. रमेशचन्द्र मजूमदार, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६०८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मार्ग—पहला मार्ग उत्तर-पश्चिम भारत से प्रारम्भ होकर काबुल की घाटी से होता हुआ हिद्द, नगरहार (जलालाबाद) तथा तदनन्तर बमियान की ओर जाता था। बमियान का उल्लेख चीनी ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार था। भारतवर्ष से चीन वाले बौद्ध भिक्षु विश्राम-हेतु इस स्थान पर कुछ काल तक रुकते थे। यहाँ पर प्रायः सभी देशों के व्यापारी आया करते थे। एक बौद्ध परम्परा के अनुसार कोशल-नरेश ने कपिलवस्तु का संहार कर डाला था। इस घटना के परिणामस्वरूप शाक्यवंश के चार राजकुमार इस नगर को छोड़ कर अन्यत्र चले गये। इनमें से एक बमियान आया हुआ था। हुयेनसांग लिखता है कि उसके आगमन के समय वहाँ पर एक शाक्यवंशी नरेश राज्य कर रहा था। यह स्थान हिन्दुकुश की श्रेणियों के द्वारा परिवेष्ठित है। अजन्ता के गुहा-मन्दिरों की भाँति यहाँ पर भी पर्वत को काट कर बौद्ध गुहा-मन्दिर निर्मित किये गये थे। इन गुफाओं में बौद्ध भिक्षु रहते थे। यहाँ से गौतम बुद्ध की प्रतिमायें तथा भारतीय लिपि में लिखी हुई बौद्ध धर्म से सम्बन्धित पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं।

बमियान से यह मार्ग बल्ख आता था। चीनी ग्रन्थों में इसे फोन्हो कहा गया है। भारतवर्ष के लोग इसे बाह्लीक कहते थे। वहाँ पर भी बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार था। हुयेनसांग लिखता है कि बल्ख में नवसंघाराम नामक एक बिहार बना हुआ था। उसके अनुसार इसमें कई आचार्य रहते थे। बौद्ध साहित्य में उनका अध्ययन उच्चकोटि का था। कालान्तर में मुसलमान आक्रमण-कारियों ने इस मठ का विनाश कर डाला था। इसके पुजारी पकड़ कर बगदाद लाये गये। अल्बरूनी के अनुसार इन्होंने वहाँ पर भारतीय ज्योतिष एवं गणित का प्रचार किया था। बल्ख से भारतीय यात्री काशगर आते थे। वहाँ से दो मार्ग चीन को जाते थे। पहला उत्तरी मार्ग था। इस पर उचतुर्फान, भरुक, कूची, अग्निदेश (करसहर) तथा तुर्फान आदि स्थित थे। दूसरा दक्षिण मार्ग था। इस पर यारकन्द तथा खोतान आदि विद्यमान थे। इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि इन स्थानों की सभ्यता पर भारतीय प्रभाव पर्याप्त था।

भारतवर्ष से चीन जाने वाला दूसरा स्थलमार्ग आसाम-बर्मा मार्ग था। यह पाटलिपुत्र से चम्पा (भागलपुर), कजंगल (राजमहल) तथा पुंड्रवर्द्धन (उत्तरी बंगाल) होता हुआ कामरूप (गौहाटी) आता था। यहाँ से तीन रास्ते बर्मा की ओर जाते थे। पहला पटकोई की श्रेणियों से होता हुआ उत्तरी बर्मा की ओर जाता था। दूसरा आधुनिक मनीपुर से चिन्दविन घाटी तक जाता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। तीसरा अर्कान से होता हुआ इरावती की घाटी तक आता था। ये तीनों मार्ग वर्मा के सरहद पर स्थित भामो नामक स्थान पर मिलते थे। यहाँ से भारतीय यात्री कुन्मिग आते थे, जो चीन के दक्षिणी प्रान्त का प्रधान नगर था।

हुयेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि आसाम से वर्मा तक जाने वाला मार्ग यात्रियों के लिये काफी कठिन सिद्ध होता था। उसके अनुसार कामरूप के पूर्व का प्रदेश पर्वतमालाओं के द्वारा आच्छादित था। उनमें साँप तथा विच्छू के काटने का भय बराबर बना रहता था। पर्वत-श्रेणियों को पार करना कठिन कार्य था। मार्ग में कोई अच्छा स्थान नहीं था, जहाँ पर यात्री विश्राम कर सकें। हुयेनसांग तथा कामरूप-नरेश भास्करवर्मा के बीच जो संवाद हुआ, उसके अनुसार उस समय पूर्वी भारत में एक चीनी गीत का व्यापक प्रचार था। लोग उसे बहुत अभिरुचि के साथ गाते थे। तीसरा स्थल-मार्ग नेपाल से तिब्बत होता हुआ चीन जाता था। इस मार्ग से हुआन-चाऊ तथा कि-यी नामक चीनी यात्री भारतवर्ष आये हुए थे। इनके विवरण से ज्ञात होता है कि तिब्बत के लोग भारत जाने वाले चीनी यात्रियों को पर्याप्त सुख एवं सुविधायें प्रदान करते थे।

भारतवर्ष एवं चीन के व्यापार-सम्बन्ध के उन्नत दशा में होने पर जलमार्ग के द्वारा भी भारतीय यात्री चीन जाने लगे। कालिदास के अनुसार भारतवर्ष के व्यापारी चीन से रेशमी वस्त्र लाते थे। 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' में कण्व के आश्रम से हस्तिनापुर जाता हुआ दुष्यन्त कहता है—"मैं केवल शरीरमात्र से ही अपनी राजधानी की ओर जा रहा हूँ। मेरा मन तो कण्व के आश्रम में पीछे छूटा हुआ है। मेरी स्थिति इस समय वैसी ही है, जिस प्रकार वायु की विपरीत दिशा में जाते हुए जलपोत में लगा चीन के रेशमी वस्त्र का झंडा पीछे की ओर फहराता रहता है।"

"गच्छति पुरः शरीरं पश्चाद् संस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥"

भारतवर्ष के पश्चिम समुद्र-तट से प्रस्थान करने वाले यात्री भृगुकच्छ (भड़ौंच) एवं शूर्पारक (सोपारा) होते हुए लंका तथा वहाँ से यवद्वीप (जावा) एवं श्रीविजय (सुमात्रा का पूर्वी तट) होते हुए चीन जाते थे। पूर्वी समुद्र-तट से प्रस्थान करने वाले भारतीय यात्री जावा तथा सुमात्रा होते हुए चीन जाते थे। कभी-कभी ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से लोग जहाज के द्वारा कावेरीपत्तन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(पुहार) तथा लंका होते हुए चीन जाते थे। विदेशी विवरण में ताम्रलिप्ति एवं कावेरीपत्तन का उल्लेख मिलता है। ताम्रलिप्ति से लंका होकर चीन जाने वाला जलमार्ग घुमावदार था। फाहियान इसी मार्ग से चीन वापस लौटा था। ताम्रलिप्ति से लंका पहुँचने में उसे १४ दिन लग गये थे। वह लंका से जावा ९० दिनों की कठिन यात्रा के उपरान्त पहुँचा। चीनी यात्री इत्सिंग भारतवर्ष से चीन लौटते समय जावा होता हुआ श्रीविजय पहुँचा। वह यहाँ चार वर्षों तक रुका था। वह लिखता है कि श्रीविजय बौद्ध अनुशीलन एवं संस्कृत विद्या का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। उसके अनुसार इसकी राजधानी के चतुर्दिक् एक उच्च प्राकार बना हुआ था। वहाँ पर लगभग एक हजार बौद्ध पुजारी रहते थे। वे विभिन्न बौद्ध शाखाओं के प्रकांड विद्वान् माने जाते थे। वे भारतवर्ष की सभी उच्च विद्याओं का अध्ययन करते थे। उनकी प्रथायें एवं विधियाँ पूर्ण रूप से भारतीय थीं।

इत्सिंग के कथन की प्रामाणिकता में संदेह उत्पन्न करना अनैतिहासिक होगा। पुरातत्त्व-साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि श्रीविजय भारतीय सभ्यता से पर्याप्त रूप में प्रभावित था। वहाँ के कतिपय प्राचीन अभिलेखों की भाषा संस्कृत है। वहाँ धार्मिक एवं लौकिक साहित्य को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। चीन जाते समय मार्ग में पड़ने वाले कुछ अन्य बन्दरगाहों के विषय में भी सूचना उपलब्ध होती है; उदाहरणार्थ पांडुरंग, विजयपुर तथा कौठार। ये अनामी समुद्र-तट पर स्थित थे। चीनी बन्दरगाहों में कैंटन तथा शांतुंग सबसे प्रसिद्ध थे। फाहियान शांतुंग के बन्दरगाह पर उतरा था। जावा से शांतुंग पहुँचने में उसे ८२ दिन लग गये थे। उसे इस बीच की यात्रा में भी काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। तूफान के कारण एक बार उसका जहाज समुद्र-तट से दूर हट आया। यह जलपोत दूर-समुद्र में १२ दिनों तक भटकता रहा। खाद्य-सामग्री के समाप्त हो जाने के कारण यात्री अधीर हो उठे थे। नाविकों के अदम्य धैर्य एवं कठिन परिश्रम के फलस्वरूप जहाज किसी भाँति शांतुंग बन्दरगाह पर पहुँच सका था।

बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण

(१) चीनवासियों की धार्मिक आवश्यकताएँ—चीनवासियों को बौद्ध धर्म के सिद्धान्त काफी तर्कसंगत से लगे। कर्मवाद के सिद्धान्त से वे विशेष रूप से प्रभावित हुए, जिसके अनुसार वर्तमान जीवन के कर्म मनुष्य के भावी जीवन के रूप को निर्धारित करते हैं। मनुष्य अपनी अच्छी कृतियों के द्वारा अपने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

दूसरे जीवन को अधिकाधिक सुन्दर एवं सुखमय बना सकता है। तत्कालीन चीनी धर्म मानव आत्मा की कतिपय मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सफल नहीं हो सका था। बौद्ध धर्म के द्वारा कुछ अंशों में इनकी पूर्ति सम्भव-सी प्रतीत हुई। मुख्य रूप से महायान धर्म ने आवागमन से मुक्ति के लिए जो उपाय बताये, वे इस देश के निवासियों को व्यावहारिक प्रतीत हुए। इसके द्वारा निर्दिष्ट शान्ति-प्राप्ति के मार्ग में चीनवासियों की आस्था क्रमशः बढ़ने लगी। चीनवासियों को बौद्ध धर्म उनके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक परिधि को विस्तृत करने वाला प्रतीत हुआ। बौद्ध साहित्य, दर्शन एवं इस धर्म के मेधावी प्रवर्तकों के प्रति चीन के लोगों की श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अव्यवस्था एवं अशान्ति के दिनों में जब वहाँ के निवासियों को लौकिक जीवन कष्टमय एवं दुर्वह भार-सा प्रतीत होने लगा था, उस समय बौद्ध धर्म न उन्हें आत्म-सन्तोष एवं मनः शान्ति की प्राप्ति का एक सरल एवं व्यापक उपाय बताया। फलतः वे बौद्ध धर्म की ओर स्वभावतः उन्मुख होने लग।

(२) **ग्रहण-शक्ति**—बौद्ध धर्म में विदेशी परिस्थितियों को स्वानुकूल बनाने की विलक्षण शक्ति थी। इसके प्रचारकों ने चीन के स्थानीय प्रचलन एवं विश्वासों के अनुसार इस धर्म में उन परिवर्तनों एवं संशोधनों को भी स्थान प्रदान किया, जो कि चीन में इसे लोकप्रिय बनाने के लिए आवश्यक थे। चीन का सामाजिक जीवन इस काल की राजनीतिक उथल-पुथल के कारण निर्बल हो चुका था। इसके फलस्वरूप ऐहिक जीवन की ओर लोग अनासक्त होन लगे। अपनी परिस्थितियों से ऊबे हुए व्यक्तियों के लिए बौद्ध मठ शरण-स्थल सिद्ध होने लगे। इस संकटकाल में बौद्ध धर्म ने वहाँ के लोगों को शान्ति एवं सन्तोष का सहज मार्ग प्रदान करते हुए उन्हें नव जीवन प्रदान किया था।

(३) **बौद्ध धर्म की अन्य विशेषताएँ**—व्यावहारिक रूप में बौद्ध धर्म व्यक्ति की महत्ता में विश्वास करता था। यह विशेषता चीन के धार्मिक सम्प्रदायों में अप्राप्य थी। वहाँ के धर्म वर्गगत भेदभाव में विश्वास करते थे। ताओवाद के अनुसार मुक्ति कुछ ही लोगों के लिए सम्भव थी। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। इसके अनुसार निम्न कुल जन्मा को भी सदाचार द्वारा मुक्ति-प्राप्ति सम्भाव्य थी। इसी विशेषता के फलस्वरूप बौद्ध धर्म चीनी धर्मों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ।

(४) **वाणिज्य-सम्पर्क**—इसके फलस्वरूप भारतीय कला, दर्शन एवं साहित्य के विषय में चीनवासियों को सूचना पहले से ही प्राप्त थी। बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में विशेष रूप से व्यापक हो

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहा था। तक्षशिला एवं पुरुषपुर (पेशावर) आदि नगर इसके केन्द्रविन्दु थे। इन स्थानों पर गन्धार-शैली में जो मूर्तियाँ निर्मित की गईं, वे महायान धर्म से सम्बन्धित थीं। फारस एवं पश्चिमी एशिया के साथ पश्चिमोत्तर भारत का वाणिज्य-सम्पर्क तो पहले से ही विकसित अवस्था में था। चीन के साथ भी भारत के इस भूखण्ड का वाणिज्य-सम्बन्ध क्रमशः बढ़ने लगा। फलतः बौद्ध-धर्म से परिचय के लिए एक सुन्दर पृष्ठभूमि स्वाभाविक रूप में ही प्रस्तुत हो गई।

(५) **राजकीय संरक्षण**—यहाँ पर उल्लेखनीय है कि चीन के कुछ सम्राट् बौद्ध-धर्म से इतना अधिक प्रभावित हो गये कि उन्होंने इस धर्म का अवलम्बन कर लिया तथा उसे यथोचित राजकीय सम्मान एवं संरक्षण भी प्रदान किया। दक्षिण चीन का सबसे प्रसिद्ध बौद्ध मतावलम्बी लियंग वू ती था। वह बौद्ध सूत्रों का प्रकाण्ड समर्थक था। उसने त्रिपिटिकों के विभिन्न चीनी संस्करणों का संकलन किया था। वह कट्टर शाकाहारी था। अपने राजकीय आज्ञाओं के द्वारा उसने पशुमेध रोक दिया था। यहाँ तक कि उसने अपना कुछ समय एक बौद्ध मठ में भी व्यतीत किया था। उत्तरी चीन में भी बहुत से राजकीय मठ वर्तमान थे।

(६) **चीनी पर्यटक**—चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार उन भिक्षुओं की कृतियों के फलस्वरूप हुआ था, जिन्होंने दुर्गम स्थलों को पार कर भारतवर्ष में इस मत के विविध तीर्थों का पर्यटन किया। उन्होंने मठों में रह कर प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियों को प्रस्तुत किया था और उनका गट्ठर स्वयं लाद कर श्रमपूर्वक वे स्वदेश लौटने में समर्थ थे। उन्होंने इस धर्म के प्रति चीनवासियों की आस्था को द्विगुणित किया। भारतवर्ष आने वाले तत्कालीन चीनी पर्यटकों में फाहियान सर्वप्रमुख था। उसने पुरुषपुर, तक्षशिला, मथुरा, सांकाश्य, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कुशीनगर, बोधिगया, सारनाथ एवं राजगृह आदि सभी बौद्ध तीर्थों का पर्यटन किया था। भारतवर्ष की यात्रा में उसने पूरे दो वर्ष लगा दिये थे। अपने साथ कई बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियों को लेकर वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर जहाज में बैठा था। वहाँ से लंका एवं पूर्वी द्वीप-समूह होता हुआ यह यात्री अपनी संकलित सामग्री के साथ चीन पहुँचा। इस देश के भिक्षुओं ने भी बौद्ध ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद किया तथा मौलिक बौद्ध साहित्य की भी रचना की। ३८१ ई० में उत्तर-पश्चिम चीन के ९० प्रतिशत निवासी बौद्धमतावलम्बी थे। सुइ राजवंश के काल में बौद्ध धर्म चीनवासियों के जीवन का अभिन्न अंग बन गया था।

(७) **चीनवासियों का सहयोग**—चीन में बौद्ध धर्म की महती सफलता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

का एक सबल कारण चीनवासियों का सहयोग भी था। इनकी अपेक्षित सहायता के परिणामस्वरूप इस धर्म के प्रचारकों ने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में प्रामाणिक रूपान्तर प्रस्तुत किया था। हन्-कालीन ग्रन्थों की एक विशद सूची उपलब्ध हुई है, जिसमें अधिकांश बौद्ध धर्म की अनूदित पुस्तकों के उल्लेख मिलते हैं।

(८) **बौद्ध धर्म के प्रचारक**—चीन में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार का सब से प्रमुख कारण बौद्ध भिक्षुओं एवं विद्वानों की कार्य-संलग्नता, अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त असीम निष्ठा, दृढ़-संकल्प एवं मनोत्साह आदि थे। इनमें अभिनिवेश की सार्थकता एवं लक्ष्य तक पहुँचने के हेतु एक ऐसा कठोर व्रत प्राप्य था, जिसका दूसरा दृष्टान्त कालान्तर में ईसाई धर्म के मनस्वी प्रचारकों में ही समुपलब्ध हो सका था।[1] बौद्ध प्रचारकों में अधिकांश भारतवर्ष के विभिन्न भागों से आये थे। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य देशों से भी बौद्ध धर्म के प्रचारक चीन आये थे; उदाहरणार्थ लंका, कम्बोडिया, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया। इनमें प्रमुख इस प्रकार थे—

मध्य एशिया के प्रचारक

(१) **धर्मरक्ष**—इसका चीनी नाम फा-हु (धर्म का रक्षक) था। उसके माता-पिता जाति के यूची थे। उसका जन्म-चीन के सरहद पर स्थित तन हुअंग नामक स्थान में हुआ था। यहाँ पर उसने भारतीय आचार्यों से बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी तथा उनके साथ मध्य एशिया के कई स्थानों में धर्म-प्रचार के हेतु पर्यटन किया था। वह एक प्रकाण्ड विद्वान् एवं विविध भाषाओं का मर्मज्ञ था। कहा जाता है कि चीनी भाषा एवं संस्कृति के अतिरिक्त विश्व की लगभग ३४ अन्य भाषाओं को भी वह जानता था। २६६ ई० में वह चीन के लोयंग नामक स्थान में आया तथा इसको केन्द्र बना कर प्रचार-कार्य करने लगा। उसने १७५ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

(२) **कुमारजीव**—मध्य एशिया से चीन में आये हुए बौद्ध प्रचारकों में कुमारजीव सब से प्रसिद्ध माने जाते हैं। उनके पिता एक भारतीय थे, जिनका नाम कुमारायण था। कुछ कारणों से जो अब भी अज्ञात हैं, कुमारायण ने अपनी जन्मभूमि को छोड़ दिया। पामीर से होते हुए वे कूची आये। वहाँ के स्थानीय सम्राट् ने इनकी विद्वत्ता से आकर्षित होकर इन्हें राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। यहाँ पर जीवा नामक राजकुमारी के साथ इनका प्रेम हो गया। फलतः कूची

---

१. द्रष्टव्यः—लातुरेत के० यस०, दि चाइनीज़, देयर हिस्ट्री ऐंड कल्चर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के सम्राट् ने कुमारायण का विवाह जीवा के साथ कर दिया। इसी राजकुमारी से कुमारजीव उत्पन्न हुए (जीवा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण इनका यह नाम पड़ा)। इनके जन्म के अनन्तर जीवा ने बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली और उसने भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। कूची में प्रारम्भिक शिक्षा देने के अनन्तर कुमारजीव को जीवा अपने साथ काश्मीर ले आई। यहाँ पर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का गहन अनुशीलन किया। उनके आचार्य का नाम बन्धु-दत्त था, जो कि महायान धर्म का अनुयायी था। तदनन्तर अपनी माता के साथ मध्य एशिया के कई बौद्धिक केन्द्रों का पर्यटन करते हुए वे कूची लौट आये। कहा जाता है कि कूची लौटते समय उनकी भेंट एक अर्हत् से हुई, जिसने भविष्य-वाणी की थी कि कुमारजीव निकट भविष्य में एक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य बनने वाला था। इस समय उनकी ख्याति चतुर्दिक् फैलने लगी। ३५५ ई० में काशगर में वे सूर्यसोम नामक महायान धर्म के आचार्य से प्रभावित हुए थे। इसके कुछ ही समय बाद काश्मीर के विमलाक्ष नामक बौद्ध यात्री के साथ उनकी भेंट हुई, जिससे उन्होंने सर्वास्तिवाद विनय में ज्ञानार्जन किया था। उनसे शिक्षा-ग्रहण करने के निमित्त खोतान, काशगर तथा यारकन्द के विद्यार्थी उनके पास आते थे। ३८३ ई० में कूची के ऊपर चीन का एक आक्रमण हुआ। वे इस समय बन्दी बना कर चीन लाये गये। उनकी प्रतिभा से परिचित होने पर चीन के सम्राट् ने उन्हें अपने पास राजधानी में रखा। तदनन्तर मृत्युपर्यन्त (४१३ ई० तक) उन्होंने अपना जीवन चीन में व्यतीत किया। प्रबोधचन्द्र बागची का कथन है कि चीन में बौद्ध धर्म के उद्गम एवं विकास की दिशा में कुमार-जीव का योगदान उच्च कोटि का था। इस क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों एवं सेवाओं के फलस्वरूप उन्होंने युगान्तर का प्रवर्तन किया था। वे बौद्ध दर्शन के अगाध विद्वान् थे तथा चीनी एवं संस्कृत भाषा के ऊपर इनका प्रकाण्ड आधिपत्य था। उनके पर्यवेक्षण में ९४ बौद्ध ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत किया गया। चीन के विभिन्न भागों के विद्यार्थी उनकी विद्वत्ता का लाभ उठाने के निमित्त बहु-संख्या में एकत्र होते थे। उनके द्वारा अनूदित ग्रन्थों में महाप्रज्ञापारमिता-शास्त्र, शतशास्त्र, सुखावत्यभृत-व्यूह, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र तथा वज्रछेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र उल्लेखनीय हैं। उद्भट विद्वान् होते हुए भी उनमें विनम्रता कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनका व्यक्तित्व बड़ा ही सरल था तथा अपनी प्रतिभा का उन्हें रञ्चमात्र भी गर्व नहीं था। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था कि वे उनकी कृतियों मात्र को ही श्रद्धालु दृष्टि से देखेंगे, परन्तु उनके जीवन को आदर्श रूप में न ग्रहण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करेंगे। कुमारजीव का नाम मध्य एशिया की उन विभूतियों में चिरस्मरणीय रहेगा, जिन्होंने चीन में भारतीय सभ्यता का प्रसार किया था।[1]

धर्मरक्ष एवं कुमारजीव के पहले भी मध्य एशिया के कुछ बौद्ध प्रचारक चीन आये हुए थे। प्रथम शताब्दी में चीन का एक दूतमण्डल मध्य एशिया आया हुआ था। उनका आमन्त्रण पाने पर दो बौद्ध भिक्षु चीन गये हुए थे। इसके भी कुछ पूर्व मध्य एशिया के यूची सम्राट् ने कुछ बौद्ध ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को चीन-सम्राट् को भेंट-स्वरूप प्रदान भी किया था। द्वितीय शताब्दी के मध्य भाग में 'तान-शे-कावो' नामक बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया से चीन आया था। शे-कावो मूल नाम 'लोकोतम' (विश्व में सर्वश्रेष्ठ) का चीनी रूपान्तर है। चीन के लोग पार्थियनों को सामान्यतया 'न्गन-सी' कहा करते थे। वस्तुतः यह भिक्षु एक पार्थियन राजकुमार था, जिसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली थी। प्रमाणाभाव के कारण निश्चयात्मक रूप से यह कहना दुष्कर है कि वह भारतवर्ष आया था अथवा नहीं। उसके प्रकाण्ड बौद्ध अनुशीलन के आधार पर कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि भारतवर्ष के किसी प्रमुख बौद्धिक केन्द्र में रह कर उसने गहन अध्ययन किया होगा। उसने कई बौद्ध ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया था। ये अनूदित ग्रन्थ उसकी प्रखर मेधा एवं तत्त्व-भेदि वैदुष्य के परिचायक हैं। उसने चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य में प्रचुर योगदान किया था।

प्राचीन सोग्डिआना (आधुनिक समरकन्द एवं बोखारा) के भी कुछ भिक्षु चीन आये और वहाँ उन्होंने बड़े ही परिश्रमपूर्वक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इनमें सब से प्रमुख संघभद्र था, जिसका चीनी नाम सेंग-हुई था। कहा जाता है, कि उसके माँ-बाप कुछ समय तक भारतवर्ष में भी रह चुके थे। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त वह भिक्षु बन गया और चीन में नानकिंग चला आया था। उसने इसी स्थान को अपने कार्य-कलापों का केन्द्रबिन्दु चुन रखा था। उसने वहाँ एक बौद्धसम्प्रदाय की स्थापना भी की थी एवं एक मठ का निर्माण भी कराया। दक्षिण चीन में इस धर्म का प्रचार करने वाला वह प्रथम बौद्ध भिक्षु था।

काश्मीर के बौद्ध प्रचारक—चीन में सबसे अधिक काश्मीर के बौद्ध विद्वानों ने धर्म-प्रचार का कार्य किया। कुषाण-नरेशों की प्रेरणा के फलस्वरूप

---

१. द्रष्टव्यः—ब्रागची, प्रबोधचन्द्र; इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ ३३-३५ तथा मजूमदार रमेशचन्द्र; क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६०९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काश्मीर का धार्मिक वातावरण बौद्ध प्रभाव से आच्छादित था। यहाँ पर बाहरी देशों के भी विद्यार्थी बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन के निमित्त आते थे।

(१) **संघभूति**—काश्मीर के बौद्ध प्रचारकों में सर्वप्रथम संघभूति का नाम उल्लेखनीय है। वह ३८१ ई० में चीन आया था। वहाँ ३८४ ई० तक उसके कार्य-कलापों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। चीनी भाषा में कई बौद्ध ग्रन्थों का उसने रूपान्तर किया। उसने विनयपिटक की एक विशद टीका भी इस देश की भाषा में प्रस्तुत की थी, जो उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है।

(२) **गौतम संघदेव**—वह ३८४ ई० में चीन के चंगगन नामक प्रदेश में आया था। चीनी साधनों के अनुसार उसकी गणना महान् आचार्यों की कोटि में की जाती थी। उसने सबसे पहले चीनी विद्यार्थियों को बौद्ध ग्रन्थों का अध्यापन-कार्य करना प्रारम्भ किया। ३८१ ई० में धर्म-प्रचार के हेतु वह दक्षिण चीन आया। उसने लूशन में वर्तमान एक बौद्ध मठ में रहकर कुछ संस्कृत के ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर किया। ३९७ ई० में वह नानकिंग आया। वहाँ के अधिकारियों के ऊपर उसने अपनी विद्वत्ता की गहरी छाप जमा ली। उसके निवास के निमित्त राज्य की ओर से एक मठ का निर्माण किया गया। उसने अपने विद्यार्थियों की सहायता से कई महत्त्वपूर्ण बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य पूरा किया। वह दृढ़ संकल्प, उच्च प्रतिभा एवं अदम्य उत्साह से युक्त था। अपनी योजना की पूर्ण कार्यान्विति के निमित्त उसन अपना पूरा जीवन चीन में ही व्यतीत किया था। बौद्ध धर्म के इतिहास में वह अपनी सेवाओं एवं त्याग के निमित्त सर्वदा समादृत रहेगा।

(३) **पुण्यत्रात**—इनके विषय में हमारा परिचय अत्यल्प है। लगता है कि कूची से वह भी कुमारजीव के साथ चीन लाया गया था। उसने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद में कुमारजीव की सहायता की थी। उसने सर्वास्तिवाद शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

(४) **धर्मयशस्**—इसकी शिक्षा काश्मीर में सम्पादित हुई थी। उसने तीस वर्ष की अवस्था में काश्मीर छोड़ दिया। तदनन्तर मध्य एशिया के विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों का पर्यटन करता हुआ वह ३९७ ई० में चीन पहुँचा। इस समय से लेकर ४५३ ई० तक उसने अपना जीवन चीन में बिताया। उसने कई भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। अपना कार्य पूर्ण कर लेने के पश्चात वह चीन से मध्य एशिया होता हुआ काश्मीर लौट आया।

(५) **बुद्धयशस**—उसका जन्म काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में उसके पिता को बौद्ध धर्म में कोई आस्था नहीं थी। चीनी जन-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रुति के अनुसार उसने किसी समय एक बौद्ध भिक्षु को अपमानित कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वह असाध्य रोग से पीड़ित हो उठा। इससे मुक्ति पाने के निमित्त उसने उस बौद्ध भिक्षु की बहुत सेवा की जिससे वह रोगमुक्त हो उठा। इससे बौद्ध धर्म से वह इतना प्रभावित हो उठा कि उसने अपने तेरह वर्षीय बालक यश को उसे समर्पित कर दिया। इस भिक्षु के सम्पर्क में रह कर यश ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन किया। २७ वर्ष की अवस्था से उसने पूर्णतः एक बौद्ध भिक्षु का जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार के निमित्त उसमें एक प्रबल भावना उत्पन्न हुई। वह सबसे पहले काशगर आया। वहाँ का स्थानीय शासक उससे बहुत प्रभावित था। उसने काशगर में अपने जीवन के दस वर्ष बिता दिये। तदनन्तर वह कूची होता हुआ चीन आया। वहाँ कुमारजीव के साथ उसने कई बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुमारजीव की मृत्यु के अनन्तर वह काश्मीर लौट आया। चीनी साधनों के अनुसार वह उच्च आदर्शों वाला एक सदाशय व्यक्ति था। वह राजकीय उपहारों को स्वीकार नहीं करता था तथा आदर्श श्रमण-जीवन बिताता था। मध्य एशिया एवं चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार-हेतु उसकी सेवाएँ श्लाघनीय एवं चिरस्मरणीय रहेंगी।

(६) **विमलाक्ष**—वह भी कुमारजीव का घोर प्रशंसक एवं उनकी शिष्य-परम्परा में आता था। कुमारजीव भी उसकी लगन एवं प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित थे। वह उनके साथ कूची में बहुत दिनों तक कार्य कर चुका था। कुमारजीव के साथ वह भी चीन लाया गया था। वहाँ पर चंगगन में ४०६ ई०से लेकर ४१३ ई० तक उसने उनके साथ कार्य किया। उसने कुछ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया था। कुमारजीव की मृत्यु के अनन्तर ४१३ ई० में वह दक्षिण चीन आया। वहाँ उसने अपने जीवन का अवशिष्ट भाग बौद्धधर्म के प्रचार में व्यतीत किया।

(७) **बुद्धजीव**—वह चीन में सर्वप्रथम नानकिंग नामक स्थान पर ४२३ ई० में पहुँचा। उस समय फाहियान संस्कृत भाषा में लिखे हुए कुछ विशिष्ट ग्रन्थों को साथ लेकर भारतवर्ष से चीन लौटा था। बुद्धजीव ने इनमें से कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया। उसने अपना शेष जीवन चीन में व्यतीत किया। उसका भी जीवन सेवा एवं त्याग का एक विलक्षण उदाहरण था। वह भी उन्हीं मनीषियों में आता था, जिन्होंने पर-सेवा एवं धर्मार्थ में अपने जीवन को अर्पित कर दिया था।

(८) **गुणवर्मा**—वह बुद्धजीव से अधिक बुद्धिमान् था। बीस वर्ष की अवस्था में उसने भिक्षु-जीवन बिताना प्रारम्भ किया। उसके विषय में किम्वदन्ती यह थी कि जब वह तीस वर्ष की अवस्था का था, उस समय काश्मीर का शासक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निस्सन्तान मर गया। वहाँ के मन्त्रिमण्डल ने उसे काश्मीर का सम्राट् होने के निमित्त आमन्त्रित किया, पर उसने इसे अस्वीकार कर दिया। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार वह पहले से ही काश्मीर के राजकीय परिवार से सम्बन्धित था तथा शैशवावस्था से ही उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था। वह काश्मीर से सबसे पहले लंका आया। वहाँ पर भिक्षु-संघ ने उसका हार्दिक स्वागत किया। उसने इस द्वीप में कुछ काल तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तदनन्तर वह जावा आया। वहाँ का शासक इसकी विद्वत्ता से अधिक प्रभावित हुआ। वहाँ के राजकीय परिवार के सभी सदस्यों ने उससे बौद्ध धर्म में दीक्षा ली। धीरे-धीरे उसकी ख्याति चीन में भी पहुँची। नानकिंग के बौद्ध संघ ने चीन-सम्राट् से गुणवर्मा को चीन आमन्त्रित करने लिए अनुरोध किया। उसने चीन सम्राट् के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। ४३१ ई० में वह नानकिंग पहुँचा। वहाँ पर इसके निवास के निमित्त एक मठ का निर्माण कराया गया। दुर्भाग्यवश वह चीन में केवल एक ही वर्ष तक जीवित रह सका। इस अल्पकाल के भीतर उसने प्रचुर कार्य किया। उसने लगभग ११ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

(९) **धर्ममित्र**—वह ध्यानवाद का आचार्य था। सर्वप्रथम वह कूची आया। कुछ वर्षों तक वहाँ रहने के उपरान्त वह तन हुअंग आया। वहाँ पर उसने एक मठ की स्थापना की। ४२४ ई० में वह दक्षिण चीन पहुँचा। उसने अपने जीवन के शेष दिनों को यहीं पर व्यतीत किया था। उसकी मृत्यु ४४२ई० में हुई। उसने चीनी विद्यार्थियों को कई बौद्ध ग्रन्थों का अध्यापन कराया। धर्ममित्र एवं उपर्युक्त विद्वानों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीर के भिक्षुओं ने, जो त्यागमूर्ति एवं बहुश्रुत थे, बौद्ध धर्म के माध्यम से चीन में भारतीय संस्कृति के प्रसार में विलक्षण योगदान दिया था।[1]

मध्यदेश के बौद्ध प्रचारक

(१) **धर्मक्षेम**—वह मध्यदेश का रहने वाला तथा महायान धर्म का अनुयायी था। चीन के लेखक उत्तरी भारतवर्ष के उस भाग को जो पंजाब एवं बिहार के बीच पड़ता है, मध्यदेश की संज्ञा से अभिहित करते थे। वह सबसे पहले काश्मीर आया। वहाँ के बौद्ध महायान धर्म के विरोधी थे, अतएव उसे यहाँ से हटकर कूची आना पड़ा। कुछ काल के अनन्तर वह पश्चिमी चीन में आया।

---

१. मजूमदार, रमेशचन्द्र, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६०९-१० तथा बागची, प्रबोधचन्द्र, इंडिया एंड चाइना, पृष्ठ ३५-४१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यहाँ के शासक ने उसे रोक लिया। ४१४ ई० से लेकर ४३२ ई० तक कई ग्रन्थों का उसने बड़ी लगन के साथ अनुवाद किया। उसने ४३२ ई० में स्थानीय शासक से भारत लौटने के लिए आज्ञा माँगी। वह धर्मक्षेम को वहाँ से हटने नहीं देना चाहता था तथा कुछ और ग्रन्थों का उससे अनुवाद कराना चाहता था। परन्तु धर्मक्षेम बड़ा ही निर्भीक एवं अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति था। वह भारतवर्ष से कुछ और पाण्डुलिपियाँ चीन लाना चाहता था। परन्तु चीन-सम्राट् के मन में उसकी सदेच्छाओं की यथार्थता में संशय था। अतएव उसे स्वदेश लौटने के निमित्त साफ मना करा दिया। परन्तु धर्मक्षेम इन घुड़कियों से डरने वाला न था। उसने ४३३ ई० में अपनी भारतीय यात्रा प्रारम्भ कर दी। अपनी आज्ञा की इस अवहेलना पर चीन-सम्राट् की कोपाग्नि प्रज्वलित हो गई। उसने उसे मार्ग में ही पकड़वा कर अपने दूतों द्वारा मरवा डाला।

(२) गुणभद्र—वह भी मध्यदेश का रहने वाला था। ४३५ ई० में समुद्र-मार्ग से वह दक्षिणी चीन आया। उसका जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, पर उसकी प्रवृत्ति बौद्ध धर्म की ओर थी। अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध वह भिक्षुसंघ का सदस्य बन गया तथा बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन करने लगा। वह लंका होता हुआ ४३५ ई० में कैण्टन पहुँचा। तत्पश्चात् वह नानकिंग आया; जहाँ मृत्युपर्यन्त (४६८ ई० तक) उसने अध्यापन-कार्य तथा अनुवाद-कार्य किया। इस नगर में जेतवन नामक एक विहार विद्यमान था। लगता है कि श्रावस्ती के जेतवन-विहार के नाम पर भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने इसका यह नाम रख दिया था। उसके रहने की व्यवस्था उसी विहार में की गई थी। उसके द्वारा अनूदित कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

पूर्वी भारत के प्रचारक—चीनी साधनों के अनुसार बौद्ध धर्म के कुछ प्रचारक असम एवं बंगाल से भी चीन आये थे। उनमें ज्ञानभद्र, जिनयशस् तथा यशोगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। दुर्भाग्यवश इनके विषय में उल्लेख बहुत कम मिलते हैं। परिणामतः उनके जीवनचरित एवं कार्य-कलापों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अत्यल्प है। इन सभी विद्वानों ने उत्तरी चीन में छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक कार्य किया था।

पश्चिमी भारत के प्रचारक

(१) उपशून्य—वह उज्जयिनी का रहने वाला था, जो कि तत्कालीन प्रख्यात बौद्धिक केन्द्र था। यह नगरी वस्तुतः पण्डितों एवं साहित्यकारों की खान थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि वहाँ एक विद्वन्मण्डली

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहती थी, जो लेखकों एवं कवियों की कृतियों की परीक्षा लेती थी। यदि वह मण्डली किसी ग्रन्थ को प्रामाणिक मान लेती थी तो उसे एक श्रेष्ठ कृति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। राजशेखर के अनुसार कालिदास, भर्तृमेण्ठ एवं भारवि जैसे उत्कृष्ट साहित्यकारों की रचनाओं की भी सम्यक् परीक्षा उज्जयिनी की विद्वन्मण्डली द्वारा ही सम्पन्न हुई थी। उपशून्य सम्भवतः जल-मार्ग से चीन गया था। वहाँ सबसे पहले वह नानकिंग आया। उसने वहाँ पर छठी शताब्दी का सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में व्यतीत किया था।

(२) **परमार्थ**—वह भी उज्जयिनी का रहने वाला तथा चीन में छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आया था। उसका एक दूसरा नाम गुणरत्न भी था। वह कई बौद्ध शाखाओं का प्रकाण्ड विद्वान् था। शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त वह पाटलिपुत्र आया। इसी नगर को पुष्पपुर तथा कुसुमपुर भी कहा जाता था। यहीं पर आर्यभट जैसे विद्वान् तथा हरिषेण एवं वीरसेन सदृश कवि रहते थे। उदयगिरि की पहाड़ियों के एक लेख में वीरसेन अपने आप को पाटलिपुत्र का निवासी कवि बताता है। जिस समय परमार्थ इस नगर में पहुँचा, उस समय एक चीनी दल वहाँ आया था। इस दल के अनुरोध पर पाटलिपुत्र-नरेश ने परमार्थ को चीन भेज दिया। वह जल-मार्ग के द्वारा इस देश में ५४६ ई० में पहुँचा। वह अपने साथ कई बौद्ध ग्रन्थ ले आया था। ५५७ ई० तक वह इन ग्रन्थों का अनुवाद करता रहा। इस समय तक उसने लगभग ७० ग्रन्थों का अनुवाद किया। ५५७ ई० से लेकर ५६९ ई० तक उसने शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत किया। उसकी मृत्यु ५७९ ई० में सम्भवतः कैण्टन में हुई। उसके द्वारा अनूदित ग्रन्थों में सन्धिनिर्मोचनसूत्र, छेदिका-प्रज्ञापारमितासूत्र, महान्याय संपरिग्रह-शास्त्र, मध्यान्तविभाग-शास्त्र अभिधर्मकोषशास्त्रव्याख्या, विनय-द्वाविंशति-प्रसन्नार्थ-शास्त्र तथा अष्टादर्श-शून्यता-शास्त्र उल्लेखनीय हैं।[1]

उत्तर-पश्चिम भारत के बौद्ध प्रचारक

(१) **बुद्धभद्र**—इसका जन्म नगरहार में हुआ था। १७ वर्ष की अवस्था में ही इसका अध्ययन काफी विस्तृत हो चुका था। वह इस समय काश्मीर आया। यहाँ पर उसका परिचय चेयेन नामक चीनी यात्री के साथ हुआ। उसके साथ वह चीन आया। वहाँ पर उसने कुछ समय तक कुमारजीव के साथ कार्य

---

१. मजूमदार रमेशचन्द्र, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६१० तथा बागची, प्रबोधचन्द्र, इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ ४४-४८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया। कुमारजीव इसकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित था। ४२१ ई० में वह नानकिंग आया। वहाँ पर उसने मृत्युपर्यन्त (४२९ ई० तक) कई ग्रन्थों का अनुवाद किया। कहा जाता है कि बुद्धिभद्र भी स्वाभिमानी प्रकृति का व्यक्ति था। चीन-सम्राट् द्वारा आमन्त्रित होने पर भी वह उससे मिलने कभी नहीं आया॥

(२) **विमोक्षसेन**—वह स्वात की घाटी में स्थित उड्डियान नामक स्थान का रहने वाला था। कोसल-नरेश विरुडभ से पराजित होने के कारण कपिलवस्तु के शाक्यों की एक शाखा उड्डियान चली आई थी। विमोक्षसेन इसी शाक्य-शाखा से सम्बन्धित था। उसकी शिक्षा काश्मीर में सम्पादित हुई थी। वह अभिधर्म-साहित्य का एक प्रकाण्ड पंडित था। ५४१ ई० तक वह उत्तरी चीन में था। इस समय तक उसने कई ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

(३) **बोधिधर्म**—उसका द्वितीय नाम धर्मबोधि भी था। वह ५२६ ई० में चीन आया था। वहाँ के सम्राट् ने इस समय उसे नानकिंग में आमंत्रित किया था। उसके अनुसार वास्तविक आध्यात्मिक लाभ आडम्बर, अनुष्ठान तथा लौकिक साधनों से अप्राप्य है। इसका उपाय मन की शुद्धता है। वह बौद्ध धर्म के ध्यानवाद सम्प्रदाय का समर्थक था। उसने महापरिनिर्वाणसूत्र शास्त्र का अनुवाद किया था। उसका चीनी नाम त-म-फु-थि था।

(४) **जिनगुप्त**—इसका जन्म गन्धार में हुआ था। इसकी शिक्षा पुरुषपुर में सम्पादित हुई, जो कि इस काल का एक समृद्धिशाली नगर था। इसके पूर्व वहाँ पर कनिष्क की राजधानी वर्तमान थी। उसने इस नगर को अनेक मठों, विहारों एवं भवनों द्वारा अलंकृत किया था। उसी के समय में यहाँ पर मूर्ति-कला की गंधार-शैली का विकास हुआ। गौतम बुद्ध की मूर्त्तियों का निर्माण वहाँ इसी शैली के अनुसार हुआ था। इसी नगर का आधुनिक प्रतिनिधि पेशावर है। विद्योपार्जन के उपरान्त जिनगुप्त ने भिक्षु-जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। २७ वर्ष की अवस्था में विदेश में बौद्ध-धर्म के प्रचार के निमित्त उसमें एक प्रबल भावना उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम वह कपिशा आया, जहाँ उसने एक वर्ष तक प्रचार का कार्य किया। तदनन्तर वह ताशकुर्घान होता हुआ खोतान पहुँचा। यह केन्द्र भारतीय संस्कृति से विशेष रूप से प्रभावित था। एक तरह से यह बृहत्तर भारतवर्ष के अन्तर्गत आता था। यहाँ पर कुछ समय तक रह लेने के उपरान्त वह दक्षिण मार्ग से होता हुआ ५५७ ई० में चीन में वर्तमान कानसु नामक स्थान पर पहुँचा। उसके साथ यहाँ उसके आचार्य ज्ञानभद्र और जिनयशस् भी आये थे। वह उनके साथ ५५९ ई० में चंगगन पहुँचा। राजाज्ञा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुसार यहाँ पर उसके निवास के निमित्त एक मठ का निर्माण किया गया। अपने आचार्यों के पर्यवेक्षण में उसने यहाँ कुछ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया ।।

चीन में ५७२ ई० में एक महान् राजनीतिक संकट पैदा हुआ। उसके परिणामस्वरूप जिनगुप्त अपने आचार्यों के साथ चीन से मध्य एशिया चला आया, जहाँ तुर्कों का शासन था। उसके आचार्यों की मृत्यु यहीं पर हुई। उसने ५८१ ई० तक तुर्कों के बीच बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ५८१ ई० में चीन में पुनः राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई। इस समय वहाँ सुइ राजवंश के शासन का उद्गम हुआ। इस वंश के तत्कालीन सम्राट् ने जिनगुप्त को चीन आमन्त्रित किया। इस आमन्त्रण को स्वीकार कर वह पुनः चीन लौट आया। यहाँ पर ५८५ ई० तक उसने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। लगभग ६०० ई० में उसकी मृत्यु हुई।

(५) **धर्मगुप्त**—जिनगुप्त के उपरान्त चीन में आने वाले बौद्ध प्रचारकों में धर्मगुप्त सबसे प्रसिद्ध है। वह काठियावाड़ (लाट विषय) का रहने वाला था। मन्दसोर के एक लेख में लाटविषय का बड़ा मनोरम वर्णन मिलता है। उसके अनुसार इस प्रदेश का प्राकृतिक दृश्य नितान्त अनुपम था। वहाँ के वृक्ष फूलों के भार से झुके हुए थे। देवकुल, सभा एवं विहारों के कारण यह बड़ा ही रमणीक लगता था। लाट-भूमि विविध वनस्पतियों से युक्त पर्वत-मालाओं द्वारा अलंकृत थीं। वहाँ के नागरिक गुणी एवं नाना शिल्पों एवं दस्तकारियों में ऊँची दखल रखते थे।[1] २३ वर्ष की अवस्था में धर्मगुप्त लाट देश से कान्यकुब्ज आया। इसी पुर का एक द्वितीय नाम गाधिपुर अथवा महोदयनगर भी था। यहाँ पर कौमुदीसंघाराम नामक मठ में रह कर उसने बौद्ध साहित्य का अनुशीलन किया। पचीस वर्ष की अवस्था में वह भिक्षु बन गया। वह अब उत्तरी पंजाब के देव विहार नामक मठ मे रहने लगा। यहाँ उसने सौदागरों से चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार के विषय में सुना। फलतः उसने अपनी चीनी यात्रा प्रारम्भ की। वह कपिशा, तुखार, बदक्शाँ, बख्तान, ताशकुर्घान तथा काशगर होता हुआ कूची पहुँचा। वहाँ का सम्राट् धर्मगुप्त को रोकना चाहता था। पर वह उसकी इच्छा के विरुद्ध करसहर तथा तुर्फान होता हुआ ५९० ई० में

---

१. "कुसुमभरानततरुवर—देवकुल-सभा-विहार-रमणीयात् ।
लाटविषयान्नगावृत—शैलाज्जगति प्रथितशिल्पाः ।।"
—कुमारगुप्त द्वितीय-कालीन, मन्दसोर का लेख, श्लोक ४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चंगगन पहुँचा। वहाँ पर कई वर्षों तक उसने बौद्धधर्म का प्रचार किया। कालान्तर में वह लो-यंग आया, जहाँ पर ६१० ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसने वहाँ कुछ भारतीय ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया तथा बौद्ध साहित्य की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। उसने अपनी यात्रा का विवरण भी लिखा था, जो अभी तक उपलब्ध न हो सका है। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में इस विवरण का छिटपुट उल्लेख हुआ है। उनके अनुसार इसमें विभिन्न प्रदेशों की जलवायु, पर्वत, नदी, नगर, रीति एवं प्रथा तथा व्यापार और वाणिज्य के विषय में विशद सूचनाएँ भरी हुई थीं।[1]

राजकीय सहयोग—कतिपय चीन के सम्राटों ने भी बौद्ध धर्म को प्रोत्साहित किया। उदाहरणार्थ वू (Wu) ने २६५ ई० से लेकर २९० ई० तक विभिन्न स्थानों पर कई मठों का निर्माण किया। चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में नानकिंग एवं चंगन में चीन सम्राटों के द्वारा निर्मित कई मठ विद्यमान थे। इनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या ३,७०० थी। चीन-सम्राटों की प्रेरणा के फलस्वरूप ३१७ ई० से ४१७ ई० तक ३६३ भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। युअन-ति (३१७ ई०—३२२ ई०) ने नानकिंग में दो मठों का निर्माण किया। पहले मठ का नाम व-कुअन-सी तथा दूसरे का नाम लंग-कुअन-सी था। इनमें से प्रत्येक में एक हजार भिक्षु रहते थे। मिंग-ती (३२२ ई०—३२५ ई०) ने मिंग-हिंग-सी तथा ताओ-चंग-सी नामक दो मठों का निर्माण कराया था। इनमें से प्रत्येक में एक सौ भिक्षु रहते थे। चेंग-ती (३२६ ई०—३४२ ई०) ने चंग-हिंग-सी तथा लु-यि-सी नामक मठ निर्मित किया था। इनमें से प्रत्येक में एक सहस्र भिक्षु रहते थे। वेन-ती (३७१ ई०—३७२ ई०) ने बौद्ध उपासकों के लिये कई प्रतिमाओं का निर्माण कराया। लगता है कि वह महायान धर्म से प्रभावित था।

उत्तरी चीन के शे-हु नामक सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई तथा ३८६ ई० में निम्नलिखित राजाज्ञा घोषित की—"बुद्ध एक ऐसे देवता हैं, जिनकी उपासना बाहरी देशों में की जाती है। अतएव यह उचित ही है कि मैं भी उनकी आराधना करूँ। मैं अपनी प्रजा को बुद्ध की उपासना के निमित्त आज्ञा देता हूँ। यदि मेरे राज्य के लोग चाहें, तो वे बौद्ध धर्म का अनुसरण कर सकते हैं।"

---

१. मजूमदार, रमेशचन्द्र, क्लैसिकल एज, पृष्ठ ६११-२७ तथा बागची, प्रबोधचन्द्र, इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ ४५-४८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उत्तरी चीन में वेई-वंश के शासकों ने इसके प्रचार के निमित्त पर्याप्त कार्य किया था। उदाहरणार्थ वू-ती (३८६ ई०—४०७ ई०) ने १५ चैत्यों का निर्माण किया था। उसने बौद्धों की एक सभा बुलाई थी, जिसमें तीन हजार भिक्षु उपस्थित थे। चेंग-ती (४५३ ई०—४६५ ई०) के काल में भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों की संख्या तीस हजार के लगभग थी। हुयेन-वेंग-ती (४६५ई० —४७६ ई०) ने दो मठों का निर्माण किया, जिनमें ध्यानवाद संप्रदाय के बौद्ध आचार्य रहते थे। हिओ-वेन-ती (४७६ ई०—४७९ ई०) के काल में बौद्ध मतावलम्बियों की संख्या ४०,००० थी। वेइ वंश के १७० वर्षों के शासन-काल में लोयंग तथा चंगन में ४७ विशाल मठ निर्मित किये गये थे। इनके समय में ये दोनों स्थान बौद्ध प्रचार-सम्बन्धी सबसे महान् केन्द्र थे।[1]

चीनी पर्यटक

चू-शे-हिंग—बाल्यावस्था में ही उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी। उसने लोयंग के पो-मा-सी नामक मठ में बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन किया था। उसने २६० ई० में अपनी भारतीय यात्रा प्रारम्भ की थी। मध्य एशिया में विभिन्न स्थानों का पर्यटन करता हुआ वह खोतान आया। वहाँ इस समय बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार था। इस स्थान पर उसे भारतीय आचार्यों से भेंट हुई। उनसे इसे बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन का सुअवसर उपलब्ध हुआ। इस कारण उसने अपनी भारतीय यात्रा यहाँ पर समाप्त कर दी। उसने अपने जीवन के अवशिष्ट भाग को यहीं पर व्यतीत किया।

इत्सिंग के विवरण के अनुसार तृतीय शताब्दी के मध्य भाग में चीन के कुछ बौद्ध भिक्षु स्थलमार्ग के द्वारा बर्मा तथा असम होते हुये भारतवर्ष आये थे। गुप्तवंश के संस्थापक श्रीगुप्त (चेलिकेतो) ने उनके निवास के निमित्त मृगशिखावन में एक मठ बनवाया था। उसे चीनी संघाराम कहा जाता था। उसने इस मठ की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ ग्राम भी दान में दिया था।

चतुर्थ शताब्दी के उपरान्त चीन के बौद्धों ने भारतवर्ष में विशेष अभिरुचि लेना प्रारम्भ किया। उदाहरणार्थ ताओन्गन नामक चीनी भिक्षु ने मध्य एशिया में रहने वाले भारतीय भिक्षुओं को चीन आमन्त्रित किया। उसने कई चीनी

---

१. बागची, प्रबोधचन्द्र, इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ ६०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आचार्यों को एकत्र कर उन्हें बौद्ध धर्म में उच्च शिक्षा दी थी। तदनन्तर इसके प्रचार के निमित्त उसने उन्हें देश के विभिन्न भागों में भेजा। उसने भारतीय भिक्षुओं की सहायता से कुछ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में प्रामाणिक अनुवाद किया था। उसके अनन्तर फाहियान चीन से भारतवर्ष आया, जिसके यात्रा-विवरण के ऐतिहासिक महत्त्व के बहुल पक्षों पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

पाओ-युन—उसने ३९७ ई० में अपनी भारतीय यात्रा आरम्भ की। मध्य-एशिया जाते समय फाहियान के साथ उसकी भेंट हुई। वह उसके साथ भारत-वर्ष पहुँचा। उसने यहाँ संस्कृत का प्रचुर अध्ययन किया। वह भारतवर्ष से बौद्ध ग्रन्थों की कई प्रतिलिपियों को अपने साथ ले गया था। उसने अपनी भारतीय यात्रा का विवरण भी लिखा है, जो दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध है।

चे-मोंग—उसने ४०४ ई० में चौदह मित्रों के साथ अपनी भारतीय यात्रा प्रारम्भ की। मध्य-एशिया में कूची और खोतान का पर्यटन करने के उपरान्त वह पामीर होता हुआ काश्मीर आया। पामीर का रास्ता इतना खराब था कि उसके नव मित्र अधीर हो कर वहाँ से स्वदेश वापस लौट गये। एक भारतीय भिक्षु, जो उनके साथ मार्ग-पर्यवेक्षण का कार्य कर रहा था, थकावट के कारण मृत्यु का शिकार हो गया। परिणामतः जब वह काश्मीर पहुँचा, उस समय उसके केवल चार मित्र अवशिष्ट रह गये थे। उसके उपरान्त उसने बौद्ध तीर्थों का पर्यटन किया। उसने ४२४ ई० में उसी मार्ग से चीन के लिये प्रस्थान किया। ४३९ ई० में मध्य-एशिया में रुक कर उसने अपनी भारतीय यात्रा का विवरण लिखा जो अभी तक अप्राप्त है।

फा-यंग—उसने ४२० ई० में अपनी भारतीय यात्रा प्रारम्भ की। वह तुर्फान, काशगर तथा पामीर होता हुआ काश्मीर आया। वह संस्कृत भाषा एवं बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन के निमित्त वहाँ एक वर्ष तक रुका हुआ था। तदनन्तर विभिन्न बौद्ध तीर्थों का पर्यटन करता हुआ वह ताम्रलिप्ति आया। वहाँ पर जहाज में बैठ कर वह स्वदेश वापस लौटा। उसका भारतीय यात्रा-विवरण अनुपलब्ध है। इस समय के अन्य चीनी यात्रियों में ताओ-पु, फा-शेंग, फा-वेइ, ताओ-यो तथा ताओ-ताई उल्लेखनीय हैं। ताओ-पु चीन के एक सम्राट् के द्वारा बौद्ध ग्रन्थों की खोज के निमित्त भारतवर्ष भेजा गया था। उसके साथ दस सहायक लेखक भी भारतवर्ष भेजे गये थे। दुर्भाग्यवश मार्ग में जहाज के टूट जाने के कारण यहाँ पहुँचने के पूर्व ये सभी मृत्यु को प्राप्त हुये। फा-शेंग ने अपनी भारतीय यात्रा का वर्णन किया था जो अभी तक प्राप्त न हो सका

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। ताओ-यो भारतवर्ष ४५१ ई० में आया हुआ था। उसने सांकाश्य तक विभिन्न भारतीय तीर्थों का पर्यटन किया था। उसका विवरण अप्राप्य है।[1]

भारतीय प्रभाव

बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग अपने अनूदित रूप में लंका, बर्मा, स्याम, नेपाल तथा चीन आदि देशों से प्राप्त हुआ है। चीन में बौद्ध साहित्य के अनुवाद की वास्तविक महत्त्वपूर्ण परंपरा कुमारजीव ने स्थापित की थी। वह सस्कृत, पाली, तथा चीनी भाषाओं का मर्मज्ञ था। इस कारण उसके अनूदित ग्रन्थ पर्याप्त अंशों में प्रामाणिक थे। इनके अध्ययन के कारण चीनी विद्वानों की अभिरुचि बौद्ध धर्म में जागृत हो उठी। अतएव उन लोगों ने स्वयं बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। यह चीन में बौद्ध साहित्य के अनुवाद का द्वितीय काल था। इन चीनी विद्वानों ने वहाँ पर भारतवर्ष से आये हुये विद्वानों की सहायता से संस्कृत एवं पाली भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। चीन में बौद्ध साहित्य के अनुवाद का तृतीय काल हुयेनसांग का इस क्षेत्र में अवतरण था। उसने लगभग ७५ भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वह संस्कृत का एक प्रकांड विद्वान् था। बौद्ध दर्शन में उसकी गति सुविशेष थी। उसने अपने देश के निवासियों को बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का ठीक ज्ञान देने के निमित्त चेष्टा की। इसी समय यहाँ पर प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् प्रभाकरमित्र के पर्यवेक्षण में भी बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद हो रहा था। वह नालंदा के विश्वविद्यालय का प्रसिद्ध आचार्य था। तत्कालीन चीन-सम्राट् ने उसके विश्राम के लिये चंगन में व्यवस्था की थी।

महायान ग्रंथ—चीनी भाषा में अनूदित महायान-साहित्य तीन वर्गों में विभाजित है—(१) विनयपिटक, (२) सूत्रपिटक तथा (३) शास्त्र। विनय-पिटक में सबसे प्रसिद्ध बोधिसत्वचर्यानिर्देश तथा बोधिसत्वप्रातिमोक्ष थे। बोधिसत्वचर्यानिर्देश का चीन में दो बार अनुवाद किया गया था। पहली बार ४२१ ई० में धर्मक्षेत्र ने इसका चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया था। तदनन्तर गुणवर्मा ने ४३१ ई० में इसका द्वितीय अनुवाद तैयार किया था। इसी प्रकार बोधिसत्वप्रातिमोक्ष का भी दो बार चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया गया। इसका प्रथम अनुवाद धर्मक्षेत्र के द्वारा संपन्न कराया गया था। कुमारजीव ने

---

१. बागची, प्रबोधचन्द्र; इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ ६४-६५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America, HHFA(USA)

४०६ ई० में ब्रह्मजालसूत्र का चीनी रूपान्तर किया। इसकी गणना भी विनयपिटक साहित्य में की जाती है।

चीन का महायानसूत्रपिटक-साहित्य पाँच वर्गों में विभाजित था—(१) प्रज्ञापारमिता, (२) रत्नकूट, (३) महासन्निपात, (४) अवसंतक तथा (५) निर्वाण। 'प्रज्ञापारमिता' 'प्रज्ञापारमितासूत्र' के विभिन्न भागों का चीनी अनुवाद है; उदाहरणार्थ शतसाहस्रिका, प्रज्ञापारमिता, पंचविंशतिसाहस्रिका, दशसाहस्रिका, पंशशतिका तथा सप्तशतिका। चीन में इनका अनुवाद ४२२ ई० तथा ६५९ ई० के बीच किया गया था। रत्नकूट-वर्ग के संग्रह में सबसे प्रसिद्ध महारत्नकूटसूत्र तथा सुखावतीव्यूहसूत्र हैं। सुखावतीव्यूहसूत्र का चीन में बारह बार अनुवाद किया गया था। प्रथम अनुवाद १४८ ई० में प्रस्तुत हुआ था। महासन्निपात-वर्ग के संकलन में चन्द्रगर्भसूत्र, सूर्यगर्भसूत्र तथा क्षितिगर्भसूत्र सम्मिलित थे। अवसंतक-वर्ग के संकलन में सबसे प्रसिद्ध बोधिसत्वतंशक-महावैपुल्यसूत्र था। इसका अनुवाद काश्मीर के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् बुद्धभद्र के द्वारा किया गया था। निर्वाण-वर्ग के संग्रह में सबसे प्रसिद्ध महापरिनिर्वाण-सूत्र था। धर्मक्षेत्र ने इसका अनुवाद ४२३ ई० में किया था। चीन के महायान शास्त्रसाहित्य में सबसे प्रसिद्ध महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र-शास्त्र था। इसके मूल लेखक नागार्जुन थे। यह संस्कृत के एक लक्ष श्लोकों में लिखा गया था। यह अपने मूल रूप में अप्राप्य है। इसका केवल चीनी रूपान्तर ही उपलब्ध है।[1]

हीनयान ग्रन्थ—चीन का अनूदित हीनयान-साहित्य तीन वर्गों में उपलब्ध हुआ है—(१) विनयपिटक, (२) सूत्रपिटक तथा (३) अभिधर्मपिटक। चीनी भाषा में पाँच विभिन्न विनयपिटकों के अनुवाद मिलते हैं। इनका मूल रूप अनुपलब्ध है। (१) महासंघिक सम्प्रदाय का विनयपिटक—इसमें ३४ अध्याय हैं। फाहियान मूल ग्रन्थ को अपने साथ भारतवर्ष से चीन ले आया था। उसने ४२४ ई० में बुद्धभद्र नामक विद्वान् की सहायता से इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। (२) सर्वास्तिवाद संप्रदाय का विनयपिटक—इसमें ६१ अध्याय मिलते हैं। कुमारजीव एवं पुण्यत्रात ने ४०४ ई० में इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। (३) धर्मगुप्तक सम्प्रदाय का विनयपिटक—इसमें ६० अध्याय मिलते हैं। इसका अनुवाद काश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् बुद्धयशस् ने ४०५ ई० में किया था। (४) महाशासक सम्प्रदाय का विनयपिटक—

---

१. विस्तृत सूचनाओं के लिए द्रष्टव्य—बागची, प्रबोधचन्द्र; इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ १३७-४४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसमें ३० अध्याय मिलते हैं। काश्मीर के विद्वान् बुद्धजीव ने इसका अनुवाद ४२३ ई० में किया था। (५) मूलसर्वास्तिवाद का विनयपिटक—इत्सिंग ने इसका अनुवाद सातवीं शताब्दी में किया था।

भारतीय पाली सूत्रपिटक पाँच भागों में विभक्त है—(१) दीघ (दीर्घ), (२) मज्झिम (मध्यम), (३) संयुक्त (संयुक्त), (४) अंगुत्तर (अंगूत्र) तथा (५) खुद्दक (क्षूद्रक)। चीन में इनमें से केवल प्रथम चार भागों का अनुवाद किया गया था। चीनी अनुवाद में अंगुत्तर के स्थान पर एकोत्तर नाम आता है। काश्मीर के एक बौद्ध भिक्षु ने ४१३ ई० में दीघ का चीनी अनुवाद किया था। मध्यम का अनुवाद काश्मीर के विद्वान् गौतमसंघदेव के द्वारा ३९८ ई० में सम्पादित किया गया था। गुणभद्र (जो काश्मीर से चीन गया था) ने ४२७ ई० में संयुक्त का अनुवाद किया था। एकोत्तर का अनुवाद धर्मनन्दि के द्वारा ३८२ ई० में किया गया था। चीन में अभिधर्मसाहित्य का भी अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। काश्मीर के विद्वान् गौतमसंघदेव ने ३८४ ई० में ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र का अनुवाद किया था। हुयेनसांग ने ६५१ ई० तथा ६६० ई० के बीच अभिधर्मसम्बन्धी ६ भारतीय ग्रंथों का अनुवाद किया था; उदाहरणार्थ संगीतिपर्याय, धातुकायपाद, प्रज्ञाप्तिसारपाद, धर्मस्कन्ध, विज्ञानकायपाद तथा प्रकरणपाद।[1]

खगोल-शास्त्र—इस क्षेत्र में चीन के निवासी भारतीय ज्ञान से प्रभावित हुए थे। तंग-काल में कैलेंडर-निर्माण के निमित्त भारतीय विद्वान् नियुक्त किये गये थे। सातवीं शताब्दी में चंगन में नक्षत्रों के अध्ययनार्थ तीन गृह बने हुए थे—(१) गौतमगृह (२) काश्यपगृह तथा (३) कुमारगृह। ७१८ ई० में एक भारतीय विद्वान् ने चीन सम्राट् को एक भारतीय कैलेंडर समर्पित किया था। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख 'क्यू-चे-लि' (नवग्रह-सिद्धान्त) नाम से किया गया है। सुइ वंश के काल में चीन में भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद किया गया था। ये अनूदित ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। तंग-सम्राटों के दरबार में भारतीय ज्योतिषी विद्यमान थे। चीन के लोग भी विश्वास करने लगे थे कि मनुष्य के जीवन पर नक्षत्रों की स्थिति का प्रभाव पड़ता है। चीन के एक प्राचीन ग्रंथ में भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि "सूर्य एवं चंद्र तथा पाँच अन्य नक्षत्र मनुष्य के भाग्य को निर्धारित करते हैं। प्रतिदिन वे एक दूसरे को स्थानान्तरित करते हैं। सात दिनों के

---

१. बागची, प्रबोधचन्द्र वही, पृष्ठ १३४-३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पश्चात् चक्र पूर्ण हो जाता है। उसके उपरान्त यह क्रम पुनः प्रारम्भ होता है। नक्षत्रों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनमें से प्रत्येक का मनुष्य की दैनिक चेष्टाओं पर अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि किसी को नक्षत्रों के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो, तो वह पंच भारत के निवासियों से इसे सीखने की चेष्टा करे।"

चिकित्साशास्त्र—चीन में चिकित्साशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का भी अनुवाद किया गया था। उदाहरणार्थ रावणकुमारतन्त्र नामक भारतीय ग्रन्थ का वहाँ अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसमें बच्चों के रोग-सम्बन्धी निदान का उल्लेख मिलता है। चीन में काश्यपसंहिता का भी अनुवाद किया गया। इसमें स्त्री-रोगों के निदान का वर्णन प्राप्त होता है। कुछ भारतीय चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थ इस देश के निवासियों द्वारा मध्य एशिया लाये गये थे। किग-शेंग नामक चीनी यात्री इन्हें अपने साथ मध्य एशिया से चीन ले गया था। चीन के सम्राट् भारतवर्ष से तांत्रिक योगियों को अपने दरबार में बुलाते थे। वे जादूमंत्र के द्वारा रोग को ठीक करते थे।

कला—चीनी कला के इतिहास में बौद्ध धर्म ने युगान्तर का प्रवर्तन किया था। चीनी यात्री अपने साथ भारतीय स्थापत्य के कुछ नमूनों को स्वदेश ले गये थे। फाहियान ने ताम्रलिप्ति में दो वर्ष रुक कर चीन ले जाने के निमित्त बौद्ध प्रतिमाओं का चित्र प्रस्तुत किया था। हुयेनसांग अपने साथ भारतीय कला के कुछ दृष्टान्तों को लेकर स्वदेश लौटा था; उदाहरणार्थ ३ फीट ऊँची बुद्ध की एक सुवर्ण-प्रतिमा, ३ फीट ५ इंच ऊँची बुद्ध की चन्दन की लकड़ी की एक मूर्त्ति तथा ३ फीट ५ इंच ऊँची बुद्ध की एक रजत्-प्रतिमा। हुइ-लुन अपने साथ नालंदा के विश्वविद्यालय का एक चित्र चीन ले गया था। वांग-हुअन-त्सो बोधिगया की बुद्ध-प्रतिमा का एक खाका स्वदेश ले आया था।

चीन में बौद्ध स्थापत्य के तीन केन्द्र थे—तुन-हुअंग, युन-कंग तथा लांग-मेन। तुन-हुअंग में बौद्ध गुफाओं के आदर्श पर गुफाएँ बनाई गई थीं। युन-कंग में कुल २८ गुफाएँ विभिन्न कालों में निर्मित की गईं। इन गुफाओं के भीतर अजंता के गुहा-मन्दिरों की भाँति बौद्ध मन्दिर मिलते हैं। इनकी भीतरी दीवालों पर गौतम बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ अंकित की गई हैं। इसे हम महा-यान धर्म का प्रभाव मान सकते हैं। लांग-मेन की गुफाओं में भी बौद्ध स्थापत्य के नमूने उपलब्ध होते हैं। इनकी भीतरी एवं बाहरी दीवालों पर गौतम बुद्ध, उनके शिष्यों एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ अंकित की गई हैं। यहाँ की कला के ऊपर गंधार-कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतीय अनुकरण पर चीन में शिखरयुक्त मन्दिर बनाये गए थे। ५१६ ई० में इस प्रकार का एक मन्दिर लोयंग में विद्यमान था। इसके स्तम्भों पर मूर्त्तियों की नक्काशी की गई थी। इनके ऊपर कलश की आकृति उत्कीर्ण की गई थी। चीन में भारतीय आदर्श पर स्तूपों का भी निर्माण किया गया था। वहाँ चट्टानों को तराश कर स्तूप बनाये गये थे।

भारतीय चित्रकला ने भी चीनी कला को प्रभावित किया था। वेइ-काल में भारतवर्ष के कुछ चित्रकार चीन में विद्यमान थे। उदाहरणार्थ शाक्यबुद्ध, बुद्धकीर्ति तथा कुमारबोधि। भारतवर्ष में चित्रकला के छह अंग माने जाते थे—(१) रूप (आकृतिज्ञान), (२) प्रमाण (अनुपातज्ञान), (३) भाव (विचार), (४) लावण्ययोजन (सौन्दर्य-सन्निवेश), (५) सादृश्य (तद्रूपता) तथा (६) वर्णिकाभंग (चित्रकला के उपकरणों का ठीक ज्ञान)। इसके आधार पर चीन में भी चित्रकला के छह अंग माने जाते थे। सि-हो ने चीनी चित्रकला के छह सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

संगीत—चीन के सम्राट् संगीत के प्रेमी थे। वे बाहरी देशों के संगीतकारों को अपने देश में आमंत्रित करते थे। ५८१ ई० में एक राजकीय उत्सव में भारतवर्ष, कुचार, बोखारा, समरकंद तथा काशगर से संगीतज्ञ चीन आमंत्रित किये गये थे। चीन में संगीत का प्रचार मध्य एशिया के माध्यम से हुआ। वहाँ कूचार में एक ब्राह्मण (उपाध्याय) परिवार रहता था। इसके सदस्य संगीत के प्रेमी थे। इस परिवार का एक व्यक्ति ५५० ई० में चीन आमन्त्रित किया गया था। छठी शताब्दी में चीन में भारतीय संगीत का प्रचार था। काओत्सु (५८१ ई०—५९५ ई०) ने चीन में भारतीय संगीत के प्रचार को रोकने के लिये अपनी एक आज्ञा के अनुसार इसे अवैध घोषित कर दिया। तथापि वहाँ इसे लोग बड़ी अभिरुचि के साथ सीखते थे। ५७८ ई० में सुजीव नामक भारतीय संगीतज्ञ चीन आमन्त्रित किया गया था। तंग-लेखों के अनुसार भारतीय संगीतज्ञ काली टोपी तथा सिल्क का वस्त्र पहनते थे। चीन में भारतीय सप्त स्वर के आधार पर संगीत के सात स्वर निर्धारित किए गए थे। बोधि नामक एक भारतीय संगीतज्ञ चीन होता हुआ जापान गया था। वहाँ उसने बैरो (भैरव) राग का प्रचार किया। चीन के प्राचीन लेखक, भरत (पन-लंग-तो) के नाम से परिचित थे।[1]

---

१. बागची, प्रबोधचन्द्र, इंडिया ऐंड चाइना, पृष्ठ १६४-७३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट १

"कौमुदीमहोत्सव की ऐतिहासिकता"

कतिपय विद्वानों ने गुप्त-वंशीय इतिहास के पुनर्निर्माण में 'कौमुदी-महोत्सव' नामक संस्कृत नाटक को प्रामाणिक आधार माना है। सुप्रसिद्ध पुरातत्व-वेत्ता काशी प्रसाद जायसवाल ने इस ग्रन्थ की विश्वसनीयता में असीम आस्था प्रकट करते हुए इसमें वर्णित घटनाओं एवं तथ्यों के आलोक में चन्द्रगुप्त प्रथम के ज़ीवनचरित एवं उसकी उपलब्धियों को समझने का प्रयास किया था। इस नाटक की पाण्डुलिपि का पता लगाने का वास्तविक श्रेय आन्ध्र-विद्वान् रामचन्द्र कवि को है। इसमें कुल मिला कर पाँच अंक उपलब्ध हैं। श्री कवि एवं एस० के० रामनाथ शास्त्री ने मिल कर इसे 'दक्षिणभारती संस्कृत-माला' (संख्या ४) में प्रकाशित किया था। इस ग्रन्थ की अभी तक एकमात्र यही पाण्डुलिपि प्राप्त होसकी है। ताल-पत्र पर लिखी गई इस पाण्डुलिपि की उपलब्धि के काल से अब तक इसके ऐतिहासिक पक्ष पर कई विद्वत्तापूर्ण लेख विभिन्न अनुसन्धान-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

कृतित्व—इस ग्रन्थ की लेखिका एक विदुषी महिला थी। दुर्भाग्यवश उसके नाम के प्रारम्भिक अक्षर दीमकों द्वारा चाल दिए जाने के कारण पाण्डुलिपि से विनष्ट हो गए हैं। केवल अन्तिम अक्षर 'का' ही बचा हुआ है (...कया निबद्धम् नाटकम्)। काशीप्रसाद जायसवाल एवं डी० आर० भण्डारकर महोदयों के अनुसार उसका नाम किशोरिका रहा होगा जिसका उल्लेख इस नाटक के द्वितीय श्लोक में हुआ है। वह कृषीवल की पुत्री थी :—

"कृष्णशारां कटाक्षेण कृषीवलकिशोरिका।
करोत्येषा कराग्रेण कर्णे कलममञ्जरीम् ॥"

उक्त मत को मान्यता प्रदान करना समुचित नहीं होगा। किशोरिका से वास्तविक तात्पर्य एक तरुणी बाला से है जो कि कृषक-पुत्री (कृषीवल-पुत्री) थी। वह धान (कलम) की बालों (मञ्जरी) को अपने कानों में आभूषण के रूप में धारण करती हुई यहाँ पर निरूपित की गई है। अतएव किशोरिका शब्द से अर्थ ग्रन्थ की लेखिका के नाम के रूप में ग्रहण करना वास्तविक तथ्यों से रहित होगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रामचन्द्र कवि का कथन है कि दीमकों द्वारा चाल डाले गये, पाण्डुलिपि के उस अंश में जिसमें लेखिका का नाम उल्लिखित था एक स्थान पर नीचे 'ज' जैसे अक्षर होने का प्रमाण मिलता है। इस आधार पर अधिकांश विद्वानों का मत है कि लेखिका का नाम 'विज्जिका' था। यह संस्कृत की सुप्रसिद्ध कवियित्री थी। इसके द्वारा रचित ग्रन्थ तो नहीं उपलब्ध हो सके हैं परन्तु उनके अंश उद्धरण के रूप में सूक्ति-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इन प्राप्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उसकी शैली प्रौढ़ एवं परिमार्जित थी। उसकी प्रखर प्रतिभा के कारण लोग उसे सरस्वती का अवतार मानते थे। उसके कतिपय अन्य नाम भी थे, यथा :–विज्जका, विज्जा अथवा विद्या। उसके द्वारा रचित एक श्लोक शार्गधरपद्धति में उद्धृत है। इसके अनुसार वह नीले कमल के तुल्य श्याम वर्ण की थी (नीलोत्पलदलश्यामाम्)। इस श्लोक में विज्जिका कहती है कि दण्डी ने उसे देखा होता तो सम्भवतः वह यह नहीं लिखता कि सरस्वती सब प्रकार से शुक्ल (अर्थात् उज्ज्वल वर्ण की) थीं।*

"नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥"
(शार्गधरपद्धति, श्लोक १८०)

राजशेखर ने कर्नाटक की निवासिनी (कार्णाटी) विजयांका नामक कवियित्री को सरस्वती कहा है। उसके अनुसार कालिदास के उपरान्त यही लेखिका

---

*प्रयाग-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का मत है कि कौमुदीमहोत्सव की रचयिता कोई अन्य कवियित्री रही होगी। विज्जिका वैदर्भी शैली के लिए सुप्रसिद्ध थी। उक्त नाटक पाञ्चाली शैली में लिखा गया है। जिन सूक्ति-ग्रन्थों में विज्जिका-रचित पंक्तियाँ उद्धृत हैं, उनमें कौमुदीमहोत्सव का कोई भी भाग नहीं उद्धृत किया गया है।

विज्जिका उच्च कोटि की कवियित्री थी। कौमुदीमहोत्सव कोई उत्कृष्ट रचना नहीं थी। इसकी शैली से व्यक्त होता है कि इसकी लेखिका साधारण कवियित्री रही होगी। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि विज्जिका दाक्षिणात्य (कर्णाटक-निवासिनी) थी। कौमुदीमहोत्सव के भूगोल से लगता है कि इसकी लेखिका उत्तरी भारत की रहने वाली थी। इस नाटक में कौशाम्बी का उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि प्रयाग के समीप जमुना-तट पर स्थित सुयामुन (आधुनिक सुजावन) का भी इसमें वर्णन आता है (इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १४, पृष्ठ ६०५-०६)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैदर्भी शैली में सबसे निपुण थी। इससे स्पष्ट है कि विज्जिका एवं विजयांका एक ही हैं :—

"सरस्वती कार्णाटी विजयांका जयत्यसौ ।
या वैदर्भीगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥"

कथानक— इस ग्रन्थ में एक मगध-कुल का वर्णन मिलता है। इसकी राजधानी कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में विद्यमान थी। इसी कुल में सुन्दरवर्मा नामक राजा हुआ था, जिसने पुत्रहीन होने के कारण चण्डसेन नामक व्यक्ति को अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। कालान्तर में वृद्धावस्था में सुन्दरवर्मा को कल्याणवर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे अब चण्डसेन उसकी राजगद्दी का वैधानिक उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। अतएव वह सुन्दरवर्मा का शत्रु बन गया। इस ग्रन्थ में चण्डसेन को एक दुष्ट व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। सुन्दरवर्मा का कृतक पुत्र होने के कारण यद्यपि वह अब मगध-कुल का हो गया था, तथापि इसके शत्रु लिच्छवियों के साथ उसने वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना कर ली थी और उसकी राजधानी कुसुमपुर पर उसने आक्रमण कर दिया (ततः स्वयं मगधकुलं व्यपदिशन्नपि मगधकुलवैरिभिर्म्लेच्छैर्लिच्छविभिः सह सम्बन्धं कृत्वा कुसुमपुरमुपरुद्धवान्)। परिणामतः दोनों पक्षों में तुमुल युद्ध छिड़ गया। युद्ध की अवधि में सुन्दरवर्मा को चण्डसेन के वध-निमित्त सुअवसर उपलब्ध हुआ परन्तु उस धर्मात्मा ने इस बात को ध्यान में रख कर कि चण्डसेन उसका दत्तक पुत्र होता था, उसका हनन् नहीं किया। उसने उसे लिच्छवियों के मध्य फेंक दिया जो उसके मित्र एवं सहायक थे (ततः संप्रवृत्ते संग्रामे वधपात्रमप्येनं पुत्रीकृतत्वादपहस्तयित्वा लिच्छविकुलमन्तः क्षपितवान् देवः)।

परन्तु इस बीच सुन्दरवर्मा अत्यधिक थक गया था। वृद्धावस्था के कारण युद्ध-क्षेत्र में उसका आगे टिकना संभव नहीं हो सका। इस प्रकार कुचक्री एवं दुष्ट चण्डसेन अपनी योजना में सफल सिद्ध हुआ। पाटलिपुत्र के ऊपर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। फलतः कल्याणवर्मा का जीवन खतरे में आ गया। इस समय उसके पिता के स्वामिभक्त सभासदों एवं कर्मचारियों ने धैर्य एवं साहस से कार्य लिया। उन्होंने कल्याणवर्मा को तत्क्षण पम्पासर के तट पर उसे सुरक्षित स्थान समझ कर पहुँचा दिया। यह स्थान व्याघ्रकिष्किन्धा के अत्यन्त सन्निकट था। उसकी सेवा-शुश्रूषा के हेतु निपुणा धात्रियाँ नियुक्त की गईं, जिनकी देख-रेख में वह वयस्क हुआ था। इसी बीच सुन्दरवर्मा का मन्त्रगुप्त नामक प्रधान मन्त्री एवं कुञ्जरक नामक सेनापति पर्याप्त सक्रिय थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उन्होंने देखा कि जनमत कल्याणवर्मा के पक्ष में था। पाटलिपुत्र की पुर-सभा (पौर) एवं मगध-जनपद की प्रतिनिधि समिति (जानपद) उसके प्रतिष्ठापन का समर्थक थीं। उन्होंने चण्डसेन के राज्य के समीपवर्ती राज्यपालों (प्रत्यन्त-पालों) को उसके विरुद्ध कर दिया। उनकी प्रेरणा द्वारा विशेषतः शबर-पुलिन्दों ने मगध-राज्य के सरहद पर विद्रोह कर दिया। इन परिस्थितियों में चण्डसेन इसके दमन के उद्देश्य से अपनी राजधानी कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के बाहर जाने के हेतु बाध्य हो गया। उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर उन्होंने पाटलिपुत्र में पौर-जानपद की सहायता से सेना संगठित कर ली। उनके पर्यवेक्षण एवं नेतृत्व में इस सेना ने चण्डसेन को मार डाला (निहितः)। कल्याणवर्मा पाटलि-पुत्र शीघ्र वापस बुलाया गया। उसकी स्थिति को अधिक सुरक्षित करने के हेतु मथुरा (शूरसेन-जनपद) के यादव नरेश कीर्तिसेन की पुत्री कीर्तिमती के साथ उसका पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न कराया गया।

डॉ० जायसवाल का मत—काशी प्रसाद जायसवाल ने इस नाटक को पूर्ण ऐतिहासिक महत्ता प्रदान की थी। उन्होंने आन्ध्र-विद्वान् रामचन्द्र कवि को इस ग्रन्थ की प्राप्ति पर बधाई देते हुए निर्दिष्ट किया कि यह कृति गुप्त-वंश के इतिहास-निर्माण की दृष्टि से प्रामाणिक है। इसकी रचना कल्याणवर्मा के राज्याभिषेक एवं उसके विवाह की मधुर स्मृति के उपलक्ष में कराई गई थी। यह ग्रन्थ वस्तुतः कल्याणवर्मा का जीवनचरित है (अस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य ··· निबद्धं नाटकम्)। उसका राज्य-काल अत्यल्प था, अतएव इस ग्रन्थ को विशेष प्रतिष्ठा नहीं उपलब्ध हो सकी। डॉ० जायसवाल के अनु-सार शैली एवं विशेषताओं के आधार पर यह रचना गुप्तकालीन है। यह ग्रन्थ ऐसे काल में लिखा गया, जिस समय वर्णाश्रम-व्यवस्था का पुनरुद्धार हो रहा था, हिन्दू देव-समूह की आराधना विशेष रूप से हो रही थी; अविमारक, शौनक एवं बन्धुमती तथा उदयन की कथाएँ लोकप्रिय थीं, चित्रकला का विशेष विकास हो रहा था, स्त्रियाँ भिक्षुणी हुआ करती थीं तथा दत्तक का ग्रन्थ पाटलि-पुत्र की गणिकाओं द्वारा अधीत था।[1] इस ग्रन्थ में निरूपित सामाजिक दशा गुप्तकालीन समाज एवं संस्कृति की विशेषताओं से साम्य रखती है।[2]

डॉ० जायसवाल का मत है कि कल्याणवर्मा, कीर्तिसेन एवं चण्डसेन आदि इस नाटक के सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। उनके अनुसार कल्याणवर्मा ही प्रयाग

१. एनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरियेंटल रिसर्च इंस्टीटयूट, १२, पृष्ठ ५२
२. वही, जिल्द १२, पृष्ठ ५२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की प्रशस्ति का 'कोतकुलज' शासक है। समुद्रगुप्त ने उसे परास्त कर पुष्पपुर (कुसुमपुर) को छीन लिया था। उसे अपने पिता (चण्डसेन = चन्द्रगुप्त प्रथम) के मगध-राज्य को प्राप्त करने के लिए कल्याणवर्मा को पाटलिपुत्र की गद्दी से अपदस्थ करना पड़ा होगा। कीर्तिसेन प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित नागसेन का पिता था। उनके अनुसार इस बात में कोई भी सन्देह नहीं कि इस नाटक का प्रमुख पात्र चण्डसेन ही चन्द्रगुप्त प्रथम था। सम्राट् होने के अनन्तर उसने अपने नाम के उपरान्त प्राप्य सेन शब्द को हटा दिया और इसके स्थान पर उसने गुप्त शब्द को धारण करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि यह उसके पितामह का नाम था। चण्ड संस्कृत के चन्द्र शब्द का प्राकृत समानार्थी है। उसने महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम के आधार पर अपना नवीन नाम धारण कर लिया होगा।[1] इस नाटक के द्वारा चन्द्रगुप्त प्रथम की जाति के निर्धारण में सहायता उपलब्ध होती है। इसके अनुसार चण्डसेन 'कारस्कर' था। इस प्रकार के वर्ण का होने के कारण वह राजपद के लिए भला उपयुक्त कैसे हो सकता था (कहिं एरिस वणस्स से राजसिरि)[2]। बौधायन के अनुसार 'कारस्कर' हिन्दू वर्णव्यवस्था के बाहर थे। उनके सम्पर्क में कभी आ जाने पर ब्राह्मण अपना शुद्धि-संस्कार कराते थे।[1] इस आधार पर गुप्तों की निम्न उत्पत्ति प्रमाणित हो जाती है। कौमुदीमहोत्सव में गुप्तों के निकटतम् सम्बन्धी लिच्छवियों को 'म्लेच्छ' कहा गया है। वायु पुराण के अनुसार महापद्मनन्द के उपरान्त शूद्र राजवंशों का राज्य भारतवर्ष में स्थापित हो जाएगा। पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि यह ग्रन्थ एक गुप्तकालीन रचना है। इस स्थान पर इसमें गुप्तों की निम्न जाति की ओर संकेत किया गया है।

डॉ. जायसवाल के शब्दों में कारस्कर चन्द्रगुप्त को हम भारतवर्ष का सबसे प्रारम्भिक शिवाजी मान सकते हैं। अथवा यदि यवन सेल्यूकस-विजेता चन्द्रगुप्त मौर्य को हम प्रथम शिवाजी मान लें तो गुप्त-वंशी चन्द्रगुप्त भारतवर्ष का द्वितीय शिवाजी था। उसके प्रतिभाशाली वंशजों ने शक, कुषाण, मुरुण्ड एवं हूणों के छक्के छुड़ा दिए थे। हिन्दू-संस्कृति के उपर्युक्त संरक्षकों ने भारतीय धर्म एवं समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था।[3] चण्डसेन (चन्द्रगुप्त प्रथम) का राज्यभ्रष्ट हो जाना प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक द्वारा

---

१. एनाल्स आफ भण्डारकर ओरियेंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द १२, पृष्ठ ५४
२. वही, जिल्द १२, पृष्ठ ५६.
३. वही, जिल्द १२, पृष्ठ ५६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भी प्रमाणित हो जाता है। इस श्लोक के शब्दों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। हमारे नेत्रपटल के समक्ष यह श्लोक एक ऐसे नरेश का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है, जो अपने शत्रुओं के हाथ राज्य को खो चुका था एवं लुप्तधैर्य तथा दुःखाक्रान्त हो मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। उसके नेत्रों से प्रवाहित होने वाली अश्रुधारा उसके मार्मिक क्लेश को अभिव्यञ्जित करती है। उसने इस बात का अनुभव किया होगा कि उसके सभी पुत्रों में समुद्रगुप्त ही सबसे सुयोग्य एवं सर्वश्रेष्ठ था। उसमें प्रतिभा के परख की विलक्षण शक्ति थी। शोक से विह्वल उस नरेश को अनुभूति हुई होगी कि उसके सभी पुत्रों में एकमात्र समुद्रगुप्त ही ऐसा था, जो उसके लुप्त राज्य का पुनरुद्धार कर सकता था। अतएव उपस्थित सभासदों एवं राजकुमारों के बीच उसने समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित करते हुए उपर्युक्त उत्तरदायित्व उसे सौंप दिया होगा। वह निर्णय वस्तुतः, समय की माँग थी।[1]

पिरेज़ द्वारा समर्थन—काशी प्रसाद जायसवाल के मत का समर्थन सर्वप्रथम ई० ए० पिरेज़ ने किया था। उनके अनुसार शैली एवं वर्ण्य-विषय के आधार पर कौमुदीमहोत्सव गुप्तकालीन रचना लगती है। इसकी लेखिका का समय कालिदास के काल के अत्यन्त सन्निकट रहा होगा। इस ग्रन्थ का प्रणयन कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर अभिनय-निमित्त बड़ी शीघ्रता के साथ हुआ था। इसका नायक एक ऐसा नरेश (कल्याणवर्मा) था, जिसे अत्यल्प काल तक ही राज्य करने का सुअवसर उपलब्ध हो सका था। इन कारणों से इस रचना को अधिक लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो सकी थी। पिरेज़ महोदय भी सुन्दरवर्मा एवं कल्याणवर्मा को ऐतिहासिक पात्र मानते हैं। दोनों के मतों में अन्तर केवल इस दृष्टि से है कि जहाँ डॉ० जायसवाल के अनुसार कौमुदीमहोत्सव में उल्लि-खित वर्मन् राजवंश का तादात्म्य प्रयाग-प्रशस्ति के कोतकुल से करनी चाहिए, वहाँ पिरेज़ के अनुसार उक्त वंश को मौखरि-वंश साथ समीकृत करना समीचीन होगा। इस क्षत्रिय राजघराने के नरेश अपने नाम के अन्त में वर्मन् शब्द लगाते थे तथा वे मगधाधिपत्य के हेतु प्रख्यात थे। कौमुदी-महोत्सव के अनुसार सुन्दरवर्मा मगध-कुल में उत्पन्न हुआ था तथा जाति का क्षत्रिय था।[2]

विंटरनित्ज़ की आलोचना—सर्वप्रथम यम० विंटरनित्ज़ ('हिस्टारिकल

---

१. ए० भं० ओ० रि० इं०, जिल्द १२, पृष्ठ ५६

२. दी मौखरीज़, पृष्ठ २५-३५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ड्रामाज़ इन इंडियन लिटरेचर' शीर्षक लेख; कृष्णस्वामी आयंगर कमेमोरेशन वाल्यूम में प्रकाशित) ने डॉ० जायसवाल के मत की आलोचना करते हुए प्रतिपादित किया कि कौमुदीमहोत्सव ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। इसे गुप्तकालीन रचना के रूप में ग्रहण कर लेना वास्तविक तथ्यों से रहित होगा। उनके तर्कों का सार इस प्रकार है :—

(१) चण्डसेन दुष्ट, द्रोही एवं अपहारक था। इसके प्रतिकूल चन्द्रगुप्त सदाशय एवं आदर्श नरेश था। उसके पिता घटोत्कच स्वयं महाराज थे।

(२) दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में वर्णित शौनक एवं वन्धुमती के प्रणय का उल्लेख कौमुदीमहोत्सव में कम से कम दो स्थलों पर अवश्य हुआ है (अंक २, श्लोक १५ तथा अंक ५, श्लोक ६)। भासरचित 'अविमारक' में प्राप्य अविमारक एवं कुरंगी के प्रणय का भी इसमें वर्णन आता है। अतएव इसकी रचना का काल भास एवं दण्डी के समय के उपरान्त ही हो सकता था।

(३) इसकी लेखिका कालिदास की रचनाओं—यहाँ तक मुद्राराक्षस से भी—स्पष्ट रूप में प्रभावित है।

(४) वेश्या-संगति में विट का उल्लेख उत्तर-कालीन नाटकों की विशेषता है। कौमुदीमहोत्सव का विट आधुनिक भाणों का स्मरण दिलाता है। अतएव इसकी रचना का काल गुप्त-काल के उपरान्त प्रमाणित होता है।

दशरथ शर्मा का मत—डॉ० जायसवाल के मत के समर्थकों में दशरथ शर्मा भी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने एक लेख (ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द २१, भाग १, पृष्ठ ७७) में सहमति प्रकट की कि सुन्दरवर्मा एक ऐतिहासिक व्यक्ति था तथा चण्डसेन (चन्द्रगुप्त प्रथम) एवं कल्याणवर्मा एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। डॉ० जायसवाल के अनुसार चण्ड शब्द संस्कृत के चन्द्र शब्द का प्राकृत समानार्थी है। डॉ० शर्मा इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम एवं चण्डसेन में तादात्म्य स्थापित करने के निमित्त इससे भी सीधा प्रमाण कौमुदीमहोत्सव के द्वितीय अंक के चतुर्थ श्लोक में प्राप्य है :—

"वहन् रेवतीमुखमधुमदनिर्वर्तितमुदयरागम्।
श्यामवसनकलंकः शोभते चन्द्र इव बलभद्रः॥"

इस श्लोक में चन्द्र के व्याज से चन्द्रगुप्त प्रथम का ही उल्लेख किया गया है। 'श्यामवसनकलंकः' चन्द्रमा के सन्दर्भ में यदि उसके काले कलंक की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर चन्द्रगुप्त प्रथम के काले कारनामे (सुन्दरवर्मा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की हत्या) के विषय में भी चरितार्थ होता है। 'उदयरागम्' चन्द्रमा के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त प्रथम के अर्थ में भी लागू होता है। उसका 'उदय' (विकास) लिच्छवि-कन्या कुमारदेवी के साथ विवाह के कारण सम्पन्न ('निर्वर्तित') हुआ था। डॉ० शर्मा ने डॉ० जायसवाल के मत का समर्थन अपने एक दूसरे लेख (ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द २२, भाग ३, पृष्ठ २७७–७८) में भी किया है। कौमुदीमहोत्सव में चण्डसेन को 'कारस्कर' कहा गया है। यह मद्र अथवा जर्टिकों का उपखण्ड है। इससे स्पष्ट होता है कि चण्डसेन (चन्द्रगुप्त) जर्टिक अथवा जाट था। चन्द्रगोमिन् ने 'अजयत् जर्तो हूणान्'—'जर्तों ने हूणों को परास्त कर दिया'—कहते हुए गुप्तों को जर्त (जाट) के रूप में स्वीकार किया है। प्रभावतीगुप्ता के पूना के ताम्रलेख से स्पष्ट है कि गुप्तों का ही गोत्र धारण गोत्र रहा होगा। बीकानेर के जाट अपने को अब भी 'धारणीय जाट' कहते हैं। कारस्करों का प्रतिनिधित्व इस प्रदेश के आस-पास के 'करवासर जाट' करते हैं। इससे डॉ. जायसवाल के निष्कर्ष की सम्पुष्टि हो जाती है कि गुप्त लोग जाट थे। घटोत्कच मगध-सम्राट् नहीं हो सकता था। वह केवल 'महाराज' की उपाधि धारण करता था। इससे लगता है कि वह सामन्त था।[1]

प्रोफेसर दशरथ शर्मा के अनुसार कौमुदीमहोत्सव को उत्तरकालीन सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण श्री विंटरनित्ज़ द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं, वे समीचीन नहीं माने जा सकते। अविमारक-कुरंगी की कथा भास-प्रणीत 'अविमारक' का वर्ण्यविषय है। भास का आविर्भाव कालिदास के पूर्व हुआ था। इस कथा का उल्लेख गुप्तकालीन वात्स्यायन के कामसूत्र में भी प्राप्य है। इस ग्रन्थ के अनुसार अहिल्या, अविमारक एवं शकुन्तला आदि नायक-नायिकाओं की कथाओं द्वारा प्रेयसी का अनुरञ्जन किया जाय (शृणुवत्यां चाहिल्याविमारकशाकुन्तलादीन्यन्यान्यपि लौकिकानि कथयेत् युक्तानि)।[2] गुणाढ्य-प्रणीत बृहत्कथा पर आधृत बृहत्कथामञ्जरी में भी अविमारक-कथा प्राप्य है। बूलर के अनुसार गुणाढ्य का आविर्भाव प्रथम शताब्दी ईसवी में हुआ था। अतएव इस कथा के उल्लेख के आधार पर कौमुदीमहोत्सव को गुप्तोत्तर-कालीन ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।[3]

---

१. ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द २२, भाग ३, पृष्ठ २७६
२. देखिए, प्रोफेसर दशरथ शर्मा का लेख, वही, पृष्ठ २७६
३. वही, जिल्द २२, भाग ३, पृष्ठ २७९

Digitization by Hindu-Heritage Australia Foundation - HHFA(USA)

अविमारक-कुरंगी कथा के सदृश शौनक-वन्धुमती कथा भी युक्तिलौकिक (लोकप्रिय) रही होगी। वात्स्यायन के अनुसार ऐसी कथाएँ प्रेयसी के आह्लादन-निमित्त सुनाई जाती थीं। शौनक एवं वन्धुमती की प्रणय-कथा द्वारा चतुर प्रेमी प्रियतमा का अनुरञ्जन करता होगा।[1] क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय के अनुसार कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व था। अतएव उक्त कथाओं के साथ लेखिका का परिचय कौमुदीमहोत्सव को गुप्तोत्तर-कालीन नहीं प्रमाणित करता। यह सत्य है कि मुद्राराक्षस एवं कौमुदीमहोत्सव में समानताओं के दृष्टान्त उपलब्ध हैं, परन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित किया जा सकता कि इसकी कवियित्री मृच्छकटिक से प्रभावित थी। संभव है कि इस ग्रन्थ का ही रचयिता कौमुदीमहोत्सव द्वारा प्रभावित रहा हो। वेश्याओं के साथ विट का उल्लेख मृच्छकटिक में भी प्राप्य है। इस ग्रन्थ में विट उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना को उसके प्रेमी चारुदत्त के घर पहुँचाते हुए उल्लिखित किया गया है। वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र में विट की परिभाषा दी गई है (भुक्तविभवस्तु गुणवान सकलत्रो वेशे गोष्ठयाञ्च बहुमतस्तदुपजीवी)।[2] भरत-नाट्यशास्त्र एवं भोज-रचित 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में भी विट का उल्लेख हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार विट 'वेश्योपचारकुशल' होता था। अतएव विट के उल्लेख के आधार पर कौमुदीमहोत्सव की तिथि उत्तर-कालीन सिद्ध करना न्यायोचित नहीं होगा।[3]

मत-परीक्षण—प्रोफेसर विन्टरनित्ज़ के अतिरिक्त कई अन्य विद्वानों ने भी डॉ० जायसवाल से अपना मतभेद प्रकट किया; उदाहरणार्थ रमेशचन्द्र मजूमदार, शकुन्तला राव शास्त्री, दिनेशचन्द्र सरकार तथा क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) कौमुदीमहोत्सव के वर्धमानक नामक पात्र के शब्दों में चण्डसेन कारस्कर था तथा इस रूप में वह राज्य-पद के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था (कुत्रेदृशवर्णस्य राजश्री)। इससे उसका निम्न वर्ण का होना प्रमाणित हो जाता है। बौधायन के अनुसार 'कारस्कर' अस्पृश्य थे। हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि गुप्त वंश के नरेश जाति के ब्राह्मण थे।

(२) चण्डसेन एवं चन्द्रगुप्त प्रथम के वंशवृक्ष एक दूसरे से पृथक् थे। चण्डसेन सुन्दरवर्मा का दत्तक पुत्र तथा कल्याणवर्मा की गद्दी का अपहारक

---

१. ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द २२, भाग ३, पृष्ठ २८०
२. वही, जिल्द २२, भाग ३, पृष्ठ २८०
३. वही, जिल्द २२, भाग ३, पृष्ठ २८१

Digitization by Hindu Mahotsav Foundation, Chicago, USA America. HHFA(USA)

था। चन्द्रगुप्त प्रथम महाराज घटोत्कच का पुत्र था तथा सहज रूप से वह राज्याभिषिक्त हुआ था।

(३) दोनों के जीवनचरित में विषमता मिलती है। चण्डसेन नीच प्रकृति का व्यक्ति था तथा अपहारक के रूप में वह बहुत कम समय तक राज्य कर सका था। इसके प्रतिकूल सदाशय चन्द्रगुप्त ने दीर्घकाल तक राज्य किया था। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की एवं अपने राज्याभिषेक के समय से वंश-संवत् को प्रचलित किया, जिसे अन्य राज्यवंशों ने भी मान्यता प्रदान की थी।

(४) कौमुदीमहोत्सव के अनुसार चण्डसेन अपने बन्धु-बान्धवों सहित मार डाला गया। इस घटना का उल्लेख इसमें कम से कम दो बार अवश्य हुआ है:—

(क)—"दिष्ट्येदानीं प्रतिलब्धराज्याभिषेको देवः कल्याणवर्मा
दिष्ट्या वत्सानुबन्धो निहितश्चण्डसेन हतकः।"

(ख)—"प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्।
कल्पन(१)मिव नमति जनः (सकलः) कल्याणवर्माणम्॥"

'वत्सानुबन्धो निहितश्चण्डसेनहतकः' एवं 'उन्मूलित-चण्डसेनराजकुलम्' से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध में उसके पुत्रादि सभी वंशधर मार डाले गए और उसकी वंश-परम्परा उसी के साथ समाप्त हो गई। इसके प्रतिकूल चन्द्रगुप्त प्रथम की वंश-परम्परा सदियों तक चलती रही। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार उसके कई पुत्र थे, जिनमें उसने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था।

(५) प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक की जो व्याख्या डॉ० जायसवाल द्वारा दी गई है, वह सर्वथा असमीचीन है। इसके द्वारा ठाटबाट के वातावरण से संयुक्त राजदरबार का दृश्य समुपस्थित होता है, जिसमें उसके सभासद एवं राजकुमार उपस्थित थे। चन्द्रगुप्त के आँसू सुख के अश्रु थे। वह पुत्र के प्रति स्नेह के कारण विह्वल हो गया था। भावाधिक्य के परिणामस्वरूप उसे रोमाञ्च हो आया था। प्रशस्तिकार हरिषेण ने 'तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा' शब्दों के द्वारा सफलतापूर्वक स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिभा की परख की पैनी दृष्टि उसमें विद्यमान थी। योग्यतम के चुनाव के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उसने समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी चुना था। यदि उसका राज्य अपहृत हो गया होता, तो उत्तराधिकारी के घोषणा की कोई आवश्यकता नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में समुद्रगुप्त के भाइयों में किसी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं हो सकता था और

Digitization by Hindu-Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

न ही दरबारियों की प्रसन्नता के निमित्त कोई आधार हो सकता था।[1]

(६) प्राप्त मुद्राओं एवं अभिलेखों द्वारा चण्डसेन, कल्याणवर्मा एवं कीर्तिसेन की ऐतिहासिकता प्रमाणित नहीं हो सकती।

(७) चन्द्र का प्राकृत-समानार्थी चन्द होता है न कि चण्ड। अर्द्धमागधी में भी चन्द्र का समानार्थी चन्द होता है न कि चण्ड। चण्ड तो स्वयमेव संस्कृत शब्द है। राजशेखर एवं क्षेमीश्वर की कृतियों में चण्ड एवं प्रचण्ड शब्द प्रचुर रूप में प्रयुक्त हैं।

(८) कौमुदीमहोत्सव में कहा गया है कि चण्डसेन ने लिच्छवियों के साथ सबन्ध स्थापित किया था (संबन्धं कृत्वा)। यह वैवाहिक संबन्ध न होकर राजनीतिक संबन्ध (गुटबन्दी) के रूप में भी हो सकता था।

(९) क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने यथार्थ ही कहा है कि कौमुदीमहोत्सव में चण्डसेन के लिए प्रयुक्त कारस्कर शब्द से तात्पर्य उसकी जाति से नहीं है। इसके प्रसंग में ग्रन्थ के निम्नलिखित मौलिक शब्दों पर विचार करना समुचित होगा:—

"कारानिरोधपरिपाण्डुकपोलरेखाकारा निरोधविधुराः प्रकृतीश्चकार।
कारक्षणेन ककुभो वशमानिनाय कारस्करः स खलु संप्रति पार्थिवेषु॥"

(कौमुदीमहोत्सव, अंक ४, श्लोक ६)

पाणिनि के अनुसार कारस्कर शब्द का अर्थ विषैला वृक्ष होता है (पाणिनि ६,१,१५६ तथा भागवत पुराण ५, १४, १२; द्रष्टव्यः—क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का लेख, इं० हि० क्वा०, १४,५९१)। इस स्थान पर लेखिका का तात्पर्य चण्डसेन की दुष्कृति से है। वह अपने व्यवहारों द्वारा नरेशों में कलंकतुल्य था। 'कारस्कर' शब्द का प्रयोग करते हुए आर्यरक्षित वर्धमानक से अभिव्यक्त करता है कि चण्डसेन जनता में किस प्रकार अप्रिय हो गया था।

(१०) कौमुदीमहोत्सव की प्रस्तावना में सूत्रधार प्रस्ताव रखता है कि इसी राजा (कल्याणवर्मा) के जीवनचरित पर निबद्ध उपर्युक्त शीर्षक नाटक का आज अभिनय किया जाय (भवतु, यत्तदस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य ····निबद्धं नाटकम्। तदिनामग्रतः कृत्वा मगधराजान्तःपुरमवतरामि)। उक्त कथन को आधार मान कर डॉ० जायसवाल ने प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी कि इसकी लेखिका कल्याणवर्मा का समकालीन थी। क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपा-

---

१. पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का लेख, इं० हि० क्वा०, १४, ५८९

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

ध्याय ने अपने विचारपूर्ण लेख (इं० हि० क्वा०, जिल्द १४) में संस्कृत नाटकों से अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं, जिनके अनुसार सूत्रधार अपने को ग्रन्थ में निरूपित पात्रों का समकालीन निर्दिष्ट करता है। उदाहरणार्थ भवभूति-प्रणीत 'उत्तररामचरित' नामक नाटक में सूत्रधार अपने को रामचन्द्र का समकालीन बताता है ('एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानीनन्तश्च संवृत्तः। (समन्तावलोक्य) भो भोः! यदा तावदत्रभवतः पौलस्त्यकुलधूमकेतोर्महाराजारामस्यायमभिषेकसमयो')। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' नामक नाटक में सूत्रधार भीम एवं दुर्योधन आदि पात्रों को दर्शकों से परिचित कराता है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह उनका समकालीन था। 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार नेपथ्यकी ओर देख कर नटी से कहता है:—आर्ये! यह देखो, यौगन्धरायण आ गए (यौगन्धरायणः प्राप्तः एव)। यौगन्धरायण इसका उत्तर देता है:—आपने ठीक ही कहा। इसमें सन्देह ही क्या है (एवमेतत्। कः सन्देहः)? 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य सूत्रधार के वक्तव्य को सुन कर क्रुद्ध हो जाता है। इसी भाँति 'मृच्छकटिक' एवं 'विक्रमोर्वशीय' में सूत्रधार अपने को निरूपित पात्रों का समकालीन निर्दिष्ट करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि उनके समय में कई सदियों का अन्तर था। उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस प्रकार का उल्लेख प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य की एक सुविख्यात परिपाटी थी। अतएव कल्याणवर्मा के उल्लेख के आधार पर कौमुदीमहोत्सव की लेखिका उसका समकालीन नहीं सिद्ध की जा सकती।[1]

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का अनुमान है कि कौमुदीमहोत्सव की रचना शंकराचार्य (७८८ ई०-८२० ई०) के उपरान्त ही संभव हुई होगी। इस नाटक के प्रथम श्लोक में ही उनका उल्लेख प्राप्य है:—

"श्रीमद्व्याघ्रचर्मास्तररचिततले स्थण्डिले संनिषण्णः
कृत्वा पर्यंकबन्धं फणमणिकिरणक्षारिणा तक्षकेण।
नानात्वग्रन्थिभेत्रीं धियमिव विकिरन् दन्तकान्तिच्छलेन
ब्रह्मव्याख्याननिष्ठास्तव भवतु तमः कृत्तए कृत्तिवासाः॥"

उपर्युक्त श्लोक में उल्लिखित विशेषण यदि एक ओर शिव (कृत्तिवासस्) के लिए प्रयुक्त किए गए हैं, तो दूसरी ओर वे शंकराचार्य के भी अर्थ में लागू होते हैं:—(१) 'नानात्वग्रन्थिभेत्रीं धियमिव विकिरन्' (द्वैत की ग्रन्थि का भेदन

---

१. इ० हि० क्वा०, जिल्द १४, पृष्ठ ५८४-८५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करने वाली बुद्धि का प्रचार करते हुए):—इस स्थान पर शंकराचार्य की ओर संकेत है, जिन्होंने द्वैतवाद का खण्डन एवं अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया था। (२) 'ब्रह्मव्याख्याननिष्ठः' (ब्रह्मव्याख्यानानां--वेदान्तवाक्यानां निष्ठा—सतताध्यवसायो यस्य सः; अर्थात् 'जिन्होंने वेदान्त वाक्यों के प्रतिपादन में सतत् अध्यवसाय किया था'):—यह विशेषण भी शंकराचार्य को भली भाँति चरितार्थ करता है। (३) 'श्रीमद्व्याघ्रचर्मास्तररचिततले'—यहाँ पुनः शंकराचार्य की ओर संकेत किया गया है, जिन्होंने व्याघ्रचर्म पर योगमुद्रा साधी होगी। पं० चट्टोपाध्याय ने ठीक ही निर्दिष्ट किया है कि इस ग्रन्थ में 'कृत्तिवासस्' से तात्पर्य शंकराचार्य से भी है जो शिव के अवतार माने जाते थे। स्वयं शंकराचार्य ने ही एक स्थान पर अपने इष्ट देवता शिव एवं अपने गुरु विद्यातीर्थ—दोनों का ही उल्लेख किया है:—

"यस्य विश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥"

कौमुदीमहोत्सव की लेखिका इष्ट देव शिव के अतिरिक्त शंकराचार्य के प्रति भी श्रद्धालु रही होगी, अतएव एक ही शब्द (कृत्तिवासस्) द्वारा दोनों की ही ओर संकेत है।

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं दशरथ शर्मा ने अपने लेखों (क्रमानसार इं० हि० क्वा०, १४, पृष्ठ ५९३ एवं आगे तथा इं० हि० क्वा०, १०, पृष्ठ ७६३-६६) में अनेक स्थलों को उद्धृत किया है, जिनके अनुसार कौमुदीमहोत्सव की लेखिका कालिदासीय ग्रन्थों द्वारा प्रभावित है:—

(१) "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥"

(अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ५)

"कालापकर्षे सति भंगुरत्वात्
प्रक्षीणसंस्कारभुवां स्मृतीनाम्।
स्फुरन्ति मे शैशवचेष्टितानि
जातिस्मरस्येव भवान्तराणि॥"

(कौमुदीमहोत्सव, अंक ४, श्लोक १२)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(२) "इदं किलाविष्कृतकान्तिविप्लवं तुषारवातातपदर्शनेऽप्वपि ।
शरीरमुद्यानशिरीषपेलवं तपोवनक्लेशसहं भविष्यति ॥"
(कौमुदीमहोत्सव, अंक १, श्लोक २३)
"इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेतुमृषिर्व्यवस्यति ॥"
(अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १, श्लोक १६)
"पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न तु पतत्रिणः"
(कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ४)

(३) "एकैश्वर्यस्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः"
(मालविकाग्निमित्रम्, अंक १, श्लोक १)
"ब्रह्मव्याख्यानिष्ठस्तव भवतु तमःकृत्तये कृत्तिवासाः"
(कौमुदीमहोत्सव, अंक १, श्लोक १)

(४) "रम्यं द्वेषनिबन्धनो मनसि मे वियोगोचितसन्तापः"
(कौमुदीमहोत्सव, पृष्ठ ४४, पंक्ति १८)
"रम्यं द्वेष्टि....."
(अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ६, श्लोक ५)

(५) "(निमित्तं सूचयित्वा) किं न खलु स्फुरति दक्षिणो मे बाहुः"
(कौमुदीमहोत्सव, पृष्ठ ४, पंक्ति १४-१५)
"(निमित्तं सूचयन्) शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः"
(अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १)

(६) "ततः प्रविशति कामयमानावस्थः कुमारः"
(कौमुदीमहोत्सव, पृष्ठ २२, पंक्ति १६)
"ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा"
(अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक ३)

(७) "कथमेषा वक्त्रामोदप्रसक्तं मधुकरयुवानं लीलारविन्देन
निवारयन्ती हन्त अन्तर्हिता तरुसंकटे"
(कौमुदीमहोत्सव, पृष्ठ १०, पंक्ति १-२)
"सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥"
(कुमारसंभव, सर्ग ३, श्लोक ५६)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ध्यानपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि 'कौमुदीमहोत्सव' की लेखिका सातवीं एवं आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों द्वारा प्रभावित दृष्टिगोचर होती है। इस स्थान पर हम उदाहरणार्थ हर्ष-कृत 'नागानन्द' नामक नाटक पर विचार कर सकते हैं। इसमें प्रथम दर्शन में ही जीमूतवाहन एवं मलयवती में प्रेम हो जाता है। इस मनोविकार के कारण वह जीमूतवाहन को प्रत्यक्ष रूप में देखने में लज्जा का अनुभव करती है। इन्हीं परिस्थितियों में 'कौमुदीमहोत्सव' में कीर्त्तिमती भी कल्याणवर्मा को लज्जापूर्वक लुकछिप कर देखती है:—

"याता नितम्बगुर्वी यावद्यावन्मृगेक्षणा दूरम् ।
बिम्बितगात्रीवान्तस्तावत्तावदवगाढा मे ॥"

(कौमुदीमहोत्सव)

"अनया जघनाभोगभरमन्थरया तया ।
अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदं ॥"

(नागानन्द, अंक १, श्लोक १९)

इसके अतिरिक्त हर्षचरित में वर्णित दो घटनाओं द्वारा भी कौमुदीमहोत्सव की लेखिका प्रभावित लगती है। जब हर्ष ने दिग्विजय-निमित्त प्रस्थान किया, उस समय मार्ग में कामरूप-नरेश भास्करवर्मा के दूत हंसवेग ने उनसे भेंट की। वह साथ में उपहार की प्रभूत सामग्री ले आया था, जिनमें आभोग नामक एक छत्र भी था। यह अनेक कुतूहलजनक आश्चर्यों से परिपूर्ण था। उक्त ग्रन्थ में अन्यत्र मुक्तावली नामक रहस्यमयी मोतियों की माला (एकावली) का उल्लेख मिलता है जो किसी समय भिक्षु नागार्जुन के पास थी। उन्होंने इसे अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन नामक राजा को प्रदान किया था। शिष्य-परम्परा में यह माला भिक्षु दिवाकरमित्र के पास आई थी जिसने उसे हर्ष को भेंट किया। यह एकावली विलक्षण आश्चर्य एवं चमत्कारों से परिपूर्ण थी। विष से शरीर की रक्षा करने में यह ओषधि का कार्य करती थी। हर्षचरित के वर्णन की भाँति कौमुदीमहोत्सव में 'गजमुक्ता' का उल्लेख मिलता है जो विलक्षण शक्तियों से सम्पन्न थी। इसे मयुरा-नरेश कीर्त्तिसेन ने कल्याणवर्मा को उसके विवाह के अवसर पर भेंट-स्वरूप प्रदान किया था। इस ग्रन्थ के अनुसार इस गजमुक्ता का इतिहास महाभारत-काल से ही चला आ रहा था। उसके परिवार में परम्परागत बहुमूल्य-निधि के रूप में यह सुरक्षित था।[1]

---

१. इं० हि० क्वा०, १४, पृष्ठ ५९९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कौमुदीमहोत्सव की लेखिका एक स्थान पर उत्तररामचरित से भी प्रभावित लगती है। सीता, राम को देख कर स्वेदयुक्त, रोमाञ्चित एवं कम्पितांगी हो जाती हैं। इस सहज भावाभिव्यक्ति के कारण तमसा के समक्ष वे लज्जित हो उठती हैं। कौमुदीमहोत्सव में भी कल्याणवर्मा को देखने पर कीर्त्तिमती इस प्रकार के शारीरिक विकार से आक्रान्त हो उठती है। उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि कौमुदीमहोत्सव की कवियित्री सातवीं एवं आठवीं शताब्दी की रचनाओं से प्रभावित है। इसके पूर्व हम देख चुके हैं कि इस नाटक के प्रथम श्लोक में ही शंकराचार्य की ओर संकेत है। अतएव इसकी रचना का वास्तविक समय आठवीं शताब्दी के उपरान्त मानना ज्ञात प्रमाणों के आलोक में अधिक समीचीन होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौमुदीमहोत्सव को आधार मान कर गुप्तवंशीय इतिहास के पुनर्निर्माण की चेष्टा भ्रान्तिमूलक होगी।

● ●

---

२. इं हि० क्वा०, १४, पृष्ठ ५९३ तथा आगे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट २

'कलियुगराजवृत्तान्त--एक ऐतिहासिक परिशीलन'

भविष्योत्तर-पुराण के 'कलियुगराज-वृत्तान्त' नामक खण्ड में अत्यन्त सरल संस्कृत-भाषा में लिखे हुए २९ श्लोकों में गुप्त-वंश का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है। सर्वप्रथम यम०कृष्णमचारियर ने 'हिस्ट्री ऑफ दी क्लैसिकल लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में इनमें से कुछ को उद्धृत किया था। तदुपरान्त बी० भट्टाचार्य ने उपर्युक्त ग्रन्थ के आधार पर इस राजवंश के इतिहास का पुनर्निर्माण करते हुए अपना एक लेख 'जर्नल' ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी' में प्रकाशित किया। उक्त रचना के अनुसार गुप्त वंश में कुल सात ही नरेश हुए थे, जिन्होंने २४५ वर्षों (३२० ई०-५६५ ई०) तक राज्य किया था। उत्तराधिकार-क्रम के अनुसार वे इस प्रकार थे:—(१) चन्द्रगुप्त प्रथम 'विजयादित्य', (२) समुद्रगुप्त 'अशोकादित्य', (३) चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य', (४) कुमारगुप्त 'महेन्द्रादित्य', (५) स्कन्दगुप्त 'पराक्रमादित्य', (६) नृसिंहगुप्त 'बालादित्य' तथा (७) कुमारगुप्त 'क्रमादित्य'। इस ग्रन्थ से इन नरेशों के कृतित्व के सम्बन्ध में कतिपय नवीन बातें ज्ञात होती हैं। डॉ० भट्टाचार्य का मत है कि यह एक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके आधार पर गुप्त-वंशीय इतिहास के विषय में हम अपने परिचय को पूर्ण एवं सारगर्भित बना सकते हैं। इसके द्वारा बहुत सी ऐसी समस्याओं का निराकरण हो जाता है, जिन्होंने इतिहासकारों को पिछले कई दशकों से भ्रम में डाल रखा है।[1]

वर्णन--कलियुगराजवृत्तान्त में गुप्त-वंश के इतिहास का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है[2]:—

(१)

"अथ श्री-चन्द्रगुप्ताख्यः पार्वतीयकुलोद्भवः।
श्रीपर्वतेन्द्राधिपतेः पौत्रः श्रीगुप्तभूपतेः॥"

"अब चन्द्रगुप्त नामक नृपति का वर्णन किया जाता है जो पार्वतीय राज-

---

१. जर्नल ऑफ दी बिहार रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३०, १९४४, भाग १, पृष्ठ २-२-४

२. बी० भट्टाचार्य का लेख, ज० बि० रि० सो०, जिल्द ३०, १९ ४४, भाग १, पृष्ठ १-४५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वंश में उत्पन्न हुआ था। वह श्रीगुप्त नामक भूपति का पौत्र था जो श्रीपर्वत् का अधिपति था।"

(२)

"श्रीघटोत्कचगुप्तस्य तनयोऽमितविक्रमः।
कुमारदेवीमुद्वाह्य नेपालाधिशितुः सुताम्॥"

"अतुलनीय विक्रम से युक्त वह नरेश श्रीघटोत्कचगुप्त का पुत्र था। उसने नेपाल के नरेश की पुत्री कुमारदेवी के साथ अपना विवाह किया था।"

(३)

"लब्धप्रदेशे राज्येऽस्मिन् लिच्छवीनां सहायतः।
सेनाध्यक्षपदं प्राप्य नानासैन्यसमन्वितः॥"

"लिच्छवियों की सहायता से उसे इस राज्य में प्रवेश प्राप्त हो गया। सेनापति के पद को प्राप्त कर वह एक विशाल सेना से युक्त हो गया था।"

(४ एवं ५)

"लिच्छवीयां समुद्वाह्य देव्याश्चन्द्रश्रियोऽनुजाम्।
राष्ट्रीयस्यालको भूत्वा राजपत्न्या च चोदितः॥
चन्द्रश्रियं घातयित्वा विषेणैव हि केनचित्।
तत्पुत्रप्रतिभूत्वे च राज्ञा चैव नियोजितः॥"

"तदुपरान्त उसने चन्द्रश्री की भार्या की छोटी बहिन के साथ, जो लिच्छवि-कन्या थी, अपना विवाह कर लिया। इस रूप में वह राजा की साली का पति हो गया। सम्राट्-पत्नी के द्वारा प्रेरित होने के फलस्वरूप उसने षड्यंत्र द्वारा चन्द्रश्री की हत्या कर डाली। इसके पश्चात् रानी ने उसे अपने पुत्र का संरक्षक नियुक्त किया।"

"वर्षैस्तु सप्तभिः प्राप्तराज्यो वीराग्रणीरसौ।
तत्पुत्रं च पुलोमानं विनिहत्य नृपार्भकम्॥"

"वीरों में अग्रणी उस चन्द्रगुप्त ने चन्द्रश्री के पुत्र, युवक नृप पुलोमान की हत्या कर सात वर्षों में राज्य को प्राप्त कर लिया।"

(७)

"आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यापहरिष्यति।
काचेन स्वेन पुत्रेण लिच्छवीयेन संयुतः॥"

"वह चन्द्रगुप्त आन्ध्रों से मगध-राज्य को बलपूर्वक छीन लेगा। लिच्छवि-पत्नी से उत्पन्न काच नामक अपने पुत्र के साथ वह राज्य करेगा।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(८)

"विजयादित्यनाम्ना तु सप्त पालयितासमाः ।
स्वनाम्ना च शकं त्वेकं स्थापयिष्यति भूतले ॥"

"चन्द्रगुप्त, 'विजयादित्य' की उपाधि धारण कर सात वर्षों तक राज्य करेगा। इस भूमण्डल पर अपने नाम से वह एक संवत् की स्थापना करेगा।"

(९ तथा १०)

"एकच्छत्रश्चक्रवर्त्ती पुत्रस्तस्य महायशाः ।
नेपालाधीशदौहित्रो म्लेच्छसैन्यैः समावृतः ॥
वञ्चकं पितरं हत्वा सहपुत्रं सबान्धवम् ।
अशोकादित्य नाम्ना तु प्रख्यातो जगतीतले ॥"

"उस नरेश का तनय एवं नेपाल-नरेश का पुत्रिका-पुत्र (समुद्रगुप्त) महायशस्वी, एकराट् एवं चक्रवर्त्ती सम्राट् होगा। म्लेच्छ-सेनाओं से घिरा हुआ वह इस भूमण्डल में 'अशोकादित्य' नाम से प्रख्यात होगा। वह अपने प्रवञ्चक पिता को उसके पुत्रों एवं बन्धु-बान्धवों सहित मार डालेगा।"

(११)

"स्वयं विगतशोकश्च मातरं चाभिनन्दयन् ।
समुद्रगुप्तो भविता सार्वभौमस्ततः परम् ॥"

"स्वयं शोक से रहित होकर एवं अपनी माता को प्रसन्न कर समुद्रगुप्त इसके उपरान्त सार्वभौम नरेश बनेगा।"

(१२)

"विजित्य सकलामुर्वीं धर्मपुत्र इवापरः ।
समाहरन्नश्वमेधं यथाशास्त्रं द्विजोत्तमैः ॥"

"सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर तथा शास्त्रानुसार ब्राह्मणों की सहायता से अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार कर वह स्वयं धर्म का ही द्वितीय पुत्र सिद्ध होगा।"

(१३)

"स्वदेशीयैर्विदेशीयैर्नृपैः समभिपूजितः ।
शास्त्र-साहित्य-संगीत-रसिकः कविभिः स्तुतः ॥"

"वह समुद्रगुप्त स्वदेशी एवं विदेशी नरेशों के द्वारा भली भाँति पूजित होगा। वह शास्त्र, साहित्य एवं संगीत का रसिक होगा तथा कवियों द्वारा उसकी बन्दना की जाएगी।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(१४)

"समुद्रगुप्तः पृथ्वीं चतुः - सागर - वेष्ठिताम् ।
पञ्चाशतं तथा चैकं भोक्षयत्येवैकराट् समाः ॥"

"चारो समुद्रों से परिवेष्ठित पृथ्वी का इक्यावन (५१) वर्षों तक वह नरेश एकछत्र सम्राट् के रूप में उपभोग करेगा ।"

(१५)

"तस्य पुत्रोऽपरश्चन्द्रगुप्ताख्यो वीरकेसरी ।
यवनाञ्च तथा हूणान्देशाद् विद्रावयन्बलात् ॥"

"चन्द्रगुप्त द्वितीय नामक उसका पुत्र वीरों में सिंह-तुल्य होगा । वह यवनों एवं हूणों को बलपूर्वक देश के बाहर भगा देगा ।"

(१६)

"विक्रमादित्यवन्नित्यं पण्डितैः परिसेवितः ।
श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहास-काव्य-विचक्षणः ॥"

"विक्रमादित्य के तुल्य वह नित्य ही पण्डितों के द्वारा घिरा रहेगा । श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं काव्य का वह विलक्षण पण्डित होगा ।"

(१७ तथा १८)

"विक्रमादित्य - इत्येव भुवनेषु प्रथमां गतः ।
सप्तसिन्धून्समुत्तीर्य वाह्लीकादीन्विजित्य च ॥
सुराष्ट्र-देशपर्यन्तं कीर्त्तिस्तम्भं समुच्छ्रयन् ।
षडत्रिंशद्-भोक्षयति समास्त्वेकच्छत्रां वसुन्धराम् ॥"

"विक्रमादित्य-उपाधि द्वारा वह इस भू-मण्डल में प्रसिद्ध होगा । सप्त-सिन्धु को पार कर एवं वाह्लीक आदि को जीत कर सुराष्ट्र-देश-पर्यन्त (गुजरात तक) वह कीर्त्ति-स्तम्भों को स्थापित करेगा । छत्तीस वर्षों तक एकराट् सम्राट् के रूप में वह इस वसुन्धरा का उपभोग करेगा ।"

(१९)

"कुमारगुप्तस्तत्पुत्रो ध्रुवदेवी - समुद्भवः ।
कुमार इव देवारीन् विजेष्यन् - निज - विद्विषः ॥"

"कुमारगुप्त नामक उसका पुत्र ध्रुवदेवी से उत्पन्न होगा । जिस प्रकार कुमार (कार्त्तिकेय) ने असुरों का संहार कर डाला था, उसी भाँति कुमार-गुप्त अपने शत्रुओं का विनाश कर देगा ।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(२०)

"समाहर्त्ताश्वमेधस्य महेन्द्रादित्यनामतः ।
चत्वारिंशत्समा द्वे च पृथ्वीं पालयिष्यति ॥"

"वह नरेश अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार एवं 'महेन्द्रादित्य' की उपाधि को धारण करेगा । बयालीस वर्षों तक वह इस पृथ्वी का पालन करेगा ।"

(२१)

"स्कन्दगुप्तोऽपि तत्पुत्रः साक्षात्स्कन्द इवापरः ।
हूणदर्पहरश्चण्डः पुष्यसेन - निसूदनः ॥"

"स्कन्दगुप्त नामक उसका पुत्र साक्षात् एक द्वितीय स्कन्द सिद्ध होगा । वह पराक्रमी नृपति पुष्यसेन का संहार करेगा एवं हूणों के गर्व का हरण करेगा ।"

(२२)

"पराक्रमादित्य नाम्ना विख्यातो धरणितले ।
शासिष्यति महीं कृत्स्नां पञ्चविंशतिवत्सरान् ॥"

"पराक्रमादित्य नामक उपाधि द्वारा वह इस भूमण्डल में विख्यात होगा । वह सम्पूर्ण धरणितल पर पचीस वर्षों तक राज्य करेगा ।"

(२३)

"ततो नृसिंहगुप्तश्च बालादित्य इति श्रुतः ।
पुत्रः प्रकाशादित्यस्य स्थिरगुप्तस्य भूपतेः ॥"

"तदुपरान्त नृसिंहगुप्त नामक नरेश राज्य करेगा, जिसकी उपाधि बालादित्य होगी । वह 'स्थिरगुप्त प्रकाशादित्य' नामक भूपति का तनय होगा ।"

(२४)

"नियुक्तः स्वपितृव्येण स्कन्दगुप्तेन जीविता ।
पित्रैव साकं भविता चत्वारिंशत्समा नृपः ॥"

"पितृव्य स्कन्दगुप्त के द्वारा अपने जीवन-काल में ही वह नृपति नियुक्त कर दिया जाएगा । पिता के साथ वह चालीस वर्षों तक राज्य करेगा ।"

(२५)

"अन्यः कुमारगुप्तोऽपि पुत्रस्तस्य महायशाः ।
क्रमादित्य इति ख्यातो हूणैर्युद्धं समाचरन् ॥"

"उस महायशस्वी का पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त नामक होगा, जो हूणों के साथ युद्ध कर 'क्रमादित्य' की उपाधि अर्जित करेगा ।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(२६)

"विजित्येशानवर्मादीन्भट्टारकेणानुसेवितः ।
चतुश्चत्वारिंशदेव समा भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥"

"वह ईशानवर्मा आदि नरेशों को जीत लेगा। भट्टारक नामक व्यक्ति उसका परम स्वामिभक्त सिद्ध होगा। वह ४४ वर्षों तक पृथ्वी का उपभोग करेगा।"

(२७)

"एतेप्रणतसामन्ताःश्रीमद्-गुप्त-कुलोद्भवाः ।
श्रीपर्वतीयान्ध्रभृत्यनामाश्च चक्रवर्तिनः ॥"

"गुप्त-कुल में उत्पन्न ये नरेश ऐश्वर्य-सम्पन्न होंगे तथा सामन्त नरेश उनके समक्ष नतमस्तक होंगे। ये चक्रवर्त्ती भूपति 'श्रीपर्वतीय' एवं 'आन्ध्र-भृत्य' नाम द्वारा प्रसिद्ध होंगे।

(२८)

"महाराजाधिराजादिविरुदावल्यलंकृतः ।
भोक्ष्यन्ति द्वे शते पञ्च-चत्वारिंशच्च वै समाः ॥"

"महाराजाधिराज आदि विविध उपाधियों से अलंकृत होकर दो सौ पैंतालीस वर्षों तक वे राज्य करेंगे।"

(२९)

"मागधानं महाराज्यं छिन्नभिन्नं च सर्वशः ।
साकमेतैर्महागुप्तवंशैर्यास्यिति संस्थितम् ॥"

"मगध का महाराज्य जो कि चारों ओर से छिन्न-भिन्न हो गया था, वह अब महागुप्त वंश द्वारा स्थिर कर दिया जाएगा।"

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर निम्नलिखित वंश-वृक्ष निर्धारित होता है:—

राज्यावधि (३२० ई० से ५६५ ई०)

आदिपुरुष—	१. श्रीगुप्त	श्रीपर्वतीय एवं आन्ध्रभृत्य
"	२. घटोत्कचगुप्त	
सम्राट्—	१. चन्द्रगुप्त प्रथम 'विजयादित्य' एवं उसका पुत्र काच	७ वर्ष (३२० ई०-३२७ ई०)
	।	
"	२. समद्रगुप्त 'अशोकादित्य'	५१ वर्ष (३२७ ई०-३७८ ई०)
	।	
"	३. चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य'	३६ वर्ष (३७८ ई०-४१४ ई०)
	।	

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्राट्—	४. कुमारगुप्त 'महेन्द्रादित्य'	४२ वर्ष (४१४ ई०-४५६ ई०)
	।	
"	५. स्कन्दगुप्त 'पराक्रमादित्य'	२५ वर्ष (४५६ ई०-४८१ ई०)
	।	
"	६. नृसिंहगुप्त 'बालादित्य' तथा उसका पिता स्थिरगुप्त 'प्रकाशादित्य'	४० वर्ष (४८१ ई०-५२१ ई०)
	।	
"	७. कुमारगुप्त 'क्रमादित्य'	४४ वर्ष (५२१ ई०-५६५ ई०)

बी० भट्टाचार्य 'कलियुगराज-वृत्तान्त' के उपर्युक्त वर्णन को महत्ता प्रदान करते हुए इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों को श्रद्धेय दृष्टि से नहीं देखा है। खेद का विषय है कि यूरोपीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण के समर्थक कुछ भारतीय विद्वान् भी उन्हें अस्पृश्य समझते हैं। उक्त सामग्री के आधार पर गुप्त-वंशीय इतिहास के विषय में हम अपना परिचय अधिक प्रामाणिक एवं पूर्ण बना सकते हैं।[1]

त्रुटियाँ एवं संशय—सतर्क पाठक इस बात का अनुभव करेंगे कि कलियुगराज-वृत्तान्त का उपर्युक्त वर्णन सदोष है। इसमें प्राप्य मौलिक त्रुटियों एवं भूलों के कारण इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में बारंबार संशय उत्पन्न होने लगता है। इन अशुद्धियों का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) इसमें इस वंश के आदि पुरुष श्रीगुप्त एवं घटोत्कच को 'आन्ध्र-भृत्य' (आन्ध्रों का कर्मचारी) कहा गया है। यह कथन सर्वथा असत्य है। गुप्त-अभिलेखों के अनुसार वे इस राजवंश के प्रथम एवं द्वितीय नरेश थे। इनमें उनके लिए 'महाराज' की उपाधि प्रयुक्त है। वाकाटक-अभिलेखों एवं सुपिया के लेख द्वारा घटोत्कच की विशिष्टता प्रतिपादित हो जाती है।

(२) 'कलियुगराजवृत्तान्त' में घटोत्कचगुप्त नाम आता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि उसका यथार्थ नाम केवल घटोत्कच ही था।

(३) उक्त ग्रन्थ के अनुसार स्कन्दगुप्त ने ४८१ ई० तक राज्य किया था, जो अविश्वसनीय है। प्रामाणिक साधनों से ज्ञात होता है कि उसकी अन्तिम

---

१. जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३०, १९४४, पृष्ठ ४ तथा ४५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तिथि ४६८ ई० थी। कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ-लेख (गुप्त-संवत् १५४) के द्वारा सूचना मिलती है कि वह ४७३ ई० में राज्य कर रहा था। इसी प्रकार बुधगुप्त के सारनाथ-अभिलेख (गुप्त-संवत् १५७) के अनुसार वह ४७६ ई० में राज्य कर रहा था।

(४) उपर्युक्त पौराणिक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम प्रवंचक, दुराचारी, अपने स्वामी का हत्यारा एवं उसके पुत्र का निहन्ता तथा राज्य का अपहारक था। यह कथन अश्रद्धेय है। वह एक सदाशय सम्राट् था। उसके पिता घटोत्कच स्वयं महाराज थे।

(५) 'कलियुगराज-वृत्तान्त' में समुद्रगुप्त को अपने धूर्त पिता का हत्यारा उल्लिखित किया गया है। परन्तु इसके प्रतिकूल प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने उसकी प्रतिभा से प्रभावित होने के कारण अपने अनेक राजकुमारों के बीच उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था।

(६) इस ग्रन्थ में अन्य ऐतिहासिक त्रुटियाँ भी मिलती हैं; उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पुत्र काच के साथ मिल कर राज्य किया था, स्कन्दगुप्त का तात्कालिक उत्तराधिकारी नृसिंहगुप्त था जिसने अपने पिता स्थिरगुप्त 'प्रकाशादित्य' की सहायता से ४० वर्षों तक शासन किया, आदि।

(७) उक्त पुराण-खण्ड में उल्लिखित गुप्त-वंशावली अपूर्ण है। इसके रचयिता को बुधगुप्त, भानुगुप्त, वैन्यगुप्त एवं विष्णुगुप्त आदि नरेशों के विषय में कोई भी परिचय नहीं था।

डॉ० मजूमदार का मत—रमेशचन्द्र मजूमदार ने 'कलियुगराज-वृत्तान्त' के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हुए विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि इसका रचयिता गुप्तवंशीय इतिहास की आधुनिक समस्याओं से भली भाँति अवगत था; उदाहरणार्थ काच-समस्या एवं मेहरौली-प्रशस्ति के सम्राट् चन्द्र के समीकरण का प्रश्न। इसके लेखक ने इन दोनों जटिल समस्याओं के सुलझाने का प्रयास किया है। वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के विषय में लिखता है कि उसने सप्त-सिन्धु को पार कर वाह्लीकादि को जीत लिया था (सप्तसिन्धून्समुत्तीर्यवाह्लीकादीन्विजित्य च)। यह उल्लेख मेहरौली-प्रशस्ति के कथन 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिताः वाह्लिकाः' से तुलना करने योग्य है। समान शब्दों के प्रयोग के कारण इस रचना का जाली होना अभिव्यञ्जित होता है।[1] डॉ० मजूमदार के मत के समर्थन में कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ ऐसे

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २०, १९४४, पृष्ठ ३४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समय लिखा गया जब कि कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, भानुगुप्त, वैन्यगुप्त एवं विष्णुगुप्त के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले गुप्त-अभिलेख प्रकाश में नहीं आ सके थे। प्रामाणिक निबन्ध होने पर इन नरेशों की कृतियों का भी उल्लेख इस ग्रन्थ में अवश्य होता। यदि समुद्रगुप्त सचमुच ही अपने पिता का हत्यारा होता तो वह उसके द्वारा प्रवर्तित संवत् को स्थायी न कर अपने राज्य-काल से वंश-संवत् को प्रचलित करता।

तिथि-निर्धारण—'कलियुगराज-वृत्तान्त' में पुरुगुप्त का नाम स्थिरगुप्त 'प्रकाशादित्य' उल्लिखित है। डॉ० मजूमदार के अनुसार यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हो जाता है। जिस समय भितरी का राजमुद्रा-लेख उपलब्ध हुआ, उस समय विद्वान् सन्देह में थे कि पुरुगुप्त का वास्तविक नाम यही था अथवा स्थिरगुप्त। १८९३ ई० में बूलर ने निर्दिष्ट किया था कि इस नाम का शुद्ध पाठ स्थिरगुप्त है। इस मत का समर्थन १८९४ ई० में विन्सेंट स्मिथ एवं कनिंघम महोदयों ने भी किया। हॉर्नले ने १८८९ ई० में ही प्रतिपादित किया था कि 'प्रकाशादित्य' उपाधि इसी नरेश की थी। फलतः १८९३ ई० के उपरान्त कुछ समय के लिए पुरुगुप्त 'प्रकाशादित्य', स्थिरगुप्त 'प्रकाशादित्य' नाम से सुप्रसिद्ध हो गया। १९०४ ई० के लगभग विद्वानों को अपनी इस भूल का पता लगा। इस समय हॉर्नले एवं विसेन्ट स्मिथ ने अपने पूर्वमत को संशोधित करते हुए प्रतिपादित किया कि इस सम्राट् के नाम का शुद्ध पाठ पुरुगुप्त ही है। हाल में प्राप्त नालंदा के राजमुद्रा-लेखों से सम्पुष्टि हो जाती है कि उसका वास्तविक नाम यही (पुरुगुप्त) था। परन्तु १८९३ ई० से लेकर १९०३ ई० तक की दस-वर्षीय लघु-अवधि में वह स्थिरगुप्त नाम से ही सुप्रसिद्ध था। उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि कलियुग-राज-वृत्तान्त इसी समय के भीतर निबद्ध हुआ होगा। इस ग्रन्थ में पुरुगुप्त के स्थान पर नाम के अशुद्ध पाठ स्थिरगुप्त का उल्लेख उक्त सम्भावना की परिपुष्टि करता है।[1]

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २०, १९४४, पृष्ठ ३४९-५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट ३

'काच-समस्या'

काच नामक भारतीन नरेश के विषय में कतिपय सुवर्ण-मुद्राओं द्वारा सूचना प्राप्त होती है, जो कि एक ही प्रकार की हैं। वे जौनपुर, टाँडा एवं बयाना आदि स्थानों से उपलब्ध हैं तथा उनकी संख्या अभी तक कुल मिलाकर ३१ है। इनमें से १६ बयाना-निधि से उपलब्ध हुई हैं। अवशिष्ट १५ मुद्राओं में ५ लखनऊ-संग्रहालय, ३ भारतीय संग्रहालय कलकत्ता, एवं ७ ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित हैं। तौल की दृष्टि से वे दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं। प्रथम वर्ग की मुद्राएँ ११५ ग्रेन के भारप्रमाण तथा दूसरे वर्ग की मुद्राएँ ११८ ग्रेन के भार-प्रमाण के अन्तर्गत आती हैं। उनका आकार '७५" से लेकर '८५" तक है। इन सिक्कों के मुखभाग पर सम्राट् बाईं ओर खड़ा है। उसके वाम हस्त में चक्रध्वज है तथा दक्षिण हस्त के द्वारा वह वेदी पर आहुति देता हुआ प्रदर्शित है। इसी ओर वर्तुलाकार विरुद 'काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति' ('पृथ्वी को जीत कर अपने उत्तम कर्मों के द्वारा काच स्वर्ग-लोक को जीत लेता है) उत्कीर्ण है। पृष्ठभाग पर लक्ष्मी का चित्र अंकित है। वह साड़ी, कञ्चुक, कर्णपूर, कण्ठाभरण एवं बाजूबन्द पहने सुशोभित है। वह अपने दक्षिण हस्त में पुष्प एवं वाम हस्त में कार्निकोपिया धारण किए हुए है। इसी ओर राजा की उपाधि 'सर्वराजोच्छेता' भी उत्कीर्ण है।

काच-मुद्राएँ ऐसी निधियों से प्राप्य हैं, जिनमें एकमात्र गुप्त वंशीय सिक्के ही मिले हैं। उदाहरणार्थ बयाना-निधि की १८२१ मुद्राओं में १६ मुद्राएँ काच की हैं। इस मुद्रा-ढेर से केवल गुप्त-नरेशों के ही सिक्के उपलब्ध हैं। बनावट, तौल एवं आकार की दृष्टि से काच-मुद्राएँ गुप्तकालीन मुद्राओं से साम्य रखती हैं। इनमें सम्राट् की उपाधि, विरुद एवं उकेरी का समस्त कार्य गुप्त शैली में प्राप्य है। अतएव प्रमाणित होता है कि काच नामक नरेश इसी सुप्रसिद्ध राजवंश में उत्पन्न हुआ था। लगता है कि वह कोई प्रारम्भिक गुप्त राजा था। उसकी मुद्राएँ चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं के साथ प्राप्य हैं। उदाहरणार्थ बलिया-निधि से केवल समुद्रगुप्त एवं काच के ही सिक्के मिले हैं। टाँडा-निधि से चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राएँ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राप्य हैं।[1] उपलब्ध सामग्री द्वारा प्रमाणित होता है कि काच का राज्य-काल चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व रहा होगा। काच-मुद्राएँ केवल एक ही धातु (सुवर्ण) द्वारा निर्मित हैं। रजत् एवं ताम्रमुद्राओं को गुप्त-कुल में सबसे पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विशेष रूप से प्रचलित किया था। इधर रामगुप्त की भी कुछ ताम्र-मुद्राएँ प्रकाश में आई हैं। परन्तु चाँदी के सिक्कों के प्रचलन की प्रथा इस कुल में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा ही प्रारम्भ की गई थी। काच-मुद्राओं की औसत तौल ११६ ग्रेन एवं अधिकतम तौल ११८ ग्रेन है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय से गुप्त-नरेशों ने १२० ग्रेन से लेकर १२४ ग्रेन तक की तौल वाली मुद्राओं को प्रचलित किया था। इससे निर्दिष्ट होता है कि काच ने चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहले राज्य किया था।[2] गुप्त-वंशावलियों में इस नाम के किसी नरेश का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव यह प्रश्न विवादास्पद हो जाता है कि उसका समीकरण किस गुप्त-सम्राट् के साथ किया जाय।

राखाल दास बनर्जी ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया था कि ये मुद्राएँ स्मारक-मुद्राएँ हैं। उनके अनुसार काच उसका भाई था, जो कुषाणों के विरुद्ध 'स्वतंत्रता-संग्राम' लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ था। अपने शूरमा भ्राता की पवित्र स्मृति को अक्षुण्ण बनाने के हेतु समुद्रगुप्त ने उक्त मुद्राओं को प्रचलित किया था। इनके पृष्ठभाग पर प्राप्त 'सर्वराजोच्छेता' उपाधि समुद्रगुप्त के नाम का प्रतिनिधित्व करती है।[3] इस मत के विषय में विचारणीय है कि स्मारक-मुद्रा की प्रथा भारतीय परम्परा के अन्तर्गत नहीं आती थी। काच का कुषाण-युद्ध कल्पना मात्र है। इसे प्रतिपादित करने के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। यदि समुद्रगुप्त ने इन्हें स्मारक मुद्राओं के रूप में ढलवाया होता, तो प्रचलन-कर्ता के रूप में उसका नाम इनके ऊपर कहीं अवश्य उत्कीर्ण होता।

डी० आर० भण्डारकर का अनुमान है कि ये मुद्राएँ रामगुप्त की हैं जिसका मौलिक नाम काचगुप्त रहा होगा। गुप्त-लिपि में 'क' एवं 'र' तथा 'च' एवं 'म' अक्षरों की बनावट में पर्याप्त साम्य है। यदि काच को घसीट अथवा असावधानी से लिख दिया जाय, तो उसे राम पढ़ लेना सर्वथा स्वाभाविक है। 'देवीचन्द्र-गुप्तम्' की प्रारम्भिक पाण्डुलिपियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय के अग्रज का नाम

---

१. अल्तेकर, अ० स०, दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता इम्पायर : पृष्ठ ७८-८०
२. वही, पृष्ठ ८२
३. दी एज ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज, पृष्ठ ९-१०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काचगुप्त लिखा रहा होगा। लिपिकों की असतर्कता के फलस्वरूप कालान्तर की पाण्डुलिपियों में रामगुप्त पाठ उल्लिखित हो गया।[1]

डॉ० अल्तेकर भी किसी समय इसी मत के समर्थक थे। उनके अनुसार काचगुप्त रामगुप्त का अतिरिक्त नाम रहा होगा। गुप्त-कुल में ऐसी परम्परा विद्यमान थी। मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार स्कन्दगुप्त 'बहुवाख्य' (कई नामों को धारण करने वाला नरेश) था। साँची के लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का प्रिय नाम देवराज था। वाकाटक-लेखों में उसे देवगुप्त कहा गया है। गुप्त-काल में काच नाम अज्ञात नहीं था। अजन्ता में राज्य करने वाले वाकाटक-सामन्तवंश के दो नरेशों ने इस नाम को धारण किया था। प्रयाग की प्रशस्ति एवं एरण के लेख में समुद्रगुप्त के लिए 'सर्वराजोच्छेता' की उपाधि अप्राप्य है। यह उपाधि एकमात्र इसी नरेश की नहीं मानी जा सकती। वाकाटक-लेखों में समुद्रगुप्त के स्थान पर चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही 'सर्वराजोच्छेता' उल्लिखित किया गया है। संभव है कि काच ने अपने पिता समुद्रगुप्त के दिग्विजय के उदाहरण का अनुकरण करने की चेष्टा की हो। संभव है कि उसे अपने सैनिक जीवन में प्रारम्भ में कुछ सफलता मिल गई हो और फलतः उसने 'सर्वराजोच्छेता' की उपाधि धारण कर ली हो। कालान्तर में शक-युद्ध में पूर्ण रूप से परास्त हो जाने के कारण वह अपमानजनक सन्धि मानने के हेतु शत्रु द्वारा बाध्य कर दिया गया हो। फलतः भारतीय परम्परा में वह कुल-कलङ्क के रूप में रँग दिया गया। वह इतना अयोग्य एवं कायर नहीं था जितना कि देवीचन्द्रगुप्तम् में विशाखदत्त ने उसे चित्रित किया है। काचगुप्त (उपनाम रामगुप्त) का राज्यकाल अल्प-कालीन था। अतएव उसे एक ही प्रकार की मुद्राओं के प्रवर्तन का अवसर मिल सका था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ उसके द्वेषपूर्ण सम्बन्धों के कारण तत्कालीन विशाखदत्त को उसकी पराजय का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के निमित्त अनुकूल प्रोत्साहन एवं सुअवसर उपलब्ध हुआ होगा। गुप्त वंशवृक्ष में सीधे रूप में न आने के कारण उसके नाम को जान-बूझ कर परित्यक्त कर दिया गया। यही कारण है कि गुप्त कुल-सूची में स्कन्दगुप्त तक का नाम अप्राप्य है। इस राजघराने के नरेश वंश-तालिका में पिता, पितामह एवं प्रपितामह आदि का ही उल्लेख करते थे परन्तु अग्रज अथवा पितृव्य आदि का नामोल्लेख नहीं करते थे।[2]

---

१. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ २०५-०६

२. अल्तेकर, क्वायनेज ऑफ दी गुप्त-इम्पायर, पृष्ठ ८४-८६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस मत को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हाल ही में पूर्वी मालवा से प्राप्त रामगुप्त-मुद्राओं से स्पष्ट है कि उसका वास्तविक नाम यही था न कि काचगुप्त। इन सिक्कों की प्राप्ति के उपरान्त उपर्युक्त समस्त तर्क निराधार सिद्ध हो जाते हैं। कालान्तर में उक्त मत के प्रतिपादक डॉ० अल्तेकर ने भी स्वीकार कर लिया कि रामगुप्त-मुद्राओं के आलोक में काच-मुद्राएँ अब रामगुप्त की नहीं मानी जा सकतीं।[1]

रैप्सन[2] एवं हेरास[3] का अनुमान है कि काच समुद्रगुप्त का अग्रज था। प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है कि जब समुद्रगुप्त उत्तराधिकारी मनोनीत किया गया, उस समय उसके भाई अत्यन्त दुःखी हो गए (म्लानाननोद्वीक्षितः)। वे उसके उत्तराधिकार के विरोधी हो गए होंगे। उन्होंने काच के पक्ष का समर्थन किया होगा, जो उससे अवस्था में बड़ा रहा होगा। सम्भव है कि समुद्रगुप्त के भाइयों में सबसे ज्येष्ठ वही रहा हो। उसके नेतृत्व में उन्होंने उत्तराधिकार-संबन्धी गृह-युद्ध किया होगा, जिसके संबन्ध में संकेत उक्त लेख के पाँचवें एवं छठें श्लोकों में मिलता है। ये दोनों ही श्लोक खण्डित अवस्था में हैं। इनके अवशिष्ट अंशों से निष्कर्ष निकलता है कि अपने उत्तराधिकार के ठीक पश्चात् उसे अपने शत्रुओं का दमन करना पड़ा था। इनमें से कुछ को उसने अपने बाहुबल द्वारा दबाया तथा कुछ को अपने स्नेह के बल पर जीत लिया था। उसके कतिपय शत्रुओं ने अपनी दुष्कृति पर पश्चात्ताप प्रकट किया था। समुद्रगुप्त के ये विरोधी घरेलू शत्रु (उसके भाई) रहे होंगे। इस युद्ध का उल्लेख उसके उत्तराधिकारी निर्वाचित होने वाले अंश के ठीक पश्चात् हुआ है, अतएव यह गृह-युद्ध के रूप में रहा होगा। इसमें काच लड़ता हुआ मारा गया होगा और समुद्रगुप्त ने सफलतापूर्वक इस विद्रोह का दमन कर दिया होगा। उसके भ्राताओं ने अपनी कुकृति पर दुःख प्रकट करते हुए उससे क्षमा-याचना की होगी। काच का राज्य-काल अत्यल्प रहा होगा। यही कारण है कि उसकी मुद्राएँ संख्या में सीमित तथा एक ही कोटि की हैं।

कलियुगराज-वृत्तान्त के आधार पर बी० भट्टाचार्य ने काच को समुद्रगुप्त का सौतेला भाई सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस ग्रन्थ (भविष्योत्तरपुराण का एक खण्ड) के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने आन्ध्र-स्वामी चन्द्रश्री की हत्या

---

१. अल्तेकर, वही, पृष्ठ ८६-८७

२. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९३, पृष्ठ ८१

३. एनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, ९, ८३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कर मगध राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। तदुपरान्त उसने 'विजयादित्य' की उपाधि भी धारण की थी। उसके दो पुत्र थे—काच एवं समुद्रगुप्त। काच ज्येष्ठ था। उसका जन्म लिच्छवि-राजकन्या के गर्भ से हुआ था। समुद्रगुप्त नेपाल-नरेश का दौहित्र था। काच की सहायता से चन्द्रगुप्त प्रथम ने सात वर्षों तक राज्य किया था। समुद्रगुप्त ने अपने इस प्रवञ्चक पिता एवं सौतेले भाई काच को मार डाला और इस रूप में वह स्वयं सम्राट् बन गया। एकच्छत्र चक्रवर्ती नरेश के रूप में उस प्रतापी का यश चतुर्दिक् फैल गया :—

"आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यापहरिष्यति ।
काचेन स्वेन पुत्रेण लिच्छवीयेन संयुतः ॥
विजयादित्यनाम्ना तु सप्त पालयिता समाः ।
स्वनाम्ना तु शकं त्वेकं स्थापयिष्यति भूतले ॥
एकच्छत्रश्चक्रवर्त्ती पुत्रस्तस्य महायशाः ।
नेपालाधीशदौहित्रो म्लेच्छसैन्यैः समावृतः ॥
वञ्चकं पितरं हत्वा सहपुत्रं सबान्धवम् ।
अशोकादित्यनाम्ना तु प्रख्यातो जगतीतले ॥"

(जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी में उद्धृत, जिल्द ३०, भाग १, पृष्ठ ५-२६)

परमेश्वरीलाल गुप्त ने विद्वानों का ध्यान 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' के एक अंश की ओर आकृष्ट किया है, जिसके अनुसार समुद्रगुप्त के उपरान्त भस्म नामक उसके अनुज ने राज्य किया था। समुद्रगुप्त दुष्ट प्रकृति का नरेश था तथा उसने केवल तीन ही वर्षों तक राज्य किया था। उसके अनुज भस्म ने विविध सम्पदाओं का उपभोग किया था :—

"तस्याधरेण नृपतिस्तु समुद्राख्यो नामकीर्तितः ।
त्रीणि वर्षाणि दुर्मेधः राज्यं प्राप्स्यति दुर्मतिः ॥
तस्याप्यनुजो विख्यातः भस्माख्यो नाम नामतः ।
विविधां संपदं सोऽपि प्राप्तवान् नृपतिस्तथा ॥"

संस्कृत-कोष के अनुसार काच शब्द भस्म का पर्याय है। अमरकोष में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है (काचो भस्मनि लवणे च)। मञ्जुश्रीमूलकल्प का रचयिता किसी परम्परा से परिचित था, जिसके अनुसार काच नामक समुद्रगुप्त के भाई ने राज्य किया था। जिस प्रकार उसने शशांक को सोमाख्य कहा है,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America INFA (USA)

उसी भाँति उसने काच को भस्म नाम द्वारा उल्लिखित किया है।[1] उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के साक्ष्यों से स्पष्ट है कि काच समुद्रगुप्त का चाहे अग्रज रहा हो अथवा अनुज, वह उसका प्रतिद्वन्द्वी था एवं किञ्चित काल के लिए उसने अवश्य राज्य किया था।

उपर्युक्त तर्कों के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

(१) प्रयाग-प्रशस्ति के पाँचवें तथा छठें श्लोकों की भाषा से किसी गृह-युद्ध का भाव नहीं प्रकट होता। इनमें उल्लिखित समुद्रगुप्त के शत्रु बाहरी प्रतिद्वन्द्वी रहे होंगे। इस लेख के सातवें श्लोक में अच्युत, नागसेन एवं कोतकुलज आदि उसके बाह्य अरियों का उल्लेख मिलता है।

(२) रमेशचन्द्र मजूमदार ने 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली' जिल्द २०, १९४४ में प्रकाशित अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में सिद्ध कर दिया है कि कलियुगराज-वृत्तान्त एक जाली ग्रन्थ है। वस्तुतः यह एक अर्वाचीन रचना है, जो गुप्त वंशीय इतिहास की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करता है।

(३) मञ्जुश्रीमूलकल्प का उक्त पद्यांश अशुद्ध एवं अविश्वसनीय उल्लेखों द्वारा परिपूर्ण है, उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त बुरे विचारों वाला (दुर्मतिः) एवं जड़मति (दुर्मेधः) था, उसने केवल तीन ही वर्षों तक राज्य किया था तथा उसकी तुलना में भस्म (काच) का राज्यकाल विविध सम्पदाओं से युक्त था इत्यादि।

(४) उपर्युक्त साक्ष्यों में परस्पर-विरोधी परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। कलियुगराज-वृत्तान्त में काच को समुद्रगुप्त का बडा भाई तथा मञ्जुश्रीमूलकल्प में उसे उसका अनुज कहा गया है। अतएव उक्त परम्पराओं की विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। इन आपत्तियों के आलोक में रैप्सन, हेरास, बी० भट्टाचार्य एवं परमेश्वरीलाल गुप्त आदि उन विद्वानों के मत, जो काच को समुद्रगुप्त का भ्राता निर्दिष्ट करते हैं, अश्रद्धेय प्रमाणित होते हैं।

प्रिंसेप एवं टॉमस के अनुसार काच-मुद्राएँ घटोत्कच की हैं। गुप्त-वंश में यही सम्राट् ऐसा था, जिसका नाम काच-नाम से सादृश्य रखता है। रमेशचन्द्र मजूमदार ने प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी कि घटोत्कच अपने पिता महाराज श्रीगुप्त से कहीं अधिक प्रभावशाली था। हाल ही में प्राप्त सुपिया के लेख में गुप्त-वंश को 'घटोत्कच-वंश' कहा गया है। वाकाटक-अभिलेखों में घटोत्कच को गुप्त-कुल का 'आदिराज' कहा गया है। इन उल्लेखों से प्रमाणित होता

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २२, पृष्ठ ६०-६१

Digitization by Hindu Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है कि घटोत्कच अपने वंश का प्रथम नरेश था, जो इसे विशेष प्रसिद्धि में लाने में सफलीभूत हुआ था। इस दृष्टिकोण से जब हम विचार करने लगते हैं, तो प्रिंसेप एवं टॉमस महोदयों का मत किञ्चित् काल के लिए सत्य सा लगने लगता है। संभव है कि अपने कुल का प्रथम प्रभावशाली नरेश होने के कारण उसी ने काच-मुद्राओं को प्रचलित किया हो। इस मत के सम्बन्ध में विचारणीय हो जाता है कि दो घटनाएँ गुप्त-कालीन इतिहास में सीमा-चिन्ह की भाँति प्रमुख हैं—पहला गुप्त-मुद्राकला का प्रवर्तन तथा दूसरा 'गुप्त-संवत् का प्रचलन। ये दोनों ही विशिष्ट घटनाएँ किसी चक्रवर्ती गुप्त-नरेश के राज्यकाल में घटी होंगी। यह तो निर्विवाद है कि गुप्त-संवत् घटोत्कच के उपरान्त ही प्रचलित किया गया था। अतएव द्वितीय तथ्य (अर्थात् गुप्त-मुद्राकला का प्रवर्तन) भी इस नरेश के पश्चात् ही संभव हुआ होगा। वह उतना महान् नहीं था कि वंश-संवत् अथवा कुल-मुद्रा को प्रचलित करने में समर्थ होता। गुप्तों के राजकीय अभिलेखों में उसे केवल 'महाराज' कहा गया है। अतएव बहुत संभव है कि वह माण्डलिक ही था।

इस स्थान पर काच-मुद्राओं की दो विशेषताओं पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। पहली बात ध्यान देने योग्य है कि किसी परम वैष्णव सम्राट् द्वारा ही वे प्रवर्तित की गई होंगी। यही कारण है कि उन पर वैष्णव धर्म के प्रतीक अंकित हैं, उदाहरणार्थ चक्रध्वज एवं लक्ष्मी। गुप्तवंशावलियों में सर्वप्रथम समुद्रगुप्त को 'परमभागवत' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म को गुप्त-कुल का राजकीय धर्म उसी के काल में बनाया गया। उसने जब नाग-राजाओं का उन्मूलन कर लिया, उस समय वैष्णव धर्म में उसकी आस्था जागृत हो गई। फलतः उसकी आज्ञाएँ गरुड-मुद्रा से शुद्ध की जाने लगीं (गरुत्मदंक)। पौराणिक विचारधारा के अनुसार गरुड ने नागों का संहार किया था। अतएव काच-मुद्राएँ समुद्रगुप्त के किसी पूर्वज सम्राट् की नहीं मानी जा सकतीं। कला की दृष्टि से काच-मुद्राएँ अति भव्य हैं। अतएव गुप्तों के द्वारा नियुक्त शिल्पियों के मुद्रा-निर्माण के प्रथम प्रयास का वे द्योतक नहीं हो सकती थीं। इन तथ्यों के आलोक में उन्हें घटोत्कच-कालीन मानना समुचित नहीं होगा। गुप्त-नरेश अपने नामों का पूर्वार्द्ध मात्र ही अपनी मुद्राओं पर अंकित करते थे। यदि ये सिक्के घटोत्कच के होते, तो ऐसी दशा में उसके नाम का प्रथमार्द्ध (घट) इन पर उत्कीर्ण होता। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उसके नाम के अन्त में 'कच' शब्द संयुक्त है न कि 'काच'। इससे स्पष्ट है कि काच-मुद्राएँ घटोत्कच की नहीं हो सकती थीं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फ्लीट, विन्सेन्ट स्मिथ, एलन तथा हेमचन्द्र रायचौधरी आदि के अनुसार काच को समुद्रगुप्त के साथ समीकृत करना समुचित होगा। काच-मुद्राओं की बनावट समुद्रगुप्त की मुद्राओं की बनावट से साम्य रखती है। उनके पृष्ठभाग की विशेषताएँ उसकी व्याघ्र-हनन् एवं अश्वमेघ-मुद्राओं के पृष्ठभाग की विशिष्टताओं के सदृश हैं। समुद्रगुप्त एवं काच की मुद्राओं की औसत तौल एक ही है; उदाहरणार्थ ११६ ग्रेन। काच-मुद्राओं पर सम्राट् की विरुद 'काचो गामवजित्य कर्मभिरुत्तमैर्दिवम् जयति' ('काच पृथ्वी को जीत कर अपने उत्तम कर्मों द्वारा स्वर्ग-लोक को जीत लेता है') अंकित है। इसकी तुलना हम समुद्रगुप्त-कालीन निम्नलिखित उत्कीर्ण लेखों से कर सकते हैं—

(क) "अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति" अर्थात् वह अजेय सम्राट् पृथ्वी को जीत कर अपने अच्छे आचरणों द्वारा स्वर्ग-लोक को जीत लेता है" (धनुर्धारी मुद्राओं पर प्राप्य समुद्रगुप्त की विरुद)।

(ख) "राजाधिराजो पृथिवीं विजित्य दिवं जयति" अर्थात् "उस नराधिपति ने भूमण्डल को जीतकर स्वर्ग-लोक जीत लिया था" (समुद्रगुप्त की अश्वमेघ-मुद्राओं पर प्राप्य विरुद)।

(ग) "सर्व्व-पृथिवी-विजय-जनितोदय-व्याप्त-निखिलावनितलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति-भवनगमनावाप्त" अर्थात् "सम्पूर्ण पृथिवी को जीत लेने के कारण उसकी कीर्ति निखिल भुवन-मण्डल में विचरण करती हुई इन्द्रलोक में पहुँच चुकी थी" (समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति; पंक्ति-संख्या २९ एवं ३०)।

गुप्त-वंश के अभिलेखों के अनुसार 'सर्वराजोच्छेता' उपाधि एकमात्र समुद्रगुप्त की ही थी। उसने नाना युद्धों में भाग लेकर ('समरशतावतरण' द्वारा) प्रबल शत्रुओं का उन्मूलन किया था। वह अपनी सैनिक उपलब्धियों द्वारा उक्त उपाधि को सर्वथा चरितार्थ करता था। काच का अर्थ, स्फटिक-मणि अथवा बिल्लौर होता है।[1]

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि काच कुल-भूषण था। यह नाम समुद्रगुप्त-सदृश यशस्वी नरेश का ही हो सकता था। काच की उपर्युक्त विरुद तथा उपाधि आदि अन्य विशिष्ट तथ्य इसी नरेश के विषय में लागू होते हैं। काच उसका मौलिक नाम रहा होगा। समुद्रपर्यन्त यश के प्रसरित होने पर उसने अपना

---

१. इस विषय में निम्नलिखित प्रयोग विचारणीय हो जाते हैं—

(क) "काचमूल्येन विक्रीतो हंत चिंतामणिर्मया",—शाकुन्तलम्, १,१२

(ख) "आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः";—हितोपदेश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नवीन नाम समुद्रगुप्त रख लिया होगा।[1] उत्तराधिकारियों के लेखों के अनुसार उसके यश का आस्वादन चारो समुद्रों द्वारा किया जाता था (चतुरुदधिसलिला-स्वादितयशसो)। इस निष्कर्ष के विरुद्ध कतिपय विद्वानों द्वारा आपत्ति प्रकट की जाती है कि गुप्त-नरेश अपनी मुद्राओं पर केवल एक ही नाम उत्कीर्ण होने देते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के अन्य नाम भी थे (देवगुप्त एवं देवराज), परन्तु उसकी मुद्राओं पर उसका केवल एक ही नाम (चन्द्र) अंकित मिलता है। अतएव काच एवं समुद्रगुप्त एक ही नरेश के दो विभिन्न नाम नहीं हो सकते। इस संबन्ध में ध्यान देने योग्य है कि काच उसका मौलिक नाम था, जो उसके राज्य-काल के प्रारम्भिक वर्षों तक ही प्रचलित था। कालान्तर में अपने यश एवं मर्यादा के अनुकूल उसने अपना अभिनव नाम (समुद्रगुप्त) रख लिया। उस समय से उसकी सभी मुद्राओं में यही नाम अनिवार्य रूप से उत्कीर्ण किया गया। इस विवेचन से प्रमाणित होता है कि ज्वलन्त (सर्वतेजमयो नृपः) समुद्रगुप्त एवं काच (भास्वर कान्ति से युक्त) सर्वथा समीकरणीय हैं।

●●

---

१. रायचौधरी, हे० च०, पो० हि० ऐं० इं०, पृष्ठ ५३३, पादटिप्पणी; सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ १५१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट ४

मेहरौली के अभिलेख के चन्द्र

मेहरौली आधुनिक दिल्ली से दक्षिण नव मील की दूरी पर स्थित एक ग्राम है, जिसे मेमहरौली भी कहते हैं। इसका प्राचीन नाम मिहिरपुरी था। इस स्थान पर कुतुबमीनार के समीप एक लौह-स्तम्भ पर शार्दूलविक्रीडित छन्द में लिखे संस्कृत के तीन सुन्दर श्लोक मिलते हैं जिनमें चन्द्र नामक राजा की प्रशंसा बड़े ही भावात्मक ढंग से की गई है। ये श्लोक इस प्रकार हैं:—

(१) "यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वंगेष्वाहव-वर्त्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्य्यानिलैर्दक्षिणः॥"

"जिस राजा ने वंग-भूमि में युद्ध के क्षेत्र में अवतरित होने पर संघ बना कर आये हुए अपने शत्रुओं को विमुख कर दिया था; जिस राजा की बाहों पर तलवार के द्वारा कीर्त्ति लिखी गई थी; जिसने समरांगण में सिन्धु नदी के सातों मुखों को पार कर वाह्लिकों को जीत लिया था और जिसके प्रताप रूपी वायु से दक्षिणी समुद्र आज भी सुवासित हो उठता था।"

(२) "खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां
मूर्त्या कर्म्म-जितावनिं गतवतः कीर्त्त्या स्थितस्य क्षितौ।
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा-
न्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशित-रिपोर्य्यत्नन्स्य शेषः क्षितिम्॥"

"जिस सम्राट् ने इस पृथ्वी से खिन्न हो जाने के कारण मानों इसका परित्याग कर दिया था और अब वह दूसरे लोक का आश्रय ले चुका था; वह अपने शरीर के द्वारा कर्म से जीती जाने वाली भूमि में पहुँच चुका था परन्तु अपनी कीर्ति के द्वारा वह अब भी इसी लोक में स्थित था। शत्रुओं का संहार करने वाले उस प्रतापी राजा के यत्नों का शेष आज भी वसुधा-मण्डल को उसी प्रकार नहीं छोड़ रहा था, जिस प्रकार महावन को जला डालने वाली दावाग्नि के बुझ जाने पर भी उसकी तेज गर्मी बनी रहती है।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(३) "प्राप्तेन स्वभुजार्ज्जितञ्च सुचिरञ्चैकाधिराज्यं क्षितौ
चन्द्राह्वेन समग्र-चन्द्र-सदृशीं वक्त्र-श्रियं बिभ्रता ।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिं
प्रान्शुर्व्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥"

"उस प्रतापी राजा ने अपने बाहुबल के द्वारा भू-मण्डल में अर्जित राज्य में चिरकाल तक एकछत्र राज्य किया था; जिसका नाम चन्द्र था; जो पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य मुख की शोभा को धारण करता था; उस राजा ने निष्ठापूर्वक अपनी बुद्धि को विष्णु में लगा कर विष्णुपद नामक पर्वत के ऊपर उच्च विष्णु-ध्वज की स्थापना की थी ।"

उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर सम्राट् चन्द्र की उपलब्धियों के विषय में निम्नलिखित तथ्य प्रतिपादित होते हैं:—(१) वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था । भगवान् विष्णु के प्रति असीम भक्ति के फलस्वरूप उसने विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णु-ध्वज स्थापित किया था । यह विष्णु-ध्वज वस्तुतः लौह-स्तम्भ ही है जिस पर कि यह उत्कृष्ट प्रशस्ति उत्कीर्ण की गई है । लेख से स्पष्ट हो जाता है कि यह स्तम्भ अपने मूल स्थान से कालान्तर में मेहरौली लाया गया होगा ।

(२) वह एक चक्रवर्ती शासक था और अपने विशाल राज्य को उसने अपने ही प्रताप से प्राप्त किया था । इसमें उसने एकछत्र दीर्घकाल तक राज्य किया ।

(३) जिस समय यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की गई, उस समय वह नरेश जीवित नहीं था ।

(४) उसने सिन्धु नदी को प्राप्त कर वाह्लीकों को परास्त किया था ।

(५) उसने वंग-भूमि में किसी युद्ध में अपने शत्रुओं के दल को हराया था ।

पहली समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि इस अभिलेख में उल्लिखित चन्द्र का समीकरण किस नरेश के साथ करना समुचित होगा । इस प्रश्न के निर्धारण में कठिनाई इस बात की पड़ती है कि अभिलेख में राजा का पूरा नाम उल्लिखित नहीं है । यहाँ तक कि उसके वंश का भी कहीं पर सन्दर्भ नहीं दिया गया है और इसमें किसी तिथि का भी उल्लेख नहीं है । फलतः ऐसे कई भारतीय नरेशों के साथ जिसके नाम के आगे अथवा पीछे चन्द्र शब्द जुड़ा हुआ है चन्द्र का समीकरण विभिन्न विद्वानों के द्वारा समय-समय पर किया गया है । यच० सी० सेठ ने अपने एक लेख में (जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री, जिल्द १६, पृष्ठ ११७ तथा आगे) भ्रमवश चन्द्र का तादात्म्य चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ कर दिया था । उनके अनुसार हिन्दुकुश की सीमा के भी बाहर राज्य करने वाले चन्द्र-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त मौर्य ही वाह्लीक (बैक्ट्रिआबल्ख)–विजेता चन्द्र से समीकृत होने योग्य हो सकता है। बंगाल तथा दक्षिणी भारत के भी अधिकांश भाग उसके राज्य में सम्मिलित थे। उसके साम्राज्य की सीमायें समुद्र-पर्यन्त प्रसरित थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य ने केवल लौह-स्तम्भ (विष्णु-ध्वज) की ही स्थापना की होगी। कई सदियों के उपरान्त समुद्रगुप्त ने उसके आदर्श का अनुकरण कर अपने पैतृक राज्य की सीमाओं को विस्तृत करते हुए उन्हें समुद्र की छोर तक पहुँचा दिया। यही कारण है कि उसका नवीन नाम समुद्रगुप्त पड़ गया। अन्यथा उसका मौलिक नाम काच था। उसने चन्द्र की प्रशंसा में प्रशस्ति-निर्माण कर इस स्तम्भ पर उसे उत्कीर्ण करा दिया। यही कारण है कि लेख की लिपि गुप्तकालीन है। निम्नलिखित कारणों से इस मत को मान्यता प्रदान करना दुष्कर है :—

(१) वैष्णव धर्म में चन्द्रगुप्त मौर्य की कोई भी प्रवृत्ति नहीं थी।

(२) इस लेख की लिपि गुप्त-काल की है। इससे प्रतिपादित होता है कि सम्राट् चन्द्र का वास्तविक काल चिरस्मरणीय गुप्त-युग ही रहा होगा। अतएव वह किसी गुप्त-वंशी सम्राट् से ही समीकृत हो सकता है।

(३) लिपि-संबन्धी आपत्तियों से बचने के लिये ही श्री सेठ ने समुद्रगुप्त को इस प्रशस्ति का उत्कीर्ण-कर्त्ता घोषित कर दिया। समुद्रगुप्त को यदि किसी पूर्व-कालीन नरेश की प्रशंसा करनी ही थी, तो इसके लिये वह अपने पिता चन्द्रगुप्त प्रथम को चुनता। चन्द्रगुप्त मौर्य और समुद्रगुप्त के काल के बीच लगभग ६५० वर्षों की दूरी थी। गुणानुवाद के निमित्त इतने दीर्घकाल के पहले उत्पन्न किसी ऐसे नरेश को वह क्यों चुनता जिससे उसका कोई रक्त-संबन्ध भी न था। यहाँ पर यह भी विचारणीय हो जाता है कि यदि समुद्रगुप्त अथवा अन्य किसी भी नरेश ने अपने किसी पूर्वकालीन आदर्श सम्राट् की प्रशंसा में मेहरौली-अभिलेख को निबद्ध कराया होता तो ऐसी परिस्थिति में स्पष्टीकरण के लिये ही इसमें उत्कीर्ण-कर्त्ता का नामोल्लेख अवश्य होता। लेख की भाषा से स्पष्ट है कि यह सम्राट् की मृत्यु के कुछ ही महीनों पश्चात् उसकी प्रशस्ति के रूप में उत्कीर्ण किया गया होगा न कि किसी दीर्घ अवधि के (शताब्दियों) उपरान्त।

हेमचन्द्र रायचौधरी ने चन्द्र का समीकरण पुराणों में वर्णित सदाचन्द्र अथवा चन्द्रांश से किया है। ये नरेश आन्ध्र-युग के उपरान्त के नागवंशी नरेश थे। उपर्युक्त विद्वान् के अनुसार अधिक संभव है कि चन्द्रांश की ही प्रशंसा मेहरौली-प्रशस्ति में चन्द्र नाम से की गई है। पुराणों में उसे 'द्वितीय नखवन्त' कहा गया है (पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ५३५, पादटिप्पणी १)। मेहरौली के लेख की शैली गुप्तकालीन अभिलेखों की शैली से पूर्णतया विभिन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। गुप्तों के लेखों में वंशावली का उल्लेख बड़ी सतर्कतापूर्वक किया जाता था। यह तथ्य समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से लेकर कुमारगुप्त तृतीय के भितरी के राजमुद्रा-लेख तक देखा जा सकता है। रायचौधरी महोदय के मत से सहमत होना भी दुष्कर है। सदाचन्द्र या चन्द्रांश अप्रसिद्ध नरेश से लगते हैं और दोनों में से कोई भी चन्द्र की तुलना में नहीं आते। पुराणों में उनकी उपलब्धियों का कोई विस्तृत वर्णन भी नहीं मिलता जिससे कि हम उनकी समता चन्द्र की कृतियों के साथ करने की परिस्थिति में आ सकें। वंशावली के अभाव को लेकर यह प्रश्न उठाना कि मेहरौली का अभिलेख गुप्त-वंशीय लेख नहीं हो सकता वास्तविक तथ्यों से रहित होगा। कुमारगुप्त-कालीन सुप्रसिद्ध मन्दसोर-प्रशस्ति अथवा भानुगुप्त के समय के एरण के लेख में वंशावली का अभाव है। चन्द्रगुप्त द्वितीय-कालीन उदयगिरि के शैव लेख में भी गुप्त-वंशावली का उल्लेख नहीं मिलता।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने चन्द्रवर्मा नामक नरेश से चन्द्र का तादात्म्य किया है। चन्द्रवर्मा का उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति में आता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा जिले में स्थित सुसुनिया की पहाड़ी वाले लेख में भी उसका वर्णन आता है। इस लेख के अनुसार वह सिंहवर्मा का पुत्र एवं पुष्करण नामक स्थान का स्वामी (पुष्करणाधिपति) था। मन्दसोर के लेखों के अनुसार दशपुर (मालवा) में एक वर्मन् वंश राज्य कर रहा था। मालव संवत् ४६१ (४०४ ई०) के मन्देसार-लेख में सिंहवर्मा नामक नरेश का उल्लेख आता है। श्री शास्त्री ने सुसुनिया के लेख के सिंहवर्मा की पहचान मन्दसोर के लेख वाले सिंहवर्मा के साथ करते हुये उसे मालवा का नरेश माना है। उनके अनुसार पुष्करण की पहचान मालवा में स्थित पोकरन अथवा पोकुर्न से की जा सकती है। चन्द्रवर्मा बड़ा महत्त्वाकांक्षी रहा होगा। अपने पैतृक राज्य (मालव-राज्य) को सुविस्तृत करने के उद्देश्य से पश्चिम में बढ़ते हुए उसने सिन्धु नदी को पार कर वाह्लीक-विजय किया होगा तथा पूर्व की दिशा में विजय-यात्रा करता हुआ वह बंगाल तक आया होगा। वहाँ उसने कोई महत्त्वपूर्ण युद्ध किया होगा और उसके उपलक्ष में उसने सुसुनिया की पहाड़ी पर अपना लेख उत्कीर्ण करा दिया होगा।

श्री शास्त्री का उपर्युक्त मत बाह्य रूप से तो सारगर्भित प्रतीत होता है परन्तु इसमें कई दोषों को इंगित किया जा सकता है—

(१) सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने पुष्करण की शुद्ध पहचान नहीं की है। पश्चिमी बंगाल में सुसुनिया की पहाड़ी के समीप २५ मील उत्तर-पूर्व की दूरी पर पोखरन नामक एक स्थान है। उक्त पहाड़ी के लेख में उल्लिखित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पुष्करण का आधुनिक प्रतिनिधि यहीं केन्द्र है। मालवा के पोकरन के साथ इसके तादात्म्य का प्रयास वास्तविक तथ्यों से रहित होगा। यह आपत्ति श्री शास्त्री के मत को निर्मूल कर देती है।

(२) सुसुनिया के लेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मा पश्चिमी बंगाल के आधुनिक बाँकुड़ा जिले में शासन करने वाले वर्मन् वंश में उत्पन्न हुआ था। मन्दसोर के अभिलेखों में उल्लिखित वर्मन् वंश एक मालव-वंश था जिसमें बन्धुवर्मा एवं विश्ववर्मा आदि उत्पन्न हुये थे। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय हो जाता है कि मन्दसोर के किसी लेख में चन्द्रवर्मा नामक नरेश का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव वह मालवा का शासक नहीं हो सकता था।

(३) चन्द्रवर्मा समुद्रगुप्त का समकालीन था। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार आर्यावर्त्त की किसी लड़ाई में वह उक्त गुप्त-नरेश द्वारा उन्मूलित कर दिया गया था। अतएव यह अवधारणा बना लेना कि उसके समय में चन्द्रवर्मा ने वंग-भूमि तथा सिन्धु नदी के पश्चिम कोई विजय प्राप्त किया होगा वस्तुस्थिति की दृष्टि से समीचीन नहीं होगा।

(४) चन्द्रवर्मा को मालवा का शासक मानने पर स्वाभाविक रूप से इस निष्कर्ष पर आना होगा कि वंग-भूमि में विजय-यात्रा की दृष्टि से वह पहले मगध को सफलतापूर्वक जीतता हुआ आगे बढ़ा होगा। परन्तु इसकी सम्भावना इसलिये नहीं हो सकती थी कि मगध और उसके पार्श्ववर्ती पश्चिमी हिस्सों में समुद्रगुप्त का शक्तिशाली साम्राज्य था।

हेमचन्द्र रायचौधरी के तुल्य श्री अय्यर महोदय ने भी प्रतिपादित किया था कि चन्द्र का वास्तविक समीकरण भारशिव नरेश सदाचन्द्र से हो सकता है। वह पूर्वी मालवा में विदिशा का शासक था जिसकी पहचान आधुनिक बेसनगर से की जाती है। उसने समुद्रगुप्त के पूर्व कभी राज्य किया होगा। सम्भव है कि घटोत्कच अथवा चन्द्रगुप्त प्रथम का वह समकालीन रहा हो। हम पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं इस मत को कोई महत्त्व या मान्यता प्रदान करना तथ्य-रहित होगा। सदाचन्द्र के द्वारा वंग-विजय असम्भव था क्योंकि बीच में ही मगध में गुप्त-राज्य पड़ता था। यह विशेष परिस्थिति उसके लिये एक बहुत बड़ी राजनीतिक बाधा के तुल्य थी। सदाचन्द्र के विषय में सूचना के एकमात्र साधन पुराण ही हैं। इनमें इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि सदाचन्द्र को वाह्लीक अथवा वंग-विजय सदृश चमत्कारी उपलब्धियों का श्रेय था। चन्द्र एवं सदाचन्द्र की कृतियाँ किञ्चिदपि मेल नहीं खातीं।[1]

१. द्रष्टव्यः— आर० यन० दण्डेकर, ए हिस्ट्री ऑफ दी गुप्ताज़, पृष्ठ २५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

फ्लीट (गुप्त-लेख), राधागोविन्द बसाक (हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्ट इंडिया, पृष्ठ १३ और आगे) तथा यस० के० आयन्गर (जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री, जिल्द ६) आदि विद्वानों ने उसका समीकरण गुप्त-वंशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम से किया है। मेहरौली के लेख के अनुसार चन्द्र ने अपने बाहुबल के द्वारा अपने राज्य को अर्जित किया था (प्राप्तेन स्वभुजार्जितम्)। गुप्त-वंश में चन्द्रगुप्त प्रथम ही ऐसा प्रथम नरेश था जिसने कि महाराजाधिराज की उपाधि धारण की तथा गुप्त वंशीय राज्य की सीमाओं को विस्तृत कर उसे सार्वभौम स्थिति को प्राप्त करना सम्भव सिद्ध किया था।

इस मत के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ विशेष रूप से विचारणीय हो जाती हैं—

(१) चन्द्र की विजयों की सीमाएँ सिन्धु नदी से लेकर वंग तक प्रसरित थीं। इससे स्पष्ट है कि गंगा-घाटी पर उसका अधिकार पहले से ही था और इसी को आधार बना कर वह पूर्व एवं पश्चिम में साम्राज्य-सीमाओं को सुविस्तृत करने का प्रयास कर रहा था। इसकी तुलना में चन्द्रगुप्त प्रथम गंगा-घाटी के एक सीमित क्षेत्र का ही स्वामी था। पश्चिम में प्रयाग से लेकर पूर्व में मगध तक के क्षेत्र पर ही उसका अधिकार था। प्रयाग की प्रशस्ति के अन्तः साक्ष्य एवं पुराणों के आधार पर उसके राज्य की सीमायें उक्त रूप में ही निर्धारित होती हैं।

(२) अभी तक के ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने न तो सिन्धु की ओर विजय-यात्रा की थी अथवा न ही वंग-भूमि में उसने कोई विजय किया था।

(३) दक्षिणी भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त प्रथम का कोई भी राजनीतिक प्रभाव नहीं था।

(४) प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के आविर्भाव के समय की कई ऐसी शक्तियों के उल्लेख मिलते हैं जो कि चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रतिद्वन्द्वी राज्य रहे होंगे। गुप्त-राज्य के ठीक पश्चिम अच्युत, गणपतिनाग, नागसेन और नागदत्त आदि नाग-वंशी नरेशों के राज्य थे। इसी तरह मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक एवं आभीर आदि प्राचीन गण-राज्य भी इसी ओर वर्तमान थे। सिन्धु नदी को पार कर वाह्लीक-विजय की क्रिया में चन्द्रगुप्त प्रथम को इन शक्तियों को पहले ही परास्त करना पड़ता। इसमें सन्देह नहीं कि ये राज्य किसी रूप में भी साधारण शक्ति वाले नहीं थे। वंग-विजय की क्रिया में उसे पश्चिमी वंगाल के शासक चन्द्रवर्मा को हराना पड़ता। यह तो सुविदित ही है कि उपर्युक्त शक्तियों को जीतने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एवं उन्मूलित करने का श्रेय उसके सुयोग्य उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को था। यदि उसके पहले चन्द्रगुप्त प्रथम ने भी उन्हें परास्त किया होता तो मेहरौली की प्रशस्ति में विजित शक्तियों के रूप में उनका उल्लेख अवश्य होता।

(५) अभी तक चन्द्रगुप्त प्रथम के द्वारा वैष्णव मतावलंबन के विषय में कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध हो सका है। विष्णुपद-गिरि (पंजाब में व्यास नदी के पास स्थित) जहाँ पर चन्द्र के द्वारा विष्णु-ध्वज की स्थापना की गई थी चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य में नहीं वर्तमान था।

रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपने एक लेख (जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, जिल्द ९,१९४३) में चन्द्र को कुषाण-सम्राट् कनिष्क के साथ समीकृत किया है। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं —

(१) सिलवाँ लेवी तथा एफ० डब्ल्यू० टॉमस को पहले से ही सन्देह था कि कनिष्क की उपाधि चन्द्र अवश्य रही होगी। खोतान की एक पाण्डुलिपि के आधार पर इस अनुमान की सम्पुष्टि होती है। एम० डब्ल्यू० बेली ने इस पाण्डुलिपि से दो उद्धरण इस इस प्रकार दिया है —

(क) "**बाह्लक-राज्य** में चन्द्र-कणिष्क नामक एक राजा उत्पन्न हुआ था...।"

(ख) "उस समय तुर्किस्तान में बाह्लक-राज्य में एक चक्रवर्ती राजवंश राज्य कर रहा था। इसी वंश में एक बहादुर, गुणसम्पन्न एवं मेधावी जम्बू-द्वीप का नरेश उत्पन्न हुआ। उसका नाम चन्द्र-कणिष्क था" (जर्नरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १९४२, पृष्ठ १९)। इन दोनों उद्धरणों में जो तथ्य दिये गये हैं वे पूर्णतया कनिष्क के विषय में ही चरितार्थ होते हैं।

(२) कनिष्क एक धर्म-सहिष्णु नरेश था। उसकी मुद्राओं के ऊपर विविध भारतीय एवं विदेशी देवी-देवताओं के चित्र अंकित मिलते हैं। उसके द्वारा वैष्णव मतावलम्बन असम्भाव्य नहीं माना जा सकता।

(३) भारतीय राजवंशों में कुषाण-वंश ही ऐसा था जिसने कि वाह्लीक (बल्ख:=बैक्ट्रिआ) पर राज्य किया था। कनिष्क ने इस प्रदेश पर एक लम्बी अवधि तक राज्य किया था। वाह्लीक-शासक ही वाह्लीक-विजेता चन्द्र से समीकृत हो सकता है।

(४) कनिष्क-कालीन लेख सारनाथ से प्राप्त हुआ है। चीनी परम्परा के अनुसार वह पाटलिपुत्र तक आया था। वहीं से बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष को लेकर वह वापस गया था। इन दोनों के समकालीन होने के संबन्ध में प्रमाण मिलते हैं। कुषाण-मुद्रायें पुरी (उड़ीसा) एवं बंगाल से मिली हैं। कनिष्क की सुवर्ण-मुद्रायें

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पुण्ड्रवर्द्धन एवं तामलुक (बंगाल) से प्राप्त हुई हैं। अतएव इस नरेश के द्वारा वंग-भूमि में कोई सैनिक अभियान असम्भाव्य नहीं माना जा सकता।[1]

रमेशचन्द्र मजूमदार के उपर्युक्त तर्क संगत से लगते हैं परन्तु उनके सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रमाण विशेष रूप से विचारणीय हो जाते हैं:—

(१) कनिष्क अपने बौद्ध मतावलम्बन के लिये सुप्रसिद्ध था। उसके समय में बौद्ध संगीति आयोजित हुई तथा बौद्ध प्रतिमाओं के निर्माण किये गये। उसकी मुद्राओं एवं लेखों से स्पष्ट है कि उसका प्रमुख धर्म बौद्ध धर्म था। किसी भी रूप में वैष्णव धर्म के प्रति उसका झुकाव नहीं अभिव्यक्त होता। इसके प्रतिकूल चन्द्र का प्रधान धर्म वैष्णव धर्म था।

(२) इस बात का निर्देश पहले किया जा चुका है कि मेहरौली के अभिलेख की लिपि गुप्तकालीन है। इसके अक्षरों की बनावट कुमारगुप्तकालीन बिलसद एवं मनकुँवर के लेख तथा स्कन्दगुप्तकालीन कहौम के लेख के अक्षरों की बनावट से साम्य रखती है। चन्द्र के समीकरण के प्रश्न के संबन्ध में लिपि-संबन्धी विचार को सबसे अधिक मान्यता प्रदान करनी चाहिये। लिपि-प्रमाण इस बात का परिचायक है कि इस प्रशस्ति के चन्द्र का वास्तविक समय गुप्त-काल ही रहा होगा।

(३) यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि कनिष्क ने भारत में अपनी शक्ति का विस्तार पश्चिम से पूर्व की ओर किया था। मेहरौली के लेख के अन्तः साक्ष्य की समीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि गंगा-घाटी के अधिकांश भाग चन्द्र के राज्य में पूर्व-काल से ही सम्मिलित थे। इसी को आधार बना कर उसने पश्चिम में सिन्धु तथा पूर्व में वंग तक विजय-दुन्दुभी बजाई थी।

(४) कनिष्क का सुविदित नाम कनिष्क ही था। अभिलेखों में सुविधा की दृष्टि से सुप्रसिद्ध नाम का ही उल्लेख किया जाता था। यदि कनिष्क से तात्पर्य होता तो ऐसी दशा में मेहरौली के अभिलेख में उसका यही नाम आना चाहिये था। खोतान की पाण्डुलिपि में चन्द्र को कनिष्क के गौण नाम अथवा उसकी उपाधि के रूप में प्रयुक्त किया गया है। किसी भी अभिलेख में संबन्धित नरेश को उसकी उपाधि मात्र से ही नहीं प्रस्तावित किया जाता था। मेहरौली के लेख में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि उसका प्रधान नाम चन्द्र था (चन्द्राह्वेन)।

(५) दक्षिणी भारतवर्ष से कनिष्क का कोई भी संबन्ध नहीं था।

---

१. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १९४३, जिल्द ९, पृष्ठ १८३।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(६) अभी तक जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनके अनुसार कनिष्क ने बंगाल में कोई विजय नहीं किया था। यह सही है कि पुरी एवं तामलुक (ताम्रलिप्ति) में कुषाण-मुद्रायें मिलीं, परन्तु इसे प्रमाण मान कर उड़ीसा एवं बंगाल पर कनिष्क के आधिपत्य को सिद्ध करने की चेष्टा समीचीन नहीं होगी। सिक्के व्यापार-प्रसंग में एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचते ही रहते थे। यही कारण है कि रोम की भी मुद्रायें भारतवर्ष में प्राप्त हुई हैं। पुरी एक धार्मिक तीर्थ था। अतएव वहाँ विविध स्थानों के लोग आते रहते थे। इस कारण अन्य स्थानों में प्रचलित मुद्राओं का वहाँ पर आना स्वाभाविक ही था। जहाँ तक तामलुक (ताम्रलिप्ति) का प्रश्न है पूर्वी समुद्र-तट का यह सबसे बड़ा बन्दरगाह था। इसी के द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया एवं चीन आदि देशों के साथ वाणिज्य नियन्त्रित होता था। व्यापारियों एवं धनी-मानी सेठ-साहूकारों के द्वारा अपने साथ उक्त केन्द्र में, सुदूर भागों में भी प्रचलित मुद्रायें लाई गई होंगी। यदि बंगाल से कनिष्क का कोई अभिलेख प्राप्त होता तो हम यह मान सकते थे कि उसने वहाँ पर शासन किया था। चीनी परम्परा जिसके अनुसार कनिष्क दिग्विजय करता हुआ पाटलिपुत्र तक आया था, सन्देहास्पद एवं अश्रद्धेय प्रतीत होता है।[1]

(७) यदि चन्द्र ने वाह्लीक-विजय किया तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उन्होंने बल्ख (बैक्ट्रिआ) पर राज्य किया था। हर्ष ने सिन्ध-नरेश को हराया था परन्तु उसने इस भाग में राज्य नहीं किया था। समुद्र-गुप्त ने दक्षिणापथ के बारह नरेशों को हराया था परन्तु उसने दक्षिण भारत के किसी भाग पर राज्य नहीं किया था। मेहरौली के लेख में केवल वाह्लीक-विजय की ही चर्चा है परन्तु वाह्लीक पर चन्द्र के द्वारा शासन करने की चर्चा नहीं है। अन्यत्र इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि वाह्लीक शब्द से तात्पर्य बल्ख (बैक्ट्रिआ) से नहीं है, अपितु वाह्लीक (बैक्ट्रिआ से आई हुई) जाति से है। इसकी पहचान उत्तर कुषाण (दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि) से की जा सकती है। कुषाण-शासन से संबन्धित होने के कारण पंजाब के उस भाग का नाम वाह्लीक पड़ गया जो कि विपाशा (व्यास) नदी के दोनों तटों का पार्श्ववर्ती क्षेत्र है। इसी क्षेत्र को कतिपय साक्ष्यों में वाहीक भी कहा गया है।

उपर्युक्त परीक्षण से स्पष्ट है कि चन्द्र का समीकरण कनिष्क के साथ करना असमीचीन होगा। अभी तक जितने तथ्य ज्ञात हुये हैं उनके आधार

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९४५, पृष्ठ २०३-०७
(श्री जी० आर० शर्मा का लेख)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर चन्द्रगुप्त द्वितीय से उसे समीकृत करना कहीं अधिक तर्कसंगत होगा। इस दिशा में प्रथम प्रयास हार्नले महोदय के द्वारा (इंडियन ऐंटिक्वैरी, जिल्द २१, पृष्ठ ४३-४४) किया गया था। उसके उपरान्त इस मत का समर्थन कई विद्वानों ने किया जिनमें ए० यस० अल्तेकर (वाकाटक-गुप्त-एज, पृष्ठ २३) एवं दिनेशचन्द्र सरकार (जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, जिल्द ५, १९३९, पृष्ठ ४१४) प्रमुख हैं। उनके तर्कों का संक्षेप इस प्रकार है:—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं पर उसके निमित्त चन्द्र एवं नरेन्द्र-चन्द्र नाम आते हैं। मेहरौली की प्रशस्ति के अनुसार इसमें उल्लिखित नरेश का सुविदित नाम चन्द्र था (चन्द्राह्वेन)।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय वैष्णव मतावलम्बन के निमित्त प्रख्यात था। गुप्त-अभिलेखों में उसके लिये 'परमभागवत' उपाधि प्रयुक्त मिलती है, जो वस्तुतः 'परमवैष्णव' के समानार्थ का ही बोधक है। मेहरौली के लेख का चन्द्र इसी धर्म का अनुयायी था। उसने विष्णुपद पर जो कि वैष्णव धर्म का तीर्थ था विष्णुध्वज की स्थापना की थी (प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतः भक्त्या ध्वजः स्थापितः)।

(३) चन्द्र ने दीर्घकाल तक (सुचिरं) एकछत्र राज्य किया था (चैकाधि-राज्यं क्षितौ)। यह कृति भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रसंग में लागू हो जाती है। उसने गुप्त संवत् ५६ (३७५ ई०) से लेकर गुप्त-संवत् ९६ (४१५ ई०) तक चालीस वर्षों तक राज्य किया था। सुराष्ट्र (गुजरात) से लेकर वंग-भूमि (बंगाल) तक के विस्तृत भू-भाग का वह चक्रवर्ती शासक था।

(४) मेहरौली के अभिलेख में इस बात पर बल प्रदान किया गया है कि उसने अपने ही बाहुबल के द्वारा विशाल राज्य को अधिगत किया था (प्राप्तेन स्वभुजार्जितम्)। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व से परिपूर्ण है। समुद्र-गुप्त के काल में शक लोग गुप्तों से दब गये थे और उन्होंने इस महत्त्वाकांक्षी नरेश को आत्मनिवेदन तथा यहाँ तक कि कन्याओं का उपहार भी चढ़ाया था (कन्योपायनदान)। परन्तु उसके तात्कालिक उत्तराधिकारी रामगुप्त को निर्बल और अयोग्य पाते ही उन्होंने गुप्त-राज्य पर आक्रमण कर उसकी सुरक्षा को खतरे में डाल दिया। हाल ही में जो नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में वर्णित घटनाओं का अब समर्थन होने लगा है। इस ग्रन्थ के अनुसार जब गुप्त राज्य की सुरक्षा का कोई उपाय नहीं दिखाई दया, उस समय चन्द्रगुप्त ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर शत्रु-शिविर में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रवेश किया था और वहाँ उसने अवसर पाते ही बड़ी बहादुरी के साथ शक-राज की हत्या कर डाली थी। तदनन्तर उसने रामगुप्त की हत्या कर दी और स्वयं सिंहासनारूढ़ हुआ। राज्य-सत्ता उसके हाथों में स्वाभाविक ढंग से नहीं आई थी। वस्तुतः उसने अपने पुरुषार्थ एवं विलक्षण क्षमताओं के बल पर राज्य को पाया था। अतएव मेहरौली के स्तम्भ-लेख की उपर्युक्त उक्ति उसके विषय में अच्छी तरह चरितार्थ हो जाती है।

(५) बंगाल में भी उसके द्वारा किसी प्रबल शत्रुदल का सामना करने की सम्भावना हो सकती थी। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार गुप्त-साम्राज्य के पूर्वी सरहद (प्रत्यन्त) पर समतट, कामरूप एवं डवाक आदि राज्य वर्तमान थे जो कि समुद्रगुप्त के प्रभाव में आकर गुप्तों को सम्पूर्ण प्रकार के कर देते (सर्वकर-दान), आज्ञा मानते (आज्ञाकरण) तथा विशिष्ट अवसरों पर उनकी राज-धानी में आकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करते थे (प्रणामागमन)। समुद्रगुप्त ने केवल पश्चिमी बंगाल का ही वह भाग जीता था, जिसका प्रतिनिधित्व वहाँ पर आधुनिक बाँकुड़ा जिला करता है। वहाँ के शासक चन्द्रवर्मा को उसने परास्त किया था। यह नरेश बाँकुड़ा जिले में वर्तमान सुसुनिया पहाड़ी के पास पुष्करण (वर्तमान पोखरन) का स्वामी था। समुद्रगुप्त के उपरान्त रामगुप्त के काल में जब शकों ने उपद्रव खड़ा किया, उस समय गुप्त-साम्राज्य की संकट-पूर्ण परिस्थितियों का लाभ उठा कर पूर्वी सीमान्त-राज्यों (समतट, डवाक आदि) ने भी दलबन्दी करते हुए क्षति पहुँचाने की चेष्टा की होगी। इनकी कुचेष्टाओं के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य का पूर्वी भाग खतरे में आ गया होगा। शकों से निपट लेने के उपरान्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस गुट के सदस्य-राज्यों को नतमस्तक करने के हेतु वंग-भूमि पर आक्रमण किया होगा। वहाँ किसी एक ही लड़ाई में उक्त समस्त सीमान्त-राज्यों को उसने हरा दिया होगा। सम्भवतः इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर मेहरौली के प्रशस्तिकार ने उल्लेख किया है कि सम्राट् चन्द्र ने एकत्र होकर आये हुये अपने शत्रुओं को वंग-युद्ध में परास्त कर दिया था (वंगेष्वाहव-वर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे)। सम्भव है कि इस विजय के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गंगा के मुहाने पर अपना अधिकार जमा लिया हो। रघुवंश में समुद्र-तट के समीप गंगा की धाराओं के बीच की भूमि को वंग कहा गया है।[1]

---

१. "वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गंगास्रोतोन्तरेषु सः॥" —रघुवंश, ४, ३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(६) मेहरौली की प्रशस्ति के अनुसार दक्षिणी समुद्र चन्द्र के प्रताप रूपी वायु के सौरभ से आज दिन भी सुवासित हो उठता था (यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्य्यानिलैः दक्षिणः) । इस स्थान पर विचारणीय हो जाता है कि गुप्तों की ख्याति दक्षिणी भारतवर्ष में भी सुविशेष थी। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के बारह राजाओं को परास्त किया था और विजय-दुन्दुभी बजाता हुआ वह काञ्ची नगरी तक आगे बढ़ आया था। उसने 'मोक्षानुग्रह' (कृपापूर्वक उन्मुक्त कर देना) तथा 'प्रत्यर्पणा' (विजित राज्यों को वापस लौटा देना) नीति का अवलम्बन करने के कारण दक्षिण भारत में पर्याप्त यश अर्जित कर लिया था। उसके उपरान्त उसके सुयोग्य पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वाकाटक एवं कदम्ब आदि दक्षिणी राजवंशों के साथ वैवाहिक संबन्ध स्थापित कर लिया। पहले इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि इन राजघरानों के साथ गुप्त-कुल का संबंध चन्द्रगुप्त के काल में बड़ा ही सौहार्दपूर्ण था। राजदूतों, साहित्यकारों और कर्मचारियों का आदान-प्रदान इन राजवंशों के बीच आदर्श रूप में हुआ था। इन सांस्कृतिक घटनाओं के कारण उक्त नरेश की कीर्ति दक्षिण भारत में सर्वव्यापिनी थी। शकों के राज्य को जीत कर इसने भृगुकच्छ के बन्दरगाह पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इसी स्थान का आधुनिक प्रतिनिधि भड़ौंच है। इस बन्दरगाह से संपूर्ण पश्चिमी सामुद्रिक व्यापार नियन्त्रित होता था। सम्भव है कि वंग-विजय के परिणाम-स्वरूप ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर भी उसका आधिपत्य स्थापित हो गया हो। हम पहले इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि पूर्वी द्वीप समूह तथा चीन के साथ सामुद्रिक व्यापार और जहाज-रानी का सारा कार्य इसी बन्दरगाह के द्वारा संचालित होता था। सम्भव है कि इस तथ्य को भी दृष्टि में रख कर प्रशस्तिकार ने कहा हो कि उस प्रतापी राजा की कीर्ति रूपी सुगन्धित वायु दक्षिणी समुद्र के जल को सुगन्धि-युक्त कर देती थी। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि सैंहलक (लंकावासियों) तथा सर्वद्वीपवासियों ने (दक्षिण-पूर्व एशिया के रहने वालों) ने यदि समुद्रगुप्त के समय में गुप्त-सम्राट् के सौहार्द एवं सदेच्छा को जीतने के निमित्त सांस्कृतिक संबंध स्थापित किया, तो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में भी जब कि इस राजवंश का प्रभाव एवं यश पूर्व-काल की अपेक्षा अधिक विकसित हो चुका था उक्त द्वीपों के शासकों ने उसके सहयोग की प्राप्ति के हेतु बहुमूल्य उपहारों के साथ उसके दरबार में अपने-अपने दूत-मण्डल समय-समय पर भेजा होगा।

(७) मेहरौली स्तम्भ-लेख के अन्तिम श्लोक की तृतीय पंक्ति में 'भावेन विष्णौ मतिम्' पाठ को कतिपय विद्वानों ने अशुद्ध माना है। उदाहरणार्थ दिनेश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चन्द्र सरकार के अनुसार 'भावेन' के स्थान पर 'देवेन' पाठ अधिक समीचीन है। यहाँ पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर स्पष्ट संकेत है। उसे वाकाटक-अभिलेखों में देवगुप्त कहा गया है। साँची के लेख (गुप्त-संवत् ९३) के अनुसार उसका प्रिय नाम देवराज था (देवराज इति प्रियं नाम)।

(८) क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने शैली के आधार पर मेहरौली-प्रशस्ति का रचयिता शाब (जिसका कुल-नाम वीरसेन था) को माना है, जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सान्धिविग्रहिक सचिव था। उदयगिरि के शैव गुहा-लेख में उसका नामोल्लेख प्राप्य है। वस्तुतः इस अभिलेख की रचना उसी ने की थी। इसके अनुसार वह पाटलिपुत्र का निवासी, व्याकरण का मर्मज्ञ, न्याय-शास्त्र में प्रवीण तथा राजनीति का धुरन्धर विद्वान् था। क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इस तथ्य की ओर ठीक ही ध्यान आकृष्ट किया है कि मेहरौली की प्रशस्ति एवं उदयगिरि की पहाड़ी के उक्त लेख की रचना-शैली में पर्याप्त साम्य है। दोनों ही लेखों में न तो किसी तिथि का उल्लेख मिलता है और न तो सम्राट् की वंशावली ही प्राप्य है। इस समानता से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों अभिलेखों का रचयिता एक ही व्यक्ति रहा होगा। शाब (उपनाम वीरसेन) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सान्धिविग्रहिक होने के अतिरिक्त उसका महाबलाधिकृत भी रहा होगा। लगता है कि इस रूप में उसने इस सम्राट् के शक एवं कुषाण-युद्धों में सक्रिय भाग लिया था। संभवतः इन्हीं शक्तियों के ऊपर विजय के उपलक्ष में इस नरेश ने विष्णुपद पर्वत पर (जो कि वैष्णव धर्म से संबन्धित एक सुप्रसिद्ध तीर्थ-स्थल था) विष्णु-ध्वज की स्थापना की थी। गुप्त-काल में धार्मिक कृति के रूप में विष्णु-ध्वज की स्थापना के अन्य भी प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ बुधगुप्तकालीन एरण के स्तम्भ-लेख के अनुसार मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु ने ध्वज-स्तम्भ की स्थापना की थी (मातृपित्रोः पुण्याप्यायनार्थमेष भगवतः जनार्द्दनस्य ध्वजस्तम्भोऽभ्युच्छ्रितः)। शाब (उपनाम वीरसेन) एक दीर्घजीवी व्यक्ति रहा होगा। संभव है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त भी वह जीवित रहा हो। अपने जीवन के अन्तिम चरण में धर्म-यात्रा करता हुआ वह विष्णुपद नामक तीर्थ में भी आया होगा जहाँ पर चन्द्रगुप्त के द्वारा स्थापित विष्णु-ध्वज पहले से ही वर्तमान था। वहाँ पर अपने उस आश्रयदाता प्रभु की कृतियों को स्मरण कर वह विभोर हो उठा होगा, जो कि अपने शरीर से तो पर-लोक की यात्रा कर चुका था (गामाश्रितस्येतराम्) परन्तु अपनी कीर्त्ति के द्वारा इस भू-मंडल पर ही विद्यमान था (कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ)। उसने उसकी विलक्षण कृतियों की प्रशंसा में इस प्रशस्ति की रचना

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की होगी तथा उसे इस स्तम्भ (जो कि विष्णु-ध्वज के रूप में उसी सम्राट् के द्वारा स्थापित किया गया था) पर उत्कीर्ण करा दिया होगा। भारतीय पुरा-लिपि के अधिकृत विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि मेहरौली के लेख की लिपि गुप्तकालीन है। इससे स्पष्ट है कि जिस किसी व्यक्ति ने मेहरौली के अभिलेख को उत्कीर्ण कराया होगा, वह गुप्त-काल की ही विभूति रहा होगा। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुये मेहरौली के लेख के चन्द्र को चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के साथ ही समीकृत करना युक्तिसंगत होगा।[1]

वाह्लीक—हरप्रसाद शास्त्री तथा रमेशचन्द्र मजूमदार एवं कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार वाह्लीक से तात्पर्य बल्ख (बैक्ट्रिआ) से है। अभिलेख के अनुसार चन्द्र ने सिन्धु नदी के सातों मुखों को पार कर वाह्लीकों पर विजय प्राप्त कर लिया (तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिताः वाह्लिकाः)। काशीप्रसाद जायसवाल (जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १८, पृष्ठ ३२) का मत है कि सिन्धु नदी के सातो मुखों से तात्पर्य इसकी सहायक नदियों से है; उदाहरणार्थ सतलज, व्यास, रावी, चेनाब, झेलम तथा काबुल एवं कुनार नदियाँ। वैदिक साहित्य में इन नदियों से सिंचित भू-भाग को 'सप्त-सिन्धु' कहा गया है। अवेस्ता में इसी क्षेत्र को 'हप्त-हिन्दु' कहा गया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि चन्द्र ने हिन्दुकुश को पार कर बल्ख (वाह्लीक) में कोई महत्त्वपूर्ण विजय किया। मेहरौली-अभिलेख की उक्त पंक्ति से साम्य रखने वाली पंक्तियाँ कालिदास-कृत रघुवंश में प्राप्य हैं जिसके अनुसार रघु ने पारसीकों को जीतने के निमित्त स्थल-मार्ग से प्रस्थान किया था (पारसीकांस्ततोजेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना)। वहाँ पर रघु के आकस्मिक आक्रमण से मदिरा से लाल गालों वाली यवनियों के मुख-कमल मुरझा गए। पश्चिम देश के घुड़सवार राजाओं से रघु की घनघोर लड़ाई हुई। सेना के चलने से आसपास धूल इतनी अधिक उड़ी कि अगल-बगल अब कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था। केवल धनुष की टंकार-मात्र से ही सैनिक लोग शत्रुओं को पहचान पाते थे। मधु-मक्खियों से भरे हुये छत्ते के तुल्य दाढ़ियों वाले यवनों के सिरों को बाणों से काट-काट कर रघु ने पृथ्वी पाट दी। उनमें से जो जीते बच गए उन्होंने अपने लोहे के टोप उतार-कर रघु के चरणों में रख दिए। रघु के सैनिक दाख

१—देखिए, मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज इन ऐंशेण्ट इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर,' पृष्ठ १–२७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की लताओं से घिरी हुई पृथ्वी पर सुहावनी मृग-छालाएँ बिछा कर चैन से बैठ गए और मदिरा पीकर थकावट मिटाने लगे।[1]

यह ठीक है कि मेहरौली-प्रशस्ति की उक्त पंक्ति एवं रघुवंश की उपर्युक्त पंक्तियों में कुछ साम्य है, पर उसको आधार मान कर झटपट इस नतीजे पर आ जाना कि चन्द्र ने हिन्दुकुश पार किसी शक्ति को परास्त किया था युक्ति-संगत नहीं होगा। यदि उसने सचमुच हिन्दुकुश को पार किया होता, तो इस अभिलेख में उसे पार करने का स्पष्ट उल्लेख होता क्योंकि सिन्धु एवं उसकी सहायक नदियों को पार करने की तुलना में यह कहीं अधिक आश्चर्यजनक कार्य होता। इससे स्पष्ट होता है कि वाह्लीक की पहचान बल्ख के साथ करना समीचीन न होगा।

वाह्लीक की शुद्ध पहचान के विषय में डॉ० भण्डारकर ने विद्वानों का ध्यान रामायण के एक श्लोक की ओर आकृष्ट किया है जिसके अनुसार भरत को बुलाने के निमित्त वशिष्ठ ने दूतों को केकय देश भेजा था। ये दूत मार्ग में वाह्लीक नामक प्रदेश के मध्य से हो कर गुजरे और वहाँ पर उन लोगों ने सुदामन पर्वत, विष्णुपद, विपाशा एवं शाल्मली (एक नदी) को देखा —

"ययुर्मध्येन वाह्लीकान् सुदामानं च पर्वतम् ।
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलिम् ॥"
(२, ६८, १८-१९)

रामायण के इस श्लोक से स्पष्ट है कि विपाशा (व्यास) नदी के दोनों पार्श्ववर्ती क्षेत्रों को वाह्लीक कहा जाता था। इसी क्षेत्र में विष्णुपद, शाल्मली नदी एवं सुदामन् पर्वत वर्तमान थे। रामायण के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार पंजाब

---

१. "यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलोदयः ॥
संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव ॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥"
—रघुवंश, ४, ६१-६४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के उस भाग को जो व्यास नदी के आसपास पड़ता था वाह्लीक कहा जाने लगा था। इसी क्षेत्र को कुछ लोग वाहीक भी कहते थे । टॉलेमी ने इसे वाहीक कहा है। इस भू-भाग को महाभारत में भी वाहीक कहा गया है।[1] जिस समय मेहरौली का स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण हुआ था उस समय इस क्षेत्र का प्रसिद्ध नाम वाह्लीक था । इस भू-भाग का नाम वाह्लीक क्यों पड़ा यह विशेष रूप से विचारणीय है ।

इस संबन्ध में ध्यान देने योग्य है कि कुषाण लोग वाह्लीक (बैक्ट्रिआ) के सुविदित शासक थे । प्रसिद्ध कुषाण-नरेश कनिष्क के वंशज (उत्तर-कुषाण) पंजाब एवं उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ अन्य पार्श्ववर्ती भागों पर राज्य करते थे। इन्हीं उत्तर-कुषाणों को प्रयाग की प्रशस्ति में दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि' कहा गया है । समुद्रगुप्त का समकालीन उत्तर-कुषाण शासक किदार नामक था, जो पहले ससैनियन सम्राट् शापुर द्वितीय की अधीनस्थता स्वीकार करता था परन्तु बाद में जिसने उक्त गुप्त-वंशीय सम्राट् के बढ़ते हुये राजनीतिक प्रभाव को देखकर उसे अपना चक्रवर्ती शासक मान लिया था । प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार उसने समुद्रगुप्त को कन्याओं का उपहार (कन्योपायनदान), आत्मसमर्पण (आत्मनिवेदन) एवं गरुड़ध्वजांकित गुप्त-राजाज्ञा को अपने शासन-क्षेत्र में प्रचलित करना स्वीकार कर लिया था (गरुमदंक-स्वविषय-भुक्ति-शासनयाचना) । समुद्रगुप्त के उपरान्त उसके अयोग्य निर्बल उत्तराधिकारी रामगुप्त के काल में जब गुप्त-साम्राज्य खतरे में आ गया, उस समय उत्तर-कुषाणों (दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि) ने भी बिगड़ी हुई परिस्थितियों का लाभ उठाना चाहा होगा । कालान्तर में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों का दमन कर लेने के उपरान्त उत्तर-कुषाणों की खबर ली होगी। उस समय संभवतः उनके राज्य का मुख्य भाग व्यास नदी का तटवर्ती क्षेत्र रहा होगा जिसको रामायण में वाह्लीक कहा गया है । इस प्रदेश का वाह्लीक नाम पड़ने का कारण कुषाणों का बैक्ट्रिआ (बल्ख) के साथ पूर्व राजनीतिक संबन्ध था । बैक्ट्रिआ के सुविदित शासक होने के कारण कुषाण वाह्लीक (अर्थात् उस जाति के लोग जो कि मूलतः बैक्ट्रिआ—वाह्लीक देश के थे) कहलाने लगे । इस पृष्ठभूमि में वाह्लीक शब्द जो कि पहले बैक्ट्रिआ के लिये प्रयुक्त होता था, पंचनद (पंजाब) के लिये भी

---

१. "पञ्चानां सिन्धुषष्ठाणां नदीनां येऽन्तरा स्थिताः ।
तान्धर्म्मबाह्यानशुचीन्वाहीकानपि वर्जयेत् ॥"
—महाभारत, ८, ४४, श्लोक ७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लिखित होने लगा जैसा कि रामायण के प्रमाण से स्पष्ट है। पंचनद का वाह्लीक नाम पड़ने का संभावित कारण यही रहा होगा कि वहाँ कुषाण (वाह्लीक) जाति के लोग दीर्घ काल से राज्य करते आ रहे थे। वहीं पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने समकालीन उत्तर-कुषाण (दैवपुत्र-षाहि-षाहानुषाहि) को परास्त किया होगा।

मेहरौली-प्रशस्ति में उल्लिखित सिन्धु नदी के सप्त मुख (सिन्धोर्सप्त-मुखानि) का दूसरा सम्भावित अर्थ उसके मुहाने से भी हो सकता है। रघुवंश में नदीमुख का तात्पर्य उसके मुहाने से लिया गया है (नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्)। उल्लेखनीय है कि सिन्धु नदी अपने मुहाने के समीप प्राचीन काल में भी सात पृथक् धाराओं में विभक्त होती थी। टॉलमी और पेरिप्लस ने इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख अपने वर्णन में किया है। टॉलमी यह भी लिखता है कि सिन्धु के मुहाने के पार पश्चिम में बैक्ट्रिओई जाति के लोग रहते थे। स्पष्ट है कि बैक्ट्रिओई से तात्पर्य वाह्लीक (बैक्ट्रिआ से आने वाली) जाति से है। संभव है कि सिन्धु के मुहाने को (जहाँ पर यह नदी सात धाराओं में विभाजित हो जाती थी) पार कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उक्त जाति को हराया हो और इसी घटना की ओर मेहरौली की प्रशस्ति में ध्यान आकृष्ट किया गया हो। यह उसकी विजयमात्र ही रही होगी। उसने इसके परिणामस्वरूप सिन्धु देश या किसी अन्य भाग को जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया था। यह हमें हर्ष की सिन्ध-विजय का स्मरण दिलाता है। उसने इसके माध्यम से इस प्रदेश को आत्मसात नहीं किया था। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु नदी के पूर्व वाले भाग को सौवीर तथा पश्चिमी भाग को सिन्धु कहते थे। हर्ष की यह विजय सिन्धु नदी के मुहाने के समीप पश्चिमी भाग में हुई होगी।

विष्णुपद—अब हमारे समक्ष यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि विष्णुपद जहाँ पर सम्राट् चन्द्र ने विष्णु-ध्वज (वर्तमान लौह-स्तम्भ) की स्थापना की थी कहाँ पर स्थित था। इस संबन्ध में डॉ० डी० आर० भण्डारकर ने हम लोगों का ध्यान महाभारत के निम्न श्लोक की ओर आकृष्ट किया है—

'एतद् विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमनुत्तमम्।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी॥
काश्मीरमण्डलञ्चैतत् सर्वपुण्यमन्दिरम्॥"
(वनपर्व, अध्याय १३०, श्लोक ९-१०)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"विष्णुपद नामक यह श्रेष्ठ तीर्थ दृष्टिगोचर हो रहा है। विपाशा (व्यास) नामक यह अत्यन्त प्रिय नदी दिखाई दे रही है। यह काश्मीर-मण्डल दृष्टिगोचर हो रहा है जो सभी पुण्यों का धाम है।"

इस साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि विष्णुपद नामक तीर्थ व्यास नदी के समीप ही स्थित था। इस तीर्थ से काश्मीर साफ दिखाई देता था। हम पहले इस बात को देख चुके हैं कि व्यास नदी के ही तटवर्ती प्रदेश को वाह्लीक कहा जाता था। मेहरौली के अभिलेख में वाह्लीक के ही प्रसंग में विष्णुपद का उल्लेख हुआ है। रामायण से जो श्लोक पहले उद्धृत किया जा चुका है उसमें इन दोनों ही स्थानों का उल्लेख हुआ है। महाभारत एवं रामायण के सम्मिलित साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विष्णुपद कहीं पंजाब में ही स्थित था। रामायण से पूर्व उद्धृत श्लोक के अनुसार शाल्मली नदी भी विष्णुपद एवं व्यास के समीप ही बहती थी। डॉ० भण्डारकर का कथन है कि शाल्मली (विपाशा (व्यास) की एक सहायक नदी थी और प्राचीन काल में आधुनिक गुरुदासपुर (पंजाब) के समीप इससे मिलती थी। मेहरौली के अभिलेख में उल्लिखित विष्णुपद-गिरि की पहचान गुरुदासपुर की किसी समीपस्थ पहाड़ी के साथ करना समीचीन होगा।

दिनेशचन्द्र सरकार ने महाभारत से एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है जिससे निष्कर्ष निकलता है कि विष्णुपद विपाशा (व्यास) तथा कुरुक्षेत्र के बीच स्थित रहा होगा—

"गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह।
ततो गच्छेत धर्मज्ञो विष्णोः स्थानमुत्तमम्॥"

(महाभारत, वनपर्व, ३, ७३)

"हे धर्मात्मा युधिष्ठिर श्रद्धा से युक्त होकर कुरुक्षेत्र का दर्शन करना चाहिये। तदुपरान्त विष्णु-स्थान (विष्णुपद) के लिये प्रस्थान करना चाहिये।"

इससे ज्ञात होता है कि पूर्व से पश्चिम तीर्थ-यात्रा करने पर पहले कुरुक्षेत्र पड़ता था और तदुपरान्त विष्णुपद। प्रोफेसर दशरथ शर्मा ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि पंजाब के अम्बाला जिले में वर्तमान सधौरा की समीपस्थ पहाड़ियाँ प्राचीन कुरुक्षेत्र (सरस्वती एवं दृषद्वती के बीच स्थित) के समीप पड़ती हैं। प्राचीन विष्णुपद-गिरि की वास्तविक पहचान इन्हीं पहाड़ियों में किसी एक से करनी चाहिए। विष्णुपद-गिरि से तात्पर्य चाहे गुरुदासपुर अथवा सधौरा की किसी पहाड़ी से रहा हो पर इतना तो स्पष्ट है कि यह कहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंजाब में ही स्थित था। चन्द्र ने वहीं पर विष्णु-ध्वज (वर्तमान लौह-स्तम्भ) की स्थापना की थी। फिरोज़ तुगलक के काल में यह स्थानान्तरित कर दिल्ली में मेहरौली नामक स्थान पर कुतुबमीनार के समीप खड़ा किया गया।

प्रशस्ति-रचना का काल—डी० आर० भण्डारकर[1] तथा दशरथ[2] शर्मा का कथन है कि यह प्रशस्ति सम्राट् चन्द्र के जीवन-काल में ही लिखी गई थी। यदि इस अभिलेख के द्वितीय श्लोक के उत्तरार्द्ध पर सूक्ष्म ढंग से निरीक्षण किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उक्त राजा अपने राज्य से च्युत हो गया था परन्तु उस समय जीवित अवश्य था। इस प्रशस्ति में कहा गया है कि जिस प्रकार महावन को भस्मीभूत कर देने वाली दावाग्नि के बुझ जाने पर भी उसकी गर्मी (प्रताप=प्रकृष्टः तापः) बनी रहती है, उसी प्रकार अपने शत्रुओं का उन्मूलन करने वाले (प्रणाशितरिपोः) उस राजा के यत्नों का शेष प्रताप अब भी भू-मण्डल पर वर्तमान था।[3] लेखक ने उसके प्रताप की स्मृति को चिरस्मरणीय बनाने के निमित्त उसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की गाथा को निबद्ध कर लौह-स्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण करा दिया। उपर्युक्त विद्वानों के इस मत के प्रसंग में मेहरौली के अभिलेख की कुछ पंक्तियाँ एवं शब्दावली विशेष रूप से विचारणीय हो जाती हैं:—

(१) 'खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेः गामाश्रितस्येतरां'—वह राजा जीवन से ऊब जाने के कारण इस भू-मण्डल को छोड़ चुका था तथा दूसरे लोक में अब निवास करने लगा था। यहाँ पर बड़े ही काव्यात्मक ढंग से लेखक इस बात को अच्छी तरह स्वीकार करता है कि राजा मृत्यु को प्राप्त हो चुका था।

(२) 'मूर्त्या कर्मजितावनिं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ':—वह अपने शरीर के द्वारा कर्म से जीती जाने वाली भूमि को प्राप्त कर चुका था परन्तु अपने यश के द्वारा इस भू-मण्डल पर ही निवास करता था। इस स्थान पर प्रशस्तिकार स्वीकार करता है कि वह सम्राट् धार्मिक प्रकृति का होने के कारण सदेह स्वर्ग गया था। इस प्रकार का वर्णन प्राचीन संस्कृत-साहित्य में अन्य

---

१. जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द १०, पृष्ठ ८६
२. जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री, जिल्द १६, पृष्ठ १७-१८
३. "शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा-
स्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितिम्"
—सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २७७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थलों पर भी उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ राजतरंगिणी[1] एवं विक्रमांकदेव-चरित[2] में वर्णन मिलता है कि काश्मीर-नरेश प्रवरसेन द्वारा प्रवरपुर में निर्मित शिव-मन्दिर की छत में एक छिद्र बना हुआ था जिसके सबध में वहाँ कथा प्रचलित थी कि उक्त राजा उससे होकर सदेह स्वर्ग गया था।

(३) इस प्रशस्ति के प्रथम श्लोक की अन्तिम पंक्ति में कहा गया है कि दक्षिणी समुद्र आज भी उसके प्रताप रूपी सौरभ से सुवासित हो उठता था (यस्याद्यापिविवास्यते जलनिधिः वीर्य्यानिलैः दक्षिणः)। शत्रुओं के विनाशक उस राजा के यत्नों का शेष प्रताप आज भी वसुधा को नहीं छोड़ रहा था (नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितिम्)। 'अद्यापि' (आज भी) शब्द का थोड़े ही अन्तर पर पुनः प्रयोग इस बात का प्रतिपादन करता है कि सम्राट् की मृत्यु-तिथि एवं मेहरौली-प्रशस्ति की रचना के काल में समय की दूरी अवश्य थी। गुप्त-काल के अत्यन्त समीप रचित प्रशस्तियों में मरे राजा की उपलब्धियों के वर्णन के संबन्ध में 'अद्यापि' शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ आदित्यसेन की अफसढ़-प्रशस्ति में उसके पितामह महासेनगुप्त के विषय में कहा गया है कि लौहित्य नदी के दोनों तटों पर आज भी उसका यशोगान होता था (लौहित्यतटेषु ··· अद्यापि स्फीतं यशो गीयते)। इसी अभिलेख में आदित्यसेन के पाँचवें पूर्वज जीवितगुप्त प्रथम के विषय में कहा गया है कि उसकी आधिभौतिक कृतियों को लोग आज भी उसी भाँति विस्मय की दृष्टि से देखते थे जिस प्रकार कोशवर्द्धन के तट से हनुमन-प्लुत को।[3] राजतरंगिणी में भी दिवंगत राजा की प्रशंसा करते हुये कहा गया है कि उसकी विलक्षण कृतियों का गुणानुवाद अब भी होता था (अद्यापि श्रूयते यस्य प्रभावो भुवनाद्भुतः[4])।

---

१. "एवं स भुवनैश्वर्यं भुक्त्वा भूमिभृतां वरः।
अनेनैव शरीरेण भेजे भूतपतेः सभाम्॥"
—राजतरंगिणी, तरंग ६, ३७७

२. "यद्यातस्य प्रवरनृपतेर्द्यां शरीरेण सार्धं।
स्वर्गद्वारप्रतिमुपरिच्छिद्रमद्यापि धत्ते॥"
—विक्रमांकदेवचरित, सर्ग १८, २८

३. "यस्यातिमानुषं कर्म दृश्यते विस्मयाज्जनौघेन।
अद्यापि कोशवर्द्धनतटात्प्लुतं पवनजस्येव॥"
—अफसढ़ का शिलालेख

४. राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक १५४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धरणिबन्ध का आदर्श—इस बात का उल्लेख हम पीछे कर आए हैं कि गुप्त-नरेश सम्पूर्ण भारतवर्ष का चक्रवर्त्ती नरेश बनने की भावना से अनुप्राणित थे। भारतवर्ष से तात्पर्य उस विशाल भू-भाग से था जो कि उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में सेतुबन्ध (रामेश्वर) अथवा उससे भी और आगे सिंहल (लंका) द्वीप तक तथा पश्चिम में अपर पयोधि (अरब सागर) से प्रारम्भ होकर पूर्व में महोदधि (बंगाल की खाड़ी) तक प्रसरित था। पुराणों में भारतवर्ष की यही परिभाषा दी गई है; यथा ब्रह्मवैवर्तपुराण[1] एवं मार्कण्डेयपुराण।[2] भारतवर्ष का एकछत्र सम्राट् बनने के निमित्त समुद्रगुप्त ने जो दिग्विजय किया, उसे प्रयाग की प्रशस्ति में 'धरणिबन्ध' कहा गया है। इस अभिलेख में उसके सैनिक अभियान को 'सर्वपृथ्वीविजय' तथा 'निखिलावनितल-विजय' भी कहा गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-कालीन उदयगिरि के शैव लेख में उसके दिग्विजय को 'कृत्स्नपृथ्वीविजय' कहा गया है जो कि समुद्रगुप्त के 'धरणिबन्ध' का स्मरण दिलाता है। इसके पूर्व महाभारत में भी कर्ण के दिग्विजय को 'पृथ्वी-विजय' कहा गया है (स एव पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः)।

मेहरौली-प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चन्द्र) के दिग्विजय की सीमाओं का उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ उत्तर में सिन्धु नदी के सात मुख (सिन्धोः सप्तमुखानि), दक्षिण में हिन्द महासागर (दक्षिणः जलनिधिः), पश्चिम में वाह्लीक तथा पूर्व में वंग। कालान्तर के विजेताओं के द्वारा ये ही सीमाएँ दिग्विजय का आदर्श बनाई गईं। उदाहरणार्थ, मालवा के नरेश यशोधर्मन् (जिसके पूर्वज किसी समय गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे) की मन्दसोर-प्रशस्ति में उसके दिग्विजय के प्रसंग में लगभग इन्हीं सीमाओं का निर्देश किया गया है; उदाहरणार्थ उत्तर में हिमालय (तुहिनशिखरिण), दक्षिण में महेन्द्रगिरि (दक्षिण भारत का पूर्वी घाट), पश्चिम में अपर पयोधि (अरब सागर) तथा पूर्व में लौहित्य (ब्रह्मपुत्र नदी)।

लगता है कि जिस समय कालिदास रघु की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन कर रहे थे, उस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के 'कृत्स्न-पृथ्वी-विजय' का आदर्श

---

१. "हिमालयादासमुद्रं पुण्यक्षेत्रञ्च भारत" —ब्रह्मवैवर्त पुराण

२. "एतत्तु भारतवर्षं चतुःसंस्थानसंस्थितम्।
दक्षिणेऽपरतोहृद्यस्य पूर्व्वेण च महोदधिः॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः॥"
—मार्कण्डेय पुराण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनके ध्यान में अवश्य था। रघुवंश में रघु के दिग्विजय की उत्तरी सीमा के प्रसंग में सिन्धु नदी का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ के वर्णन के अनुसार रघु उत्तर के राजाओं को जीतने के लिये उधर घूम पड़े। सिन्धु नदी के तट पर पहुँच कर रघु के घोड़े वहाँ की रेत में लेटकर अपनी थकान मिटाने लगे। लेटने से उनके शरीर में जो केसर लग गए थे, उसे उठ कर उन्होंने हिलाते हुए झाड़ दिया। वहाँ पर रघु ने अपने प्रचण्ड पराक्रम से जिन हूण-राजाओं को मार डाला था उनकी स्त्रियाँ सिर पीटकर इतना अधिक रोईं कि उनके गाल लाल हो गए।[1] पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े के विषय में कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में लिखा है कि वह अश्व चक्कर लगाता हुआ सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर यवनों के द्वारा बन्दी बना लिया गया और वहाँ पर उसके पौत्र वसुमित्र शुंग का उनके साथ घनघोर युद्ध हुआ था।[2] पाल-लेखों के अनुसार देवपाल नामक नरेश सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय (सपत्नशून्या उर्वी) की कामना से सिन्धु नदी के तट पर आया हुआ था।[3]

सम्राट् रघु की पूर्वी विजय यात्रा के प्रसंग में कालिदास ने वंग विजय का उल्लेख किया है। उनके अनुसार विजयी राजा रघु पूर्वी राज्यों को जीतते हुए उस समुद्र के किनारे पहुँचे जो तट पर उगे हुए ताड़ के वृक्षों की छाया पड़ने से काला दृष्टिगोचर हो रहा था। वहाँ पर उन्होंने वंग राजाओं को हरा दिया जो जल-सेना लेकर युद्ध करने के निमित्त आए हुए थे। उन्हें जीत कर रघु ने गंगा-सागर के द्वीपों में अपने विजय का झंडा गाड़ दिया।[4] राष्ट्र-कूट-अभिलेखों तथा इसी तरह अन्य प्रामाणिक साक्ष्यों में दक्षिण विजय-यात्रा

१. "विनीताध्वश्रमास्तस्त सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुंकुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्त्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥"
—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६७-६८

२. "सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः।
ततः उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः" —मालविकाग्निमित्रम्, अंक ५

३. "सिन्धोरालक्ष्मीकुलभवनाच्च यो बुभोज"
—गौड़लेखमाला, पृष्ठ ३८

४. "पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के प्रसंग में 'अपर जलनिधि' (पश्चिमी समुद्र), 'पूर्व जलनिधि' (पूर्वी समुद्र), 'सेतुबन्ध' (रामेश्वरम्) तथा 'सिंहल' (लंका) द्वीप के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। इन विविध प्रमाणों से स्पष्ट है कि मेहरौली के स्तम्भ-लेख में वर्णित चन्द्र (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) की दिग्विजय-यात्रा कालान्तर के विजेताओं के लिये आदर्श-तुल्य थी।

● ●

बंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान्गंगास्रोतोन्तरेषु सः ॥"

—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ३४-३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट ५

"गुप्त-प्रकाल"

गुप्त-संवत् (गुप्त-प्रकाल) की गणना प्राचीन भारतवर्ष के प्रमुख संवतों में की जाती है; यथा :—विक्रम-संवत्, शक-संवत् एवं हर्ष-संवत् आदि। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं स्कन्दगुप्त-सदृश प्रतिभाशाली नरेशों से विभूषित एवं लगभग तीन शताब्दियों तक शासन करने वाले शक्तिसम्पन्न गुप्त-राजकुल द्वारा वंश-संवत् के प्रचलन की अवधारणा नितान्त स्वाभाविक ही है। इस राजघराने के अधिकांश लेख तिथि-युक्त हैं, जिनमें उत्कीर्ण संख्या क्रमानुसार विकासोन्मुखी होती जाती है। यह तथ्य निम्नलिखित सूची द्वारा सुस्पष्ट हो जाता है—

नरेश	अभिलेख	तिथियाँ
चन्द्रगुप्त द्वितीय	मथुरा का स्तम्भ-लेख	६१
	उदयगिरि का शैव गुहा-लेख	८२
	साँची का शिला-लेख	९३
कुमारगुप्त प्रथम	बिलसद का स्तम्भ-लेख	९६
	धानाइदह का ताम्र-लेख	११३
	करमदाण्डा का शिला-लेख	११७
	दामोदरपुर का ताम्र-लेख	१२४
	दामोदरपुर का ताम्रलेख	१२८
	मनकुँवर का शिला-लेख	१२९
स्कन्दगुप्त	जूनागढ़ का शिला-लेख	१३६, १३७, १३८
	कहौम का स्तम्भ-लेख	१४१
	इन्दौर का ताम्र-लेख	१४६
कुमारगुप्त द्वितीय	सारनाथ का शिला-लेख	१५४
बुधगुप्त	सारनाथ का शिलालेख	१५७
	दामोदरपुर का ताम्र-लेख	१६३
	एरण का प्रस्तर-लेख	१६५
वैन्यगुप्त	गुणैघर का ताम्र-लेख	१८८
भानुगुप्त	एरण का स्तम्भ-लेख	१९१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सभी विचारवान् पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि उपर्युक्त तालिका में उल्लिखित तिथियाँ उक्त नरेशों के शासन-काल के वर्षों में नहीं दी गई हैं। किसी भी नरेश का १८८ अथवा १९१ वर्षों तक राज्य करना अचिन्त्य है। इस सूची पर विहंगम दृष्टि मात्र डालने से ही सुस्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त तिथियों का उल्लेख किसी संवत् में ही किया गया है। स्कन्दगुप्तकालीन जूनागढ़ के शिलालेख में स्पष्ट कहा गया है कि गुप्त-वंश के नरेश तिथियों की गणना अपने वंश-संवत् में ही करते थे। इस अभिलेख में गुप्त-संवत् को 'गुप्त-प्रकाल' कहा गया है।[1] इसके अनन्तर इस संवत् का पुनः उल्लेख कुमारगुप्त द्वितीय-कालीन सारनाथ के बौद्ध प्रतिमा-लेख (गु० सं० १५४ = ४७३ ई०) में हुआ है।[2] तत्पश्चात् बुधगुप्त के सारनाथ-लेख (४७६ ई०) से संकेत मिलता है कि इसमें तिथि का उल्लेख गुप्त-संवत् में ही हुआ है।[3] कतिपय अन्य राजवंशों ने भी अपने लेखों में तिथियों का उल्लेख इसी संवत् में किया है। शशांक के गंजाम के लेख में गुप्त-संवत् को ही 'गौप्ताब्द' कहा गया है।[4] काठियावाड़ से प्राप्त मौर्वी के ताम्रलेख (संवत् ५८६) में 'गौप्ते' शब्द के

---

१. "संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्त-प्रकालें गणनां विधाय ॥"

—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ३०५

"संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च।
गुप्त-प्रकाले नयशास्त्रवेत्ता विश्वोऽप्यनुज्ञात-महाप्रभावः ॥"

—सरकार, वहीं, पृष्ठ ३०६

"कारितमवक्रमतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहम्।
वर्षशतेऽष्टात्रिंशे गुप्तानां कालक्रमगणिते ॥"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३०८

२. "वर्षशते गुप्तानां सवतुःपञ्चाशदुत्तरे।
भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते मासि ज्येष्ठे द्वितीयायाम् ॥"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३२१

३. "गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति ॥"

—सरकार, वही, पृष्ठ ३२३

४. "गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये"

—ए० इं०, भाग ६, पृष्ठ १४३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रयोग द्वारा स्पष्ट किया गया है कि इसमें तिथि का उल्लेख गुप्त-संवत् में ही किया गया है।[1]

यहाँ पर हमारे समक्ष प्रश्न उपस्थित होता है कि गुप्त-संवत् के प्रवर्तन की वास्तविक तिथि क्या है ? इस सम्बन्ध में विशेष रूप से अल्बरूनी का कथन विचारणीय है। वह लिखता है :—"जहाँ तक गुप्तकाल का प्रश्न है, जनश्रुति के अनुसार गुप्त लोग क्रूर किन्तु शक्तिशाली थे। **जिस समय उनका शासन समाप्त हुआ, उस काल से एक नव संवत् प्रचलित हुआ था। लगता है कि वलभ उनका अन्तिम नरेश था, क्योंकि वलभ-संवत् की भाँति गुप्त-संवत् भी शक-काल के २४१ वर्षों उपरान्त आरम्भ हुआ"**।[2] उसके कथन में निम्नलिखित अशुद्धियों का निर्देश किया जा सकता है—

(१) गुप्त-सम्राट् आततायी थे।

(२) गुप्त-संवत् इस वंश के विनाश की तिथि से प्रारंभ हुआ था।

(३) इस राजवंश का अन्तिम नरेश वलभ नामक था।

इन अशुद्धियों का कारण यह है कि उसका कथन अनुश्रुति पर अवलम्बित है। वह स्वयं स्वीकार करता है कि उसने उपर्युक्त विवरण को लोगों से सुनकर उल्लिखित-किया था। तत्कालीन किसी प्रचलित किम्वदन्ती के आधार पर उसने गुप्तों को निर्दय शासक लिख दिया होगा। अल्बरूनी ग्यारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष आया था। गुप्तों के अन्तिम विनाश एवं इस देश में उसके आगमन के समय में लगभग पाँच सौ वर्षों का अन्तर हो चुका था। इतने दीर्घ काल के व्यतीत हो जाने पर गुप्तों के सम्बन्ध में किसी भ्रान्तिमूलक अवधारणा का प्रचलित होना अथवा दन्तकथा का रूढ़ हो जाना असंभाव्य नहीं था। इस स्थान पर एक विशेष बात और भी ध्यान देने योग्य है। कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ-लेख में 'गुप्तानां ··· उत्तरे' तथा बुधगुप्त के सारनाथ-लेख में 'गुप्तानां समतिक्रान्ते' पाठ उल्लिखित मिलते हैं। संभव है कि इसी आदर्श पर अल्बरूनी के काल में भी गुप्त-संवत् में तिथि-वर्णन किया जाता हो। ऐसे पाठ को आपाततः देखने में लगता है कि गुप्तों के व्यतीत होने (अर्थात् उनके वंश के विनाश हो जाने) के उपरान्त अमुक वर्ष में अमुक घटना

---

१. "पञ्चाशीत्या युतेऽतीते समानां शतपञ्चके।
गुप्ते ददावदो नृपः सोपरागेऽर्कमण्डले॥"

द्रष्टव्य, फ्लीटः—का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ ९७

२. साचो, अल्बरूनीज़ इंडिया, जिल्द २, पृष्ठ ७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

घटी होगी। इसी भ्रान्ति के आधार पर अल्बरूनी सहसा इस निष्कर्ष पर पहुँच गया होगा कि गुप्त-संवत् इस वंश के विनाश के समय से प्रारम्भ हुआ होगा। परन्तु उसका यह कथन सत्य है कि गुप्त-संवत् शक-संवत् के २४१ वर्ष उपरान्त प्रारंभ हुआ होगा। उसके समय में भारतीय ज्योतिषी शक-संवत् की तिथि को गुप्त-संवत् में परिवर्तित करने के उद्देश्य से उसमें २४१ वर्ष जोड़ देते होंगे। यह परिपाटी अपने मौलिक काल से ही शुद्ध रूप में सुरक्षित रह गई थी। अल्बरूनी एक स्थान पर निम्नलिखित तिथियों में समानता का निर्देश करता है :—(१) विक्रम संवत् १०८८, (२) शक-काल ९५३ तथा (३) वलभ-काल (गुप्त-काल) ७१२। उसके इस उल्लेख से यहाँ पुनः निर्दिष्ट हो जाता है कि शक-काल एवं गुप्त-संवत् में ९५३–७१२ = २४१ वर्षों का अन्तर था।

शक-काल के विषय में अल्बरूनी ने अपने विवरण में जो उल्लेख किया है, उसमें भी इसी प्रकार समान शुद्धियों एवं अशुद्धियों के उदाहरण प्राप्य हैं। उसके अनुसार शक-संवत् का प्रवर्तन विक्रमादित्य के समय से १३५ वर्ष उपरान्त किया गया था। शक-सम्राट् ने सिन्धु एवं समुद्र के मध्यवर्ती प्रदेश में बड़ा उपद्रव मचा रखा था। उसने आर्यावर्त में भी अपने प्रभाव को बढ़ा लिया था। उसने हिन्दुओं को इस बात को मानने के निमित्त बाध्य कर दिया था कि वे शक जाति के थे। उसके विषय में कुछ लोगों की धारणा थी कि वह अलमनसूर नगर का निवासी एवं शूद्र था। कतिपय लोगों का विश्वास था कि वह किसी रूप में भी हिन्दू नहीं था तथा भारतवर्ष पश्चिम की ओर से आया था। उसके कारण हिन्दुओं को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी थी। अन्ततोगत्वा उन्हें पूर्वी सम्राट् विक्रमादित्य से सहायता उपलब्ध हुई। युद्ध-क्षेत्र में पराजित होने के कारण शक-नरेश पलायमान हो गया। विक्रमादित्य ने उसे करूर क्षेत्र में मार डाला जो कि मुल्तान एवं लौनी के किले के बीच स्थित है। **यह तिथि अत्यन्त प्रसिद्ध है क्योंकि उस आततायी की मृत्यु के समाचार से लोग बहुत प्रसन्न थे। विशेष रूप से ज्योतिषियों के द्वारा इस तिथि से एक संवत् की गणना जाती थी।** उसके इस महत्वपूर्ण विजय के परिणाम-स्वरूप हिन्दू लोग उसके नाम के पूर्व सम्मानसूचक 'श्री' शब्द को अनिवार्य रूप से संयुक्त करने लगे थे (श्रीविक्रमादित्य)।[1] यहाँ पर विचारणीय है कि गुप्त-संवत् की भाँति शक-काल के विषय में भी अल्बरूनी लिखता है कि इस राजवंश के विनाश के समय से इस संवत् का प्रचलन प्रारंभ हुआ था।

---

१. साचो, अल्बरूनीज़ इंडिया, जिल्द २, पृष्ठ ६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसका यह कथन सर्वथा असत्य है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात विचारणीय है। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल्ले-अभि लेख में शक-संवत् में तिथि-उल्लेख के प्रसंग में 'सनासु सनतीतासु शकानामपि भूभुजाम्' पाठ प्राप्य है। राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष के संजन के ताम्रलेख में 'शकनृपकालातीतसंवत्सर' का उल्लेख मिलता है। शक-संवत् में तिथि-गणना की यह परिपाटी भारतीय ज्योतिषियों के वर्ग में अल्वरूनी के समय में भी विद्यमान रही होगी। 'शकानाम् भूभुजाम् समतीतासु' सदृश उल्लेख का उसने अशुद्ध अर्थ लगा लिया होगा। उसने समझा होगा कि भारतीय पण्डित शक-संवत् की गणना उनके विनाशकाल से करते थे। परन्तु उसका यह कथन कि शक-संवत् विक्रमादित्य के समय से १३५ वर्ष उपरान्त प्रारम्भ हुआ था, यथार्थ है। अनुश्रुति के आधार पर हर्ष-संवत् का वर्णन करते समय भी उसने तत्कालीन घटनाओं के विषय में असमीचीन तथ्यों का उल्लेख कर दिया है। उसके अनुसार हिन्दुओं का विश्वास था कि हर्ष पृथ्वी के गर्भ में गड़ी हुई निधियों का पता लगाने के निमित्त भू-परीक्षा किया करता था। इस क्रिया में उसे इतनी धनराशि उपलब्ध हुई कि उसने जनता को सताने वाले करों को माफ कर दिया था।[1]

यहाँ पर स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि वलभ-संवत् (वलभी-संवत्) सदृश कोई स्वतन्त्र संवत् नहीं था। वस्तुतः गुप्त-संवत् ही पश्चिमी भारतवर्ष में वलभी-संवत् के नाम से सुप्रसिद्ध हो गया था। वलभी के मैत्रक-राजवंश की नींव सेनापति भटार्क ने डाली थी। यह कुल सम्राट् गुप्तों का माण्डलिक राजवंश था। यही मैत्रक वंश वलभी-वंश के नाम से भी प्रख्यात था। इस राजवंश का तृतीय नरेश महाराज द्रोणसिंह गुप्त-संवत् १८३ (५०३ ई०) में राज्य कर रहा था। यदि हम किञ्चित् काल के लिए स्वीकार कर लें कि वलभी-संवत् का प्रवर्तन इस राजवंश के संस्थापक भटार्क ने किया था, तो यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि इस कुल के प्रथम तीन नरेशों (अर्थात् भटार्क, धरसेन एवं द्रोणसिंह) का सम्मिलित राज्य-काल १८३ वर्ष रहा होगा। ऐसी परिस्थिति में इनका औसत राज्य-काल ६१ वर्षों के लगभग निर्धारित होता है, जो सर्वथा अविश्वसनीय है। दूसरी बात यह है कि भटार्क गुप्तों का माण्डलिक था। अतएव वह निज संवत् का प्रवर्तक नहीं हो सकता था। इसी भाँति द्रोणसिंह भी गुप्त-वंश का सामन्त था। वलभी-लेखों से ज्ञात होता है कि उसके प्रभु-सम्राट् ने स्वयं पधार कर उसका राज्याभिषेक सम्पन्न किया था (परम-

---

१. साचो, अल्वरूनीज़ इंडिया, जिल्द २, पृष्ठ ५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वामिना स्वयमुपहितराज्याभिषेको) । यहाँ पर स्पष्ट रूप में चक्रवर्ती गुप्त वंश की ओर संकेत है । द्रोणसिंह , बुधगुप्त अथवा नरसिंहगुप्त बालादित्य का माण्डलिक रहा होगा । उपर्युक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि मैत्रक वंश अपने कुल-संवत् का प्रवर्तक नहीं हो सकता था । मैत्रक-वंश ने अपने अभिलेखों में चक्रवर्ती राजकुल (गुप्तवंश) द्वारा प्रचलित संवत् में ही तिथियों की गणना की है । जब यह राजवंश स्वतंत्र हो गया, उस समय से यह संवत् पश्चिमी भारतवर्ष में वलभी-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो चला था, क्योंकि उक्त कुल के नरेश वलभी-सम्राट् के नाम से प्रख्यात थे । परिणामतः अल्बरूनी को अपने आगमन के समय भारतवर्ष में एक ही समय से प्रारम्भ किए गए दो संवतों के प्रचलन के दृष्टान्त प्राप्त हुए । एक तो गुप्त-संवत् जो कि उत्तर एवं उत्तर-पूर्व भारतवर्ष में विशेष रूप से प्रयोग में था तथा दूसरा वलभी-संवत् जो पश्चिमी भारतवर्ष में प्रचलित था । अतएव उसके द्वारा उल्लिखित वलभ-संवत् (वलभी-संवत्) से किसी स्वतंत्र काल का भाव निकाल लेना वास्तविक तथ्यों से सर्वथा रहित होगा । ऊपर हम इस बात पर विचार कर चुके हैं कि अल्बरूनी का यह कथन कि गुप्त-संवत् शक-काल के २४१ वर्ष उपरान्त प्रारम्भ हुआ, सर्वथा समीचीन है । इसके समर्थन में हम निम्नलिखित प्रमाणों को प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) जैन लेखकों—जिनसेन, गुणचन्द्र तथा नेमिचन्द्र—के अनुसार शक-काल एवं गुप्त-संवत् में २४१ वर्षों का अन्तर था ।

(२) महाराज हस्तिन् के खोह के ताम्रलेख के अनुसार गुप्त-संवत् १५६ 'महावैशाख-संवत्सर' था । इस अभिलेख में इस वर्ष के कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया का उल्लेख हुआ है (शतपञ्चशतोत्तरेऽब्दे शते गुप्तनृपराज्य-भुक्तौ महावैशाखसंवत्सरे कार्तिकमासशुक्लपक्षतृतीयायाम्) । वराहमिहिर के अनुसार शक संवत् ३९७ 'महावैशाख-संवत्सर' था । इसके आधार पर शक-संवत् ३९७ एवं गुप्त-संवत् १५६ में समानता स्थापित हो जाती है । इससे प्रतिपादित हो जाता है कि दोनों संवतों में (३९७–१५६) २४१ वर्षों का सच-मुच ही अन्तर था ।

(३) वलभी-नरेश धरसेन चतुर्थ के खैरा के दानपत्र में संवत् (गुप्त-संवत्) ३३० 'महामार्गशीर्ष संवत्सर' का उल्लेख मिलता है । अल्बरूनी द्वारा उल्लिखित २४१ वर्षों के अन्तर के अनुसार उक्त तिथि शक-काल ५७१ (३३० + २४१) के बराबर निर्धारित होती है । शक-संवत् ५७१ से तात्पर्य ६४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ई० (५७१ + ७८) से है। ज्योतिष-गणना के आधार पर ६४९ ई० वाला वर्ष 'महानार्गशीर्ष-संवत्सर' था।

उपर्युक्त प्रमाणों के विश्लेषण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुप्त-संवत् (७८ + २४१) ३१९ ई० में प्रचलित किया गया होगा। इसकी सम्पुष्टि वेरावल के लेख द्वारा होती है, जिसका पता लगाने का श्रेय कर्नल टॉड को था। यह स्थान प्राचीन 'सोमनाथपत्तन' का द्योतक है। वहाँ पर वर्तमान एक मन्दिर के निर्माण में प्रयुक्त शिला-खण्ड पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है। इसकी तिथि विक्रम संवत् १३२० (आषाढ़ बदी १३) है। यही तिथि निम्न-लिखित अन्य संवतों में भी इस प्रकार दी गई है[1] :—

(१) रसूल-मोहम्मद संवत् (हिजरी संवत्) = ६६२
(२) वलभी-संवत् (गुप्त-संवत्) = ९४५
(३) श्रीसिंह-संवत् = १५१

इस लेख के प्रमाण से स्पष्ट है कि विक्रम संवत् १३२० तथा गुप्त संवत् ९४५ में समानता है। विक्रम संवत् १३२०, ईसवी सन् १२६३ (१३२०–५७) के बराबर है। अतएव गुप्त-संवत् ९४५ एवं १२६३ ई० में समीकरण स्थापित हो जाता है। इस प्रकार दोनों संख्याओं में ३१८ वर्षों का अन्तर (१२६३–९४५) पड़ जाता है। इस अन्तर में एक वर्ष और जोड़ देना होगा (अर्थात् ३१८ + १ = ३१९), क्योंकि १२६३ ई० के जनवरी के महीने में वस्तुतः गुप्त-संवत् ९४४ प्रचलित रहा होगा (१२६३–९४४ = ३१९ ई०)। इससे प्रमाणित होता है कि इसी समय (३१९ ई०) में गुप्त संवत् का प्रवर्तन हुआ होगा।

इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि के निमित्त हम शशांक-कालीन गंजाम के ताम्र-लेख को आधार बना सकते हैं। इसमें हम गुप्त-संवत् ३०० का उल्लेख पाते हैं (चतुरुदधिसलिलवीचीमेखलानिलीनायां सद्वीतागरपत्तनवत्या वसुन्धरायां गौप्ताब्दे वर्षशतत्रयवर्त्तमाने महाराजाधिराजश्रीशशांकराज्ये शासति)। वह हर्ष का समकालीन था, जिसने ६०६ ई० से ६४७ ई० तक राज्य किया था। ६०६ ई० में ही देवगुप्त एवं शशांक ने मिलकर ग्रहवर्मा की हत्या की थी

---

१. "श्रीविश्वनाथप्रतिबद्ध–नौजनानाम् बोधरसूलमोहम्मदसंवत् ६६२ तथा श्रीनृप-विक्रम-संवत् १३२० तथा श्रीमद्वलभी-संवत् ९४५ तथा श्रीसिंहसंवत् १५१ वर्षे आषाढ़वदी १३ रवावद्येह···इह श्रीसोमनाथदेवपत्तने"
—फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ ८४-९०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा राज्यश्री को बन्दीगृह में डाल दिया था। इसी समय शशांक ने अपने झूठे शिष्टाचार के द्वारा राज्यवर्द्धन को भी मार डाला था। इसी वर्ष हर्ष ने शशांक के विरुद्ध अपना प्रथम सैनिक अभियान किया था। उस समय वह कान्यकुब्ज में वर्तमान था। चीनी यात्री हुएनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि उसकी मृत्यु ६३७ ई० अथवा उसके कुछ पूर्व हुई थी। इस प्रकार शशांक की ज्ञात तिथियाँ लगभग ६०६ ई० से लेकर ६३७ ई० के बीच पड़ती हैं। गुप्त-संवत् की प्रवर्तन-तिथि ३१९ ई० मान लेने पर गंजाम के लेख की तिथि ईसवी सन् ६१९ (३०० + ३१९) प्रमाणित होती है। स्पष्ट है कि यह तिथि शशांक की ज्ञात तिथियों (६०६ ई०–६३७ ई०) के बीच पड़ जाती है। अतएव प्रमाणित होता है कि ३१९ ईसवी को गुप्त-काल की प्रारम्भ-तिथि मानना समीचीन होगा। इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि-हेतु निम्नलिखित अन्य तथ्यों पर भी विचार कर लेना युक्तिसंगत है :—

(१) शक-मुद्राओं पर उत्कीर्ण लेखों के आधार पर उनके राज्य-काल की अन्तिम ज्ञात तिथि ३१ 'क' है। इकाई की संख्या लेख से विलुप्त है। 'क' अक्षर इकाई वाली संख्या का प्रतिनिधित्व करता है जो शून्य से लेकर ९ तक कुछ भी हो सकती थी। अतएव उक्त तिथि ३१० से लेकर ३१९ के बीच रही होगी। शकों ने अपने मुद्रा-लेखों में तिथियाँ निज संवत् में उल्लिखित की हैं। शक-काल ७८ ई० से प्रारम्भ हुआ था। अतएव भारतवर्ष में शक-राज्य की अन्तिम ज्ञात तिथि ३८८ ई० (३१० + ७८) एवं ३९७ ई० (३१९ + ७८) के बीच निर्धारित होती है। यह तो एक सुविदित तथ्य है कि चन्द्र-गुप्त द्वितीय ने ही इस देश से प्रबल सत्ता-धारी शकों का उन्मूलन किया था। इसी विजय के उपलक्ष में उसने 'विक्रमादित्य', 'विक्रमांक' तथा 'साहसांक' आदि उपाधियाँ धारण की थीं। शक-मुद्राओं के द्वारा प्रकाश में आने वाले तथ्यों के आधार पर उसने उनका अन्तिम विनाश ३८८ ई० एवं ३९७ ई० के बीच किया होगा। गुप्त-वंशीय लेखों से ज्ञात होता है कि उसने, गुप्त संवत् ५६ से लेकर गुप्त संवत् ९६ तक राज्य किया था। ३१९ ई० को गुप्त-काल की प्रवर्तन-तिथि मान लेने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उसने ३७५ ई० से ४१५ ई० तक राज्य किया था। स्पष्ट है कि उसके द्वारा शक-राज्य की उन्मूलन-तिथि (३८८ ई०–३९७ ई०) इसी अवधि (३७५ ई०–४१५ ई०) के बीच पड़ती है। इससे प्रमाणित होता है कि ३१९ ईसवी को गुप्त-संवत् की जन्म-तिथि के रूप में ग्रहण कर लेना तर्क-संगत होगा।

(२) बन्धुवर्मा-कालीन मन्दसोर-प्रशस्ति में मालव-संवत् ४९३ का उल्लेख मिलता है। इसी तिथि के प्रसंग में कुमारगुप्त (प्रथम) का उल्लेख मिलता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। यह तिथि ईसवी सन् ४३६ के बराबर है क्योंकि मालव-संवत् ५७ ई० पू० में प्रचलित किया गया था। गुप्त-अभिलेखों के आधार पर कुमारगुप्त प्रथम ने गुप्त-संवत् ९६ से लेकर गुप्त-संवत् १३६ तक राज्य किया था। उक्त निष्कर्ष के आधार पर उसके शासनकाल की अवधि ४१५ ई० (९६+३१९) से ४५५ ई० (१३६+३१९) तक निर्धारित होती है। मन्दसोर के उपर्युक्त लेख के आधार पर कुमारगुप्त प्रथम की ज्ञात निर्विवाद तिथि (४३६ ई०) इन दोनों सीमा-तिथियों (४१५ ई०–४५५ ई०) के बीच पड़ती है। अतएव प्रतिपादित होता है कि गुप्त-काल की प्रारम्भ-तिथि ३१९ ई० रही होगी।

(३) काठमांडू से लगभग पाँच मील उत्तर-पूर्व में स्थिति मानगृह नामक स्थान से प्राप्त सूर्यवंशी मानदेव के नेपाल-लेख में संवत्सर ३८६ के ज्येष्ठ मास के शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा का उल्लेख मिलता है। इस समय प्रशस्त अभिजित मुहूर्त में चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र से युक्त था (संवत् ३८६ ज्येष्ठ-मास-शुक्ल-पक्षे प्रतिपदि[1] रोहिणी-नक्षत्र-युक्ते चन्द्रमसि मुहूर्ते प्रशस्तेऽभिजिति)। इसमें संवत् का नामोल्लेख नहीं है। कतिपय विद्वानों के अनुसार उक्त तिथि सुप्रसिद्ध गुप्त-संवत् में उल्लिखित है। अतएव ईसवी सन् में यह ७०५ (३८६+३१९) के बराबर निर्धारित होती है। ज्योतिष-गणना के अनुसार २८ अप्रैल ७०५ ई० के मंगलवार के दिवस पर सचमुच ही नक्षत्रों का उक्त प्रकार का संयोग था।[1]

(४) इस स्थान पर काठियावाड़ से प्राप्त मौर्वी का दानपत्र भी विचारणीय हो जाता है। इस लेख को रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने इंडियन ऐंटीक्वैरी के जिल्द २ में प्रकाशित किया था। इसमें दो तिथियों का उल्लेख प्राप्य है। प्रथम तिथि का वर्णन पंक्ति-संख्या १६ में हुआ है। इसमें गुप्त-संवत् ५८५ में सूर्य-ग्रहण के समय दान का उल्लेख प्राप्य है (पंचाशीत्यायुतेऽतीते समानाम् शतपञ्चके १ गौप्ते ददावदो नृपः सोपरागेऽर्कमण्डले)। दूसरी तिथि का वर्णन इस लेख की पंक्ति-संख्या १९ में मिलता है। इस तिथि (संवत् ५८५ के फाल्गुन मास के शुक्ल-पक्ष की पञ्चमी) में यह दान-पत्र उत्कीर्ण कराया गया था। इस लेख की पंक्ति-संख्या ५ में सूर्य-ग्रहण की चर्चा स्पष्ट शब्दों में की गई है (मार्त्तण्ड-मण्डलाश्रयिणि स्वर्भानौ; अर्थात् जिस समय राहु सूर्य-मण्डल पर विश्राम कर रहा था)। ३१९ ई० को गुप्त-संवत् का प्रवर्त्तन-काल मानने पर इस लेख की तिथि ईसवी सन् में (५८५+३१९) ९०४–०५ निर्धारित होती है। ज्योतिष-गणना के आधार पर ९०५ ई० में सूर्य-ग्रहण लगा था।[2]

१. फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ ९५-९७
२. वही, जिल्द, पृष्ठ ९७-९९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(५) महाराज हस्तिन् के मझगावाँ के ताम्र-लेख में गुप्त-सवत् १९१ को 'महाचैत्रसंवत्सर' कहा गया है (एकनवत्युत्तरेऽब्दशते गुप्त-नृपतिराज्यभुवतो श्रीमतिप्रवर्द्धमान-महाचैत्रसंवत्सरे)। उपर्युक्त निष्कर्ष के आधार पर इस लेख की तिथि ५१० ई० (३१९ + १९१) निर्धारित होती है। ज्योतिष-गणना के अनुसार यह वर्ष (५१० ई०) सचमुच ही 'महाचैत्रसंवत्सर' था।[1] उक्त दृष्टान्तों से प्रमाणित होता है कि ३१९ ई० को गुप्त-संवत् की जन्म-तिथि मानना उपलब्ध प्रमाणों के आलोक में सर्वथा समीचीन होगा।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि कतिपय विद्वान् उपर्युक्त निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह एकमात्र अभिलेखीय प्रमाणों एवं ज्योतिष-ग्रन्थों पर ही आश्रित है। इसके निर्धारण की क्रिया में महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उल्लेखों एवं परम्पराओं का उपयोग नहीं किया गया। इस विचारधारा के पोषकों में शामा शास्त्री, हीरालाल अमृतलाल शाह, गोविन्द पाई तथा धीरेन्द्रनाथ मुखर्जी उल्लेखनीय हैं। शामा शास्त्री ने ३१९ ई० वाले मत का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि गुप्त-संवत् लगभग २००–२०१ ई० में प्रचलित किया गया होगा (मैसूर आर्क्यालॉजिकल रिपोर्ट्स, १९२३ में प्रकाशित लेख)। हीरालाल अमृतलाल शाह के अनुसार भी गुप्त-संवत् का प्रथम वर्ष २०० ईसवी रही होगी। गोविन्द पाई[2] एवं धीरेन्द्रनाथ मुखर्जी[3] का भी विचार है कि इस संवत् का प्रवर्तन ३१९ ईसवी के बहुत पहले ही हो चुका था। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) इत्सिंग के अनुसार चिलिकितो (श्रीगुप्त) उसके आगमन के समय से लगभग पाँच शताब्दियों पूर्व राज्य कर रहा था। इस आधार पर उसका काल (६७१ ई०–५००) १७१ ईसवी निर्धारित होता है।

(२) हुयेनसांग लिखता है कि नालन्दा के विश्वविद्यालय की स्थापना बुद्ध के महापरिनिर्वाण के शीघ्र पश्चात् शक्रादित्य, बुधगुप्त एवं बालादित्य के द्वारा की गई थी। इस परम्परा के आधार पर गुप्त-राजवंश का शासन-काल, ३१९ ईसवी वाली गणना पर निर्धारित होने वाली राज्यावधि की तुलना में बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो जाता है।

(३) चीनी यात्री हुएनसांग के अनुसार मिहिरकुल उसके आगमन के कई शताब्दियों पूर्व राज्य कर रहा था। यदि गुप्त-संवत् के प्रचलन की तिथि ३१९

---

१. फ्लीट, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ ११४-१६

२. जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री, जिल्द ११ तथा १२, १९३२-३३

३. दौलतपुर कालेज मैगेजीन, १९३४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ईसवी को मानें, तो इन दोनों के समय में केवल एक ही शताब्दी का अन्तर पड़ता है।

(४) जिनसेनाचार्य (जैन हरिवंश) के अनुसार महावीर के परिनिर्वाण के ७२५ वर्ष उपरान्त गुप्तों ने राज्य करना प्रारम्भ किया था। इससे स्पष्ट होता है कि ३१९ ई० के बहुत पहले से ही गुप्तों ने राज्य करना प्रारम्भ कर दिया था।

(५) फाहियान के यात्राविवरण द्वारा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की जिस सांस्कृतिक दशा का परिचय उपलब्ध होता है, वह अब तक ज्ञात तत्कालीन परिस्थितियों से कहीं-कहीं पर्याप्त रूप में विभिन्न है। उदाहरणार्थ इतिहासकारों का अनुमान है कि गुप्त-काल में श्रावस्ती एक समृद्धिशाली नगर था। इस प्रकार की अवधारणा अशुद्ध है, क्योंकि फाहियान के विवरण से स्पष्ट है कि यह पुर उस समय निर्जन हो चुका था। उक्त कोटि की असमीचीनताओं का एकमात्र कारण यह है कि गुप्त-संवत् के प्रवर्तन की तिथि लोग भ्रमवश ३१९ ईसवी को मानते हैं। इस अशुद्धि के कारण इस राजवंश के अभ्युदय की वास्तविक तिथि अपने यथार्थ समय से लगभग सवा सौ वर्ष उपरान्त निर्धारित हो जाती है।

उपर्युक्त तर्कों के विषय में विशेष रूप से विचारणीय है कि वे बहुधा चीनी यात्रियों (हुएनसांग एवं इत्सिंग) के विवरण पर अवलम्बित हैं। उन्होंने तिथियों का उल्लेख प्रचलित किम्बदन्तियों एवं जनश्रुतियों के आधार पर किया है। प्राचीन भारत में काल-गणना के प्रसंग में साधारण जनता का ज्ञान शोचनीय हुआ करता था। एक ही शताब्दी के कालान्तर को लोग प्रायः कई सदियों की दूरी के अर्थ में ग्रहण कर लेते थे। पुरातन मौखिक कथाओं एवं अनुश्रुतियों के संबन्ध में यह कथन विशेष रूप से चरितार्थ होता है। यही कारण है कि उक्त यात्रियों द्वारा उल्लिखित तिथियाँ प्रामाणिक नहीं हैं। बुद्ध एवं महावीर के परिनिर्वाण की तिथियों के विषय में नाना मत-मतान्तर एवं परम्पराएँ उनके आगमन के समय तक भारत में प्रचलित हो चुकी थीं। अतएव वे श्रद्धेय नहीं हैं। बहुत बाद में चल कर जैन परम्पराओं में भी विषमताएँ आ गई थीं। इस कारण जिनसेन का उपर्युक्त कथन विश्वसनीय नहीं है। गुप्त-नरेश शक, उत्तर-कुषाण, नाग, कदम्ब एवं वाकाटक आदि राजवंशों के समकालीन थे। इन राजकुलों की ज्ञात तिथियों पर विमर्श द्वारा हम इस फल पर आते हैं कि गुप्त संवत् वस्तुतः ३१९ ईसवी में ही प्रचलित किया गया होगा। हम इसके पूर्व विचार कर चुके हैं कि निम्नलिखित निर्विवाद प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त निष्कर्ष की सम्पुष्टि हो जाती है :—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(१) बन्धुवर्माकालीन मन्दसोर-प्रशस्ति :—इसके आधार पर कुमारगुप्त प्रथम मालव-संवत् ४९३ (४३६ ई०) में राज्य कर रहा था।

(२) शक-मुद्राओं के आधार पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा उनके अन्तिम पराजय की तिथि :—शक-संवत् ३१० (३८८ ई०) से लेकर शक-संवत् ३१९ (३९७ ई०)।

(३) शशांक का गंजाम का लेख :—गुप्त-संवत् ३००=६१९ ई०।

कुमारगुप्त प्रथम की ज्ञात तिथियाँ गुप्त-संवत् ९६ से लेकर गुप्त-संवत् १३६ के बीच पड़ती हैं। शामा शास्त्री एवं हीरालाल अमृतलाल शाह के मतानुसार (अर्थात् २०० ईसवी को गुप्त-संवत् की प्रवर्तन-तिथि स्वीकार कर) यदि गणना करें तो उक्त नरेश का राज्य-काल २९६ ई० से लेकर ३३६ ई० तक निर्धारित होता है। यह कालावधि उसके निर्विवाद तिथि ४३६ ई० के बहुत पूर्व पड़ जाती है। परन्तु जब ३१९ ई० वाली गणना के आधार पर हम विचार करते हैं तो उसका राज्य-काल ४१५ ई०—४५५ ई० निर्धारित होता है। मन्दसोर के लेख वाली स्पष्ट तिथि (मावल-संवत् ४९३) ४३६ ईसवी इसी काल के बीच पड़ती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ने गुप्त-संवत् ५६ से गुप्त-संवत् ९६ तक राज्य किया था। २०० ईसवी वाली गणना के आधार पर उसका शासन-काल २५६ ई० (२००+५६) से २९६ ई० (२००+९६) पर्यन्त निर्दिष्ट होता है। यह निष्कर्ष असमीचीन है, क्योंकि उपर्युक्त काल चन्द्रगुप्त द्वितीय की शक-विजय की तिथि (३८८–३९७ ई०) से लगभग एक शताब्दी पूर्व पड़ जाता है। परन्तु इसके प्रतिकूल जब हम ३१९ ईसवी के आधार पर गणना करते हैं तो उक्त नरेश के राज्यकाल की तिथियाँ ३७५ ई० (५६+३१९) से ४१५ ई० (९६+३१९) तक निर्धारित होती हैं। उसके शक-विजय की उक्त ज्ञात तिथि इसी कालावधि के बीच पड़ती है। २०० ईसवी वाली गणना के आधार पर शशांक के गंजाम-लेख की तिथि (३००+२००) ५०० ईसवी निर्दिष्ट होती है। यह निष्कर्ष भ्रान्तिमूलक है क्योंकि शशांक की ज्ञात तिथियाँ ६०६ ई० से ६३७ ई० के बीच पड़ती हैं। ३१९ ईसवी वाली गणना के अनुसार गंजाम-अभिलेख की तिथि (३०० + ३१९) ६१९ ई० निर्दिष्ट होती है। यह शशांक के राज्य-काल की ज्ञात तिथियों के बीच पड़ती है। इस विवेचना के द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष प्रकाश में आते हैं:—

(१) गुप्त-संवत् ३१९ ईसवी के चैत्र के महीने में प्रचलित किया गया होगा।

(२) इसका प्रथम संवत्सर ३१९—२० ईसवी वाला वर्ष रहा होगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(३) गुप्त-संवत् ही कहीं-कहीं वलभी-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

कनिंघम[1] एवं विन्सेन्ट स्मिथ[2] के मतानुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस संवत् को प्रचलित किया था। कुमारदेवी के साथ विवाह के उपरान्त गुप्त-राज्य सुविस्तृत हो गया तथा इस वंश के नरेशों ने सामन्त-स्थिति से ऊपर उठ कर सार्वभौम सत्ता को अधिगत किया था। यह घटना गुप्त-राजकुल के इतिहास में सीमा-चिन्ह की भाँति प्रमुख है। इसी समय उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की तथा अपने वंश-संवत् को प्रचलित किया। रमेशचन्द्र मजूमदार[3] का अनुमान है कि इस संवत् का जन्मदाता समुद्रगुप्त रहा होगा। उसने इसका प्रवर्तन अपने राज्याभिषेक के समय किया होगा। इसीलिए उसके दानपत्रों (नालन्दा एवं गया के ताम्र-लेख) में तिथियाँ गुप्त-संवत् ५ एवं ९ में दी गई हैं। परन्तु इस मत से सहमत होना दुष्कर है। हम परिच्छेदान्तर में विचार कर चुके हैं कि उक्त दोनों ही ताम्रलेख प्रामाणिक नहीं हैं।

फ्लीट का मत है कि जिसे लोग गुप्त-संवत् समझते हैं, वह वस्तुतः लिच्छवि-संवत् है। गुप्त वंश के प्रथम दो नरेश (गुप्त एवं घटोत्कच) सामन्त थे। अतएव वे किसी संवत् को प्रचलित नहीं कर सकते थे। यही तथ्य चन्द्रगुप्त प्रथम के विषय में भी लागू होता है। उसका प्रपौत्र (कुमारगुप्त प्रथम) गुप्त-संवत् १३६ में राज्य कर रहा था। चन्द्रगुप्त प्रथम को गुप्त-संवत् का प्रवर्त्तक मानने पर विश्वास करना पड़ता है कि चार पीढ़ी के शासकों (चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम) का सम्मिलित राज्य-काल १३६ वर्षों के बराबर था। ऐसी परिस्थिति में इन नरेशों का औसत राज्य-काल ३४ वर्षों के लगभग निर्धारित होता है। यह सम्भावना अविश्वसनीय है। फ्लीट की गणना के अनुसार भारतीय राजवंशों के नरेशों का औसत शासन-काल २५ वर्षों से अधिक नहीं हो सकता था। इस संवत् के वास्तविक जन्मदाता लिच्छवि थे। सम्भव है कि इसका प्रचलन उस समय हुआ हो जब कि लिच्छवि गण-राज्य का संगठन राजतंत्र के स्वरूप में परिणित हो गया था। एक अन्य सम्भावना यह भी हो सकती थी कि यह संवत् जयदेव प्रथम के राज्य-काल में प्रचलित किया गया हो। इसी समय नेपाल में लिच्छवि-वंश की एक शाखा राज्य करने लगी थी। गुप्तों ने इसी संवत् को कालान्तर में अपने वंश-संवत् के नाम से सुप्रसिद्ध

---

१. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, ९, २१
२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ २७९-८०
३. वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ १२१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कर दिया था।[1] इस मत के संबन्ध में विचारणीय हो जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम का सम्मिलित राज्य-काल ८० वर्षों के लगभग (गुप्त-संवत् ५६ से गुप्त-संवत् १३६) था। इन दोनों में से प्रत्येक ने ४० वर्षों तक राज्य किया था (चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गु० सं० ५६ से गु० सं० ९६ तक तथा कुमारगुप्त प्रथम ने गु० सं० ९६ से गु० सं० १३६ तक)। इससे प्रमाणित होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम एवं समुद्रगुप्त का सम्मिलित राज्य-काल (१३६-८०) ५६ वर्षों के लगभग रहा होगा। यह तथ्य अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इस स्थान पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि लिच्छवि-संवत् होने की दशा में तिथियों में दी गई संख्याएँ गुप्त-लेखों में उल्लिखित तिथि-संख्याओं से बड़ी होतीं। इसलिये फ्लीट के मत से सहमत होना वास्तविक तथ्यों से रहित होगा।

परमेश्वरी लाल गुप्त का अनुमान है कि इस संवत् का जन्मदाता चन्द्रगुप्त द्वितीय रहा होगा। यदि चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त-संवत् का प्रवर्तन किया होता, तो ऐसी परिस्थिति में समुद्रगुप्त के दोनों ही प्रामाणिक लेख (प्रयाग की प्रशस्ति एवं एरण का शिलालेख) तिथियुक्त हुए होते। गुप्त वंशीय अभिलेखों में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-कालीन मथुरा का स्तम्भ-लेख (गुप्त संवत् ६१) प्रथम प्रामाणिक लेख है, जिसमें तिथि का उल्लेख प्राप्य है। अतएव गुप्त-सवत् का प्रवर्तक इस नरेश को ही मानना समीचीन होगा। उसने इसको अपने पितामह (चन्द्रगुप्त प्रथम) के समय (३२० ई०) से प्रचलित किया होगा; क्योंकि इसी समय गुप्त वंश स्वतंत्र हुआ था। यहाँ पर विचारणीय है कि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति एवं एरण के शिलालेख की अधिकांश पंक्तियाँ लुप्त हो चुकी हैं। सम्भव है कि तिथि का उल्लेख उक्त लेखों के विनष्ट अंशों में किया गया हो। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि गुप्त वंशीय कई प्रशस्तियों में तिथि का उल्लेख नहीं मिलता; उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का उदयगिरि का शैव गुहा-लेख एवं स्कन्दगुप्त-कालीन भितरी का स्तम्भ लेख। चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा वंश-संवत् के प्रवर्तन के अभाव में पराक्रमांक समुद्रगुप्त ने इसे अवश्यमेव प्रचलित किया होता। उपलब्ध सामग्री का उपर्युक्त विश्लेषण प्रमाणित करता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम को ही गुप्त-संवत का वास्तविक संस्थापक मानना सर्वथा समुचित होगा।

---

१. का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ १३६

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट ६

वाकाटक-गुप्त-सम्बन्ध

सातवाहनों के विनाशोपरान्त तृतीय शताब्दी ईसवी के मध्य भाग में वाकाटक-राजवंश का आविर्भाव हुआ था। इसकी स्थापना विन्ध्यशक्ति द्वारा की गई थी। यह कुल अपने समय में दक्षिण (दक्कन) के राजवंशों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वायु एवं ब्रह्मांड पुराणों के अनुसार कोलिकिलों के छियानबे (९६) वर्षों तक शासन कर लेने के अन्तर विन्ध्यशक्ति का अभ्युदय हुआ था।[1] 'कोलिकिल' शब्द के आधार पर कुछ लोगों ने भ्रमवश वाकाटकों की विदेशी उत्पत्ति प्रमाणित करने की चेष्टा की थी। कतिपय इतिहासकारों का अनुमान था कि वाकाटकों का आदि स्थान संभवतः पन्ना राज्य में बहने वाली किलकिला नदी का तटवर्ती प्रदेश रहा होगा। परन्तु ये दोनों ही मत असमीचीन हैं। उक्त पुराणों में विन्ध्यशक्ति एवं कोलिकिल-शक्ति को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् निर्दिष्ट किया गया है।[2]

डॉ० जायसवाल के अनुसार वाकाटकों का आदि स्थान ओरछा रियासत में वर्तमान् 'वागाट' नामक ग्राम रहा होगा। इसका प्राचीन नाम संभवतः 'वाकाट' था, अतएव इस राजवंश का नाम 'वाकाटक' पड़ गया। विन्सेन्ट स्मिथ एवं कुछ अन्य विद्वानों ने भी उनका मूल स्थान उत्तरी भारतवर्ष में निर्दिष्ट किया था। पुराणों में विदिशा (आधुनिक भेलसा अथवा बेसनगर) के नृपतियों (वैदिशिकान् नृपान्) का उल्लेख करते हुए सदाचन्द्र, चन्द्रांश, घनघर्मा, भूतिनन्द एवं नन्दियशस् आदि नरेशों का वर्णन किया गया है।[3] इन्हीं नृपतियों की सूची में वाकाटक-वंश के आदिराज विन्ध्यशक्ति एवं प्रवरसेन (प्रवीर) का भी

---

१. "ततः कोलिकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति।
समा षण्णवतीं ज्ञात्वा पृथिवीं तु समेष्यति॥"
—पार्जिटर, एफ० ई०, डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ४८

२. वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ ९६

३. "भूतिनन्दस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति।
तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशाः किल॥"
—पार्जिटर, वही, पृष्ठ ४९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लेख प्राप्य है। इससे संकेत मिलता है कि वाकाटक-शक्ति मूलतः उत्तरी शक्ति थी। यही कारण है कि इस राजवंश के अभिलेखों की भाषा एकमात्र संस्कृत ही है।

उक्त मत की आलोचना करते हुए डॉ० मिराशी ने निर्दिष्ट किया है कि वाकाटक-ताम्रपटों में प्रयुक्त कई पारिभाषिक संज्ञाएँ पल्लव-ताम्रपटों में भी प्राप्य हैं; उदाहरणार्थ अरट्ठसंविनयिक एवं अभंडप्पावेस। इससे उनका दाक्षिणात्य होना प्रमाणित होता है। प्रवरसेन प्रथम ने 'हारीतिपुत्र' एवं 'धर्म-महाराज' की उपाधियाँ धारण की थीं, जो कि दक्षिणापथ के राजवंशों तक ही सीमित थीं; यथा पल्लव, कदम्ब एवं चालुक्य-कुल। उत्तरी भारत के नरेशों के अभिलेखों में समान उपाधियाँ अप्राप्य हैं। वाकाटकों के लेख दक्षिणापथ से ही मिले हैं। जहाँ तक प्रवरसेन द्वितीय के इन्दौर-ताम्रपट का प्रश्न है, यह इस स्थान पर नहीं प्राप्त हुआ था। पं० वामनशास्त्री (इन्दौर) ने प्राचीन वस्तुओं के संग्रह-प्रयास में इसे अपनी दक्षिणी यात्रा में कहीं से उपलब्ध किया था। तृतीय शताब्दी ईसवी के अमरावती के एक लेख में 'वाकाटक' नामक एक दाक्षिणात्य गृहपति का उल्लेख मिलता है। यह प्राचीनतम लेख है, जिसमें वाकाटक-नामोल्लेख प्राप्य है। डॉ० मिराशी का अनुमान है कि यही गृहस्थ वाकाटक-राजवंश का आदि पुरुष था। इन प्रमाणों से अभिव्यञ्जित होता है कि वाकाटकों का मूल स्थान दक्षिणी भारतवर्ष के ही किसी खण्ड में रहा होगा।[१]

वाकाटक-लेखों के अनुसार इस राजवंश का प्रथम नरेश विन्ध्यशक्ति था। वराहदेव के अजन्ता-गुहालेख में उसे 'द्विज' कहा गया है। इसके अनुसार वह अपने वंश का सम्मान-प्रतीक (वाकाटकवंशकेतुः) था। वाकाटक-लेखों के अनुसार इस वंश के नरेश विष्णुवृद्धि गोत्र के ब्राह्मण थे। अजन्ता के उक्त लेख में उसकी शक्ति का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से हुआ है। इसके अनुसार बड़े युद्धों को जीत कर उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी (महाविमर्द्देष्वभिवृद्ध-शक्तिः)। उसके क्रोध को देवता भी रोक नहीं पाते थे (क्रुद्धसुरैरप्यनिवार्य्य-वीर्यः)। वह इन्द्र के तुल्य प्रभावशाली था (इन्द्रसमप्रभावः)। उसने अपने बाहुबल से सम्पूर्ण लोकों को जीत लिया था (स्वबाहुवीर्य्यार्ज्जितसर्वलोकः)। उसका पुत्र प्रवरसेन (प्रवीर) अत्यन्त शक्तिशाली था। वाकाटक वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् वही माना जाता है। पुराणों के अनुसार उसने शिशुक नामक नरेश को परास्त कर 'पुरिका' पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। वह विदिशा

---

१. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख; पृष्ठ ११-१८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के नाग-नरेश का दौहित्र था।[1] हरिवंश के अनुसार यह पुरी ऋक्षवत् (सतपुड़ा) की उपत्यका (तीर) पर बसी हुई थी।[2] पुराणों में उल्लेख मिलता है कि उसने वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान किया था। काञ्चनका नामक पुरी भी उस प्रतापी के अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित थी। उस दीर्घजीवी ने साठ वर्षों तक राज्य किया था।[3] उसके राज्य-काल के अन्तिम चरण में उत्तरी भारतवर्ष में गुप्त-वंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम शक्ति-संग्रह कर रहा था। दोनों राजकुलों की उपलब्धियों की सुरुचिपूर्ण गाथा इतिहास के पृष्ठों में चिरस्मरणीय रहेगी। उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों के फलस्वरूप तृतीय शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध से लेकर छठी शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध तक लगभग तीन सदियों का युग 'वाकाटक-गुप्त-काल' के नाम से सुप्रसिद्ध है। दोनों ही राजवंशों ने एक-दूसरे के इतिहास की दिशा को निर्धारित किया था। अतएव उनके पारस्परिक संबन्ध का एकत्र परिचय यहाँ अनिवार्य हो जाता है।

कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि प्रारम्भ में दोनों राजवंशों का संबन्ध वैमनस्यपूर्ण था। गुप्त-नरेशों की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी महत्त्वाकांक्षाओं एवं शक्तिविस्तार-योजनाओं ने वाकाटकों के साथ उनके संघर्ष को अवश्यंभावी बना दिया। समुद्रगुप्त ने उनके निकटतम संबन्धी पद्मावती के भारशिव नाग-वंश के नरेश नागसेन को उन्मूलित कर दिया था। वाकाटक-अभिलेखों के अनुसार इस राजवंश का रुद्रसेन प्रथम नामक नरेश भारशिव-नृपति भवनाग का दौहित्र था (भारशिवानाम्महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य)। वाकाटक-राजवंश अपने साम्राज्य-सीमा के सन्निकट अपने ही संबन्धी कुल का यह विनाश सहन नहीं कर सका होगा। बहुत संभव है कि इस कुल ने नागसेन के राज्य की

---

१. "दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्"
—पार्जिटर एफ० ई०, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ४९

२. "ऋक्षवन्तं समभितस्तीरे तत्र निरामये।
निर्मिता सा पुरी राज्ञा पुरिका नाम नामतः॥"
—हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय ९८, श्लोक २१-२२,
द्रष्टव्यः—मिराशी, बा० वि०, वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ २२

३. "विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्।
भोक्ष्यते च समा षष्टिं पुरीं काञ्चनकां च वै॥"
—पार्जिटर, एफ० ई०, वही, पृष्ठ ५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुरक्षा के निमित्त उसे सैनिक सहायता प्रदान की हो। इस घटना के कारण वाकाटकों एवं गुप्तों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध भी छिड़ सकता था। अपने सामन्तों के उन्मूलन को रोकने एवं हर्ष की आक्रामक-नीति को अवरुद्ध करने के लिए ही उसके साथ पुलकेशिन् द्वितीय का संघर्ष हुआ था। मध्य प्रदेश के कुछ भागों (रींवा तथा सागर ज़िलों) में वाकाटक-सामन्त राज्य कर रहे थे। समुद्रगुप्त ने इन माण्डलिकों को परास्त कर उनके राज्यों को अपहृत कर लिया था। अतएव संशय का उठना स्वाभाविक ही है कि इसे वाकाटक-वंश उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता था। इस कुल के समकालीन नरेश ने समुद्रगुप्त के महत्त्वाकांक्षी अभियान के विरुद्ध उत्तरी भारत में राज्य करने वाले अपने अधीनस्थ शासकों को बचाने के निमित्त सक्रिय प्रयास किया होगा। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ-अभियान में बारह नरेशों को परास्त किया था। उनमें से अधिकांश के राज्य वाकाटक-साम्राज्य की सीमाओं के सन्निकट वर्तमान थे। अपने पड़ोसी राज्यों के विलय की चेष्टा के प्रति उदासीन रहना वाकाटकों की एक राजनीतिक भूल होती। समुद्रगुप्त का क्रमशः बढ़ता हुआ प्रभाव उनके लिए किसी दिन घातक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता था। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार उसने दक्षिणापथ के सम्पूर्ण नरेशों को परास्त कर दिया था (सर्वदक्षिणापथ-राजग्रहण)। इससे विश्वास उत्पन्न होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभ्युदय के पूर्व दोनों राजवंशों के बीच राजनीतिक प्रश्नों को लेकर निर्णयात्मक युद्ध अवश्यम्भावी हो गया होगा।

उक्त सम्भावना के प्रमुख समर्थकों में यस० के० आयन्गर एवं काशीप्रसाद जायसवाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एनाल्स ऑफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट (जिल्द ४) में प्रकाशित एक लेख में श्री आन्यगर ने निम्न-लिखित तथ्यों की ओर इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया था :—

(१) चतुर्थ शताब्दी ईसवी के प्रारम्भिक चरण में वाकाटक-प्रवरसेन प्रथम विशेष रूप से शक्तिशाली था। इस वंश का सर्वश्रेष्ठ नरेश वस्तुतः वही था। इस प्रतापी नरेश ने चार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उसके काल में सप्तसोम यज्ञों का पुनरुद्धार हुआ था; उदाहरणार्थ अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। इन यज्ञों के सम्पादन के अनन्तर उसने 'सम्राट्' की उपाधि धारण कर ली। उत्तरी अथवा दक्षिणी भारतवर्ष में किसी अन्य नरेश ने इस उपाधि को नहीं धारण की थी।[1] यह उपाधि प्रवरसेन प्रथम की सार्वभौम सत्ता का प्रतिनिधित्व करती

१. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ २२ (वासुदेव विष्णु मिराशी)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। वाकाटक-लेख में उसके उत्तराधिकारी रुद्रसेन को केवल 'महाराज' की उपाधि प्रदान की गई है। हम इसके पूर्व निर्दिष्ट कर चुके हैं कि यह उपाधि प्रायः माण्डलिकों के द्वारा भी धारण की जाती थी। इससे लगता है कि प्रवरसेन प्रथम के उपरान्त वाकाटकों की शक्ति का आकस्मिक पतन हुआ। यही कारण है कि उसके उत्तराधिकारी ने सार्वभौम-सत्तासूचक 'सम्राट्' की उपाधि का परित्याग कर माण्डलिक-उपाधि 'महाराज' को धारण किया था।

(२) परन्तु इसी समय उत्तरी भारतवर्ष में इसके प्रतिकूल स्थिति देखने को मिलती है। गुप्त-वंशीय नरेश चन्द्रगुप्त ने चतुर्थ शताब्दी ई० के प्रारम्भिक भाग में 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। उसके पूर्वज केवल 'महाराज' कहलाते थे। इससे प्रतिपादित होता है कि इस समय गुप्त-वंश ने माण्डलिक स्थिति से ऊपर उठ कर सार्वभौम सत्ता को प्राप्त कर लिया।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या ये दोनों घटनाएँ एक दूसरे से संबन्धित हैं? क्या वाकाटकों का अधःपतन ही गुप्तों के उत्कर्ष का कारण था? जिस समय प्रभावशाली वाकाटकों को नीचे गिर कर सामन्त-स्थिति को हम प्राप्त होते हुए पाते हैं, उसी काल में गुप्त-वंश अधीनस्थता से उन्मुक्त होकर चक्रवर्ती राजवंश का स्वरूप-धारण करते दृष्टिगोचर होता है। इस तथ्य से इंगित होता है कि जिस शक्ति ने वाकाटकों को आघात पहुँचाया था, वह गुप्त-शक्ति ही थी। चन्द्रगुप्त प्रथम के मार्ग में वाकाटक सबसे बड़े बाधक थे। उसने अपनी संगठन-प्रतिभा द्वारा क्रमशः शक्ति-संचय करते हुए इस राजवंश को किसी प्रत्यक्ष युद्ध में गहरा धक्का पहुँचाया। इस सफलता द्वारा उसने उत्तरी भारतवर्ष से उनके प्रभाव को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया होगा। यही घटना गुप्त वंश के दूरतर उत्कर्ष का सबल कारण सिद्ध हुई थी।[1]

काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व वाकाटक राजवंश के साथ गुप्तों का युद्ध हुआ था। उनके अनुसार वाकाटक-शक्ति को वास्तविक आघात पहुँचाने वाला सम्राट् समुद्रगुप्त था। परन्तु उसके पूर्व वाकाटकों ने ही गुप्त-सत्ता को गहरी क्षति पहुँचाई थी। उनका यह मत उस भ्रान्ति-

---

९. "The rise of the Guptas to the imperial position must be vitally connected with the fall of Rudrasena I from that high status":

—एनाल्स ऑफ भंडारकार ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द ४, पृष्ठ ४०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मूलक अवधारणा पर आश्रित है, जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम एवं कौमुदी-महोत्सव के चण्डसेन एक ही व्यक्ति थे। प्रवरसेन ने उसकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को सर्वदा के लिए ध्वस्त कर दिया। उसने मगध-राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर उसे वहाँ से सदा के लिए निष्कासित कर दिया और अपने आश्रित के रूप में कल्याणवर्मा को राज्याभिषिक्त कराया। उसका अभिषेक-संस्कार पाटलिपुत्र के सुगांग नामक राजप्रासाद में बड़े ही ठाटबाट से सम्पन्न हुआ था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम (चण्डसेन) के राजकुल का उन्मूलन तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का पुनरुद्धार किया गया था (प्रकटितवर्णाश्रमपथ-मुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्)। डॉ० जायसवाल के अनुसार कल्याणवर्मा आद्योपान्त वाकाटकों का अत्यन्त ऋणी था। कौमुदीमहोत्सव में उल्लेख मिलता है कि जिस समय सुन्दरवर्मा चण्डसेन द्वारा मार डाला गया था, उस समय वह अपने पिता के प्राज्ञ एवं स्वामिभक्त मन्त्रियों द्वारा बड़ी ही निपुणता के साथ पम्पासर पहुँचा दिया गया जो कि विन्ध्य की पर्वत-श्रेणी के समीप स्थित था। यह क्षेत्र वाकाटकों के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। यहीं पर कल्याणवर्मा उनके द्वारा दी गई सुरक्षा के वातावरण में संवर्द्धित किया गया था। प्रवरसेन की चेष्टाओं के फलस्वरूप ही उसे अपने पिता की खोई हुई गद्दी को पुनः प्राप्त करना संभव हो सका था।

निष्कासन-काल में चण्डसेन (चन्द्रगुप्त प्रथम) की मृत्यु हो गई, जिसकी सम्पुष्टि प्रयाग की प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक द्वारा होती है। इसके शब्दों से अभिव्यञ्जित होता है कि जीवन के अन्तिम क्षणों में वह अपना राज्य खो चुका था तथा मृत्यु-शय्या पर शोक से अत्यन्त विह्वल पड़ा हुआ था। इस राज्यभ्रष्ट एवं लुप्तधैर्य नरेश ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करते हुए अपने अपहृत राज्य के पुनरुद्धार का उत्तरदायित्व उसके ऊपर सौंपा था। उस समय उसके अन्य राजकुमार एवं सभासद उपस्थित थे। मगध के छिन जाने के कारण समुद्रगुप्त की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त साधारण सी थी। इस समय उसके राज्य में केवल अवध-जनपद ही सम्मिलित था। अपने जीवन के इसी काल में उसने 'व्याघ्र-निहन्ता' कोटि की मुद्राओं को प्रचलित किया, जिन पर उसकी उपाधि 'महाराज' अंकित है। प्रतिभाशाली समुद्रगुप्त ने प्रवरसेन की मृत्यु का लाभ उठाया। उसने अपनी शक्ति को सुविस्तृत कर प्रवरसेन के उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम को परास्त कर दिया और इस रूप में उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया था। डॉ० जायसवाल के अनुसार इसी नरेश को प्रयाग की प्रशस्ति में रुद्रदेव कहा गया है। वाकाटक-वंशी नरेश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होने के कारण ही उसे उक्त लेख में नव नरेशों की सूची में प्रथम स्थान पर उल्लिखित किया गया है। यह लड़ाई कौशाम्बी में ३४८ ई० के लगभग हुई थी। इस युद्ध में रुद्रसेन प्रथम मार डाला गया। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय की प्रशस्ति कौशाम्बी-स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराई थी। यह महत्त्वपूर्ण स्तम्भ वहाँ अशोक के समय से ही वर्तमान् था तथा कालान्तर में प्रयाग स्थानान्तरित किया गया। इस पराजय के परिणामस्वरूप वाकाटकों के राज्य से बघेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, छोटा नागपुर, छत्तीसगढ़ तथा आन्ध्र प्रदेश आदि निकल गए। इन भागों में वे अपने माण्डलिकों के माध्यम से राज्य करते थे। इस गहरी हार के कारण वाकाटक चक्रवर्ती (सम्राट्) की स्थिति से नीचे गिर कर सामन्त-स्थिति को प्राप्त हो गए थे। यही कारण है कि इस तिथि से इस वंश के नरेशों ने महाराजाधिराज अथवा सम्राट् के स्थान पर महाराज की उपाधि को धारण करना प्रारम्भ कर दिया था।[1]

डॉ० जायसवाल एवं श्री आयन्गर के उपर्युक्त तर्कों की गहराई के साथ छानबीन की आवश्यकता है। इस संबन्ध में निम्नलिखित तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हो जाते हैं —

(१) हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि कौमुदीमहोत्सव ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। थोड़ी देर के लिए यदि कौमुदीमहोत्सव को ऐतिहासिक मान्यता हम प्रदान भी कर दें, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कल्याणवर्मा वाकाटकों की सहायता से मगध की गद्दी नहीं प्राप्त कर सका था। कौमुदीमहोत्सव में इस सम्बन्ध में वर्णित घटनाएँ कुछ और ही हैं। इस ग्रन्थ में राज्य को वापस दिलाने का श्रेय कल्याणवर्मा के पिता के महाप्राज्ञ सचिवों की कूटनीति को प्रदान किया गया है। जब चण्डसेन ने सुन्दरवर्मा की निर्मम हत्या कर मगध की गद्दी को प्राप्त कर ली, उस समय उसके मन्त्रियों ने इसके राज्य के प्रत्यन्त भागों में उसके विरुद्ध विद्रोह करा दिया था। परिणामतः चण्डसेन को विद्रोह-दमन के उद्देश्य से अपनी राजधानी को छोड़कर सीमावर्ती प्रदेश में जाना पड़ा था। पाटलिपुत्र (कुसुमपुर) में उसकी इस अनुपस्थिति का लाभ उठा कर इन मन्त्रियों ने कल्याणवर्मा के पक्ष का समर्थन करने वाली वहाँ की पुर-सभा (पौर) की बहुमूल्य सहायता द्वारा उसका पैत्रिक राज्य वापस

---

१. देखिये, डॉ० जायसवाल का लेख, जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १९, पृष्ठ ११७-१८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दिला दिया। विचारणीय है कि कौमुदीमहोत्सव में आद्योपान्त वाकाटकों का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं है।

(२) दुष्ट एवं अपहारक चण्डसेन का जीवनचरित सदाशय चन्द्रगुप्त (प्रथम) की प्रकृति का विपर्यय था।

(३) चण्डसेन अपने बन्धु-बान्धवों सहित मार डाला गया था। फलतः उसकी वंश-परम्परा उसी समय समाप्त हो गई। परन्तु उसके प्रतिकूल चन्द्रगुप्त प्रथम के उत्तराधिकारी नरेशों ने दीर्घ काल तक यशस्वी सम्राटों के रूप में राज्य किया था।

(४) डॉ० जायसवाल द्वारा प्रदत्त प्रयाग-प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक की व्याख्या स्वाभाविक नहीं मानी जा सकती। इसकी पंक्तियाँ एक प्रभावशाली सम्राट् के राजदरबार के ऐश्वर्य-युक्त वातावरण का समग्र चित्र पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। सभासदों एवं राजकुमारों से परिपूर्ण उस सजी-धजी सभा को बुलाने का मूल उद्देश्य उत्तराधिकारी का निर्वाचन था। उसे समुद्रगुप्त की योग्यताओं में पूर्ण भरोसा था। उक्त श्लोक के अनुसार पिता द्वारा वह आदिष्ट किया गया कि तुम मेरे राज्य का पालन उसी भाँति करना, जिस प्रकार मैंने किया है। इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का राज्य उसके जीवन के अन्तिम क्षणों तक सुरक्षित था। विचारणीय हो जाता है कि सम्पूर्ण प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त की मृत्यु की कहीं भी चर्चा नहीं की गई है। इसके चतुर्थ श्लोक के आधार पर अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि उस समय पुत्र का राज्याभिषेक कर लेने के अनन्तर चन्द्रगुप्त ने वैराग्य-ग्रहण कर लिया होगा। उसकी समस्त योजनाएँ पूर्ण हो चुकी होंगी। अत्यधिक वृद्ध हो जाने के कारण उसमें अब कोई भी महत्त्वाकांक्षा अवशिष्ट न रही होगी। अतएव वर्णाश्रम-व्यवस्था के नियमों का अवलम्बन करते हुए उस धर्मनिष्ठ ने संन्यास ले लिया होगा। डॉ० जायसवाल का यह अनुमान सर्वथा भ्रान्तिमूलक है कि चन्द्रगुप्त अपने वैरियों के हाथ अपना पूरा राज्य खो चुका था। ऐसी परिस्थिति में उसके द्वारा उत्तराधिकारी चुनने की कोई आवश्यकता नहीं थी। समुद्रगुप्त के निर्वाचित होने पर उसके भाइयों के मन में किसी भी प्रकार के खेद के उठने का प्रश्न नहीं उठ सकता था।

(५) प्रयाग की प्रशस्ति का रुद्रदेव वाकाटक-रुद्रसेन के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। वाकाटक-राजवंश मूलतः दक्षिणी राजवंश था, जिसके सौहार्द को जीतने के निमित्त कालान्तर में गुप्तों ने वैवाहिक-संबन्ध की स्थापना की थी। परन्तु रुद्रदेव प्रशस्ति-लेखक हरिषेण के अनुसार आर्यावर्त-नरेश था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यदि समुद्रगुप्त ने अपने समकालीन वाकाटक-नरेश को परास्त किया होता, तो इस तथ्य का उल्लेख इस अभिलेख में रोचक एवं सजीव ढंग से हुआ होता। कुषाणों ने नाममात्र के लिए समुद्रगुप्त की प्रभुता को स्वीकार किया था, तथापि पूर्ण उपाधियों के सहित उनका उल्लेख हुआ है। यहाँ तक कि नाग-वंशी नागसेन का नामोल्लेख इस अभिलेख में दो बार (पहले पद्यांश एवं तदुपरांत गद्यांश में भी) हुआ है। इसमें तत्कालीन छोटी-बड़ी विविध शक्तियों के उल्लेख प्राप्य हैं। वाकाटक-पराजय की परिस्थितियों में इस घटना का थिरकता हुआ वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति में कुछ उसी भाँति उपलब्ध होता, जिस प्रकार पुल्केशिन् द्वितीय के ऐहोले के लेख में उसके हर्ष-विजय का सजीव निरूपण हुआ है। ऐसी दशा में प्रयाग-प्रशस्ति की कुछ पंक्तियाँ इस तथ्य से ही संबन्धित होतीं। इसका समुचित एवं उभड़ा रूप प्रस्तुत करते समय हरिषेण की काव्य-प्रतिभा कहीं अधिक निखर उठती। वास्तव में वाकाटकों के विषय में इस कवि का मौन रह जाना ही इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उनके साथ समुद्रगुप्त का कोई भी युद्ध नहीं हुआ था। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार आर्यावर्त्त-युद्ध में रुद्रदेव इस महत्वाकांक्षी गुप्त सम्राट् द्वारा उन्मूलित हो चुका था। वाकाटक वंश इतना सशक्त था कि इसका विनाश किसी भी समकालीन शक्ति के द्वारा संभव नहीं था। इस राजकुल के नरेशों ने अपने लेखों में गुप्त-संवत् का प्रयोग नहीं होने दिया। गुप्तों के माण्डलिक तिथि-गणना इसी संवत् में करते थे। समुद्रगुप्त का समकालीन पृथिवीषेण प्रथम रहा होगा, जिसका सिंहासनारोहण ३५०ई० के लगभग हुआ था। अतएव वाकाटक रुद्रसेन प्रथम के साथ प्रयाग-प्रशस्ति के रुद्रदेव का समीकरण असम्भव प्रमाणित होता है।

(६) 'व्याघ्र-निहन्ता' कोटि की मुद्राओं पर प्राप्य 'राजा' की उपाधि के आधार पर यह सिद्ध करना भ्रान्तिमूलक होगाकि समुद्रगुप्त वाकाटक-माण्डलिक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त प्रथम की कतिपय मुद्राओं पर उनके लिए केवल 'महाराज' की उपाधि अंकित मिलती है। परन्तु इसके आधार पर इनकी अधीनस्थता नहीं प्रमाणित की जा सकती। विचारणीय है कि उनकी कुछ मुद्राओं पर उन्हें 'महाराज' भी नहीं उल्लिखित किया गया है। यदि डॉ० जायसवाल के तर्क को यहाँ लागू किया जाय, तो निष्कर्ष निकलता है कि उक्त दोनों ही नरेश माण्डलिक-स्थिति से भी नीचे गिर कर साधारण नागरिक की कोटि में आ गए होंगे। इस प्रकार की सम्भावना सर्वथा अचिन्त्य है। अपने राज्य-काल के अन्तिम क्षणों तक वे चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में विराजमान थे।

(७) प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित दक्षिणापथ-नरेशों की सूची भी यहाँ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर विचारणीय हो जाती है। हरिषेण ने दक्षिणी भारतवर्ष में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजाओं का उल्लेख सतर्कता के साथ किया है। उक्त तालिका में छोटे-बड़े बारह नरेशों के नाम उत्कीर्ण हैं, परन्तु उसमें सबसे शक्तिशाली दक्षिणी राजवंश (वाकाटक-कुल) का उल्लेख अप्राप्य है। यदि वाकाटकों के साथ उसका प्रत्यक्ष युद्ध हुआ होता, तो इस महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति में बड़े ही रोचक ढंग से हुआ होता। डॉ० जायसवाल के अनुसार प्रवरसेन भारत का सार्वभौम सम्राट् था। उसका साम्राज्य पुरुषपुर से लेकर काञ्ची तथा द्वारका से लेकर मगध तक विस्तीर्ण था। यह मत निर्विवाद रूप से अतिरञ्जित है। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार इस विशाल भू-भाग के बीच नाना-नृपति एवं गण-राज्य वर्तमान थे। गणपतिनाग एवं नागसेन-सदृश नृपतियों तथा मालव एवं यौधेय आदि तत्कालीन विविध शक्तियों के राज्य उक्त विस्तृत प्रदेश में वर्तमान थे। यदि किञ्चित् काल के लिए डॉ० जायसवाल के मत को हम सही मान ही लें, तो विचारणीय हो जाता है कि इस दशा में वाकाटक-वंश का उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में अनिवार्य हो जाता। समुद्रगुप्त अपने आश्रित कवि हरिषेण को अपनी विजय का रोमाञ्चकारी निरूपण करने के लिए आदेश देता। नव नरेशों की सूची में केवल रुद्रदेव के रूप में ही सम्मिलित कर वाकाटक छोड़े नहीं जा सकते थे। 'सर्व्व-दक्षिणापथ-राजग्रहण' से निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं होगा कि समुद्रगुप्त ने उन्हें परास्त कर दिया था। प्रयाग-प्रशस्ति में 'सर्व-द्वीप-वासिभिः' का भी उल्लेख हुआ है। इससे हम यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि उसने विश्व के सभी द्वीपों के शासकों को सहायक सन्धि मान लेने के हेतु बाध्य किया था।

(८) जे० एफ० फ्लीट एवं दिनेशचन्द्र सरकार ने प्रयाग की प्रशस्ति के व्याघ्रराज का समीकरण वाकाटक-माण्डलिक व्याघ्रदेव के साथ किया है। नचना की तलाई और गंज के शिलालेखों के अनुसार वह वाकाटक-महाराज पृथ्वीषेण का सामन्त था। उक्त अभिलेखों की प्राप्ति के आधार पर ज्ञात होता है कि वह बुन्देलखंड में जासो एवं अजयगढ़ नामक भूतपूर्व रियासतों वाले क्षेत्रों में राज्य कर रहा था। समुद्रगुप्त द्वारा व्याघ्रराज (व्याघ्रदेव) के पराजय के कारण गुप्त-वाकाटक-संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया होगा। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि व्याघ्रराज का व्याघ्रदेव के साथ तादात्म्य विवादास्पद एवं संदिग्ध है। वाकाटक-सामन्त व्याघ्रदेव उत्तरी भारतवर्ष में बुन्देलखंड में राज्य कर रहा था। प्रयाग की प्रशस्ति के अनुसार व्याघ्रराज दक्षिणापथ का शासक था। इस लेख में दक्षिण भारत की सूची में सर्वप्रथम कोसल के महेन्द्र का उल्लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। तदुपरान्त महाकान्तार के व्याघ्रराज का नाम इसमें उल्लिखित है। कोसल से तात्पर्य दक्षिण कोसल से है; जिसमें आधुनिक बिलासपुर, रायपुर एवं सम्मलपुर आदि जिले स्थित थे। समुद्रगुप्त के काल में इसकी राजधानी श्रीपुर में वर्तमान थी, जिसका तादात्म्य रायपुर के समीप स्थित सिरपुर से की जाती है। व्याघ्रराज के द्वारा शासित महाकान्तार दक्षिण कोसल से लगा होगा। प्रशस्तिकार हरिषेण ने दक्षिणापथ-राज्यों का उल्लेख भौगोलिक क्रम को दृष्टि में रख कर किया होगा। अतएव महाकान्तार की स्थिति संभलपुर के सन्निकट कहीं उड़ीसा में निर्दिष्ट होती है। रमेशचन्द्र मजूमदार ने महाकान्तार को उड़ीसा में स्थित वनमय क्षेत्र जयपुर के साथ समीकृत किया है। इसको एक प्राचीन लेख में 'महावन' कहा गया है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि व्याघ्रराज एवं व्याघ्रदेव के बीच तादात्म्य स्थापित कर वाकाटकों के साथ समुद्रगुप्त का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष युद्ध सिद्ध करने की चेष्टा भ्रान्तिमूलक होगी।

(६) यदि हम डॉ० जायसवाल के मत को थोड़ी देर के लिए सही मान ही लें (अर्थात् रुद्रदेव एवं रुद्रसेन प्रथम एक ही व्यक्ति हैं और यह वाकाटक-नरेश किसी आर्यावर्त्त-युद्ध में समुद्रगुप्त द्वारा मार डाला गया था), तो हमारे समक्ष एक मूलभूत समस्या खड़ी होती है। रुद्रसेन प्रथम के पौत्र (पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र) रुद्रसेन द्वितीय का विवाह समुद्रगुप्त की पौत्री प्रभावतीगुप्ता के साथ हुआ था। यह अस्वाभाविक सा है कि पृथिवीषेण ने अपने पिता के हत्यारे के कुल में अपने युवराज का विवाह किया होगा। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि राजनीति में भावुकता विशेष महत्त्व नहीं रखती। हर्ष ने अपने द्वारा पराजित वलभी-नरेश के साथ अपनी पुत्री का विवाह किया था। पृथिवीषेण प्रथम के काल में गुप्त-राजवंश की शक्ति विशेष उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। अतएव इस उदीयमान कुल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेना उसने तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में समुचित समझा होगा। उसने व्यावहारिक दृष्टि से गुप्त-कुल के विवाह-प्रस्ताव को मान्यता प्रदान कर दी होगी। वह क्षमाशील स्वभाव का व्यक्ति रहा होगा। यही कारण है कि समस्त वाकाटक-लेखों में उसे 'युधिष्ठिर-वृत्ति' का अवलम्बन करने वाला कहा गया है। परन्तु यहाँ इस विवेचन का पूर्व पक्ष पुनः विचारणीय हो जाता है। पृथिवीषेण गुप्तों के द्वारा अपने पिता की हत्या को भूल न पाता तथा उक्त विवाह-प्रस्ताव को वह तिरस्कृत कर देता। पैतृक हार एवं निधन का बदला लेने के निमित्त मौखरियों एवं उत्तर-गुप्तों में परम्परागत युद्ध-क्रम कई दशकों तक चलता रहा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(१०) यहाँ पर श्री आयन्गार द्वारा उठाए हुए संशय पर भी विचार कर लेना युक्ति-संगत होगा। प्रवरसेन प्रथम के उपरान्त उसके तात्कालिक उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम ने सम्राट् के स्थान पर महाराज की उपाधि क्यों धारण की थी ? यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि महाराज एवं महाराजाधिराज की उपाधियों में विभेद स्थापित करना एक विदेशी परम्परा थी। भारतवर्ष में सर्वप्रथम गुप्त-राजवंश ने इस प्रथा को अपना लिया था। तदुपरान्त उत्तरी भारत के आनुक्रमिक राजकुलों में भी महाराज की उपाधि साधारण शासकों—बहुधा माण्डलिकों—द्वारा धारण की जाने लगी। परन्तु प्रभावशाली एवं चक्रवर्ती आर्यावर्त्त-नरेश 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण करने लगे। उदाहरणार्थ मौखरि-अभिलेखों में इस राजवंश के प्रथम तीन नरेशों (हरिवर्मा, आदित्यवर्मा एवं ईश्वरवर्मा) के लिए 'महाराज' की उपाधि प्रयुक्त मिलती है। वे सम्राट् गुप्तों के सामन्त थे। परन्तु उक्त कुल के चतुर्थ नरेश ईशानवर्मा को—जो महान् एवं स्वतन्त्र था—इनमें 'महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है।

परन्तु दक्षिणी भारतवर्ष में इस प्रथा का उद्गम सातवीं शताब्दी (पुलकेशिन् द्वितीय के समय) तक नहीं हो सका था। यही कारण है कि दक्षिणापथ के चक्रवर्ती भूपति भी केवल 'महाराज' की ही उपाधि धारण करते थे। उदाहरणार्थ विविध अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान-कर्ता इक्ष्वाकु-वंशी शान्तिमूल नामक नरेश की उपाधि 'महाराज' थी। विष्णुकुण्डिन् वंश के नरेश महेन्द्रवर्मा प्रथम ने ग्यारह अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन किया था। परन्तु उसकी उपाधि केवल 'महाराज' थी। चालुक्य-लेखों में यशस्वी सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय को 'महाराज' की उपाधि से ही विभूषित किया गया है। कदम्ब एवं पल्लव-अभिलेखों में विविध चक्रवर्ती नरेशों के लिए इसी उपाधि का प्रयोग मिलता है, यद्यपि उनकी अधीनस्थता में कई सामन्त नरेश राज्य करते थे। उपर्युक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि प्रवरसेन प्रथम के उत्तराधिकारियों की 'महाराज' की उपाधि के आधार पर उन्हें माण्डलिक नहीं प्रमाणित किया जा सकता। श्री आन्यगर एवं डॉ० जायसवाल के मतानुसार वाकाटक वंश उनके समय से गुप्तों की अधीनस्थता स्वीकार करने लगा था। परन्तु इसके निमित्त रञ्चमात्र भी सम्भावना नहीं हो सकती थी। ऐसी परिस्थिति में वाकाटक नरेश अपने लेखों में गुप्त-संवत् का प्रयोग करते एवं उनकी सम्प्रभुता का वर्णन भी करते।

(११) अब हमारे समक्ष प्रश्न यह खड़ा होता है कि प्रवरसेन प्रथम के उत्तराधिकारियों ने सम्राट् के स्थान पर महाराज की उपाधि क्यों धारण की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थी ? इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए डॉ० अल्तेकर ने निर्दिष्ट किया है कि इसके राजनीतिक एवं धार्मिक दोनों ही कारण थे । राजनीतिक कारण यह था कि प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य उसके चारों पुत्रों में विभक्त हो गया था (तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः)।[1] पुराणों के इस कथन को इतिहासकार पहले अश्रद्धेय समझते थे । परन्तु वाशीम के ताम्रलेख एवं अजन्ता की सोलहवीं गुहा के लेख के प्रकाश में आने पर यह प्रमाणित हो गया कि प्रवरसेन की मृत्यु के अनन्तर वाकाटकों की एक अन्य शाखा भी राज्य करती थी । ज्येष्ठ शाखा का प्रधान अधिष्ठान नागपुर जिले में स्थित आधुनिक नगरधन (नन्दिवर्धन) नामक स्थान में वर्तमान था । कनिष्ठ शाखा की राजधानी अकोला जिले में वर्तमान वाशीम (प्राचीन वत्सगुल्म) में स्थित थी । डॉ० मिराशी का तो यहाँ तक कहना है कि प्रवरसेन प्रथम के अनन्तर वाकाटक-साम्राज्य सचमुच ही चार भागों में विभक्त हो गया था, जैसा कि पुराणों में संकेत किया गया है । नन्दिवर्धन एवं वत्सगुल्म-शाखाओं के अतिरिक्त इसकी दो अन्य शाखाएँ भी थीं, जिनको कि हम तृतीय एवं चतुर्थ शाखा कह सकते हैं । नन्दिवर्धन-शाखा में उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम आता था । प्रवरसेन के ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र के निधन के कारण उसका पौत्र (अर्थात् रुद्रसेन) उक्त राज्य की गद्दी पर अभिषिक्त हुआ था । वह भारशिव महाराज भवनाग का दौहित्र था । उत्तरी विदर्भ इसी राज्य में सम्मिलित था । प्रवरसेन के द्वितीय पुत्र सर्वसेन ने वत्सगुल्म में अपनी राजधानी स्थापित की थी । दक्षिणी विदर्भ इसी राज्य के अन्तर्गत आता था । वाशीम-ताम्रपट में प्रवरसेन, पुत्र सर्वसेन एवं पौत्र विन्ध्यशक्ति (द्वितीय) का उल्लेख प्राप्य है (हीरीतिपुत्रस्य श्रीप्रवरसेनपौत्रस्य धर्म्ममहाराजस्य श्रीसर्व्वसेनपुत्रस्य धर्म्म-महाराजस्य वाकाटकानां श्रीविन्ध्यशक्तेर्व्वचनात्) । तृतीय शाखा कृष्णा नदी की घाटी में उत्तरी कुन्तल के किसी भाग पर संभवतः राज्य करती थी । चतुर्थ शाखा का राज्य संभवतः आधुनिक छत्तीसगढ़ में वर्तमान था । लगता है कि अन्तिम दोनों (तृतीय एवं चतुर्थ) शाखाओं का राज्य-काल अत्यल्प था । यही कारण है कि इनके अभिलेख अप्राप्य हैं ।[2] वाकाटकों की शक्ति साम्राज्य-विभाजन के परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से क्षीण हो गई होगी । इसी बीच उत्तरी भारतवर्ष में गुप्त-शक्ति बड़े ही वेग के साथ बढ़ रही थी । समुद्रगुप्त ने काफी उथल-पुथल मचा रखा था । यहाँ तक कि दक्षिणी भारत को भी

---

१. इंडियन कल्चर, जिल्द ९, पृष्ठ १०५-०६

२. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ २५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसने अछूता नहीं छोड़ा। वाकाटक-राज्यों में कोई भी इतना सशक्त नहीं था कि वह समुद्रगुप्त को चुनौती देता। समुद्रगुप्त के साथ लोहा न लेने में ही उनका कुशल था।

सम्राट् की उपाधि नहीं धारण करने का धार्मिक कारण भी था। धर्म-ग्रन्थों के अनुसार वही नरेश 'सम्राट्' की उपाधि धारण कर सकता था, जिसने कि वाजपेय यज्ञ का अनुष्ठान किया हो। अतएव इसे 'सम्राट्-सव' कहा जाता था।[1] पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम ने वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान किया था तथा इन अवसरों पर उसने प्रभूत दक्षिणाएँ दी थीं (यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः)।[2] इस कारण वह 'सम्राट्' की उपाधि द्वारा विभूषित था। उसके उत्तराधिकारियों को तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण वाजपेय यज्ञ करने का अवसर उपलब्ध नहीं हुआ था। अतएव नियमानुसार वे इस उपाधि को नहीं धारण कर सकते थे। इस तथ्य को लेकर उन्हें माण्डलिक सिद्ध करने की चेष्टा भ्रान्तिमूलक होगी।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के समय तक गुप्तों एवं वाकाटकों के बीच किसी प्रकार का युद्ध नहीं छिड़ा था। समुद्रगुप्त अत्यन्त दूरदर्शी था। वह जानता था कि वाकाटकों के साथ संघर्ष लेने में उसका कोई लाभ नहीं था। पाटलिपुत्र को आधार बना कर सुदूर दक्षिण के विभिन्न भागों पर नियंत्रण स्थापित करने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं। यही कारण है कि उसने दक्षिण भारत के पराजित सभी नरेशों के राज्यों को उन्हें लौटा दिया था। कालान्तर में मुगल-सम्राटों ने इस सूक्ष्मदर्शिता की कमी दिखाई थी। बीजापुर एवं गोलकुण्डा की रियासतों को जीतने के प्रयास में मुगल-राजकोष एवं साधनों पर गहरा आघात पहुँचा था। इतिहासकारों ने इसे "दक्कन-कैन्सर' ('Deccan Cancer') कहा है। कतिपय विद्वानों के अनुसार मुगल-साम्राज्य के अधःपतन में इस घटना का बहुत बड़ा हाथ था। समुद्रगुप्त वाकाटकों के महत्त्व को समझता था। उत्तरी भारत में ही उसकी योजना अपूर्ण रह गई थी। राजनय की दृष्टि से शकों एवं कुषाणों का उन्मूलन उसके लिए कहीं आवश्यक था। वाकाटक, गुप्तों की इस योजना में सहायक एवं घातक दोनों ही सिद्ध

---

१. "राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति, सम्राट् वाजपेयेन; अवरम् हि राज्यम्, परं साम्राज्यम्'—शतपथ ब्राह्मण; ५,१, १.१. १३। द्रष्टव्य—डॉ० अल्तेकर का लेख, इंडियन कल्चर, जिल्द ९, पृष्ठ १०३-०५।

२. पार्जिटर, डाइनेस्टीज़ ऑफ़ दी कलि एज, पृष्ठ ५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हो सकते थे। वाकाटक-राज्य की भौगोलिक स्थिति इसी प्रकार की थी। अतएव उनके सौहार्द को जीतना अधिक आवश्यक था। इसी कारण दोनों राजवंशों के बीच कालान्तर में विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुआ था। साम्राज्य-विभाजन के उपरान्त भी ज्येष्ठ वाकाटक-शाखा की शक्ति सुदृढ़ थी। वाकाटक-लेखों के अनुसार समुद्रगुप्तकालीन पृथिवीषेण प्रथम का राजकोष, सेना एवं अन्य साधन समुन्नत दशा में थे (अभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधन)।[1] फ्लीट ने एरण्डपल्ल का समीकरण खानदेश में स्थित एरण्डोल के साथ किया था। डॉ० सैलेतोर के अनुसार प्रयाग-प्रशस्ति के कोट्टूर की पहचान बेलारी जिले में स्थित कुड-लिगी के साथ करना युक्तिसंगत होगा। विन्सेन्ट स्मिथ ने देवराष्ट्र एवं द्वारका में तादात्म्य स्थापित किया था। उक्त समीकरणों के आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि समुद्रगुप्त पश्चिमी घाट (वाकाटक-राज्य) से होकर गया था। परन्तु परिच्छेदान्तर में हम निर्दिष्ट कर चुके हैं कि इस प्रकार का निष्कर्ष भ्रान्तिमूलक है। ये स्थान वस्तुतः पूर्वी घाट पर स्थित थे। समुद्र-गुप्त की दक्षिण विजय-यात्रा केवल वहीं तक सीमित थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य-काल (३७५ ई०–४१५ ई०) दोनों राजवंशों के इतिहास में परिवर्तन-विन्दु का निर्माण करता है। वाकाटक-लेखों के अनुसार उसने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह इस कुल के नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ किया था। इस घटना का सबसे बड़ा, राजनीतिक कारण था। समुद्र-गुप्त की 'धरणिबन्ध-योजना' इस अर्थ में अपूर्ण थी कि वह शकों एवं कुषाणों (दैवपुत्रषाहि-षाहानुषाहि = वाह्लीक) का उन्मूलन न कर सका था। उसके निधनोपरान्त यह तथ्य गुप्त-साम्राज्य के अस्तित्व के लिए घातक सिद्ध हुआ था। शकों ने रामगुप्त को परास्त कर 'कन्योपायन-दान' का बदला लेने के लिए साम्राज्ञी ध्रुवदेवी के समर्पण की माँग प्रस्तुत की थी। युवराज चन्द्रगुप्त ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर शकपति की हत्या की तथा इस भयानक स्थिति को उसने किसी प्रकार बचा दिया था। राज्याभिषेक के पश्चात् उसने शक-सत्ता के उन्मूलन-हेतु एक सैनिक योजना बनाई, जिसे उदयगिरि के शैव लेख में 'कृत्स्नपृथिवीजयार्थं' (सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने का उद्देश्य) कहा गया है। इस कार्य की सिद्धि के लिए उसे एक अत्यन्त शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता थी। उसके इस लक्ष्य की पूर्ति में वाकाटक पर्याप्त सीमा तक सहायक हो सकते थे। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए विसेन्ट स्मिथ ने इतिहासकारों

---

१. मिराशी, वा० वि०, वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ १४४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का ध्यान इस वस्तुस्थिति की ओर आकृष्ट किया है कि शक-राज्य वाकाटकों का 'प्रत्यन्त राज्य' था। उत्तरी भारतवर्ष के किसी भी शक-आक्रमणकारी के लिए वे सहायक अथवा घातक दोनों ही सिद्ध हो सकते थे क्योंकि उनके राज्य की भौगोलिक स्थिति कुछ ऐसी ही थी।[1] अतएव इस कुल में अपनी कन्या का विवाह कर उसने अपनी नीतिनिपुणता का परिचय दिया था। कालान्तर में इसी प्रकार हर्ष ने वलभी-पति के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर पश्चिमी भारतवर्ष में उसके रूप में अपना एक विश्वस्त सबल सहायक प्राप्त कर लिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व, लिच्छवि वंश ने गुप्तों के उत्कर्ष में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था। चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राओं पर 'लिच्छवयः' लेख प्राप्य है। गुप्तवंशीय अभिलेखों में समुद्रगुप्त को सर्वदा 'लिच्छवि-दौहित्र' कहा गया है। इन दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि चतुर्थ शताब्दी के प्रथमार्द्ध में गुप्त राजवंश अपने शक्ति-विस्तार की क्रिया में लिच्छवियों द्वारा उपकृत था। डॉ० मिराशी का अनुमान है कि इसी वैशाली-सत्ता (लिच्छवि-शक्ति) की बहुमूल्य सहायता द्वारा समुद्रगुप्त अपने समकालीन राजनीतिक वातावरण में क्रान्ति उत्पन्न करने में सफलीभूत हुआ था।

वाकाटक वंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना भी गुप्तों को निश्चित रूप में लाभकारी प्रमाणित हुई थी। उनकी सहायता के कारण शक-विजय का कार्य सरल हो गया होगा। दोनों राजवंशों की सम्मिलित सेनाएँ शकों के लिए भयावह सिद्ध हुई होंगी। निकटस्थता के कारण रुद्रसेन द्वितीय को अधिकाधिक सैनिक सहायता एवं साधन पहुँचाने में कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। यह भी संभव है कि अपने श्वसुर चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ उसने भी व्यक्तिगत रूप से उसके शक-युद्ध में भाग लिया हो। इस लड़ाई के छिड़ने के पूर्व ही दोनों राजकुलों के अनुभवी सेनापतियों ने युद्ध-योजना भलीभाँति बना ली होगी। इस प्रकार गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्ध उनकी बाह्य नीति (विशेषतः शक्ति-विस्तार) की क्रिया में गुणकारी सिद्ध हुए होंगे। डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि शकविजय-योजना की कार्यान्विति के पूर्व ही रुद्रसेन (द्वितीय) दिवंगत हो गया था। परिणामतः शकराज्य के उन्मूलन का कार्य प्रभावतीगुप्ता के संरक्षण-काल में सम्पन्न हुआ। इस विजय के फलस्वरूप गुप्त-सत्ता गुजरात एवं काठियावाड़ में स्थापित हो गई। उस पितृभक्ता वाकाटक-महिषी ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उक्त महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में अपेक्षित सहायता द्वारा

---

१. ज० रॉ० ए० सो०, १९१४, पृष्ठ ३२४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुप्त-वंश को अभिमत ऋणी किया था।[1] अपने व्यक्तिगत जीवन में रुद्रसेन द्वितीय अपने श्वसुर (चन्द्रगुप्त द्वितीय) से अत्यन्त प्रभावित था। उसका पैतृक धर्म शैव धर्म था। वाकाटक-लेखों में उन्हें 'स्वामिमहाभैरव' का भक्त कहा गया है। परन्तु रुद्रसेन द्वितीय ने वैष्णव धर्म का अवलम्बन किया, जो कि गुप्त नरेशों का व्यक्तिगत धर्म था। उसकी अवधारणा थी कि भगवान् विष्णु (भगवतश्चक्रपाणेः) की असीम अनुकम्पा से ही उसे राजलक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी (प्रसादोपार्जितश्रीसमुदयस्य)।[2]

दुर्भाग्यवश अल्पावस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। सदाशय रुद्रसेन

---

१. "It was during the regency of Prabhavati-gupta that the Gupta conquest of Gujarat and Kathiawar was accomplished, and we may well presume that the dowager queen afforded all possible assistance to her illustrious father."

वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ ११२

२. मेरा अपना अनुमान यह है कि शक-युद्ध के समय रुद्रसेन द्वितीय जीवित था। नहपान के जामाता उषवदात की भाँति उसने अपने श्वसुर के उक्त सैनिक अभियान में व्यक्तिगत रूप से भाग लिया होगा। इसी युद्ध में वह वीर-गति को प्राप्त हो गया होगा। यह सम्भावना हमें भानुगुप्त के हूण-युद्ध का स्मरण दिलाती है, जिसमें गोपराज लड़ता हुआ मारा गया तथा उसकी अनुरक्ता भार्या सती हो गई थी। इस कारण प्रभावतीगुप्ता के प्रति उसके पिता का उत्तरदायित्व निसर्गतः अभिवृद्ध हो गया होगा। संभव है कि पति की अकाल मृत्यु के कारण वह सती भी होना चाहती हो। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे ऐसा करने से उसी भाँति रोक दिया होगा, जिस प्रकार हर्ष ने राज्यश्री को पति के निधनोपरान्त उसके आत्मघातक निर्णय से रोका था। उस पुण्यात्मा एवं कर्त्तव्यपरायण सम्राट् ने उसी समय वाकाटक-राज्य के समुचित पर्यवेक्षण एवं सुरक्षा का संकल्प बना लिया होगा। संभव है कि उसके दोनों अल्पवयस्क पुत्रों को उसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में किञ्चित् काल के लिए उसी भाँति बुला लिया हो, जिस प्रकार महासेनगुप्त के दिवंगत होने पर उसके दोनों पुत्रों (कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त) को प्रभाकरवर्द्धन ने अपनी राजधानी (स्थाणीश्वर) में उनके पालन-पोषण के लिए बुला लिया था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उन सत्पुरुष नरेशों की कोटि में आता था, जिन्हें नियति के क्रूर विधान के कारण राजलक्ष्मी के उपभोग का समुचित अवसर नहीं मिल सका था। उसके पुत्र दिवाकरसेन एवं दामोदरसेन अभी बहुत छोटे थे। फलतः वाकाटक वंश की बागडोर प्रभावतीगुप्ता को ही सँभालनी थी। अपने पुत्रों एवं दिवंगत पति के राज्य की संरक्षिका के रूप में उसके समक्ष व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं। उसे शासन-कार्यों का विशेष अनुभव नहीं था। परन्तु उसने धैर्य एवं निपुणता के साथ कार्य लिया। उसे अपने दुर्दिन में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से महत्त्वपूर्ण सहायता उपलब्ध हुई थी। पिता पुत्री-सम्बन्ध के कारण ऐसा स्वाभाविक भी था। अपने जामाता की अकाल मृत्यु से दुखाक्रान्त उक्त गुप्त-नरेश ने समुचित पर्यवेक्षण एवं सक्रिय प्रयास द्वारा विधवा पुत्री की समस्याओं को सुलझाने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। उसने अपने राज्य के मजे हुए कर्मचारियों के द्वारा वाकाटक-पदाधिकारियों को शासन की बारीकियों से अवगत कराया होगा। दिवाकरसेन एवं दामोदरसेन की शिक्षा-दीक्षा के लिए पाटलिपुत्र से कालिदास वाकाटक-राजधानी (नन्दिवर्धन) में भेजे गये होंगे।

कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने मेघदूत की रचना नन्दि-वर्धन में ही की थी। इसका नायक यक्ष कुबेर द्वारा निष्कासित होने के कारण शाप के दिन काटने के निमित्त रामगिरि के उन आश्रमों में रहने लगा था, जहाँ के तालाब, कुण्ड एवं बावलियों का जल श्रीजानकीजी के स्नान से पवित्र हो गया था और घनी छाया वाले बहुत से वृक्ष जहाँ-तहाँ लहलहा रहे थे।[1] रामगिरि की पहचान आधुनिक रामटेक से की जाती है, जो कि नन्दि-वर्धन के समीप स्थित है। राजमाता प्रभावतीगुप्ता इस स्थान से विशेष रूप से प्रभावित थी। उसके पूना एवं ऋद्धपुर के ताम्रपटों में रामगिरि का उल्लेख मिलता है जहाँ पर उसने दान दिया था। नन्दिवर्धन में रहने के कारण अपने शिष्यों (दिवाकरसेन एवं दामोदरसेन) के साथ कालिदास वहाँ आए होंगे और इस स्थान से प्रभावित रहे होंगे। उक्त दोनों लेखों के अनुसार रामगिरि में भगवान् राम का पादमूल (चरणपादुका) विद्यमान था। अतएव भक्त-जन उसे बड़ी ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि कालिदास ने मेघदूत में इस स्थान को शापित यक्ष का निष्कासन-स्थान चुना होगा।

---

१. "यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धछायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।"
—मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक १

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रभावतीगुप्ता को पुनः एक गहरे संकट का सामना करना पड़ा। उसका ज्येष्ठ पुत्र दिवाकरसेन अकाल मृत्यु का ग्रास बन गया। फलतः उसका कनिष्ठ पुत्र दामोदरसेन युवराज हुआ। उसन राज्यारोहण के उपरान्त अपना नाम प्रवरसेन धारण किया था। इतिहास के पृष्ठों में वह प्रवरसेन द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध है। उसने 'सेतुबन्ध' नामक काव्य की रचना की थी, जिसमें भगवान् राम के चरित का निरूपण प्राप्य है। उसने निर्देश किया है कि इसके लिखने की क्रिया में बारंबार त्रुटियाँ हो रही थीं। लगता है कि इनकी शुद्धि में उसने अपने आचार्य कालिदास से सहायता उपलब्ध की होगी। अतएव अनुश्रुति सर्वव्यापिनी हो गई थी कि विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने उक्त ग्रन्थ को प्रवरसेन के लिए निबद्ध किया था। इस परम्परा का उल्लेख टीकाकार रामदास ने भी किया है।[1] रघुवंश में कालिदास ने बालक सुदर्शन नामक राजा का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार उस बाल राजा ने जब सिर पर मुकुट धारण किया, तभी प्रजा ने आकलन किया था कि वह अपने पिता की ही भाँति तेजस्वी होगा, क्योंकि हाथी के बच्चे के समान छोटा दिखाई देने वाला बादल भी पुरवा पवन का सहारा पाकर चारों दिशाओं में फैल जाता है। छह वर्ष का वह राजा जिस समय हाथी पर बैठ कर राजमार्ग से निकलता था, तब हाथीवान उसके राजसी वस्त्रों के कोने को थामे रखता था कि वह कहीं गिर न पड़े। उस समय भी उसे देख कर जनता अपने पिता के ही समान उसका आदर करती थी। वे छोटे थे; अतएव जब वे पिता के सिंहासन पर बैठते थे तो वह पूरा भरता नहीं था। पर उनके शरीर से सुवर्ण के समान जो तेज निकलता था उससे वह सिंहासन भरा सा ही जान पड़ता था।[2] डॉ० मिराशी का अनुमान है कि इस स्थान पर बालक दामोदरसेन (प्रवरसेन द्वितीय) की ओर संकेत है।[3] प्रवरसेन द्वितीय के पट्टन ताम्र-लेख के अनुसार इसकी रचना कालिदास ने की थी (लिखितं कालि-

---

१. मिराशी, वा० वि०, वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ ३०

२. "तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥
कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥"
—रघुवंश, सर्ग १८, श्लोक ३४-४०

३. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ ३१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दासेन)। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि इसके रचयिता क्या सुप्रसिद्ध कवि कालिदास ही थे? इस प्रसंग में डॉ० मिराशी के निम्नलिखित तर्क विचारणीय हो जाते हैं—

(१) उक्त लेख के रचयिता का संस्कृत-ज्ञान बहुत ही सामान्य था। यही कारण है कि इस ताम्रपट की छोटी-बड़ी ४७ उत्कीर्ण पंक्तियों में ही व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों की भरमार है। कालिदास-सदृश मर्मज्ञ कवि की सफल लेखनी से तद्धित, कृदन्त, विशेषण-विशेष्य एवं सन्धि आदि के नियमों की प्रारम्भिक भूलें, जो कि इसमें प्राप्य हैं, सर्वथा अचिन्त्य थीं।

(२) वाकाटक-अभिलेखों में कई ऐसे पदाधिकारियों के नामोल्लेख मिलते हैं, जिनके नाम के अन्त में दास शब्द प्राप्य है; उदाहरणार्थ—गोलदास, मारदास, चमिदास, चक्रदास एवं नमिदास। लगता है कि पट्टन के ताम्रपट का कालिदास भी वाकाटक-कर्मचारी था। यह कवि-शिरोमणि कालिदास से समीकृत होने के सर्वथा अयोग्य है। डॉ० मिराशी का अनुमान है कि पट्टन-लेख का कालिदास वाकाटकों का लिपिक (मुहर्रिर) रहा होगा।[1]

राजमाता प्रभावतीगुप्ता अत्यन्त पितृभक्ता थीं। अतएव उसके जीवन-काल-पर्यन्त वाकाटक-गुप्त-सम्बन्ध अनुकरणीय था। उसने अपने दोनों ही लेखों (पूना एवं ऋद्धपुर के ताम्रपट) में अपना शाखोच्चार पितृ-कुल से किया है। उसने इन अभिलेखों में अपने को 'धारणगोत्रा' कहा है। यह गोत्र उसके पिता का गोत्र था। इनमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सभी पूर्वजों का नामोल्लेख उनकी उपाधियों-सहित प्राप्य है। उक्त लेखों के अनुसार वह दोनों ही कुलों (पिता एवं पति के राजवंशों) का भूषण थी (उभयकुलालंकारभूता)। उसके तुल्य पितृ-भक्ति के दृष्टान्त भारतीय इतिहास के पृष्ठों में विरल हैं। उसने चन्द्रगुप्त के धर्म (वैष्णव धर्म) का ही अवलम्बन किया था। ऋद्धपुर का लेख 'जितं भगवता' से प्रारंभ होता है। इससे विष्णु के प्रति उसकी भक्ति प्रमाणित होती है।

पूना के ताम्र-लेख में उसे युवराज दिवाकरसेन की जननी कहा गया है। इस अभिलेख से निष्कर्ष निकलता है कि दिवाकरसेन अभी अवस्था में बहुत छोटा था। अतएव संरक्षिका के रूप में राजमाता प्रभावतीगुप्ता को शासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसे निभाना पड़ता था। इस लेख के अनुसार वह

---

१. वाकाटक राजवंश और उनके अभिलेख, पृष्ठ ३००-०१.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अत्यन्त 'भगवद्भक्ता' (विष्णु की उपासिका) थी। इसमें प्रभावतीगुप्ता के द्वारा कार्त्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन भगवद्भक्त आचार्य चनालस्वामी को दान देने का उल्लेख मिलता है (कार्त्तिकशुक्लद्वादश्यां ···भगवद्भक्ताचार्य-चनालस्वामिने)। उसने वैष्णव प्रथा के अनुसार एकादशी के दिन व्रत-उपवास रह कर द्वादशी के दिन पारण के अवसर पर उक्त आचार्य को पुण्यार्जन के निमित्त एक ग्राम का अग्रहार-दान किया था। इसके पूर्व इस दान को उसने भगवान् के पादमूल (पादुकाओं) को सम्यक् रूप से अर्पित भी किया था (भगवत्पादमूले निवेद्य)। डॉ० मिराशी का अनुमान है कि पादमूलों से तात्पर्य रामगिरि पर स्थित भगवान् रामचन्द्र की पादुकाओं से है। इसी स्थान पर युवराज-जननी प्रभावतीगुप्ता ने अपना दूसरा (ऋद्धपुर) दानपत्र भी दिया था।[1]

उसका उपर्युक्त द्वितीय दानपत्र अमरावती जिले में स्थित ऋद्धपुर नामक ग्राम से उपलब्ध हुआ था। इस अभिलेख से भी उसकी विष्णु-भक्ति प्रमाणित हो जाती है। उसने इस दान को अपने द्वितीय पुत्र दामोदरसेन (प्रवरसेन) के राज्य-काल के उन्नीसवें वर्ष में दिया था (वाकाटकानां महाराजश्रीप्रवरसेन-स्य राज्यप्रशासनसंव्वत्सरे एकोनविंशतिमे)। उसका ज्येष्ठ पुत्र दिवाकरसेन पहले ही मर चुका था। इस लेख में उसे 'श्रीदामोदरसेनप्रवरसेनजननी' एवं 'भगवत्पादानुध्याता' (भगवान् विष्णु के चरणों के ध्यान में लीन) कहा गया है। इस समय तक वह शतायु हो चुकी थी (साग्रवर्षशत)। उस दीर्घायुष्मती के पौत्रों की भी इस लेख में चर्चा की गई है। इस दानपत्र को भी उसने रामगिरिस्वामी के पादमूल (पादुका) को चढ़ाने के उपरान्त ही दानग्राही को दिया था (रामगिरिस्वामिनपादमूलात्)। डॉ० मिराशी ने यथार्थ ही निर्दिष्ट किया है कि रामगिरिस्वामी से तात्पर्य भगवान् रामचन्द्र से है।[2] वैष्णव होने के कारण उसने एकादशी को व्रत रख कर द्वादशी की पारण-वेला में इस दान को दिया था (कार्त्तिकमासशुक्लपक्षद्वादश्याम्)।

उक्त दोनों लेखों के प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि अपने पिता के प्रभाव के कारण वैष्णव धर्म में उसका प्रगाढ़ अनुराग था। उसके समय से वाकाटक-नरेशों के जीवन में रामगिरि का महत्त्व प्रवर्द्धित हो गया। परम्परा के अनुसार यह स्थान भगवान् रामचन्द्र के जीवन से सम्बन्धित था तथा वहाँ पर उनके चरणचिन्ह (पादांकन) बने हुए थे। मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता

---

१. वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ १३६
२. मिराशी, वा० वि०, वही पृष्ठ १६९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है :—'मेरे यार ! जिस रामगिरि नामक पहाड़ी पर तुम इस समय लिपटे हुए हो, उसकी ढालों पर भगवान् रामचन्द्रजी के उन पैरों की छाप बनी हुई है जिन्हें सारा संसार पूजता है।'[1] इन्हीं रघुपतिपदों (राम के चरण-चिन्हों) को प्रभावतीगुप्ता के इन दोनों अभिलेखों में 'भगवत्पादमूल' अथवा 'रामगिरिस्वामीपादमूल' कहा गया है। डॉ० मिराशी ने अपने ग्रन्थ 'मेघदूत में रामगिरि अथवा रामटेक' में भली भाँति प्रतिपादित कर दिया है कि राम-गिरि से तात्पर्य आधुनिक रामटेक से ही है, जो नागपुर से २७ मील दूर अवस्थित है। वाकाटकों की प्राचीन राजधानी नन्दिवर्द्धन से यह स्थान लगभग तीन मील की दूरी पर पड़ता था।[2]

यशस्वी प्रवरसेन द्वितीय बड़ा ही धर्मनिष्ठ सम्राट् था। उसके लगभग तेरह दानपत्र प्राप्त हुए हैं। इतनी प्रचुर संख्या में ताम्रपट अन्य किसी भी नरेश के काल के नहीं उपलब्ध हो सके हैं। उसने वाकाटकों की नवीन राज-धानी प्रवरपुर में बसाई थी। वह अपने नाना (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) के उप-कारों को नहीं भूल सका था। अतएव उसने अपने सभी लेखों में उसका उल्लेख बड़ी श्रद्धा के साथ किया है। विचारणीय है कि उसने अपने मातामह को चन्द्रगुप्त न कह कर 'देवगुप्त' कहा है, जो कि साँची के लेख में प्राप्य उसके 'देवराज' नाम का स्मरण दिलाता है। 'देव' शब्द से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य उसकी दृष्टि में देवता-सदृश था। उसने अपनी माता की इच्छा की पूर्ति के निमित्त भगवान् रामचन्द्र का एक मन्दिर भी निर्मित कराया था। उसने अपने कुछ दानपत्र रामगिरि पर वर्तमान रघुपतिचरण-चिन्हों को अर्पित कर विद्वान् एवं धर्मपरायण ब्राह्मणों को प्रदान किया था। उसका एक ताम्रपट रामटेक के समीप मनसर नामक ग्राम से मिला है, जिसे प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० मिराशी को है। उसके इन्दौर-ताम्रपट में भग-वत्पाद (भगवान् रामचन्द्र की चरणपादुका) का उल्लेख मिलता है। चम्मक के ताम्रपट के अनुसार उसने चर्मांक नामक ग्राम को एक सहस्र ब्राह्मणों को दान में दिया था (ब्राह्मणेभ्यः सहस्राय प्रदत्तः)। इसकी पहचान आधुनिक चम्मक के साथ की जाती है। उक्त ताम्रलेख के अनुसार इस गाँव की वार्षिक

---

१. "आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुंगमालिंग्य शैले।
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु ॥"

—मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक १२

२. द्रष्टव्यः—वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, पृष्ठ १७०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आमदनी आठ हजार मुद्राएँ थीं (सहस्ररैष्टाभिः)। उसकी राजधानी प्रवरपुर को आधुनिक पवनार से समीकृत किया जाता है, जहाँ से गुप्तकालीन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। उसने ४५० ई० तक राज्य किया था। अतएव वह अपने मामा कुमारगुप्त प्रथम (महेन्द्रादित्य) का भी समकालीन था। उसने इसके राज्यकाल में भी गुप्त-कुल के साथ स्निग्ध सम्बन्धों को निभाने की चेष्टा की थी।

उसका उत्तराधिकारी नरेन्द्रसेन था। इस नरेश के राज्य-काल से दोनों राजवंशों का पारस्परिक सौहार्द राजनीतिक प्रश्नों को लेकर सर्वदा के लिए समाप्त हो गया। यह दशा किञ्चित् काल के लिए हमारा ध्यान मौखरि-उत्तर-गुप्त राजवंशों के इतिहास की ओर आकृष्ट करती है। कुमारगुप्त एवं ईशान-वर्मा ममेरे-फुफेरे भाई थे तथापि मगधाधिपत्य के प्रश्न को लेकर दोनों में ऐसा संघर्ष छिड़ा, जिसने परम्परागत रूप धारण कर लिया। नरेन्द्रसेन ने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण गुप्त वंश के साथ संघर्ष मोल ले लिया था। पृथिवीषेण द्वितीय के बालाघाट के ताम्रपट के अनुसार उसने अपने बाहुबल (प्रताप) द्वारा वाकाटक-वंश की राजलक्ष्मी (राजश्री) को प्राप्त किया था। इससे कुछ विद्वानों के अनुसार उसने अपने बड़े भाई को मार कर राजगद्दी प्राप्त की थी। इस अभिलेख में उसे मालवा, मेकला एवं कोसला का अधिपति (चक्रवर्ती) कहा गया है। इसके पूर्व मालवा पर गुप्तों का आधिपत्य था। लगता है कि उसने इस क्षेत्र में उथल-पुथल मचाया, जिसके परिणाम-स्वरूप मालवा कुछ समय के लिए वाकाटकों के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया। मन्दसोर के मालव-संवत् ४९३ (४३६ ई०) एवं मालव-संवत् ५२९ (४७२ ई.) वाले लेख में इस राजनीतिक क्रान्ति की ओर संकेत है। यह काल नरेन्द्रसेन के ही राज्य-काल (४५०–४७० ई०) के अन्तर्गत आता है।[1] इस लेख के अनुसार ४३६ ई० से लेकर ४७२ ई० तक मालवा में कई राजवंशों (अन्यैश्च पार्थिवैः) ने राज्य किया था। इससे निर्दिष्ट होता है कि प्रारम्भ में नरेन्द्रसेन को सफलता मिली तथा मालवा पर उसने थोड़ी देर के लिए अपना सिक्का जमा लिया। संभव है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु (४५५ ई०) के उपरान्त ही यह घटना घटी हो। अन्य सम्भावना यह भी हो सकती है कि इस नरेश के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में पुष्यमित्रों द्वारा उत्पन्न क्षुब्ध वातावरण का लाभ उठा कर नरेन्द्रसेन ने इस भू-भाग पर अपना प्रभुत्व जमा

---

१. डॉ० अल्तेकर के अनुसार नरेन्द्रसेन की राज्यावधि ४४० ई० से लेकर ४६० ई० थी (इस मत के लिए द्रष्टव्य—वाकाटक-गुप्त एज, पृष्ठ ११५)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिया हो। पर उसके सुयोग्य उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त ने इस बिगड़ी हुई स्थिति को सँभाल लिया था। अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों के दमन के उपरान्त उसने मालवा को पुनः गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसका प्रमाण उसका जूनागढ़ का शिला-लेख है, जिसके द्वारा सौराष्ट्र प्रान्त तक पश्चिमी भारत में उसकी प्रभुता प्रमाणित हो जाती है। संभव है कि थोड़ी ही अवधि में शीघ्र घटित होने वाले उक्त राजनीतिक परिवर्तनों से जनित अशान्त वातावरण को लक्ष्य में रखते हुए मन्दसोर के उक्त लेख के रचयिता (वत्सभट्टि) ने कहा था कि यह काल (४३६ ई० से ४७२ ई०) एक अधम युग था। इसमें मानव जीवन विद्याधरियों के रुचिर पल्लव-कर्णपूरों के सदृश क्षणभंगुर था।[1] मन्दसोर के मालव-संवत् ५२४ (४६७ ई०) वाले लेख से ज्ञात होता है कि गुप्तवंश के मालवा में वर्तमान सामन्त-शासक प्रभाकर को अपने स्वामी के साथ अनेक शत्रुओं से विकट संघर्ष लेना पड़ा था।

नरेन्द्रसेन का विवाह कुन्तल-राजकन्या अज्झितभट्टारिका के साथ हुआ था। संभव है कि वह कदम्ब-नरेश काकुत्स्थवर्मा की पुत्री रही हो। तालगुण्ड-प्रशस्ति के अनुसार उसकी पुत्रियाँ गुप्त-कुल के अतिरिक्त अन्य राजवंशों में भी ब्याही थीं। लगता है कि अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में उसने अपने इस सम्बन्धी राजवंश से सहायता ली होगी। बालाघाट के लेख के अनुसार नरेन्द्रसेन मेकला एवं कोसला का भी प्रभु-सम्राट् था। मेकला से तात्पर्य अमरकंटक-प्रदेश से है, जहाँ से नर्मदा नदी निकलती है। यही कारण है कि इस नदी को 'मेकल-सुता' भी कहते हैं। यह प्रदेश पहले गुप्तों के प्रभाव-क्षेत्र में था। नरेन्द्रसेन के काल में वहाँ के शासक भरतबल ने वाकाटकों की अधीनस्थता स्वीकार कर ली थी। बालाघाट के उक्त लेख में इसकी ओर संकेत किया गया है (दीर्णवैरो नरेन्द्रः)। डॉ० मिराशी का अनुमान है कि यहाँ पर नरेन्द्र से तात्पर्य नरेन्द्रसेन से ही है। प्रयाग-प्रशस्ति से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के काल से कोसल (दक्षिण कोसल) का राजवंश गुप्तों का माण्डलिक कुल हो गया था। संभव है कि नरेन्द्रसेन के समकालीन दक्षिण-कोसल नरेश ने नरेन्द्रसेन का सामन्त होना शिरोधार्य कर लिया हो।[2] स्कन्दगुप्त के लेखों से लगता

---

१. "विद्याधरी-रुचिर-पल्लव-कर्णपूर
वातेरितास्थिरतरं प्रविचिन्त्य लोकम्।" देखिए:—मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज इन ऐंशेंट इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर', पृष्ठ ६

२. मिराशी, वा० वि०, वाकाटक राजवंश एवं उसके लेख; पृष्ठ ३५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है कि उसके राज्य-काल के प्रारंभिक वर्ष काफी क्षुब्ध थे। परन्तु उसने अपने अदम्य उत्साह, शौर्य एवं संगठन-प्रतिभा द्वारा बिगड़ी हुई परिस्थितियों को ठीक कर लिया। हूणों एवं वाकाटकों के द्वारा पहुँचाई हुई क्षतियों की उसने अभिमत पूर्ति की थी। उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम में उसने यदि एक ओर हूण-आक्रमण की बाढ़ को रोक कर गंगा-घाटी में अपने आधिपत्य को सुदृढ़ किया, तो दूसरी ओर पश्चिम एवं दक्षिण में अपनी प्रभुता का पुनरुत्थान करते हुए नरेन्द्रसेन की महत्वाकांक्षाओं को कुचल डाला होगा। इन राजनीतिक क्रान्तियों का दमन कर लेने के उपरान्त उसने अपने साम्राज्य में शान्ति स्थापित कर ली थी। उसके राज्यकाल के उत्तरार्द्ध के कहौम-लेख (गुप्त-संवत् १६१–४६० ई०) में 'शान्ते वर्षे' का उल्लेख करते हुए उक्त तथ्य की ओर संकेत किया गया है। इस लेख में भी उसके शासन-काल के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक उथल-पुथल एवं उपद्रवों के कारण उत्पन्न भयावह वातावरण को निर्दिष्ट किया गया है (जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्यभीतो)।

लगता है कि नरेन्द्रसेन के राज्यकाल का अन्तिम भाग दुर्दिनों में व्यतीत हुआ था। इस समय उसका सबसे प्रबल शत्रु नल-राजवंश सिद्ध हुआ था। पुराणों में इस राजवंश के नरेशों को बलवान् (महाबलाः) एवं अत्यन्त पराक्रमी (वीर्यवन्तो) कहा गया है।[1] इस कुल के नरेशों की मुद्राएँ मध्य प्रदेश के बस्तर जिले से प्राप्त हुई हैं। नरेन्द्रसेन के समय में इस राजवंश के नरेशों की शक्ति भवदत्तवर्मा की संगठन-प्रतिभा के कारण अभिवृद्ध हो गई थी। उसने वाकाटक-कुल की प्राचीन राजधानी नन्दिवर्धन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसका एक दानपत्र ऋद्धपुर से मिला है, जहाँ से इसके पहले का एक दानपत्र प्रभावतीगुप्ता के समय का उपलब्ध हुआ है। इससे लगता है कि उसकी आक्रामक-नीति के कारण वाकाटक-राजवंश को गहरा धक्का लगा था। इसके उपरान्त इस कुल ने अपनी राजधानी पद्मपुर में बना ली। इसकी पहचान आमगाँव के समीपस्थ पद्मपुर नामक आधुनिक स्थान से की जाती है।[2] इसका मनोरम वर्णन भवभूति के 'महावीरचरित' नामक नाटक में प्राप्य है। इसके अनुसार दक्षिणापथ में स्थित पद्मपुर नामक नगर में तैत्तिरीय

---

१. "नलवंश-प्रसूतास्तु ते वीर्यवन्तो महाबलाः", पार्जिटर, एफ०ई०, डाइनेस्टीज ऑफ दी कलि एज, पृष्ठ ५१

२. मिराशी, वा० वि०, वाकाटक-राजवंश एवं उसके लेख, पृष्ठ ३६५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शाखा वाले, काश्यपगोत्री, श्रेष्ठ, पंक्तिपावन, पञ्चाग्नि के उपासक, सोमयज्ञ करने वाले, धर्मनिष्ठ एवं ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण रहते थे। इसी वंश में भवभूति उत्पन्न हुए थे, जो व्याकरण, मीमांसा एवं न्याय के विद्वान् थे। उनके पितामह भट्टगोपाल कवि, वाजपेयानुष्ठायी एवं उज्ज्वल कीर्त्ति वाले थे। उनके पिता का नाम नीलकण्ठ एवं माता का नाम जातुकर्णी था। उनका कुल-लाञ्छन श्रीकण्ठपद था।[1]

नरेन्द्रसेन के उपरान्त उसका पुत्र पृथिवीषेण द्वितीय राज्याभिषिक्त हुआ। उसके बालाघाट-ताम्रपट की सत्ताईसवीं पंक्ति में उसे अपने वंश की लुप्त समृद्धि का पुनरुद्धार करने वाला कहा गया है (अपहृतवंशश्रियः)। इसके उपरान्त इस लेख की तैंतीसवीं पंक्ति में पुनः इस तथ्य की चर्चा प्राप्य है (निमग्नवंश-स्योद्धर्त्तुः)। इन उल्लेखों में स्पष्ट है कि पिता के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में वाकाटकों की खोई हुई शक्ति का उसने पुनरुद्धार किया था। उसकी इस सफलता के दो कारण रहे होंगे :—

(१) भयंकर भवदत्तवर्मा की मृत्यु के कारण उसका एक सबल प्रतिद्वन्द्वी समाप्त हो गया।

(२) उसने अपने सम्बन्धी कदम्ब वंश की सहायता से भवदत्तवर्मा के उत्तराधिकारी अर्थपति को परास्त कर अपने पैतृक राज्य के विजित भागों को प्राप्त कर लिया होगा।

उसका राज्यकाल ४९० ई० के लगभग समाप्त हुआ होगा। उसके बाला-घाट के लेख द्वारा उसके काल में वाकाटक-गुप्त-सम्बन्ध के विषय में कोई सूचना नहीं प्राप्त होती। लगता है कि दोनों ही राजवंश एक दूसरे के प्रति इस समय उदासीन थे। उत्तरी भारत में गुप्त वंश हूणों का सामना करने में संलग्न था। पृथिवीषेण द्वितीय अपने दक्षिणी शत्रुओं के दमन में व्यस्त था। नरेन्द्र-सेनकालीन वैमनस्य की पृष्ठभूमि में दोनों राजवंशों ने एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं की होगी। दोनों के सम्बन्धों में यह परिवर्तन क्षतिकारक सिद्ध हुआ था। हम पहले निर्दिष्ट कर चुके हैं कि वाकाटकों एवं गुप्तों के

---

१. "अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयाःकाश्यपाश्च-रणगुरवः पंक्तिपावनाः पञ्चाग्नयां धृतव्रताःसोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति···प्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातुकर्णीपुत्रः कविमित्रधेयम्"

—महावीरचरितम्, प्रथम अंक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्मिलित प्रयास द्वारा ही शक-सत्ता का उन्मूलन हुआ था। दोनों राजवंशों की सम्मिलित चेष्टाएँ हूण-सत्ता के विनाश में उपयोगी सिद्ध हुई होतीं। कतिपय विद्वानों ने गुप्त-साम्राज्य के ह्रास-पतन का सबसे बड़ा कारण हूणों के सतत् आक्रमणों को ही माना है। संभव है कि दोनों राजकुलों के स्निग्ध सम्बन्ध एवं सक्रिय प्रयासों की स्थिति में ईसा की पाँचवीं एवं छठी शताब्दियों में इनके राजनीतिक इतिहास का रूप कुछ और ही होता। इस दशा में उभय राजवंशों की सत्ता के विलय की वेगवती प्रवृत्तियाँ पर्याप्त रूप में दब गई होतीं।

● ●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट ७

"गुप्त-नृपतियों के अभिलेख"

(क) "समुद्रगुप्त का प्रयाग का स्तम्भ-लेख"

(मूल पाठ)

१. ····कुल्यैः (?)·····स्वै·····तस····।
२. (यस्य)·····[॥*] [१*]
३. ····सुं (?) व·····
४. (स्फु) रद्वं (?)·····क्षः स्फुटोद्व (.) सित···प्रवितत····[॥] [२]
५. यस्य प्र (ज्ञानु) षंगोचित-सुख-मनसः शास्त्र-त (त्त्वा) र्थ-भर्त्तुः ····स्तब्धो·····नि·····नोच्छृ·····[।]
६. [स] त्काव्य-श्री-विरोधान्वुव[1]-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा [वि] द्वल्लोके (ऽ) वि [ना] [शि] स्फुटबहु-कविता-कीर्त्ति राज्यं मुनक्ति[2] [॥] [३]
७. [आ]र्य्यो हीत्युपगुह्य भाव-पिशुनैरुत्कर्णितैः रोममिः सग्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षितः [।*]
८. (स्ने)ह-व्यालुलितेन बाष्प-गुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा यः पित्रामिहितो नि (रीक्ष्य) निखि [लां] [पाह्येव] [मुर्वी] मिति [॥] [४]
९. [दृ]ष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुज-सदृशान्य [द्भु] तोद्भिन्न-हर्षा म [।] वैरास्वदय [न्तः]·····[के] चित् [।]

---

१. तुलनार्हः—
"निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥"
—रघवंश, सर्ग ६, श्लोक २९

२. मिलाइएः—"स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्दसमयोदारालंकृत-गद्य-पद्य-काव्य-विधान-प्रवीणेन"—रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़ का शिला-लेख ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१०. वीर्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते [ऽ] प्रणामे—
[ऽ] प्य [त्ति?] [ग्रस्तेषु] ····· ·····[॥] [५]

११. संग्रामेषु स्व-भुजविजिता नित्यमुच्चापकाराः
श्च-श्चो मान-प्र ····· [।]

१२. तोषोत्तुंगैः स्फुट-बहु-रस-स्नेह-फुल्लैर्म्मनोभिः
पश्चात्तापं व·····म [?] स्य [।] द्वसन्त [म्?] [॥] [६]

१३. उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य्य-रभसादेकेन येन क्षणा-
दुन्मूल्याच्युत-नागसेन-ग ·····

१४. दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये[1] क्रीड़िता
सूर्य्यो (?) नित्य (?)····· तट·····[७]

१५. धर्म्म-प्राचीर-बन्धः शशि-कर शुचयः कीर्त्तयः सप्रताना
वैदुष्यं तत्वभेदि-प्रशम··· कु··य···मु (सु?)—तार्त्थम् ?

१६. (अद्धचेयः) सूक्त-मार्गः कवि-मति-विभवोत्सारणं चापि काव्यं
को नु स्याद्यो (ऽ) स्य न स्याद्गुणमति [वि] दुषां ध्यानपात्रं य एकः ॥[८]

१७. तस्य विविध-समर-शतावतरण-दक्षस्य-स्वभुज बल-पराक्रमैकबन्धोः[2]
पराक्रमाङ्कस्य परशु-शर-शंकु-शक्ति-प्रासासि-तोमर—

१८. भिन्दिपाल-न [।] राच-वैतस्तिकाद्यनेक-प्रहरण-विरूढाकुल-व्रण-शतांक
शोभा-समुदयोपचित-कान्ततर-वर्ष्मणः

१९. कौसलक महेन्द्र-माह [।] कान्तारकव्याघ्रराज-कौरालकमण्टराज-
पैष्ठपुरकमहेन्द्रगिरि-कौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमन-काञ्चेयकविष्णु-
गोपावमुक्तक—

२०. नीलराज-वैङ्गेयकहस्तिवर्म्म - पालक्ककोग्रसेन - दैवराष्ट्रककुबेर -
कौस्थलपुरक - धनञ्जय-प्रभृति सर्व्वदक्षिणापथ-राज-ग्रहण - मोक्षानुग्रह-
जनित- प्रतापोन्मिश्र-माहाभागस्य ····

---

१. यहाँ पर गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र का उल्लेख है, जिसे 'पुष्पपुर' अथवा 'कुसुमपुर' भी कहते थे।

२. तुलना कीजिए:—

"आश्रित्य वीर्यं स्वभुजद्वयस्य
स्वस्यैव नान्यस्य नरस्य दर्पं ।"

—स्कन्दगुप्त-कालीन जूनागढ़-लेख, श्लोक २१

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२१. रुद्रदेव - मतिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म्म - गणपतिनाग - नागसेनाच्युत-नन्दि-बल-वर्म्माद्यनेकार्य्यावर्त्तराज- प्रसभोद्धरणोद्वृत्त - प्रभाव-महतः-परिचारिकीकृत-सर्व्वाटविक - राजस्य

२२. समतट-डवाक - कामरूप - नेपाल कर्त्तृपुरादि - प्रत्यन्त- नृपतिभिर्म्मालवार्जुनायन-यौधेय-माद्रकाभीर- प्रार्जुन - सनकानीक-काक- खरपरिकादिभिश्च-सर्व्वकरदानाज्ञाकरण- प्रणामागमन-

२३. परितोषित - प्रचण्डशासनस्य अनेक भ्रष्टराज्योत्सन्न - राजवंश-[1] प्रतिष्ठापनोद्भूत-निखिल-मु [व] न [विचरण-शा] न्त-यशसः दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि - शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च

२४. सर्व्व-द्वीप-वासिभिरात्मनिवेदन - कन्योपायनदान - गरुत्मदङ्कस्वविषय-भुक्तिशासन-[या] चनाद्युपाय - सेवा-कृत-बाहु-वीर्य्य-प्रसरण - धरणिबन्धस्य[2]-पृथिव्यामप्रतिरथस्य

२५. सुचरित-शतालंकृतानेक - गुण - गणोत्सिक्तिभिश्चरण - तल-प्रमृष्टान्य-नरपति-कीर्त्तेः साध्वसाधूदय - प्रलय-हेतु- पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यावनति-मात्रग्राह्य-मृदुहृदयस्यानुकम्पावतोऽनेक - गो- शतसहस्र - प्रदायनः

२६. कृपण-दीनानाथातुर - जनोद्धरण- मन्त्रदीक्षाभ्युपगत - मनसः समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनद - वरुणेन्द्रान्तक - समस्य[3] स्वभुज-बल-विजितानेक - नरपति-विभव - प्रत्यर्प्पणा नित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य

२७. निशितविदग्धमति - गान्धर्व्वललितैर्ज्जडित - त्रिदशपतिगुरु - तुम्बुरु-नारदादे-र्व्विद्वज्जनोपजीव्यानेक - काव्य- क्रियाभिः प्रतिष्ठित - कविराज-शब्दस्य[4] सुचिर - स्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य

---

१. मिलाइए:—"भ्रष्टराजप्रतिष्ठापकेन"-रुद्रदामा का जूनागढ़ का शिला-लेख

२. चन्द्रगुप्त (द्वितीय)--कालीन उदयगिरि के शैव गुहा-लेख में 'धरणिबन्ध' को 'कृत्स्नपृथिवीजय' तथा पाल-लेखों में 'सपत्न्यशून्या उर्वी' कहा गया है।

३. मिलाइए:—"सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स चेन्द्रः स्वप्रभावतः॥"

—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक ७

४. शब्दार्थ-गान्धर्व-न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनांपारण-धारण-विज्ञान-प्रयोगावाप्त-विपुल-कीर्त्तिना"—रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़ का शिला-लेख।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२८. लोकसमय - क्रियानुविधान - मात्र - मानुषस्य - लोक-धाम्नो देवस्य[1] महाराज - श्री - गुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्री - घटोत्कच - पौत्रस्य महाराजाधिराज - श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य

२९. लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्री-समुद्रगुप्तस्य-सर्व्व -पृथिवी-विजय - जनितोदय - व्याप्त - निखिलावनितलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति-

३०. भवन-गमनावाप्त-ललित- सुख विचरणमाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः । यस्य :—

प्रदान-भुजविक्रम-प्रशम-शास्त्रवाक्योदयैः—
रुपर्य्युपरि-सञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः ।
पुनाति-भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा—
निरोध-परिमोक्ष-शीघ्रमिव पाण्डुगांगं पयः ।

३१. एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादानां दासस्य समीप-परिसर्पणा-[2] नुग्रहोन्मीलित-मतेः

३२. खाद्यटपाकिकस्य महादण्डनायक - ध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिक-कुमारामात्य-महादण्डनायक - हरिषेणस्य सर्व्व-भूत-हित- सुखायास्तु ।

३३. अनुष्ठितं च परमभट्टारक- पादानुध्यातेन - महादण्डनायक तिलभट्टकेन ।

हिन्दी पाठान्तर

खण्ड : क (पद्यांश—पंक्ति १ से १६)

श्लोक (१)—"वह नरेश....अपने वंश के सदस्यों द्वारा.... जिसका ।

श्लोक (२)—"प्रत्यञ्चा की टंकार द्वारा....अभिव्यक्त किया.... प्रस्तारित किया....।

श्लोक (३)—"विद्वन्मण्डली के सम्पर्क के कारण जो प्रसन्नचित्त हुआ करता था, जो शास्त्रों का मर्मज्ञ था....निश्चल था....प्राज्ञों के द्वारा गुणित अपने गुण रूपी आज्ञा के द्वारा श्रेष्ठ काव्य एवं लक्ष्मी के शाश्वत विरोध को उसने सर्वदा के लिए विनष्ट कर दिया था, विचक्षणों की गोष्ठी में स्फुट अर्थ से संयुक्त विविध कविताओं की रचना द्वारा जनित कीर्त्ति रूपी अनश्वर राज्य का जो उपभोग करता था ।

---

१. "यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥"
—मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ५

२. 'भट्टारक-महाराज के चरणों के समीप निरन्तर परिसर्पण' के उल्लेख से स्पष्ट है कि जिस समय यह लेख उत्कीर्ण किया गया, उस समय समुद्रगुप्त जीवित था । इस सन्दर्भ से फ्लीट के उस मत का खण्डन हो जाता है,जिसके अनुसार यह प्रशस्ति इस सम्राट् के निधनोपरान्त निबद्ध हुई थी ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक (४)—"आर्य हो ! इस प्रकार सम्बोधित किया जाता हुआ वह उस पिता के द्वारा आलिंगित किया गया था, जो स्नेह से अति व्याकुल एवं भावाधिक्य के कारण रोमांचित हो उठा था । उसके तत्त्वदर्शी नेत्र उस समय अश्रु-पूरित थे । उसने सम्पूर्ण राज-सभा का अवलोकन करते हुए उसे आदिष्ट किया कि वसुधा का इसी भाँति पालन करो । इस दृश्य को देख कर सभासद तो हर्षित हुए, परन्तु तुल्य कुलजों के मुख मलिन हो उठे ।

श्लोक (५)—"उसके आधिभौतिक विविध कर्मों को देख कर कतिपय हर्षित होते थे एवं अभिरुचि के साथ उसका आस्वादन करते थे ····कुछ उसके पराक्रम से संतप्त होने के कारण उसके शरण में आ गए थे । अति-ग्रस्तों पर ····।"

श्लोक (६)—"नित्य ही अत्यन्त अपकार करने वाले उसके शत्रु युद्ध-क्षेत्रों में बाहु-बल द्वारा जीत लिए गए थे । दिन प्रतिदिन मान ····। हर्षाधिक्य तथा स्फुट एवं विविध आनन्द और स्नेह से प्रफुल्लित मन वालों ने पश्चात्ताप प्रकट किया ····वसन्त ऋतु के आने पर ।

श्लोक (७)—"समस्त सीमाओं का उल्लंघन करने वाले अपने बाहु-पराक्रम के प्रताप से क्षणमात्र में ही नागसेन, अच्युत एवं ग····सदृश नृपतियों को जिसने उन्मूलित कर दिया था । पुष्पपुर में उत्सव मनाते समय उसने कोत-कुल में उत्पन्न नरेश को बन्दी बना दिया था···सूर्य····नित्य ही····तट पर····।"

श्लोक (८)—"जो धर्म की चहारदीवारी के तुल्य था, चन्द्रमा की किरणों के तुल्य जिसकी शुभ कीर्ति सर्वदा विकीर्ण होती थी; जिसकी विद्वत्ता मर्म-स्पर्शिनी थी; शान्ति···। जो वेद-विहित मार्ग का ही सर्वदा अनुसरण करता था; जिसकी कविताएँ कवियों की बुद्धि रूपी समृद्धि को सर्वदा प्रस्फुटित कर देती थीं; इस विश्व में कौन सा ऐसा गुण है जो उसका नहीं है, गुण एवं बुद्धि की परख रखने वाले विद्वानों के द्वारा ध्यान का जो एकमात्र विषय था [पंक्ति १६] ।

खण्ड : ख (गद्यांश—पंक्ति १७—३३)

पंक्तियाँ १७—१८—"वह नृपति विभिन्न प्रकार के सैकड़ों युद्धों में भाग लेने में दक्ष था; जिसका एकमात्र बन्धु उसकी दोनों भुजाओं के बल से अर्जित विक्रम ही था; उस सम्राट् का प्रतीक उसका प्रताप था; फरसा, बाण, बर्छी, नोकदार भाला, शंकु, बल्लम एवं नाराच आदि अनेक शस्त्रों के प्रहार की चोटों से उत्पन्न छटा द्वारा उसके शरीर की कान्ति द्विगुणित हो उठती थी ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंक्तियाँ १९–२०—"कोसल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, कोराल के मण्टराज, पिष्ठपुर के महेन्द्रगिरि, कोट्टूर के स्वामिदत्त, एरण्डपल्ल के दमन, काञ्ची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्म्म, पालक्क के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुवेर, कुस्थलपुर के धनञ्जय आदि दक्षिण के सम्पूर्ण नरेशों को बन्दी बनाने एवं तदुपरान्त उन्हें उन्मुक्त करने की कृपा से उत्पन्न प्रताप द्वारा उसका परम सौभाग्य मिश्रित था।

पंक्ति २१—"रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि, बलवर्मा आदि आर्यावर्त्त के अनेक नरेशों को बलपूर्वक उन्मूलित कर देने के कारण जो अधिक प्रभावशाली हो गया था, जिसने सम्पूर्ण आटविक नरेशों को अपना दास बना लिया था।

पंक्ति २२—"समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्त्तपुर आदि प्रत्यन्त नृपतियों तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक आदि शक्तियों को सम्पूर्ण प्रकार का करदान, आज्ञापालन, (पाटलिपुत्र में) आकर प्रणाम एवं अपनी प्रचण्ड राजाज्ञाओं को पूर्ण रूप से पालन के निमित्त जिसने बाध्य किया था।

पंक्तियाँ २३–२५—"संग्राम में पराजय-स्वरूप उन्मूलित राजवंशों की उनके अपहृत राज्यों में पुनः स्थापना के कारण जिसका शान्त यश निखिल भुवन में विचरण करता है, दैवपुत्र षाहि-षाहानुषाहि, शक, मुरुण्ड एवं सिंहल-नरेश तथा संपूर्ण द्वीपों के निवासियों ने आत्मनिवेदन, कन्याओं के उपहार एवं अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों के उपभोग-निमित्त गरुड़-मुद्रा से अंकित राजाज्ञा के लिए प्रार्थना-पत्र आदि विविध उपायों द्वारा जिसकी सेवा की थी; जिसने अपने बाहु-बल के प्रसार द्वारा भू-मण्डल को बाँध दिया था; इस वसुधा में जो अद्वितीय था; जो सैकड़ों अच्छे आचरणों द्वारा सुशोभित था; गुण-गणों के उत्कर्ष का जो सन्निधान था, जिसने अन्य नरपतियों की कीर्ति को अपने चरण-तल द्वारा प्रमृष्ट कर दिया था; जो सज्जनों के उत्कर्ष एवं दुष्टों के अपकर्ष का कारण था; जो अचिन्त्य पुरुष था; भक्ति एवं विनम्रता द्वारा ही जिसे वशीभूत किया जा सकता था; जो मृदु हृदय, अनुकम्पावान् एवं एक-लक्ष गौओं का प्रदाता था।

पंक्ति २६—"आर्त्त, दीन, अनाथ एवं रुग्ण व्यक्तियों के उद्धरण-निमित्त जिसके मन ने मन्त्र एवं दीक्षा ग्रहण की थी; जो जन-कल्याण का मूर्त्तिमान ज्वलन्त प्रतीक था; जो कुवेर, वरुण, इन्द्र एवं यमराज के सदृश था; जिसके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कर्मचारी उस राजा के बाहु-बल द्वारा विजित अनेक नरपतियों की समृद्धि को पुनः लौटाने में सर्वदा व्यस्त रहते थे।

पंक्ति २७—"जिसने अपनी तीव्र एवं विलक्षण बुद्धि और गान्धर्वविद्या में प्रवीणता द्वारा देवताओं के अधिपति (इन्द्र) के आचार्य (बृहस्पति), तुम्बुरु एवं नारद आदि को भी लज्जित कर दिया था, विद्वानों की जीविका के योग्य अनेक काव्य-रचनाओं द्वारा जिसने 'कविराज' की उपाधि अर्जित की थी; जिसका अद्भुत एवं उदार चरित चिर-काल तक याद करने योग्य है।

पंक्ति २८—"लौकिक-क्रियाओं के अनुष्ठान-कर्ता के ही अर्थ में वह मनुष्य था; वह ऐसा देवता था जो पृथ्वी पर निवास करता था। वह महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र, महाराज श्रीघटोत्कच का पौत्र, लिच्छिवि-दौहित्र, महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त का पुत्र, एवं महादेवी कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

पंक्ति २९—"सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने के कारण उत्पन्न उसकी कीर्ति निखिल अवनि-तल में विचरण करती हुई स्वर्ग-लोक में पहुँच चुकी थी। सुखपूर्वक प्रसरित होने वाले उस ललित यश को सूचित करने वाला यह स्तम्भ मानों पृथ्वी का बाहु था।

पंक्ति ३०—"प्रदान, भुजविक्रम, प्रशान्ति एवं शास्त्रज्ञान आदि उपलब्धियों द्वारा जनित उसका यश सञ्चित होकर अनेक भागों से ऊपर उठता हुआ उसी प्रकार तीनों लोकों को पवित्र करता है, जिस भाँति शंकर के जटाजूट रूपी बन्धन से उन्मुक्त होने के कारण गंगा का पावन जल शीघ्र ही त्रिलोक को पुनीत कर देता है।

पंक्ति ३१ एवं ३२—"यह काव्य उस हरिषेण की कृति है, जो सान्धिविग्रहिक, कुमारामात्य एवं महादण्डनायक था; जो खाद्यटपाकिक महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र था; जो भट्टारक के चरणों का दास था; जिसकी बुद्धि स्वामी के समीप क्रियाशील रहने के फलस्वरूप उन्मीलित हो गई थी। मेरा यह काव्य सम्पूर्ण प्राणियों के सुख एवं हित के हेतु समर्थ सिद्ध हो।

पंक्ति ३३—"इस काव्य को महादण्डनायक तिलभट्टक ने अनुतिष्ठित किया था, जो परमभट्टारक के चरणों के ध्यान में सर्वदा रत रहता था।"

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

(ख) समुद्रगुप्त का एरण का शिला-लेख (मूल पाठ)

१ से लेकर ६ तक पंक्तियाँ लेख से नष्ट हो चुकी हैं ।

७. .... सुवर्णदाने ।
८. [संवा]रिता नृपतयः पृथु-राघवाद्याः ॥२॥
९. (पुत्रो) बभूव धनदान्तक-तुष्टि-कोप-तुल्यः[1]
१०. [पराक्र] म नयेन-समुद्रगुप्तः ।
११. [यं प्रा]प्य पार्थिव-गणस्सकलः पृथिव्याम् ।
१२. पर्यस्त-राज्य-विभवद्धृतमास्थितो(ऽ)भूत् ॥३॥
१३. तातेन भक्ति-नय विक्रम तोषितेन
१४. यो राज-शब्द विभवैरभिषेचनाद्यैः ।
१५. सम्मानितः परम-तुष्टि-पुरस्कृतेन
१६. सोऽयं ध्रुवो नृपतिरप्रतिवार्य-वीर्य्यः ॥४॥
१७. दत्तास्य पौरुष-पराक्रम दत्त-शुल्का
१८. हस्त्यश्व-रत्न-धन-धान्य समृद्धियुक्ता ।
१९. नित्यङ्गृहेषु मुदिता-बहु-पुत्र-पौत्रा—
२०. सङ्ग्रामिणी कुलवधूर्व्रतिनी निविष्टा ॥५॥
२१. यस्योर्ज्जितं समर-कर्म्म-पराक्रमेद्धं
२२. पृथिव्यां यशः सुविपुलम्परिबम्भ्रमीति
२३. वीर्याणि यस्य रिपवश्च रणोर्ज्जितानि
२४. स्व प्रान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति ॥६॥
२५. .....

स्तम्भः स्वभोगनगरैरिकिण-प्रदेशे

State Museum Library Lucknow 7130

---

१. तुलनार्हः—"यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।[2]
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजमयो हि सः ॥
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनशत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥"
—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक ११-१२

२. मिलाइए:—"स्वविषयेऽस्मिन्नैरिकिणे कारितः"
—धन्यविष्णु का एरण का लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२६. .....

संस्थापितस्स्वयशसः परिवृंहणार्त्थम् ॥७॥

२७. .....

....वो नृपतिराह यदा.....

(पंक्ति-संख्या २८ विनष्ट हो चुकी है)

(हिन्दी पाठान्तर)

(प्रथम पंक्ति से छठी पंक्ति तक का भाग नष्ट हो चुका है)।

पंक्तियाँ ७–८—"सुवर्णदान के क्षेत्र में ...पृथु एवं राघव आदि नरेश उससे पीछे छुट चुके थे ।

पंक्तियाँ ९–१२—.... समुद्रगुप्त हुआ जो कि प्रसन्न होने पर साक्षात् कुवेर तथा रुष्ट होने पर यमराज का स्मरण दिलाता था...जो अपने पराक्रम एवं राजनय द्वारा अपने गुणों को सर्वदा चरितार्थ करता था; जिसके द्वारा पृथ्वी के सकल नरेश उन्मूलित एवं अपने राज्य-वैभव से वञ्चित हो गए थे।

पंक्तियाँ १३–१६—"भक्ति, विनम्रता एवं पराक्रम आदि प्रशंसनीय गुणों के कारण अत्यन्त हर्षित (पिता द्वारा) जो राज-शब्द रूपी विभव एवं अभिषेक-संस्कार द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत हुआ था। यह वही नरेश है, जिसके पराक्रम की समानता विश्व में कोई भी नहीं कर सकता था।

पंक्तियाँ १७–२०—"जिसकी पत्नी का नाम दत्तदेवी था; जिसका शुल्क उस पराक्रमी ने अपने पौरुष एवं पराक्रम द्वारा प्रदान किया था; जो हस्ति, अश्व, रत्न, धनधान्य एवं समृद्धि से विभूषित था; जिसके राजमहलों में बहुत से पुत्र एवं पौत्र प्रमुदित थे; जिसकी कुलवधू पतिपरायणा एवं गुण-सम्पन्ना थी ।

पंक्तियाँ २१–२४—"समरांगण में अर्जित जिसका कर्म उसके शौर्य्य द्वारा अनुप्राणित था, भूमण्डल में उसका यश दूर-दूर तक प्रसरित हो रहा था; रण में उपार्जित उसके पराक्रम का स्मरण कर जिसके रिपु अपने-अपने विषयों (अधिकार-क्षेत्रों) में संत्रस्त हो उठते थे।

पंक्तियाँ २५–२६—"..... अपने भोग-नगर ऐरिकिण प्रदेश में अपने यश की अभिवृद्धि के निमित्त उसने इस स्तम्भ की स्थापना की थी।...

पंक्ति २७— "... जब सम्राट् ने कहा..."

(पंक्ति-संख्या २८ विनष्ट हो चुकी है) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(ग) रामगुप्त के लेख

पूर्वी मालवा से हाल ही में प्राप्त रामगुप्त के अभिलेखों ने उसकी ऐतिहासिकता पर नवीन प्रकाश डाला है। बेसनगर (विदिशा) से दो मील की दूरी पर स्थित दुर्जनपुर नामक ग्राम से जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुईं, जो सम्प्रति मध्य प्रदेश के विदिशा-संग्रहालय में संग्रहीत हैं। इन प्रतिमाओं में कुछ के ऊपरी एवं पार्श्व-भाग खण्डित हैं। इनमें से प्रत्येक के पादमूल (चरण-चौकी) पर लेख उत्कीर्ण हैं। पहली मूर्ति का लेख तो सुरक्षित अवस्था में है, परन्तु दूसरी प्रतिमा पर उत्कीर्ण-लेख की अन्तिम (चौथी) पंक्ति नष्ट हो चुकी है। तीसरी प्रतिमा के लेख की अन्तिम पंक्तियाँ (तृतीय एवं चतुर्थ) पूर्णतः लुप्त हो चुकी हैं। इसके प्रथम एवं द्वितीय पंक्तियों के कतिपय शब्द-मात्र ही अवशिष्ट रह गए हैं।

बनावट की विशेषताओं के आधार पर ये प्रतिमाएँ गुप्त-कालीन लगती हैं। इन पर उत्कीर्ण लेखों की लिपि समुद्रगुप्त के एरण के लेख एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची के शिला-लेख (गुप्त-संवत् ९३) की लिपि से साम्य रखती है। इन लेखों में महाराजाधिराज श्री रामगुप्त का उल्लेख प्राप्य है। दुर्भाग्यवश उसकी वंशावली इनमें अनुपलब्ध है। इनमें तिथि का भी उल्लेख नहीं हुआ है। अन्यथा उसका समीकरण निर्विवाद हो जाता। उपाधि, लिपि तथा तक्षण-कला की विशिष्टताओं आदि की दृष्टि से इन लेखों के रामगुप्त का देवीचन्द्रगुप्तम् के रामगुप्त के साथ समीकरण सर्वथा समीचीन होगा। प्रथम एवं तृतीय लेखों के अनुसार रामगुप्त ने चेलुक्षमण नामक आचार्य के उपदेशानुसार चन्द्रप्रभ नामक अर्हत् की प्रतिमा की स्थापना कराई थी। द्वितीय लेख से भी उक्त नरेश के द्वारा जैन धर्मावलम्बन अभिव्यक्त होता है। इसके अनुसार उसने पुष्पदन्त नामक अर्हत् की मूर्ति का निर्माण कराया था। स्पष्ट है कि ये तीनों प्रतिमाएँ वे ही हैं, जिनकी चरण-चौकियों पर उपर्युक्त लेख उत्कीर्ण हैं।

प्रथम प्रतिमा की चरण-चौकी (पादमूल) पर उत्कीर्ण लेख

पंक्ति १:—"भगवतोऽर्हतः। चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता

पंक्ति २:—महाराजाधिराज-श्रीरामगुप्तेन-उपदेशात् पाणिपा—

पंक्ति ३:—त्रिक[1] चन्द्रक्षमाचार्य्य क्षमण-श्रमण-प्रशिष्याचार्य-

---

१. 'पाणिपात्रिक' की तुलना 'करपात्री' से की जा सकती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंक्ति ४:—सर्प्पसेनक्षमणशिष्यस्य गोलक्यान्त्यासत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्येति।"

(हिन्दी-पाठान्तर)

"महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त के द्वारा भगवान् अर्हत् चन्द्रप्रभ की इस प्रतिमा की स्थापना की गई। उन्होंने चेलुक्षमण के उपदेश के कारण इसका निर्माण कराया था। चेलुक्षमण, गोलक्यान्ति का सत्पुत्र एवं आचार्य सर्प्पसेन क्षमण का शिष्य था। वह आचार्य पाणिपात्रिक (अर्थात् पाणि ही हो पात्र जिसका) चन्द्रक्षमणाचार्य्य क्षमण-श्रमण का प्रशिष्य (शिष्य का शिष्य) था।"

द्वितीय प्रतिमा की चरण-चौकी (पादमूल) का उत्कीर्ण लेख

पंक्ति १ :—"भगवतोऽर्हतः। पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता।

पंक्ति २ :—महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक

पंक्ति ३ :—चन्द्रक्षम (णा) चार्य्य-(क्षमण)-श्रमण प्रशि(ष्यस्य)

पंक्ति ४ :— : . . . . . .

(हिन्दी-पाठान्तर)

"महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त के द्वारा भगवान् अर्हत् पुष्पदन्त की इस प्रतिमा की स्थापना की गई थी। उन्होंने पाणिपात्रिक (पाणि ही हो पात्र जिसका) चन्द्रक्षमणाचार्य्य के प्रशिष्य (शिष्य के शिष्य) . . . . ।"

तृतीय प्रतिमा की चरण-चौकी (पादमूल) का उत्कीर्ण लेख

पंक्ति १ :—"भगवतोऽर्हतः(चन्द्रप्रभ) स्य प्रतिमेयं कारिता

महा(राजा)धिराज—

पंक्ति २ :— श्री (रामगुप्ते) न उ (पदेशात्) (पा)णि-(पात्रि) . .

पंक्ति ३ :— . . . . .

पंक्ति ४ :— . . . . . .

(हिन्दी-पाठान्तर)

"महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त के द्वारा भगवान् अर्हत् चन्द्रप्रभ की इस प्रतिमा की स्थापना की गई थी। उन्होंने पाणिपात्रिक (पाणि ही हो पात्र जिसका) . . . के उपदेश से . . . . ।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(घ) चन्द्रगुप्त (द्वितीय)-कालीन उदयगिरि का शैव लेख

(मूल-पाठ)

॥ सिद्धम् ॥

१. यद [.] तज्ज्योतिरक्कामिमुर्व्या[म्मा] (ति निरन्तरम्)
(दिवा-विभावरी)—व्यापि चन्द्रगुप्ताख्यमद्भुतम् ॥ [१]

२. विक्रमावक्रयक्रीता दास्य-न्यग्भूत पार्थिव [।]
· · · [स] न-संरक्ता-धर्म्म · · · · · · · [२]

३. तस्य राजाधिराजर्षेरचि [न्त्यो[1]] [ज्ज्वल-क] [र्म्मं)णः ।
अन्वय-प्राप्त-साचिव्यो[2] व्या [पृत-सान्धि-वि] ग्रह[:] ॥ [३]

४. कौत्सशाब इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया ।
शब्दार्थ-न्याय-लोकज · · कवि×पाटलीपुत्रकः[3] ॥ [४]

५. कृत्स्न-पृथ्वी-जयार्त्थेन राज्ञैवेह सहागतः
भक्त्या भगवतश्शम्भोर्गुहामेतामकारयत् ॥ [५]

(हिन्दी-पाठान्तर)

पंक्ति १ :—"सिद्धि की प्राप्ति हो. . . अपनी अन्तर्ज्योति के कारण वह सूर्य की भाँति तेजस्वी था. . . भुवनमण्डल में. . . व्याप्त था · · · उसका नाम चन्द्रगुप्त था, जिसकी कृतियाँ विलक्षण थीं ।

पंक्ति २ :—"जिसने अपने विक्रम द्वारा क्रय-मूल्य प्रदान कर अन्य पार्थिवों को खरीद लिया था तथा अपनी दासता मानने के निमित्त उन्हें बाध्य किया था. . . .सन्तुष्ट किए गए थे. . . धर्म ।

---

१. समुद्रगप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इसी को 'अचिन्त्य-पुरुष' कहा गया है ।

२. इससे ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में नियुक्तियाँ परम्परागत आधार पर की जाती थीं। संभव है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सान्धिविग्रहिक सचिव (कवि) वीरसेन, समुद्रगुप्त के सान्धिविग्रहिक हरिषेण की ही परम्परा में आता हो जो उच्च कोटि का कवि था ।

३. इस उल्लेख के अनुसार गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र-नगरी बुद्धिजीवियों का केन्द्र थी । आर्यभट ने इसी नगर में विद्योपार्जन किया था (कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंक्तियाँ ३ एवं ४—"वह राजाधिराज एवं नरेशों में ऋषितुल्य (चन्द्रगुप्त) अचिन्त्य एवं उज्ज्वल कर्मों वाला था। उस सम्राट् का सान्धिविग्रहिक सचिव (सन्धि एवं युद्ध का निर्णय करने वाला अमात्य) शाब नामक था, जिसका कुल-नाम वीरसेन था एवं जो 'कौत्स' गोत्री ब्राह्मण था; उसने वंश-परम्परा के आधार पर मन्त्री-पद को प्राप्त किया था। वह पाटलिपुत्र का निवासी कवि था। व्याकरण, दर्शन एवं राजनीति आदि विषयों का वह मर्मज्ञ था।

पंक्ति ५—"सम्पूर्ण पृथ्वी के विजय की अभिलाषा से वह (शाब, उपनाम वीरसेन) राजा (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के ही साथ यहाँ (उदयगिरि) आया था। भगवान् शम्भु के प्रति भक्ति के कारण उसने इस गुहा का निर्माण कराया था।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(ङ) स्कन्दगुप्त-कालीन जूनागढ़ का शिला-लेख (गुप्त-संवत्) १३६, १३७ एवं १३८ [मूल पाठ]

१. ॥सिद्धम्॥
श्रियमभिमतभोग्यां नैककालाधनीतां
त्रिदशपति-सुखवार्त्थं यो बलेराजहार।
कमल-निलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः

२. स जयति विजितार्त्तिर्विष्णुरत्यन्त-जिष्णुः ॥१॥
तदनु जयति शश्वत् श्री-परिक्षिप्त-वक्षाः
स्व-भुज-जनित वीर्यो राजराजाधिराजः
नरपति—

३. भुजगानां मानदर्प्पोत्फणानां
प्रतिकृति-गरुडाज्ञां निर्विषीं चावकर्त्ता ॥२॥
नृपति गुण-निकेतः स्कन्दगुप्तः-पृथु-श्रीः
चतुरुदधि-जलान्तां-स्फीत-पर्यन्त-देशाम् ।

४. अवनिमवनतारिर्यः चकरात्म-संस्थां
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्म-शक्तया[1] ॥३॥
अपि च जितमेव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोऽपि ।
आमूल-भग्नदर्पा निर्वचना-म्लेच्छ-देशेषु[2] ॥४॥

५. क्रमेण-बुद्धया निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून् ।

---

१. यह पंक्ति भितरी के स्तम्भ-लेख के 'पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्' से तुलना करने योग्य है ।

२. संभव है कि 'म्लेच्छ-देश' से तात्पर्य फारस से हो, जहाँ से आगे बढ़ते हुए हूण भारतवर्ष आए थे । वहाँ सासानी-सम्राटों के साथ उनके कई युद्ध हो चुके थे । अतएव हूण-विजय के कारण फारस में उनका यश-प्रसरण स्वाभाविक ही था ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्र-पुत्रां-
ल्लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार[1] ॥५॥
तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चि-
द्धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु

६. आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्य्यो
दण्ड्यो न वा यो भृश-पीडितः स्यात् ॥६॥
एवं स जित्वा पृथिवीं समग्रां[2]
भग्नाग्र-दर्पान् द्विषतश्च कृत्वा
सर्व्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्
संचिन्तयामास बहु-प्रकारम् ॥७॥
स्यात्कोऽनुरूपो—

७. मतिमान्विनीतो
मेधा-स्मृतिभ्यामनपेत-भावः ।
सत्यार्जवौदार्य-नयोपपन्नो
माधुर्य-दाक्षिण्य-यशोन्वितश्च ॥८॥
भक्तोऽनुरक्तो नृविशेष-युक्तः
सर्व्वोपधाभिश्च विशुद्ध-बुद्धिः ।
अतृष्य-भावोपगतान्तरात्मा ।
सर्व्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः ॥९॥

८. न्यायार्जनेऽर्थस्य च कः समर्थः
स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च ।
गोपायितस्यापि च वृद्धि-हेतौ
वृद्धस्य-पात्र-प्रतिपादनाय ॥१०॥
सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु
यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान् ।

---

१. 'लक्ष्मी-वरण' का उल्लेख कतिपय अन्य गुप्त-कालीन लेखों में भी प्राप्य है। उदाहरणार्थ एरण के एक लेख में धन्यविष्णु के विषय में कहा गया है कि राजलक्ष्मी ने उसका वरण किया था (स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतस्य)।

२. इसकी तुलना 'धरणिबन्ध' तथा 'कृत्स्नपृथिवीविजय' से की जा सकती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो
भारस्य तस्योद्वहने समर्थः[1] ॥११॥

९. एव विनिश्चित्य नृपाधिपेन
नैकानहो रात्र-गणा-न्स्व-मत्या ।
यः संनियुक्तोऽर्थनया कथंचित्
सम्यक्सुराष्ट्रावनि-पालनाय ॥१२॥
नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां
स्वस्था यथा नोन्मनसो बभूवुः ।
पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं
निरुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत् ॥१३॥

१०. तस्यात्मजो ह्यात्मज-भाव-युक्तो
द्विवेव चात्मात्म-वशेन नीतः ।
सर्व्वात्मनात्मेव च रक्षणीयो
नित्यात्मवानात्मज-कान्त-रूपः ॥ १४॥
रूपानुरूपैर्ललितैर्विचित्रै
र्नित्य प्रमोदान्वित-सर्वभावः ।
प्रबुद्ध-पद्माकर-पद्मवक्त्रो
नृणां शरण्यः शरणागतानाम् ॥१५॥

११. अभवदभुवि चक्रपालितोऽसाविति नाम्ना प्रथितः प्रियो जनस्य ।
स्वगुणैरनुसृतैरुदात्तैः पितरं यश्च विशेषयांचकार ॥१६॥
क्षमा प्रभुत्वं विनयो नयश्च
शौर्यं विना शौर्य-महार्च्चनं च ।
दाक्ष्यं दमो दानमदीनता च
दाक्षिण्यमानृण्यमशून्यता च ॥१७॥
सौन्दर्यमार्येतर-निग्रहश्चा-
विस्मयो धैर्य्यमुदीर्णता च ।

१२. इत्येवमेतेऽतिशयेन यस्मि-
न्नविप्रवासेन गुणा वसन्ति ॥१८॥

---

१. गुजरात (सुराष्ट्र) प्रान्त पर हूणों के आक्रमणका भय था । यही कारण है कि स्कन्दगुप्त ने अपने सर्वश्रेष्ठ एवं विश्वस्त कर्मचारी पर्णदत्त को इसका राज्यपाल नियुक्त किया था ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न विद्यतेऽसौ सकलेऽपि लोके
यत्रोपमा तस्य गुणैः क्रियेत ।
स एव कार्त्स्न्येन गुणान्वितानां
बभूव नृणामुपमान-भूतः ॥१९॥
इत्येवमेतानधिकानतोऽन्या—
न्गुणान्परीक्ष्य स्वयमेव पित्रा ।
यः संनियुक्तो नगरस्य रक्षां[1]
विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक् ॥२०॥
१३. आश्रित्य वीर्यं स्वभुजद्वयस्य[2]
स्वस्यैव नान्यस्य नरस्य दर्पं ।
नोद्वेजयामास च कंचिदेव—
मस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टान्[3]॥२१॥
विस्रंभमल्पे न शशाम योऽस्मिन्
कालेन लोकेषु स-नागरेषु ।
यो लालयामास च पौरवर्गान्
स्वस्येव पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान् ॥२२॥
संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव
पूर्व्व-स्मिताभाषण-मान-दानैः ।
१४. निर्यन्त्रणान्योन्य-गृह-प्रवेशैः
संवर्द्धित-प्रीति-गृहोपचारैः ॥ २३॥
ब्रह्मण्य-भावेन परेण युक्तः
शुक्लः शुचिर्दानपरो यथावत् ।
प्राप्यान्स काले विषयान्सिषेवे
धर्मार्थयोश्चाप्यऽविरोधनेन ॥२४॥

---

१. चक्रपालित गिरिनगर (गिरिनार जिसका द्वितीय नाम जूनागढ़ भी है) का पुरपति नियुक्त किया गया था। इस नगर में उस समय सुराष्ट्र (गुजरात) प्रान्त की राजधानी विद्यमान थी ।

२. इसकी तुलना प्रयाग की प्रशस्ति के 'स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः' से की जा सकती है ।

३. इस प्रमाण से स्पष्ट है कि पुरपति का कार्य आधुनिक सिटी-मजिस्ट्रेट एवं कोतवाल दोनों का ही होता था ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यो(ऽजायत्तस्मात् खलु) पर्णदत्ता
त्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्रं ।
मुक्ता-कलापाम्बुज-पद्म-शीता-
च्चन्द्रात्किमुष्णं भविता कदाचित् ॥२५॥

१५. अथ क्रमेणम्बुद – काल-आगते
निदाध-कालं प्रविदार्य तोयदैः ।
ववर्ष तोयं बहु संततं चिरं
सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात् ॥२६॥

संवत्सराणामधिके शते तु
त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव ।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे
गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय[1] ॥२७॥

१६. इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गताः
पलाशिनीयं सिकता-विलासिनी[2] ।
समुद्र-कान्ताः चिर-बन्धनोषिताः
पुनः पतिं शास्त्र-यथोचितं ययुः ॥२८।
अवेक्ष्य वर्षागमजं महोद्भ्रमम्
महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना ।
अनेक-तीरान्तज-पुष्प-शोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः ॥२९॥
विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः
कथं-कथं कार्यमिति प्रवादिनः ।
मिथो हि पूर्वापर-रात्रमुत्थिता
विचिन्तयां चापि वभूवुरुत्सुकाः ॥३०॥
अपीह लोके सकले सुदर्शने
पुमान् हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात् ।

---

१. इस प्रमाण से स्पष्ट है कि गुप्त-नरेश तिथियों की गणना गुप्त-संवत् में ही करते थे ।

२. "गिरेरूर्जयतः सुवर्णसिकता-पलाशिनी -प्रभृतीनां नदीनां अतिमात्रोद्वृत्तैर्वेगैः सेतुम्"-- रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़ का शिला-लेख; सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१८. भवेन्नु सोऽम्भोनिधि-तुल्य-दर्शनं
सुदर्शन .. .. ॥३१॥
... . वणे स भूत्वा
पितुः परां भक्तिमपि प्रदर्श्य ।
धर्मं पुरोधाय-शुभानुबन्धं
राज्ञो हितार्थं नगरस्य चैव ॥३२॥

१९. सम्वत्सराणामधिके शते तु
त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च ।
गुप्त-प्रकाले नय-शास्त्र-वेत्ता
विश्वोऽप्यनुज्ञात–महाप्रभावः ॥३३॥
आज्य-प्रणामैः विबुधानथेष्ट्वा
धनैर्द्विजातीनपि तर्पयित्वा ।
पौरांस्तथाभ्यर्च्य यथार्हमानैः
भृत्यांश्च पूज्यान्सुहृदश्च-दानैः[1] ॥३४॥२

२०. ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्वपक्षे
... ... प्रथमेऽह्निसम्यक् ।
मासद्वयेनादरवान्स[2] भूत्वा
धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम्[3] ॥३५॥
आयामतो हस्त-शतं समग्रं ।
विस्तारतः षष्ठिरथापि चाष्टौ ।

२१. उत्सेधतोऽन्यत्[4] पुरुषाणि सप्त
.. ... हस्त-शत-द्वयस्य ॥३६॥

---

१. सुदर्शन-तटाक् के किनारे नया बाँध बनाने के पूर्व दो महीने तैयारी की गई थी ।

२. मिलाइए:—"नगर-निगम-जनपदानां स्ववीर्य्याजितानामनुरक्त-सर्व्व-प्रकृतीनाम्" —रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़ का शिला-लेख

३. तुलनीय—"स्वस्मात्कोशा महता धनौघेन"; रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़ का शिला-लेख; सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७०

४ मिलाइए—"त्रिगुण-दृढ़तर-विस्तारायामं सेतुं विधाय"—रुद्रदामा प्रथम का जनागढ़ का शिला-लेख; सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७४

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बबन्ध यत्नान्महता नृदेवा-
नभ्यर्च्च सम्यग्घटितोपलेन ।
अ-जाति दुष्टम्प्रथितं तटाकं
सुदर्शनं शाश्वत-कल्प-कालम् ॥३७॥

२२. अपि च सुदृढ़-सेतु-प्रान्त विन्यस्त-शोभ-
रथचरणसमाह्व-क्रौंचहंसास-धूतम्
विमल-सलिल .. ..
भुवि त .. .. दनेऽर्कःशशी च ॥३८॥

२३. नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौर-जुष्टं
द्विजबहुशतगीत-ब्रह्म-निर्नष्ट-पापं ।
शतमपि च समानामीति दुर्भिक्ष-मुक्तं
.. .. .. ॥३९॥

इति सुदर्शन तटाक्-संस्कार-ग्रन्थ-रचना समाप्ता ॥

खण्ड २

२४. दृप्तारि-दर्प-प्रणुदः पृथु-श्रियः
स्व-वंश-केतोः-सकलावनी-पतेः ।
राजाधिराज्याद्भुत-पुण्य-कर्मणः[1] ।
.. .. .. ॥४०॥
.. .. ..
.. .. ..

द्वीपस्य-गोप्ता[2]-महतां च नेता
दण्ड-स्थितानां

२५ .. .. द्विषतां दमाय ॥४१॥
तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन ।
गोविन्द-पादार्पित जीवितेन ।
.. .. — ॥४२॥
.. .. .. ग्घं
विष्णोश्च पादकमले समवाप्य तत्र
अर्थव्ययेन

---

१. तुलनार्हः—"उज्ज्वलकर्मणः";—चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि का शैव गुहा-लेख ।

२. सीमावर्ती प्रान्तों के राज्यपाल को 'गोप्ता' (रक्षक) कहा जाता था ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२६. महता-महता-च काले-
नात्म-प्रभाव-नत-पौरजनेन तेन ॥४३॥
चक्रं विभर्त्ति रिपु ·· ·· ··
··· ·· ·· ···
··· ·· ·· ··
तस्य स्वतंत्र-विधि-कारण-मानुषस्य ॥४४॥
२७. कारितमवक्र-मतिना चक्रभृतश्चक्रपालितेन गृहं[1] ।
वर्षशतेऽष्ट्रात्रिंशे गुप्तानां काल-क्रम गणितेन ॥४५॥
·· ··· ·· ··
··· ··· ··· ··
सार्थमुत्थितमिवोर्जयतोऽचलस्य
२८. कुर्वत्प्रभुत्वमिव भाति पुरस्य मूर्ध्नि ॥४६॥
अन्यच्च मूर्द्धनि सु ··· ·· ··
··· ··· ··· ···
··· ·· रुद्ध-विहंग मार्गं
विभ्राजते ·· ·· ·· ॥४७॥

(हिन्दी-पाठान्तर)

खण्ड १

श्लोक (१) "उस भगवान् विष्णु की जय हो जो कि दुःख को हरने वाले हैं, जो पूर्ण रूप से विजेता हैं; कमल पर निवास करने वाली लक्ष्मी के जो शाश्वत् निवास-स्थान हैं; जिन्होंने देवताओं के अधिपति (इन्द्र) के सुख के हेतु राजा बलि से चिर-काल से अपनीत श्री (लक्ष्मी) को छीन लिया था—ऐसी लक्ष्मी जो कि यथेष्ट भोग्या हैं।

श्लोक (२) "तदुपरान्त सम्राट् स्कन्दगुप्त निरन्तर विजयी हों, जिसके वक्षस्थल का आलिंगन लक्ष्मी निरन्तर करती रहती हैं; जो कि राजाओं के भी राजाधिराज हैं; जिन्होंने अपने बाहुबल के द्वारा ही पराक्रम को अर्जित किया है; जिस प्रकार विष्णु का वाहन गरुड सर्पों का विनाशक है उसी भाँति इस नरेश की गरुड़ध्वजांकित राजाज्ञा भुजग-तुल्य उन नरपतियों का मर्दन करने वाली थी, जो कि मान एवं दर्प के कारण अपने फन को उठाए रहते हैं।

१. चक्रपालित के नाम से भी स्पष्ट है कि वह वैष्णव मतावलम्बी था (भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र द्वारा रक्षित)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक (३) "सम्राट् स्कन्दगुप्त आदर्श राजगुणों के निवास-स्थान थे; उनका प्रताप अत्यन्त महान् था; जिस समय उनके पिता देवताओं के मित्र (अर्थात् दिवंगत) हुए; उस समय बाहु-बल के द्वारा उन्होंने शत्रुओं का दमन कर पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया—ऐसी पृथ्वी जो कि चारों समुद्रों तक फैली हुई थी और जिसमें समृद्ध देश सम्मिलित थे।

श्लोक (४) "और भी, जिसके शत्रु भी गर्व के समूल नष्ट हो जाने के कारण म्लेच्छ-देशों में उसके यश का गान करते हैं और इस बात की घोषणा करते हैं कि उसने निश्चय ही विजय प्राप्त कर ली है।

श्लोक (५) "क्रमानुसार बुद्धि में निपुण पाकर तथा गुण एवं दोष के समस्त हेतुओं को ध्यान में रख कर लक्ष्मी ने सभी राजकुमारों का परित्याग कर स्वयमेव उसे पति के रूप में चुन लिया था।

श्लोक (६) "जिस समय वह राजा शासन कर रहा था, उस समय उसकी प्रजा में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो कि धर्म से च्युत हो; अथवा दुःखी, दरिद्र, आपत्ति-ग्रस्त, लोभी या दण्डनीय होने के कारण अत्यन्त सताया गया हो।

श्लोक (७) "उसने सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर शत्रुओं के गर्वाधिक्य को चूर कर दिया। सम्पूर्ण क्षेत्रों में उसने रक्षकों को नियुक्त कर बहुत तरह से विचार किया।

श्लोक (८) "मेरे सभी भृत्यों के समुदाय में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो मतिवान् एवं विनीत तथा मेधा और स्मृति से युक्त है, जिसकी भावनाएँ प्रशस्त हैं; जो सत्य, ऋजुता, उदारता एवं विनम्रता से सम्पन्न है तथा जिसमें मधुरता, सज्जनता एवं यशस्विता भरी हुई है।

श्लोक (९) "जो भक्ति, अनुराग एवं पुरुषार्थ से संपन्न है; जिसकी बुद्धि विशुद्ध है और जो सभी दृष्टियों से निष्कपट एवं सच्चरित्र है; जिसकी अन्तरात्मा इस बात से सन्तुष्ट है कि उसने सबके ऋण एवं उपकार को चुका दिया है और जो सभी जीवों के उपकार में प्रवृत्त है।

श्लोक (१०) "जिसने अपने द्रव्य को न्यायपूर्ण साधनों द्वारा अर्जित किया है, जो अपने कमाये हुये धन की रक्षा में समर्थ है, द्रव्य को बचा लेने पर जो उसे बढ़ाने की भी कला से परिचित है; वृद्धि कर लेने पर उस धन को उचित विषयों पर व्यय करने का जो गुण जानता है।

श्लोक (११) "इस प्रकार विचार करते हुए जब उस नरेश ने सोचा कि सम्पूर्ण सुराष्ट्र-प्रान्त की रक्षा मेरे भृत्य-समुदाय में कौन कर लेगा तो वह इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निष्कर्ष पर पहुँचा कि एकमात्र पर्णदत्त ही है, जो कि उसके भार-वहन में समर्थ है।

श्लोक (१२) "उस राजाधिराज स्कन्दगुप्त ने इस प्रकार अपनी बुद्धि के द्वारा कई दिन एवं रात विमर्श कर, बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार उसी पर्णदत्त को सम्पूर्ण सुराष्ट्र-प्रान्त की रक्षा के लिए नियुक्त कर दिया।

श्लोक (१३) "जिस प्रकार देवता वरुण को पश्चिमी दिशा का अधीश्वर नियुक्त कर स्वस्थ मन हो गए थे, उसी प्रकार वह राजा पर्णदत्त को पश्चिमी दिशा का गोप्ता (रक्षक) नियुक्त कर विश्वास-युक्त हो गया था।

श्लोक (१४) "उस पर्णदत्त का पुत्र, आदर्श पुत्र के गुणों से युक्त था। लगता था कि मानो वह अपने ही पिता की आत्मा का ही एक द्वितीय रूप हो। स्वयं को संयमित करने में वह सर्वथा समर्थ था। सम्पूर्ण आत्माओं में व्याप्त रहने वाले प्रभु के द्वारा अपनी ही आत्मा के समान वह रक्षणीय था। वह सर्वदा अपने पर नियंत्रण रखने वाला तथा नैसर्गिक सौन्दर्य से युक्त था।

श्लोक (१५) "वह नित्य ही हर्षित रहने वाला था तथा अपने रूप के ही अनुकूल ललित एवं विविध भावनाओं से युक्त था। उसका कमलवत् मुख प्रफुल्ल पद्म के निवास-स्थान के ही समान था। शरण में आए हुए मनुष्यों का वह शरण-स्थल था।

श्लोक (१६) "वही भू-मण्डल में चक्रपालित नाम से प्रसिद्ध एवं लोक-प्रिय था। अपने उदात्त एवं निष्कलंक गुणों के द्वारा उसने अपने पिता की ख्याति को बढ़ा दिया था।

श्लोक (१७ तथा १८) "उस चक्रपालित में ये गुण अति मात्रा में रहते थे तथा उससे कभी दूर नहीं जाते थे—क्षमा, प्रभुत्व, विनय, नय, विज्ञापन-रहित शौर्य, दक्षता, संयम, दान, विशालता, सौज्जन्य, ऋण एवं उपकार से मुक्ति, सौन्दर्य, अनौचित्य पर निग्रह, अविस्मय; धैर्य एवं उदारता।

श्लोक (१९) "इस सम्पूर्ण विश्व में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो कि गुणों के द्वारा उसकी तुलना में आ सके। वह गुणवान् व्यक्तियों के लिए सम्पूर्ण रूप से उपमा का विषय हो गया था।

श्लोक (२०) "उपर्युक्त गुणों एवं इनसे भी बढ़कर अच्छाइयों को उसमें देखते हुए उसके पिता ने स्वयं ही उसे नगर (गिरिनगर = आधुनिक गिरिनार) की रक्षा के निमित्त नियुक्त किया था। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह उसने अपने पूर्वजों से भी अच्छे ढंग से किया था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक (२१) "उसने केवल निज बाहु-द्वय के बल तथा अपने ही, न कि अन्य व्यक्ति के दर्प का आश्रय लेकर उस पुर में रहने वाले दुष्टों का दमन किया तथा वहाँ किसी को उद्विग्न नहीं किया था।

श्लोक (२२) "इस अधम काल में भी उसने लोगों में—यहाँ तक कि उन व्यक्तियों में भी जिनमें पुर-जीवन के दोष आ गए थे:—विश्वास अर्जित कर लिया था। वह प्रत्येक श्रेणी के पुर-वासियों को, उनके दोष की भली भाँति परीक्षा लेकर, अपने ही पुत्रों के तुल्य मानता था।

श्लोक (२३) "बिना किसी खटके एवं रुकावट के एक-दूसरे के घर में प्रवेश, घरेलू विधियों एवं पूजा में भाग लेने के कारण प्रीति-संवर्द्धन और सम्मान, भेंट एवं स्मितपूर्ण मधुर वार्तालाप आदि के द्वारा उस चक्रपालित ने नागरिकों को प्रमुदित कर दिया था।

श्लोक (२४) "वह असीम ब्रह्म-निष्ठा से युक्त, निर्दोष, पवित्र एवं समुचित रूप में दानपरायण था। धर्म एवं अर्थ की अविरोध-प्राप्ति द्वारा उसने समयानुसार औचित्यपूर्ण ढंग से विषयों का सेवन किया था।

श्लोक (२५) "पर्णदत्त से उत्पन्न चक्रपालित यदि न्यायवान् था, तो इसमें आश्चर्य ही क्या था ? मोतियों की माला अथवा प्रफुल्ल पद्म के तुल्य शीतल चन्द्रमा से क्या उष्णता पैदा हो सकती है ?

श्लोक (२६) "तदुपरान्त क्रमपूर्वक वर्षा-ऋतु ने अपने आगमन के समय बादलों के द्वारा ग्रीष्म-काल को समाप्त कर दिया। उस समय चिरकाल तक लगातार इतनी अधिक वर्षा हुई कि सुदर्शन झील ने अकस्मात् अपने बाँध को तोड़ दिया।

श्लोक (२७ – २८) "गुप्त-प्रकाल में गणना करने पर जब एक सौ छत्तीस वर्ष व्यतीत हो गये, उस समय (अर्थात् गुप्त-संवत् १३६ में) प्रौष्ठ पद (अगस्त-सितम्बर) की षष्ठी की तिथि में, रात्रि के समय यह घटना घटी थी। इस समय रैवतक पर्वत से निकलने वाली ये अनेक नदियाँ तथा अपने बालुकामय तट पर विलास करने वाली यह पलाशिनी नदी भी—जो कि समुद्र की प्रियाएँथीं—चिरकाल के बन्धन से उन्मुक्त होने के कारण शास्त्रोक्त विधि के द्वारा अपने उदधि रूपी पति से मिलने के लिए पुनः चल पड़ीं (अर्थात् जो समीपस्थ नदियाँ पहले ग्रीष्म-ऋतु में सूख गई थीं, उनमें मूसलाधार वृष्टि के कारण इतना प्रवाह आ गया कि वे तीव्रता के साथ अपने मुहाने की ओर बढ़ चलीं)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक (२९) "वर्षाधिक्य के कारण महोदधि की प्रिया पलाशिनी नदी की अत्यन्त व्याकुलता को देख कर ऊर्जयत् (रैवतक) के मन में उसके प्रति कामना जागृत हो उठी। पुष्प से लदे हुए तटवर्ती वृक्षों से सुशोभित पलाशिनी नदी से युक्त यह पर्वत, लगता था मानो हाथ के ही तुल्य फैला हुआ हो।

श्लोक (३०) "चारो ओर लोग विषाद-युक्त होकर प्रलाप करने लगे कि अब क्या और कैसे किया जाय ? नागरिकों ने उपाय के विषय में आपस में विचार करते हुए पूरी रात जाग कर बिता दी।

श्लोक (३१) "क्षण भर के लिये वह सुदर्शन (भव्य रूप वाली) झील सम्पूर्ण लोक के निमित्त दुर्दर्शन (भयावह रूप वाली) हो गई थी। उसका स्वरूप (दर्शन) तो इस समय मानो जल-सन्निधान समुद्र-रूपी मनुष्य के तुल्य लगने लगा था। क्या अब वह पुनः सुदर्शन (रमणीय आकृति से युक्त) हो सकती थी ?

श्लोक (३२-३५) "सम्राट् एवं पुर-वासियों के हित के निमित्त उसने अपने पिता के प्रति परम भक्ति दिखा कर, धर्म को आगे करके—जिसका सदैव अच्छा परिणाम होता है, उस नय-शास्त्र के वेत्ता एवं विश्व-विदित महाप्रभाव वाले चक्रपालित ने गुप्त-संवत् के एक सौ सैंतीस (१३७) वर्ष व्यतीत हो जाने पर ग्रीष्म मास के पूर्व पक्ष के प्रथम दिन अर्घ्य एवं प्रणाम आदि के द्वारा देवताओं की भली भाँति वन्दना कर, धन के द्वारा ब्राह्मणों को सन्तुष्ट कर, यथायोग्य मान-द्वारा पुर-वासियों की अभ्यर्चना कर; पूज्य, सुहृद एवं भृत्यों को बहुमूल्य दान देकर एवं निरन्तर दो महीनों तक आदरभाव से युक्त होकर अतुलनीय धन का व्यय कर एक सेतु (बाँध) बनवाया।

श्लोक (३६) "इस बाँध की लम्बाई एक सौ हाथ, चौड़ाई अड़सठ हाथ एवं ऊँचाई सात पुरुष (पोरसा) के बराबर थी।

श्लोक (३७) "मनुष्यों में देवताओं के तुल्य उस स्कन्दगुप्त की अभ्यर्चना कर भली भाँति पत्थरों की जड़ाई द्वारा उसने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उस बाँध को निर्मित कराया। स्वभाव से ही अदुष्ट के रूप में प्रसिद्ध सुदर्शन तटाक् के निरन्तर स्थायित्व के निमित्त उसने यह कार्य सम्पन्न करा दिया।

श्लोक (३८) "इस नव-निर्मित सुदृढ़ बाँध (सेतु) के समीप कलहंस सुशोभित थे तथा तटाक् के विमल जल में तैरते हुए सारस एवं हंस दृष्टिगोचर होते थे।·····पृथ्वी पर ·····सूर्य एवं चन्द्र।

श्लोक (३९) "नागरिकों से सम्पन्न एवं बहुतेरे सैकड़ों ब्राह्मणों के द्वारा पाप-विनिर्मुक्त यह नगर (गिरिनगर) शताब्दियों तक दुर्भिक्ष एवं सूखे से बचा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रहे·····। इस प्रकार सुदर्शन-तटाक् के पुनरुद्धार रूपी ग्रन्थ की रचना समाप्त होती है।

खण्ड २

श्लोक (४०) "उस स्कन्दगुप्त का—जिसने कि शत्रुओं के गर्व को चूर कर दिया था, जिसका प्रताप महान् है, जो कि अपने वंश का केतु है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी है तथा जिसके धार्मिक कार्य उसके राजाओं के आधिराज होने से भी अधिक आश्चर्यजनक हैं·····।

श्लोक (४१)"····वह पर्णदत्त उस द्वीप का गोप्ता एवं महान् पुरुषों का नेता था। भयंकर सेनाओं वाले शत्रुओं के दमन के लिए वह पर्याप्त था।

श्लोक (४२) "उसका पुत्र अपने विशेष गुणों से युक्त था। उसने गोविन्द के पैरों की पूजा में अपना जीवन समर्पित कर दिया था।·····

श्लोक (४३-४४) "विष्णु के चरण-कमलों में उसने अपने आप को तल्लीन कर दिया। उसने पुर-वासियों को अपने प्रभाव में कर लिया। बहुत से समय एवं द्रव्य का व्यय करके उसने चक्रधारी विष्णु के मन्दिर का निर्माण किया। अपने अन्तःकरण के अनुसार वह कार्य करता था एवं मानवता का अवतार था।

श्लोक (४५) "गुप्त-संवत् में गणना करने पर जब एक सौ अड़तीस (१३८) वर्ष व्यतीत हो गये थे, उस समय उस अकुटिल (सरल) बुद्धि वाले चक्रपालित ने विष्णु (चक्रभृत) के उक्त मन्दिर का निर्माण कराया था।

श्लोक (४६) "·····लगता था मानो यह मन्दिर ऊर्जयत् पर्वत के साथ ही ऊपर उठ आया हो। उस पुर के शीर्ष विन्दु पर स्वामित्व करता हुआ सा वह देवालय सुशोभित था।

श्लोक (४७) "और एक दूसरा भी·····शीर्ष-स्थान पर····पक्षियों के मार्ग का अवरोध करता हुआ····सुशोभित था·····।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(च) स्कन्दगुप्त-कालीन भितरी का स्तम्भ-लेख

(मूल-पाठ)

सिद्धम्

१. [सर्व्व] रा [जो] च्छेतुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिला-
स्वादित-यशसो धनद-वरुणेन्द्रान्तक-स[मस्य[1]]

२. कृतान्त-परशोः न्यायागतानेक-गो-हिरण्य- (को) टि-प्रदस्य चिरोत्सन्ना-
श्वमेधा—हर्त्तुर्महाराज-श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य

३. महाराज-श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-
दौहित्रस्य महादेव्यां कुमार-देव्या—

४. मुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महादेव्या-
न्दत्त-देव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः

५. परम-भागवतो-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धचातो
महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम—

६. भागवतो महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्तस्य
प्रथित-पृथुमति-स्वभाव-शक्तेः
पृथु-यशसः पृथिवी-पतेः पृथु-श्रीः

७. पि[तृ]-प [रि] गत-पादपद्म-वर्त्ती[2]
प्रथित-यशाः पृथिवी-पतिः सुतोऽयम् ॥१॥
जगति भुज-बलाढ्यो गुप्त वंशैकवीरः[3]
प्रथित-विपुल—

---

१. तुलनार्हः—"बभूव धनदान्तक-तुष्टि-कोप-तुल्यः"—समुद्रगुप्त का एरण का स्तम्भ-लेख

२. यह समस्त पद 'तत्पादानुध्यात' का स्मरण दिलाता है, जो गुप्त-वंशीय अभिलेखों में बहुशः प्राप्य है।

३. इससे सूचित होता है कि वह अपने कुल का भूषण था। इस प्रकार का उल्लेख वाकाटक-लेखों में भी प्राप्य है। उदाहरणार्थ पृथिवीषेण द्वितीय के बालाघाट-ताम्रपट में नरेन्द्रसेन को अपने वंश का आभूषण कहा गया है (वाकाटक-वंशालंकारभूतस्य)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

८. धामा नामतः स्कन्दगुप्तः
सुचरित-चरितानां येन वृत्तेन-वृत्तं
न विहितममलात्मा तान- [धीदा?] -विनीतः ॥२॥
विनय—

९. बल-सुनीतैर्व्विक्क्रमेण-क्क्रमेण
प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन लब्ध्वा
स्वभिमत-विजिगीषा-प्रोद्यतानां परेषां
प्रणि—

१०. हित इव लेभे संविधानोपदेशः ॥३॥
विचलित-कुल-लक्ष्मी-स्तम्भनायोद्यतेन[1]
क्षितितल-शयनीये येन नीता त्रियामा
समु—

११. ति-बल-कोशा[न्पुष्यमित्रांश्च] जि[त्वा]
क्षितिप- चरण- पीठे स्थापितो वाम-पादः ॥४॥
प्रसभमनुप[मै] र्व्विध्वस्त-शस्त्र-प्रतापै-
र्विनय]स] मु

१२. [चितैश्च] क्षान्ति-शौर्यैर्निरूढम्
चरितममलकीर्त्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥५॥
पितरि दिवमुपेते—

१३. विप्लुतां-वंश-लक्ष्मीं
भुज-बल-विजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः[2]
जितमिति परितोषान्मातरं सास्र-नेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपे—

---

१. इस कोटि के सन्दर्भ अन्य राजवंशों के अभिलेखों में भी प्राप्य हैं। उदाहरणार्थ वाकाटक पृथिवीषेण द्वितीय को बालाघाट-ताम्रपट में 'निमग्नवंशस्योद्धर्त्तुः' कहा गया है।

२. इसकी तुलना हम इस नरेश के जूनागढ़-लेख के निम्नलिखित कथन से कर सकते हैं:—

"अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्थां
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या ॥"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१४. [तः] ॥६॥

[स्वै] द्द [ण्डैः] ·····प्रचलितं वंशं प्रतिष्ठाप्य[1] यो

बाहुभ्यामवनिं विजित्य हि जितेष्वार्त्तेषु कृत्वा दयाम्

नोत्सिक्तो [न] च विस्मितः प्रतिदिनं

१५. संवर्द्धमान-द्युतिः

गीतैश्च स्तुतिभिश्च-वन्दक-जनो (?) यं [प्रा] पयत्यार्य्यताम्[2] ॥७॥

हूणैर्य्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता

भीमावर्त्त-करस्य

१६. शत्रुषु-शरा ·· ·· ·· ··

·· ·· ·· ··· ·· विरचितं (?) प्रख्यापितो [दीप्तिदा]

नद्यो (?) ति··नभी (?) षु लक्ष्यत इव श्रोत्रेषु गांग[3] ध्वनिः ॥८॥

१७. [स्व] पितुः-कीर्त्ति ·· ·· ··

··· ·· ॥९॥

[कर्त्तव्या] प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्गिणः

१८. [सु] - प्रतीतश्चकारेमां य [ाविदाचन्द्र-तारकम्] ॥१०॥

इह-चैनं प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठित - शासनः

ग्राममेनं स विद [धे] पितुः पुण्याभिवृद्धये ॥११॥

१९. अतो भगवतो मूर्त्तिरियं यश्चात्र संस्थितः (?)

उभयं निर्द्देशासौ पितुः पुण्याय-पुण्य-धीरिति ॥१२॥

---

१. यहाँ पर लेखक ने पुनः गुप्त-कुल की लक्ष्मी के विचलित होने का उल्लेख किया है।

२. चारणों की स्तुतियों के कारण वह 'आर्य' कहलाया। इससे कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ पर स्कन्दगुप्त के शूद्राणी के गर्भ से उत्पन्न होने की ओर संकेत है। परन्तु सहसा ऐसे निष्कर्ष पर आना उचित न होगा। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को 'आर्य' कहा गया है। इस शब्द को लेकर उसे शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न मानना असमीचीन होगा। वह लिच्छिवि-कन्या कुमारदेवी का पुत्र था। गुप्त-लेखों में आर्य शब्द का प्रयोग सुयोग्य के अर्थ में हुआ है। कालिदास ने भी आर्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है:—

"असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।

सतां हि संदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥"

—अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक १, श्लोक २

३. हाल ही में मेरे पास सम्प्रेषित पत्र (दिनांक २८ जनवरी, १९७१) में दिनेश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(हिन्दी-पाठान्तर)

"सिद्धि की प्राप्ति हो। महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त के पुत्र थे एवं लिच्छवि-राजकुमारी महादेवी कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वे महाराज श्रीगुप्त के प्रपौत्र एवं महाराज श्रीघटोत्कच के पौत्र होते थे। समुद्रगुप्त ने सम्पूर्ण नरेशों का उन्मूलन किया था, पृथ्वी पर उनका कोई भी व्यक्ति तुलना नहीं कर सकता था, चारो समुद्रों के जल ने उनके यश का आस्वादन किया था; वे कुवेर, वरुण, इन्द्र एवं यमराज के तुल्य थे; अपने रौद्र रूप द्वारा वे कृतान्त के परशु के समान थे; न्यायपूर्वक प्राप्त अनेक गौओं एवं कोटि सुवर्ण के वे प्रदाता थे। चिरकाल से परित्यक्त अश्वमेध-यज्ञ का उन्होंने पुनरुद्धार किया था। उनके स्नेहभाजन पुत्र परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त थे। वे अद्वितीय थे तथा महादेवी दत्त-देवी के गर्भ से उत्पन्न थे। उनके पुत्र परमभागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त हुए, जो कि महादेवी ध्रुव-देवी के गर्भ से उत्पन्न एवं पिता के चरणों के ध्यान में रत थे।

श्लोक (१) "कुमारगुप्त पृथिवी के स्वामी थे एवं विलक्षण बुद्धि, स्वभाव और शक्ति के हेतु प्रख्यात थे तथा परम यशस्वी थे। यह राजा स्कन्दगुप्त उन्हीं का पुत्र था। वह अपने यश के लिए विख्यात था और पिता के चरण-कमलों में सर्वदा लीन रहता था।

श्लोक (२) "वह नाम से स्कन्दगुप्त था। वह अपने महान् ऐश्वर्य एवं समृद्धि के लिए सुविख्यात था। इस भू-मण्डल में वह अपने भुजबल से युक्त था। गुप्त-वंश का वह एकमात्र वीर था। उसके सद् व्यवहार के कारण सदाचारी व्यक्तियों के अच्छे कार्यों में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। वह पुण्यात्मा एवं विनीत था।

श्लोक (३) "जिसने प्रतिदिन के लगन के द्वारा विनय, बल, सद् आचरण एवं विक्रम आदि अभीष्ट को क्रमशः प्राप्त कर लिया था। अपने निश्चय

चन्द्र सरकार ने सुझाव रखा है कि 'गाङ्ग-ध्वनिः' के स्थान पर 'शाङ्गं-ध्वनिः' पाठ समीचीन है। उनका यह मत सही हो सकता है। हूण-विजय के उपरान्त हर्षोद्रेक में शंख, भेरी एवं तुरुही आदि के जो घोष हुए, संभव है कि लेखक का उद्देश्य इसी ओर हो। इस लेख में शार्ङ्गिण की चर्चा भी हुई है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुसार विजय की इच्छा में संलग्न शत्रुओं के दमन-हेतु जिसने व्यावहारिक कला की शिक्षा प्राप्त की थी।

श्लोक (४) "अपने वंश की विचलित लक्ष्मी को पुनः स्थापित करने में संलग्न जिसने भूमि-तल को शय्या बना कर पूरी रात्रि बिता दी थी। अत्यन्त शक्ति-शाली एवं साधन-सम्पन्न पुष्यमित्रों को जीत कर इस जाति के नरेश को ही चरण-पीठ बना कर उसने अपना बाँया पैर स्थापित किया था।

श्लोक (५) "उसने अपने शस्त्र के अतुलनीय प्रताप से बलपूर्वक अपने शत्रुओं को ध्वस्त कर दिया था।। उस अमल कीर्त्ति वाले राजा के शुभ्र चरित को, जो कि उसके समुचित विनय, शान्ति एवं शौर्य आदि के द्वारा दूरतर वृद्धि को प्राप्त हुआ था, बालक से लेकर प्रौढ़ तक प्रसन्नतापूर्वक प्रत्येक दिशा में गाया जाता है।

श्लोक (६) "जब पिता की मृत्यु के अनन्तर उसके वंश की लक्ष्मी बुझ गई, उस समय उसने अपने बाहु-बल के द्वारा शत्रुओं को जीत कर उन्हें पुनः स्थापित किया था। उसके पश्चात् अपने जय की ध्वनि करते हुए हर्ष के कारण अश्रु-युक्त नेत्रों वाली अपनी माता के पास वह उसी प्रकार पहुँचा, जिस प्रकार कृष्ण शत्रुओं का हनन् कर लेने के उपरान्त अपनी माता देवकी के पास पहुँचे थे।

श्लोक (७). "अपनी सेनाओं के द्वारा उसने विचलित वंश-लक्ष्मी को पुनः स्थापित किया। उसने बाहु-बल के द्वारा पृथ्वी को जीत लिया था। उसने विजित एवं आर्त्त व्यक्तियों के प्रति दया की भावना दिखाई। वह न तो कभी क्षुब्ध हुआ और न तो गर्वित ही। उसका प्रताप प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त हुआ था। चारणों की स्तुतियों एवं गीतों के द्वारा वह आर्य कहलाया।

श्लोक (८) "जिस समय हूणों का सामना करने के हेतु वह युद्ध-क्षेत्र में उतरा, उस समय उसकी दोनों बाहुओं के द्वारा पृथ्वी कम्पित हो उठी। शत्रुओं के बीच में उसके बाण भयंकर जलावर्त (भँवर) उत्पन्न कर देते थे। .... घोषित किया ...। ... दोनों कानों में गंगा की लहरों के टक्करों की गड़गड़ाहट की ध्वनि सुनाई देती थी।

श्लोक (९) "अपने पिता की कीर्त्ति..... ।

श्लोक (१०) "जब तक चाँद एवं तारे वर्तमान हैं, तब तक स्थायी रहने के निमित्त उस शार्गिण (विष्णु) की कोई प्रतिमा बनायी जाय ऐसा सोचकर इस परम यशस्वी राजा ने इसका निर्माण कराया।

श्लोक (११) "जिसकी राजाज्ञाओं का पालन भली भाँति किया जाता था,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उस नरेश ने इस प्रतिमा की स्थापना कराई थी। पिता के पुण्य की अभिवृद्धि के निमित्त उसने इस ग्राम को दान में दिया था।

श्लोक (१२) "अतएव भगवान् विष्णु (शार्गिण) की यह मूर्त्ति तथा इसे दान-स्वरूप प्रदत्त ग्राम—इन दोनों को ही इस विमल बुद्धि वाले राजा ने पिता के पुण्यार्जन-निमित्त निर्दिष्ट कर दिया है।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(छ) "भानुगुप्त-कालीन एरण का स्तम्भ-लेख"

१. सिद्धम् ॥ संवत्सर-शते एकनवत्युत्तरे श्रावण-वहुलपक्ष-सप्तम्या
२. संवत् १०० (+) ९० (+) १ श्रावण-व-दि
.... क्ल वंशादुत्पन्नो
३. राजेति विश्रुतः
तस्य पुत्रोऽतिविक्क्रान्तो नाम्ना राजाथ माधवः ॥१॥
गोपराजः
४. सुतस्तस्य श्रीमान्विख्यात-पौरुषः
शरभराज-दौहित्रः स्ववंशतिलकोऽधुना ॥२॥
५. श्रीभानुगुप्तो जगति-प्रवीरो
राजा महान्पार्थ-समोऽति-शूरः ।
तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपराजो[1]
६. मित्रानु (गत्येन) किलानुयातः ॥३॥
कृत्वा च युद्धं[2] सुमहत्प्रकाशं
स्वर्गं गतो दिव्य-नरेन्द्र-कल्पः ।
७. भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता
भार्य्यावलग्नानुगताग्नि-राशिम्[3] ॥४॥

(हिन्दी-पाठान्तर)

पंक्ति १—"संवत् एक सौ इक्यानबे की श्रावण बदी सप्तमी के दिन·····।
पंक्ति २—"वह·····नरेश·····राज नाम से प्रसिद्ध था तथा·····
वंश में उत्पन्न हुआ था। उसका अतिविक्रान्त पुत्र माधवराज नामक था।
पंक्तियाँ ३-४— "उसका पुत्र गोपराज नामक था, जो कि श्री-सम्पन्न

---

१. गोपराज संभवतः भानुगुप्त का सामन्त शासक था।
२. यह युद्ध हूणों के विरुद्ध हुआ होगा। इसके द्वारा भानुगुप्त एरण को उनकी अधीनता से उन्मुक्त करना चाहता था। हेमचन्द्र रायचौधरी ने इसे 'स्वतन्त्रता-संग्राम' की संज्ञा प्रदान की है।
३. यह लेख सती-प्रथा का एक पुरातत्त्वीय प्रमाण है। स्थानीय जनता इस स्तम्भ की पूजा सती-स्मारक के रूप में करती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एवं विख्यातपौरुष था। वह शरभराज का दौहित्र एवं सम्प्रति अपने वंश का तिलक था।

पंक्तियाँ ५-७– "श्री भानुगुप्त नामक एक जगत्-प्रसिद्ध राजा हुआ था; जो महान् नृपति एवं पार्थ-तुल्य अत्यन्त शूर था। उसी के साथ गोपराज मित्रता के भाव में यहाँ (एरण में) आया था। वह इन्द्र के तुल्य था। सुप्रसिद्ध युद्ध लड़ता हुआ वह दिवंगत हो गया। उसकी पतिपरायणा, अनुरुक्ता, प्रिया एवं सुरूपा भार्या पति के साथ संलग्न होकर अग्नि-राशि में प्रविष्ट हो गई थी।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(ज) कुमारगुप्त [द्वितीय]-कालीन मन्दसोर का शिला-लेख
(मालव-संवत् ४९३ एवं ५२९)
[मूल-पाठ]

१. ॥सिद्धम् ॥

यो वृत्यर्थमुपास्यते-सुर-गणैस्सिद्धैश्च सिद्धार्त्थिभि-
र्द्धचानैकाग्र-परैर्व्विधेय-विषयैर्म्मोक्षार्त्थिभिर्य्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्र-तपोधनैश्च मुनिभिश्शाप-प्रसाद-क्षमै-
र्हेतुर्य्यो जगति × क्षयाभ्युदययो ⌒ पायात्सवो भास्करः ॥१॥
तत्त्व-ज्ञान-विदोऽपि यस्य न विदुर्ब्रह्मर्ष-
योऽभ्युद्यता-

२. कृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रवृसृतैः पुष्णाति लोक-त्रयम् ।
गन्धर्व्वामर-सिद्ध-किन्नर-नरैस्संस्तूयतेऽभ्युत्थितो
भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषितं तस्मै सवित्रे नमः ॥२॥
यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्ण्ण-तुंग-शिखर-स्खलितांशुजालः

३. क्षीबांगना-
जनकपोल- तलाभिताम्रः
पायात्स वस्सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥३॥
कुसुमभरानततरुवर-देवकुल-सभा-विहार-रमणीयात् ।
लाट[1] - विषयान्नगावृत्त-शैलाज्जगति प्रथित-शिल्पाः ॥४॥
ते देश-पार्त्थिव-गुणापहृताः प्रकाश-
मद्ध्वादिजान्यविरलान्यसुखा-
न्यपास्य ।

४. जातादरा दशपुरं[2] प्रथमं मनोभि-
रन्वागतास्ससुत-बन्धु-जनान्समेत्य ॥५॥

---

१. गुजरात ।

२. यह मालवा का एक प्रसिद्ध नगर था । इसकी पहचान सिवना नदी के किनारे स्थित आधुनिक 'दसोर' अथवा 'मन्दसोर' से की जाती है । यह स्थान पहले सिन्धिया की रियासत में पड़ता था ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मत्तेभ-गण्ड-तट विच्युत-दान-बिन्दु-
सिक्तोपलाचल-सहस्र-विभूषणायाः ।
पुष्पावनम्र-तरु-मण्ड-वतंसकाया
भूमेः परन्तिलक-भूतमिदं-क्रमेण ॥६॥

५. तटोत्थ-वृक्ष-च्युत–
नैक-पुष्प–
विचित्र-तीरान्त-जलानि-भान्ति ।
प्रफुल्ल-पद्माभरणानि यत्र
सरांसि कारण्डव-संकुलानि[1] ॥७॥
विलोल-वीची-चलितारविन्द–
पतद्रजः-पिञ्जरितैश्च हंसैः ।
स्व-केसरोदार-भरावभुग्नैः
क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति ॥८॥
स्व पुष्प-भारावनतैर्न्नगेन्द्रै–
र्मद–
६. प्रगल्भालि-कुल-स्वनैश्च ।
अजस्रगाभिश्च पुरांगनाभि–
र्व्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि ॥९॥
चलत्पताकान्यबला-सनाथा–
न्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लता-चित्र-सिताभ्र-कूट-
तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥१०॥
कैलास-तुंग-शिखर-प्रतिमानि चान्या–

---

१. तुलना कीजिए:—
"हंसकारण्डवकीर्णाः वापीः पद्मोत्पलावृताः"
—रामायण, सुन्दर काण्ड, सर्ग २, पंक्ति २१
"पद्माकुलजलोपेतैः रक्तसौगन्धिकोत्पलाः ।
मणिमौक्तिकबालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च ॥
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः ॥"
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५७, पंक्ति ४२-४३

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न्याभान्ति-दीर्घ-वलभी-

नि सवेदिकानि ।

७. गान्धर्व्व-शब्द मुखराणि-निविष्ट-चित्र-
कर्म्माणि लोल-कदली-वन-शोभितानि ॥११॥
प्रासाद-मालाभिरलंकृतानि
धरां विदार्य्यैव समुत्थितानि ।
विमान-माला-सदृशानि यत्र
गृहाणि पूर्ण्णेन्दु-करामलानि ॥१२॥
यद्भात्यभिरम्य-सरिद्द्वयेन चपलोर्म्मिणा समुपगूढम् ।
८. रहसि-कुच-शालिनीभ्यां प्रीति-रतिभ्यां स्मरांगमिव ॥१३॥
सत्य-क्षमा-दम-शम-व्रत-शौच धैर्य्य-
स्वाद्ध्याय-वृत्त-विनयस्थिति-बुद्ध्युपेतैः ।
विद्या-तपो-निधिभिरस्मयितैश्च विप्रै[1]-
र्य्यद्भ्राजते ग्रहगणैः खमिवप्रदीप्तैः ॥१४॥
अथ समेत्य निरन्तर-संगतै-
रहरहः प्रविजृम्भित-

—सौहृदाः ।

९. नृपतिभिस्सुतवत्प्रतिमानिताः
प्रमुदिता न्यवसन्त सुखं पुरे ॥१५॥
श्रवण-सुभगं धानुर्व्वेद्यं दृढं परिनिष्ठिताः
सुचरित-शतासंगाः × केचिद्विचित्र-कथाविदः ।
विनय-निभृतास्सम्यग्धर्म्म-प्रसंग-परायणाः
प्रियमपरुषं पत्थ्यं चान्ये क्षमा-बहु-भाषितुम् ॥१६॥
१०. केचित्स्व-कर्म्मण्यधिकास्तथान्यै-
र्व्विज्ञायते ज्योतिषममात्मवद्भिः ।

---

१. अयोध्या-वर्णन के प्रसंग में इससे साम्य रखने वाली निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं:—

"ब्रह्मघोषमहाघोषा द्विजवन्दोपशोभिता ।
साज्यधूमोद्गमा येन वायुना नष्टकिल्विषा ॥
सुगंधितधूमविदीर्य सुरभीकृतमारुता ॥"

—विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, अध्याय २४० , पंक्ति १७-१९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अद्यापि चान्ये समर-प्रगल्भाः
कुर्व्वन्त्यरीणामहितं प्रसह्य ॥१७॥
प्राज्ञा-मनोज्ञ-वधवः प्रथितोरुवंशा
वंशानुरूप-चरिताभरणास्तथान्ये ।
सत्यव्रताः प्रणयिनामुपकार-दक्षा-
विस्रम्भ-
११. पूर्व्वमपरे दृढ़-सौहृदाश्च ॥१८॥
विजित-विषय-संगैर्द्धर्म्म-शीलैस्तथान्यै-
र्मृदुभिरधिक-सत्वैर्ल्लोकयात्रा-मरैश्च ।
स्व-कुल-तिलक-भूतैर्मुक्तरागैरुदारै-
रधिकमभिविभाति श्रेणिरेवंप्रकारैः ॥१९॥
तारुण्य-कान्त्युपचितोऽपि सुवर्ण-हार-
ताम्बूल-पुष्पविधिना सम-
लंकृतोऽपि ।
१२. नारी-जनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यां
यावन्न पट्टमय-वस्त्र युगानि-धत्ते ॥२०॥
स्पर्शवतावर्ण्णान्तर-विभाग-चित्रेण नेत्र-सुभगेन ।
यैस्सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण ॥२१॥
विद्याधरीरुचिर-पल्लव-कर्णपूर-
१३. वातेरिता स्थिरतरं प्रविचिन्त्य लोकं ।
मानुष्यमर्त्थ-निचयांश्च तथा विशालां
स्तेषां शुभा मतिरभूदचला ततस्तु ॥२२॥
चतुस्समुद्रान्त-विलोल-मेखलां
सुमेरु-कैलास-बृहत्पयोधराम् ।
वनान्त-वान्त-स्फुट-पुष्प-हासिनीं
कुमारगुप्ते[1] पृथिवीं प्रशासति ॥२३॥

---

१. यहाँ पर कवि कुमारगुप्त प्रथम एवं कुमारगुप्त द्वितीय दोनों का ही उल्लेख करता है। जिस समय (अर्थात् मालव-संवत् ४९३ = ४३६ ई० में) दशपुर के सूर्य-मन्दिर का निर्माण हुआ, उस समय कुमारगुप्त प्रथम राज्य कर रहा था। कालान्तर में जब मालव-संवत् ५२९ (४७२-७३ ई०)में इस देवालय का जीर्णोद्धार हुआ, उस समय कुमारगुप्त द्वितीय राज्य कर रहा था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समान-धीश्शुक्र-वृहस्पतिभ्यां
ललामभूतो भुवि

पार्थिवानां ।

१४. रणेषु यः पार्त्थ-समानकर्म्मा
बभूव गोप्ता नृप-विश्ववर्म्मा ॥२४॥
दीनानुकंपन-परः कृपणार्त्त-वर्ग-
सन्धाप्रदोऽधिकदयालुरनाथ-नाथः ।
कल्पद्रुमः प्रणयिनामभयं प्रदश्च
भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत् ॥२५॥
तस्यात्मजः स्थैर्य्य-नयोपपन्नो
बन्धु-प्रियो-

बन्धुरिव प्रजानां ।

१५. बंध्वर्त्ति-हर्त्ता-नृप बन्धुवर्म्मा
द्विड्दृप्त-पक्ष-क्षपणैक-दक्षः ॥२६॥
कान्तो युवा रण-पटुर्व्विनयान्वितश्च
राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः ।
शृंगार-मूर्त्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि
रूपेण यः कुसुम-चाप इव द्वितीयः ॥२७॥
वैधव्य-तीव्र-व्यसन-क्षतानां

१६. स्मृत्वा यमद्याप्यरि-सुन्दरीणां ।
भयाद्भवत्यायत-लोचनानां
घन-स्तनायास-करः प्रकम्पः ॥२८॥
तस्मिन्नेव क्षितिपति-वृषे बंधुवर्म्मण्युदारे
सम्यकस्फीतं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांसे ।
शिल्पावाप्तैर्द्धन-समुदयैः पट्टवायैरुदारं
श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारितं

दीप्त-रश्मेः[1] ॥२९॥

---

१. सूर्य-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख स्कन्दगुप्त-कालीन इन्दौर के ताम्रपट (गुप्त-संवत् १४६) में भी प्राप्त है। इसके अनुसार क्षत्रिय अचलवर्मा एवं भृकुण्ठसिंह ने, जिन्होंने वणिक्-वृत्ति अपना ली थी, इन्द्रपुर (बुलन्द शहर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१७. विस्तीर्ण-तुंग शिखरं शिखरि-प्रकाश-
मम्युद्गेन्द्रमल-रश्मि-कलाप-गौरं ।
यद्भाति पश्चिम-पुरस्य निविष्ट-कान्त-
चूड़ामणि-प्रतिसमन्नयनाभिरामं ॥३०॥
रामा-सनाथ-रचने-दर-भास्करांशु-
वह्नि-प्रताप-सुभगे-जल-लीन-मीने ।
चन्द्रांशु-हर्म्यतल-
चन्दन-ताल-वृन्त-

१८. हारोरुभोग-रहिते हिम-दग्ध-पद्मे ॥३१॥
रोद्ध्र-प्रियंगुतरु-कुन्दलता-विकोश-
पुष्पासव-प्रमुदितालि-कलाभिरामे ।
काले-तुषार-कण-कर्क्कश-शीत-वात-
वेग-प्रनृत्त-लवली-नगणैकशाखे ॥३२॥
स्मर-वशग-तरुणजन-वल्लभांगनाविपुल-कान्त-पीनोरु-

१९. स्तन-जघन-घनालिंगन-निर्भर्त्सित-तुहिन-हिम-पाते ॥३३॥
मालवानां गण-स्थित्या[1]-याते-शत-चतुष्टये ।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानाममृतौ सेव्य-घनस्तने ॥३४॥
सहस्यमास-शुक्लस्य-प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे ।
मंगलाचार-विधिना प्रासादोऽयं निवेशितः ॥३५॥
बहुना समतीतेन-
कालेनान्यैश्च पार्थिवैः[2] ।

२०. व्यशीर्य्यतैकदेशोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना ॥३६॥

जिले में स्थित आधुनिक इन्दौर) में सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था (प्रतिष्ठापितक-भगवते-सवित्रे); दृष्टव्यः—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० ३११

१. गुप्त-कालीन लेख होते हुए भी इसमें तिथि की गणना मालव—संवत् में की गई है। इस साक्ष्य के आधार पर मालवा-क्षेत्र में इस संवत् की लोकप्रियता प्रमाणित होती है।

२. केवल ३६ वर्षों के ही अन्तर को यहाँ दीर्घ काल कहा गया है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि हूण-आक्रमण के कारण मन्दिर का एक भाग टूटा था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वयशो-वृद्धये सर्व्वमत्युदारमुदारया ।
संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या[1] भानुमतो गृहम् ॥३७॥
अत्युन्नतमवदातं नभः स्पृशन्निव मनोहरैश्शिखरैः ।
शशि-भान्वोरभ्युदयेष्वमल मयूखायतन-
२१. भूतम् ॥३८

संवत्सर-शतेषु पंचसुविंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु ।
यातेष्वभिरम्य तपस्यमास-शुक्ल-द्वितीयायाम् ॥३९॥

स्पष्टैरशोकतरु-केतक-सिंदुवार-
लोलातिमुक्तकलता मदयंतिकानाम् ।
पुष्पोद्गमैरभिनवैरधिगम्य नून-
मैक्यं विजृंभित-शरे-हर-पूत-देहे ॥४०॥
२२. मधुपान-मुदित-मधुकर-कुलोपगीत-नगणैक पृथुशाखे ।
काले-नव-कुसुमोद्गम-दंतुर-कान्त-प्रचुर-रोद्ध्रे ।४१॥
शशिनेव नभो विमलं कौस्तुभ-मणिनेव शार्ङ्गिणो वक्षः ।
भवन-वरेण तथेदं पुरमखिलमलंकृतमुदारम् ॥४२॥
अमलिन-शशि—
लेखा-दंतुरं-पिंगलानां
२३. परिवहति रामूहं यावदीशो जटानां ।
विकच कमल-मालामंस-सक्तां च शार्ङ्गी
भवनमिदमुदारं शाश्वतन्तावदस्तु ॥४३॥
श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः ।
पूर्व्वा चेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ॥४४॥
२४. स्वस्ति कर्तृ-लेखक-वाचक श्रोतृभ्यः ॥सिद्धिरस्तु॥

(हिन्दी-पाठान्तर)

पंक्तियाँ १-२—"भगवान् भास्कर हमारी रक्षा करें जो विश्व के क्षय एवं अभ्युदय के कारण हैं, देवगण भी अपनी सुरक्षा-हेतु जिसकी वन्दना करते

---

१. 'श्रेणी' व्यावसायिक समिति को कहा जाता था । 'एकेनशिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी'—कय्यट, २, १, ५९ । 'श्रेण्यो नानाजातीनां एकजातीयकर्मोपजीविनां संघाताः'—मेधातिथि, २, ३० ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं; सिद्ध लोग अपनी सिद्धियों को जगाने के निमित्त जिसकी उपासना करते हैं; ध्यानावस्थित, लौकिक विषयों से परांगमुख एवं मोक्षार्थी योगी भी जिनकी पूजा उत्सुकतापूर्वक करते हैं; मुनियों द्वारा भी—तीव्र तपस्या ही जिनका धन है, एवं जिनमें अभिशाप तथा वरदान की विलक्षण क्षमता है—भक्तिपूर्वक उस सूर्य देवता की आराधना निरन्तर की जाती है। तत्त्व-ज्ञान रखने वाले ब्रह्मर्षि कठोर यत्न करने पर भी जिसे ठीक समझ पाने में असमर्थ सिद्ध हुए; जो भगवान् सविता चतुर्दिक् विकीर्ण रश्मियों द्वारा सकल त्रिलोक का पोषण करते हैं; उदय होते ही गन्धर्व, देवता, सिद्ध, किन्नर एवं मानव जिसकी स्तुति करने लगते हैं; जो अपने भक्तों के अभिलसितार्थ की सम्पूर्ति करते हैं; उसी दीप्त-रश्मि भगवान् सूर्य को नमस्कार है। किरण रूपी आभरणों से सर्वदा सुशोभित भगवान् भास्कर हमारी रक्षा करें, जिसकी रश्मियाँ मदिरा से उन्मत्त अंगना के कपोल-सदृश रक्त वर्ण हैं तथा जिनके अंशु-जाल (किरण-समूह) प्रति दिन उदयाचल के विस्तीर्ण एवं उत्तुंग शिखरों पर प्रसरित हो सुशोभित होते हैं।

पंक्तियाँ ३-७—"वनस्पतियों से हरे-भरे शैलों से युक्त लाट (गुजरात) नामक एक विषय था, जो प्रस्फुटित सुमनों से झुकी डालियों वाले श्रेष्ठ वृक्षों, देवकुल, सभागृह एवं चैत्यभवनों के कारण अत्यन्त चित्ताकर्षक था। वहाँ से विश्व में प्रख्यात शिल्पकार (मालवा में स्थित) दशपुर नामक नगर में आए। पहले वे केवल संकल्प बना कर (अर्थात् व्यक्तिगत रूप से ही) पधारे थे, परन्तु कालान्तर में वे अपने बन्धु-बान्धव एवं परिवार को एकत्र कर वहाँ आए। मार्ग में उन्हें अनवरत थकान एवं कष्टों का सामना करना पड़ा, तथापि वहाँ के पार्थिव के गुणों से आकृष्ट होने के कारण उन्होंने उनका ध्यान नहीं दिया था। क्रमशः यह पुर विश्व में अग्रणी हो गया था। उसकी भूमियाँ खिले हुए सुमनों से झुकी शाखाओं वाले तरुओं से सुशोभित थीं। मत्त गजों के मस्तकों से स्रवित मद-धारा से सिञ्चित शैलों के द्वारा इसकी कान्ति अग्रतर विभूषित होने लगती थी। इस नगर के सरोवरों के जल में कारण्डव तैरते रहते थे तथा वे प्रफुल्ल पद्मों के कारण सुशोभित हो उठते थे। तट पर उगे हुए वृक्षों से विविध पुष्पों के गिरने के कारण किनारे का जल विचित्र छटा को धारण करता था। इन सरों में तैरते हुए कलहंस चंचल लहरों के थपेड़ों से गिरते हुए कमल-पराग द्वारा पिञ्जर (भूरे) वर्ण के लगते थे। इनमें प्रस्फुटित कमल अपनी ही पंखुड़ियों के भार से अवनत दृष्टिगोचर होते थे। इस पुर की वाटिकाएँ पुरांगनाओं की मन्थर चाल द्वारा सुशोभित थीं। उनके वृक्ष अपने ही पुष्पों के भार से अवनत तथा सुमन रस-पान द्वारा उन्मत्त अलियों के गुञ्जार के कारण समलंकृत थे। इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नगर के गृह हवा के वेग से फहराते हुए पताकों, अत्यधिक धवल उत्तुंग शृंगों एवं सुरूपा कामिनियों द्वारा विशेष छटा से युक्त थे। इसके शिखर शुभ्र हिम से आच्छादित शिखरों के तुल्य थे, जिनकी कान्ति विजली की चमक द्वारा विलक्षण लगती थी। वहाँ के अन्य गृह कैलास पर्वत के तुल्य उत्तुंग शिखरों से युक्त थे; उनकी वाटिकाओं में कदली वृक्ष लहलहा रहे थे एवं उनमें लता-कुञ्ज एवं वेदिकाएँ सुशोभित थीं; वे संगीत की ध्वनियों द्वारा मुखरित होते थे एवं उनमें चित्रशालाएँ वर्तमान थीं। वह नगर कई मञ्जिलों से युक्त महलों द्वारा विभूषित था। उन्हें देखने से आभास होता था, मानों पृथ्वी को फाड़कर वे एक ही समय ऊपर उठ आए हों; आकाश में बने हुए भवनों के तुल्य वहाँ के घर पूर्णचन्द्र की भाँति धवल लगते थे। चपल ऊर्मियों (लहरों) से युक्त दो श्रेष्ठ नदियों के द्वारा वह पुर परिवेष्ठित था। देखने से लगता था मानों कुचशालिनी प्रीति एवं रति नामक भार्याएँ एकान्त में कामदेव का आलिंगन कर रही हों। जिस प्रकार ग्रह-गणों द्वारा आकाश-मण्डल प्रदीप्त होता है, उसी भाँति यह नगर सत्य, क्षमा, आत्मनिग्रह, शान्तिपरायण, व्रतधारी, पवित्र, धैर्यवान्, स्वाध्यायी, सदाचारवान्, स्थितप्रज्ञ, विनययुक्त, विद्यासम्पन्न, तपोनिधि एवं प्रवीण ब्राह्मणों द्वारा सुशोभित था।

पंक्तियाँ ८-१०—"निरन्तर संगति के कारण सुहृद्मण्डली के अभिवृद्ध, एवं नृपतियों द्वारा पुत्रवत् सम्मानित होने के कारण सामूहिक जीवन व्यतीत करते हुए वे इस नगर में सुखपूर्वक रहने लगे। उन शिल्पियों में कतिपय धनुर्विद्या में प्रवीण थे; उनके धनुष की प्रत्यञ्चाओं की आवाज कानों को सुख पहुँचती थी; कतिपय सैकड़ों अच्छे आचरणों से युक्त थे; कुछ विचित्र कथाओं के ज्ञाता थे, कुछ विनम्र एवं धर्मपरायण थे; कतिपय प्रिय, कोमल एवं हितकारी वचनों को सुनाने में प्रवीण थे; कुछ क्षमाशील थे। उनमें कतिपय अपनी कला (रेशमी कपड़ा बुनने की कारीगरी) में प्रवीण थे; कुछ ज्योतिषशास्त्र के मर्मज्ञ थे; कतिपय आज दिन भी युद्ध-क्षेत्र में प्रगल्भ तथा शत्रुओं के विनाश में निपुण थे। उन प्राज्ञ कलाकारों की स्त्रियाँ परम सुन्दरी थीं; वे विख्यात एवं श्रेष्ठ वंशों में उत्पन्न हुए थे; अपने कुल के अनुरूप चरित द्वारा वे विभूषित थे; वे सत्यव्रत, प्रणयी एवं उपकार-दक्ष थे; विश्वस्त व्यक्तियों एवं घनिष्ठ मित्रों के साथ वे सर्वदा अनुग्रह दिखाते थे। इस प्रकार के सदस्यों द्वारा, तथा विषयासक्ति का परित्याग करने वाले, धर्मशील, अत्यन्त मृदु, विश्व में देव-तुल्य, मुक्तराग, अत्यधिक उदार एवं कुल-भूषण अन्य सदस्यों द्वारा भी शिल्पियों की वह समिति (श्रेणी) सर्वदा सुशोभित थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंक्ति ११—"यौवनशालिनी, लावण्यमयी; सुवर्णहार, ताम्बूल एवं पुष्प-माल-धारिणी होने पर भी नारी अपने प्रिय से तब तक नहीं मिलने जाती, जब तक कि उसनें युगल पट्ट (रेशमी वस्त्र) नहीं धारण कर लिया हो। उन शिल्पियों द्वारा वह नगर अलंकृत था। लगता था, मानों सम्पूर्ण क्षिति-तल सुखद स्पर्श, विभिन्न वर्णों के द्वारा-चित्र-विचित्र एवं नयनाभिराम पट्ट वस्त्र (रेशमी वस्त्र) द्वारा विभूषित हो रहा हो।

पंक्ति १२—"जिस प्रकार वायु के झोंके से विद्याधरियों के रुचिर पल्लव-कर्णपूर उड़ जाते हैं, उसी भाँति संसार, मनुष्य-जीवन एवं विपुल धन-सञ्चय को क्षणभंगुर समझने के कारण उन शिल्पियों की बुद्धि शुभ्र एवं स्थिर हो गई थी।

पंक्ति १३—"जिस समय कुमारगुप्त पृथ्वी पर शासन कर रहे थे—ऐसी पृथ्वी जिसके चारो समुद्र करधनी के तुल्य थे, सुमेरु एवं कैलास पर्वत बृहत् पयोधरों के समान थे, उपवनों में गिरे हुए प्रसून जिसकी हँसी के सदृश थे। उनके काल में विश्ववर्मा नामक गोप्ता (रक्षक) उत्पन्न हुआ था, जो शुक्र एवं बृहस्पति की भाँति मेधावी था,पार्थिवों में जो अग्रगण्य तथा युद्ध-क्षेत्र में पार्थ के समान पराक्रमी था। जो दीनों के साथ दयालुता दिखाता था; दुःखी एवं असहाय को शरण देता था, अत्यधिक दयालु एवं अनाथों का नाथ था, कल्प-द्रुम की भाँति लोगों की इच्छाओं की पूर्ति करता था, भयभीत को साहस प्रदान करता था एवं सम्पूर्ण जनपद का बन्धु था।

पंक्तियाँ १४-१६—उसका पुत्र बन्धुवर्मा नामक नृप हुआ, जो स्थिरता एवं विनम्रता से युक्त था; बन्धुप्रिय एवं प्रजावत्सल था; बन्धुबान्धवों के दुःख का विनाश-कर्ता था, उद्धत शत्रुओं के उच्छेदन में दत्त था। वह विनय से परिपूर्ण, रण में दक्ष, सुन्दर युवा, राजा होते हुए भी मद एवं अन्य बुरी आदतों और भावों से वञ्चित, अनलंकृत होने पर भी शृंगार-मूर्ति तथा द्वितीय कामदेव-तुल्य था। वैधव्य की तीव्र वेदना से पीड़ित आयत लोचनों वाली अरि-सुन्दरियाँ आज भी जब उसके रूप का स्मरण करती थीं, तो उनके उन्नत एवं कठिन कुचों में कम्पन होने लगता था। क्षितिपतियों में श्रेष्ठ एवं उदार उसी बन्धुवर्मा के राज्य-काल में दशपुर नगर पर्याप्त उन्नति एवं समृद्धि को प्राप्त हो चुका था। अपने उद्योग द्वारा प्राप्त धन-समूह से इस पुर की पट्टवाय-श्रेणी (रेशमी वस्त्र बुनने वाली शिल्पि-समिति) ने एक भव्य एवं अद्वितीय सूर्यमन्दिर का निर्माण किया था। उस देवालय का उत्तुंग एवं विस्तीर्ण शैल शिखर कैलास-तुल्य था। चन्द्रमा के उदय होने पर उसकी अमल रश्मियों द्वारा वह धवलित हो उठता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। इस प्रकार शोभा के निखर जाने के कारण पश्चिमी भारत का यह नयनाभि-राम मन्दिर सर्वश्रेष्ठ देवालय के रूप में परिगणित होता था।

पंक्तियाँ १७-१८——"उस ऋतु में जब शीत एवं बर्फ गिरने लगता है; जिस समय काम-वेदना से संतप्त युवक-जनों का प्रिय-सुन्दरियों के पीन एवं अभिराम पयोधरों एवं जघन-स्थल के साथ घनालिंगन होता है एवं फलस्वरूप उन्हें सर्दी का कोई भी अनुभव नहीं होता, जब सूर्य की किरणें (अंशु) एवं आग की गर्मी अच्छी लगती हैं; हिमपात के कारण कमल झुलस जाते हैं; चन्दनानुलेप, ताड़ के पंखों एवं कण्ठाभरण का आनन्द वञ्चित हो जाता है; महलों की छत पर बैठ कर चन्द्र-छटा के सुख का अनुभव नहीं किया जा सकता; जिस समय मछलियाँ गहरे जल में प्रविष्ट हो जाती हैं, जब रोद्ध्र, प्रियंगु-तरुओं एवं चमेली के पुष्पों के आसव से उन्मत्त एवं प्रमुदित भ्रमरों का सौन्दर्य एवं अभिराम गुञ्जन नहीं सुनाई पड़ता; जिस समय तुषार के कणों से युक्त शीत वायु के वेग द्वारा लवली एवं नगण वृक्षों की शाखाएँ झूमने लगती हैं। मालव-गण की स्थिति से ४९३ वर्षों के व्यतीत होने पर (अर्थात् मालव-संवत् ४९३ में) उसी ऋतु में जिस समय प्रियतमाओं के उन्नत स्तनों का आनन्द उठाने योग्य है—सहस्य (पूस) मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन उस पट्टवाय-श्रेणी के द्वारा मंगलाचार-विधियों के साथ इस सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया गया था।

पंक्तियाँ १९-२३——"बहुत समय व्यतीत होने पर—जब अन्य पार्थिवों ने भी राज्य कर लिया था—उस मन्दिर का एक भाग टूट गया। उस समय उसी उदार श्रेणी ने अपने यश की अभिवृद्धि के निमित्त इस देवालय का जीर्णोद्धार किया था। लगता था कि यह अत्यन्त उन्नत अपने मनोहर शिखरों द्वारा मानो आकाश को ही छूने जा रहा हो। चन्द्रमा एवं सूर्य के उगने पर उनकी अमल किरण-समूहों का यह निवास-स्थान था। जब इस संवत्सर के ५९२ वर्ष व्यतीत हो गए उस समय अभिरम्य तपस्य मास (फरवरी-मार्च) के शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन—जिस ऋतु में शिव के द्वारा भस्मीभूत कामदेव अशोक, केतक, सिन्दुवार एवं अतिमुक्तक लता के पुष्पों के साथ अपनी एकता को स्थापित कर अपने बाणों की संख्या (अर्थात् पञ्च बाण) को बढ़ा लेता है, जिसमें नगण वृक्षों की पृथु शाखाएँ मधुपान से उन्मत्त मधुकरों के गुञ्जार से सुशोभित होती हैं; संख्या में प्रचुर एवं रमणीक रोध्र वृक्ष नव कुसुमों के उद्गम के कारण झूमने लगते हैं। जब तक चन्द्रमा के द्वारा विमल आकाश, एवं कौस्तुभ मणि द्वारा विष्णु का वक्षस्थल सुशोभित है, उस समय तक यह सम्पूर्ण उदार पुर इस

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रेष्ठ भवन (सूर्यमन्दिर) द्वारा अलंकृत रहेगा। जब तक शिव का ललाट शुभ्र चन्द्र-छटा द्वारा सुशोभित है एवं उनके सिर पर जटा वर्तमान है तथा भगवान् विष्णु अपने गले में कमलों की माला धारण करते हैं, तब तक यह भवन (मन्दिर) चिरस्थायी रहे। पट्टवाय-श्रेणी के आदेश द्वारा यह रवि-भवन (सूर्य-मन्दिर) निर्मित हुआ है। इस प्रशस्ति की रचना वत्सभट्टि ने बड़े ही परिश्रम के साथ की है। रचयिता, उत्कीर्ण-कर्त्ता, वाचक एवं श्रोता-गण का कल्याण हो।"

●●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट ८
समसामयिकों के अभिलेख
[क] यशोधर्म्मन् का मन्दसोर का स्तम्भ-लेख
(मूल पाठ)

१. वेपन्ते यस्य भीम-स्तनित-भय-समुद्भ्रान्त-दैत्या दिगन्ताः
शृंगाघातैः सुमेरोर्व्विघटित-दृषदः कन्दरा यः करोति ।
उक्षाणं तं दधानः क्षितिधर-तनया-दत्त[पञ्चाङ्गुलांकं]
द्राघिष्ठः शूलपाणेः क्षपयतु भवतां शत्रु-तेजांसि केतुः॥१॥

२. आविर्भूतावलेपैरविनय-पटुभिल्लङ्घिताचार-[मा]र्गैः—
र्म्मोहादैदं-युगीनैरपशुभ-रतिभिः पीड्यमाना नरेन्द्रैः ।
यस्य क्ष्मा शार्ङ्गपाणेरिव-कठिन-धनुर्ज्या[1]-किणांक-प्रकोष्ठं
बाहुं लोकोपकार-व्रत-सफल-परिस्पन्द-धीरं प्रपन्ना ॥२॥

३. निन्द्याचारेषु योऽस्मिन्विनय-मुषि-युगे कल्पना-मात्र वृत्त्या
राजस्वन्येषु पांसुष्विव कुसुम-बलिर्न्नाविभासे प्रयुक्तः ।
स श्रेयो धाम्नि साम्राडिति मनु-भरतालर्क्क-मान्धातृ-कल्पे
कल्याणे हेम्नि भास्वान्मणिरिव सुतरां भ्राजते यत्र शब्दः ॥३॥

४. ये भुक्ता गुप्त-नाथैर्न्नसकल[2]-वसुधाक्रान्ति-दृष्ट-प्रतापै-
र्न्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपति-मुकुटाद्धचासिनी यान्प्रविष्टा ।
देशांस्तान्धन्व-शैल-द्रुम-गहन-सरिद्वीरबाहूपगूढा-
न्वीर्य्याविस्कन्न-राज्ञः स्व-गृहपरिसरावज्ञया[3] यो भुनक्ति ॥४॥

५. आ लौहित्योपण्ठात्तलवन[4]-गहनोपत्यकादा महेन्द्रा—
दा गंगाश्लिष्ट-सानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादा पयोधेः ।
सामन्तैर्यस्य बाहु-द्रविण-हृत-मदैः पादयोरानमद्भि—
श्चूडा-रत्नांशु-राजि-व्यतिकर-शबला भूमि-भागाः क्रियन्ते ॥५॥

---

१. "अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं"—अभिज्ञानशकुन्तलम्, अंक २, श्लोकार्द्ध ४

२. इससे प्रमाणित होता है कि उसके पूर्वज गुप्तों के सामन्त थे ।

३. इस समस्त पद से ज्ञात होता है कि वह माण्डलिक कुल में उत्पन्न हुआ था ।

४. पूर्व में लौहित्य नदी दिग्विजय की आदर्श सीमा मानी जाती थी । आदित्य-सेन के अफसढ़ के शिला-लेख में उसके पूर्वज महासेनगुप्त के दिग्विजय के प्रसंग में लौहित्य-तट का उल्लेख मिलता है ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

६. स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमांगगं
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्ग्ग-शब्दाभिमानम् ।
नीचैस्तेनापि यस्य-प्रणति-भुजबलावर्ज्जन-क्लिष्ट-मूर्द्धा
चूड़ा-पुष्पोपहारैर्म्महिरकुल-नृपेणर्च्चितं पादयुग्मम् ॥६॥

७. गामेवोन्मातुमूर्द्ध्वं विगणयितुमिव ज्योतिषां वक्क्रवालं
निर्द्देष्टुं मार्ग्गमुच्चैर्द्दिव इव सुकृतोपार्ज्जितायाः स्वकीर्त्तेः ।
तेनाकल्पान्त-कालावधिरवनिभुजा श्रीयशोधर्म्मणायं
स्तम्भः[1] स्तम्भाभिराम-स्थिर-भुज-परिघेणोच्छ्रितं नायितोऽत्र ॥७॥

८. श्लाघ्ये जन्मास्य वंशे चरितमघहरं दृश्यते कान्तमस्मि-
न्धर्म्मस्यायं निकेतश्चलति नियमितं नामुना लोकवृत्तम् ।
इत्युकर्षं गुणानां लिखितुमिव यशोधर्म्मणश्चन्द्र-बिम्बे
रागादुत्क्षिप्त उच्चैर्भुज इव रुचिमान्यः पृथिव्या विभाति[2] ॥८॥

९. इति तुष्टूषया तस्य नृपतेः पुण्यकर्म्मणः ।
वासुलेनोपरचिताः श्लोकाः कक्कस्य सूनुना ॥९॥
उत्कीर्णा गोविन्देन ।

(हिन्दी-पाठान्तर)

पंक्ति १—"भगवान् शूलपाणि का केतु आपके शत्रुओं के तेज का विनाश करे, जिस पर नन्दि (वृषभ) की आकृति निरूपित है एवं जिस पर गिरिराजतनया की पाँचों अंगुलियों की छाप अंकित है; जिसके भयंकर प्रहारों के भय से दिग-दिगन्त के दैत्य समुद्भ्रान्त होकर काँपने लगते हैं तथा जिसके शृंगों के आघात के कारण सुमेरु पर्वत की कन्दराओं की चट्टानें विदीर्ण हो जाती हैं।

पंक्ति २:—"भगवान् शार्ङ्गिण की बाँहों के तुल्य उसकी बाहों का, वसुधा ने ऐसे समय शरण लिया था; जब कि वह आधुनिक नरेन्द्रों के व्यवहारों द्वारा संपीड़ित थी । वे नरेश अपने बलावलेप द्वारा उद्धत थे, मदान्ध होने

---

१. यह स्तम्भ 'जय-स्तम्भ' की कोटि में आता था, जिसकी स्थापना सम्राट् अपने दिग्विजय के उपलक्ष में करवाता था । प्रथा के अनुसार इस पर उसकी प्रशस्ति भी उत्कीर्ण कराई जाती थी ।

२. तुलनार्हः—
"भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः"—समुद्रगुप्त का प्रयाग का स्तम्भ-लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के कारण उन्होंने सदाचार-मार्ग का उल्लंघन कर दिया था एवं कुत्सित रतियों के उपभोग में वे संलग्न थे। उसकी (यशोवर्मन् की) बाँहें धनुष की प्रत्यञ्चा को अनवरत भाँजने के कारण कठोर हो गई थीं तथा लोकोपकार रूपी संकल्प की सफलतापूर्वक कार्यान्विति में वे अत्यन्त प्रवीण थीं।

पंक्ति ३—"वह नरेश गुणों का संन्निधान था। मनु, भरत, अलर्क एवं मान्धातृ के तुल्य जिसके व्यक्तित्व में सम्राट् शब्द उसी भाँति शोभा पा रहा था, जिस प्रकार कल्याणकारी हेम (सुवर्ण) में ज्वलन्त मणि शोभा पाती है। वह उस युग में—जो सदाचार का विनाशक है—अपने सद्गुणों के कारण देदीप्यमान था। पथभ्रष्ट नरेशों की संगति का परित्याग करने के कारण वह नरेश उसी भाँति सुशोभित था, जिस प्रकार कीचड़ में प्रक्षिप्त न होने पर सुमन शोभा-युक्त होता है।

पंक्ति ४—"अपने प्रताप द्वारा अन्य नरेशों को नतमस्तक कर एवं अपने कुल की सीमाओं का उल्लंघन कर वह उन प्रदेशों का भी उपभोग करता है, जो मरुस्थल, शैल, वृक्ष, सघन वन, सरिता एवं वीरवरों द्वारा परिपूर्ण हैं; जिन प्रदेशों का उपभोग उन गुप्त नरेन्द्रों द्वारा भी नहीं हुआ था जिनका पराक्रम सम्पूर्ण वसुधा पर शासन करने के कारण स्पष्ट था; तथा जिन प्रदेशों में हूण-सम्राटों की आज्ञाएँ भी प्रवेश नहीं पा सकी थीं, जो सर्वदा क्षितिपतियों के मुकुट पर निवास करती थीं।

पंक्ति ५—"लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के उपकण्ठ से लेकर तालीवन द्वारा अभेद्य उपत्यकाओं वाले महेन्द्र पर्वत तक, तथा गंगा से आलिंगित ऊँची भूमि वाले बर्फीले शिखरों से युक्त हिमालय पर्वत से लेकर पश्चिम पयोधि तक सामन्त—जिनके गर्व को उसने अपने बाहु-बल द्वारा हर लिया था—उसके पैरों पर नत-मस्तक होते थे; जिनके बालों की जूट में लगे हुए रत्नों की किरणों के बहाने भूमि-भाग विविध रंग के हो जाते थे।

पंक्ति ६—"जिसने स्थाणु (शिव) के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष अपने उत्तमांग (सिर) को झुकाने के अपमान को नहीं सहा था; जिसकी भुजाओं के द्वारा आलिंगित होने के कारण हिमालय व्यर्थ ही दुर्लंघनीय 'दुर्ग' शब्द को अभिमानपूर्वक धारण करता है, ऐसे मिहिरकुल के मस्तक को अपने बाहुबल के द्वारा यशोधर्मन ने नीचे झुका कर उसे क्लेशयुक्त कर दिया था तथा उसके बालों की जूट में लगे हुए पुष्पों के द्वारा अपने दोनों पैरों की उसने पूजा कराई थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पंक्तियां ७-८—उस प्रतापी सम्राट् यशोधर्मन् की बाहें स्तम्भ की भाँति सुदृढ़ थीं। उसने इस जय-स्तम्भ को स्थापित किया था, जिससे कि सृष्टि के अन्त तक यह अपने स्थान पर वर्तमान रहे। यह स्तम्भ पुण्य कृत्यों द्वारा उपार्जित उसकी कीर्त्ति को स्वर्ग का मार्ग निर्दिष्ट करने, पृथ्वी को नापने तथा नक्षत्रों की गणना के निमित्त मानों निर्मित हुआ था। यह स्तम्भ पृथ्वी के बाहु-तुल्य था, जो हर्षोद्रेक के कारण ऊपर उठाया गया था। यह यशोधर्मन् के गुणों के उत्कर्ष को चन्द्रमा के धरातल पर लिख रहा था। उसका जन्म प्रशंसनीय वंश में हुआ था। उसका अभिराम चरित पापों को हरने वाला था। वह धर्म का निवास-स्थान था। उसने लोकाचार को नियमित करने का प्रयास किया था।

पंक्ति ९—"उस पुण्यकर्मा नृपति की सुकृतियों के गान की अभिलाषा से कक्क-पुत्र वासुल ने इन श्लोकों की रचना की थी। इन पंक्तियों को गोविन्द ने उत्कीर्ण किया था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

[ख] मिहिरकुल-कालीन ग्वालियर का शिला-लेख

(मूलपाठ)

१. [स्वस्ति]
जयति जलद-वल-ध्यान्तमुत्सारयन्स्वैः
किरण-निवह-जालैर्व्योम विद्योतयद्भिः ।
उदय-गिरि-तटाग्रं मण्डयन् यस्तुरंगै—
श्चकित-गमन-खेद-भ्रान्त-चंचत्सटान्तैः ॥१॥
उदय-गिर—

२. -वनान्तग्रस्त-चक्रोऽर्त्ति-हर्त्ता
भुवन-भवन दीपः शर्वरी-नाश-हेतुः ।
तपित - कनक - वर्णैरंशुभिः पंकजाना-
मभिनव - रमणीयं यो विधत्ते स वोऽव्यात् ॥२॥
श्रीतोरमाण इति यः प्रथितो-

३. [भूचक्र] पः प्रभूतगुणः ।
सत्यप्रदान-शौर्य्याद्येन महीं न्यायतः शास्ता ॥३॥
तस्योदित-कुल-कीर्त्तेः पुत्रोऽतुल-विक्रमः पतिः पृथिव्याः ।
मिहिरकुलेतिख्यातोऽभंगो यः पशुपतिमर्च्चयति ॥४॥
४. तस्मिन्राजनि शासति पृथिवीं पृथु-विमल-लोचनेऽर्त्तिहरे ।
अभिवर्द्धमान-राज्ये पंचदशाब्दे-नृप-वृषस्य ॥५॥
शशिरश्मिहास-विकसित-कुमुदोत्पल-गन्ध-शीतलामोदे ।
कार्त्तिक-मासे प्राप्ते गगन–
पतौ निर्म्मले भाति ॥ ६ ॥

५. द्विज-गण-मुख्यैरभिसंस्तुते च पुण्याह-नाद–घोषेण ।
तिथि-नक्षत्र-मुहूर्त्ते-संप्राप्ते सुप्रशस्त-दिने ॥७॥
मातृतुलस्य तु पौत्रः पुत्रश्च तथैव मातृदासस्य ।
नाम्ना च मातृचेटः पर्व्व-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

६. त-दुर्गानुवास्तव्यः ॥८॥

नाना धातु-विचित्रे गोपाह्वय-नाम्नि-भूधरे[1] रम्ये ।
कारितवान्शैलमयं भानोः प्रासाद-वर-मुख्यम्[2] ॥९॥
पुण्याभिवृद्धिहेतोर्म्मातापित्रोस्तथात्मनश्चैव ।
वसतां च गिरिवरेऽस्मिन् राज्ञः

७. ·····पादेन ॥१०॥

ये कारयन्ति भानोश्चन्द्रांशु-सम-प्रभं-गृह-प्रवरं ।
तेषां वासः स्वर्ग्गे यावत्कल्प-क्षयो भवति ॥११॥
भक्त्या रवेर्व्विरचितं सद्धर्म्म-ख्यापनं सुकीर्त्तिमयं ।
नाम्ना च केशवेतिप्रथितेन च

८. ·····[दि?]त्येन ॥१२॥

यावच्छर्व-जटा-कलाप-गहने विद्योतते चन्द्रमा
दिव्यस्त्री-चरणैर्व्विभूषित-तटो यावच्च मेरुर्नगः ।
यावच्चोरसि नील-नीरद-निभे विष्णुर्व्विभर्त्युज्वलां
श्रीस्तावद्गिरि-मूर्ध्नि तिष्ठति

९. शिला-प्रासाद-मुख्यो रमे[3] ॥१३॥

(हिन्दी-पाठान्तर)

पंक्तियाँ १-२—"भगवान् विवस्वान् आपकी रक्षा करें, जो व्योम-मण्डल को प्रकाशित करने वाली अपनी रश्मियों के समूह द्वारा जलदों (बादलों) के आच्छादन से उत्पन्न तिमिर को विनष्ट कर देते हैं; जो अपने तुरंगों के द्वारा उदयाचल के तट को अलंकृत कर देते हैं—ऐसे तुरंग जो चकित कर देने वाली लम्बी एवं ऊँची छलाँगों से उत्पन्न थकावट को अपने अयाल को बीच-

---

१. 'गोपाह्वय भूधर' का आधुनिक प्रतिनिधि ग्वालियर है (गोप = ग्वाल)। इसी को 'गोपगिरि' अथवा 'गोपाद्रि' भी कहते थे (द्रष्टव्य, सरकार, दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ४०१, पादटिप्पणी ५)।

२. इस अभिलेख में उल्लिखित "प्रासाद-वर मुख्यम्" द्वितीय कुमारगुप्त-कालीन मन्दसोर-प्रशस्ति के "भवन-वरेण" तथा "भवनमिदमुदारं" से तुलनीय है।

३. इससे स्पष्ट होता है कि इस अभिलेख में उल्लिखित सूर्य-मन्दिर प्रस्तर-निर्मित था। पत्थर के बने हुए गुप्त-कालीन देवालयों के दृष्टान्त उपलब्ध हुए हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बीच में झटका देकर दूर करते हैं; जिनके रथों के पहिए अस्ताचल पर ही जाकर विश्राम करते हैं; जो दुःख को हरने वाले हैं; जो रजनी के विनाश के कारण हैं; जो भुवन रूपी भवन को प्रकाशित करने वाले दीपक के तुल्य हैं तथा जो तपाए गए सुवर्ण के वर्ण-सदृश किरणों द्वारा पंकजों को प्रस्फुटित कर अभिनव एवं रमणीय शोभा उत्पन्न करते हैं। श्रीतोरमाण नामक सुप्रसिद्ध नरेश हुआ, जो प्रभूत गुणों से युक्त था; सत्य, प्रदान एवं शौर्य आदि सद्गुणों द्वारा जिसने न्यायपूर्वक पृथ्वी पर शासन किया था।

पंक्तियाँ ३-६—"उसका पुत्र मिहिरकुल नामक विख्यात नृपति हुआ था; जिसने अपने कुल की कीर्त्ति को प्रवर्द्धित किया था, जो अतुल विक्रम से युक्त एवं पृथ्वीपति था; जिसने पशुपति की शक्ति को भी भंग कर दिया था। वह सम्राट् मिहिरकुल नरेशों में श्रेष्ठ, दुःख का हरण करने वाला तथा पृथु एवं विमल लोचनों से सुशोभित था। जिस समय वह शासन कर रहा था; उसके सम्पन्न राज्य-काल के पंद्रहवें वर्ष कार्त्तिक के महीने में—जिस समय शुभ्र ज्योत्स्ना मन को हर लेती है तथा शशि-रश्मियों के विमल हास के कारण विकसित कुमुद एवं उत्पल की गन्ध से युक्त होकर शीतल मन्द समीर बहने लगता है—तिथि, नक्षत्र एवं मुहूर्त के प्राप्त होने पर प्रशस्त दिन में जिसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने पुण्य नाद के द्वारा कल्याणकारी घोषित किया था; मातृतुल के पौत्र, मातृदास के पुत्र एवं पर्वत-दुर्ग के निवासी मातृचेट नामक व्यक्ति ने नाना धातुओं से सुशोभित 'गोप' नामक रम्य भूधर पर माता-पिता, अपने, उस श्रेष्ठ गिरि के निवासियों तथा राजा की पुण्याभिवृद्धि के हेतु शैल-निर्मित श्रेष्ठ एवं प्रमुख सूर्य-मन्दिर (भानु-प्रासाद) का निर्माण किया था।

पंक्ति ७—"जो व्यक्ति चन्द्र-रश्मियों की धवल प्रभा-तुल्य आभासित होने वाले प्रवर (श्रेष्ठ) सूर्य-मन्दिर (भानु-गृह) का निर्माण करते हैं, वे सृष्टि के लय तक स्वर्ग-लोक में निवास करते हैं। धर्म के ख्यापनार्थ इस कीर्तिमयी प्रशस्ति की रचना केशव नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति के द्वारा सूर्य के प्रति भक्ति के कारण (रवेः भक्त्या) की गई है।

पंक्तियाँ ८-९—"जब तक भगवान् शर्व्व के गहन जटा-जूट में चन्द्र-कला सुशोभित है; मेरु पर्वत का तट देवांगनाओं के चरणों द्वारा विभूषित है; भगवान् विष्णु के नीले बादलों के तुल्य वक्षस्थल पर उज्ज्वला श्री (लक्ष्मी) अलंकृत हैं, तब तक 'गोप' नामक इस पर्वत की रम्य चोटी पर यह मुख्य शैल प्रासाद (प्रधान सूर्य मन्दिर) स्थायी रहेगा।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

[ग] "ईशानवर्मा का हरहा का शिला-लेख"
(मालव-संवत् ६११)

१. लोकाविष्कृतिसंक्षयस्थितिकृतां यः कारणं वेधसाम्,
ध्वस्तध्वान्तचयाः परास्तरजसो ध्यायन्ति यं योगिनः ।
यस्यार्द्धस्थितयोषितोपि हृदये नास्थायि चेतोभुवा[1]
भूतात्मा त्रिपुरान्तकः स

२. जयति श्रेयः प्रसूतिर्भवः ॥ (१)
आशोणां फणिनः फणोपलरुचा सैंघीं वसानं त्वचां,
शुभ्रां लोचनजन्मना कपिशयङ्-भासा कपालावलीम्
(।) तन्वीं ध्वान्तुनुदं मृगा-कृतिभृतो विभ्रत्कलां
मौलिना, दिश्यादन्ध–

३. कविद्विषः स्फुरदहि स्थेयः पदं वो वपुः ॥ (२)
सुतशतं लेभे नृपोश्वपतिर्व्वैवस्वताद्यद्गुणेदितम् ।
तत्प्रसूता दुरितवृत्तिरुधो मुखराः क्षितीशाः[2] क्षतारयः ॥ (३)
तेष्वादौ हरिवर्म्मणोऽवनिभुजो भूतिर्भु-

४. वो भूतये (।)
रुद्धाशेषदिगन्तरालयशसा रुग्णारिसंपत्तिषा । सङ्ग्रामं
हुतभुक्क्रभाकपिशितं - वक्त्रं समीक्ष्यारिभिर्यो भीतेः
प्रणतस्ततश्च भुवने ज्वालामुखाख्यां गतः ॥४॥
लोकस्थितीनां स्थितये स्थि-

५. तस्य मनोरिवाचारविवेकमार्गे । जगाहिरे यस्य
जगन्ति रम्याः सत्कीर्त्तयः कीर्त्तमितव्यनाम्नः (५)
तस्मात्पयोधेरिव शीतरश्मि[3]रादित्यवर्म्मा नृपतिर्ब्बभूव ।
वर्णाश्रमाचारविधिप्रणीतेर्यं प्राप्य

---

१. मनोज ।

२. बाणभट्ट ने इस राजवंश को 'मुखरवंशः' कहा है । इससे प्रतिपादित होता है कि मुखर नामक व्यक्ति इस कुल का आदि पुरुष था ।

३. यह पंक्ति अफसढ़ के शिला-लेख की निम्नलिखित पंक्ति का स्मरण दिलाती है:— 'सकलः कलंकरहितः क्षततिमिरस्तोयधेः शशांकः इव'' ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

६. साफल्यमियाय धाता ॥ (६)
हुतभुजि मखमध्यासंगिनि ध्वान्तनीलम्[1]
वियति पवनजन्मभ्रान्तिविक्षेपभूयः ।
मुखरयति समन्तादुत्पतद्धूमजालम्
शिखिकुलमुरुमेघाशंकि यस्य
७. प्रसक्तम् ॥ (७)
तेनापीश्वरवर्म्मणः क्षितिपतेः क्षत्रप्रभावाप्तये (।)
जन्माकारि कृतात्मनः क्रतुगणेष्वाहूतवृत्तद्विषः ।
यस्योखातकलिस्वभावचरितस्याचारमार्ग-नृपा
यत्नेनापि भयाति–
८. तुल्ययशसो नान्येनुगन्तुं क्षमाः ॥ (८)
नीत्या शौर्यं विशालं सुहृदमकुठिनेनोमेच्छाङ्कुलेन
त्यागं पात्रेण वित्तप्रभवमपि ह्रया यौवनं संयमेन ।
वाचं सत्येन चेष्टां श्रुतिपथविधिना प्रप्रये–
९. णोत्तमर्द्धिम्
यो बन्धं नैव खेदं व्रजति कलिमयध्वान्तमग्नेऽपि
लोके ॥ (९) यस्येज्यास्वनिशं यथाविधि हुतज्योति-
र्ज्वलज्जन्मना···मेनाञ्जनभंगमेचकरुचा
दिक्चक्रवाले तते । आयाता नव–
१०. वारिभारविनमन्मेघावली प्रावृडि-
त्युन्मादोद्धतचेतसः शिखिगणा वाचालतामाययुः[2] ॥१०॥
तस्मात्सूर्य्य इवोदयाद्रिशिरसोधातुर्म्मरुत्वानिव क्षीरोदादिव
तर्जितेन्दुकिरणः कान्तप्रभः कौस्तुभः (।)
११. भूतानामुदपद्यत स्थितकरः स्थेष्ठं महिम्नः पद्म
राजन्राजकमण्डलाम्बरशशी[3] श्रीशानवर्म्मा नृपः ॥ (११)
लोकानामुपकारिणारिकुमुदव्यालुप्तकान्तिश्रिया (।)
मित्रास्याम्बुरुहाकरद्युतिकृता भूरि–

---

१. मिलाइए:—"कर्म्मणा याज्ञम् धूम-वितान-मेघ-निवहः"; जौनपुर का शिला-लेख, का० इं० इं०, जिल्द ३, पृष्ठ २२९ ।

२. मुखरित होना ।

३. अफसढ़ के लेख में भी उसे नरेशों में चन्द्रमा के तुल्य कहा गया है (क्षिति-पतिशशिनः) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१२. प्रतापत्विषा । ।
येनाच्छादितसत्पथं कलियुगध्वान्तावमग्नज्जगत्सूर्ये-
णेव समुद्यता कृतमिदं भूयः प्रवृतक्रियम् ॥ (१२)
जित्वान्ध्राधिपतिं सहस्रगणितत्रेधाक्षरद्वारणम्
व्यावल्गन्नियुताति-

१३. संख्यतुरगान्मङ्खा रणे शूलिकाम् (।) कृत्वा
चायतिमौचितस्थलभुवो[1] गौडान्समुद्राश्रया-
नध्यासिष्ट नतक्षितीशचरणः सिंहासनं यो जिती ॥१३॥
प्रस्थानेषु बलास्वर्णवाभिगमनक्षोभस्फुटद्भूतल-

१४. श्रीद्भूतस्थगितार्क्कमण्डलरुचा दिग्व्यापिना
रेणुना । यस्यामूढदिनादिमध्यविरतौ
लोकेन्धकारीकृते[2] (।) व्यक्तिं नाडिकयैव[3] यान्ति
जयिनी यामास्त्रियामास्विव ॥१४॥ प्रविशती
कलिमारुतवट्टिता

१५. क्षितिरलक्ष्यरसातलवारिधौ ।
गुणशतैरवबध्य· समन्ततः
स्फुटितनौरिव येन बलाद्धृता ॥१५॥
ज्याघातव्रणरूढिकर्क्कशभुजा व्याकृष्टशाङ्गच्युता-
न्यस्यावाप्य पतत्रिणो रणमखे प्राणानमुञ्च

१६. न्द्विषः ।
यस्मिन्शासति च क्षितिं क्षितिपतौ जातेव भूयस्त्रयी (।)
तेन ध्वस्तकलिप्रवृत्तितिमराः श्रीसूर्य्यवर्म्माजिनि ॥१६॥
यो बालेन्दुकसान्ति कृत्स्नभुवनप्रेयो दधद्यौवनम, शान्तः
शास्त्रविचारणा-

---

१. इसका शुद्ध पाठ 'मोचितस्थलभुवो' होना चाहिये। इसकी व्याख्याइस प्रकार होगी :—'स्थलस्य भूः इति स्थलभूः; मोचिता स्थलभूः यैः तान्' (अर्थात् जिन्होंने पृथ्वी के साथ अपना संबन्ध छोड़ दिया था)।

२. "अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥
—रघवंश, सर्ग ६, श्लोक ३३

३. जलघड़ी ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१७. हिंत्मनाः पारङ्कलानाङ्गतः ।
लक्ष्मीकीर्त्तिसरस्वतीप्रभृतयो यं स्पर्धयेवाश्रिता , लोके
कामितकामिभावरसिकः कान्ताजनो भूयसा ॥१७॥
सद्वृत्तेन वलात्कलेरवनतिस्तावत्प्रवृद्धात्मनो

१८. वाणैस्तावद्वस्थितं स्मृतिभुवः कान्ताशरीरक्षतौ (।)
लक्ष्म्या तावदकाण्डभंगजभयं त्यक्तम्परापाश्रयम् (।)
यावन्नाविरकारि यस्य जनताकान्तं वपुर्व्वेधसा ॥१८॥
लक्ष्म्यः शत्रुभुवः कुचग्रहभयावेशभ्रम-

१९. ल्लोचना[1] (।)
येनाकृष्य भुजेन विस्फुरदसिज्योतिः कलासंगिना ।
कान्ता मन्मथिनेव कामितविदा गाढं निपीड्योरसा
प्रायेणान्यमनुष्यसंश्रयकृतं भावं परित्याजिता ॥१९॥
तेनावनतोन्नातिकृता-

२०. मृगयागतेन
दृष्ट्वाद्यमन्धकमिदो भवनं विशीर्णम् (।)
स्वेच्छासमुन्नतमकारि ललाम भूमेः
क्षेमेश्वरप्रथितनाम शशांकशुभ्रम् । (२०)
एकादशातिरिक्तेषु षदु शातितविद्विषि ।

२१. शतेषु शरदां पत्यौ भुवः श्रीशानवर्म्मणि[2] ॥२१॥
यस्मिन्कालेम्बुवाहा नवगवलरुचः प्रान्तलग्नेन्द्रचापा-
स्तन्वन्त्याशावितानं स्फुरदुरुतडितः सान्द्रधीरं क्वणन्तः ।
वाताश्च वान्ति नीपान्नवकुसुमचयानम्रमूर्ध्नो[3]

---

१. यह पंक्ति मन्दसोर के शिलालेख (४७२ ई०) की निम्न पंक्तियों से प्रभावित लगती हैः—
"स्मृत्वा यमद्याप्यरि - सुन्दरीणां ।
भयाद्भवत्यायत - लोचनानाम् ॥
घन - स्तनयास - कर - प्रकम्पः ॥"

२. उल्लेखनीय है कि इस अभिलेख में तिथि मालव-संवत् में दी गई है । उस समय गुप्त वंश का चक्रवर्त्तित्व समाप्त हो गया था तथा मौखरि ईशानवर्मा के नेतृत्व में स्वतंत्र हो गए थे ।

३. कदम्ब ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२२. धुनाना-
स्तस्मिन्मुक्ताम्बुमेघद्युति भवनमिदं निर्मितं शूलपाणेः ॥२२॥
कुमारशान्तेः पुत्रेण गार्ग्गशकटवासिना ।
नृपानुरागात्पूर्व्वेयमकारि रविशान्तिना ॥२३॥
उत्कीर्णा मिहिरवर्म्मणा ॥

(हिन्दी-पाठान्तर)

श्लोक १—"त्रिपुर नामक राक्षस का विनाश करने वाले, सम्पूर्ण जीवों के आत्मा एवं कल्याण के कारक भव (शिव) विजयी हों, जिनकी अर्द्धांगिणी पार्वती हैं; जिनके ऊपर मनोज (कामदेव)का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सका था; जो विश्व की सृष्टि एवं लय के कारण हैं तथा जो ब्रह्मा को भी जन्म देने वाले हैं; अज्ञानताओं के समूह एवं दुर्भावनाओं के विनाशक योगी भी जिनके ध्यान में मग्न रहते हैं ।

श्लोक २—"अन्धक का मर्दन करने वाले वे शिव आपको अमर पद प्रदान करें; जिनके अंग पर सर्प सुशोभित हैं; जिनके ललाट पर मृगाकृति को धारण करने वाली तन्वी चन्द्र-कला अलंकृत है, जो उनके नेत्रों से उत्पन्न आभा के कारण कपिश वर्ण हो जाने वाली शुभ्र कपाल-माला धारण करते हैं; जो फणियों के मस्तक में छिपी मणियों की प्रभा से आभासित सिंह की त्वचा धारण करते हैं।

श्लोक ३—"अश्वपति नामक एक नरेश हुए, जिन्हें वैवस्वत के वर से प्राप्त सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे । वे अपने गुण-गणों के कारण देदीप्यमान थे । मुखर (मौखरि) नरेश उन्हीं के वंशज थे । वे शत्रुओं का विनाश करने वाले एवं पापाचार के विनाशक थे ।

श्लोक ४—"उनसे सर्वप्रथम हरिवर्मा नामक नरेश प्राणियों के कल्याण-निमित्त उत्पन्न हुआ था । युद्ध-क्षेत्र में अंगार-सदृश उसके लाल मुख को देख कर उसके शत्रु डर जाते एवं उसके समक्ष नतमस्तक होते थे । अतएव भुवन-मण्डल में वह ज्वाला-मुख नाम से सुप्रसिद्ध था ।

श्लोक ५—"जिसका यश उसके नाम को चरितार्थ करता था, जिसकी सुरम्य कीर्ति जगत्-व्यापिनी थी, जो नैतिक विधानों को स्थिर करने में संलग्न था तथा जो मनु के ही सदृश आचार एवं विवेक के मार्ग पर सुदृढ़ रहता था ।

श्लोक ६ :—"जिस प्रकार जलधि से शीत-रश्मि (चन्द्रमा) का जन्म हुआ;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसी भाँति उस राजा से आदित्यवर्मा का जन्म हुआ था। वर्णाश्रम-व्यवस्था के संस्थापन की दिशा में जिसे पाकर विधाता सफल हो गया था।

श्लोक ७—"उसके यज्ञों के अवसर पर अग्नि-शाला से उठते हुए घने अन्धकार के तुल्य धूम्र-जाल वायु के वेग से गगन-मण्डल में चतुर्दिक् फैल जाते थे। उन्हें देखने पर बादलों का धोखा हो जाने के कारण मोर मुखरित हो जाते थे।

श्लोक ८—"राजनीतिक प्रभाव की अभिवृद्धि के हेतु उसने ईश्वरवर्मा नामक क्षितिपति को जन्म दिया था। उस पुण्यात्मा ने अपने कई यज्ञों में इन्द्र को भी आमन्त्रित किया था। जिसने अपने सदाचार के द्वारा कलियुग के स्वभाव को विनष्ट कर दिया था; जिसका यश ययाति के तुल्य था और विविध प्रयत्नों के करने पर भी जिसकी तुलना अन्य नृपति नहीं कर सके थे।

श्लोक ९—"अपनी राजनीति द्वारा विशाल शौर्य, सरसता द्वारा मैत्री, सद्वंश द्वारा महत्त्वाकांक्षा, पात्र-चयन द्वारा त्याग, विनम्रता द्वारा वित्तप्रभव, संयम द्वारा यौवन, सत्य द्वारा वाणी, श्रुति-विहित मार्गावलम्बन द्वारा प्रयत्न तथा प्रणति द्वारा उत्थान को वह चरितार्थ करता था। यद्यपि कलियुग के अन्धकार में विश्व निमग्न हो रहा था, तथापि वह परिश्रम से कभी थकता नहीं था।

श्लोक १०—"जिसके यज्ञों में विधिवत् प्रज्वलित अग्नि की लपटों से निरन्तर निकलती हुई धूम्रराशियाँ, जो अञ्जन की लकीर के सदृश कृष्ण वर्ण की थीं, दिक् दिगन्त तक प्रसरित हो जाती थीं। उनको देखने पर मयूरों को नये जल से झुके हुए बादलों से युक्त वर्षा-ऋतु के आगमन की आशंका हो जाती थी तथा परिणामतः वे वाचाल हो उठते थे।

श्लोक ११—"जिस प्रकार उदयाचल से सूर्य उदित होते हैं; अथवा विधाता से इन्द्र का जन्म हुआ है; या चन्द्रमा की रश्मियों के तुल्य धवल प्रभा से युक्त कौस्तुभ मणि का प्रादुर्भाव क्षीरसागर से हुआ है, उसी भाँति ईश्वरवर्मा से ईशानवर्मा नामक नृपति उत्पन्न हुआ, जिसने सभी प्राणियों को स्थैर्य प्रदान किया; जो कि महिमा का श्रेष्ठ भाजन था तथा राजमण्डल रूपी आकाश में जो चन्द्रमा के तुल्य था।

श्लोक १२—"जो अत्यन्त प्रताप से युक्त था, जो सूर्य की भाँति विश्व का कल्याण करता था, अपनी कान्ति-श्री द्वारा शत्रु रूपी कुमुद को विनष्ट करता था एवं मित्र रूपी कमलों को प्रस्फुटित कर देता था; जिसने भूमण्डल को—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जहाँ सत्य का पथ आच्छादित हो गया था—कलि-युग के अन्धकार में मग्न होने से बचा कर उचित मार्ग पर संलग्न कर दिया था।

श्लोक १३—"वह एक विजेता नरेश था तथा अन्य भूपति उसके चरणों पर अपने मस्तक को झुकाते थे। उसने आन्ध्राधिपति को—जिसकी सेना में सहस्रों तिहरे मदस्रावी गज सम्मिलित थे—जीत कर; शूलिकों को—जिनकी सेना में छलाँग मारने वाले असंख्य तुरग परिपूर्ण थे—युद्ध-क्षेत्र में परास्त कर; तथा गौड़ों को स्थल-भूमि (पृथ्वी) के साथ सम्बन्ध छुड़ा कर भविष्य में समुद्राश्रयी होने के निमित्त बाध्य करते हुए अपने सिंहासन को जीत लिया था।

श्लोक १४—"समुद्र के तुल्य विशाल उसकी सेनाएँ जिस समय विजय के निमित्त प्रस्थान करती थीं, उस समय पदचाप के कारण समरांगण से उठी हुई धूल दिशाओं में व्याप्त हो जाती थी एवं सूर्य-मण्डल को ढक देती थी। लगता था, मानों समस्त संसार अंधकार में मग्न हो गया हो। ऐसे काल में दिन के आदि, मध्य एवं अन्त का कोई भी ज्ञान नहीं रह जाता था। रात्रि-वेला के तुल्य समय का ज्ञान केवल जल-घड़ी के द्वारा ही होता था।

श्लोक १५—"कलियुग के मारुत-वेग के कारण जिस समय पृथ्वी अलक्ष्य रसातल रूपी समुद्र में मग्न होने जा रही थी, उस काल में ईशानवर्मा ने भग्न नौका की भाँति उसे सैकड़ों गुण रूपी रस्सियों से बाँध दिया था।

श्लोक १६—"जिसने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को तान कर बाणों के कर्कश आघात द्वारा शत्रुओं को घायल कर दिया था तथा परिणामस्वरूप रण रूपी यज्ञ में जिसके द्वारा वे बलिदान पर चढ़ा दिए गए थे; जिस नरेश के शासन करते समय तीनों वेद पुनः अवतरित हो उठे थे; उसी राजा ने सूर्य्यवर्मा नामक पुत्र को जन्म दिया था जिसने कलि-युग के अन्धकार को ध्वस्त कर दिया था।

श्लोक १७—"जो कि नवीन चन्द्रमा की भाँति सम्पूर्ण विश्व के लिए अत्यन्त प्रिय यौवन को धारण करता था; जो कि शान्त चित्त, शास्त्रों में विचक्षण, परोपकार-संलग्न एवं विभिन्न कलाओं में पारंगत था; जिसमें लक्ष्मी, कीर्त्ति एवं सरस्वती आदि ईर्ष्यापूर्वक उसी भाँति निवास करती थीं जिस प्रकार रसिक प्रेमी के लिए प्रियांगनाएँ अत्यन्त अभिलाषा दिखाती हैं।

श्लोक १८—"जब तक प्रबृद्ध कलियुग ने अपने बल के द्वारा सदाचार को दबा रखा था; कामदेव ने अपने बाणों के द्वारा कान्ताओं के शरीर को घायल कर दिया था; लक्ष्मी ने असमय भंग के डर से अन्य व्यक्तियों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आश्रय लेना बन्द कर दिया था; उस समय तक विधाता ने उसके लोकप्रिय क्पु (शरीर) का निर्माण नहीं किया था।

श्लोक १९--"तलवार की ज्योति से सुशोभित अपनी बाहों के द्वारा जिसने शत्रु-देश की लक्ष्मी को कुच-ग्रह के भय के कारण अपने वक्ष-स्थल से उसी प्रकार आवेशपूर्वक लगा लिया था, जिस भाँति चतुर प्रेमी आयतलोचना कान्ताओं के मनोभाव को जान कर उनका घनालिंगन करता है ताकि अन्य व्यक्तियों के पास काम-भाव से जाने की इच्छा का वे परित्याग कर दें।

श्लोक २०--"उसने अवनत व्यक्तियों को उन्नति प्रदान की थी। मृगया पर निकले हुए उस नरेश ने अन्धक का विनाश करने वाले (अन्धकभिदो) शिव का एक जीर्ण मन्दिर देखा। उसने अपनी इच्छा के अनुसार इसे द्विगुणित किया। यह देवालय चन्द्रमा के तुल्य शुभ्र एवं जगत् का आभूषण था। यह क्षेमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध था।

श्लोक २१—"जब ६११ शरद्-ऋतुएँ व्यतीत हो गईं और जिस समय पृथ्वी-पति ईशानवर्मा राज्य कर रहा था।

श्लोक २२—"जिस काल में किनारे-किनारे इन्द्रधनुष से सुशोभित काले जलधर वितान-तुल्य छा जाते हैं तथा जिसमें बिजली जोरों से कड़कने एवं चमकने लगती है; उसी काल में भगवान् शूलपाणि (शिव) के इस मन्दिर का निर्माण किया गया था, जो बिना जल वाले बादलों की द्युति को धारण करता था।

श्लोक २३--"रविशान्ति नामक कवि ने, जो कुमारशान्ति का पुत्र एवं गर्ग्गशकट का निवासी था, नृप के प्रति अनुराग के कारण इस प्रशस्ति का निर्माण किया था। इसे मिहिरवर्म्मा ने उत्कीर्ण किया था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(घ) आदित्यसेन का अफसढ़ का शिला-लेख

आसीद्दन्तिसहस्रगाधकटको विद्याधराध्यासितः
सद्वंशः[1] स्थिर उन्नतो गिरिरिव श्रीकृष्णगुप्तो नृपः ।
दृप्तारातिमदान्धवारणघटाकुम्भस्थलीः क्षुन्दता
यस्यासंख्यरिपुप्रतापपजयिना दोष्णा मृगेन्द्रायितम् ॥१॥
सकलः कलङ्करहितः क्षततिमिरस्तोयधेः शशाङ्क इव ।
तस्मादुदपादि सुतो देवः श्रीहर्षगुप्त इति ॥२॥
यो योग्याकालहेलावनतदृढधनुर्भीम बाणौघपाती
मूर्तैः स्वस्वामिलक्ष्मीवसतिविमुखितैरीक्षितः सास्रुपातम् ।
घोराणामाहवानां लिखितमिव जयं श्लाघ्यमाविर्द्दधानो
वक्षस्युद्दामशस्त्रव्रणकठिनकिणग्रन्थिलेखाच्छलेन[2] ॥३॥
श्रीजीवितगुप्तोऽभूत्क्षितीशचूडामणिः सुतस्तस्य ।
यो दृप्तवैरिनारीमुखनलिनवनैकशिशिरकरः ॥४॥
मुक्तामुक्तपयः प्रवाहशिशिरासूत्तुङ्गतालीवन-
भ्राम्यद्दन्तिकरावलूनकदलीकाण्डासु वेलास्वपि ।
श्च्योतत्स्फारतुषारनिर्झरपयः शीतेऽपि शैले स्थिता-
न्यस्योच्चैर्द्विषतो मुमोच न महाघोरः प्रतापज्वरः ॥५॥
यस्यातिमानुषं कर्म्म दृश्यते विस्मयाज्जनौघेन ।
अद्यापि कोशवर्धनतटात्प्लुतं पवनजस्येव ॥६॥
प्रख्यातशक्तिमाजिषु पुरःसरं श्रीकुमारगुप्तमिति ।
अजनयदेकं स नृपो हर इव शिखिवाहनं तनयम् ॥७॥
उत्सर्प्पद्वातहेलाचलितकदलिकावीचिमालावितानः
प्रोद्यद्धूलीजलौघभ्रमितगुरुमहामत्तमातङ्गशैलः ।

---

१. 'वंश' शब्द पर श्लेष है। इसका प्रयोग कुल एवं बाँस दोनों ही अर्थों में हुआ है।

२. तुलनार्ह—"अनेकप्रहरणविरूढाकुलव्रण-शताङ्क-शोभासमुदयोपचित- कान्त-तरवर्ष्मणः"—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भीमः श्रीशानवर्म्माक्षितिपतिशशिनः[1] सैन्यदुग्धोदसिन्धु-
र्लक्ष्मीसंप्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन ॥८॥
शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो घने ।
अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः ॥९॥
श्रीदामोदरगुप्तोऽभूत्तनयः तस्य भूपतेः ।
येन दामोदरेणैव दैत्या इव हता द्विषः ॥१०॥
यो मौखरेः समितिषूद्धतहूण-सैन्या
वल्गद्घटा-विघटयन्नुरुवारणानाम् ।
सम्मूर्च्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति
तत्पाणि-पंकजसुखस्पर्शाद्विबुद्धः ॥११॥
गुणवद्द्विजकन्यानां नानालङ्कारयौवनवतीनाम् ।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम् ॥१२॥
श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्तस्माद्वीराग्रणी सुतः ।
सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम् ॥१३॥
श्रीमत्सुस्थितवर्म्मयुद्धविजयश्लाघापदाङ्कम् मुहुः
यस्याद्यापि विबुद्धकुन्दकुमुदक्षुण्णाच्छहार ⌣ तम् ।
लौहित्यस्य तटेषु[2] शीतलतलेषूत्फुल्लनागद्रुम-
च्छायासुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते ॥१४॥
वसुदेवादिव तस्माच्छ्रीसेवनशोभितचरणयुगः ।
श्रीमाधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरसः ॥१५॥
.....नुस्मृतो धुरि रणे श्लाघावतामग्रणीः
सौजन्यस्य निधानमर्थनिचयत्यागोद्धुराणां वरः ।
लक्ष्मीसत्यसरस्वतीकुलगृहं धर्मस्य सेतुर्दृढः
पूज्यो नास्ति स भूतले.....सद्गुणैः ॥१६॥
चक्रं पाणितलेन सोऽप्युदवहत्तस्यापि शार्ङ्गं धनुः
नाशायासुहृदां सुखाय सुहृदां तस्याप्यसिर्नन्दकः ।
प्राप्ते विद्विषतां वधे प्रतिहत्....तेनाप.....
.....न्याः प्रणेमुर्ज्जनाः ॥१७॥

---

१. समता कीजिए:—"राजन्राजकमण्डलाम्बरशशी"—हरहा का लेख
२. यह यशोधर्म्मन् की मन्दसोर-प्रशस्ति के 'लौहित्योपकण्ठ' का स्मरण लाता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आजौ मया विनिहिता बलिनो द्विषन्तः
कृत्यं न मेऽस्त्यपरमित्यवधार्य वीरः ।
श्रीहर्षदेवनिजसङ्गमवाच्छया च
. . . . . ॥१८॥

श्रीमान्बभूव दलितारिकरीन्द्रकुम्भ-
मुक्तारजः पटलपांसुल मण्डलाग्रः ॥
आदित्यसेन इति तत्तनयः क्षितीशः ।
चूड़ामणिर्द्द . . . . . ॥१९॥
. . . . . मागतमरिध्वंसोत्थमाप्तं यशः
श्लाघ्यं सर्व्वधनुष्मतां पुर इति श्लाघां परां बिभ्रति ।
आशीर्व्वादपरम्पराचिरसकृद् . . . . . .
. . . . . यामासम् ॥२०॥

आजौ स्वेदच्छलेन ध्वजपटशिखया मार्ज्जतो दानपंकं
खड्गं क्षुण्णेन मुक्ता शकल सिकति . . . . . ।
. . . . . मत्तमातङ्गघातं
तद्गन्धाकृष्टसर्प्पद्रहलपरिमल-भ्रांतमत्तालिजालम् ॥२१॥
आवद्धभीमविकटभ्रुकुटीकठोर–
सङ्ग्राम . . . . . .
. . . . . वल्लभभृत्यवर्ग-
गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशीलः ॥२२॥
सत्यभर्तृव्रता यस्य मुखोपधानतापसी । . . . . . .
परिहास . . . . . ॥२३॥
. . . . . ज्ञः सकलरिपुबलध्वंसहेतुर्गरीया
न्निस्त्रिंशोत्खातघातश्रमजनितजडोऽप्यूर्ज्जितस्वप्रतापः ।
युद्धे मत्तेभकुम्भस्थल. . . . . .
. . . . . श्वेतातपत्त्रस्थगितवसुमतीमण्डलो लोकपालः ॥२४॥
आजौ मत्तगजेन्द्रकुम्भदलनस्फीतस्फुरद्दोर्युगो
ध्वस्तानेकरिपुप्रभाव . . . . . यशोमण्डलः । . . . . . .
न्यस्ताशेषनरेन्द्रमौलिचरणस्फारप्रतापानलो
लक्ष्मीवान्समराभिमानविमलप्रख्यात-कीर्तिर्नृपः ॥२५॥
येनेयं शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यातभूमण्डला
लक्ष्मीसङ्गं कांक्षया सुमहती कीर्तिश्चिरं कोपिता ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

याता सागरपारमद्भुततमा सापत्न्यवैरादहो ।
तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम् ॥२६॥
तज्जनन्या महादेव्या श्रीमत्या कारितो मठः ।
धार्मिकेभ्यः स्वयं दत्तः सुरलोकगृहोपमः ॥२७॥
शङ्खेन्दुस्फटिकप्रभाप्रतिसमस्फारस्फुरच्छीकरं
नक्रक्रान्तिचलत्तरंगविलसत्पक्षिप्रनृत्यत्तिमि ।
राज्ञा खानितमद्भुतं सुतपसा पेपीयमानं जनै-
स्तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः श्रीकोणदेव्या सरः ॥२८॥
यावच्चन्द्रकला हरस्य शिरसि श्रीः शार्ङ्गिणो वक्षसि[1]
ब्रह्मास्ये च सरस्वती कृतः·····।
भोगे भूर्भुजगाधिपस्य च तडिद्यावद् घनस्योदरे
तावत्कीर्तिमिहातनोति धवलामादित्यसेनो नृपः ॥२९॥
सूक्ष्मशिवेन गौडेन प्रशस्तिर्विकटाक्षरा ।
·····मिता सम्यग् धार्मिकेण सुधीमता ॥३०॥

(हिन्दी-पाठान्तर)

श्लोक १—"कृष्णगुप्त नामक एक राजा हुआ था । जिस प्रकार उत्तुंग एवं सुदृढ़ पर्वत सहस्रों हाथियों के झुंड से आवृत एवं विद्याधरों से सेवित तथा अच्छे दंश (बाँसों) से शोभित होता है, उसी भाँति उस राजा की सेना में सहस्रों हाथी सम्मिलित थे एवं वह विद्या-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा सर्वदा घिरा रहता था और अच्छे कुल (वंश) में उत्पन्न हुआ था । वह ऐसे ही गिरि के सदृश उन्नत एवं स्थिर भी था । वह अपने असंख्य शत्रुओं के प्रताप को जीत लेने वाला था तथा मृगराज (सिंह) के सदृश गर्वित शत्रुओं की सेना के मतवाले हाथियों के मस्तक को फाड़ डालने वाला था ।

श्लोक २—"जिस प्रकार अन्धकार को विदीर्ण करने वाला एवं कलंक-रहित पूर्ण चन्द्र समुद्र से उत्पन्न हुआ था, उसी भाँति उस राजा कृष्णगुप्त से हर्षगुप्त नामक पुत्र पैदा हुआ ।

---

१. यह पंक्ति कुमारगुप्त (द्वितीय)-कालीन मन्दसोर-प्रशस्ति की निम्न-लिखित पंक्तियों का स्मरण दिलाती है:—

"परिवहति समूहं यावदीशो जटानां
विकच - कमल -नालामंस - सक्तां च शार्ङ्गीं" ॥
—सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २९७ ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक ३—'जो उचित समय पर सरलतापूर्वक अपने सुदृढ़ धनुष को नवा कर उससे भयंकर बाणों की वर्षा करने लगता था; जिसे पति के रूप में चुन कर साक्षात् लक्ष्मी उसके साथ रहती थीं, जिसके समक्ष उसके शत्रु अश्रु की धारा बहाने लगते थे; जिसके वक्ष-स्थल पर कठोर शस्त्रों की चोटों से उत्पन्न ग्रन्थि-समूहों (गाँठों) के बहाने भयंकर युद्धों में भाग लेने से अर्जित श्लाघनीय यश सा लिखा हुआ प्रतीत होता था ।

श्लोक ४—"उसका जीवितगुप्त नामक पुत्र हुआ, जो राजाओं का सिरमौर (चूड़ामणि) था । दाम्भिक शत्रुओं की प्रियाओं के मुख रूपी कुमुदनी को वह चन्द्रमा की शीतल किरणों के तुल्य प्रफुल्लित कर देता था ।

श्लोक ५—"उस राजा का प्रताप अपने शत्रुओं के लिए महाज्वर के समान था । वह अपने घमंडी शत्रुओं को किसी दशा में भी छोड़ने वाला नहीं था—चाहे वे समुद्र-तट पर ही क्यों न रहते हों, ऐसा समुद्र-तट जो स्वच्छन्द जल के प्रवाह के फलस्वरूप अत्यन्त शीतल होता है तथा जहाँ के कदली-वृक्ष (केले के पेड़) ऊँचे ताल-वृक्षों के वन में भ्रमण करने वाले जंगली हाथियों के सूँड़ द्वारा गिरा दिए जाते हैं; अथवा चाहे वे अत्यन्त शीतल पर्वत पर ही क्यों न रहते हों—ऐसा पर्वत जिस पर बर्फीली धाराएँ बड़े ही प्रवाह के साथ बहती हैं ।

श्लोक ६—"जिसके आधिभौतिक कार्यों को लोग आज भी उसी प्रकार विस्मय के साथ देखते थे जिस प्रकार कोशवर्धन के तट से हनुमान की छलाँग को ।

श्लोक ७—"जिस प्रकार भगवान् हर (शिव) से मयूर की सवारी करने वाले स्वामिकार्त्तिकेय उत्पन्न हुए थे, उसी प्रकार उस राजा ने कुमारगुप्त नामक पुत्र को जन्म दिया था, जो अपनी शक्ति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध और युद्ध-क्षेत्र में अग्रणी था ।

श्लोक ८—"श्री ईशानवर्मा राजाओं में चन्द्रमा के तुल्य थे । उसकी सेना को उस कुमारगुप्त ने युद्ध-क्षेत्र में उसी तरह रौंद डाला जिस प्रकार देवासुर-संग्राम में विकराल क्षीरसागर, जो लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण है, मन्दर पर्वत के द्वारा मथ डाला गया था । सेनाओं की कूँच से उत्पन्न वायु के झोंकों से हिला दिए गए कदली-वृक्ष (केले के पेड़) ही उस समुद्र की चंचल लहरें थीं ; शक्तिशाली एवं महामत्त गज ही जिसके शैल (चट्टान) थे तथा योद्धाओं के पद-चाप से उठती धूल ही उन चट्टानों पर लगने वाले जल के थपेड़ों के समान थी ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक ९—"शौर्य एवं सत्य के व्रत को धारण करने वाला वह नरेश धन-सम्पन्न होने पर भी प्रयाग आया और गहरे जल में डूबने के तुल्य वह करीषाग्नि (उपलाओं से प्रज्वलित अग्नि) में पुष्प आदि से सुसज्जित हो प्रविष्ट हो गया।

श्लोक १०—"उस राजा को दामोदरगुप्त नामक पुत्र हुआ। जिस प्रकार दामोदर ने दैत्यों का संहार किया, उसी प्रकार उसने अपने शत्रुओं का विनाश किया था।

श्लोक ११—"उस राजा दामोदरगुप्त ने मौखरि-नरेश की सेना—जिसने युद्ध-क्षेत्र में हूणों तक को परास्त कर दिया था—के मद भरी चाल वाले गजों की घटा को विघटित कर दिया था। वह मूर्च्छित हो उठा तथा तत्पश्चात् सुरवधुओं—जिन्होंने उसे पति के रूप में चुन लिया—के पाणि-पंकज के सुखद स्पर्श से जागरूक हो उठा।

श्लोक १२—"उस नरेश ने यौवन-सम्पन्न एवं गुणवती ब्राह्मण-कन्याओं को विविध आभूषणों से सुशोभित कर उनका पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न कराया तथा सैकड़ों ग्रामों का अग्रहार-दान किया था।

श्लोक १३—"उससे महासेनगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो वीराग्रणी था। वीरों के समाज में पराक्रमी के रूप में सर्वश्रेष्ठ होने का यश उसने अर्जित किया था।

श्लोक १४—"श्रीमान् सुस्थितवर्मा के ऊपर श्लाघनीय विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप उत्पन्न उसके महान् यश का—जो कि प्रफुल्ल मल्लिका या कुमुदनी अथवा मोतियों की माला के तुल्य स्वच्छ था—लौहित्य नदी के दोनों तटों पर उगे हुए नाग-द्रुम की शीतल छाया में सोने के उपरान्त जागने पर सिद्ध-मिथुनों के द्वारा बारंबार गान किया जाता था।

श्लोक १५—"जिस प्रकार वसुदेव से माधव (श्रीकृष्ण) का जन्म हुआ जिसके दोनों चरणों का सेवन स्वयं लक्ष्मी करती हैं, उसी भाँति उस राजा का पुत्र माधवगुप्त नामक हुआ जिसको एकमात्र पराक्रम में ही रसानुभूति होती थी।

श्लोक १६—"स्मरणीय व्यक्तियों में वह नरेश सबसे बढ़-चढ़ कर था। युद्ध-क्षेत्र में श्लाघनीय महानुभावों में वह अग्रगण्य था। सज्जनता का वह संन्निधान था। अर्थ-संचय एवं उसके व्यय के लिए सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में वह सर्वश्रेष्ठ था। लक्ष्मी, सत्य एवं सरस्वती का वह कुल-गृह था। धर्म का वह दृढ़ सेतु (बाँध) था। सद्गुणों से युक्त व्यक्तियों के द्वारा इस भूतल में जितना अधिक पूजनीय वह था, उतना कोई भी नहीं था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक १७—"वह भी अपने हाथ में चक्र एवं शाङ्र्ग (सींग की धनुष) को धारण करता था। इसके अतिरिक्त वह आनन्ददायक (नन्दक) तलवार भी रखता था जिसके प्रयोग का उद्देश्य एकमात्र शत्रुओं का विनाश एवं मित्रों को सुख प्रदान करना था। उसने अपने अरियों का संहार कर लिया था····· उसने रोक दिया था····· लोग उसे प्रणाम करते थे।

श्लोक १८—"युद्ध-क्षेत्र में मैंने अपने बलवान् शत्रुओं का संहार कर दिया है, इस प्रकार विचार करते हुए उस वीर-वर ने निश्चित् किया कि अब मुझे कुछ करना अवशिष्ट नहीं रह गया है। श्रीहर्षदेव के साथ मैत्री स्थापित करने की इच्छा के द्वारा उसने·····।

श्लोक १९—"उसका पुत्र श्रीमान् आदित्यसेन नामक था, जो कि राजाओं का सिरमौर था। उसकी टेढ़ी तलवार से दलित शत्रुओं के गजराज के मस्तकों पर लगी मोतियों की झालरें टूट कर धूल की मोटी परत के तुल्य बैठ गई थीं।

श्लोक २०—"वह उच्चकोटि की प्रशंसा का पात्र था। उसने अरियों का संहार कर श्लाघनीय यश को अर्जित किया था। वह सम्पूर्ण धनुष-धारियों में अग्रगण्य था·····वह बारंबार आशीर्वाद की शृंखलाओं का भागी था।

श्लोक २१—"लड़ाई के मैदान में वह ध्वजा के रेशमी वस्त्र द्वारा पसीने की बूँद को पोंछने के बहाने अपने तलवार की तेज धार का ही मार्जन करता था—ऐसी तलवार जो कि उन्मत्त हाथियों के मद से सनी हुई तथा टूटी मोतियों रूपी सिकता (धूल की कणों) से ढकी थी। मत्त मातंगों पर उस तलवार की घात से उत्पन्न मद की गन्ध से आकृष्ट होने के कारण उस पर संभ्रान्त अलि-समूह आकर बैठते थे।

श्लोक २२—"युद्ध-क्षेत्र में····· भयंकर, विकट एवं कठोर भृकुटियाँ देखने को मिलती थीं। प्रियजनों एवं कर्मचारियों की गोष्ठी में वह बड़े ही आकर्षक ढंग से परिहास करता था।

श्लोक २३—"उसकी सत्यवादिनी एवं पतिपरायणा भार्या नियम एवं व्रत का पालन करती थी·····।

श्लोक २४—"जो अपने सम्पूर्ण शत्रुओं के बल के विनाश का कारण था, जो अपने महान् बल से सर्वथा युक्त रहता था, तलवार के निरन्तर प्रयोग के कारण थकित होने पर भी जिसका प्रताप सर्वदा देदीप्यमान रहता था, जो युद्ध-क्षेत्र में उन्मत्त कुञ्जरों के मस्तक पर सर्वदा आघात करता था, जो इस जगत् की रक्षा करता है; जिसके श्वेत छत्र द्वारा सम्पूर्ण बसुन्धरा सर्वदा ढकी रहती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्लोक २५—"जिस राजा की दोनों फड़कती हुई भुजाएँ युद्ध-क्षेत्र में मत्त गजेन्द्रों के मस्तक पर प्रहार के कारण और भी विशाल हो उठती थीं; उसने अनेक रिपुओं के प्रभाव को ध्वस्त कर दिया था, जो सूर्य-मण्डल की भाँति तेजस्वी था, स्फुरित प्रताप रूपी अनल से युक्त जिसके चरण सम्पूर्ण नरेन्द्रों के मस्तक पर न्यस्त हैं; लक्ष्मीवान् उस नृपति की समरार्जित वाञ्छनीय विमल कीर्त्ति चतुर्दिक् प्रख्यात है।

श्लोक २६—"शरद-कालीन चन्द्रमा के बिम्ब के तुल्य धवल उस राजा की विपुल कीर्ति, जो भूमण्डल में प्रख्यात थी, उसकी लक्ष्मी की संगति की आकांक्षा के कारण चिरकाल तक कुपित हो गई थी। सापत्न्य-द्वेष के कारण उसकी वह विचक्षणा कीर्ति आश्चर्यजनक रूप में सागर-पार पहुँच गई थी। उसी नृपति के द्वारा इस विष्णु-मन्दिर का निर्माण किया गया था।

श्लोक २७—"उसकी जननी का नाम महादेवी श्रीमती देवी था। उस धर्मपरायणा ने ही पुण्यात्माओं के लाभ-हेतु इस मठ का निर्माण कराया था, जो इन्द्रलोक में वर्तमान् गृह-तुल्य भव्य लगता था।

श्लोक २८—"उसी नरपति की प्रिय भार्या श्रीकोणदेवी ने एक सरोवर खुदवा दिया था, जिसके सुस्वादु जल को लोग बड़ी ही अभिरुचि के साथ पीते थे। अपनी स्वच्छता के कारण इसका जल इन्दु, शंख एवं स्फटिक मणि की स्वच्छ प्रभा का स्मरण दिलाता था। मकर, मत्स्य एवं राजहंसों की क्रीड़ाओं के कारण इसमें लोल तरंगें उठा करती थीं।

श्लोक २९—"जब तक चन्द्रकला शंकर के ललाट पर सुशोभित है; लक्ष्मी, भगवान् विष्णु के वक्ष-स्थल पर विद्यमान हैं; सरस्वती ब्रह्मा के मुख में विभूषित हैं, वसुन्धरा शेषनाग के फण पर अवलम्बित है, जलद के उदर में विद्युत् सुशोभित है, तब तक उस आदित्यसेन नामक नृपति की धवल कीर्ति चतुर्दिक् प्रसरित होती रहे।

श्लोक ३०—"धीमान् एवं धर्मनिष्ठ सूक्ष्मशिव नामक गौड के द्वारा विकट अक्षरों से युक्त यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की गई थी।"

• •

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्रन्थ-सूची

(क) मूलभूत संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि ग्रन्थ

अभिज्ञानशकुन्तलम् : सम्पादक—शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९०८।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प : सम्पादक—गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२५।

उत्तररामचरितम् : सम्पादक—पी० वी० काणे, तृतीय संस्करण, बम्बई, १९२९।

कलियुगराजवृत्तान्त : यम० कृष्णमाचारियर, हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७।

कामसूत्र : सम्पादक—दुर्गा प्रसाद, निर्णयसागर यन्त्रालय, बम्बई, द्वितीय संस्करण।

कुमारसम्भव : सम्पादक—भारद्वाज, गंगाधर शास्त्री, बनारस, द्वितीय संस्करण।

गरुड़ पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०६।

चारुदत्त : सम्पादक—गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९१४।

दशकुमारचरितम् : सम्पादक—काले, बम्बई, १९१७।

नारद-स्मृति : सम्पादक—यौली, कलकत्ता, १८८५।

बृहत्संहिता : सम्पादक—सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १८९५।

ब्रह्माण्ड पुराण : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०७।

ब्रह्म पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०६।

मुद्राराक्षस : सम्पादक—आर० के० ध्रुव, पूना, १९३०।

मालविकाग्निमित्रम् : सम्पादक—यस० कृष्णराव, मद्रास १९३०।

मानसार : सम्पादक —प्र० कु० आचार्य, प्रकाशक—ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मनुस्मृति : सम्पादक—गंगानाथ झा, इलाहाबाद, १९३२।

मृच्छकटिक : सम्पादक—आर० डी० करमारकर, द्वितीय संस्करण, १९५०।

मत्स्यपुराण : सम्पादक—हरिनारायण आप्टे, पूना १९०७।

याज्ञवल्क्य-स्मृति : सम्पादक—नारायण शास्त्री, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज़, बनारस।

रघुवंश : सम्पादक—शंकर पण्डित, प्रकाशक—गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, १८९७।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋतुसंहार : सम्पादक—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, १९२२ ।

वायु पुराण : सम्पादक—राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता १८८० ।

विष्णु पुराण : श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई ।

(ख) अनूदित ग्रन्थ

गरुड़ पुराण : सेक्रेड बुक्स ऑफ दी हिन्दूज़, सम्पादक—बी० डी० वसु, प्रकाशक—दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगंज, प्रयाग, १९११ ।

मत्स्य पुराण : भाग १ तथा २, सेक्रेड बुक्स ऑफ दी हिन्दूज़, प्रकाशक : दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगंज, प्रयाग, १९१७ ।

शुक्रनीतिसार : प्रकाशक—दी पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगंज, प्रयाग, १९१४ ।

(ग) विदेशी यात्रियों के विवरण

अल्बरूनीज़ इंडिया, साचो, पापुलर एडीशन, १९१४ ।

ऑन य्वान् च्वांग, वाटर्स, १९०५ ।

फाहियान, लेग्गे, ऑक्सफोर्ड, १८८६ ।

फाहियान, गाइल्स, लन्दन, १८७७ ।

लाइफ ऑफ य्वान च्वांग : बील, लन्दन, १९१४ ।

(घ) अभिलेख

इंडियन एपिग्रैफिक ग्लोसरी : सरकार, दिनेशचन्द्र, वाराणसी, १९६६ ।

कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द ३, फ्लीट जे० यफ०, वाराणसी, १९६३ ।

कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द ४, भाग १ एवं २ मिराशी, वासुदेव, अटकमंड १९५५ ।

प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, उपाध्याय, वासुदेव, दिल्ली, १९६१ ।

सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस : सरकार ,दिनेशचन्द्र, कलकत्ता, १९४२ ।

(ङ) मुद्राएँ

इंडियन क्वायन्स : रैप्सन, ई० जे०, स्ट्रासबर्ग, १८९७ ।

कैटेलॉग ऑफ दी गुप्ता गोल्ड क्वायन्स इन दी बयाना होर्ड, अल्तेकर, अ० स०, बम्बई, १९५४ ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कैटेलॉग ऑफ दी क्वायन्स ऑफ दी गुप्ता डाइनेस्टी : एलन, जे०, लन्दन, १९१४ ।
क्वायन्स ऑफ ऐंशेंट इंडिया : कनिंघम, ए०, लन्दन, १८९१ ।
कैटेलॉग ऑफ दी क्वायन्स ऑफ ऐंशेंट इंडिया, एलन, जे०, लन्दन, १९३६ ।
गुप्तकालीन मुद्राएँ : अल्तेकर, अ० स०, पटना, १९५४ ।
दी क्वायनेज ऑफ दी गुप्ता इम्पायर : अल्तेकर, अ० स०, वाराणसी, १९५७ ।

(च) आधुनिक लेखकों के ग्रन्थ

अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया : स्मिथ, वी० ए०, ऑक्सफोर्ड, १९२४ ।
अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया : चट्टोपाध्याय, सुधाकर, कलकत्ता, १९५८ ।
इंडिया ऐंड सेन्ट्रल एशिया : बागची, प्रबोधचन्द्र, कलकत्ता १९५५ ।
इंडिया ऐंड चाइना : बागची, प्रबोधचन्द्र, न्यूयार्क, १९५१ ।
ए हिस्ट्री ऑफ दी गुप्ताज़ : दण्डेकर, आर० यन०, पूना, १९४१ ।
ऐंशेंट हिस्ट्री ऑफ दी दक्कन : डुब्रूइल, जे० जी०, पांडीचेरी १९२० ।
गुप्त-साम्राज्य का इतिहास : उपाध्याय, वासुदेव, इलाहाबाद १९३९ ।
गुप्त-साम्राज्य : गुप्त, परमेश्वरी लाल, वाराणसी, १९७० ।
दी एज ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : बनर्जी, राखाल दास, बनारस, १९३३ ।
दी गुप्ता इम्पायर : मुखर्जी, राधाकुमुद, बम्बई, १९४८ ।
दी डिक्लाइन ऑफ दी किंगडम ऑफ मगध : सिनहा, बी० पी०, पटना, १९५४ ।
दी क्लैसिकल एज : मजूमदार, र० च०, बम्बई, १९६२ (द्वितीय संस्करण) ।
दी वाकाटक-गुप्त-एज : मजूमदार, र० च० तथा अल्तेकर, अ० स०, दिल्ली, १९६० ।
दी मौखरीज़ : पायर्स, इ० ए०, मद्रास, १९३४ ।
दी इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इंडिया : जायसवाल, काशी प्रसाद, लाहौर, १९३४ ।
दी कावेरी, मौखरि ऐंड संगम एज : अरवमूथन, टी० जी०, मद्रास, १९२५ ।
दी पुराण टेक्स्ट ऑफ दी डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज : पार्जिटर, एफ० ई०, वाराणसी, १९६२ (द्वितीय संस्करण) ।
प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन : राय, उदय नारायण, इलाहाबाद, १९६५ ।
पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इंडिया : रायचौधरी, ह० च०, कलकत्ता, १९५३ ।
मत्स्य पुराण—ए स्टडी : अग्रवाल, वासुदेवशरण, काशीराज–ट्रस्ट, प्रकाशन । वाराणसी ।
लाइफ इन दी गुप्ता एज : सैलेतोर, आर० यन०, बम्बई, १९४३ ,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख : मिराशी, वा० वि०, वाराणसी, १९६४ ।

विश्व-सभ्यता का इतिहास : राय, उदय नारायण (अध्याय ६-१२), इलाहाबाद, १९७० ।

सम इंडोलॉजिकल स्टडीज : नेगी, जे० यस०, जिल्द १, इलाहाबाद, १९६७ ।

स्टडीज इन ऐंशेण्ट इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर : राय, उदय नारायण, इलाहाबाद, १९६९ ।

समुद्रगुप्त ऐंड हिज टाइम्स : गोखले, बी० जी०, बम्बई, १९६२ ।

स्टीडीज इन गुप्ता हिस्ट्री : आयन्गर, यस० कृष्णस्वामी, मद्रास, १९२८ ।

सिटीज ऐंड सिटी लाइफ इन ऐंशेण्ट इंडिया : राय, यू० यन०, थीसिस, १९५७ ।

हमारे पुराने नगर : राय, उदय नारायण, इलाहाबाद, १९६९ ।

हिस्ट्री ऑफ कन्नौज : त्रिपाठी, रमा शंकर, बनारस, १९३७ ।

हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया : बसाक, राधा गोविन्द, कलकत्ता १९३४ ।

(छ) अनुसन्धान-पत्रिकाओं के लेख

अर्ली होम ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : गांगुली, डी० सी०, इ० हि० क्वा०, जिल्द १४ ।

अनहिस्टारिसिटी ऑफ दी कौमुदीमहोत्सव : सरकार, दिनेशचन्द्र, ज० ए० हि० रि० सो०, जिल्द ११ ।

आइडेंटीफिकेशन ऑफ दी प्रिंसेज ऐण्ड टेरीटरीज़ इन दी इलाहाबाद पिलर इंस्क्रिप्शन ऑफ समुद्रगुप्त : भण्डारकर, डी० आर०, इं० हि० क्वा०, जिल्द १ ।

आर स्कन्दगुप्त ऐण्ड पुरुगुप्त आइडेंटिकल : जगन्नाथ, भारतीय विद्या, जिल्द ८ ।

इलाहाबाद इंस्क्रिप्शन ऑफ समुद्रगुप्त : छाब्रा, इं० हि० क्वा०, जिल्द २४ ।

ए न्यू गुप्ता किंग : अल्तेकर, अ० स०, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द १४ ।

ओरिजिनल होम ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : मजूमदार, र० च०, ज० बि० रि० सो०, जिल्द ३८ ।

कलियुगराजवृत्तान्त ऐंड दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : जगन्नाथ, ज० बि० रि० सो०, जिल्द ३१ ।

काच प्रॉब्लम : दासगुप्त, ए० यन०, इं० हि० क्वा०, जिल्द २० ।

काच प्रॉब्लम—ए रीइक्ज़ामिनेशन : भट्टाचार्य, यस०, ज० इं० हि०, जिल्द ४५ ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काचगुप्त ऐंड रामगुप्त : हेरास, यच०, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द ३४ ।
काच ए स्टेप ब्रदर ऑफ रामगुप्त : गुप्त, परमेश्वरी लाल, ज० न्यू० सो० इ०, जिल्द ५ ।
काच प्रॉब्लम साल्व्ड : गुप्त, परमेश्वरी लाल, इं० हि० क्वा०, जिल्द २२ ।
कालिदासेज़ कुन्तलेश्वरदौत्यम् : राघवन, वे०, बि० च० लाहा वाल्यूम, जिल्द २,
क्रोनोलॉजी ऑफ दी लेट इम्पीरियल गुप्ताज़ : बनर्जी, राखालदास, ए० भं० ओ० रि० इं०, जिल्द १ ।
गया ऐंड नालन्दा प्लेट्स ऑफ समुद्रगुप्त : मजूमदार, र० च०, इं० क०, जिल्द ११ ।
गुप्ता एरा : सेनगुप्ता, पी० सी०, ज० रॉ० ए० सो० बं०, जिल्द ८ ।
गुप्ता रूल इन उड़ीसा : सरकार, दिनेशचन्द्र, इं० हि० क्वा०, जिल्द २६ ।
गुप्ता एरा--ए री ऐसेसमेंट--गुप्त परमेश्वरी लाल, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द ४६ ।
गोविन्दगुप्त ऐंड पुरुगुप्त : भंडारकर, डी० आर०, इं० क० जिल्द ११ ।
घटोत्कचगुप्त--गुप्त, परमेश्वरी लाल, इं० हि० क्वा०, जिल्द २२ ।
चन्द्र ऑफ मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : शर्मा, जी० आर०, इं० हि० क्वा०, जिल्द २१ ।
चन्द्र ऑफ दी मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : कर, आर० सी०, इं० हि० क्वा०, जिल्द २६ ।
डेट्स ऑफ स्कन्दगुप्त ऐंड हिज़ सक्सेसर्स : पन्ना लाल, हिन्दुस्तान रेव्यू, जनवरी, १९१८ ।
डेट ऑफ दी कौमुदीमहोत्सव : चट्टोपाध्याय, क्षेत्रेशचन्द्र, इं० हि० क्वा०, जिल्द १४ ।
थ्री इंस्क्रिप्शंस ऑफ रामगुप्त : गाई, जी० यस०, ज० ओ० इं०, बड़ौदा, जिल्द १७; सं० ३, १९६९ ।
दामोदरगुप्त : डिड ही डाई इन बैटिल : चट्टोपाध्याय, क्षेत्रेशचन्द्र, डी० आर० भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम ।
दी लाइन ऑफ कृष्णगुप्त : रे, यच० सी०, इं० क०, जिल्द ८ ।
दी गुप्ता इम्पायर इन दी सिक्स्थ ऐंड सेविंथ सेंचुरीज़ ए० डी० : रायचौधरी, हे० च०, ज० रा० ए० सो० बं०, १९२० ।
दी मौखरीज़ ऐंड दी लेटर गुप्ताज़ : सरकार, दिनेशचन्द्र, ज० रॉ० ए० सो० बं०, जिल्द ११ ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दी हूण प्राब्लम इन इंडियन हिस्ट्री : आयन्गर, यस०, इं० ऐं०, जिल्द ४८ ।

दी ओरिजिन ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : गोखले, बी० जी०, ज० बा० ब्रां० रॉ० ए० सो०, जिल्द २७ ।

दी किंग चन्द्र ऑफ दी मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : मजूमदार, र० च०, ज० रा० ए० सो० बं०, जिल्द ९ ।

दी सक्सेसर्स ऑफ कुमारगुप्त दी फर्स्ट : रायचौधरी, हे० च०, इं० हि० क्वा०, जिल्द ८ ।

दी शक राइवल ऑफ रामगुप्त : शर्मा, दशरथ, इं० क०, जिल्द ५ ।

दी मौखरीज़ ऑफ कन्नौज : त्रिपाठी, रमाशंकर, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द २० ।

दी बिगिनिंग्स ऑफ इंटरकोर्स बिटवीन इंडिया ऐंड चाइना : शास्त्री, नीलकण्ठ, इं० हि० क्वा०, जिल्द १४ ।

दी कौमुदीमहोत्सव ऐंड दी डेट ऑफ कालिदास : शर्मा, दशरथ, इं० हि० क्वा०, जिल्द ११ ।

दी हूण इन्वेज़न ऑफ इंडिया : चौधरी, राधा कृष्ण, ज० बि० रि० सो० ।

दी लेट इम्पीरियल गुप्ताज़ : गुप्त, परमेश्वरी लाल, इं० हि० क्वा०, जिल्द २६ ।

दी आइडेंटीफिकेशन ऑफ वंग ऐंड वाह्लीक इन दी मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : वाजपेयी, कृष्ण दत्त, मिराशी फेलिसिटेशन वाल्यूम, पृ० ३५५ ।

नान-पास्थूमस कैरेक्टर ऑफ दी मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : शर्मा, दशरथ, इं० क०, जिल्द ५; द्रष्टव्य, उक्त विद्वान् के अन्य लेख, ज० वि० उ० रि० सो०, जिल्द २१ एवं २२ (कौमुदीमहोत्सव शीर्षक नाट्य-ग्रन्थ के सम्बन्ध में) ।

नालन्दा सील्स ऑफ बुधगुप्त ऐंड विष्णुगुप्त : घोष, ए०, इं० हि० क्वा०, जिल्द १९ ।

न्यूली स्कल्पचर्स फ्राम विदिशा : अग्रवाल, र० च०, ज० ओ० इं०, जिल्द १७, सं० ३, १९६९ ।

न्यू लाइट ऑन दी अर्ली गुप्ता हिस्ट्री : भण्डारकर, डी० आर०, मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम में प्रकाशित लेख ।

न्यू लाइट ऑन दी हिस्ट्री ऑफ़ दी इम्पीरियल गुप्ता डाइनेस्टी : भट्टाचार्य, बी०, ज० बि० रि० सो०, जिल्द ३० ।

न्यू लाइट ऑन दी गुप्ता एरा ऐंड मिहिरकुल : पाठक, के० बी०, इं० ऐं०, जिल्द ४६ ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न्यू लाइट ऑन दी आइडेंटीफिकेन ऑफ काच : रायचौधरी, हे० च०, इं० हि० क्वा०, जिल्द ३५ ।

प्रयाग इन लीजेंड ऐंड हिस्ट्री : राय, उदय नारायण, ज० ए० हि० सो०, १९६२ ।

पाटलिपुत्र इन ऐंशेण्ट इंडिया : राय, उदय नारायण, यू० इ० स्ट०, १९५७ ।

प्राचीन उज्जयिनी--एक ऐतिहासिक परिचय : राय, उदय नारायण, हिन्दुस्तानी, भाग २१, अंक १, १९६० ।

प्राचीन पाटलिपुत्र--एक ऐतिहासिक परिचय : राय, उदयनारायण, हिन्दी अनुशीलन, हिन्दी परिषद्, मार्च १९५८ ।

फर्दर डिस्कशन एबाउट रामगुप्त : अल्तेकर, अ० स०, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द १५ ।

फोर्ज्ड पुराण--टेक्स्ट ऑफ़ दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : मजूमदार, र० च०, इं० हि० क्वा०, जिल्द २० ।

बेयरिंग ऑफ न्यूमिस्मेटिक्स ऑन दी हिस्ट्री ऑफ दी इम्पीरियल गुप्ताज़ : सिनहा, बी० पी०, ज० बि० रि० सो०, जिल्द ३४ ।

भविष्योत्तर पुराण ऑन दी अर्ली इम्पीरियल गुप्ताज़ : सरकार, दिनेशचन्द्र, ज० न्यू० सो० इं०, जिल्द ११ ।

मालवा इन दी सिक्स्थ ऐंड सेविन्थ सेंचुरीज़ ए० डी० : गांगुली, डी० सी०, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द १९ ।

मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : शर्मा, दशरथ, इं० हि०, जिल्द १६ ।

मेहरौली पिलर इंस्क्रिप्शन : भण्डारकर, डी० आर०, ज० आ० हि० रि० सो०, जिल्द १० ।

रिलेशन्स बिटवीन दी गुप्ताज़, कदम्बाज़ ऐंड वाकाटकाज़ : हेरास, यच०, ज० बि उ० रि० सो०, जिल्द १२ ।

रामगुप्त : जायसवाल, के० पी०, ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द १८ ।

रुद्रदेव ऐंड नागदत्त ऑफ दी इलाहाबाद पिलर इस्क्रिप्शन : सरकार दिनेशचन्द्र, प्रो० इं० हि० को०, जिल्द ७ ।

रेलीजस स्यूसाइड ऐट प्रयाग : चट्टोपाध्याय, क्षेत्रेशचन्द्र, ज० यू० पी० हि० सो०, जिल्द १० ।

लेटर गुप्ताज़ ऑफ़ मगध : बनर्जी, राखाल दास, जे० बि० उ० रि० सो०, जिल्द १४ ।

वेयर दी महाराजाज़ ऑफ खानदेश दी फ्यूडेटरीज़ ऑफ़ दी गुप्ताज़ : मिराशी,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America.(HHFA)(USA)

वा० वि०,इं० हि० क्वा० जिल्द २३; द्रष्टव्य : इं० हि० क्वा०, जिल्द १० में प्रकाशित लेख ।

सम ऐस्पेक्टस ऑफ दी रामगुप्त प्राब्लम : मिराशी, वा० वि०, ज० ओ० इं० ब०, जिल्द १८ ।

सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ दी रामगुप्त प्राब्लम : ए रिप्लाई टू महामहोपाध्याय मिराशी : शाह, यू० पी०, ज० ओ० इं० ब०, जिल्द १९ ।

वेयर दी वाकाटकाज़ डिफीटेड बाई दी गुप्ताज़ : अल्तेकर, अ० स०, इं० क०, जिल्द ९ ।

हिस्टारिकल डेटा इन दी ड्रामा कौमुदीमहोत्सव : जायसवाल, के० पी० , ए० भं० ओ० रि० इं०, जिल्द १२ ।

* *

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संकेत-शब्द-सूची

इं० क० : इंडियन कल्चर

इं० ऐं० : इंडियन ऐंटीक्वैरी

इं० हि० क्वा० : इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली

ए० भं० ओ० रि० इं० : एनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरियेंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट

ज० आ० हि० रि० सो० : जर्नल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी

ज० बि० रि० सो० : जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी

ज० बि० उ० रि० सो० : जर्नल ऑफ बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी

ज० बा० ब्रां० रॉ० ए० सो० : जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी

ज० यू० पी० हि० सो० : जर्नल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टारिकल सोसायटी

ज० न्यू० सो० इं० : जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया

ज० इं० हि० : जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री

ज० रॉ० ए० सो० बं० : जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल

ज० ओ० इं० ब० : जर्नल ऑफ ओरिएंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा

डि० कि० मि० : डिक्लाइन ऑफ किंगडम ऑफ मगध

पो० हि० ऐं० इं० : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेंट इंडिया

प्रो० इं०-हि० का० : प्रोसीडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस

भा० वि० : भारतीय विद्या

मा० क० वा० : मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम

यू० इ० स्ट० : यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज़

●●

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
लूडर	लूडर्स	२९	१७
१९०४ ई०	१९०३ ई०	४४	२५
ग्यारहवर्षीय	दसवर्षीय	४४	२५
सुपिया-लेख (गु० सं० १५१-४७१ई०)	सुपिया-लेख (गु०सं०१४१-४६१ई०)	६७	११
विंटरनिटिज़	विंटरनित्स	७७	३
कुमारगुप्त प्रथम	कुमारगुप्त द्वितीय	८१	४
अर्न्तगुहा	अन्तर्गुहा	८२	५
कोतुकुलज	कोतकुलज	१०३	२५
मुजमल-उत-तवारीख	मजमल-उत-तवारीख	१५७	२३
१०२६ ई०	११२६ ई०	१५७	२३
वर्ण-व्यस्था	वर्ण-व्यवस्था	३३९	१६
वाहलीक	वाहि्लक	५४२	९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुक्रमणिका

अ

अंकोरवट—४६८
अकबर—८३
अग्निमित्र—४५, ४७, ३६०
अच्युत—१०३, १११, ११२, १८५, ५२५, ५३४, ५९८
अज—३५८
अजन्ता—२२०, ३४१, ३६६, ३७४, ३७५, ३७६, ५६७, ५७८
अजयगढ़—१४, ११८, १२५, १२६, ३१४, ३६८
अजातशत्रु—७२, ११३, २२०
अञ्जितभट्टारिका—५८९
अत्तिल—४२६
अनन्तदेवी—२२५, २९१, २९५
अनन्तवर्मा—११३, ३८३, ३९४
अन्तर्वेदी—११६, १३९, ३१८, ३१९
अफसढ़—३७, ३८, २७९, ३१४, ३१७, ३८१, ३९२, ३९५ ३९६, ३९७, ४००, ४०१, ४०६, ४०७, ४०८, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१९, ४२०, ४२१, ४३८, ५४८, ६५४
अबीरिया—१३१
अबुलहसन—१५७
अभयमित्र—१४, ३०१, ३७१
अभिज्ञानशकुन्तलम्—४, ५, ९६, १४५, १८४, २०५, ३३१, ३६०, ४७३
अमरकोश—३६१, ३९५
अमरसिंह—३६१
अमरावती—१२०
अमोघवर्ष—१७८, ५५६
अयोध्या—८७, १३८, २५२, २५६, ३५१, ३६४, ३८५, ४५७
अरिकमेडू—४४१
अरिपुर—१५२, १६५, १६६, १७१
अरैल—१८१, २३२, २३९
अर्जुनदेव—८०
अर्जुनायन—१७, १८, १२९, ५३४, ५९८
अलमसूदी—३६२
अलम्बुषा—४०
अलाउद्दीन खिल्जी—१०६
अलिपुर—१५६
अल्बरूनी—११, ७९, ८०, ८३, ३६२, ४४२, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७
अवन्तिवर्मा—१५१, ३८२, ३८६, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०९, ४२४
अवमुक्त—११७, १२१, ५९८
अशोक—८३, १६६, २१७, २१९, २२०, २८४, ३२२, ३३७,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३४८
अश्वघोष—५३५
अश्वत्थामा—८
अश्वपति—३८३, ६५०
अश्वमेधयज्ञ—२, ३, १३, २७, ४५, ५२, ८४, ८७, ८९, ९१, ९५, १३७, १३८, १९९, २००, २४०, २४१, ४०८, ४२१, ५१३, ५१५, ५५०, ५६५, ५६९, ५७७, ६२२
अष्टाध्यायी—१७, १८, २५, ३८, १२८, ३१७
असीरगढ़—८५, ३८०, ३८६, ३८७, ३८८, ३९५, ३९७
अहिच्छत्र—१८५, ३८५

आ

आगस्टस—२
आटविकराज—११५
आटविकविजय—११५, ११६
आदित्यदास—३६१
आदित्यवर्द्धन—३८४
आदित्यवर्मा—३०७, ३१४, ३१७, ३८८, ४१२, ५७७, ६५१
आदित्यसेन—३१७, ३८१, ४०७, ४११, ४२०, ४२२, ४२३, ५४८, ६५४
आनन्द—१२१, २२०
आनन्दपुर—९०
आभीर—१७, १९, १३०, १३१, ५३४, ५९८
आमगाँव—५९०
आम्रकार्द्दव—१६६, १८२, २०५, २०८, २०९, ३५६
आम्रपाली—३४८
आर्जुनी नदी—१२९
आर्यदेव—४५२
आर्यभट—३६२
आर्यभटीयम्—३६२
आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प— २७७ ३०९
आर्यावर्त्त—५५५, ५७३, ५७६
आलमनगर—५५५

इ

इंगलैंड—७५
इज्जादेवी—४२४
इत्सिंग—१०, ५२, ५३, ५४, ४२२ ४७४, ५६१, ५६२
इन्दुमती—३४८, ३४९
इन्द्रप्रस्थ—१६१
इन्द्रभट्टारिका—३८६
इन्द्रवर्मा—३८८-८९
इलाहाबाद—८३, २८३

ई

ईराक—४४२
ईरान—४४२, ४४६
ईशानवर्मा—३१७, ३८०, ३८६, ३८८, ३८९, ३९०, ३९२,३९३, ३९८, ४०२, ४०४, ४०५, ४११, ४१४, ४३५, ५१६, ५७७, ५८८, ६४६, ६५२
ईश्वरवर्मा—३१४, ३८६, ३८७,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३८८, ३९१, ४१३, ५७७, ६५१
ईश्वरवासक—१८२, १९२

उ

उग्रसेन—११७, १२१, ५९८
उज्जयिनी—६, ७, ८, ३७, ३९, १३५, १३६, १६८, १७४, १७७, १८६, १८९, १९२, १९३, १९४, २००, २०१, २०५, २१०, २७९, ३४४, ३४५, ३४६, ३४९, ३५५, ३६१, ३६४, ३७६, ३८३, ३९९, ४१६, ४१८, ४३०, ४३२
उत्तम-भाद्र—१७, २१
उदयगिरि—१८१, १८४, १९१ १९३, २०२, २०३, २०५, २०९, २३३, २४४, ३१४, ३२३, ३३०, ३५५, ३६५, ३७०, ५३२, ५४१, ५४९, ५५२, ५६५, ६०४, ६०५
उदयन—२०१, ३४४, ३४९,
उदिताचार्य—१८०, २०४
उपगुप्ता—३८६, ३८८, ४१३
उपमितविमल—१८०, २०४
उर्वशी—३६०
उल्दीन—४२६
उषवदात—१२८, १९५

ए

एरण (ऐरिकिण)—८४, ८५, ९९, ११६, १४७, १७७, २५४, २९३, २९४, ३०३, ३१३, ३१४, ३१८, ३६९,३९९, ४३१, ४३२, ४३५, ५२२, ५३२, ५४१, ५५२, ६०१, ६०२, ६२५
एरण्डपल्ल—११७, १२०, १२४, ५८०, ५९८
एलिचपुर—२४०

ऐ

ऐंटीमेकस—७४
ऐहोड़े—११९, ३९९
ऐहोल़—५५६, ५७४

ऋ

ऋद्धपुर—९८, ५८५, ५८६, ५९०
ऋभुपाल—३२०
ऋतुसंहार—४, १८३

औ

औदुम्बर—१७, २०

क

कंस—३२१
कजंगल—४७२
कनकमुनि—२१९
कनिंघम—८५, १२९, १३०, १३५, १८०, १८१, २२६, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २७३, २७४, २७५, २७६,२८७
कनिष्क—७५, १३३, १६८, २१८, ५३०, ५३६, ५३७
कपिलविमल—१८०, २०४
कपिलवस्तु—२१९, ३७७
कमलादेवी—४२३
कम्बुज—६१, ४५७, ४६६, ४६८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करछना—१८१, २३०, २३२, २७६
करमदाण्डा (करमदाण्डे)—१६०, २०८, २३०, २३२, २४२, २४३, ३२१, ३३०, ३५५, ३७०, ५५२
करशहर—२१७, ४५०, ४५३
कटियस—१८, १३०
कर्त्तृपुर—१२७, १२८, ५९८
कर्पूरमञ्जरी—१५५
कलकत्ता—८५, २१२, २३१
कलिंग—४५७
कलियुगराजवृत्तान्त—५१७, ५१८, ५१९, ५२३, ५२५
कलैकुरि—२४७
कल्याण वर्मा—३२, १०४, ४०९, ४१०, ४४०, ५७१, ५७२
कल्हण—३५९, ४३३
कवद—४२९
कहौम—२७८, २८३, ३५६, ५३६, ५५२, ५९०
क्रकुच्छन्द—२१९
कृष्ण द्वितीय—१७८
कृष्णगुप्त—३८, ३१४, ३९४, ४०७, ४०८, ४११, ४१२, ४१३
कृष्णा नदी—१२१, ४४३, ५७५
काञ्ची—११७, १२०, १२२, १२४, ५४०, ५७५
काक—१३१, १८२, ५९२
काकपुर (काकबाट, काकनादबाट)—१३१, १८२, १९१, २०३, २०५, २०८ २०९, २४५, २५६
काकुत्स्थ—४२
काकुत्स्थवर्मा द्वितीय—५१, १८८, ५८९
काच—५१६, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२७, ५२८
काचगुप्त—५२१, ५२२
कान्तिपुरी—११३
कादम्बरी—३७२, ३९९, ४०५, ४६४
कान्यकुब्ज—२१९, ३११, ३१४, ३१७, ३८२, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३९२, ४०३, ४०४, ४०५, ४१०, ४११, ४१९, ५५९
कामन्दकीयनीतिसार—१५७
कामरूप—११२, ११४, १२७, ४७२, ५३९, ५९८
काम्पिल्य—३६१
कार्तिकेय—१५४, १५५, २३८, २४३, २४४, २५१, २८९, ३७०, ५१४
कार्त्तिकेयनगर—१२८, १६१, १६६, १६७, १७१
कालिदास—२, ४, ३९, ४६, ९६, १२३, १३७, १७९, १८३, १८६, १८७, १८८, २०१, २०५, २०६, २०७, २२२, २४८, २७९, ३२९, ३४२, ३४९, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६४, ३७२, ३७३, ३७७, ३७९, ४२६, ५४२, ५४९, ५५०, ५८३, ५८४, ५८५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

काशगर—२१७, ४७२
काश्यप—२१९
कास्मस—४३३, ४३४
किदार—१३४, १३५, ५४४
किरातार्जुनीयम्—३५८
क्रिमिल—८८
कीर्तिमती—३२
कुट्टनीमतम्—३४७
कुणाल—४५०
कुणिन्द—१७, १९
कुन्तल—१८८, ५७८, ५८९
कुमारजीव—४५२, ४५३, ४७७, ४७८, ४७९
कुमारगुप्त प्रथम—१०, ५४, ६६, ६७, ८०, ८१, ८९, १४०, १५५, १६५, १८८, १९७, २०९, २२४, २२५, २२६, २२७, २३४, २३९, २४०, २४४, २४७, २५४, २७२, २९१, २९२, २९४, २९५, २९९, ३१२, ३१५, ३२१, ३५५, ३५६, ५५२, ५५९, ५६०, ५६३, ५६४, ५६५, ५७४, ५८८
कुमारगुप्त द्वितीय—१५, ७८, ७९, २२६, २२८, २५४, २५५, २९१, २९२, २९३, २९४, २९८, २९९, ३०१, ३०६, ४४४, ५१८, ५१९, ५५२, ५५३, ५५४, ५६३
कुमारगुप्त तृतीय—४४, ६५, २५४, २९३, २९४, २९५, ३०७, ३०८, ३०९, ३२७, ५३२
कुमारदेवी—१३, १९, २३, ५७, ६४, ६५, ६९, ७०, ७३, ७५, ८१, १४६, ५९९
कुमारदेवी-चन्द्रगुप्तम्—२
कुमारपाल—१५१, २९५
कुमारशान्ति—६५३
कुमारसंभव—४, १८३, २४८, ३५८, ३७३
कुमारायण—४५२, ४७७, ४७८
कुमराहर—७५
कुरा—४३१, ४३२
कुवेर—८५, ११७, १३९, १४०, १४७, ५९८, ६०१
कुवेरनागा—१८५
कुशिक—१८०, २०४
कुशाश्व—४२
कुमारस्वामी—३६५, ३६८
कुषाण—२७, १०८, १३२, १३३, १३४, १६८, १८५, १९०, ५३५, ५३७, ५४४, ५४५, ५७९
कुस्थल—३८५
कुस्थली नदी—१२२
कुस्थलपुर—११७, १२२, ५९५
कूची—४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४७२
केन्डूर—४२३
कोणदेवी—४२१, ४२२
कोट्टूर—११७, ११९, १२०, ५९८
कोतकुलज—१०३, १०६, ११२, ५२५

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कोराल—११७, ११९, १२४, ५९८
कोसल—११७, ११८, २४०, ५७५, ५७६, ५८८, ५८९, ५९८
कौटिल्य—१७, २१, ३७, ७२, १२३, १२७, १३१, ३१७, ३३३, ३३७, ३६१, ४७१
कौण्डिण्य—४५९
कौमुदीमहोत्सव—३१, ३३, ३४, ३५, ३९, ४२, १००, १०४, ३४३, ४०९, ४१०, ५७१, ५७२, ५७३
कौशाम्बी—८३, १०५, १०८, १२५, २०९, ३१३, ३४२, ४३२, ५७२
क्षत्रवर्मा—४०९
क्षेमीश्वर—१५५
क्षेमेन्द्र—१८४, १८८

ख

खंभात—१६४
खंभात का लेख—१६३, १७४
खरपरिक—१३२, ५९८
खर्पर—१३२
खारवेल—१४४
खुसरो—४४३
खोतान—२१७, ४५०, ४५१, ४७२, ५३५, ५३६
खोरासान—४४२
खोह—३६७, ३६८
ख्वारिज्म—११

ग

गंगा—११६, १२७, १३८, १३९, २१९, २३९, २४१, २४२, २५०, २५१, २५२, २७९, २८३, ३००, ३०३, ३०८, ३१८, ३५१, ३६७, ३६८, ३८५, ४१४, ४२२, ४३०, ४४२, ५३९
गंगधार—२४३
गंजाम—७९, ८१, ११७, ११८, ११९, ५५३, ५५८, ५६३
गढ़वा—२०३, २०४, २३०, २३१, २३८, २४२, २४५, २७६, २८३
गणदत्त—५
गणपतिनाग—१०४, १०७, ११०, १११, ११३, १८५, १९८, ५३४, ५७५, ५९८
गणदास—३७७, ३७८
गणेश्वरशर्मा—७१
गन्धार—३६९, ४३३, ४३४, ४३६, ४५७, ४७६
गया—८५, ८६, ३८२, ३८४, ३९४, ५६४
गया-प्रशस्ति—९७
गाजीपुर—११५, २७५, २८३, ३५४, ४२२
गार्गीसंहिता—१६१, १९४, ४४१
गिरिनगर—२८२, २८४, २८५, ३३३
गिरनार—१२, १४२, ३८७
गुणचन्द्र—३, ८०, १५०, ३८१
गुणभद्र—१७८
गुणैघर—२९३, ३०५, ५५२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोदावरी—१२१
गोपगिरि—४३६
गोपराज—१२, २९४, ३०४, ३१३, ४३५, ६२५, ६२६
गोपस्वामी—८८, ९०, ९१
गोपा—३४४
गोपाद्रि—४३६
गोल्लास—४३४
गोलक्यान्ति—६०३
गोविन्द—३५८
गोविन्द चतुर्थ—१६३, १६४
गोविन्दगुप्त—१६५, २०२, २०९, २२५, २४३, २४६, २८०, ३३२, ३४८
गोविन्दस्वामी—२४३
गोस्वामी तुलसीदास—३
गौतम बुद्ध—४०, ७१, ३०१, ३४८, ३७१, ३७६, ४५१, ४५२, ४७१, ४७२
गौतमीपुत्र—२३, ५७८
गृधकूट-शृंग—२२०
ग्रहवर्मा—३८२, ३८५, ३८६, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४१९, ५५८

घ

घटोत्कच—३२, ३४, ३७, ५७, ६३, ६५, ६६, ६७, ६८, २७५, ५१७, ५१८, ५२५, ५२६, ५३३, ५६४, ५९९, ६२२
घटोत्कचगुप्त—२२५, २२६, २३४, २४३, २४६, ३३२, ५१६

च

चण्ड कौशिक—१५५
चण्डश्री—४३, ५२३
चण्डसेन—३१, ३२, ३३, ३४, ३९, ४२, १००, ४०९, ५७१, ५७२, ५७३
चन्द्रगुप्त प्रथम—१९, ३२, ३३, ३४, ३५, ३७, ४२, ४३, ५४, ५५, ५६, ५७, ६३, ६४, ६५, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८१, ८२, ९२, ९७, ९८, ९९, १००, १४६, २२५, २४७, २४८, २८७, ४०९, ५१६, ५१८, ५२०, ५२३, ५२४, ५३१, ५३३, ५३४, ५३५, ५४०, ५४१, ५६४, ५६५ ५६८, ५७०, ५७१, ५७२, ५८१
चन्द्रगुप्त द्वितीय—४, ३९, ६६, ७८, ८१, ८९, ९२, १३८, १४६, १४९, १५१, १५४, १६०, १६२, १६३, १६५, १६९, १७०, १७१, १७४, १७५, १७६, १७८, १८०, १८१, १८२, १८४, १८५, १८७, १९१, १९२, १९३, १९७–९८, १९९, २००, २०१, २०३, २०५, २०६, २०९, २१३, २१४, २१५, २२५, २३२, २३४, २३५, २३७, २४०, २४३, २४८, २४९, २५५, २७६, २७७

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

२८०, ३१३-१४, ३३०, ३३२, ३४८, ३६१, ५१४, ५२०, ५२१, ५२२, ५२८, ५३२, ५३८, ५४२, ५४४, ५४५, ५५२, ५५९, ५६४, ५६५ ५६९, ५७४, ५८०, ५८१ ५८२, ६०२, ६०४, ६०५
चन्द्रगुप्त मौर्य—४४३, ४४६, ४५७, ५३०, ५३१
चन्द्रगुप्त द्वितीय, (विक्रमादित्य)—१३, १५, २१, २३, ३३, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ५४, ७७, ११०, १२५, १३१, १३२, १४२, १५१, १६०, १६१, १६२, १६४, १७०, १७७, १७८, १७९, १८०, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०३, २०५, २०६, २०७, २०८, २१४, २१५, २२०, २२४, २३३, २४२, २४६, २४७, ३२१, ३२२, ३३०, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३६५, ३७०-७१, ५१६, ५१८, ५२१, ५२२, ५४०, ५४१, ५४९, ५५०, ५६२, ५६५, ५८१, ५८३, ५८५, ५८७
चन्द्रगुप्तचरित—२
चन्द्रगोमिन्—३३, ३५, ३६१
चन्द्रदेवी—२९१, २९६, ३०६
चन्द्रपाल—१६१
चन्द्रप्रकाश—१४३
चन्द्रप्रभ—१७७, ६०२, ६०३
चन्द्रभागा—४३२, ४४३
चन्द्रवल्ली—४०९, ४१०
चन्द्रवर्मा—५४, १०७, १०९, ११०, ११४, ५३२, ५३३, ५३४, ५३९, ५९८
चन्द्रांश—१११, ५३१, ५३२, ५६६
चनाल स्वामी—५८६
चमक (चम्मक)—१८४, ५८७
चम्पा—४५७, ४६२, ४६३, ४६४, ४६६, ४६७, ४७०, ४७२
चर्मण्वती—३५१
चारुदत्त—६, ८, ३७, ९६, १४४, ३३९, ३४४, ३४७, ३७७
चितौड़—१९
चिराददत्त—२३६, २४३, ३१९
चि-लि-कि-तो—५२, ५३, ५४, ५६१
चिह्-येन—२१७
चीन—१९७, २१८, ३७२, ४४६, ४४७, ४४९, ४५०, ४५३, ४५५, ४५७, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७८
चु-शे-हिंग—४४९
चेन-सांग—६१

छ

छगलग—१८१, २०९
छलना—६९

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ज

जम्बू द्वीप—५३५
जयदत्त—३१९
जयादित्य—३८२, ३८३
जयनाथ—११८, १३६
जयभट्टस्वामी—९०
जयवर्मा—११०
जयस्वामिनी—३८६
जरीब—४३७
जलालाबाद—१६५
जहाँगीर—८३
जावा—१९७
जिनसेन—१७८, ३११, ५५७
जीवा—४५२, ४७८
जीवितगुप्त—८७, ३१४
जीवितगुप्त प्रथम—३८८, ४०७, ४०८, ४१०, ४११, ४१३, ५४८
जीवितगुप्त द्वितीय—३८१, ४१०, ४११, ४२३, ४२४
जूनागढ़—१२, २३७, २४२, २५१, २७५, २७७, २७९, २८०, २८१, २८२, २८५, ३०३, ३१२, ३१८, ३२१, ३२८, ३३३, ३५४, ३६९, ४३०, ४३१, ५५२, ५५३, ६०६
जोहियाबाड़—१८

ड

डभाल—११५, ३१४
डवाक—१२७, १९७, ५३९, ५९८

त

तन्त्रीकामन्दक—३८, ४१
तथागतगुप्त—३२२
तक्षशिला—२४, २१८, ४५०, ४७६
ताओ-चेंग—२१८, २२०
ताम्रपर्णी—१२२
ताम्रलिप्ति—९, ११, १२७, १९७, २०७, २२०, २२२, ४४२, ४५७, ४७३, ४७४, ५२७, ५४०
तालगुण्ड—१८८, १८९, ५८९
तामलुक—५३६, ५३७
ताविर्गुण्य—८८
तिगवा—१४, ३६७
तिलभट्ट—८४, ५९९
तीरभुक्ति—२०२, २४६, ३३२, ३४८
तुमैन—६६, ६७, २३३, २३४, २४२
तुम्बवन—२४६
तुर्फान—४५०, ४७२
तोरमाण—३०३, ३१३, ४३१, ४३२, ४३३, ६४५

थ

थानेश्वर—४०३, ४०४, ४१७, ४१९

द

दजला-फरात—४४२
दण्डी—३९
दमन—११७, ५८९
दमोह—१३२
दत्तदेवी—८५, १३८, १४७, १७९, ६२२
दत्तदेवी-समुद्रगुप्तम्—६३, ५२१, ५२२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दरभंगा–३८
दशकुमारचरित—३९, १४५, ३७८
दशरथ—३५८
दशपुर—१८, २२६, २२७, २२८, २४४, ३५०, ३५१, ३५७, ४४४, ५३२, ६३४, ६३६
दामोदरगुप्त—३४७, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४०१, ४१०, ४१५, ४१६
दामोदरपुर—२३५, २३६, २३९, २४५, २४६, २४७, २५४, ३००, ३०१, ३०८, ३०९, ३१९, ३२०, ३५६, ४०७, ५५२
दामोदरसेन—१८६, २४२, ५८३, ५८४, ५८६
द्वारावती—४५७
दिङ्नाग—३६३
दिलीप—९८, ३५८
दिवाकरसेन—३३, १८६, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६
दिवानगंज—१८२
दुर्जनपुर—६०२
दुल्व—४१, ४२
दुष्यन्त—५, ३६०, ३७३, ३७४, ४७३
देवगढ़—१४, ३६७, ३७०, ३७१
देवदत्त—२१९, ४०७
देवपाल—२९५, ४२३, ५५०
देवबर्णार्क—३७, ८७, ३०९, ३८१, ३९४, ३९८, ४०२, ४०७, ४०९, ४१०, ४११, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४
देवविष्णु—२७४, २८६, ४४४
देवगुप्त (देवराज)—३८, १५४, १६०, १८२, १८४, १९९, २५५, ३८२, ३८५, ४०३, ४०७, ४१०, ४११, ४१९, ४२२, ४२३, ५२८, ५४१ ५५८, ५८७
देवराष्ट्र—११७, १२२, ५९८
देवी—४२०
देवीचन्द्रगुप्तम्—३, ४, १५०, १५१, १५२, १५४, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१ १६२, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७४, १७५, १९०, ३६१, ५३८, ६०२
देवेन्द्रवर्मा—१२०
द्रोणसिंह—३००, ३०१, ३१६, ५५६, ५५७

ध

धनञ्जय—११७, १२२, ५९८
धनधर्मा—१११, ५६६
धनाइदह—२३५, २४२, २४५, ५५२
धन्यविष्णु—३००, ३०२, ३०३, ३१३, ३७०, ४३२, ५४१
धरसेन—३१६, ४१६, ५५६
धर्मरक्ष—४७७, ४७९
धर्मवर्द्धन—२१७
धर्मयशस्—४८०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धूम्राश्व—४२
ध्रुवदेवी–चन्द्रगुप्तम्—२
ध्रुवभूति—८३, १४१, ३३०, ३५७, ५९९
ध्रुवशर्मा—२३०, २४४, ३५५
ध्रुवसिद्धि—४६
ध्रुवसेन प्रथम—७९, ३०९
ध्रुवसेन द्वितीय—४१६
ध्रुवस्वामिनी (ध्रुवदेवी)—१४९, १५०, १५१, १५२, १५४, १५७, १६१, १६५, १६९, १७२, १७३, १७४, १७५, २०९, २२५, ३६१, ५१४, ५८०, ६२२
धृतिपाल—२४६, ३२०
धृतिमित्र—२४६

न

नगरधन (नन्दिवर्धन)— ५७८, ५८३, ५८७, ५९०
नचनाकुठार—१४, ३६७, ३६८
नचने की तलाई—११७-१८, १२६
नन्दि—११२, ११३, १८५, २८८, २८९, ५९८
नन्दियशस्—११२, ५६६
नरवर्मा—११०
नरवर्मन—१२९
नरसिंहगुप्त—४४, २५४, २५६, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९७, ३०३, ३०६, ३०७, ३०८, ३२२, ४१२, ४३५, ५५७
नरसिंहपुर—१३१
नरेन्द्रचन्द्र—५३८
नरेन्द्रादित्य—४३७
नरेन्द्रसेन—२४०, २८१, ३०२, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१
नर्मदा—१०७, ११६, २३८, २४०, ३११, ५८९
नलिनपुर—१६५, १७१
नहपान—२१, १२८
नृसिंहगुप्त—५१७
नागदत्त—१०९, १११, ११३, १८५, ५३४, ५९८
नागवंश—२२, २३, २६, १८५, १९०
नागसेन—१०३, १०६, १०७, १११, ११३, १५३, १८५, ५२५, ५३४, ५६८, ५७५, ५९८
नागार्जुन—३६३, ४५२
नागार्जुनी—११३, ३१४, ३८१, ३८३, ३८६, ४०९, ४१०
नागोद—१३, ३६७
नालन्दा (नालगाँव)—११, ५२, ५३, ५४, ८७, ८८, ९०, ९२, १६२, २२०, २४२, २५४, २५५, २९२, २९३, २९५, २९९, ३००, ३०१, ३०५, ३०७, ३०८, ३०९, ३३४, ३६३, ३८१, ३९४, ४०१, ४०३, ४०४, ४१९, ४२२, ४३७, ५१९, ५६१, ५६४
नारद—३६१
निधानपुर—९१, २४२, ४०१, ४०२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निर्मन्द—४००
नीलराज—११७, १२१, ५९८
नेमिचन्द्र—८०, ५५७
नौशेरवाँ—४२९
न्यू एटिक कामेडी—४४१
पट्टन—५८४, ५८५
पतंजलि—१९, २५, ६२, ११४, ३८२
पदलिप्त—६१
पद्मावती (पद्मपवण्या)—२३, २५, ६४, १०३, १०७, १११, ११३, ११४, १५३, १८५, ३८३
पर्णदत्त—२८२, ३१८, ३३२, ४३१, ६१५, ६१६, ६१८
पृथु—८५, १४७, १५१, ३६१
पृथ्वीषेण—५९, ११८, १२५, २०८, २०९, २३२, २४३, २४६, ३२१, ३३०, ३३१, ३५५, ३७०, ५७४, ५७५, ५७६
पांडुरंग पंडित—३८४
पाओ-युन—२१७
पाटलिपुत्र (पुष्पपुर)—३२, ३९, ६०, ६१, ६२, ६४, ६५, ७५, १०३, १०४, १०५, १०६, १२२, १३५, १४०, १६१, १६७, १८१, १८९, २००, २०७, २०८, २१०, २२०, २२२, २२३, २५५, ३११, ३३२, ३४२, ३४८, ३५७, ३६२, ४०५, ४७२, ५३५, ५३७, ५४१, ५७१, ५७२, ५७९, ५८३, ५९८, ६०२
पाणिनि—१७, १८, २५, ३८, १२८, २०७, ३८२, ४६४
पालक्क—११७, १२१, ५९८
पिष्ठपुर—११७, ११९, १२०, ३६३, ५९८
पुण्ड्रवर्द्धन—१०९, १९७, २३६, २४५, ३००, ३०२, ३०९, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३३२, ४७२, ५३६
पुण्यत्रात—४८०
पुरुगुप्त—४३, ४४, ४५, ५२, १७१, २२५, २५४, २५५, २५६, २७६, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९९, ३०८, ३२२, ५१९
पुरूरवा—३६०
पुरुषपुर—२१८, २५६, ४७६, ५७५
पुल्केशिन् द्वितीय—११९, १२४, ५५६, ५६९, ५७४, ५७७
पुष्कलावती—९, २१७
पुष्करण—२६, ११०, ५३२, ५३३
पुष्कर-तीर्थ—१२८
पुष्पदन्त—१७७, ६०२, ६०३
पुष्यगुप्त—२८४
पुष्यमित्र—२, ४५, ४६, १३७, १३८, १५३, २००, २३८, २३९, २७८, ३८२, ४३२, ५८८
पुष्यमित्र शुंग—५५०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पुष्यवर्मा—१२७
पुष्यसेन—५१५
पूर्णवर्मा—४०९
पूर्णनाग—८८, ९०
पेरिक्लीज़—२
पेरिप्लस—७४, १३०, १९३, १९४, ४४०, ४५७, ५४५
प्रयाग—८३, १८१, २३०, २३२, २३९, २४२, २७६, ३१८, ३२०, ३३४, ४११, ४१४, ५३४, ५७१
प्रयाग-प्रशस्ति—१९, २१, २३, २४, ४८, ६५, ७०, ७२, ७३, ७८, ८१, ८७, ९३, ९४, १००, १०६, १०७, १०८, ११३, ११५, ११७, १२२, १३३, १३६, १३७, १४३ १४६, १४७, १८२, १८३, १८५, १९०, १९६, २३७, ५२५, ५२७, ५६५, ५६९, ५७४, ५७५
प्रभाकरवर्द्धन—३८४, ३८५, ४००, ४०२, ४०३, ४०५, ४१८, ४१९, ४३८
प्रभावतीगुप्ता—२३, ३३, ४५, ४७, ४८, ६६, १३८, १८४, १८५, १८६, १८७, ५७६, ५८०, ५८१, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५९०
प्रवरपुर—५४७, ५८७
प्रवरसेन—२३, ३३, ५४७, ५६६, ५७१, ५७५, ५७८, ५८४, ५८६
प्रवरसेन प्रथम—१३७, ५६७, ५६९, ५७०, ५७७, ५७८
प्रवरसेन द्वितीय—६६, १८४, १८६, १८७, ५७८, ५८४, ५८७
प्रार्जुन—१३१, ५९८

फ

फांग चिह—४०४
फान-चेन—७२
फाहियान—९, ६२, ७२, १४४, १८४, १९७, २००, २०१, २०३, २०४, २०५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, ३२८, ३२९, ३३१, ३४०, ३४२, ३४३, ३४८, ३५१, ३५६, ३६३, ४५०, ४५१ ४५७, ४७४, ४७६, ५६२
फिरोजशाह तुगलक—१९६, ५४७
फीरोज़ (पिरोज)—४२८, ४२९

ब

बर्कमारीस—१५८, १५९, १६०
बंसखेड़ा—८७, ३२५, ४१९
बज़क्लिक—४५४
बडवा—३८१, ३८६
बन्धुमित्र—२४६, ३२०
बन्धुवर्मा—६५, २२७, २४३, ३१५, ३१६, ३२५, ३५७, ३९४, ५३३, ५५९, ५६३
बलभद्र—४०८

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बलवर्मा—११२, ५९८
बसाढ़—२०२, २०३, २०७, २०९
बाँकुड़ा—१०७, १०९, ११४, १९६, ५३२, ५३३, ५३९
बाणभट्ट—८४, १४२, १५२, १५३, २३८, ३५७, ३७६, ३८२, ३८३, ३८४, ३९९, ४०२, ४०५, ४०६, ४०९, ४४३
बालाघाट—२८१
बालादित्य—१०, १७८, २५४, २५६, २९३, २९६, २९७, ३०६, ३०७, ३२२, ४२४, ४३४, ४३५, ५१५, ५५७, ५६१
बिम्बसार—६९, १८५
बिलसद—१६५, २२९, २३०, २३७, २४२, २४४, ३५५, ३७०, ५३६, ५५२
बीरसेर—२
बुजर्गमेहर—४४३
बुधगुप्त—१०, १५, ७८, १७८, २५४, २५५, २९१, २९२, २९३, २९४, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०५, ३१३, ३१४, ३१८, ३१९, ३२२, ३५४, ४३२, ५१८, ५१९, ५५२, ५५३, ५५४, ५५७, ५६१
बुद्धमित्र—२४४, ३७१
बुद्धयशस्—४८०
बैक्ट्रिआ (बल्ख)—१९५, १९६, ४३१, ४४६, ५३०, ५३५, ५३७, ५४४
बोधिसत्व—१९४, २१७, २२४, ३६६, ४५१
बोरोबुदुर का स्तूप—४६९
बोनियो—१९७
ब्रह्मदत्त—३००, ३१९
ब्रह्मपुर—१२८
ब्रह्मपुत्र—१२७, ३०८, ४०१
बृहद्रथ—१५३

भ

भटार्क—७९, ३१६, ५५६
भट्टारक—५१६, ५९९
भट्टगोपाल—५९१
भट्टि—३५८, ३५९
भट्टिसोम—२७३
भड़ौंच—७४, १९३, ४४०
भद्रपुष्कर—८८
भरतपुर—१२९, १३०
भरतबल—३०२
भवदत्तवर्मा—५९०, ५९१
भवनाग—५६५, ५७८
भवभूति—४२४, ५९१
भृगु—१९५
भृगुकच्छ—१९३, १९४, १९५, २०७, ३५१, ४४०, ४७३, ५४०
भर्तृमेण्ठ—३५८, ३५९
भाऊदाजी (डॉ०)—८३
भानुगुप्त—२९३, २९४, ३०४,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३०५, ३०६, ३११, ४३५, ५१८, ५१९, ५३२, ६२५, ६२६
भारतवर्ष—९, १७, २९, ३०, ३९, ४४, ६०, ६९, ७०, ७१, ७४, १०६, ११३, ११६, १२०, १२६, १३४, १३५, १३७, १४०, १६९, १८५, १९०, १९२, १९४, १९५, १९७, १९८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २४०, २७९, ३०८, ३११, ३१६, ३२८, ३२९, ३४८, ३८३, ३९२, ४००, ४२२, ४३०, ४३३, ४३४, ४४०, ४४१, ४४३, ४४४, ४५०, ४५१, ४५२, ४५७, ४५८, ४५९, ४६२, ४६३, ४६५, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७९, ५३४, ५३७, ५४०, ५४९, ५५४, ५५७, ५५९, ५७०, ५७५, ५७७, ५७८, ५८१
भारवि—३५८
भारशिव—२३, ५९, १३७, ५३३, ५६८, ५७८
भास—१४४, २००
भास्करवर्मा—९१, ११२, १२७, ४०१, ४१६, ४७३
भिटारगाँव—१४, ३६७, ३६८
भितरी—४४, १७६, १८१, १८३, १८८, २२५, २३७, २३८, २५३, २५४, २५५, २५६, २७५, २७७, २७८, २८१, २८३, २८४, २८५, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, ३०६, ३०७, ३१२, ३२१, ३२२, ३५४, ४२९, ५१९, ५६५, ६१९
भितौरा—३८२, ३८५, ४०२
भिलसा—१३१, १३२, १७६, १८१
भीटा—२३९, ३३४
भीमवर्मा—२८२
भीमसेन—७७
भुमरा—१४, ३६७
भूतिनन्द—१११, ११२, ५६६
भूपाल—१८२
भोज—१८८, २००

म

मँगराँव—३०९, ४०७, ४११, ४२३
मंदर—४११, ४२०, ४२१
मगध—१७९, ३२७, ३३२, ३९१, ३९२, ३९४, ३९८, ३९९, ४०३, ४०८, ४१०, ४११, ४१९, ४२०, ४२२, ५१६, ५२४, ५३३, ५७१, ५७५
मघ—२६
मञ्जुश्री—२२०, २२३
मञ्जुश्रीमूलकल्प—९, २३९, २५५, २५६, २७८, २८९,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३०७, ३८२, ३८४, ४०३, ४०४, ५२२, ५२४, ५२५
मण्टराज—११७, १२४, ५९८
मतिल (मत्तिल)—१०८, १०९, ५९८
म-त्वान-लिन—४१९
मथुरा—१११, ११३, १४६, १६३, १६८, १८०, १८३, १८४, १८५, १९८, २०४, २१८, २२३, २४४, २५२, ३५६, ३७१, ३७८, ४५७, ४७६, ५५२, ५६५
मदनपाल—२९५
मद्र—३५६
मद्रक—१७, २०, ५३४, ५९८
मधुबन—८७, ३२५
मध्य प्रदेश—८४, १२४, १२५, १२६, १३२, १३८
मनकुँवर—२३०, २३२, २३९, २४२, २४४, ३७१, ५३६, ५५२,
मनु—४५, ७१, ३४४
मनेर—७०
मनोरथ—३३०
मन्दसोर—२, १४, १८, २५, ३६, ६५, ८१, ११०, १२९, २२५, २२६, २२८, २४०, २४२, २४४, २४५, २८०, २८२, ३०७, ३०८, ३१५, ३१६, ३१७, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३५०, ३५२, ३५४, ३५५, ३५७, ३५८, ३६४, ४३३, ४३५, ४३६, ४४४, ५३२, ५३३, ५४९, ५५९, ५६०, ५६३, ५८८, ५८९, ६२७, ६२९
मयूरशर्मा—५१, ४०९, ४१०
मल्लिनाथ—३५८
महमूद गज़नी—११
महाकान्तार—११७, ११८, ११९, ५७६, ५९८
महादेवी—२०९, ३०७
महावीराचार्य—१७८
महाशिवगुप्त—३९३
महासेनगुप्त—२४२, ३९९, ४००, ४०१, ४०७, ४१०, ४११, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ५४८
महीपाल—१५५, १५६
महेन्द्र—११७, १२०, २३९, २७८, २७९, ५७५, ५९८
महेन्द्रादित्य—१०, २३९, २७९, २८०, ४३०, ५१५, ५८५
महेन्द्रपालदेव—२००
महेन्द्रवर्मा प्रथम—३९४, ५७७
महेन्द्रसेन—२७९
मृच्छकटिक—६, ७, ८, ३७, १४२, २०१, ३२३, ३३१, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४४, ३४५, ३४६, ३४९, ३६०, ३६३, ३६४, ४४१
मृत्युञ्जय—१६१
मृत्युञ्जयपंडित—१७०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मातृगुप्त—३७, ९९, ३५८, ३५९
मातृचेट—४३६, ६४५
मातृतुल—४३६
मातृदास—१८१, ४३६, ६४५
मातृविष्णु—३६, ३०२, ३०३, ३१३, ३१४, ३४०, ३७०, ४३२, ५४१
माधवगुप्त—४०७, ४०९, ४१०, ४११, ४१८, ४१९, ४२०
माधवराज—३०४
माधववर्मा प्रथम—३८७
माधववर्मा द्वितीय—३८८
मानदेव—५६०
मालव—१७, २१, ६५, ६७, ७८, १२६, १२८, २२८, ३०८, ३०९, ५३४, ५९८
मालवक—४१७
मालवा—१४, १८, ६७, ११०, ११५, १३८, १९१, २१४, २२५, २२६, २२७, २२८, २३३, २४०, २४२, २४३, २८०, २८१, २८२, २८३, २९८, २९९, ३०३, ३०७, ३११, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३२५, ३३२, ३९४, ३९९, ४०९, ४१०, ४११, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४४४, ५३२, ५३३, ५४९, ५८८, ६०२, ६३४
मालविका—३६०
माहिष्मती—२३८
मिथिला—४२
४४
मित्रदेवी—२९१, ३०७
मि-लि-किआ-सि-किआ-पो-नो—५२, ५३, ५४
मिहिरकुल—३०६, ३०७, ३१३, ३२२, ३२४, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३९, ५६१, ६४३, ६४५
मिहिरपुर—४३६
मिहिरेश्वर—४३६
मुरुण्ड—२८, ६०, ६१, ६२, ६३, १०८, १३२, १३३, १३५, १३६, १६७, १६८
मुरुण्डदेवी—१३६
मेनेण्डर (मिलिन्द)—७४, १३०, ४४१
मेलयदेवी—४३७
मेहरौली—१४, ५४, ११०, १८९, १९५, १९६, १९७, २०३, ५१८, ५२९, ५३१, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४७, ५४९, ५५०
मौखरि—२५, ५९, ७१, ३०७, ३१४

य

यज्ञगर्द—४२८
यमुना (जमुना) ८३, ११६, १३८, १३९, २१८, २३२, २३९, ३००, ३११, ३१८, ३६७, ३६८, ४३२

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यशोधरा—३७६
यशोधर्मन्—३६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१२, ३१७, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ४१०, ४१२, ४३५, ४३६, ५४९, ६३९, ६४१, ६४२
यशोधर्मा—११०, ३५८, ३८७, ४३३, ४३६
यज्ञवर्मा—११३, ३८३, ३९४, ४२४
याज्ञवल्क्य—३६१
यौधेय—१७, १८, ५३४, ५९८
य्वान-च्वांग—४४४

र

रघु—९८, १२२, १२३, १४७, ३५८, ४२७, ४४२, ५४२, ५४९, ५५०
रघुवंश—३, ४, ९८, १२२, १८३, २०५, २७९, ३४४, ३४८, ३५८, ४४२, ५३९, ५४२, ५४३, ५४५, ५४९, ५८४
रव्वाल—१५८, १५९, १६७
राघव—८५
राजतरंगिणी—३७, ९८, ३५९, ३९७, ४२४, ४३२, ४३३, ४३६, ४३७, ५४७, ५४८
राजगृह—२१९
राजपाल—१६१
राजावली—१६१, १७०
राजशेखर—३४, १४३, १५४, १५५, १५६, १६१, १६५, १६६, १७४, २०६, २०७, ३५९
राज्यवर्द्धन—३८, १५३, ३८५, ४००, ४१८, ४३८, ५५९
राज्यश्री—३८५, ३८६, ४०२, ४०३, ४०४, ५५९
रामगुप्त—४, ६३, १४७, १४९, १५०, १५१, १५२, १५४, १५५, १५६, १५७, १६०, १६१, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७५, १७६, १७७, १७८, १९०, १९७, ३६१, ५२१, ५२२, ५२३, ५३८, ५३९, ५४४, ५८०, ६०२, ६०३
रामचन्द्र—३, १५०, ३९५, ३९६, ५८६, ५८७
रामटेक, (रामगिरि)—१८६, ५८३, ५८६, ५८७
रामस्वामी—१८६
राष्ट्रकूट—१७८, २०६, ५५०, ५५६
राहुल—३७६
रुगिला—४२६
रुद्रदत्त—३०६
रुद्रदामन्—१३०, १४२, १६६, १९६, २८४
रुद्रदामन् द्वितीय—१०८
रुद्रदेव—१०५, १०७, १०८, ५७३, ५७४, ५७५, ५९८
रुद्रसेन प्रथम—२३, २७, ५३,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

१०७, १०८, १२५, ५६८, ५७१, ५७२, ५७४, ५७६, ५७७, ५७८
रुद्रसेन द्वितीय—३३, ५९, ६५, १८५, ५८०, ५८२
रुद्रसेन तृतीय—१०८, १३५, १६९
रुद्रसोम—२७३
रोम—७५, ४४०, ४४१
ललितादित्य—४२४
ललितविस्तर—२७९, ३४४, ३७७
लक्ष्मीदेवी—३०७
लक्ष्मीवती—३८८, ३९२
लक्ष्मण—३०२
लाड़खान—१४
लिच्छवि—१७, १९, ८१
लौहित्य नदी—११०, ३०८, ३२७, ४०१, ४११, ४१६, ५४८, ५४९, ६४१

व

वटेश्वरदत्त—१५१, १६१
वत्स—३४९
वत्सदेवी—२९६, ३०६
वत्सभट्टि—२, १३, ९२, २२६, २२९, ३५७, ५८९
वराहमिहिर—१२९, १९४, २०६, ३६१, ४४१, ४४२, ४४४, ५५७
वराहस्वामी—२३५, २४५
वर्मन—२५
वसन्तसेना—६, ७, ३४४, ३४६, ३६३, ३७८
वसिष्ठ—३४३
वसुबन्धु—१४३, २५६, २ १२०, २९७, ३६३
वसुमित्र—२२०
वहराम पंचम—४२७, ४२८
वृषध्वज—७७
वांग-हुएन-त्से—१३६
वाकाटक—२६, ३३, ११८, १२४५१५, १२५, १२६, १३७, १८५ १८६, १८७, १९०, १९९, २३८, २८०, २८१, ३०२, ३४०, ५१७, ५२२, ५२५, ५४०, ५४१, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८५, ५८६, ५९०, ५९१
वात्स्यायन—९, ३४२, ३४३, ३४४, ३६३, ३७२, ३७३, ३७७, ४४३
वामन—३८२, ३८३
वाशीम (वत्सगुल्म)—५७८
वासवदत्ता—३४४, ३४९
वासुल—३५८
वाहीक—१२८
वाह्लीक—१९५, १९६, ५३०, ५३३, ५३५, ५३७, ५४२ ५४३, ५४४, ५४५, ५४६
वाह्लीक-विजय—५३२, ५३४, ५३७
विजगापटम्—११८, १२०

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यशोधर
यशोधयगढ़—१२९
यशपाल—२९५
यशोवर्मदेवी—४३७
यशोडभ—११३
यवदिशा (बेसनगर)—११०, १११, १७७, १८५, ५३३, ५६७, ६०२
विनयादित्य—४२३
विभुदत्त—३३०
विलियम तृतीय—७५
विशाखदत्त—३, १५१, १६९, १७०, २७९, ३६१, ५२२
विशाल—४०
विश्ववर्मा—२२७, ३१५, ३१६, ३२५, ३५७, ३९४, ५३३
विश्वस्फणि—६०, ६३
विष्णुगुप्त—३७, २९३, २९४, २९५, ३०८, ३०९, ३१०, ४०७, ४१०, ४११, ४१३, ४२३, ५१८
विष्णुगोप—११७, १२१, १२४, ५९८
विष्णुपद—१९६, ५३०, ५३५, ५४१, ५४३, ५४६, ५४५, ५४६
विष्णुदास—१८१, २०९
विष्णुभट—२४३
विष्णुकुंडिन—३८७, ३८८, ३९४, ५७७
विष्णुवर्द्धन—३०९, ३२५, ३२६
वीरसेन—२, ३, ९२, १६९, २०२, २०५, २०८, ३२२, ३५५, ३५७, ३६५, ५४१, ६०५
वेंगी—११७, १२१, १२४, ५९८
वेत्रवर्मा—२३६, २४६, ३१९
वैन्यगुप्त—२९३, २९४, ३०४, ३०५, ३०६, ५१८, ५१९, ५५२
वैन्यदेवी—२९६, ३०६
वैशाली—६६, ६७, ७२, ७३, ७५, १६५, २०९, २१०, ३४८
व्याघ्रराज (व्याघ्रदेव)—११७, ११८, १२५, १२६, ५७५, ५७६, ५९८

श

शंकरार्य—१५७, १६७, १६८, १७०
शंकराचार्य—३५, १५७
शक—२७, १३२, १३३, १३५, १८५, १९०
शकराज—१५२, १५३, १५७, १६१, १६६, १७४, ३६१, ५३९
शकारि—३३९
शक्रादित्य—१०, २९९, ५६१
शकुन्तला—३६०, ३७३, ३७४
शनशन—२१७
शरभराज—३०४, ६२६
शर्मगुप्त—१४९, १५४, १५५, १७१
शर्ववर्मा—८५, ३८०, ३८६, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५,

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America. HHFA(USA)

सुस्थितवर्मा—४८८, ५०१, ५०२, ६११, ६१६, ६१९
४१६
सूर्यदत्त—३३०
सूर्यवर्मा—३८०, ३९२, ३९३, ३९४
सूर्यवर्मा द्वितीय—४६८
सेंग-चिंग—२१७
सेंट ग्रिगेरी—४४२
सेनगुप्त—१५४, १७१
सोंग-शाओ—२१७
सोमदत्त—४२
सोमदेव—२७९, ३१३, ४३०, ४३२
सोहनाग—३८१, ४०२
सौन्दरानन्द—४५०
स्कन्दगुप्त—१२, १३, ३३, ४१, ४३, ४४, ५२, ७८, ७९, १६२, १६६, १७१, १८३, १८९, २२५, २२६, २३७, २३८, २४०, २४२, २५३, २५४, २५५, २५६, २७३, २७५, २७६, २७७, २७८, २८८, २८९, २९१, २९२, २९४, २९५, २९७, ३०३, ३११, ३१२, ३१३, ३१६, ३१८, ३२१, ३२२, ३३२, ३३३, ३४०, ३५४, ३५५, ३५६, ३६९, ४०८, ४२९, ४३०, ४३१, ४४४, ५१५, ५१७, ५१८, ५२२, ५५२, ५५३, ५६५, ५८९, ६०६, ६१३, ६१४, ६१५, ६१७,
स्वप्नवासवदत्तम्—३४४
स्वभोगनगर—११५
स्वामिदत्त—११७, ११९, १२०, १२४, ५९८
स्वामिदास—२०९
स्वयंभुदेव—३०९
स्थाणीश्वर—३२५
स्थिरगुप्त—४४, ४५, ५१५, ५१७, ५१८, ५१९

ह

हरदत्त—५, ३७८
हरिद्वार—३१८
हरिभट—२४३
हरिषेण—१३, ८३, ८४, ९२, १२३, १२५, १३३, १३७, १४१, १४३, २२६, ३३०, ३३१, ३५७, ५७३, ५७५
हरिवर्मा—३१४, ३८६, ३८८, ४१२, ५७७, ६५०
हरहा—३१४, ३१७, ३८०, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९३, ४०६, ४३८, ६४६
हर्ष—३५, ८१, १०३, ११२ १२३, १२४, १५३, २००, ३२२, ४०१, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४१९, ४२०, ४४३, ५५६, ५५८, ५५९, ५६९, ५७४, ५८१
हर्षगुप्त—३०७, ३१४, ३८७,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

३९४, ४०७, ४०८, ४१२, ४१३, ५३८
हर्षगुप्ता—३८६, ४१२, ६८७
हर्षचरित—२१, २५, ३८, ५६, १०३, १५२, १५३, १५४, १५७, १६५, १६६, १६७, १९०, २३८, २७९, ३१७, ३८२, ३८४, ३८५, ३८६, ३९९, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०९, ४१०, ४१८, ४१९, ४२० ४२३, ४३८
हर्षवर्द्धन—७१, ४०४, ४०५, ४०६, ४११, ४१८
हस्तिन्—५५७, ५६१
हस्तिवर्मा—११७, १२१, ५९८
हुई चिंग—२१७, २१८
हुई बेई—२१७
हुई-लुन—५२, ४२२
हुई-शेंग—४३३
हुयेनसांग—९, १०, ३६, ४१, ८३, १२०, १२८, १३६, १६०, १६२, २९९, ३०१, ३०६, ३२२, ३८४, ३८५, ४०६, ४०९, ४१४, ४१६, ४१७, ४३३, ४३४, ४७२, ४७३, ५५९, ५६०
हेमचन्द्र—४२

State Museum Library Lucknow 7130

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मनचित्र–१

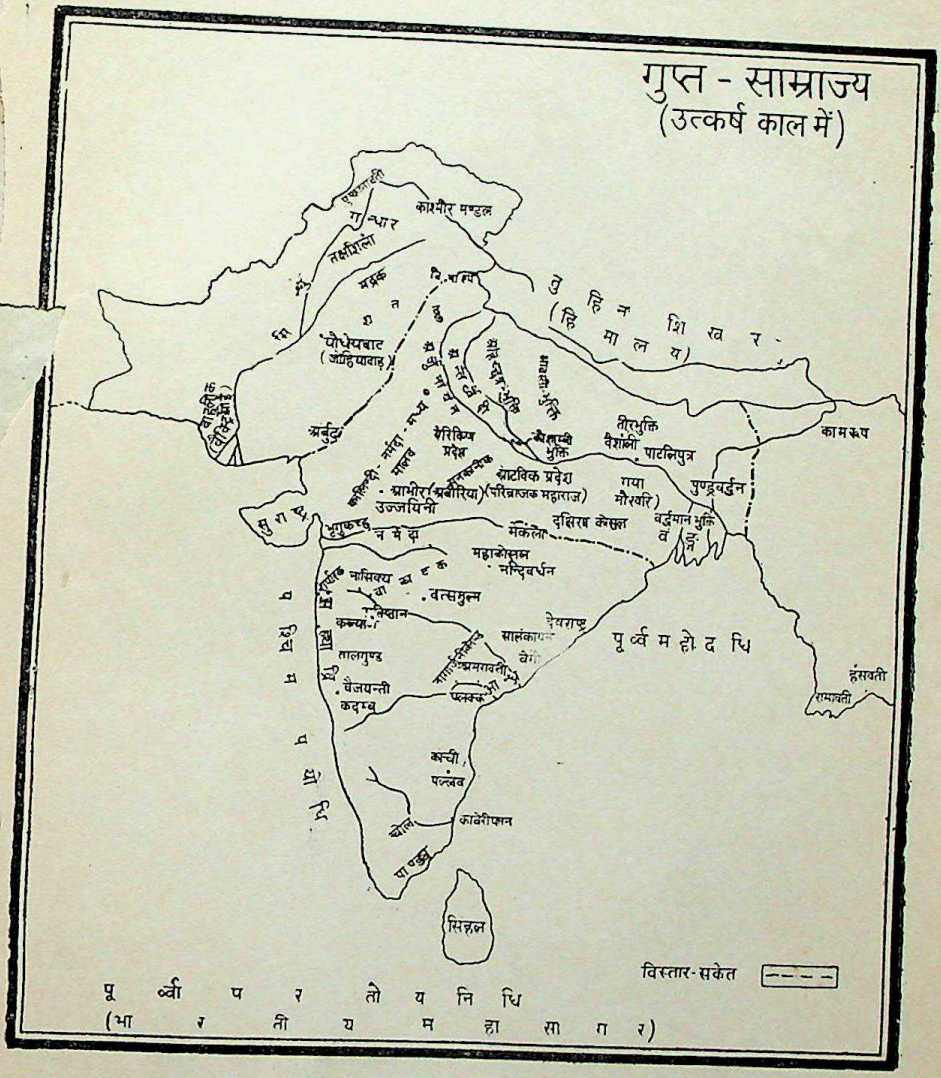

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

४१७,
७३,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)